यह भैंसा जा रहा है। इसका भी नाम ज्ञानदेव है।" इसपर ज्ञानदेवने कहा—"हाँ, ठीक है। इसमे और हममे कोई भेद नही है। इसमे भी मेरी आत्मा है।" इस पर उस व्यक्तिने उस भैंसेकी पीठ पर कसकर तीन कोड़े लगाये। उस समय ज्ञानेश्वर महाराजकी सर्वात्मभाववाली नीतिका यह चमत्कार दिखाई दिया कि उनकी पीठमेसे रक्त निकलने लगा।

जब ज्ञानेश्वर महाराज वहाँसे आपेगाँव जानेके लिए चले और रास्तेमे एक जगह गोदावरीके तट पर बैठे थे, तब इन बाल-योगियोको देखनेके लिए बहुत-से लोग एकत्र हो गये थे। उनमेंसे किसीने ज्ञानेश्वर महाराजके पास आकर कहा—"यदि तुम अपना कुल पावन कराना चाहते हो तो इस भैंसेके मुँहसे वेदकी ऋचाएँ कहलाओ।" यह सुनते ही ज्ञानेश्वर महाराजने उठकर सब ब्राह्मणोको नमस्कार करते हुए कहा—"आप लोग भूदेव हैं। आप लोगोके मुँहसे जो बात निकलेगी, वह विफल नही होगी।" यह कहकर उन्होने उस भैंसेके मस्तक पर अपना हाथ रखा। तत्काल उस भैंसेके मुँहसे चारो वेदोकी ऋचाएँ अस्खलित रूपसे निकलने लगी। स्वर और वर्ण बिलकुल शुद्ध थे। उच्चारण स्पष्ट था। बराबर एक पहर तक भैंसेके मुँहसे वेद-घोष होता रहा और बड़े बड़े वैदिक ब्राह्मण चकित होकर और सिर झुकाये वह वेद-घोष सुनते रहे। अन्तमे उन सब ब्राह्मणोको लज्जित होकर कहना पड़ा—"सचमुच ये बाल-योगी विष्णुके अवतार हैं।" यह घटना माघ शुक्ल ५ सं० १३४४ विक्रमीकी कही जाती है। उस समय ज्ञानेश्वर महाराजकी अवस्था केवल १२ वर्षकी थी।

पैठणमें एक बार एक ब्राह्मणको अपने पिताका श्राद्ध करना था। जब श्राद्धकी सब तैयारी हो चुकी, तब ज्ञानेश्वर महाराजकी आज्ञासे पितरोके लिए आसन बिछाये गये। ज्ञानेश्वर महाराजने उन पितरोका ध्यान करके कहा—"आगन्तव्यम्।" उस समय इनकी वाणीका यह प्रताप देखा गया कि तुरन्त सब पितर अपने अपने आसन पर आकर बैठ गये। ज्ञानेश्वर महाराजकी यह योग शक्ति और सिद्धि देखकर वह ब्राह्मण कृतकृत्य हो गया।

ज्ञानेश्वर महाराजके इस प्रकारके अनेक चमत्कार देखकर तथा उनकी अनेक अलौकिक शक्तियोसे प्रभावित होकर पैठणके ब्राह्मणोने यह निश्चय कर लिया है कि ये तीनो भाई मूर्त्तिमान् देवता और जीवन्मुक्त हैं; और इसलिए इन्हे किसी प्रकारके प्रायश्चित्तकी कोई आवश्यकता नही है। यही समझकर वहाँके समस्त विद्वान् ब्राह्मणोने एक शुद्धिपत्र लिखकर निवृत्तिनाथजीको दिया था। इस शुद्धिपत्रकी एक प्रति श्री भिंगारकर बाबाको पुराने कागज-पत्रोमें मिली थी जिसे उन्होने प्रकाशित कर दिया है। इस शुद्धिपत्रमे, जो संस्कृतमे हैं, ज्ञानेश्वर महाराजके पिता विट्ठल पन्तका भी सब हाल लिखा है और उन चमत्कारोका भी वर्णन है जो ज्ञानेश्वर महाराजने पैठणमें दिखलाये थे। शुद्धिपत्रमे पैठणके ब्राह्मणोने कहा है कि ये सब चमत्कार हम लोगोने अपनी आँखोसे देखे थे। यद्यपि कुछ विद्वानोको इस शुद्धिपत्रके प्रामाणिक होनेमे सन्देह है, तथापि इसमे ज्ञानेश्वर महाराज आदिके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओंके जो वर्णन हैं, वे अन्यान्य स्थानोमे मिलनेवाले वर्णनोसे बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।

हिन्दी ज्ञानेश्वरी

(श्रीमद्भगवद्गीता की 'भावार्थदीपिका' नामक सर्वश्रेष्ठ टीका)

रचयिता

संत-शिरोमणि श्री ज्ञानेश्वरजी महाराज

अनुवाद

बाबू रामचन्द्र वर्मा

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य कुटीर

वाराणसी–२२१००१

दश संस्करण] राम नवमी, २०३९ वि. सं. [मूल्य ३०·००

श्री निवृत्तिनाथको गहिनीनाथसे जो उपासना प्राप्त हुई थी, वही उन्होने ज्ञानेश्वर महाराजको दी थी। आदिनाथसे गहिनीनाथ तक जो परम्परा चली आई थी, वह मुख्यतः योग-मार्ग पर चलती थी। इस परम्पराके सभी महात्मा योगेश्वर थे। परन्तु श्रीनिवृत्तिनाथने अपने गुरुकी आज्ञासे अपने भाई-बहनोको श्रीकृष्णकी उपासनाकी दीक्षा दी थी; और तभीसे महाराष्ट्र देशमें भागवत धर्म या भक्ति-मार्गका प्रचार हुआ था। यही कारण है कि इस प्रस्तावनाके आरम्भमे कहा गया है कि महाराष्ट्र देशमे ये भक्ति-मार्गके आद्य प्रवर्त्तक थे। परन्तु इसमे सन्देह नही कि योग-मार्गकी परम्परा भी ज्ञानेश्वर महाराजने नही छोड़ी थी और वे बहुत बड़े योगेश्वर भी है। उन्होने जो अनेक बड़े-बड़े चमत्कार दिखलाये थे, वे सब योग-बलसे ही दिखलाये थे। ज्ञानेश्वर महाराजने अपनी इस ज्ञानेश्वरीमे छठे अध्यायके १२ से १६ तकके श्लोको पर जो टीका की है, वह योग-प्रधान ही है, श्रीमद्शंकराचार्यने इस प्रसंगमे योग-सम्बन्धी कोई निर्देश या संकेत नही किया है; परन्तु ज्ञानेश्वर महाराजने इस प्रसंगमे अपने योगानुभवका यथेष्ट परिचय दिया है। कुंडलिनीको जागनेका उपाय बतलाकर उससे होनेवाली कुछ सिद्धियोंका भी उन्होने उल्लेख किया है। उन्होने कहा है—"फिर उस योगीको समुद्रके उस पारकी चीजे भी दिखाई पड़ने लगती हैं, स्वर्गका नाद भी सुनाई पड़ने लगता है और वह च्यूँटीके मनका भाव भी जान सकता है। वह हवाके घोड़े पर सवार होता है और यदि वह पानीके ऊपर चले तो उसके पैरोका पानीसे स्पर्शतक नही होता। बस इसी प्रकारकी अनेक सिद्धियाँ उसे प्राप्त हो जाती हैं।" और इसमे सन्देह नही कि इस प्रकारकी अनेक सिद्धियाँ ज्ञानेश्वर महाराजके चरणो पर लोटा करती थी। परन्तु फिर भी जगतके उद्धारका जो सीधा मार्ग उन्होने बतलाया है, उसमें उन्होने योगकी क्रियाओ अथवा सिद्धियोको कोई प्रधानता नही दी है। बल्कि एक स्थान पर उन्होने यहाँ तक कहा है कि योग-विधिसे कोई फल नही होता; उलटे व्यर्थ ही उपाधि और दम्भ बढ़ता है। तात्पर्य यह कि योग और उसकी सिद्धियाँ तो सच्ची हैं। परन्तु आत्म-प्राप्तिके लिए उनका कोई उपयोग नही होता, उलटे उनसे विघ्न ही होता है।

एक और स्थान पर उन्होने कहा है—"जो लोग······योगका बीहड मार्ग अपने अधिकारमे करते हैं······हे अर्जुन, वे लोग भी आकर मुझमे मिलते हैं। यह बात नही है कि उन लोगोको योग-बलसे इसके सिवा कुछ और अधिक प्राप्त होता हो। हाँ यदि कुछ अधिक मिलता है, तो वह केवल कष्ट ही मिलता है।" और इसका स्पष्ट आशय यही है कि लोगोको योगका बीहड और कष्ट-साध्य मार्ग छोड़कर भक्तिका सुगम मार्ग ग्रहण करना चाहिए।

ज्ञानेश्वर महाराज यह बात तो पूरी तरहसे मानते थे कि भक्ति-मार्गमे मोक्ष-साधनमे अथवा आध्यात्मिक जीवनमे सभी लोग एक समान हैं और यहा तक कि सारी भूत-सृष्टि एक-स्वरूप ही है। परन्तु फिर भी वे सांसारिक व्यवहार और सामाजिक आचरणमें वर्णाश्रम-भेद और जाति-पाँति आदिका भेद मिटा देनेके पक्षमे नही थे। गीताके दूसरे अध्यायके ३५वे श्लोककी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—"दूसरेका

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य कुटीर
हाथीगली, वाराणसी–२२१००१
विक्रय केन्द्र—बुलानाला, वाराणसी–१

मूल्य—तीस रुपये

मुद्रक
एजूकेशनल प्रिंटर्स
गोला दीनानाथ, वाराणसी

आचार देखनेमें चाहे कितना ही अच्छा क्यों न जान पड़े, तो भी हमें केवल अपना ही आचार स्थिर रखना चाहिए। मान लो कि किसी शूद्रके यहाँ अच्छे पकवान तैयार हुए हैं। अब चाहे कोई ब्राह्मण कितना ही दुर्बल क्यों न हो, फिर भी तुम्हीं बतलाओ कि क्या उस ब्राह्मणको कभी वे पकवान खाने चाहिये ?'

लेकिन इतना होने पर भी वे भक्ति-मार्गमें और जातिका कोई भेद नही मानते थे। नवें अध्यायके ३२वें श्लोकको व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—"जब तक कोई मेरे स्वरूपके साथ मिलकर सम-रस नही हो जाता, तभी तक वह क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज आदिके रूपमें भासमान होता है। परन्तु जिस प्रकार समुद्रमें डाला हुआ नमकका डला उसीमे लीन हो जाता है, उसी प्रकार मेरे साथ सम-रस होते ही जाति-भेदवाले भासका पूर्ण रूपसे लोप हो जाता है"। और इसका सीधा-साधा अर्थ यही है कि जब अपनी असीम भक्तिके कारण मनुष्य ईश्वरमें मिलकर एक हो जाता है, तब जाति और व्यक्तिवाले भेद नही रह जाते। ज्ञानेश्वर महाराजका भी यह सिद्धान्त था कि ईश्वरकी सच्ची भक्ति वास्तवमें शुद्ध ज्ञान ही है; और जिसे ईश्वर-का शुद्ध ज्ञान हो जाय, वही ईश्वरका सच्चा भक्त है। स्वयं गीताके सम्बन्धमे उनका यह मत था कि यह मनुष्य मात्रके लिए मोक्षका द्वार खोलनेवाली है। वे कहते थे कि वेदोके अध्ययनका अधिकार तो केवल द्विजोंको है और स्त्रियों तथा शूद्रोके लिए उनके श्रवणकी भी मनाही है। परन्तु गीताके सम्बन्धमें इस प्रकारका कोई बन्धन नही है—यह सबके लिए है। और फिर गीता केवल उन्ही लोगोको मुक्ति नही प्रदान करती जो भली भाति इसका तत्व समझते है, बल्कि जो लोग गीताका कुछ भी अर्थ बिना समझे उसका पाठ मात्र भी सुन लेते है, वे भी मुक्त हो जाते है।

हम ऊपर यह बतला चुके हैं कि ज्ञानेश्वर महाराज अपने बडे भाई श्री निवृत्तिनाथजीसे दीक्षा लेकर उनके शिष्य हुए थे। जब निवृत्तिनाथ उनके गुरु हो गये, तब उनके साथ उनका केवल गुरु और शिष्यवाला ही सम्बन्ध रह गया, और फिर इस सम्बन्धमे भाई-भाईवाले सम्बन्धके लिए कही नामको भी कोई स्थान नही रह गया। साथ ही गुरु पर उनकी इतनी अधिक श्रद्धा थी कि वे उन्हे पूर्ण रूपसे ईश्वर ही मानते थे। प्रायः सभी अध्यायोंका आरम्भ करते समय उन्होने अपने गुरुकी स्तुति की है और इतनी अधिक स्तुति की है, जितनी और कही जल्दी ढूँढे न मिलेगी। ज्ञानेश्वरीमें ज्ञानेश्वर महाराजने अनेक स्थानो पर अत्यधिक प्रेम, श्रद्धा और आदरके साथ अपने बडे भाई नही बल्कि अपने गुरु श्री निवृत्तिनाथका स्मरण किया है। उन्ही श्री निवृत्तिनाथकी कृपासे आपको ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हुआ था और इस महान् उपकारके लिए आपने अनेक स्थानों पर अपनी पूरी कृतज्ञता प्रकट की है। एक अवसर पर आपने कहा है—"गुरुदेवके भोगके जितने पदार्थ है, वे सब पदार्थ मैं स्वयं बनना चाहता हूँ।" वे कहते है—'मैं श्री गुरुका भवन, द्वार, द्वारपाल, छत्रधारी, चँवर, डुलाने-वाला, दीपक दिखानेवाला और ताम्बूल खिलानेवाला बनूँ। गुरुदेवके नेत्र स्नेहसे जो जो रूप देखे, वे सब रूप भी मैं ही बनूँगा। और मरने पर इस शरीरकी मिट्टी उसी

प्रस्तावना

महाराष्ट्र सन्तोकी मंडलीमें श्री ज्ञानेश्वर महाराजका* स्थान कदाचित् सर्वोच्च और सबसे अधिक महत्वका है; और इसका कारण यह है कि वे महाराष्ट्र देशमे भक्ति मार्गके आद्य प्रवर्त्तक और सारे महाराष्ट्रके धर्म-गुरु हैं। यद्यपि महाराष्ट्र देशमें एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि अनेक बहुत बड़े-बड़े महात्मा और सन्त हो गये है, परन्तु काल-क्रमके विचारसे भी और दूसरी अनेक दृष्टियोसे भी सबसे अधिक महत्वका स्थान श्री ज्ञानेश्वर महाराजको ही प्राप्त है। महाराष्ट्र देश और मराठी भापा पर जितने अधिक उपकार आपके है, उतने कदाचित् और किसीके नही है। आप बहुत ही उच्च कोटिके तत्वज्ञानी, परम, ईश्वर-भक्त, पूर्ण योगी और अद्भुत लेखक थे। यद्यपि आपको हुए साढे छ सौ वर्ष से अधिक हो गये, परन्तु इस दीर्घ कालमे आपका यश और ख्याति बराबर दिन पर दिन बढती ही गई है और अब भी बराबर बढ़ती ही जा रही है। नेवासे नामक गाँवमे जहाँ बैठकर श्री ज्ञानेश्वर महाराजने गीताकी यह ज्ञानेश्वरी टीका लिखी थी। बहुत धूम-धाम और बडे उत्साहसे ज्ञानदेव-महोत्सव हुआ था। इस उत्सवमे अनेक प्रसिद्ध विद्वान और हरि-भक्त एकत्र हुए थे। इसी अवसर पर "श्री ज्ञानेश्वर दर्शन" नामका कोई १६०० पृष्ठोंका एक बहुत सुन्दर ग्रन्थ भी प्रकाशित किया गया था जिसमे श्री ज्ञानेश्वर महाराज और उनके सिद्धान्तों आदिके सम्बन्धमे अनेक बडे बडे विद्वानो और विचारशीलोंके पाडित्यपूर्ण लेख और निबन्ध आदि संगृहीत है। और उन लेखकोमे केवल हरि-भक्तोके ही नही बल्कि पाश्चात्य विद्याओके अनेक बडे बडे विद्वानोके भी बहुतसे लेख आदि हैं और यह इस बातका सूचक है कि आजकलके इस बिगडे हुए और केवल धन तथा स्वार्थ पर दृष्टि दृष्टि रखनेवाले जमानेमें भी श्री ज्ञानेश्वर महाराजकी कीर्ति बराबर बढती ही जा रही है।

श्री ज्ञानेश्वर महाराजके पूर्वज पैठणसे* चार कोसकी दूरी पर गोदावरी किनारेके आपेगाँवके रहनेवाले थे, जहाँ वे लोग कुलकर्णी या पटवारीका काम करते थे। वे माध्यन्दिन शाखाके यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। ज्ञानेश्वरजीके पिताका नाम विठ्ठल पन्त और दादाका नाम गोविन्द पन्त था। विठ्ठल पन्तको बाल्यावस्थामे ही वेदो और शास्त्रों

---

*यद्यपि ज्ञानेश्वरीमे श्री ज्ञानेश्वर महाराजने सब जगह अपना नाम "ज्ञानदेव" ही दिया है, परन्तु फिर भी लोकमें आपकी प्रसिद्धि "श्री ज्ञानेश्वर महाराज" के नामसे ही है; और इसी लिए हमने भी इस प्रस्तावनामें सब जगह आपका वही नाम दिया है।—अनुवादक

*दक्खिन, औरंगाबाद जिलेमें यह एक प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। इसे लोग दक्षिण-काशी भी कहते हैं।—अनुवादक।

भूमि में मिलाऊँगा, जिसपर गुरुदेवके श्री चरण अंकित होगे। इन सब उद्धरणोसे यही सूचित होता है कि जिस प्रकार ज्ञान, भक्ति और योग आदिका आपमे असीम बल था, उसी प्रकार आपकी गुरुभक्ति भी पराकाष्ठा तक पहुँची हुई थी।

गीताकी अब तक जितनी टीकाएँ हुई हैं, उतनी कदाचित् बहुत ही कम ग्रन्थोकी हुई होंगी! और गीताकी समस्त टीकाओंमे जितनी अच्छी यह ज्ञानेश्वरी टीका है, उतनी अच्छी कदाचित् ही और कोई टीका हो। इस ज्ञानेश्वरी टीका की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसपर कही किसी विशेष सम्प्रदाय की छाप नही है। जो कुछ कहा गया है, वह सब प्रकारके साम्प्रदायिक भावोसे दूर रहकर और गीताका यथार्थ अभिप्राय समझनेकी दृष्टिसे कहा गया है। ज्ञानेश्वरी आजसे लगभग साढे छः सौ वर्ष पूर्व लिखी गई थी; और यदि इतनी पुरानी भाषाका ठीक-ठीक अर्थ सब लोगोंकी समझमें न आवे तो यह कोई आश्चर्यकी बात नही है। और यही कारण है कि मूल ज्ञानेश्वरी मे कुछ स्थल विकट और दुरूह भी है। परन्तु फिर भी यदि समस्त ज्ञानेश्वरी पर ध्यान रखा जाय तो यही कहा जा सकता है कि इसकी भाषा बहुत ही सुन्दर, स्पष्ट, शुद्ध सरस, ओजस्विनी और प्रसाद-गुणसे सम्पन्न है। कुछ लोगो का कहना है कि मूल मराठी ज्ञानेश्वरीमें सब मिलाकर ५६ भाषाओके शब्द आये हैं; और यह बात ज्ञानेश्वर महाराजकी उच्च कोटिकी बहुज्ञताकी ही सूचक है। ज्ञानेश्वरीमे सबसे बड़कर प्रशंसनीय उसकी वर्णन-शैली है। जो विषय उठाया गया है, वह इतन विशद और स्पष्ट रूपसे समझाया गया है कि पढ़नेवाले मुग्ध हो जाते है। जगह जगह रूपक और उपमाएँ इतनी अधिक हैं कि गहनसे गहन विषय समझनेमे भी कोई कठिनता नही होती। तात्पर्य यह कि ज्ञानेश्वरी अनेक गुणोंका समुद्र है और इसकी श्रेष्ठताका पूरा-पूरा परिचय इसका भली भाँति अध्ययन करनेसे ही मिल सकता है। मैं तो केवल इसी लिए अपने आपको धन्य समझता हूँ और अपना जीवन सार्थक मानता हूँ कि मुझे ऐसे श्रेष्ठ ग्रन्थ-रत्नका अनुवाद करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सम्भव है कि इस अनुवादमें मुझसे कुछ भूलें और प्रमाद भी हुए हो; पर इसके लिए मैं उदार तथा भक्ति-परायण पाठकोसे क्षमा-प्रार्थनाके सिवा और कर ही क्या सकता हूँ?

अन्तमें मैं यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मैंने ज्ञानेश्वरीका यह हिन्दी अनुवाद स्वर्गवासी श्रीयुत बालकृष्ण अनन्त भिडे बी० ए० कृत "सार्थ ज्ञानेश्वरी" के आधार पर किया है और इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी पूर्ण कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। प्रस्तावना लिखनेमे मैंने उक्त सार्थ ज्ञानेश्वरीकी प्रस्तावनाके अतिरिक्त अपने परम प्रिय और अभिन्न-हृदय मित्र पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे द्वारा अनुवादित श्री ज्ञानेश्वर-चरित्रसे, जो गोरखपुरके प्रसिद्ध गीता प्रेससे प्रकाशित हुआ है, विशेष सहायता ली है। और इसके लिए मैं प्रिय गर्देजीका भी विशेष रूपसे आभारी हूँ।

गुरु पूर्णिमा
सं० १९९४ वि०

—रामचन्द्र वर्मा

आदिकी अच्छी शिक्षा मिली थी और इसी लिए वे बहुत बड़े ज्ञानी, विरक्त और ईश्वरभक्त थे। वे प्राय: घर-गृहस्थकी ओरसे उदासीन रहते थे और तीर्थ-सेवा, साधु-सन्तोंके सहवास और ईश्वर-भक्तिमें ही उनका विशेष मन लगता था। इसी लिए उन्होंने पहले अपना विवाह नही किया था और छोटी अवस्थामें ही वे तीर्थ-यात्रा करने निकल गये थे। जब वे अनेक तीर्थोंकी यात्रा करते हुए पूनाके पास आलन्दी गावमे पहुँचे, तब वहांके कुलकर्णी या पटवारी सिधो पन्तसे उनकी भेंट हुई। विट्ठल पन्त सिद्धेश्वरके मन्दिरमें ठहरे हुए थे। वे देखनेमें तो ज्ञान-सम्पन्न थे ही, पर साथ ही उनकी वृत्ति भी वहुत निर्मल थी और उनका आचरण भी बहुत पवित्र था। इसलिए सिधो पन्तने अपनी कन्याका विवाह विट्ठल पन्तसे करना चाहा और इस सम्वन्धमें उन्होने उनसे कहा भी। उस समय विट्ठल पन्तने उन्हें कोई निश्चित् उत्तर नही दिया। परन्तु कहा जाता है कि बादमें विट्ठल पन्तको इस सम्बन्धमें एक स्वप्न हुआ जिसमें विट्ठल भगवानने उनके सामने प्रकट होकर कहा कि तुम यह विवाह स्वीकृत कर लो; इससे तुम्हे एक ऐसा पुत्र उत्पन्न होगा जो ईश्वरका अवतार ही होगा। और इसलिए ईश्वरकी इच्छा समझकर विट्ठल पन्तने सिधो पन्तकी कन्याके साथ विवाह करके गृहस्थ आश्रमको स्वीकार किया। जिस कन्याके साथ उनका विवाह हुआ था, उसका नाम रुक्मिणी वाई था।

विट्ठल पन्तने यद्यपि स्वप्नमे विट्ठल भगवानकी आज्ञा पाकर विवाह तो कर लिया था, परन्तु फिर भी उनका मन घर-गृहस्थीमें नही लगता था। वे प्राय: भगवानके चिन्तामे ही रहते थे और यह सोचा करते थे कि मैंने यह कहाँका झगड़ा अपने पीछे लगा लिया। रुक्मिणी यद्यपि परम पति-परायणा थी, परन्तु फिर भी वह अपने ईश्वर-भक्त पतिको अपने वशमे नही कर सकती थी। कुछ दिनो तक आलन्दीमें रहनेके उपरान्त वे अपने सास-ससुर और अपने पत्नीके साथ पंढरपुरकी यात्रा करने गये, और तव वहांसे लौटकर अपनी पत्नीके साथ अपने माता-पिताके साथ आपेगाँव पहुँचे। परन्तु विट्ठल पन्तके माता-पिताके भाग्यमे अपने पुत्र और पुत्र-वधूका सुख अधिक समय तक भोगना नही वदा था; अत: थोड़े ही दिनोमे गोविन्द पन्त और उनकी पत्नीका पर-लोकवास हो गया। अव विट्ठल पन्तका वैराग्य और ईश्वर-चिन्तन और भी अधिक वढ गया। यहाँ तक कि गृहस्थीका चलना भी मुश्किल हो गया। रुक्मिणीने यह सव समाचार अपने पिताको लिख भेजा। इस पर सिधो पन्त आकर अपनी कन्या और जामाताको अपने साथ आलन्दी ले गये। परन्तु वहाँ भी विट्ठल पन्त-की मनोवृत्ति ज्योकी त्यो वनी रही। उन्हे कोई सन्तान तो हुई ही नही थी; इस लिए उनकी विरक्ति और भी वढ़ती जाती थी और वे काशी जाकर वही अपना शेष जीवन व्यतीत करना चाहते थे। अन्तमें एक दिन वे अपनी पत्नीसे यह कहकर घरसे निकले कि मैं गगा-स्नान करनेके लिए जाना चाहता हूँ; और तव फिर लौट-कर घर नहीं आये। वे सीधे काशी चले आये और यहाँ श्री रामानन्द स्वामीकी सेवामें उपस्थित हुए। रामानन्दजीसे उन्होने कहा कि मैं अकेला हूँ और मेरी स्त्री या वाल-बच्चे नही हैं। मैं दीक्षित होनेके लिए आपकी सेवामे आया हूँ रामानन्द-जीने भी उनकी वात सच मानकर उन्हे मंत्र-दीक्षा और सन्यास दे दिया।

विषय-सूची

— :o :—

विट्ठल पन्तके इस प्रकार घरसे चले जाने पर रुक्मिणी बाई मनमें बहुत अधिक दु:खी हुई। पतिदेवके अचानक लापता हो जानेसे उसके मनमें बहुत अधिक लज्जा और ग्लानि होती थी; साथ ही उसे दिन-रात अपने भविष्यकी चिंता रहने लगी। अब वह आठ पहरमें केवल एक बार भोजन करती थी, पीपलकी प्रदक्षिणा करती थी और पति तथा ईश्वरका चिंतन करती थी। बस यही उसका कार्य-क्रम था। इसी बीचमें उसे किसी प्रकार यह भी पता लग गया था कि मेरे पतिदेव काशीमे जाकर संन्यासी हो गये हैं। इसलिए उसने अपने व्रतका स्वरूप और भी उग्र बना लिया और बारह वर्ष इसी प्रकारके व्रत और अनुष्ठानमे विता दिये। यद्यपि उसका वह कठोर व्रत और उग्र अनुष्ठान निष्काम था, परंतु फिर भी भगवानने उसकी पुकार सुन ली थी।

एक बार ऐसा संयोग हुआ कि रामानंद स्वामी अपने साथ सौ-पचास शिष्योको लिये हुए रामेश्वरकी यात्रा करनेके लिए निकले थे। रास्तेमे उन्हे आलंदी गांव मिल गया और वही उन्होने डेरा डाल दिया। वे आलंदी में जिस मारुती मंदिरमें ठहरे थे, वहाँ रुक्मिणी बाई नित्य हनुमानजीके दर्शन करने जाया करती थी। वही उसने रामानंद स्वामीको देखकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। रामानन्दजीके मुखसे आशीर्वादके रूपमे निकल गया—"पुत्रवती भव" यह आशीर्वाद सुनकर रुक्मिणी बाईको कुछ हँसी आ गई और वह यह समझकर अपने मनमे दु:खी हुई कि एक महात्माका यह आशीर्वाद बिलकुल निष्फल होगा! जब रामानंदने उससे हँसनेका कारण पूछा, तब उसने कहा कि मेरे पति तो काशीमें संन्यास ले चुके हैं। अतः आपका आशीर्वाद पूरा कैसे होगा? उन्होने रुक्मिणी बाईसे उसके पतिके रूप-रंग और अवस्था आदिके सम्बन्धमे कुछ प्रश्न करके अपने मनमे समझ लिया कि यह कदाचित् उसी व्यक्तिकी स्त्री है जिसने मुझसे दीक्षा ग्रहण की है और जिसका नाम अब "चैतन्याश्रम स्वामी" है। उन्होने यह भी सोचा कि जो व्यक्ति अपनी सन्तान-हीन युवती स्त्रीको छोड़कर संन्यास ग्रहण करता है, शास्त्रोकी दृष्टिमें वह स्वयं भी दोषी होता है और उसे दीक्षा देनेवाला गुरु भी दोषका भागी होता है। अतः उन्होने रामेश्वर-यात्राका विचार छोड़ दिया और रुक्मिणी बाईको अपने साथ लेकर पहले तो उसके माता-पिताके पास गये और तब उन सब लोगोको साथ लेकर काशी लौट आये। यहाँ उन्होने चैतन्याश्रमको बुलाकर उससे सब हाल पूछा। उस समय चैतन्याश्रम भी इन्कार न कर सके और उन्होने अपना सारा दोष मान लिया। इस पर रामानन्द स्वामीने उन्हे आज्ञा दी कि तुम अपनी पत्नीको साथ लेकर आलन्दी चले जाओ और वही गृहस्थाश्रममे अपना जीवन व्यतीत करो। चैतन्याश्रमने भी अपने गुरुकी वह आज्ञा शिरोधार्य की और इस प्रकार वे संन्यासीसे फिर गृहस्थ हो गये।

अब विट्ठल पन्त और रुक्मिणी बाई पर दूसरी विपत्ति आई। किसी संन्यासीका फिर से गृहस्थाश्रममें लौट आना एक बहुत ही अद्भुत बात थी और इसे समाज किसी प्रकार सहन नही कर सकता था। लोग समझते थे कि इससे संन्यासाश्रमका भी अपमान होता है और गृहस्थाश्रम पर भी कलंक लगता है। सब लोग उनकी निन्दा

हिन्दी ज्ञानेश्वरी

करने और उन्हे अनेक प्रकारके कष्ट पहुँचाने लगे। केवल यही नही, ब्राह्मणोने उन्हें अपनी जाति और समाजसे बहिष्कृत भी कर दिया। परन्तु ज्यो-ज्यों लोक-निन्दा वढती जाती थी, त्यो त्यो विट्ठल पन्तकी शान्ति, गम्भीरता और अध्ययनकी मात्रा भी वरावर वढती जाती थी। वे अपना सारा समय शास्त्रोके अध्ययन, आत्म-चिन्तन और ईश्वर-भजनमें ही व्यतीत करते थे और लोक-निन्दाकी ओर कुछ भी ध्यान नही देते थे। रुक्मिणी वाई भी अपने पतिकी सेवा करके ही खूब प्रसन्न रहती थी। परंतु इस वार गृहस्थाश्रम स्वीकार करने पर उन्हें जल्दी जल्दी सन्तानें होने लगी, जिससे उनके सामने एक नई चिन्ता आ खडी हुई। थोड़े ही समयमें उन्हे तीन पुत्र और एक कन्या हुई। सवसे पहले शक संवत् ११९५ मे निवृत्तिनाथका, फिर शक संवत् ११९७ मे ज्ञानदेवका और तव शक संवत् ११९९ मे सोपानदेवका जन्म हुआ। और तीनो पुत्रोके उपरांत अन्तमे शक संवत् १२०१ मे कन्या मुक्ता बाईका जन्म हुआ था।

उन दिनो विट्ठल पंतकी अवस्था अत्यंत शोचनीय हो रही थी। उन्हे कही भिक्षा तक न मिलती थी। कभी-कभी उन्हे फल-फूल और कभी कभी केवल तृण और पत्ते आदि खाकर और यहाँ तक कि कभी कभी केवल जल ही पीकर रह जाना पड़ता था। परतु फिर भी कभी उनका मन मायाके वशमें न हुआ। हाँ, संतान उत्पन्न होने पर अवश्य ही उन्हे भविष्यकी चिंता होने लगी। परंतु वे जैसे जैसे अपना समय विताते चलते थे। सौभाग्यवश उनके तीनो पुत्र बहुत ही कुशाग्रबुद्धि थे और स्वयं वे अनेक शास्त्रोंके पूर्ण पंडित थे, इसलिए उन पुत्रोकी शिक्षा बहुत ही सन्तोषजनक रूपमे होने लगी। जव उनके वड़े पुत्र निवृत्तिनाथकी अवस्था सात वर्षकी हुई, तब उन्होने उनका उपनयन सस्कार करनेका विचार किया। वे जानते थे कि इस सस्कारके समय कोई ब्राह्मण न आवेगा, इसलिए उन्होने ब्राह्मणोसे वहुत प्रार्थना की कि आप लोग किसी प्रकार मुझे फिरसे जातिमे मिला ले। परंतु ब्राह्मणोने उनकी उस प्रार्थना पर कोई ध्यान नही दिया।

सव ओरसे निराश होकर अन्तमें विट्ठल पन्तने यह निश्चय किया कि स्त्री और पुत्रोको लेकर त्र्यम्वकेश्वर चलना चाहिए और वही अनुष्ठान करना चाहिए। तदनुसार वे अपने सारे परिवारको लेकर त्र्यम्वकेश्वर जा पहुँचे। वहाँ उनका नित्यका यह नियम हो गया था कि मध्य रात्रिमे उठकर कुशावर्त्तमे स्नान करते थे और अपने सारे परिवारको लेकर ब्रह्मगिरिकी परिक्रमा करते थे। इस प्रकार छः मास बीतने पर एक दिन उसी आधी रातके समय एक विकट और विलक्षण घटना हुई। जिस समय वे बाल-बच्चो समेत परिक्रमा कर रहे थे, उस समय सामनेसे एक भीपण वाघ कूदता-फाँदता आ पहुँचा। उसे देखते ही सव लोग घवराकर इधर-उधर भाग निकले। उनके वड़े पुत्र निवृत्तिनाथ भी भागते भागते अंजनी पर्वतकी एक गुफा मे जा छिपे। उस समय वहाँ नाथ सम्प्रदायके आचार्य श्री गहिनीनाथ अपने दो शिष्योके साथ तपस्या कर रहे थे। वहाँ पहुँचते ही श्री निवृत्तिनाथ उनके चरणो पर गिर पड़े। गहिनीनाथकी भी उनपर

कृपा-दृष्टि हो गई और उन्होने उनकी अल्प अवस्थाका विचार न करके उन्हें "राम कृष्ण हरि" का मन्त्र देकर अपना शिष्य बना लिया और उन्हे संसारमे कृष्णकी उपासनाका प्रचार करनेकी आज्ञा दी। निवृत्तिनाथ वहाँसे आकर फिर अपने माता-पिता के साथ मिल गए।

विट्ठल पन्त फिर पूर्ववत् समय विताने लगे। परन्तु अपने पुत्रोका यज्ञोपवीत संस्कार न कर सकनेके कारण वे सदा दुःखी रहते थे। वे अपने बाल-बच्चोको लेकर आपेगाँव पहुँचे और वहाँके ब्राह्मणो से भी उन्होने अपने पुत्रका यज्ञोपवीत करानेके लिए कहा। परन्तु उन लोगोने उन्हे उत्तर दिया कि तुमने बहुत बडा अपराध किया है, और इसका प्रायश्चित्त देह दंडके सिवा और कुछ हो ही नही सकता। इस पर विट्ठल पन्त इतने अधिक दुःखी हुए कि उन्होने अपने बच्चोको यो ही ईश्वरके भरोसे छोडकर और अपनी स्त्रीको साथ लेकर प्रयागकी यात्रा की और वहाँ पहुँचकर उन पति-पत्नीने जल-समाधि ले ली।

अब सब बालक अनाथ और असहाय होकर इधर-उधर घूमने और भिक्षा आदि-से अपना निर्वाह करने लगे। परन्तु वे बालक बहुत ही बुद्धिमान् और शीलवान् थे तथा उनका आचरण बहुत ही शुद्ध था, इसलिए पैठणके ब्राह्मणोको उन पर दया आती थी। कुछ लोग उन बालकोकी शुद्धि करना चाहते थे, परन्तु उनकी शुद्धि-का प्रश्न बहुत ही विकट था। वे एक ऐसे संन्यासीकी सन्तान थे जो फिरसे गृहस्थ हो गया था, अतः उन ब्राह्मणोकी समझमे यही नही आता था कि ऐसे बालकोकी शुद्धि किस प्रकार और किस आधार पर की जाय। वे इसके लिए शास्त्रोका आधार और विधान चाहते थे; और शास्त्रोमे इस सम्बन्धका कोई प्रायश्चित ही उन्हे नहीं मिलता था। उन्हे सबसे बडी आशंका इस बातकी थी कि यदि ऐसे बालकोकी शुद्धि कर ली जायगी तो फिर बहुत-से दुष्ट और लम्पट भी जब चाहेगे, तब संन्यासी बन जायँगे और जब चाहेगे, तब प्रायश्चित करके गृहस्थाश्रममे आ जायेगे, जिससे गृह-स्थाश्रम और संन्यासाश्रम दोनो ही कलंकित होगे। परन्तु जब अन्तमे उन्हे यह पता चल गया कि विट्ठल पन्त और उनकी पत्नीने जलसमाधि ले ली, तब निवृत्ति आदि निरपराध बालकोकी अवस्था पर उनको विशेष दया आई और उन्होने सब बातो पर विचार करके इस समस्या का बहुत ही सुन्दरतासे निपटारा किया। उन्होने जो कुछ निर्णय किया था, उसका वर्णन निरजन माधवने इस प्रकार किया है—

"अनन्य भक्ति हरिपादपद्मी, निष्ठा धरा केवल सौख्यसद्मी।
तीव्रानुतापें भजनासि सारा, टाकोनी मायामय हा पसारा।
चित्तीं चिदानन्द धरोनि राहा, चैतन्य तें एक अखड पाहा।
या पद्धतिनेंच तराल लोकी, यावेगला मार्ग तुम्हा नसों की।
जितेन्द्रियत्वेंचि वसा अखंड, न वाढवा संसृतिकामवंड।
वैराग्ययोगेंचि धरोनि पिंड, वर्त्ता तुम्हां निष्कृति हे उदंड।"

अर्थात्—"तुम लोग हरिके चरण-कमलोमे अपनी अनन्य भक्ति रखो और केवल

श्रीः

श्री गोपाल-कृष्णायनमः

हिन्दी ज्ञानेश्वरी

पहला अध्याय

हे ओंकार-स्वरूप परमात्मा, वेद ही तुम्हारा प्रतिपादन कर सकते है। मै तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम ऐसे आत्म-स्वरूप हो जिसका ज्ञान केवल स्वानुभवसे हो सकता है। मैं तुम्हारा जय-जयकार करता हूँ। श्री निवृत्तिनाथ का यह नम्र शिष्य कहता है कि सबके अर्थ-ग्रहणकी शक्तिका प्रकाश जो गणेश कहलाते है, वह तुम्हीं हो। यह बात सब लोग सावधान होकर सुने। यह संपूर्ण साहित्य तुम्हारी मनोहर मूर्ति है और उसका अक्षररूपी शरीर निर्दोष भावसे झलक रहा है। स्मृति ही इस मूर्त्तिका अवयव है, काव्यकी पंक्तियाँ उन अवयवोंके हाव-भाव है और अर्थ-सौंदर्य ही उसका लावण्य है। अठारह पुराण रत्नोसे जुडे हुए अलंकार है, तत्व-सिद्धांत उन अलंकारोमेके रत्न है और शब्दोकी जडाई उन रत्नोपरका कुन्दन हो गई है। सभ्य और सुन्दर काव्य-प्रबन्ध मानो रंग-बिरंगे वस्त्र है और इन वस्त्रोमेका साहित्य रूपी ताना-बाना खूब बढिया और चमकीला है। और यह देखिए कि यदि इन नाटकोकी रसिकतासे योजना की जाय तो उसमे जो घुँघरू होते है, वे अर्थ-रूपी ध्वनिकी रुन-झुन आरम्भ करते है। यदि इन काव्य नाटकोके तत्व-सिद्धान्तोकी खूब दक्षतापूर्वक छान-बीनकी जाय तो उनमे जो मार्मिक पद दिखाई देते है, वही घुँघुरूओमेके रत्न हैं। और व्यास आदि कवियोका जो प्रतिभा रूपी गुण है, वही जरीदार पटका या कमरबन्द है और इस पटकेके पल्लेपरकी इन घुँघुरुओकी झालर ऊपरकी तरफ झलकती है। जिन भिन्न-भिन्न छ. तत्व सम्प्रदायोको षड्-दर्शन कहते है, वही इस गणेश-मूर्त्तिके छ हाथ है, इसीलिए इन सम्प्रदायोके मत-भेदानुसार इन छ हाथोके आयुध भी आपसमे विध्वंसवादी है। आयुधोमे तर्क-शास्त्र परशु है, न्याय-शास्त्र अंकुश है और वेदान्त-शास्त्र मीठे रससे भरा हुआ मोदक है। न्यायसूत्र पर वृत्ति करनेवालो-के द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ, पर आपसे आप टूटा हुआ, वही खंडित दाँत जो बौद्ध मतका संकेत है, एक हाथमे है। सतर्कवाद ही आपका कमलके समान वरद हस्त है और धर्म प्रतिष्ठा ही आपका अभय देनेवाला हाथ है। महासुखके परमानन्दकी प्राप्ति करानेवाला निर्मल सुविचार ही आपका सरल शुंड-दंड है। मतभेदोका परि-हार करनेवाला जो संवाद है, वह आपका अखंडित और शुभ्र वर्णवाला दाँत है।

उस सुख-धाम पर निष्ठा रखो। तीव्र अनुतापपूर्वक ईश्वरका भजन करो और इस मायामय संसारको छोड़ दो। अपने चित्तमें सदा उस चिदानन्दको धारण किये रहो और केवल उस अखंड चैतन्य पर ही दृष्टि रखो। बस इसी उपायसे तुम लोग इस लोकमें तर जाओगे। इसके सिवा तुम लोगोंके लिए और कोई उपाय नही है। तुम लोग अखंड जितेन्द्रिय होकर रहो। संसारका काम-विद्रोह मत बढ़ाओ। तुम लोग अपना शरीर वैराग्य और योगमें ही रखो; और उसी उग्र निष्कृतिको अंगीकार करो।"

निवृत्तिनाथ आदि सभी वालकोने और विशेषतः ज्ञानेश्वरने ब्राह्मणोंका यह निर्णय पूर्ण रूपसे शिरोधार्य किया। पहले निवृत्तिदेव और सोपानदेव यह निर्णय माननेमे कुछ सकोच करते थे, परन्तु ज्ञानदेवने उनसे आग्रहपूर्वक यह निर्णय मान्य कराया था। उन्होने यह वात अच्छी तरह समझ ली थी कि यद्यपि वर्ण, आश्रम और जाति आदिके भेद निर्मूल हैं, परन्तु फिर भी वे देखते थे कि हमारे समाजमें ये सब भेद पूरी तरहसे और दृढ़तापूर्वक प्रचलित हैं; और यदि इनसे सम्बन्ध रखनेवाले नियमोंका भली भाँति पालन किया जाय तो सामाजिक व्यवहारोमें बहुत सुगमता होती है। समाजको व्यवस्थित रखनेके लिए उसके नियमो और आज्ञाओंका ठीक तरहसे पालन करना आवश्यक है और उन नियमों तथा आज्ञाओंके प्रतिकूल चलना तथा विद्रोह करना हानिकारक है। और यदि समाजमें किसी प्रकारके सुधारकी आवश्यकता हो तो वह सुधार समाजमें रहकर और सौम्य तथा नम्र उपायोसे ही करना उत्तम होता है। और यही सब बातें ज्ञानेश्वर महाराजने उस समय अपने दोनो भाइयोको वहुत अच्छी तरह समझा दी थीं।

इस प्रकार पैठणके ब्राह्मणोके आज्ञानुसार तीनों भाई ब्रह्मचर्यपूर्वक अपने समाजमे रहने लगे। उन्हीके साथ साथ मुक्ता बाई भी ब्रह्मचारिणी होकर दिन व्यतीत करने लगी। ब्राह्मणोने इन वालकोकी शुद्धिकी व्यवस्था शक संवत् १२०९ या वि० सं० १३४४ में दी थी। इसके उपरान्त ये चारो भाई-वहन पैठणसे चलकर नेवासें पहुँचे और वही रहने लगे।

कहते हैं कि जिस समय ज्ञानेश्वर महाराज नेवासें पहुँचे थे, उस समय वहाँ एक स्त्री अपने पतिके शवको गोदमें लिए विलाप कर रही थी। पूछने पर मालूम हुआ कि उसके मृत पतिका नाम सच्चिदानन्द था। उन्होने चकित होकर कहा—"क्या सत्, चित् और आनन्दकी मृत्यु हो सकती है? उसे तो मृत्यु स्पर्श तक नही कर सकती।" यह कहकर उन्होने ज्योंही उस मृत व्यक्तिके शरीर पर हाथ फेरा, त्योंही वह उठकर खड़ा हो गया। यही व्यक्ति आगे चलकर सच्चिदानन्द वावाके नामसे प्रसिद्ध हुए थे जिन्होंने यह ज्ञानेश्वरी लिपि-बद्ध की थी और जिनका ज्ञानेश्वर महाराजने ज्ञानेश्वरी के अन्तमें उल्लेख किया है। यह ज्ञानेश्वरी शक संवत् १२१२ या वि० स० १३४७ मे नेवासेमें महालया देवीके मन्दिरमे लिखी गई थी। अर्थात् इस ज्ञानेश्वरीकी रचनाके समय ज्ञानेश्वर महाराजकी अवस्था केवल पन्द्रह वर्षकी थी। और यह उनके अद्भुत विद्वान् होनेका एक वहुत ही उत्कट प्रमाण है। यद्यपि ज्ञानेश्वर महाराजके सम्बन्धमें अनेक चमत्कार प्रसिद्ध हैं, परन्तु यदि उन सव चमत्कारो पर किसीको विश्वास न हो

उन्मेष या ज्ञानतेजका स्फुरण विघ्न-राज गणेशजीके चमकते हुए सूक्ष्म नेत्र हैं। इसी प्रकार मुझे ऐसा जान पडता है कि पूर्व-मीमासा और उत्तर-मीमासा इनके दोनो कान हैं और इन्हीं दोनो कानो पर मुनि रूपी भ्रमर गंड-स्थलसे बहनेवाले बोध-रूपी मद-रसका सेवन या पान करते है। तत्त्वार्थ रूपी प्रवालसे चमकनेवाले द्वैत और अद्वैत दोनो गंड-स्थल है और ये दोनो गणेशजीके मस्तकपर बहुत ही पास-पास होनेके कारण मिलकर प्राय एकसे हो गये है। ज्ञान-रूपी मकरन्दसे ओत-प्रोत भरे हुए दसो उपनिषद् ही मधुर सुगधिवाले फूलोके मुकुटके समान मस्तकपर सुशोभित है। इन गणेशजीमे दोनो चरण अकार है, विशाल उदर उकार है और मस्तकका महामडल मकार है। अकार, उकार और मकार इन तीनोके योगसे ॐकार होता है जिसमे सारा साहित्य-ससार समाविष्ट होता है। इसीलिए मैं सद्गुरुकी कृपासे उस अखिल विश्वके मूल बीजको नमस्कार करता हूँ। अब मैं उस विश्व-मोहिनी शारदा-की वन्दना करता हूँ जो वाणीके नित्य नये-नये विलास प्रकट करती है और जो चातुर्य तथा कलाओ मे विशेष प्रवीण है। जिन सद्गुरुने मुझे इस संसार-रूपी सागर-से पार उतारा है, वे सद्गुरु मेरे अन्त करणमे पूरी तरहसे बैठे हुए है इसीसे विवेक-के लिए मेरे मनमे विशेष आदर है। जिस प्रकार आँखोमे दिव्य अंजन लगानेसे दृष्टि-को अपूर्व बल प्राप्त होता है और तब आदमी जहाँ देखता है, वही उसे भूमिके अन्दर गडे हुए द्रव्योकी बडी-बड़ी राशियाँ दिखाई पडने लगती है, अथवा जिस प्रकार हाथमे चिन्तामणि आनेपर सब प्रकारके मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि श्रीनिवृत्तिनाथजीकी कृपासे मै पूर्णकाम हो गया हूँ। इसी लिए बुद्धिमान् पुरुषोको गुरुकी भक्ति करनी चाहिए और उसके द्वारा कृतकार्य होना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार वृक्षकी जडमे पानी सींचनेसे आपसे आप सब शाखाएँ और पल्लव हरे-भरे हो जाते है। अथवा जिस प्रकार सागरमे स्नान करनेसे त्रिभुवन-के समस्त तीर्थोमे स्नान करनेका फल होता है अथवा जिस प्रकार अमृत रसका पान करनेसे समस्त रसोका आनन्द मिल जाता है, उसी प्रकार जिनके द्वारा समस्त इष्ट मनोरथ सिद्ध होते हैं, उन श्री गुरुदेवकी मैं वार-वार वन्दना करता हूँ। अब आप लोग एक प्रौढ और गम्भीर कथा सुने। यह कथा समस्त कला-विलासोकी जन्मभूमि अथवा विवेक वृक्षोका अपूर्व उपवन है। यह कथा सब सुखोके मूल-स्थान महा-सिद्धान्तकी नींव है अथवा नौ रसोका अमृतका सागर है। अथवा यह कथा स्वयं परम गतिका आश्रय-स्थल, समस्त विद्याओका आदि पीठ और समस्त शास्त्रोका निवास-स्थान है। अथवा यह कथा धार्मिक विचारोका मायका (जन्मभूमि), सज्जनो-का जीवन और सरस्वती देवीके सौन्दर्य रूपी सम्पत्तिका भांडार है। अथवा व्यास-देवकी विशाल मतिको स्फुरित करके स्वयं वाणी देवी इस कथाके रूपमे त्रिभुवनमे प्रकट हुई है। इसीलिए यह कथा समस्त महाकाव्योकी महारानी और सब ग्रन्थोके गौरवका मूल है और इसीसे शृङ्गार आदि नौ रसोको सरसता प्राप्त हुई है। अब

इस कथाका एक और लक्षण सुनिये। इसी कथाके शब्द-वैभव शास्त्र-शुद्ध हुआ है और आत्म-ज्ञानकी कोमलता इसीसे दूनी हुई है। चातुर्यको इसी कथासे चतुराई प्राप्त हुई है, भक्ति-रस इसीसे स्वादिष्ट हुआ है और सुखका सौभाग्य इसीसे पुष्ट हुआ है। इसीसे माधुर्यको मधुरता, शृङ्गारको सुन्दरता और अच्छी बातोको लोक-प्रियता प्राप्त हुई है और उनकी शोभा हुई है। इसी कथासे कलाओका कलाज्ञान प्राप्त हुआ है, पुण्यको अपूर्व वैभव मिला है और इसी लिए इससे राजा जनमेजयके पाप-कर्मोके दोषोका सहजमे प्रक्षालन हुआ है। यदि इसके सम्बन्धमे कुछ और विचार किया जाय तो यह निश्चित होता है कि इसीने रंगोको सुरंगताकी विपुल सामर्थ्य और गुणोको सद्गुणताका तेज प्रदान किया है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार सूर्यके तेजसे त्रिभुवन उज्ज्वल होता है, उसी प्रकार व्यासदेवकी बुद्धिसे व्याप्त होनेके कारण यह विश्व प्रकाशित हुआ है। अथवा जिस प्रकार अच्छी और उपजाऊ भूमिमे बीज बोनेसे वे आपसे आप बढते और फैलते है, उसी प्रकार इस भारत ग्रन्थमे सब विषय बहुत अच्छी तरह सुशोभित हुए है। अथवा जिस प्रकार नगरमे निवास करनेके कारण मनुष्य सहजमे ही बहुश्रुत और सभ्य हो जाता है, उसी प्रकार सारा जगत व्यासदेवकी वाणीसे उज्ज्वल और स्पष्ट हो गया है। अथवा जिस प्रकार युवावस्थाके आरम्भमे स्त्रीके अगोमे लावण्य की नई और अपूर्व शोभा प्रकट होती है। अथवा जिस प्रकार वसन्त ऋतुका आगमन होनेपर उपवनकी भूमि छोटे-बडे सभी वृक्षों और पौधोपर वन-श्रीका भाडार आपसे आप आकर एकत्र हो जाता है, अथवा जिस प्रकार सोनेका डला देखनेसे उसमे आकारकी कोई विशेषता नही दिखाई देती, परन्तु जब उसके अलङ्कार बन जाते है, तब उसकी सच्ची शोभा दिखाई पडती है, इसी प्रकार व्यासदेवकी वाणीके अलङ्कारोसे सुशोभित होनेके कारण इसे अपूर्व सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। और कदाचित् इसी बातका विचार अपने मनमे करके इतिहासने इस कथाका आश्रय लिया है। और समस्त पुराणोने अपने लिए उपयुक्त मान प्राप्त करनेके विचारसे संसारमे अपनी ऊनुता स्वीकृत करके इस भारत ग्रन्थमे आख्यानो-का रूप ग्रहण किया है। इसी लिए लोग यह कहने लग गये है कि जो बात भारतमे नहीं है, वह तीनो लोकोमे कही नही है, और ससारमे इस लोकोक्तिका प्रचार हो गया है कि—"व्यासोच्छिष्ट जगत्रय"। इस प्रकार जो यह रसपूर्ण कथा ससारमे परमार्थका मूल-स्थान बन गई है, वह कथा वैशम्पायन मुनिने राजा जनमेजयसे निवेदन की है। इसलिए आप लोग यह कथा सावधान होकर सुने जो अद्वितीय, श्रेष्ठ, परम पुण्यशील, अप्रतिम और परम शुभ गतिका निवास-स्थान है। अब इस भारत ग्रन्थ रूपी कमलमे गीता नामका वह प्रकरण पराग ही है जिसका उपदेश श्रीकृष्णने अर्जुनको किया था। अथवा समस्त साहित्यका मन्थन करके व्यासदेवकी बुद्धिने यह गीता रूपी अवर्णनीय अमृत निकाला है। फिर यह नवनीत ज्ञानकी अग्नि पर विवेक-पूर्वक तपाया गया है और उसके अच्छी तरह पक जानेके कारण बढिया

मैं तो युद्ध का नाम लेते ही बिलकुल घबरा जाता हूँ। मेरी अपनी ही सुध-बुध बिलकुल जाती रहती है। मन और बुद्धि दोनो चकराने लगते है। देखिये, मेरा शरीर थरथर काँप रहा है, मुँह सूखने लग गया है और सारा शरीर मानो गला जा रहा है। मेरे सारे शरीरमे रोमाच हो आया है, मेरे अन्त.करणमे अत्यन्त व्यथा हो रही है और इससे गाडीव धनुष धारण करनेवाला मेरा यह हाथ ढीला पड रहा है। मेरा मन इस समय मोहसे इतना अधिक ग्रस्त हो गया है कि मुझे इस वातका भी पता नही चला कि यह गाडीव केवल ढीला ही नही हो गया वल्कि मेरे हाथसे छूट भी गया।" वह गाडीव वज्रसे भी वढकर कठोर, असह्य और भयकर था, परन्तु इस स्नेह-जनित मोहकी अद्‌भुत शक्ति उस गाडीवकी शक्तिसे भी बढकर सिद्ध हुई। जिस अर्जुनने युद्धमे शकरको भी परास्त किया था और जिसने निवात-कवच नामक असुरको भी नष्ट कर डाला था, उसी अर्जुनको इस मोहने क्षण भरमे पूर्ण रूपसे व्याप्त कर लिया। भ्रमर कडीसे कडी लकडी को भी सहजमे छेद डालता है, परन्तु कोमल कमलकी कलीमे वह फँस जाता है। फिर चाहे उसके प्राण निकलनेकी ही नौवत क्यो न आ जाय, पर वह उस कमलके दलोको नही भेद सकता। ठीक उसी प्रकार स्नेह-वृत्तिकी कोमलतामे भी भी कठोरता आ जाती है। संजयने कहा—"हे राजा धृतराष्ट्र, यह वृत्ति आदि नारायणकी माया है, इसलिए स्वयं ब्रह्मा भी इसे अपने वशमे नही कर सकते। इसी लिए उस वृत्तिने अर्जुनको भी भ्रममे डाल दिया। अव आगे सजय कहते हैं—हे महाराज, सुनिये, इसके उपरान्त अर्जुनने वहाँ अपने गोत्रके सव लोगोको देखकर युद्धके सम्वन्धमे अपना विचार बिलकुल छोड दिया। यह नही कहा जा सकता कि उसके मनमे दयाका यह संचार किस प्रकार हुआ। इसके उपरान्त उसने श्रीकृष्णसे कहा—"अब हम लोगोका यहाँ ठहरना ठीक नही है। मेरा मन बहुत व्याकुल हो गया है। जव मैं इस वातकी कल्पना करता हूँ कि मै इन सव लोगोका वध करूँ, तो फिर मेरे मुँहसे शव्द भी नही निकलता।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

यदि मैं कौरवोको मारूँ तो धर्मराज युधिष्ठिर आदिको भी क्यो न मारूँ? क्या ये दोनो ही मेरे गोत्रज नही है? इसलिए भाड मे जाय यह युद्ध। मेरी तो समझमे ही नही आता कि यह भयंकर पाप किये विना मेरा कौन-सा काम रुकता है। हे देव, अनेक प्रकारसे विचार करने पर मुझे तो यही जान पडता है कि यहाँ युद्ध करना ही अनुचित होगा। बल्कि यदि यह युद्ध न किया जाय, तभी कुछ हित साधन हो तो हो सकता है।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
तइमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

सुगन्धित घी तैयार हुआ है। विरागी जिसकी इच्छा करते है, सन्त जिसका प्रत्यक्ष अनुभव करते है और पूर्ण ब्रह्मज्ञानी जिसमे "अहमेव ब्रह्मास्मि" की भावना रखकर रमण करते हैं, भक्त जिसका श्रवण करते है, जिसकी त्रिभुवनमे सबसे पहले वन्दना होती है और जो भीष्म पर्वमे कथाके रूपमे कही गई है, जिसे लोग भगवद्गीता कहते है, ब्रह्मा और शंकर जिसकी स्तुति करते है और सनकादिक जिसका आदर-पूर्वक सेवन करते हैं, उस कथाके माधुर्यका श्रोताओको अपना मन कोमल करके उसी प्रकार अनुभव करना चाहिए (उसी प्रकार सुनना चाहिए), जिस प्रकार चकोरके बच्चे मनोयोगपूर्वक शरद् ऋतुकी कोमल चन्द्र-कलाओके कोमल सुधा-कण चुनते हैं। यह कथा वास्तवमे बिना शब्दोकी सहायताके ही कही जाती है, इन्द्रियोके बिना पता लगे ही इसका अनुभव होता है और कानो तक शब्दोके पहुँचनेके पहले ही इसके तत्व-सिद्धान्तका आकलन किया जाता है। भ्रमर जिस प्रकार कमलोमेका पराग ले जाता है और कमल-दलोको इस बातका पता भी नही लगने पाता, उसी प्रकार इस ग्रन्थको श्रवण करनेवाले लोग भी इसका तत्व ग्रहण करते है। केवल कुमुदिनी ही यह बात जानती है कि किस प्रकार बिना अपना स्थान छोडे, उदित होते हुए चंद्रमा-का आलिंगन किया जाता है और किस प्रकार उसके प्रेमका अनुभव किया जाता है। इसी लिए जिसका अन्त करण इस प्रकारकी गम्भीर वृत्तिसे निश्चल हो गया हो, वही गीताका प्रकरण जान सकता है। गीता सुननेके लिए जो लोग अर्जुनकी पंक्तिमे बैठनेके योग्य हो, उन्ही सन्तोको कृपा कर इस कथाकी ओर ध्यान देना चाहिए। कुछ लोगोको ऐसा जान पडेगा कि मैने कुछ अधिक धृष्टता की है; पर वास्तवमे ऐसी बात नही है। हे श्रोतागण, आप लोग गम्भीर और उदार अन्त-करणके हैं, इसीलिए मैंने आपके चरणोमे नम्र होकर यह प्रार्थना की है। माता-पिता का यह स्वभाव ही होता है कि लडका यदि तोतली बोलीमें कोई बात कहे तो वे प्रसन्न और सन्तुष्ट ही होते है। इसी प्रकार जब आप लोगोने मेरा अंगीकार किया है और मुझे 'अपना' कहा है, तो फिर मुझे इस बातकी प्रार्थना करनेकी क्या आवश्यकता है कि यदि मुझसे कुछ त्रुटियाँ हो तो आप लोग उन्हे सहन करे। परन्तु मुझसे एक और भी अपराध हो गया है, और वह यह कि मैं गीताका अर्थ स्पष्ट करनेका साहस कर रहा हूँ। और मेरी प्रार्थना है कि आप लोग वह स्पष्टीकरण सावधान होकर सुने। यह कार्य करनेमे कितना कठिन है, इसका विचार न करके मेरे मनने अवश्य ही ढिठाई की है; और नहीं तो सूर्यके तेजके सामने जुगनूंकी क्या बिसात है? मुझ सरीखे अज्ञानका इस कार्यमे प्रवृत्त होना वैसा ही है, जैसा किसी टिटिहरीका अपनी चोंचकी सहायतासे समुद्रको नापनेका प्रयत्न। यदि कोई आकाशको आच्छादित करना चाहे तो उस आच्छादित करनेवालेके लिए आकाशसे भी बड़े होनेकी आवश्यकता होती है। और जब मैं इस बातका विचार करता हूँ तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मैंने जो यह काम अपने हाथमे लिया है, वह मेरी सामर्थ्यके बाहर ही

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाःश्वशुराःपौत्राःश्यालाःसम्बन्धिनस्तथा॥ ३४॥

इसलिए लाभकी आशासे मुझे कुछ भी नही करना चाहिए। यह सब अवस्था देखकर तो मैं सोचता हूँ कि राज्य करनेसे ही क्या लाभ है! इन सब लोगोकी हत्या करके जो सुख भोगनेको मिले, उन सब सुखोंमे आग लगे!" आगे अर्जुनने कहा—'यदि वे सुख भोगनेको न मिले तो उस अवस्थामे चाहे जो कुछ हो, वह सब सहन किया जा सकता है। बल्कि इसके लिए तो यदि प्राण भी देने पडे तो वह भी मुझे स्वीकार है। परन्तु यह बात तो मुझे स्वप्नमे भी अच्छी न लगेगी कि पहले तो मैं इन सब लोगोकी हत्या करूँ और तब स्वयं राज्यके सुख भोगूँ। यदि मैं अपने मनमें इन गुरुजनोका अनिष्ट करनेका विचार करूँ तो फिर जन्म लेना वृथा है। और फिर उनके बाद यदि मैं जीवित भी रहूँ तो किन लोगोके लिए? प्रत्येक व्यक्ति जो इच्छा करता है कि मेरे आगे सन्तान हो, क्या उसका फल यही है कि हम अपने गोत्रवालो-का समूल नाश कर डाले? भला यह बात मनमे लाई ही कैसे जा सकती है कि हम इन लोगोके प्रति वज्रके समान कठोर हो? उलटे जहाँ तक हो सके, हमे इन लोगोका हित ही करते रहना चाहिए। होना तो यह चाहिये कि हम जो कुछ सम्पादन करे, उन सबका सुख यही लोग भोगें। बल्कि इन लोगोके कार्यके लिए तो हमें अपना जीवन भी उत्सर्ग कर देना चाहिए। उचित तो यह है कि हम दसो दिशाओके राजाओको जीतकर अपने गोत्रवालोको ही सन्तुष्ट करे। इस समय हमारे वही सब गोत्रवाले यहाँ एकत्र हैं। परन्तु दैव-योग कुछ ऐसा उलटा आ पडा है कि ये लोग स्त्री बच्चो और धन-सम्पत्ति सबको छोडकर और अपना जीवन शस्त्रोकी नोक पर लटका कर यहाँ आपसमे लड मरनेके लिए उद्यत हुए है। फिर ऐसे लोगोका मै कैसे वध करूँ? मैं किन-किन लोगोपर शस्त्र उठाऊँ? अपने ही लोगो के हृदयका मैं कैसे घात करूँ? शायद आपके ध्यानमें यह न आया हो कि ये लोग कौन है, पर जिन्होने मुझ-पर बहुतसे उपकार किये हैं, वही प्रत्यक्ष भीष्म और द्रोण यहाँ उपस्थित है। सब साले, ससुर मामे और ये सब भाई, लडके और नाती-पोते आदि हमारे अपने और सम्बन्धी ही यहाँ एकत्र है। हे देव, आप सोच देखे कि यहाँ सब लोग बहुत पासके नाते-रिश्तेके लोग ही उपस्थित है। इसीलिए इन सब लोगोके सम्बन्धमे मुँहसे कोई अनिष्ट बात निकालना भी मानों अपनी जिह्वाको कलंकित करना है।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ ३५॥

इनकी अपेक्षा तो कहीं अच्छा यह है कि ये लोग जो कुछ चाहे, वही कर लें; अथवा ये मुझको ही मार डालें, पर मैं इन लोगोकी हत्या करनेका विचार भी अपने मनमें न लाऊँ। चाहे मुझे त्रिभुवनका अखण्ड राज्य भी क्यो न मिले, तो भी मैं कभी ऐसा अनुचित कर्म करनेके लिए उद्यत नहीं हो सकता। यदि मैं आज यहाँ यह काम

है। जिस समय स्वयं शंकरजी गीताके अर्थकी महत्ता या गम्भीरताका वर्णन कर रहे थे, उस समय पार्वतीको कुतूहल हुआ था और उन्होने पूछा था। उस पर शंकरजीने कहा था—"हे भवानी, तुम्हारे स्वरूपके समान ही यह गीता-तत्व अज्ञेय और नित्य नवीन है"। जिन सर्वेश्वर आदि-नारायणकी निद्राके खर्राटोसे ही वेदार्थका विस्तार हुआ था, उन्हीने इस गीताका रहस्य भी बतलाया था। अत जो कार्य इतना असीम हो और जिसमे वेदोकी मति भी काम न करती हो, उसमे मुझ सरीखे अल्प और अत्यन्त मन्द बुद्धिवाले व्यक्तिका भला कहाँ ठिकाना लग सकता है! इस असीम गीता-तत्वका आकलन भला कैसे किया जा सकता है? इस प्रचण्ड अलौकिक तेजको भला कौन अधिक उज्ज्वल कर सकता है। एक मच्छड अपनी मुट्ठीमे आकाशको कैसे ले सकता है? परन्तु ऐसी अवस्थामे भी एक ऐसा आधार है जिसकी सहायता से मैं अपने आपको बलवान् समझता हूँ। और मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि वह आधार यही है कि श्री गुरु निवृत्तिनाथ मेरे अनुकूल है। यद्यपि सामान्यत. मैं मूर्ख और विवेक-हीन हूँ, परन्तु फिर भी सन्त-कृपाका दीपक तेजस्वी और स्पष्ट है। केवल पारसमे ही यह शक्ति होती है कि वह लोहेको सोना बना सके और केवल अमृत ही मृतकको फिरसे जीवित कर सकता है। यदि स्वयं सरस्वती ही प्रसन्न हो जायँ तो गूँगेमे भी बोलने की शक्ति आ जाती है। और कुछ वस्तुओमे भी इसी प्रकारकी विशिष्ट शक्ति होती है और उसी शक्तिके अनुसार परिणाम या कार्य भी होता है। अत इसमे आश्चर्य करनेकी कोई बात नही है। जिसकी माता कामधेनुके समान हो, उसे भला किस बातकी कमी हो सकती है। इसी लिए मैं इस ग्रन्थकी रचना करनेको उद्यत हुआ है। इसी लिए मैं आप लोगोसे प्रार्थना करता हूँ कि यदि इसमे कोई त्रुटि हो तो उसकी पूर्ति आप लोग कर ले, और यदि इसमे कोई बात अधिक हो तो उसे प्रसगोचित कर ले। अच्छा तो अब आप लोग इस और ध्यान दे, क्योंकि जब आप लोग मुझे बोलनेमे प्रवृत्त करेंगे, तभी मै बोल सकूँगा। यह बात उसी प्रकारकी है, जिस प्रकार कठपुतलियो का चलना-फिरना और नाचना उसके नचानेवाले सूत्रधार पर अवलम्बित रहता है। इसी प्रकार मैं भी साधु-सन्तोका अनुगृहीत और उन्हीकी कृपा पर आश्रित हूँ। मै पूर्ण रूपसे उन्ही लोगोकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाला हूँ। इसलिए जिस प्रकार आप लोगोको अच्छा लगे, उसी प्रकार आप लोग मुझे अलकारोसे मंडित करे। इतनेमे श्री गुरुजीने कहा—"बस करो, ये सब बाते कहनेकी तुम्हे कोई आवश्यकता नही है। अब तुम जल्दीसे अपना ध्यान ग्रन्थकी ओर लगाओ"। गुरुजीके ये वचन निवृत्ति-दास ज्ञानदेवके लिए बहुत आनन्ददायी हुए और वह कहने लगा—"अब सब लोग शान्त चित्तसे और सावधान होकर सुने।"

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥ १॥

कर डालूंगा तो फिर मेरे लिए किसके मनमें आदर रह जायगा ? और हे श्रीकृष्ण,फिर क्या उस समय मैं फिर उठाकर और निर्भय होकर आपके मुखकी ओर देख सकूँगा ?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

यदि मै अपने ही कुलके लोगोका सहार करूँगा तो मैं पापोका घर बन जाऊँगा; और यहाँ तक कि आप भी मेरे हाथसे निकल जायँगे और मुझे अपने पाससे हटा देंगे । गोत्र-घातके सब पाप आकर मुझे चिमट जायँगे । फिर ऐसी अवस्थामे भला आप किसे और कहाँ दिखाई देगे ? जिस प्रकार वनमे खूव तेज आग लगी हुई देखकर कोयल वहाँ क्षण भर भी नही ठहरती, अथवा कीचड से भरा हुआ सरोवर देखकर चकोर उसको स्वीकार नही करना, वल्कि उपेक्षापूर्वक उसका परित्याग करके वहाँसे चलता बनता है, ठीक उसी प्रकार, हे देव, जब आप देखेंगे कि मेरे पुण्यका सरोवर विलकुल सूख गया, तो फिर आप भी मुझपर अपनी कृपाकी छाया करने नही आवेंगे ।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

इसी लिए मैं यह युद्ध नही करूँगा, यहाँ तक कि इस युद्धमे अपने हाथमे शस्त्र भी धारण नही करूँगा, क्योकि ऐसा करना मुझे अनेक प्रकारसे दूषित जान पडता है ? हे देव, यदि आप ही मुझसे विछुड जायँगे तो फिर मेरे पास रह क्या जायगा ? भइया कृष्ण, उस दु खपूर्ण समयमे आपके वियोगके कारण मेरा कलेजा फट जायगा । इसलिए यह वात विलकुल असम्भव है कि ये कौरव तो मारे जायँ और मैं सव सुखोका उपभोग करूँ ।',

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अर्जुनने कहा—"ये लोग अभिमानके मदसे अन्धे होकर युद्ध करनेके लिए प्रवृत्त हुए है । परन्तु फिर भी मुझे अपने हितका ध्यान रखना चाहिए । भला मैं यह कैसे कर सकता हूँ कि अपने हाथोसे ही अपने गोत्रवालोकी हत्या करूँ ? क्या मैं जान-बूझकर और आखे खोलकर यह कालकूट विष पी जाऊँ ? यदि रास्तेमे चलते समय कही कोई सिंह सामने आ पडे तो एक ओर हटकर उसे वचा जाना ही अच्छा है । हे देव, भला आप ही वतलाइये कि वढिया प्रकाश छोडकर अँधेरे कुएँमे घुसनेमे कौन-सा लाभ है । अगर सामने आग दिखाई पडती हो तव यदि हम उससे वचकर न निकले तो वह क्षण भरमे हमे जला डालेगी । इसी प्रकार यह प्रत्यक्ष दोष मुझपर आकर पडना चाहता है । फिर यह वात जानते हुए भी मैं किस प्रकार इस कृत्य के लिए प्रस्तुत होऊँ ?" ये सव वाते कहकर अर्जुनने यह भी कहा—"हे देव, आप जरा मेरी वातो की ओर ध्यान दे । अव मैं आपको यह वतलाता हूँ कि यह पाप कितना भयंकर है ।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

पुत्र-प्रेमके कारण मोहमें पड़े हुए धृतराष्ट्र पूछने लगे—"हे संजय, कुरुक्षेत्रकी बातें मुझे बतलाओ। जिस क्षेत्रको लोग धर्म-क्षेत्र अर्थात् धर्मका स्थान कहते हैं, वहाँ पांडव और मेरे लड़के युद्ध करनेके लिए गये हुए हैं। अतः अब तुम मुझे जल्दी यह बताओ कि इतने समयमें उन लोगोंने क्या क्या किया"।

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

इसपर संजयने कहा—विश्व-प्रलयके समय जिस प्रकार काल अपना मुँह फैलाता है, उसी प्रकार पाडवोंकी सेना क्षुब्ध हो गई। जिस प्रकार कालकूट क्रुद्ध होकर चारों ओर फैल जाता है, उसी प्रकार वह बहुत बड़ी सेना एक साथ ही क्रुद्ध और क्षुब्ध हो गई। फिर भला उसे कौन रोक सकता था! अथवा जिस प्रकार प्रलयकी वायु से बलवान् होकर बड़वानल क्षुब्ध होकर और समुद्रको सोखकर आकाश तक फैलने लगता है। उसी प्रकार अनेक पत्तियोंकी व्यूह-रचनासे सुघटित वह दुर्दमनीय सेना उस समय बहुत ही भीषण जान पड़ने लगी। परन्तु जिस प्रकार हाथीके बच्चेको सिंह कोई चीज नहीं समझता, उसी प्रकार दुर्योधनने उस सेनाको देखकर तुच्छ समझा। इसके उपरान्त वह द्रोणके पास आकर कहने लगा—"आपने देखा कि पाण्डवोंकी सेना कैसे आवेशमें आयी हुई है? उस सेनाके भिन्न भिन्न व्यूह मानो चलते-फिरते पहाड़ी किले ही जान पड़ते हैं। ये व्यूह उस द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्नके रचे हुए हैं, हे आचार्य, जिसे आपने शिक्षा दी और जिसे आपने युद्ध-विद्यासे मंडित किया। देखिये उसी धृष्टद्युम्नने पाडवोंके सेना-सागरका कैसा विस्तार किया है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥

उस सेनामें और भी ऐसे अलौकिक वीर हैं जो शस्त्रास्त्रकी विद्यामें पारंगत हैं और क्षात्र-धर्ममें भी पूरे हैं। अब प्रसंग आ गया है, इसलिए मैं आपको उन लोगोंके नाम बतलाता हूँ जो बलमें, अभिमानमें और पराक्रममें बिलकुल भीम और अर्जुनकी बराबरीके ही हैं। इस सेनामें महायोद्धा युयुधान और विराट तथा महारथी वीरश्रेष्ठ द्रुपद भी आये हैं।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

देखिये चेकितान, धृष्टकेतु, पराक्रमी वीर काशीराज, उत्तमौजा और नृप-श्रेष्ठ शैब्य भी यहाँ उपस्थित हैं। और देखिये, वह कुन्तिभोज है और वह युधामन्यु है

"जैसे यदि लकडीको लकडीपर घिसा जाय तो उससे जो थोडी-सी आग निकलती है, वह बढकर सारी लकडीको जला डालती है। उसकी प्रकार जब एक ही गोत्रमे उत्पन्न लोग दुष्टतापूर्वक दूसरेका घात करने लगते है, तब उस भयकर महा-घातकके कारण सारे कुलका नाश हो जाता है। इसी लिए इस पाप-कृत्य से सारा कुलधर्म नष्ट हो जायगा और तव कुलमे अधर्म ही अधर्म रह जायगा।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥ ४१॥

"जव ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, तब भले और बुरेका विचार करना संभव ही नही रह जाता। सव लोग सभी कुछ करने लग जाते है और इसलिए विधि और निपेध मव नष्ट हो जाते है। जिस प्रकार हाथका दीपक गँवाकार अँधेरेमे इधर-उधर भटकना पडता है और सीधी-सादी भूमिपर भी लडखडाकर गिरना पडता है, उसी प्रकार जिस समय किसी कुलमे कुल-क्षय होता है, उस समय मुख्य सनातन धर्माचार छूट जाता है। फिर ऐसी अवस्थामे पापको छोडकर दूसरी और कौन-सी बात फूल-फल सकती है? जिस समय आचार और इन्द्रिय-निग्रहका विनाश होता है, उस समय इन्द्रियाँ स्वच्छन्दतापूर्वक इधर-उधर दौडने लगती है जिससे कुलीन स्त्रियाँ भी भ्रष्ट हो जाती हैं। श्रेष्ठ लोग जाकर निकृष्टोमे मिल जाते है और उच्च तथा नीच वर्ण आपसमे मिलकर एकाकार हो जाते है जिससे जाति-धर्म की जड ही उखड जाती हैं। ऐसे कुलोमे महापातकोका उसी प्रकार सचार होने लगता है, जिस प्रकार चौमुहानीपर रखी हुई वलिपर कौओके झुड चारो ओरसे आकर एकत्र होते है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥

"इसके उपरान्त उस कुलको भी और उसका घात करनेवालोको भी नरकमें जाकर निवास करना पडता है। और फिर यह भी देखिए कि जव इस प्रकार सारा वंश पापोंमे भ्रष्ट हो जाता है, तव उस कुलके स्वर्गवासी पितरोको भी स्वर्गलोकसे नीचे गिरना पडता है। क्योकि जहाँ नित्य और नैमित्तिक दोनो ही धार्मिक कृत्योका विनाश हो जाता है, वहाँ श्राद्ध कर्म करके किसे किसीको तिलोदक देने की चिन्ता रह सकती है? ऐसी अवस्थामे पितर लोग क्या करे? वे स्वर्गलोकमे कैसे ठहर सके? इसलिए वे वेचारे भी अपने कुलके लोगोके पास नरकमे पहुँच जाते है। जिस प्रकार नाखूनके सिरेपर लगा हुआ सर्पका दंश विषके वेगसे मस्तक तक जा पहुँचता है, उसी प्रकार इस पापके दोपसे मूल पुरुषो तक सारा कुल ही व्याप्त हो जाता है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥
अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥

"हे देव, इसमे एक और भी महापातक होता है। वह सुनिये। जव इस प्रकार एक कुल पतित हो जाता है, तव उसके दुष्ट ससर्गसे और लोग भी आचार-भ्रष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार हमारे घरमे अचानक लगी हुई आग दूसरोके घरोमे भी लगकर

और ये इधर पुरुजित आदि दूसरे राजा लोग है। दुर्योधनने द्रोणसे कहा—यह देखिये, सुभद्राके हृदयको आनन्द देनेवाला और देखनेमे दूसरे तरुण अर्जुनके समान जान पड़नेवाला अभिमन्यु है। और इनके सिवा द्रोपदीके पुत्र तथा दूसरे ऐसे बहुतसे वीर महारथी यहाँ एकत्र हैं जिनकी संख्या का अन्त ही नही है।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तमः।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

अब प्रसंगवश मैं अपनी सेनाओके नेताओ और प्रमुख तथा प्रसिद्ध शूर-वीरोके नाम भी बतलाता हूँ, सुनिये। आपके सरीखे जो प्रथम श्रेणीके मुख्य वीर है, उनमेसे दिग्दर्शन मात्रके लिए केवल एक दो वीरोके नाम बतलाता हूँ। ये गंगापुत्र भीष्म-पितामह है जिनके प्रतापका तेज सूर्यके समान है। और यह वीरकर्ण तो शत्रु-रूपी हाथियोका संहार करनेवाला सिंह ही है। इनमेसे प्रत्येक ऐसा है कि यदि वह चाहे तो अकेला ही सारे विश्वका सहार कर सकता है। क्या ये कृपाचार्य अकेले ही सारे विश्वका सहार नही कर सकते ? और देखिये, यह वीर विकर्ण है और वह उधर अश्वत्थामा है जिनकी धाक स्वय सर्व-विध्वसक काल भी मानता है। और समितिंजय तथा सौमदत्ति आदि बहुतसे ऐसे वीर है जिनकी सामर्थ्यकी माप स्वय ब्रह्माके किये भी नही हो सकती।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

जो शस्त्र-विद्यामे निष्णात है, जो मन्त्र-विद्यामे स्वय अवतार ही जान पडते है, जिन्होने समस्त अस्त्र-समूहोको ससारमे प्रचलित किया है, और जिनके अंगोमे पूरा पूरा प्रताप छाया हुआ है, वे सब अप्रतिम वीर जी-जानसे मेरे अनुयायी हुए है। जिस प्रकार पतिव्रताका हृदय अपने पतिको छोडकर औरोको कभी स्पर्श भी नही करता, उसी प्रकार इन महायोद्धाओके लिए मैं ही भक्ति-सर्वस्व हो गया हूँ। मेरे कार्यके आगे वे लोग अपने प्राणोको भी कोई चीज नही समझते और इस प्रकार ये लोग स्वामिनिष्ठामे नि सीम और निर्दोप है। ये लोग युद्ध-कौशल जानते है और युद्ध-कलाकी कीर्त्तिको इन्ही लोगोने जीवित रखा है। यहाँ तक कि क्षत्रियोके बानेका उद्गम इन्ही लोगोसे हुआ है। और हमारी सेनामे जो ऐसे सर्वोपरि वीर है, उनकी गिनती कहाँ तक की जाय ! बस समझ लीजिये कि वे असख्य ही है।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

समस्त क्षत्रियोमे जो श्रेष्ठ और ससारमे महावीर पितामह भीष्म हैं, उन्हे सेना-पति बनाया गया है। इन्ही भीष्मके बलसे आच्छादित यह सेना एक किलेकी तरह बनी हुई दिखाई देती है और इसके सामने यह त्रिभुवन भी तुच्छ जान पडता है।

और उन्हे जलाकर राख कर देती है, उसी प्रकार इस कुलका संसर्ग जिन लोगोके साथ होता है, वे सब लोग भी इस कुलके कारण पातकी हो जाते है। इस प्रकार अनेक दोषोसे ग्रस्त वह कुल फिर केवल भयंकर नरकवासका ही पात्र होता है।" अर्जुनने आगे यह भी कहा—"जब इस प्रकार एक बार वह कुल नरकमे चला जाता है, तब कल्पान्त तक भी वहाँसे उसका छुटकारा नही होता। बस कुलका घात करनेसे इसी प्रकार अधोगति होती है जिसका कही अन्त नही होता। हे देव, आपने मेरी ये अनेक प्रकारकी बाते सुनी, पर मैं देखता हूँ कि आपकी वृत्तिमे अभी तक कुछ भी अन्तर नही पडा। क्या आपने अपना हृदय वज्रका कर लिया है? आप फिर ध्यान देकर सुने। जिस शरीरके लिए इस राज्य-सुखकी इच्छा की जाती है, वह शरीर आदि सभी क्षण-भंगुर है। तो फिर इस दोषको जानते हुए भी क्या हमे उसका परित्याग नही करना चाहिए? मैंने जो इन सब बडे लोगोका विचार अपने मनमे रखकर इन लोगोपर दृष्टि डाली है, वही क्या मुझसे कोई छोटा अपराध हुआ है?

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥

"मैं तो समझता हूँ कि अब इसके बाद जीवित रहनेकी अपेक्षा अधिक उत्तम यही है कि मै अपने शस्त्र फेंक दूँ और इन लोगोके बाणोका प्रहार सहर्ष सहन करूँ। यदि ऐसा करनेमे मेरी मृत्यु भी आ जाय तो वह भी अच्छी है। पर मैं यह महापातक नही करना चाहता।"

संजय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे राजन्, उस समय युद्ध-भूमिमे अर्जुनने ये बातें कही। अब इसके बाद जो कुछ हुआ, वह भी सुनिये। इसके उपरान्त अर्जुनको अत्यन्त खेद हुआ और उसकी ऐसी अवस्था हो गई जिसे वह सहन न कर सका। उसी दुःखके आवेश मे वह रथ परसे नीचे कूद पडा। जिस प्रकार अपने पदसे च्युत किया हुआ राजपुत्र सब प्रकारसे निस्तेज हो जाता है, अथवा राहुसे ग्रस्त होनेके कारण सूर्य प्रभाहीन हो जाता है, अथवा महासिद्धिके लोभमे पडा हुआ तपस्वी भ्रमिष्ठ होकर फिर विषय-वासनाके जालमे फँस जाता है और दुर्बल हो जाता है, उसी प्रकार रथसे नीचे उतरकर आया हुआ वह अर्जुन मारे दुःखके अत्यन्त जर्जर-सा दिखाई देने लगा। इसके उपरान्त उसने धनुष-बाण रख दिया। उसकी आँखोसे निरन्तर जल बहने लगा। हे राजन्, बस इस प्रकारकी उसकी अवस्था हो गई।" अर्जुनको दुःखसे व्याप्त देखकर वैकुण्ठाधिपति श्रीकृष्णने उसे किस प्रकार परमार्थका ज्ञान कराया, श्रीनिवृत्तिनाथका दास ज्ञानदेव कहता है कि इसका सविस्तर वर्णन अगले अध्यायमे होगा जो सुननेमे बहुत ही अद्भुत होगा।

एक तो समुद्र यो ही सव लोगोको अलंघ्य जान पडता है, तिस पर जैसे उसे वड़वानलकी सहायता मिल जाय, अथवा जिस प्रलयकी अग्नि और अत्यन्त प्रबल वायुका संयोग हो जाय उसी प्रकारकी अवस्था इन गंगा-पुत्र भीष्मके सेनापति होनेसे हो गयी है। फिर भला हमारी सेनाके साथ कौन लड सकता है? और फिर पाडवोंकी यह सेना तो वहुत ही थोडी है। पर यह छोटी-सी सेना भी मुझे अपरम्पार दिखाई देती है। और इस सेनाका नायक वह प्रवल और उद्दंड भीमसेन बना है।" इतना कहकर दुर्योधनने अपनी वात समाप्त की।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ ११॥

इसके उपरान्त उसने फिर समस्त सैनिकोसे कहा—"अब तुम लोग अपना अपना दल व्यवस्थित करो। जिन जिन लोगोको सेनाकी जितनी जितनी अक्षौहिणियाँ दी गई है और उनकी रक्षाके लिए जिस प्रकार महारथियोका विभाग किया गया है, उसीके अनुसार सव लोग अपनी अपनी सेनाकी व्यवस्था करे और सव लोग भीष्मकी आज्ञा माने। इसके उपरान्त दुर्योधनने द्रोणाचार्यकी ओर घूमकर कहा—"सुनो, तुम सव लोग केवल इन भीष्मकी रक्षा करो। जिस प्रकार मैं इनका सम्मान करता हूँ, उसी प्रकार तुम सव लोग भी इनका सम्मान करो, क्योकि हमारी इतनी वड़ी सेनाकी शक्ति केवल इन्ही पर निर्भर है।"

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२॥

दुर्योधनकी ये वाते सुनकर सेनापति भीष्म वहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होने प्रवल रण-घोष किया। उस विलक्षण घोषने दोनो ही सेनाओमे ऐसा शब्द किया कि उनकी प्रतिध्वनि कही समाती ही नही थी। उस प्रतिध्वनिके समान ही श्रीमान् भीष्मने अपनी वीर्य-स्फूर्तिके वलसे अपना अलौकिक शख भी फूँका। जव उस रण-घोषमे यह शखघोष मिल गया, तव मानो त्रैलोक्यके कान वहरे हो गये और ऐसा जान पडा कि आकाश ही फटकर जमीन पर आ गिरा हो। उस समय आकाश गरज उठा, समुद्र ऊपर उछलने लगा और सारे विश्वके स्थावर और जंगम त्रस्त होकर कॉपने लगे। इस महाघोष के गर्जनसे पर्वतोकी गुफाएँ तक गूँजने लगी और उसके साथ ही सेनाओमे रण-वाद्य खूव जोरोंसे वजने लगे।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥

अनेक भयानक और कर्कश वाजे वजने लगे जिनके शब्द सुनकर वडे वड़े वीरोंको भी ऐसा जान पडने लगा कि प्रलयका काल आ गया। फिर भला कायरोकी तो वात ही न पूछिए! जो लोग कच्चे जीके और कम साहसवाले थे, वे सूक्ष्म कणोकी तरह उड़ गये। यहाँ तक कि स्वय काल भी ऐसा भयभीत हो गया कि उसे सामने आनेका साहस ही नहीं होता था। नौवतें, नगाड़े, मृदङ्ग, शंख, झांझे और तुरहियाँ

दूसरा अध्याय

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

इसके उपरान्त संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे राजन्, सुनिये, उस युद्धभूमिमे वह अर्जुन शोकसे इस प्रकार विह्वल होकर रोने लग गया। अपने कुलके सव लोगोको वहाँ देखकर अर्जुनके मनमे दयाका भाव किस प्रकार आया? जिस प्रकार जलके योगसे नमक गल जाता है अथवा वायु चलनेसे वादल फट जाते है, उसी प्रकार वस धैर्य-शालीका हृदय भी द्रवित हो गया। इसलिए दयावृत्तिसे व्याप्त वह अर्जुन कीचडमे फँसे हुए राजहंसके समान म्लान दिखाई पड़ता था। पाडु-पुत्र अर्जुनको ऐसे विलक्षण भ्रममे फँसा हुआ देखकर भगवान् श्रीकृष्णने उससे इस प्रकार कहना आरम्भ किया।

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुनः ॥ २ ॥

"भाई अर्जुन, तुम पहले इस वातका विचार करो कि क्या इस युद्ध-भूमि पर तुम्हारा ऐसा करना और ऐसा कहना उचित है। यह भी सोचो कि तुम कौन हो और क्या कर रहे हो। आज तुम्हे यह क्या हो गया है? आज तुममे किस वातकी कमी हो गई है? अथवा तुम्हारा कोई किया हुआ कार्य विनष्ट हुआ है। तुम यह शोक किसलिए कर रहे हो? तुम तो कभी ऐसी-वैसी वातो पर ध्यान ही नही देते। तुम कभी धैर्य छोडनेवाले नही हो। तुम्हारे तो नामका उच्चारण करते ही अपयश भागकर दिगन्तमे चला जाता है। तुम शौर्यका भाडार और क्षत्रियोमे अग्रगण्य हो। तुम्हारे पराक्रमकी व्याप्ति त्रिभुवनमे है। तुमने युद्धमे शंकरको हराया है और निवात-कवचका नाम-निशान तक मिटा दिया है। तुमने गन्धर्वों तकको अपने यशका गान करनेमें प्रवृत्त किया है। तुम्हारे उत्तम कार्योंके विस्तारके विचारसे त्रैलोक्य भी छोटा दिखाई पड़ता है। हे अर्जुन, तुम्हारा पराक्रम ऐसा खरा और निर्दोप है। पर तुम यहाँ युद्ध पराक्रमी आज समरागणमे वीरोकी भावना छोडकर और सिर नीचे करके इस प्रकार वालकोंकी तरह रो रहे हो। भाई अर्जुन, तुम्ही अपने मनमे विचार करो कि क्या तुम्हें इस प्रकार ऐसे दब्बूपनके फेरमे पडना चाहिए। क्या सूर्य कभी अन्धकारसे ग्रस्त होता है? अथवा पवन कभी मेघोंसे डरता है या अमृतको मरण कभी दबा सकता है, या लकडी कभी आगको निगल सकती है? अथवा नमक कभी पानीको गला सकता है अथवा दूसरे विपके स्पर्शसे कालकूट विप मर जाता है अथवा महासर्प कभी किसी मेंढकसे निगला जाता है? कभी ऐसी विलक्षण वात भी

जोर जोरसे बजने लगी और उनके शोरमे पराक्रमी वीरोका रण-घोष मिलने लगा। कोई अपने भुज-दडो पर ताल ठोकने लगा और कोई युद्धके लिए ललकारने लगा। जिस स्थानपर मदोन्मत्त हाथी छूटकर आ पहुँचे थे, उस स्थानपर बहुतसे लोगोके खड़े खडे ही प्राण निकल गये। अच्छे अच्छे शूरोके दाँत बैठ गये और उनके मुँहसे आवाज तक न निकली, और जो लोग बडी बडी प्रतिज्ञाएँ करके आये थे, वे भी ठंढे पड गये। रणवाद्योका ऐसा विलक्षण और भयानक शब्द सुनकर ब्रह्मा भी भयभीत हो गया और देवता लोग कहने लगे—"आज तो कदाचित् प्रलयकाल ही आ पहुँचा।"

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ १४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥

उधर तो वह भयंकर रण-कोलाहल सुनकर स्वर्गमे इस प्रकारकी बाते हो रही थी, पर इधर पाडवोकी सेनामे क्या हो रहा था? वह भी सुनिये। जो रथ रण-विजयका मानो सार-सर्वस्व था अथवा जो महातेजका भाडार ही था, जिसमे वेगवत्तामे गरुडके सगे भाइयोके-से चार घोडे जुते हुए थे, अथवा जो उडते हुए मेरु पर्वतके समान जान पडता था, जिसके तेजसे दसो दिशाएँ भर गई थी और जिसपर वैकुण्ठके स्वामी स्वयं नारायण ही अश्व-वाहक बनकर बैठे हुए थे, उस रथके गुणोका वर्णन भला कहाँ तक हो सकता है! उसकी पताका पर जो वानर था, वह तो प्रत्यक्ष शंकर ही था और अर्जुनके पास बैठे हुए शार्ङ्गधर श्रीकृष्ण ही सारथीका काम कर रहे थे। देखिये, यह भी कैसे आश्चर्यकी बात है! उन प्रभुका अपने भक्तोके प्रति इतना अद्भुत प्रेम है कि उसी प्रेमसे बद्ध होकर वे अपने भक्त अर्जुनका स्वय ही सारथ्य कर रहे है। कृष्णने अपने दास अर्जुन को तो अपने पीछे रख लिया और तब सहज लीलासे अपना पाचजन्य नामक शख फूंका। पर सहज भावसे फूंके हुए शंखका महाघोष भी बहुत ही गम्भीरतापूर्वक गरजा और जिस प्रकार सूर्यका उदय होते ही सब नक्षत्र लुप्त हो जाते है, उसी प्रकार रण-वाद्योका वह सब कोलाहल, जो कौरवोकी सेनामे हो रहा था, न जाने कहाँ छिपकर बन्द हो गया। इसी प्रकार धनुर्धर अर्जुनने भी अत्यन्त गम्भीरशब्दवाला अपना देवदत्त नामक शंख बजाया। जिस समय ये दोनो भयंकर शंख-नाद मिलकर एक हुए, तब ऐसा जान पडने लगा कि कही इस ब्रह्माडके सैकडो-हजारो टुकडे तो नही हो जायँगे। इतनेमे भीमसेनको भी आवेश हो आया और उसने महाकालके समान क्षुब्ध होकर अपना पौड्र नामक महाशख बजाया। वह शंख-नाद प्रलय कालके मेघोके समान गम्भीरतापूर्वक गरजा। बस उसी समय राजा युधिष्ठिरने भी अपना अनन्तविजय नामक शंख भी बजाया।

हुई है कि सिंहके साथ गींदड लड़े ? पर आज तुमने वही विलक्षण बात यहाँ कर दिखलाई है। देखो अर्जुन, कहीं तुम्हारा मन इस दीनताके वशमें न हो जाय, इसलिए अब भी तुम अपने मनमें धैर्य धारण करो और शीघ्र सावधान हो जाओ। यह मूर्खता छोड दो, उठकर खड़े हो और धनुष-बाण अपने हाथोमे लो। तुम्हारे मनपर जो करुणा इस समय आकर छाई हुई है, वह इस युद्धमे भला किस कामकी है ? अर्जुन, तुम तो सब कुछ जानते-बूझते हो। फिर तुम अच्छी तरह विचार क्यो नही करते ? भला तुम्ही बतलाओ कि जब युद्धकी इस प्रकार तैयारियाँ हो चुकी हो, तब यह दीनता शोभा देती है ? अब तक तुमने जो कीर्त्ति प्राप्त की है, उसका इससे नाश हो जायगा और यह परमार्थको भी बिगाड देगी।''

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण फिर कहने लगे—''इसलिए तुम शोक न करो और धैर्य धारण करो। भाई अर्जुन, अपना यह दुःख दूर करो। यह बात तुम्हारे लिए उचित नही है। आजतक तुमने जो कीर्ति सम्पादित की है, इससे उसका नाश हो जायगा। भइया, अब भी तो तुम अपने हितका विचार करो। इस युद्धके समय इस दयालुतासे काम नही चलेगा। क्या ये सब लोग इसी समय तुम्हे अपने सगे-सम्बन्धी मालुम होने लगे है ? क्या तुम इन लोगोको पहलेसे नही जानते थे ? क्या तुम अपने गोत्रके इन लोगोको पहले नही पहचानते थे ? फिर आज यह व्यर्थका अकाड ताडव क्यो करने लगे ? क्या आजका यह युद्ध तुम्हारे जीवनमे कोई नई बात है ? यह तो तुम लोगो-का नित्यका आपसका लडाई-झगडा है। मेरी समझमे यह बात नही आती कि आज ही क्या हो गया और तुम्हारे मनमे दया क्यो उत्पन्न हुई। परन्तु अर्जुन, इसमे कोई सन्देह नही कि यह तुमने बहुत बुरा किया। तुम्हारे इस मोहका यही परिणाम होगा कि आजतककी सम्पादित की हुई सारी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी और तुम्हारे इस लोकके साथ साथ परमार्थ भी हाथसे निकल जायगा। सच्चे वीरोको तो रणागणमें हृदयकी दुर्बलताके साथ कोई सम्बन्ध ही नही रखना चाहिए। इस प्रकारका सम्बन्ध रखना तो रणमे क्षत्रियका अधःपात ही समझना चाहिए।'' वे कृपालु भगवान इस प्रकार अर्जुनको तरह तरहसे समझाने लगे। अब यह सुनिये कि उनकी ये बाते सुन-कर अर्जुनने क्या कहा।

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा—''हे देव, ये सब बाते तो यहाँ कहनेकी कोई आवश्यकता ही नही है। पहले आप ही देखिये और इस सग्रामके स्वरूपका विचार कीजिये। यह केवल युद्ध ही नही है, वल्कि शुद्ध पाप है। और यदि मैं यह युद्ध करूँगा तो मुझे बहुत बडा दोष लगेगा। इसमे मुझे अपने बडोकी हत्याका महापातक स्पष्ट रूपसे करना पड़ेगा। हे देव, आप ही विचार करें कि जब मैं यह नीति जानता हूँ कि

इसी प्रकार नकुलने अपना सुघोष नामक शंख और सहदेवने अपना मतिपुष्पक नामक शंख भी बजाया और इन दोनो शंखोके नादसे स्वयं यम भी घबरा गया।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रोपदेयाश्च सवशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥ १८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

उस समय वहाँ द्रुपद, द्रौपदेय, महाबाहु काशिराज, अर्जुन-पुत्र अजेय सात्यकी, धृष्टद्युम्न आदि अनेक राजा उपस्थित थे। शिखंडी भी था और विराट आदि दूसरे बहुत से राजा भी थे। उनमे जो मुख्य मुख्य शूर सेनापति थे, उन सबने एक साथ ही अपना अपना शंख बजाया। उन सबका भयंकर नाद सुनकर पृथ्वी को धारण करनेवाले शेप-नाग और महाकूर्म भी इतने घबरा गये कि वे अपने सिरसे पृथ्वीका भार फेकनेके लिए उद्यत हो गये। उस समय तीनों भुवन डगमगाने लगे, मेरु और मन्दर आदि पर्वत हिलने लगे और समुद्र तो कैलाशके बराबर ऊँचा उछलने लगा। पृथ्वीतल मानो उलटने लगा और आकाशकी तो ऐसी बुरी दशा हो गई कि मानों उसमेके नक्षत्र नीचे गिरने लगे। उस समय सत्यलोकमे यह कोलाहल मचा—"अब यह सारी सृष्टि डूब गई और देवताओका आश्रय जाता रहा।" दिन होते हुए भी ऐसा जान पडता था कि मानों सूर्य है ही नही; और त्रिभुवनमे इस प्रकारका हाहाकार मच गया कि मानो प्रलय काल सामने आ उपस्थित हुआ हो। उस समय आदि पुरुप श्रीकृष्णको भी यह आशंका होने लगी कि अब सचमुच इस विश्वका कही अन्त न हो जाय, इसलिए उन्होने वह क्षोभ शान्त किया, जिससे यह विश्व बच गया। नही तो कृष्ण आदिके शखोका नाद होते ही सचमुच युगान्त हो गया होता। यद्यपि वह नाद तो शान्त हो गया था, परन्तु फिर भी उसकी प्रतिध्वनि अभी तक हो ही रही थी और उस प्रतिध्वनिने ही मानो कौरवो की सेनाका नाश कर डाला। जिस प्रकार हाथियोके झुंडमे सिंह बहुत ही सहजमे संचार करता है और जिस हाथीको चाहता है, उधर उसीको मार डालता है, उसी प्रकार वह प्रतिध्वनि भी वीरोका हृदय फाड़ती हुई चारो तरफ फैलने लगी। उसी प्रतिध्वनिकी गर्जना सुनकर खड़े खड़े ही उन लोगोके धैर्य छूट गये और वे एक दूसरेसे कहने लगे—"अरे सावधान हो। अरे सावधान हो।"

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥

परन्तु उनमे जो महारथी वीर अपने बल और पराक्रममे पक्के थे, उन्होंने सैनिकोको फिर जैसे तैसे सँभाला। वे सब लोग मिलकर आगे बढे और उन्होने दूने आवेशसे आक्रमण किया। इन सेनाओंके कारण तीनो भुवन त्रस्त होने लगे।

माता-पिताको पूज्य समझना चाहिए और सब प्रकारसे उन्हें सन्तुष्ट रखना चाहिए, तब उन्ही माता-पिताका वध मैं अपने हाथोसे कैसे कर सकता हूँ? हे देव, सन्तोका वन्दन करना चाहिए और हो सके तो उनकी पूजा-अर्चा भी करनी चाहिए। परन्तु यह सब कुछ भी न करके उलटे क्या अपने मुँहसे उनकी निन्दा की जाय? उसी प्रकार ये हमारे गोत्र-गुरु तो हमारे लिए सदा पूज्य है। इन भीष्म और द्रोणसे मुझे बहुत अधिक लाभ पहुँचा है। जिनके विरुद्ध मै स्वप्नमे भी वैरका भाव धारण नही कर सकता, उन्हीका यहाँ प्रत्यक्ष वध कैसे किया जाय? अब आगे जीवित रहनेमे नामको भी शोभा नही है। आखिर आज इन सब लोगोको हो क्या गया है कि इन्ही गुरुजनोसे हम लोगोने जो शस्त्रविद्या सीखी है, उसका अभ्यास आज हम लोग इन्हीकी हत्या करनेमे किया चाहते है। मुझमे जो कुछ गुण है, उन सबका श्रेय इन्ही द्रोणाचार्यको है। इन्होने मुझे धनुर्विद्या सिखलाई है। अब क्या उस उपकारका भार अपने सिरपर रखते हुए मैं इन्हीकी हत्या करूँ? जिनकी कृपाके प्रसादका वर मुझे प्राप्त करना चाहिए, मैं उन्हीका अनिष्ट सोचूँ? क्या मैं ऐसा ही भस्मासुर हो गया हूँ?"

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान ॥ ५ ॥

अर्जुनने फिर कहना आरम्भ किया—"हे देव, सुना जाता है कि समुद्र बहुत गम्भीर है। परन्तु उसकी वह गम्भीरता भी देखने भरकी ही होती है। परन्तु इन द्रोणाचार्यके मनकी गम्भीरता ऐसी विलक्षण है कि उसमे कभी क्षोभ होता ही नही। यह आकाश अनन्त अवश्य है; परन्तु फिर भी इसकी नाप हो सकती है। परन्तु इन द्रोणाचार्यके अगाध हृदयका अन्त नही जाना जा सकता। किसी समय अमृतका स्वाद भी फीका हो सकता है अथवा कालकी गतिसे वज्र भी कभी टूट सकता है। परन्तु द्रोणाचार्यका मानसिक शान्ति-धर्म कभी विकृत नही किया जा सकता। प्रेम-भावका विचार करते समय माताका नाम मुख्य रूपसे सामने आना उचित ही है। परन्तु द्रोणाचार्य तो प्रत्यक्ष और मूर्तिमान् प्रेम ही है। करुणाका जन्म ही इन्हीसे हुआ है। ये समस्त सद्गुणोके आगार है। इन्हे विद्याका असीम समुद्र ही कहना चाहिए।" इसके बाद अर्जुनने यह भी कहा—"इन आचार्यका इतना अधिक महत्व है और इसके सिवा हम लोगोपर इनकी विशेष कृपा भी है। अब आप ही बतलाइये कि क्या हम लोग कभी इनकी हत्या करनेका अपने मनमे विचार भी कर सकते है? मेरे तो यदि प्राण भी चले जायँ तो भी यह विचार मुझे कभी अच्छा नही लग सकता कि पहले तो मैं युद्धमे ऐसे लोगोकी हत्या करूँ और तब उसके उपरान्त राज्य-सुखोका उपभोग करूँ। यदि मैं यह समझूँ कि सुख-भोगोका महत्व इन आचार्योसे भी बढ़कर है, तो यह विचार इतना भयकर है कि मुझसे तो ये सुख-भोग दूर ही रहे। इनकी अपेक्षा यहाँ भीख माँगकर निर्वाह कर लेना अवश्य ही कहीं अच्छा है। बल्कि देश छोड़कर कही चले जाना या पर्वतोंकी गुफाओमे रहकर वनवास करना भी अच्छा है, परन्तु इनके ऊपर शस्त्र उठानेका दुष्कर्म नही होना चाहिए। हे देव, जिन बाणोपर अभी हालमे पानी चढा है, उन बाणोसे इन लोगोके हृदयोपर

धनुर्धारियोने प्रलय कालके मेघोकी तरह वाणोकी निरन्तर वृष्टि आरम्भ की। यह देखकर अर्जुनको वहुत सन्तोष हुआ और तब उसने बहुत उत्सुकतापूर्वक उस सेना पर दृष्टि डाली। तब उसे युद्धके लिए सजे-सजाये सब कौरव दिखाई पड़े और तब उस पाडु-कुमार अर्जुनने भी सहजमे अपना धनुष उठा लिया।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

उस समय अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—"देव, अव आप रथको जल्दी से चलकर दोनो सेनाओके मध्यमे पहुँचा दे। और यह इसलिए कि जहाँ युद्ध करनेके लिए सब शूरयोद्धा आये हुए हैं वहाँ पहुँचकर मैं जरा उन सब लोगोको एक बार देखना चाहता हूँ। यहाँ आये तो सभी लोग है। पर पहले यह देख लेना चाहिए कि इस युद्धमे मैं स्वयं किसके साथ लडूँ। प्राय ये कौरव बड़े मूर्ख और दुष्ट स्वभावके है; इसलिए, संभव है कि पराक्रम न होने पर भी ये लोग यहाँ युद्ध करनेके लिए चले आये हो। इन लोगोको युद्ध करनेका चाव तो वहुत है, पर युद्ध के लिए जिस धैर्यकी आवश्यकता होती है, वह इन लोगो मे नही है।" अर्जुनकी यह वात धृतराष्ट्रको सजयने कहा—

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥ २६ ॥
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्तिान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

"महाराज, सुनिये, ज्योही अर्जुनने यह वात कही, त्योही श्रीकृष्णने रथ हाँक दिया, और ले जाकर दोनो सेनाओके वीचमे खडा कर दिया। वहाँ पासमे भीष्म, द्रोण आदि दूसरे वहुत-से राजा भी थे। उसी स्थानपर रथ रुकवाकर अर्जुन वडी उत्सुकतासे वह सारी सेना देखने लगा। इसके उपरान्त उसने भगवानसे कहा—"हे देव, देखिये, ये सब तो मेरे ही गोत्रज और गुरु हैं।" अर्जुनके ये शब्द सुनकर श्रीकृष्ण को क्षण भरके लिए कुछ आश्चर्य हुआ। भगवानने अपने मनमे सोचा—"न जाने इस समय इसके मनमे क्या वात आई है। पर कोई वात आई अवश्य है।" वे अपने मनमें

प्रहार करना और तब उनके रक्तमें डूबा हुआ भोग प्राप्त करना। भला ऐसे भोगको लेकर कोई क्या करे! जिस भोगपर ऐसा रक्त लगा हो, वह भोग भला क्या आनन्द देगा! बस इसीलिए यह विचार मुझे अच्छा नही लगता।" अर्जुनने उस समय ये सब बाते कहकर श्रीकृष्णसे पूछा—"ये सब बाते आपकी समझमे आ गई न?" परन्तु उसे अपने मनमे इस बातका भी विश्वास नही होता था कि श्रीकृष्णने मेरी ये सब बाते ध्यानपूर्वक सुनी है। इस बातका ध्यान होते ही अर्जुन अपने मनमे बहुत घबराया और उसने फिर पूछा—"भगवान् श्रीकृष्ण मेरी बातोपर बिलकुल ध्यान ही नही देते, इसका कारण क्या है?"

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

"हे देव, मेरे मनमे जो बाते थी, वे सब मैंने स्पष्ट रूपसे विचारपूर्वक कह दीं। अब यदि वास्तविक तत्व इससे कुछ भिन्न हो तो उसे आप ही जाने। यहाँ युद्ध करनेके लिए हमारे सामने वही लोग खड़े हैं जिनके सम्बन्धमे हमे यदि कही यह सुनाई भी पड जाय कि इनके साथ हमारा बैर है, तो हमे वास्तवमे उसी समय प्राण त्याग देने चाहिएँ। ऐसी अवस्थामें मेरी समझमे यह नही आता कि अब ऐसे लोगोकी हत्या करना अच्छा है या इनसे युद्ध बचा जाना अच्छा है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

"बहुत कुछ विचार करने पर भी यह बात समझमे नही आती कि हमारे लिए इनमेसे कौन-सा काम करना उपयुक्त है; और इसका कारण यह है कि मोहने मेरे मनको ग्रस लिया है। जिस प्रकार अंधकारसे ग्रस्त दृष्टिका तेज नष्ट हो जाता है और तब पासकी वस्तु भी नही दिखाई पड़ती; हे देव, उसी प्रकारकी अवस्था इस समय मेरी भी हुई है। बात यह है कि मेरा मन भ्रमके भँवरमे पड़ गया है और अब उसे इस बातका भी पता नही चलता कि मेरा हित किस बातमें है। इसीलिए हे श्रीकृष्ण, आप ही इन सब बातोको समझे और मुझे बतलावे कि इनमे अच्छी बात कौन सी है, क्योकि मेरे सखा और मेरे सर्वस्व आप ही है। आप ही मेरे गुरु, बन्धु, पिता, इष्ट देवता और सकटसे रक्षा करनेवाले है। गुरु कभी अपने शिष्यकी उपेक्षा नही करता। क्या समुद्रने कभी नदीका त्याग किया है? अथवा माता यदि अपने लडकेको अपने पाससे हटा दे तो वह लडका कैसे जीवित रह सकता है? हे श्रीकृष्ण, आप सावधान होकर सुने। हे देव, इन उदाहरणोकी तरह केवल आप ही सब प्रकारसे मेरा संगोपन करते है। अत मैने जो ये बातें अभी कही है, वे सब आपको ठीक न जान पड़ती हो तो हे पुरुषोत्तम, आप शीघ्र ही मुझे वह तत्व बतलावे जो मेरे लिए उचित हो और जिससे धर्मकी मर्यादाका नाश न हो।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

"अपने गोत्रके सब लोगोको यहाँ देखकर मेरे मनमें जो शोक उत्पन्न हुआ है,

भविष्यके सम्बन्धकी सब बातोंका विचार करने लगे। उसी समय उन सर्वान्तरगामी भगवानको सब बाते विदित हो गईं। पर उस समय वे चुपचाप रहे। उधर अर्जुनको अपने सामने अपने सब गुरुजन, पितामह, आचार्य, गोत्रज और मामे आदि दिखाई पड़े। उसने वहाँ अपने अनेक इष्ट-मित्र और साथ ही अपने कुलके अनेक युवक भी देखे। उन लोगोंमे उसके ससुरालवाले भी आये हुए थे। अर्जुनको उस समूहमे अपने परम प्रिय, स्नेही, ससुरालवाले, दूसरे सगे-सम्बन्धी, भतीजे और नाती-पोते आदि भी दिखाई दिये। केवल ऐसे ही लोग नही थे जिनपर उसने उपकार किये थे अथवा जिन्होंने उसे समय समय पर अनेक संकटोसे बचाया था, बल्कि बड़े और छोटे सभी सम्बन्धी वहाँ उपस्थित थे। इस प्रकार दोनो सेनाओमे उसे युद्धके लिए सजे सजाये अपने गोत्रवाले ही दिखाई पड़े। इससे अर्जुन बहुत घबराया और उसके मनमें दयाका आविर्भाव हुआ। अर्जुनके मनकी वीर वृत्तिने कदाचित् यह सोचा होगा कि मनमें दयाका आविर्भाव होना ही मानो मेरा अपमान है। और यह सोचकर वह वीर वृत्ति अर्जुनके अन्तःकरणको छोड़कर चली गई। कारण यह कि जो उत्तम कुलकी और गुण-लावण्य आदिसे युक्त स्त्रियाँ होती है, वे अपने घरमे पराई स्त्रियोंका डेरा जमना सहन नही कर सकती। जिस प्रकार किसी नई स्त्रीके फेरमे पड़कर कामी पुरुष अपनी धर्मपत्नीको भूल जाता है और तब भ्रमिष्ठोकी तरह बिना समझे-बूझे अनुचित कार्य करने लगता है, अथवा जिस प्रकार तपोबलसे यथेष्ट वैभव हो जाने पर बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और तब मनुष्यको वैराग्यके साधनका ध्यान नही रह जाता, ठीक उसी प्रकारकी अवस्था उस समय अर्जुनकी भी हुई थी। और इसका कारण यह था कि उस समय जो वीरता उसके मनमे निवास कर रही थी, उसे उसने निकाल दिया था और अपना अन्तःकरण करुणाके अधीन कर दिया था। जिस प्रकार कोई मान्त्रिक मन्त्रोंका उच्चारण करनेमे प्रमाद कर बैठता है और तब उलटे उसी पर भूत सवार हो जाता है, ठीक उसी प्रकार इस समय अर्जुनपर महामोह सवार हो गया था। इसीलिए अर्जुनका स्वाभाविक धैर्य नष्ट हो गया और उसका अन्तःकरण द्रवित होने लगा। जिस प्रकार चन्द्र-कलाके स्पर्शसे चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है, उसी प्रकार दयाके स्पर्शसे अर्जुन भी द्रवित होकर खेद-युक्त वाणीसे भगवानसे कहने लगा—

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥ २८ ॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

"हे देव, सुनिये। यहाँ जो लोग एकत्र हुए हैं, उन सबको मैंने देख लिया। ये सब लोग तो मेरे ही गोत्रके दिखाई पड़ते है। यह ठीक है कि ये सब लोग युद्ध करनेके लिए प्रस्तुत हैं; पर मेरे लिए भी युद्ध करनेको प्रस्तुत होना कहाँ तक उचित होगा?

उसे आपके वचनोंके सिवा और कोई दूर नही कर सकता। अब चाहे मुझे सारी पृथ्वीका स्वामित्व ही क्यों न मिल जाय अथवा प्रत्यक्ष स्वर्गका इन्द्र-पद ही क्यो न प्राप्त हो जाय, परन्तु फिर भी मेरे मनका दु:ख कम नही हो सकता। जिस प्रकार भूने हुए बीज खूब उपजाऊ जमीनमें भी बोये जाय और उन्हे यथेष्ट जलसे सीचा जाय, परन्तु फिर भी उनमे अंकुर नही लग सकते, अथवा जिस प्रकार आयुष्यका अन्त हो जाने पर फिर किसी औषधका कोई उपयोग नही हो सकता और केवल अमृत-वल्ली ही अपना गुण दिखला सकती है, उसी प्रकार राज्य-भोगकी समृद्धिसे मेरी बुद्धिका फिरसे सजीवन नही हो सकता। हे कृपासागर, उसे फिरसे जीवित करनेके लिए केवल आपकी करुणाकी ही आवश्यकता है।" क्षण भरके लिए भ्रान्तिके जालसे छूटे हुए अर्जुनने एक बार ये बाते कह तो डाली, परन्तु फिर तुरन्त ही उस पहलेवाली लहरने आकर उसे दबा लिया। बल्कि थोड़ा विचार करने पर तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह केवल भ्रान्तिकी लहर ही नही थी, बल्कि उससे अलग कुछ और ही बात थी। वह प्रत्यक्ष महामोह रूपी काल सर्पसे ही ग्रस्त हो गया था। और उसका अत्यन्त कोमल हृदय-कमल जिस समय करुण रससे ओत-प्रोत भरा हुआ था, उसी समय उसे काल-सर्पका यह दंश लगा था जिसके कारण इस विषकी लहरे रुकती ही न थी। उसकी अवस्था देखकर वे श्रीकृष्ण रूपी गारुडी, जो केवल दृष्टि-पात करके ही यह विष उतार सकते थे, तुरन्त उसकी रक्षाके लिए दौडे हुए आ पहुँचे। जो अर्जुन इस प्रकार व्याकुल हो गया था, उसके पास ही श्रीकृष्ण सुशोभित थे और वे अपनी कृपाके योगसे सहजमे ही उसकी रक्षा करेंगे। बस इन्ही सब बातोका ध्यान रखकर मैंने यह कहा है कि वह अर्जुन महामोह रूपी कालसर्पसे ग्रस्त हो गया था। फिर उस समय वह अर्जुन उसी प्रकार भ्रमसे ग्रस्त हुआ था, जिस प्रकार मेघोंके आ जानेसे सूर्य ढक जाता है। अथवा अर्जुन दुःखसे उसी प्रकार जर्जर हो गया था, जिस प्रकार गरमीके दिनोंमें कोई पर्वत आग लगनेसे बिलकुल झुलस जाता है। इसी लिए उसे शान्त करनेके उद्देश्यसे वे श्रीगोपालकृष्ण रूपी मेघ, जो सहज ही श्याम हैं और कृपा-रूपी अमृतसे भरे हुए है, उसकी ओर बढे। इस मेघमें दाँतोकी जो प्रभा सुशोभित थी, वही मानो उस मेघकी चमकनेवाली बिजली थी और उनकी गम्भीर वाणी ही उस मेघकी गर्जनाके समान जान पड़ती थी। अब उस करुणाके मेघने किस प्रकार उदारतापूर्वक अपनी करुणाकी वर्षा की और उस वर्षासे अर्जुन रूपी दग्ध पर्वत किस प्रकार शान्त हुआ और उसमे किस प्रकार ज्ञानका अंकुर फिरसे उत्पन्न हुआ, इसकी कथा आप लोग स्वस्थ-चित्त होकर सुनें, यही श्रीनिवृत्ति-नाथका दास यह ज्ञानदेव कहता है।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा कि वह अर्जुन फिर शोकसे विह्वल होकर कहने लगा—"हे श्रीकृष्ण, आप फिर एक बार मेरी बात सुनें। आप मुझे फिर समझाने-बुझाने

के फेरमें न पड़ें, क्योंकि मैं निस्सन्देह होकर कहता हूँ कि चाहे कुछ भी हो जाय, परन्तु मैं युद्ध नही करूँगा।" इतनी बात वह एक बार जल्दीसे कह गया और तब फिर बिलकुल चुप हो गया। उसकी यह अवस्था देकर श्रीकृष्ण आश्चर्यसे चकित हो गये।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

भगवान अपने मनमे कहने लगे—"इस पागल अर्जुनने इस समय यह क्या बखेडा खडा कर दिया है। इसे इस समय कुछ भी समझमे नही आता कि क्या करना चाहिए। अब इसे किस प्रकार समझाया जाय? इसका जो धैर्य छूट गया है, वह यह फिर किस प्रकार धारण करेगा?" श्रीकृष्णने अपने मनमे ये बाते ठीक उसी प्रकार कही, जिस प्रकार कोई पचाक्षरी मान्त्रिक पीडित करनेवाले भूतको दूर करनेके विषयमे अपने मनमे कहता है। अथवा जिस प्रकार रोगको असाध्य समझकर किसी बहुत ही विकट अवसर पर कोई वैद्य चटपट अमृतके समान किसी अलौकिक गुणकारी औषध की योजना करता है, ठीक उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनो सेनाओके बीचमे खडे होकर मन ही मन यह विचार किया कि इस अवसर पर क्या करना चाहिए, और तब वे यह सोचने लगे कि ऐसी कौन-सी योजना की जाय जिससे अर्जुनका यह मोह दूर हो। यही सोचकर श्रीकृष्णने कुछ क्रोधपूर्वक कहना आरम्भ किया। जिस प्रकार माताके क्रोधमे भी वात्सल्य छिपा रहता है अथवा जिस प्रकार औषधके कडुएपनमे अमृत छिपा रहता है—क्योकि वह अमृत ऊपरसे तो दिखाई नही पडता, परन्तु अन्तमे उसका अनुभव होता है—उसी प्रकार श्रीकृष्णने भी ऐसी बातें कहना आरम्भ किया जो ऊपरसे देखनेमे तो कुछ अपमान करनेवाली जान पडती थी, परन्तु अन्दरसे अत्यन्त मधुर रससे भरी हुई थी।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

फिर उन्होने अर्जुनसे कहा—"आज जो तुमने बीचमे ही यह झगडा खडा कर दिया है, उससे सचमुच मुझे आश्चर्य ही हो रहा है। तुम यह तो कहते हो कि मैं अपनेको जानता हूँ, परन्तु फिर भी तुम अज्ञानको नही छोडते। और जब मैं तुम्हे कुछ सिखाने या बतलाने लगता हूँ, तब तुम नीतिकी बडी बडी बाते कहने लगते हो। जैसे कोई जन्मसे ही अन्धा हो और फिर तिसपरसे पागल हो जाय और इधर-उधर बहकने लगे, बस ठीक उसी तरह तुम्हारी बुद्धि भी मुझे इधर-उधर बहकती हुई दिखाई देती है। मुझे रह रहकर यही आश्चर्य होता है कि तुम्हे स्वयं अपने आप का तो कुछ ज्ञान होता ही नही और तुम कौरवोके सम्बन्धमे शोक करना चाहते हो। पर भइया अर्जुन, पहले तुम मुझे यह बतलाओ कि यदि यह त्रिभुवन तुम्हारे ही कारण स्थिर-स्थावर हो तो लोग जो यह कहते है कि विश्वकी रचना अनादि है, वह क्या बिलकुल झूठ ही है? संसारमे सब लोग जो यह कहते है कि यहाँ कोई एक सर्व-समर्थ है और उसीसे इन सब भूतोकी उत्पत्ति होती है, सो क्या सब व्यर्थ

उचित स्वधर्मका आचरण करते है और इसमे जो कुछ होगा, वह सब हम शान्त चित्तसे सहन कर लेगे। जब इस प्रकारका विचार करनेके लिए मन तैयार हो जायगा तब स्वभावत मनुष्यसे पापका आचरण नही होगा। बस अब मुझे यही कहना है कि तुम सब प्रकारके सशय छोड दो और लडनेके लिए प्रस्तुत हो जाओ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

मैंने साख्यका यह ज्ञान-योग तुम्हे थोडेमे बतला दिया है। अब कर्मयोगियोका बुद्धियोग विस्तारपूर्वक बतलाता हूँ, वह सुनो। जब बुद्धियोग सिद्ध हो जाता है, तब कर्म कभी मनुष्यके लिए बन्धक नही होते।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

जिस प्रकार वज्रका जिरह-बक्तर पहन लेने पर शस्त्रोकी चाहे कैसी वर्षा क्यो न सहनी पडे, पर फिर भी विजय अबाधित ही रहती है, उसी प्रकार इस बुद्धियोगकी साधना हो जाने पर ऐहिक सुखोका तो कभी नाश होता ही नही, पर साथ ही मोक्ष भी अपने ही हिस्सेमे रखा रहता है। इस बुद्धियोगमे पहले बतलाये हुए साख्य-योगका भी अन्तर्भाव होता है, क्योकि इस बुद्धियोगका भी तत्व यह है कि कर्म तो बराबर करते रहना चाहिए, परन्तु उन कर्मोंके फल पर कभी आसक्ति नही रखनी चाहिए। जिस प्रकार मान्त्रिकको भूत बाधा नही होती, उसी प्रकार बुद्धियोग पूरी तरहसे सिद्ध हो जाने पर किसी प्रकारकी उपाधि या कष्ट मनुष्यको बाधा नही पहुँचा सकता। जिस बुद्धियोगमे पाप और पुण्यका प्रवेश नही है, जो अति सूक्ष्म और अटल है; जो सत्व रज और तम इन तीनो गुणोसे दूषित नही होता, यदि पूर्व जन्मके पुण्योके फलसे मनुष्यके अन्त करणको उस बुद्धियोगका प्रकाश प्राप्त हो तो, भाई अर्जुन, उसके ससार-भयका समूल नाश हो जाता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार दीपककी ज्योति छोटी होने पर भी बहुत-सा प्रकाश प्रकट करती है, उसी प्रकार सद्बुद्धि यदि अल्प भी हो तो भी उसे छोटी या कम नही समझना चाहिए, क्योकि उसका प्रभाव बहुत बडा होता है। हे पार्थ, श्रेष्ठ विचारशील लोग अनेक प्रकारके उपायोसे इसकी साधनाका उद्योग करते है, क्योकि यह सद्वासना इस चराचर विश्वमे बहुत ही दुर्लभ है। जिस प्रकार दूसरे पत्थरोकी तरह पारस ढेर-सा नही मिलता अथवा दैव-योगसे ही अमृतका एक कण प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह सुबुद्धि भी, जिसका पर्यवसान परमात्माकी प्राप्तिमे होता है, बहुत ही दुर्लभ है। जिस प्रकार नदीका बहाव और रुख सदा समुद्रकी ही ओर होता है, उसी प्रकार संसारमे केवल यह सुबुद्धि ही ऐसी है जिसका एक ईश्वरको छोडकर और कोई साध्य विषय नही है। इस सबुद्धिके अतिरिक्त और जो बुद्धियाँ हो, उन्हे दुर्बुद्धि ही समझना

ही कहते है ? क्या आज यह अवस्था हो गई है कि यह विश्व तभी जन्म धारण कर सकता है, जब तुम इसे उत्पन्न करो और यदि तुम इसका नाश करोगे, तभी इसका नाश होगा ? भाई, अब जरा तुम इस बात पर विचार करो। तुम भ्रमके कारण अहंकारी हो गये हो और इसी लिए इन लोगोका घात करना तुम्हे अच्छा नहीं लगता। परन्तु तुम मुझे एक बातका उत्तर दो। यदि तुम इन लोगोका घात नहीं करोगे, तभी ये लोग चिरंजीव होगे ? अथवा क्या तुमने अपने मनमें यह भ्रामक कल्पना कर ली है कि एक अकेले तुम्ही मारनेवाले हो और ये सब लोग मरनेवाले है ? यह विश्व तो अनादि-सिद्ध है। यह सृष्टिके नियमसे ही उत्पन्न होता है और उन्ही नियमोसे इसका लय होता है। फिर तुम मुझे यह बतलाओ कि तुम इसके लिए शोक क्यो करते हो। परन्तु मूर्खताके कारण स्वयं तुम्हारी समझमें भी कोई बात नही आती, तुम व्यर्थकी चिन्ता करने लगते हो और उलटे मुझको ही नीतिका पाठ पढाते हो। हे अर्जुन, तुम इस बातका ध्यान रखो कि जो लोग सचमुच विवेकशील होते हैं, वे समझ लेते हैं कि जन्म लेना और मरना केवल भ्रान्ति ही है; और इसीलिए वे इन दोनोमेसे एकका भी शोक नही करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

"हे अर्जुन, जो कुछ मैं कहता हूँ, वह अच्छी तरह सुनो। यदि हम यह कल्पना कर लें कि तुम, मैं और यहाँ जो सब राजा आदि उपस्थित हैं, वे इस समय जैसे है, वैसे ही सदा रहेंगे, अथवा हम यह कल्पना कर ले कि हम सब लोग निश्चय ही नष्ट हो जायँगे, तो ये दोनो ही कल्पनाएँ भ्रमपूर्ण है, और यदि इस प्रकारके विचार छोड दिये जायँ तो फिर जीवित रहना और नष्ट होना, ये दोनो ही बाते मिथ्या ठहरती है। यह जो भावना होती है कि ये लोग उत्पन्न होते है और नष्ट होते है, वह केवल मायाके कारण होती है। और नही तो वास्तविक दृष्टिसे देखने पर यही पता चलता है कि जो मूल-भूत वस्तु है, वह अविनश्वर है। देखो, जब हवा चलनेके कारण पानी हिलने लगता है और उसमे तरंगे उठने लगती है, तब वहाँ वास्तवमें कौन उत्पन्न होता है, और जब वही हवा बन्द हो जाती है और वह जल फिर शान्त और समतल हो जाता है, तब वहाँ किसका नाश होता है ? बस इन्ही बातोका विचार तुम इस समय करो।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

"हाँ, और एक बात सुनो। शरीर तो सदा एक ही रहता है, परन्तु भिन्न-भिन्न वय या अवस्थाके कारण उसमे अनेक भेद उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रत्यक्ष उदाहरणको तुम अपने ध्यानमें रखो। पहले इस शरीरमे बाल्यावस्था दिखाई पडती है। फिर जब युवावस्था आती है, तब यह बाल्यावस्था नष्ट हो जाती है। परन्तु न तो बाल्यावस्थाके विनाशके साथ ही शरीरका विनाश होता है और न युवावस्थाका अन्त होने पर ही शरीरका अन्त होता है। ठीक इसी प्रकार चैतन्य वस्तुमे भी शरीरान्तर या

चाहिए, उनसे विकारोकी बाधा होती है और अविवेकी पुरुप उन्ही बुद्धियोमे सदा रमते रहते है। इसी लिए हे पार्थ, उन अविवेकियोको स्वर्ग-वास, संसार-वास और नरक-वास प्राप्त होते है और आत्म-सुखके उन्हे नामको दर्शन भी नही होते।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

वे लोग वेदका आधार लेकर केवल कर्म-काडका ही प्रतिपादन करते है। परन्तु कर्म-फल पर दृष्टि रखकर कहते है—"हम संसारमे जन्म ले, यज्ञकी क्रियाये करे और तव मधुर स्वर्ग-सुख भोगे। इसके सिवा और कोई सुख नही है।" इसी प्रकारकी वाते वे अविवेकी और दुर्बुद्धि लोग कहा करते हैं। हे अर्जुन, वे लोग स-काम होकर और केवल भोग पर दृष्टि रखकर सव कर्मोका आचरण करते हैं। नाना प्रकारके कर्म करते समय वे लोग विधि-भंग नही होने देते और अत्यन्त प्रवीणतासे धर्मानुष्ठान करते हैं। परन्तु वे एक ही वात अनुचित करते है। वह यह कि वे अपने मनमे स्वर्ग-भोगका स्वार्थ रखकर उस पुराण-पुरुपको भूल जाते है जो यज्ञका भोक्ता है। जैसे पहले कपूरका ढेर लगाकर फिर उसमे आग लगा दी जाय अथवा मधुर अन्नमे काल-कूट विप मिला दिया जाय, अथवा संयोगसे मिला हुआ अमृतका घडा लात मारकर लुढका दिया जाय, उसी प्रकार अविवेकी कर्मकांडी लोग स-हेतुक कर्मोका आचरण करके हाथमे आये हुए धर्मका नाश करते है। जव कष्ट भोगकर और परिश्रम करके पुण्यका सम्पादन किया जाय, तव फिर संसारकी ही याचना क्यो की जाय? परन्तु इन अविवेकियोकी समझमे यह नही आता कि ऐसी किस वस्तुका सम्पादन करना चाहिए जो हमे अभी प्राप्त नही है। जिस प्रकार अच्छी तरह पकाकर स्वादिष्ट भोजन प्राप्त किया जाय और तव उसे मूल्य लेकर वेच दिया जाय, वस ठीक उसी प्रकार ये लोग सुख-भोग रूपी मूल्यके लिए अपना धर्म वेच डालते है। इसलिए हे अर्जुन, मैं कहता हूँ कि जो लोग वेदोके अर्थ-वादमे ही सदा फँसे रहते हैं, उनके मन मे दुर्बुद्धि डेरा जमाये रहती है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

ये वेद निःसशय सत्व, रज और तम इन तीनो गुणोसे भरे हुए है और इसीलिए उपनिषदो आदिको सात्विक समझना चाहिए। उनके सिवा स्वर्ग-सुख आदिका लोभ दिखलानेवाले जो दूसरे यज्ञ आदि कर्म है, वे सव रज और तम गुणोसे व्याप्त रहते है। इसलिए तुम यह समझ रखो कि ये सव कर्म सुख-दुःखोको उत्पन्न करनेवाले होते हैं। इसलिए तुम अन्तःकरणको इन सव कर्मोके फेरमे मत पड़ने दो। तुम इन

शरीरों का परिवर्तन होता है और इसी लिए एक देहका नाश होता है और दूसरे देहकी प्राप्ति होती है। और जो आदमी यह तत्त्व समझ लेता है, न तो उसे मोह ही होता और न दु ख ही।

मात्रास्पर्शातु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥

अब यदि यह पूछो कि यह तत्व समझमे क्यो नही आता, तो इसका कारण यह है कि मनुष्य इन्द्रियोके अधीन होता है, और जब अन्त करण इन्द्रियोके फेरमें पड़ जाता है, तब मनुष्य भ्रमका आखेट हो जाता है। इन्द्रियाँ विषयोका सेवन करती हैं और इसीसे हर्ष और शोक आदि विकार उत्पन्न होते है और तव अन्त करण पर उनकी छाप बैठती है। इसीलिए ये विषय कभी निश्चित या एक-से-नही रहते। वे कभी दु खमय जान पडते है, तो कभी सुखमय। यह देखो कि निन्दा और स्तुति दोनो ही शब्द-स्वरूप है। परन्तु जव कान इनका सेवन करते है, तव एकसे द्वेष और और दूसरेसे समाधान, इस प्रकार दो भिन्न विकार उत्पन्न होते हैं। कोमल और कठोर ये दोनो कल्पनाएँ वास्तवमे स्पर्श रूप ही है। परन्तु जब त्वचाके द्वारा उनका ज्ञान होता है, तब वे सुख और दु.ख उत्पन्न करनेका कारण होती है, रूप चाहे भयंकर हो और चाहे सुन्दर हो, पर होते हैं दोनो रूप ही। पर जब नेत्रोके द्वारा उनका अनुभव किया जाता है, तब दु खमय किंवा सुखमय संवेदनाका अनुभव होता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनोका मूल रूप गन्ध ही है। परन्तु नाकसे संसर्ग होने पर ये सुख और दु ख उत्पन्न करती है। इसी प्रकार जब रसके विषयका भी रसनेन्द्रिय-से संसर्ग होता है, तव उसके दो भेद होते है। जो रुचि और अरुचिके कारण होते हैं। और विषयोका सेवन करनेसे ही मूल स्वरूपसे भ्रष्ट होनेकी नौवत आती है। अर्जुन, देखो जव हम इन्द्रियोके वशमे होते है और शीत तथा उष्णता आदिका अनुभव करते है, तब मानो हम स्वयं ही सुख-दु खके झमलेमे फँसते है। इस इन्द्रियों-का यह स्वाभाविक धर्म ही है कि उन्हे इन विपयोके अतिरिक्त और कोई चीज अच्छी ही नही लगती। यदि तुम यह पूछो कि ये विपय कैसे होते है, तो इसका उत्तर यह है कि ये विषय मृग-जलके समान अथवा स्वप्नमे दिखाई पडनेवाले हाथीके समान अनित्य है। इसी लिए, हे धनुर्धर पार्थ, तुम इन विषयोको दूर हटा दो और तिल भर भी इनका संग मत करो।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

जिस पर इन विषयोका कोई प्रभाव नही पडता, उन्हे सुख-दु ख छूते भी नही और न उसे गर्भ-वासके ही कष्ट भोगने पडते है। हे अर्जुन, जो मनुष्य इन्द्रिय-सुखोके फेरमे नही पड़ता, उसे पूर्ण रूपसे नित्य रूप ही समझना चाहिए।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

हे अर्जुन, अव मै तुम्हे एक और ऐसी वात वतलाता हूँ जिसका अनुभव विचारी

तीनों गुणोंको दूर कर दो; "मैं" "मेरा" आदि कहना छोड दो और शीघ्र ही केवल आत्म-सुख पर अपने अन्त करणका सारा भार रखो ।

यावानार्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वे वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

वेदोने चाहे बहुत-सी बाते क्यो न कही हो और अनेक प्रकारके विधि-भेद क्यों न बतलाये हो, पर उनमेसे केवल वही बाते हमे ग्रहण करनी चाहिए जो हमारे लिए हितकारी हो । जब सूर्य प्रकट होता है, तब सभी मार्गोंमे प्रकाश फैल जाता है । परन्तु हम उन सभी रास्तो पर क्यो चलने लगे ? यदि सारी पृथ्वी जलसे आच्छा दित हो जाय, तो भी हमे उनमेसे केवल उतना पानी लेना चाहिए जितनेकी हमे आवश्यकता हो । इसी प्रकार ज्ञानी लोग वेदोके अर्थों का चिन्तन तो अवश्य करते हैं, परन्तु उसका वही सारांग ग्रहण करते है जो उन्हे अपने लिए आवश्यक जान पडता है ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

इसलिए हे अर्जुन, यदि इस सिद्धान्तके अनुसार विचार किया जाय तो यह स्वकर्म का आचरण करना तुम्हारे लिए बिलकुल उचित ही है। मैंने जब अपने मनमे अच्छी तरह विचार किया, तब मुझे यही बात ठीक जान पडी कि तुम अपना शास्त्र-सिद्ध कर्म मत छोडो । परन्तु ऐसा करते समय तुम कर्म-फल पर अपनी आसक्ति मत रखो और उसके साथ दुष्कर्मका सम्पर्क भी न होने दो । तुम निष्काम मनसे स्वधर्म क्रियाका आचरण करो ।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

तुम योग-युक्त हो जाओ और फलका विचार छोड़ दो और तब मनोयोगपूर्वक स्वकर्मका आचरण करो । पर जो काम तुम हाथमे लो, वह यदि दैव-योगसे पूरा हो जाय तो मारे आनन्दके फूल भी मत जाओ । इसी प्रकार यदि किसी कारणसे वह काम बिगड जाय तो तुम खेदसे विकल भी मत हो । कर्मका आचरण करने पर यदि वह पूरा हो जाय तो समझ लो कि ठीक ही हुआ, परन्तु यदि वह काम बिगड़ भी जाय तो भी यही समझो कि अच्छा ही हुआ । जो जो काम होते चले, वह सब आदि पुरुष परमेश्वरको अर्पण करते चलो । बस फिर वे सब काम सहजमे ही पूरे हो जायँगे । हे पार्थ, स्वकर्म चाहे सन्तोषदायक हो और चाहे कष्टकारक, परन्तु उनका आचरण करते समय मनकी वृत्तिको शान्त और सम रखनेको ही उत्तम ज्ञाता लोग योग स्थिति कहते है । भाई अर्जुन, चित्तको सदा सम रखना ही योगका सार है और इसी समतामे मन तथा बुद्धिकी पूर्ण रूपसे एकता होती है ।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

लोगको स्पष्ट रूपसे होता है। इस मायामय विश्वमे एक सर्वान्तिर्यामी गूढ तत्व है जो चैतन्य है, और सभी तत्ववेत्ता सज्जन यह मानते है कि वह चैतन्य सद्वस्तु है। दूधमें पानी पूरी तरहसे मिल जाता है। परन्तु जिस प्रकार राजहंस पानीसे दूधको अलग कर लेता है, अथवा जिस प्रकार होशियार कारीगर सोनेको आगमे तपाकर उनका निकृष्ट अंश जला डालते है और उसमे से खरा सोना निकाल लेते है, अथवा जिस प्रकार ज्ञानकी शक्तिसे दूधको मथने पर अन्तमे मक्खन दिखाई देने लगता है, अथवा जिस प्रकार एकमे मिले हुए अनाज और भूसेको बरसानेसे अनाज तो बच रहता है और जो कुछ उसमेसे उडकर निकल जाता है, वह निरर्थक अंश रहता है, उसी प्रकार विचार करते करते प्रपचका नाश हो जाता है और वह आपसे आप नही रह जाता, और तव ज्ञानवान्के लिए तत्वको छोडकर और कुछ भी नही बच रहता। और इसीलिए वह अनित्य वस्तुओके सम्बन्धमें कभी आस्तिक बुद्धि नही रखता, क्योकि वह इस प्रकारका दोहरा निर्णय कर चुका होता है कि जो कुछ "नित्य" है वही "सत्" है; और जो कुछ "अनित्य" है वही "असत्" है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

और फिर यह भी देखो कि जव मनुष्य सारासारका विचार करने लगता है, तब यह निश्चय होता है कि जो कुछ "अस्थिर" है वही "असार" है और जो कुछ "सार" है वह स्वभावत "नित्य" होता है। जिससे इन तीनो लोकोके दृश्य आकार का विस्तार हुआ है, उसका नाम, रंग, रूप या इस प्रकारका और कोई एक लक्षण नहीं है। वह सदा सर्वव्यापी और जन्म-मरणसे रहित रहता है। यदि कोई उसका घात करना चाहे तो उसका घात कभी हो नही सकता।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

और ये सव शरीर स्वभावत. नाशवान् है; इसलिए, हे पाडुपुत्र पार्थ, तुम निशक होकर युद्ध करो। तुम केवल इस शरीरका अभिमान करके और इस शरीर पर ही दृष्टि रखकर यह कहते हो कि मैं मारनेवाला हूँ और ये लोग मरनेवाले हैं। परन्तु हे अर्जुन अभी तक यह बात तुम्हारी समझमें नही आई कि यदि सत्यासत्यका विचार किया जाय तो न तो तुम इन लोगोको मारनेवाले ही हो और न ये लोग मारे जाने वाले ही हैं।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

हे अर्जुन, जब उस वुद्धि-योगका विचार किया जाता है, तव यह दिखाई पडने लगता है कि वह कर्म-काडका प्रकरण उससे बहुत इधरका या वहुत छोटे दरजेका है। परन्तु फिर भी वह कर्म-काड ही वुद्धि-योगका साधन है, क्योकि इस निष्काम रीतिसे कार्यका सिद्ध होना ही मानो योग-स्थितिका सम्पादन करना है। इसी लिए वुद्धि-योग वास्तवमे वहुत वलवान आधार है। इसी तुम योगमे स्थिर हो जाओ और मनसे फलकी वासनाका त्याग कर दो। जो लोग इस वुद्धि-योगमे लग जाते है, वही इस ससारके उस पार पहुँचते है, और न तो उन्हे पापके वन्धन ही छू सकते है और न पुण्यके वन्धन ही।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

ऐसे लोग यदि कर्मोका आचरण भी करते है तो भी वे कर्म-फलमे लिप्त नही होते, और इसी लिए हे अर्जुन, जन्म और मरणके झगडे भी उन्हे स्पर्श नही करते। इसके उपरात, हे धनुर्धर पार्थ, वुद्धि-योगके सिद्ध होते ही वे लोग सब दु खोसे रहित यह शाश्वत पद प्राप्त कर लेते है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

जव तुम यह मोह छोड दोगे और जब तुम्हारी वासनाओका क्षय हो जायगा, तव तुम भी इसी प्रकारके हो जाओगे। फिर तुम्हे अत्यन्त शुद्ध और गहन आत्मज्ञान प्राप्त हो जायगा और तुम्हारा मन आप से आप वासनाओसे रहित हो जायगा। उस अवस्थामे इस प्रकारकी सभी कल्पनाएँ शान्त हो जायँगी कि हम कुछ और भी जानें अथवा जो कुछ हम जान चुके है, वह भूल जायँ।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

इन्द्रियोके सहवाससे जिस मतिमे चंचलताके अकुर उत्पन्न होते है, आत्मस्वरूपका लाभ होने पर वह मति फिर शान्त हो जाती है। इस प्रकार जव आत्मसमाधिके आनन्दसे तुम्हारी वुद्धि शान्त और स्थिर हो जायगी, तभी तुम्हे सच्ची योगावस्था प्राप्त होगी।

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीकृष्णकी ये सव वाते सुनकर अर्जुनने कहा—"हे देव, अव इन सव विषयोमें मैं कुछ पूछना चाहता हूँ। आप कृपाकर मुझे उत्तर दें।" श्रीकृष्णने कहा—"भाई अर्जुन, तुम्हारे मनमे जो प्रश्न उचित जान पडे, वह तुम प्रसन्नतापूर्वक करो।"

जो कुछ स्वप्नमे देखा जाता है, वह केवल स्वप्नमे ही सच्चा और ठीक माना जाता है। पर जब आदमी जागकर देखता है, तब स्वप्नमे देखी हुई चीजोका कही नाम-निशान भी नही रह जाता। इस प्रकार तुम इस मायाको भी समझो। और इसलिए तुम केवल भ्रममें पड़े हो। जिस प्रकार किसीकी परछाँही पर चलाया हुआ अस्त्र उसके मूल अंग पर प्रहार नही करता, अथवा जिस प्रकार पानीसे भरे हुए घड़ेके उलट जाने पर उसके साथ ही साथ पानीमे पडनेवाला प्रतिविम्ब भी नष्ट हो जाता है, पर उस प्रतिबिम्बके साथ साथ मूल सूर्यका नाश नही हो जाता, अथवा जिस प्रकार झोंपडीके अन्दरका आकाश झोपड़ीके आकारका तो होता है, परन्तु यदि वह झोपडी गिरा दी जाय, तो भी आकाशका मूल स्वरूप ज्योका त्यो और अविकृत रहता है, ठीक उसी प्रकार शरीरका नाश हो जानेपर भी स्वरूपका नाश नही होता। इसलिए भाई अर्जुन, तुम इस नाशकी मिथ्या कल्पनाका आरोप मूल स्वरूप पर मत करो।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णन्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

जिस प्रकार लोग पुराने वस्त्र उतारकर दूसरे नये वस्त्र पहनते है, उसी प्रकार यह चैतन्याधिपति जीवात्मा एक शरीरको छोडकर दूसरा शरीर धारण करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

यह आत्मा अनादि, निरन्तर स्वत सिद्ध, उपाधि-हीन और अत्यन्त निर्दोष है इसी लिए शस्त्रो आदिसे इसका छेद नही हो सकता। कल्पान्तवाले जल-प्लावनसे भी यह भींग नही सकता और आगसे भी यह जलाया नही जा सकता। पवनकी शोषक शक्तिका स्वभाव भी इसपर नही पडता। हे अर्जुन, यह आत्मा अविनाशी, विकारहीन शाश्वत और सर्वव्यापी है, और इसलिए यह स्वय ही परिपूर्ण रहता है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

यह तार्किककी दृष्टिको बिलकुल दिखाई नही देता, पर ध्यान और धारणा आदि करनेवाले योगियोको सदा इसीके दर्शनोकी उत्कंठा बनी रहती है। यह मन और दूसरे समस्त साधनोकी पहुँचके बाहर है। हे अर्जुन, यह आत्मा केवल असीम पुराण-पुरुष ही है। यह तीनो ही गुणोसे निर्लिप्त या अलग और आकार तथा रूप आदिकी सीमाके बाहर है। यह अनादि, विकारहीन तथा सर्वव्यापक है। भाई अर्जुन, इस आत्माको इसी प्रकार समझना चाहिए और यह अनुभव करना चाहिए कि यह सबके अन्तर्गत है। बस फिर तुम्हारे शोकके लिए सहजमे ही तिल भर भी स्थान न रह जाएगा।

कृष्णकी यह बात सुनकर अर्जुनने कहा—"स्थित-प्रज्ञ किसे कहते हैं? उसे किस प्रकार पहचानना चाहिए? बस यही आप मुझे बतला दें। और जिसे लोग स्थिर-बुद्धि कहते है, उसके लक्षण क्या है? इसी प्रकार जो अखंड समाधिका सुख भोगता है, वह किस स्थितिमें रहता है? उसका स्वरूप कैसा होता है? हे देव लक्ष्मीनाथ, आप ये सब बाते मुझे बतला दे।" इसपर परब्रह्मके अवतार और षड्गुणोके ऐश्वर्यसे सम्पन्न श्रीकृष्णने जो कुछ कहा, वह सुनिये।

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥

श्रीकृष्णने कहा—"अर्जुन, सुनो। आत्म-सुखके मार्गमें बाधा उत्पन्न करनेवाली वह प्रबल विषय-वासना है जो मनमे निवास करती है। जो सदा और सब अवसरों पर सन्तुष्ट रहता है, जिसका अन्त करण समाधानसे ओत-प्रोत भरा रहता है और सुखकी जिन दुष्ट अभिलाषाओ के ससर्गसे मनुष्य विषय-पकजमें फँसता है, जिसकी वे अभिलाषाएँ पूर्ण रूपसे नष्ट हो चुकी होती है, और जिसका मन आत्म-सुखमे सदा मगन रहता है, वही पुरुष स्थित-प्रज्ञ है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

"अनेक प्रकारके दु ख आने पर भी जिसके मनमे खेद नही होता और जो सुखके लोभमे नही पडता, हे अर्जुन, ऐसे पुरुषमे काम और क्रोध स्वभावत ही नही होता और उसका अन्त करण आत्मानन्दसे सदा पूर्ण रहता है, इसलिए उसे भयकी गन्ध भी नही होती। जो सदा ऐसी ही स्थितिमे रहे, उसीको स्थिरबुद्धि समझना चाहिए। ऐसा विचारी पुरुष ससारके बन्धनोका परिहार करके केवल भेद-रहित रहता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥

"वह सदा लोगोके साथ समान व्यवहार करता है। जिस प्रकार पूर्णिमाका चन्द्रमा अपना प्रकाश देते समय इस बातका विचार नही करता कि यह अच्छा आदमी है, इसे प्रकाश दो, यह बुरा आदमी है, इसे अँधेरे मे रखो, उसी प्रकार उसकी सम वृत्ति भी सदा भेद-रहित रहती है। वह भूत मात्रपर समान रूपसे सदय रहता है और किसी समय उसके चित्तमे भेद नही होता। कोई अच्छी वस्तु प्राप्त होनेपर भी जो मारे आनन्दके पागल नही हो जाता और कोई बुरी बात होनेपर भी जो दु खके फेरमे नही पडता, जो हर्ष और शोक दोनोंसे रहित और आत्म-ज्ञानके आनन्दसे ओत-प्रोत भरा रहता है, हे अर्जुन, उसीको स्थित-प्रज्ञ समझना चाहिए।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अथवा यदि तुम इस आत्माको इस प्रकारका न समझकर इसे नाशवान् ही मानते हो, तो भी भाई पार्थ, तुम्हारे लिए शोक करने का कोई कारण नही है। और इसका हेतु यह है कि उत्पत्ति, स्थिति और नाशका प्रवाह अस्खलित, अखंड और शाश्वत रूपसे चलता रहता है। जैसे गंगाके पानीका स्रोत बराबर प्रवाहित होता रहता है, अपने उद्गम स्थानमे वह अखंडित रहता है और अन्तमें समुद्रमें जाकर सम-रस हो जाता है और इस प्रकार वह पानी यद्यपि निरन्तर बहता रहता है, परन्तु फिर भी जिस प्रकार वीच वीचमे सब जगह उसका अस्तित्व दिखाई देता है, उसी प्रकार यह समझ रखना चाहिए कि उत्पत्ति, स्थिति और लय ये तीनों अवस्थाएँ सदा एक दूसरीसे मिली रहती है। काल या समयका कोई ऐसा अंश नही है जिसमें ये तीनो अवस्थाएँ भूत मात्रके साथ लगी न रहती हों। इसी लिए इन सब बातोके विषयमें तुम्हारे दुःख करनेका कोई कारण नही है, क्योकि यह स्थिति स्वभावतः ऐसी ही अनादि है। अथवा हे अर्जुन, यदि यह बात तुम्हें ठीक न जान पड़ती हो कि ये सब लोग बराबर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं, तो भी तुम्हारे लिए इस विषयमे दुःख करनेका कोई कारण नही है; क्योकि यह उत्पत्ति और लय दोनो अपरिहार्य हैं—इन्हे कभी कोई रोक नही सकता।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

जो उत्पन्न होता है, उसका नाश भी होता है और जो नष्ट होता है, वह फिरसे उत्पन्न भी होता है; और यह चक्र पानीके रहटकी तरह बराबर चलता रहता है। अथवा जिस प्रकार सूर्यका उदय और अस्त बराबर आपसे आप होता ही रहता है और उसमें कभी बाधा या अन्तर नही पड सकता, उसी प्रकार यह जन्म और मरण भी अनिवार्य है। जब महाप्रलयका समय आता है, तब यह त्रैलोक्य ही नष्ट हो जाता है; पर फिर भी उससे यह आदि और अन्त टल नही सकता। यदि यह बात तुम्हारे मनमे ठीक जँचती हो, तब फिर तुम यह दुःख क्यो करते हो? भाई धनुर्धर पार्थ, तुम जान-बूझकर अज्ञानमें क्यो पडते हो? इसके सिवा, हे अर्जुन, यदि तुम इस बात पर और भी अनेक रूपोसे विचार करोगे तो तुम्हारी समझमे यह बात आ जायगी कि इसमे दुःख करने की कोई बात ही नही है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ॥ २८ ॥

जो ये सब भूत जन्ममे पहले अमूर्त थे और जन्मके उपरान्त जिन्होने आकार धारण किया, वह भूत जब लयको प्राप्त हों, तब इस बातकी कोई शंका ही नही करनी चाहिए कि वे कोई दूसरी या भिन्न वस्तु हो जायेंगे। होता केवल यही है कि वे सब भूत फिर अपनी पूर्ववाली स्थितिमे पहुँच जाते है। परन्तु जन्म और मरणके मध्यमें जो कुछ दिखाई पडता है, वह सोये हुए आदमीके स्वप्नकी भाँति

"हे अर्जुन, जरा कछुएका ढंग देखो। वह जब प्रसन्न रहता है, तब अपने अवयव बाहर निकालकर फैला देता है। परन्तु फिर जब चाहता है, तब उन सबको अपने अन्दर खीच लेता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ जिसके वशमे रहती है और जिसके करनेके अनुसार वे इन्द्रियाँ सब काम करती है, समझ लेना चाहिए कि उसी पुरुषकी प्रज्ञाने स्थिरता प्राप्त की है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

"हे अर्जुन, अब मै तुम्हे एक और मजेकी बात बतलाता हूँ। वह यह कि यद्यपि इस योगकी साधना करनेवाले लोग विषयोका त्याग बहुत ही निश्चयपूर्वक करते है; तथापि कान, आँख आदि इन्द्रियोका दमन हो जानेपर भी यदि रसनेन्द्रियका दमन न हो तो उस साधकको ये विषय इस ससारमे हजारो तरहसे अपने जालमे फँसाते है। पर तुम्ही सोचो कि यदि किसी पौधेके पत्ते और शाखाएँ आदि तो ऊपरसे काट ली जायँ, पर उसकी जडमे बराबर पानी सीचा जाय तो वह पौधा भला कैसे नष्ट हो सकता है? जिस प्रकार पानीके बलसे वह पौधा और भी अधिक आडी-तिरछी शाखाएँ आदि निकालता है, उसी प्रकार रसनाकी साधनासे मनुष्यके मनमे विषयोकी पुष्टि होती है। दूसरी इन्द्रियोके विषय तो छोड़े जा सकते है, परन्तु उतनी दृढतासे रसनेन्द्रियका नियमन नही किया जा सकता, क्योकि इस इन्द्रियके बिना मनुष्य कभी जीवित नही रह सकता। हे अर्जुन, फिर जब स्वानुभवसे परब्रह्मका साक्षात्कार होता है, तब इस रसना पर भी विजय प्राप्त होती है। जब मनुष्यको इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि "मै ही ब्रह्म हूँ" तब देह-धर्मका लोप होता है और इन्द्रियाँ भी विषयोको भूल जाती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

"नही तो इसके सिवा और किसी उपायसे ये इन्द्रियाँ वशमे नही आती। जो लोग इनका दमन करनेके लिए सचेष्ट होकर प्रयत्न करते है, जिनका योगाभ्यासका क्रम बराबर जारी रहता है, जो लोग अपने चारो ओर यम-नियमो आदिकी बाढ या घेरा लगाये रहते है और जो मनको निरन्तर अपनी मुट्ठीमे रखते है, उन्हे भी ये इन्द्रियाँ परेशान रखती है। इन इन्द्रियोका पराक्रम इतना गहन है। जिस प्रकार यक्षिणी मान्त्रिकको भ्रममे डाल देती है, उसी प्रकार ये विषय भी ऋद्धि-सिद्धिके रूप धारण करके आते है और इन्द्रियोको स्पर्श करके मनुष्यको भ्रममे डाल देते है। उस समय मन पर अधिकार नही रह जाता और मनुष्य अभ्यास छोडकर और निश्चित होकर बैठ जाता है। इन्द्रियोका बल ऐसा विचित्र होता है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

"इसी लिए हे अर्जुन, मैं कहता हूँ कि विषयोका लोभ पूरी तरह छोड़कर जो

मायाके प्रभावसे सत्स्वरूप आत्म-तत्वमे भासित होनेवाला आकार ही है। अथवा जिस प्रकार हवाके चलनेसे जल तरंगोके रूप मे दिखाई देता है अथवा दूसरे लोगो-की इच्छासे जिस प्रकार सोना अलंकारोका रूप धारण करता है, उसी प्रकार शरीर-धारी भूत मात्रने मायाके बलसे आकार प्राप्त किया है और यही बात तुम अच्छी तरह समझ लो। आकाशमे छाये हुए बादल जिस प्रकार वास्तवमे कुछ भी नही होते, उसी प्रकार जब ये जन्म और लयके झगड़े वास्तवमे हो ही नही सकते, तब फिर उनके लिए तुम्हारा यह रोना-कलपना क्यो हो रहा है? तुम यह बात निश्चित रूपसे समझ लो कि यह एक-रूप चैतन्य कभी नष्ट नही होता और सदा अविकृत रहता है। जब इस चैतन्य तत्वकी बात मनमे जम जाती है, तब विषय-वासनाएँ सन्तो को छोडकर दूर चली जाती है। इसी चैतन्यके लिए विरक्त लोग वनवास तक स्वीकृत करते हैं, और इसी पर दृष्टि जमाकर बडे बड़े मुनि ब्रह्मचर्य आदि व्रत और तप करते है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

कितने ही लोग इस केवल तत्वको स्तब्ध अन्त.करणसे देखते देखते संसारका सारा विस्तार ही भूल गये। और भी कितने लोग अपनी वाचासे इस चैतन्य तत्वके गुणोंका वर्णन करते करते विरक्त हो गये और उन्होने पूर्ण तथा शाश्वत तल्लीनता प्राप्त कर ली। बहुतसे लोगोका समाधान इस चैतन्यके विषयमे श्रवण करनेसे ही हो गया और उनकी देह-बुद्धिका नाश हो गया। और कुछ लोग स्वय अपने अनुभव-से इस तत्वको जानकर इसके साथ सम-रस हो गये। जिस प्रकार समस्त नदियोका प्रवाह जाकर समुद्रमे मिलता है, और यदि वह समुद्रमे मिलकर समा नही जाता, परन्तु फिर भी वह प्रवाह कभी लौटकर पीछे नही जाता, उसी प्रकार श्रेष्ठ योगियों की बुद्धि चैतन्यमे मिलते ही उसके साथ सम-रस हो जाती है। परन्तु यदि उस चैतन्यका साक्षात्कार होने पर भी वे उसमे सम-रस नही होते तो भी वे इस चैतन्य तत्वसे कभी पराङ्मुख नही होते।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

तुम यह बात समझ लो कि जो सभी स्थानोपर और सभी शरीरमे रहता है और मनमे जिसके घातका विचार करने पर भी जिसका घात नही हो सकता, वह एक-रूप चैतन्य ही इस विश्वकी आत्मा है। इसीके स्वाभाविक धर्मसे ये भूत मात्र उत्पन्न होते हैं और फिर लयको प्राप्त होते हैं। तो फिर ऐसी अवस्थामे तुम किस बातके लिए शोक करते हो? हे अर्जुन, ये सब बाते तो बिना कहे ही तुम्हे ठीक जँचनी चाहिएँ। फिर मेरी समझमे नही आता कि इन सब बातोका ज्ञान तुम्हें क्यो नही होता। परन्तु तुम्हारा यह शोक करना अनेक प्रकारसे दोषमय है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

पुरुप इन इन्द्रियोका बल बिलकुल तोड डालता है, वही योग-निष्ठा या बुद्धिस्थैर्यमे समर्थ होता है। विपय-सुख जिस पुरुषके अन्त करणको भ्रममे नही डाल सकते, वही निरन्तर आत्मबोधसे सज्जित होकर रहता है। और नही तो यदि ऊपरसे देखनेमे विषयोका कुछ भी स ग न हो, पर मनमे विषयोका थोडा-वहुत भी लेश रह जाय तो आदिसे अन्त सारा सासारिक प्रपंच ही बचा हुआ समझना चाहिए। जिस प्रकार विषकी एक बूंद भी पी ली जाय तो वह विष बराबर वढता जाता है और तव अन्तमे वह नि शक होकर प्राणोका घात करता है, उसी प्रकार यदि मनमे इन विषयोकी थोडी-वहुत शका भी वची रह जाय तो वह सारे विवेकका सत्यानाश कर डालती है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

"यदि अन्त करणमे विपयोकी कुछ भी स्मृति वची रह जाय, तो वह सग-रहितसे भी विषयोकी सगति करा देती है। इसी संगतिसे मूर्त्तिमती विपय-वासना प्रकट होती है। जहाँ विषयोके सम्वन्धमे मनमे काम या वासना उत्पन्न हुई, वहाँ क्रोधका पहले ही आगमन हो जाता है। और जहाँ क्रोध आया, वहाँ सम्मोह या अविचार भी रखा ही रहता है। जव अविचार उत्पन्न हुआ, तव स्मृति उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार प्रचड वायुके झोकेसे दीपककी ज्योति बुझ जाती है। अथवा स्मृति-नाशसे प्राणीकी वैसी ही दशा होती है, जैसी सूर्य अस्त होने पर रात्रिके कारण सूर्य-तेजकी होती है और रात्रि उस सूर्य-तेजको निगल जाती है। फिर जव अज्ञानके अन्धकारसे सव कुछ व्याप्त हो जाता है, तव बुद्धि अन्दर ही अन्दर घवरा जाती है। फिर हे अर्जुन, जिस प्रकार जन्मान्धको दौडना पडता है, और वह दीन होकर इधर-उधर भटकता फिरता है, उसी प्रकार वुद्धि भी भ्रमिष्ठ होकर भटकने लगती है। जव इस प्रकार स्मृति-भ्रश होने पर बुद्धिकी विकट अवस्था हो जानी है, तव विवेक शक्तिका भी पूरी तरहसे नाश हो जाता है। चैतन्यका नाश होने पर जो दशा शरीर-की होती है, ठीक वही दशा बुद्धिका नाश होने पर मनुष्यकी हो जाती है। हे अर्जुन, वस तुम यही समझ लो कि जिस प्रकार जलनेवाली लकडीमे एक चिनगारी भी पड़ जाय तो उसकी आग फैलकर सारे त्रिभुवनको जला देनेके लिए यथेष्ट होती है, उसी प्रकार यदि कभी सहजमे भी मनमे विपयोका चिन्तन हो जाय तो उससे भी मनुष्य-का वहुत वडा अध पात हो जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

"इसी लिए इन सव विषयोका मनोयोगपूर्वक परित्याग कर देना चाहिए। इससे राग-द्वेष आप से आप नष्ट हो जाते है। इसके अतिरिक्त, हे पार्थ, एक महत्वकी वात यह है कि रागद्वेष नष्ट हो जाने पर इन्द्रियाँ यदि विपय-सेवन करे भी तो वे कोई

तुम अब भी अच्छी तरह विचार क्यों नही करते ? तुम क्या सोच रहे हो ? जिस स्वधर्मसे तुम्हारा तारण होनेको है, तुम उसी स्वधर्मको भूल गये । यदि यहाँ इन कौरवोका अथवा तुम्हारा ही कुछ अनिष्ट हो जाय अथवा यहाँ स्वयं कल्पान्त ही क्यो न हो जाय, परन्तु फिर भी हमारा जो स्वधर्म है, उसका त्याग करना किसी प्रकार उचित नहीं है यदि तुम स्वधर्मका त्याग कर दोगे तो क्या तुम्हारी इस समयकी कृपालुता तुम्हे तार देगी ? हे अर्जुन, यदि तुम्हारा अन्त करण इस समय दयासे द्रवित हो गया हो तो ऐसा होना ही इस युद्धके अवसर पर नितान्त अनुचित है । गौका दूध बहुत अच्छा होता है । पर फिर भी यह नही कहा गया हैं कि जिसे ज्वर आता हो, उसे दूधका पथ्य दो । यदि वह नये ज्वरके किसी रोगीको दिया जाय तो वह विप ही हो जाता है । इसी प्रकार यदि प्रसंगका ध्यान न रख-जब जो जीमे आवे, तब वह कर डाला जाय तो उससे कल्याण का नाश ही होता है । इसलिए हे अर्जुन, अब तुम होशमे आओ । तुम व्यर्थ क्यो दु ख करते हो और क्यो कष्ट उठाते हो ? जिस स्वधर्मके अनुसार आचरण करने पर त्रिकालमे भी कोई दोप नही होता, उसी स्वधर्मको तुम देखो । जिस प्रकार बनाये हुए रास्ते पर चलनेसे कभी कोई उपाय नही होता अथवा जिस प्रकार दीपकके प्रकाशके सहारे चलनेमे कभी कही लडखडाना नही पडता, उसी प्रकार हे अर्जुन, स्वधर्मके अनुसार आचरण करनेसे समस्त कामनाएँ सहजमे सिद्ध होती है । इसलिए तुम यह बात समझ लो कि तुम क्षत्रियोके लिए संग्रामको छोडकर और कुछ करना कभी उचित नही हो सकता । तुम नि.शंक होकर और खूब अच्छी तरह जमकर लडो ! बहुत बातें हो चुकी, जो बात बिलकुल स्पष्ट दिखाई पडती हो, उसका व्यर्थ बहुत-सा विस्तार क्यो किया जाय ?

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन तुम यह समझ रखो कि इस समय जो युद्ध तुम्हारे सामने उपस्थित है, उसमे मानो तुम्हारे सौभाग्य या सब प्रकारके धर्माचारोंका भंडार ही खुल गया है । इसे तो "संग्राम" कहना ही ठीक नही है । संग्रामके रूपमें तो तुम्हे यह प्रत्यक्ष स्वर्ग ही प्राप्त हुआ है । अथवा इसे मूर्त्तिमन्त प्रतापका उदय ही कहना चाहिए । अथवा तुम्हारे गुणोंका आदर करनेके कारण और तुम्हारे प्रेमसे भरकर स्वयंवरकी विधिके अनुसार तुम्हारा वरण करनेके लिए मूर्त्तिमती कीर्त्ति ही यहाँ आकर खडी है । जब क्षत्रिय लोग विपुल पुण्योका संग्रह करते है, तब कही जाकर उन्हे इस प्रकारके संग्राम का अवसर मिलता है । जिस प्रकार रास्तेमें चलते समय कोई सहजमे ठोकर खाकर चिन्तामणि पर गिर पडता है अथवा जँभाई लेनेके लिए मुँह खोलने पर उसमें अकस्मात् आपसे आप आकर अमृत पड जाता है, ठीक उसी प्रकार आज तुम्हारे लिए यह युद्धका प्रसंग उपस्थित हुआ है ।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

उपद्रव नही कर सकती। जिस प्रकार आकाशका सूर्य अपने किरण-जालसे संसारको स्पर्श करता है, पर फिर भी उसके साथ संसारके संग-दोषका सम्पर्क नही होता, उसी प्रकार जो पुरुष इन्द्रियो के विषयोके प्रलोभनोमे नही पडता और काम-क्रोध आदिको छोडकर सदा आत्मानन्दसे परिपूर्ण रहता है, उसे उपभोगके विषयोमे भी आत्मताके अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नही देता। अब तुम्ही बतलाओ कि ऐसी अवस्थामे कौन-से विषय किसके लिए बाधक हो ? यदि पानीसे पानीको डुबाया जा सकता हो अथवा आगसे आगको जलाया जा सकता हो, तभी ऐसे परिपूर्ण व्यक्तिको विषय भी अपने जालमे फँसाकर विकल कर सकते है। इस प्रकार जो व्यक्ति अभेद-पूर्वक केवल आत्म-स्वरूपमे हो रहता है, उसे निस्सन्देह स्थितप्रज्ञ समझना चाहिए।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

"जिस अन्त करणमे अखंड आनन्दका निवास रहता है, उसमे सांसारिक दु खों-का प्रवेश हो ही नही सकता। जिस प्रकार उस व्यक्तिको भू ख-प्यासका कुछ भी डर नही रहता, जिसके जठरमे स्वय अमृतका स्रोत उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जिसके अन्त करणमे अखंड आनन्द भरा रहता है, उसे भला दु.ख कैसे हो सकता है ? उसकी बुद्धि तो आपसे आप परमात्म-स्वरूपमे बसी रहती है। जिस प्रकार वातहीन स्थानका दीपक कभी हिलता-डुलता नही और सदा समान रूपसे जलता रहता है, उसी योग-युक्त पुरु‌षकी बुद्धि भी स्व-स्वरूप मे अचल रहती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

"जिसके अन्त करणमे स्थिर बुद्धिका यह बल नही होता, उसी पर त्रिगुणोकी सहायतासे विषयोका जाल फैलता है। हे अर्जुन, ऐसे मनुष्यकी बुद्धि स्थिर नही रहती, और उसके अन्त करणमे इस प्रकारकी कल्पनाका भी उदय नही होता कि यह बुद्धि स्थिर हो। और हे पार्थ, जब मनमे स्थिरताकी कल्पना भी न हो, तब भला शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? जिस प्रकार पापीके पास मोक्ष कभी नही रहता, उसी प्रकार जहाँ शान्तिका उद्‌गम नही होता, वहाँ सुख भूलकर भी प्रवेश नहीं करता। अशान्तको तो तभी सुख प्राप्त हो सकता है, जब आग पर भूने हुए बीजोंमे से अंकुर निकल सकते हो (अर्थात् ये दोनो ही बाते समान रूपसे असम्भव है)। तात्पर्य यह कि मनकी अस्थिरता ही दु खोका मूल कारण है। इस-लिए इन्द्रियोको अपने वशमे रखना ही अच्छा है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥

"इसलिए जो पुरुष इन्द्रियोके कहनेके अनुसार ही सब काम करता हो, वह यदि इस संसारमे तरता हुआ भी दिखाई दे, तो भी वास्तवमें कदापि उसका तारण नहीं

अब ऐसे संग्रामको छोड़ देना और व्यर्थ की बातके लिए रोना मानो स्वयं ही अपना घात करना है। यदि आज इस युद्धमे तुम शस्त्र रख दोगे तो तुम अपना वह यश खो वैठोगे जो तुम्हारे पूर्वजोने सम्पादित किया था और अब जो तुम्हारे हिस्से पडा है। सम्पादित की हुई कीर्ति नष्ट हो जायगी, संसार तुम्हे दुर्वचन कहेगा और शाप देगा; और महापातक तुम्हे ग्रस्त करेंगे। जैसे बिना पतिकी स्त्री सब प्रकारसे अपमानित होती है, उसी प्रकार स्वधर्मका आचरण न करने पर जीवित अवस्थामे ही तुम्हारी भी दशा होगी। जिस प्रकार जंगलमे फेंके हुए शवको चारो ओरसे गीदड आकर नोचने और खाने लगते है, उसी प्रकार स्वधर्मका पालन न करनेवाले मनुष्यको चारो ओरसे महापातक आकर घेर लेते है और उसे नोच डालते हैं।

अकीर्तिचापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

इसी लिए मैं कहता हूँ कि यदि तुम स्वधर्मको छोड दोगे तो पापोमे फँस जाओगे और तुम्हारी अपकीर्ति कल्पान्त तक भी नष्ट न हो सकेगी। जानकारो या ज्ञानियोको तभी तक जीवित रहना चाहिए, जब तक उन्हे अपयशका कलंक न लगे। और फिर भला यह तो वतलाओ कि तुम यहाँसे निकलकर जा ही कैसे सकते हो? तुम तो सब प्रकारसे वैर छोडकर और अत्यन्त कृपालु अन्त करणसे यहाँसे निकलकर पीछे हट जाओगे। परन्तु तुम्हारे मनकी इस स्थितिका इन सब लोगोको कैसे पता चलेगा? ये लोग चारो ओरसे तुम्हे घेर लेंगे, तुम पर वाणोकी वर्षा करने लगेंगे और उस दशामे तुम्हारी यह कृपालुता किसी तरह तुम्हे बचा नही सकेगी। और फिर यदि इतने पर भी अनेक प्रकारके संकट सहकर तुम किसी तरह यहाँसे निकल जाओगे, तो फिर उसके वाद तुम्हारा जीवित रहना भी मर जानेसे कही वढकर खराव होगा।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

इसके सिवा, हे अर्जुन, एक और वात पर भी तुमने विचार नही किया। तुम यहाँ बडी शानसे लड़नेके लिए आये हो। अब यदि तुम यहाँसे कोमल हृदयसे वापस चले जाओगे, तो भला तुम्ही वतलाओ कि तुम्हारे इस प्रकारके व्यवहारका तुम्हारे इन दुष्ट वैरियोके मनपर भी कोई प्रभाव पडेगा?

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

ये सब लोग तो यही कहेंगे कि अर्जुन हम लोगोसे डरकर भाग गया। अब वतलाओ कि लोगोका इस तरहकी वाते करना कुछ अच्छा होगा? यदि तुम कहो कि हाँ, यह भी अच्छी ही बात होगी, तो फिर भाई पार्थ, सब लोग जो इतना परिश्रम और प्रयत्न करके और अपने प्राण तक गँवाकर अपनी कीर्ति वढ़ाते है, वह क्यों? वही कीर्ति बिना कोई परिश्रम या प्रयत्न किये सहजमे ही तुम्हे मिली है। जिस प्रकार यह आकाश अपने विस्तारके कारण निरुपम है, उसी प्रकार तुम्हारी कीर्ति भी असीम और उपमा-रहित है। तीनो लोकोमे तुम्हारे गुण श्रेष्ठ है। दूर-दूरके राजा भी

होता। जिस प्रकार किनारे पर पहुँची हुई नाव भी यदि आँधी-पानी और तूफानमें पड जाय तो पहले नदीके बीचमे रहनेकी दशामे उस पर जो प्राणघातक संकट आकर टल गया था, वह सकट फिरसे आ पडता है, उसी प्रकार यदि स्वरूप-स्थितिमे पहुँचा हुआ मनुष्य भी विनोद या कूतूहलसे इन्द्रियोका फिरसे लालन-पालन करना आरम्भ कर दे तो समझना चाहिये कि अब भी वह सासारिक दु खो से व्याप्त ही है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

"इस लिए हे पार्थ, यदि हमारी इन्द्रियाँ आपसे आप हमारे कहनेमे आ जायँ तो यही समझना चाहिए कि इसमे कुछ विशेष धन्यता है। देखो जिस प्रकार कछुआ शान्त भावसे अपने अवयवोका प्रसार करता है, परन्तु इच्छा होते ही फिर उन्हें खीचकर अन्दर कर लेता है, उसी प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ उसके वशमे होती है और उसके कहनेके अनुसार आचरण करती है, उसीको स्थितप्रज्ञ समझना चाहिए। अब पूर्णताको प्राप्त पुरुषका एक और गूढ लक्षण बतलाता हूँ। वह भी सुनो।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

"जिस ब्रह्म-वस्तुके सम्बन्धमे समस्त भूत नि शक रूपसे मानो सोए हुए रहते है, उस ब्रह्म-वस्तुके सम्बन्धमे जो निरन्तर जाग्रत रहता है और जिन विषयो के लिए जीवमात्र जाग्रत रहकर प्रयत्न करते है, उन विषयोकी ओरसे जो पूरी तरह से अपनी आँखे बन्द कर लेता है, वही वास्तवमे सब उपाधियोसे मुक्त रहता है, वही सच्चा स्थितप्रज्ञ होता है और वही पूर्ण रूपसे श्रेष्ठ मुनि सिद्ध होता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

"हे पार्थ, ऐसे पुरुषको पहचाननेका एक और लक्षण है। समुद्रकी गम्भीरता सदा अबाधित रहती है। यद्यपि समस्त नदियोका प्रवाह अपने दोनो किनारो पर भरकर समुद्रमे आ मिलता है, तो भी वह समुद्र नामको भी नही बढता और अपनी मर्यादा-का उल्लंघन नही करता। अथवा जब गरमीके दिनोमे सब नदियाँ सूख जाती है, तबभी समुद्रमें रत्ती भरकी भी कमी नही दिखाई देती। इसी प्रकार यदि स्थित-प्रज्ञको समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँ तो भी उसकी बुद्धि चल-विचल नहीं होती। अथवा यदि उसे वे ऋद्धि सिद्धियाँ न भी प्राप्त हो, तो भी उसका धैर्य नष्ट नही होता। क्या सूर्यके घरमे कभी दीपककी बत्तीसे भी उजाला होता है? और यदि बत्ती न जलाई जाय तो सूर्यको अँधेरेमे बैठे रहना पडे? इसी प्रकार चाहे ऋद्धि-सिद्धियाँ आ जायँ और चाहे चली जायँ, पर स्थितप्रज्ञको उनका ध्यान भी नहीं रहता। वह अपने आत्मानन्दसे ही परम सुखमे मग्न रहता है। जो अपने छप्पर

तुम्हारी कीर्त्तिका वर्णन भाटोकी तरह करते है और वह वर्णन सुनकर यम आदि भी डर जाते है। गंगाके प्रवाहकी तरह तुम्हारी महिमा निर्मल और पूर्ण है और उस महिमाने संसारके बडे बड़े वीरोको क्षात्र-धर्मकी शिक्षा देकर जानकार बनाया है। तुम्हारा अद्भुत पराक्रम सुनकर शत्रु-पक्षके ये सब योद्धा लोग अपने जीवनसे निराश हो गये हैं। जिस प्रकार सिंहकी गरज सुनकर मदोन्मत्त हाथी यह समझते हैं कि यह प्रलय-कालका गर्जन है, ठीक उसी तरह इन सब कौरवो पर तुम्हारी धाक जमी हुई है। जिस प्रकार पर्वत वज्रको अथवा सर्प गरुडको अपना काल समझते है, उसी प्रकार ये कौरव भी तुम्हे अपना काल ही समझते हैं। परन्तु यदि आज तुम युद्ध न करोगे और पीछे हट जाओगे, तो तुम्हारा सारा दबदबा जाता रहेगा और ऊपरसे हेठी होगी। और फिर जब तुम भागने लगोगे, तब ये शत्रु तुम्हें भागने भी नही देंगे और तुम्हे रोककर तुम्हारा अपमान करने लगेंगे; और तुम्हारे मुँह पर ही जो अनेक उलटी सीधी बाते सुनायेंगे, उनकी कोई गिनती भी न कर सकेगा। बस उस समय तुम्हारा हृदय ही फट जायगा। तब इसी समय तुम पराक्रमपूर्वक युद्ध क्यों न करो? यदि इन शत्रुओको तुमने जीत लिया, तो फिर तुम आनन्द से पृथ्वी-का राज्य भोगना।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

और यदि तुम लडते-लडते अपने प्राण दे दोगे तो अनायास ही तुम्हे स्वर्गके सुख प्राप्त हो जायँगे। इसीलिए हे अर्जुन, अब तुम और सब बातोका विचार छोड दो और धनुष उठाकर चटपट युद्ध आरम्भ कर दो। देखो, स्वधर्मका आचरण करनेसे किए हुए पाप भी नष्ट हो जाते है। फिर भला यह भ्रमपूर्ण कल्पना तुम्हारे मनमें उत्पन्न ही कैसे हुई कि इस कृत्यमे पाप और दोष है। अच्छा पार्थ, तुम्ही बतलाओ कि क्या नावका आश्रय लेनेसे भी मनुष्य कभी डूबता है? अथवा ठीक तरहसे बनाये हुए रास्ते पर चलनेसे आदमी कभी ठोकर खाता है? पर जिसे अच्छी तरह चलना न आता हो, वह ठीक रास्ते पर चलकर भी लड़खडावेगा। जिस प्रकार विषके साथ अमृत मिलाकर खानेसे भी उस अमृतसे मनुष्य मर ही जाता है, उसी प्रकार यदि स-काम बुद्धिसे स्वधर्मका आचरण किया जाय तो वह भी दोषका ही कारण होता है। इसी लिए हे अर्जुन, तुम सब प्रकारकी वासनाओको छोडकर यदि क्षत्रिय-धर्मका आचरण करोगे तो उसमे कुछ भी पाप न होगा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

सुखमे आदमीको फूल नही जाना चाहिए, दुःखमे विकल नही होना चाहिए, और स्वधर्मका आचरण करते समय लाभ और हानिकी कल्पना भी मनमे नही आने देनी चाहिए। इस बातकी मनमें चिन्ता ही क्यों की जाय कि आजके इस प्रसंगमे हमें विजय प्राप्त होगी अथवा हमारा शरीर पूर्ण रूपसे नष्ट हो जायगा? हम अपने इस

शोभा देखकर इन्द्रके निवास-स्थानको भी तुच्छ समझता है, वह भला किसी भीलकी पत्तोसे सजाई हुई झोपडीको देखकर कैसे भूल सकता है ? जो इतना पवित्र हो कि अमृतमें भी कोई दोष वतला सकता हो, वह जिस प्रकार दलिया खाना कभी स्वीकार नही करता, उसी प्रकार जिसे आत्म-सुखका अनुभव हो जाता है, वह लौकिक-वैभवके उपभोगका कुछ भी मूल्य नही समझता। हे अर्जुन, जहाँ स्वयं स्वर्ग-सुखकी भी परवाह न हो, वहाँ इन क्षुद्र लौकिक ऋद्धि-सिद्धियोको कौन पूछता है !

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृह।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

"जिसे इस प्रकारका आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया हो और जो आत्म-स्वरूपके अखंड आनन्दसे पुष्ट रहता हो, उसीको तुम सच्चा स्थितप्रज्ञ समझो। वह अहकारका मद दूर कर देता है, सब प्रकारकी कामनाओका परित्याग कर देता है और स्वयं ही विश्व-रूप होकर विश्वमे परमानन्दसे रहता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

"इसीको अप्रतिम और असीम ब्राह्मी-स्थिति समझना चाहिए। इसका अनुभव करनेवाले निष्काम पुरुष बिना किसी प्रकारके कष्टके परब्रह्मको प्राप्त करते हैं।" संजयने कहा—"चैतन्य रूपके साथ मिलकर एक होनेके समय (मृत्युके समय) होनेवाली अन्त करणकी विचलता जिसके कारण स्थितप्रज्ञके लिए बाधक नही हो सकती, वही यह ब्राह्मी-स्थिति श्रीकृष्णने अर्जुनको स्वयं वतलाई थी।" श्रीकृष्णकी ये सब वाते सुनकर अर्जुनने मनमे कहा—"श्रीकृष्णके ये विचार मेरे लिए हितकारक ही हुए है। क्योंकि जब श्रीकृष्णने सभी कर्मोका निषेध कर दिया है, तो फिर तो मेरे युद्ध करनेकी वात टल गई।" इस प्रकार श्रीकृष्णकी वातोसे अर्जुन अपने मनमे प्रसन्न हुआ और अब वह कुछ शकाएं उठाकर श्रीकृष्णसे कुछ प्रश्न करेगा। वह प्रसग वहुत ही सुन्दर है। जो समस्त धर्मोका जन्म-स्थान अथवा विवेक रूपी अमृतका अगाध और अनन्त समुद्र ही जान पडता है और जिसका निरूपण स्वयं सर्वज्ञ-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण करेंगे, वह संवाद श्रीनिवृत्तिनाथका दास ज्ञानदेव वतलावेगा।

तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—"हे लक्ष्मीपति, आपने जो कुछ कहा, वह सब मैंने बहुत ध्यान-पूर्वक सुना। यदि आपका निश्चित मत यही है कि अच्छी तरह विचार करने पर कर्म और कर्त्ता रह ही नही जाते, तो फिर आप मुझसे यह कैसे कहते है कि—'पार्थ, तुम युद्ध करो ?' इस भयकर काममे मुझे ढकेलते हुए क्यो आपको सकोच नही होता ? हे देव, जब आप ही सब कर्मोका पूर्णरूपसे निषेध करते है, तो फिर आप मेरे हाथो मारकाटका यह घातक काम क्यो कराते है ? हे हृपीकेश, इसी लिए मेरा यह प्रश्न है कि जब कर्मका अल्पाश भी आपको मान्य नही है, तब फिर आप जो मेरे हाथो इतनी बडी हिंसा कराना चाहते है, वह क्यो ? और आपकी बातोमे इतनी असम्बद्धता कैसे है ?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

"हे देव, जब आप ही इस प्रकार गडवडमे डालनेवाली बाते कहेगे, तो फिर हमारे सरीखे अज्ञानी जन क्या करेंगे ? क्या अब विवेक पूर्ण रूपसे डूब ही गया ? यदि इस प्रकारकी बातोको सदुपदेश कहा जाय, तो क्या भ्रष्टता इससे कोई अलग चीज होगी ? मुझमे आत्म-बोधकी जो आकाक्षा थी, वह आज खूब पूरी हुई। वैद्य ने पथ्य तो बतला दिया, पर वही यदि रोगीके औषधमे विष डाल दे तो फिर रोगी कैसे जी सकता है ? जैसे अन्धेको कोई टेढे-मेढे रास्ते पर लगा दे या बन्दरको कोई नशेकी चीज पिला दे। मै तो समझता हूँ कि ठीक इसी तरहका खूब सुन्दर उपदेश मुझे मिला है। एक तो पहलेसे ही मेरी समझमे कुछ नही आता था, ऊपरसे यह मोहकी बाधा हो गई थी, इसलिए हे श्रीकृष्ण, मैंने आपसे पूछा था कि इस विषयमे अच्छा विचार या सिद्धान्त क्या है। पर आपका कुछ निराला ही ढग देखता हूँ। आपके उपदेशमे और यह गडवडी ! फिर उसका अनुसरण करनेसे कौन-सा हित होगा ? मैंने बहुत ही आशापूर्वक सच्चे हृदयसे आपके वचनोपर भरोसा किया था। पर आपही जब ऐसा करने लगे, तब तो यही कहना चाहिए कि सभी बातोका अन्त हो गया। आपने यदि ऐसा किया तो मेरी खूब भलाई की। ऐसी अवस्थामे मै ज्ञान की आशा ही क्यो रखूं ?" फिर अर्जुनने यह भी कहा—"ज्ञानकी तो यह अवस्था हो गई। पर साथ ही एक और बुरी बात यह हो गई कि पहले जो मेरा मन शान्त था, वह अब और भी सन्देहमे पड गया। हे देव, आपका चरित्र अगम्य है। अब यदि

"इस संसारकी प्रथा ही यह है कि बडे लोग जो कुछ करते हैं, लोकमें उसीका नाम "धर्म" पड जाता है; और दूसरे साधारण लोग उसीका अनुकरण करते है। यह बात नितांत स्वाभाविक रूपसे होती रहती है, इसलिए स्वधर्मका अनुष्ठान कभी छोडना नही चाहिए। फिर उनमे भी जो लोग सन्त कहलाते हो, उन्हें तो स्वधर्मका अनुष्ठान कदापि न छोडना चाहिए।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

"हे अर्जुन, मैं औरोंकी बात तुमसे क्या कहूँ! मैं स्वयं भी स्वकर्मानुष्ठानके मार्गसे चलता हूँ। शायद तुम यह कहोगे कि मुझपर कोई संकट आकर पडता है अथवा मुझे कोई अपना हेतु सिद्ध करना पडता है, इसलिये मैं कर्मों का आचरण करता हूँ। पर तुम यह बात तो अच्छी तरह जानते हो कि इस संसारमे और कोई ऐसा व्यक्ति नही है जो मेरे समान पूर्णताको पहुँचा हुआ हो अथवा जिसमे मेरे समान सामर्थ्य हो। सान्दीपनि गुरुके मरे हुए लडकेको मैं यम-लोकसे लौटा लाया था और मेरा यह अलौकिक पराक्रम तुमने स्वयं अपनी आँखोसे देखा है। तो भी मैं शान्त भावसे सब विहित कर्मोका बराबर आचरण करता ही रहता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

"और मै इन सब कर्मोका आचरण इस प्रकार करता हूँ कि देखनेवाले समझें कि मैं अभी तक स-काम ही हूँ। परन्तु ऐसा करनेमे मेरा एक ही उद्देश्य है। वह यह कि ये जो सब जीव मेरे ही सहारे चलनेवाले है, वे कही बहक न जायँ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

पूर्णता प्राप्त कर चुकने पर यदि आत्म-स्थितिमे बिना कोई कर्म किये यो ही रहा करूँ तो फिर प्रजाका काम कैसे चलेगा? इस समय समाजकी व्यवस्था यही है कि सब लोग यही देखते है कि मैं किस रास्तेसे चलता हूँ; और उसीसे वे लोग सदाचारकी प्रणालीका ज्ञान प्राप्त करते है। पर यदि मैं कर्म करना छोड दूँ तो समाजकी वह सारी व्यवस्था ही बिगड़ जायगी। इसी लिए मैं कहता हूँ कि जिन सामर्थ्यवान् पुरुषोने इस ससारमे पूर्ण रूपसे सर्वज्ञता प्राप्त कर ली हो, विशेषत उन लोगोको तो कर्मोका कभी परित्याग नही करना चाहिए।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

"जिस प्रकार स-काम पुरुष मनमे फलकी इच्छा रखकर कर्म करता है, ठीक उसी प्रकार ध्यानपूर्वक निष्काम पुरुषको भी कर्मका ही आचरण करना चाहिये। क्योकि, हे अर्जुन, मैं तुमको बार बार यही बतलाता हूँ कि समाजकी संस्थाको सब

आप इसी वहाने मेरी परीक्षा करना चाहते हों, तो मुझे इस वातका कुछ भी पता नहीं चलता कि आप मुझे चकमा देकर धोखेमे डाल रहे है या इस गूढ़ प्रकारसे सच-मुच मुझे महत्वका कोई तत्व या सिद्धान्त वतला रहे है। इसलिए हे देव, मेरी प्रार्थना है कि आप अपनी इस गूढ़ भापाका अन्त करे और सीधी-सादी तथा सरल भापामे अपने विचार मुझे वतलावे। मै वहुत ही मन्द वुद्धिका आदमी हूँ, इसलिए आप ऐसी सरल और निश्चित वाते कहे जो मुझ सरीखे मन्द वुद्धिवाले व्यक्तिकी समझमे अच्छी तरह आ जायँ। जव कोई रोगीका रोग दूर करनेका विचार कर लेता है, तव उसे औपध तो देनी ही पडती है। परन्तु जिस प्रकार उस औषधका रुचिकर और मधुर होना अच्छा होता है, उसी प्रकार गूढ अर्थोंसे परिपूर्ण तत्व-वोध की वाते तो आप वतलावे, परन्तु वे वाते इस तरहकी हो जो अच्छी तरह मेरी समझ मे आ सके। हे देव, आप सरीखे वास्तविक आत्म-वोधका उपदेश देनेवाले गुरु हों, तो फिर मैं भी अपना हौसला क्यो न अच्छी तरह पूरा कर लूँ? हे देव, जव आप ही मेरी माताके समान हैं, तो फिर ऐसे अवसर पर सकोच करनेकी क्या आवश्यकता है? जव दूध देनेवाली कामधेनु ही मिल जाय, तो फिर केवल इच्छा करनेमे कौन कमी करेगा? जव चिन्तामणि ही मिल जाय, तो फिर इच्छा करना क्या कठिन है? फिर जो जो मनमे आवे, उन सवकी अच्छी तरह इच्छा क्यो न की जाय, क्योकि वे सभी इच्छाएँ तो तुरन्त ही पूरी हो जायँगी। यदि अमृतके समुद्रके पास पहुँचकर भी मारे प्यासके छटपटाना ही हो तो फिर अमृत-सागर तक जानेका पहले परिश्रम ही क्यो किया जाय? उसी प्रकार, हे देव लक्ष्मीपति, अनेक जन्मो तक आराधना करनेके उपरान्त जव आप संयोगसे इस समय मुझे मिल गये है, तो हे परमेश्वर, आपसे मन-मानी वस्तु क्यो न माँग लूँ? हे देव यह मुझे वहुत ही उत्तम और सुभीते का अवसर प्राप्त हुआ है। आज मेरी समस्त इच्छाओको नवीन चैतन्य प्राप्त हुआ है, मेरे पुण्य फलीभूत हुए हैं और मेरे मनोरथोको आज पूर्ण विजय प्राप्त हुई है। क्योंकि आज आप मेरे लिए पूर्ण रूपसे अनुकूल हुए हैं। हे परम मगलमय देवेश्वर, मैं आपका जय-जयकार करता हूँ। जैसे माताके सम्वन्धमे वच्चेको समय और अवसरका ध्यान रखनेकी आवश्यकता नही होती और वह जव चाहता है, तभी उसका स्तन पान कर सकता है, उसी प्रकार, हे कृपासागर देव, जो कुछ मेरे मनमे आता है, उसीके अनु-सार मैं वडे उत्साहसे आपसे प्रश्न करता हूँ। इसलिए आप मुझे निश्चयपूर्वक कोई ऐसी वात वतलावे जिससे मेरा पारलौकिक हित भी हो और इहलौकिक हित भी हो।"

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

यह सुनकर श्रीकृष्णने आश्चर्यसे चकित होकर कहा—"हे अर्जुन, मेरे कहनेका अभिप्राय यह है कि मैं तुम्हे वुद्धि-योगका तत्व स्पष्ट रूपसे वतलाना चाहता था; और

प्रकारसे शुद्ध और स्वच्छ रखना कर्तव्य है। शास्त्रोमे वतलाये हुए मार्गसे चलना चाहिये, सव लोगोको अच्छे रास्ते पर लगाना चाहिये; और किसी प्रकार उन पर यह प्रकट नही होने देना चाहिये कि हम समाजसे अलग है।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

'जो वच्चा स्तन-पान भी वहुत कष्टसे कर सकता हो, उसे पक्वान्न कैसे खिलाये जा सकते है? इसी लिये हे अर्जुन, जिस प्रकार उस वच्चेको पक्वान्न नही देना चाहिए, उसी प्रकार जिन लोगोमे केवल कर्म करनेकी योग्यता हो, उन्हे कभी हँसी या विनोदमे भी कर्मत्यागका उपदेश नही करना चाहिये। निष्काम ज्ञानवानोको भी यही उचित है कि वे ऐसे लोगोको सत्कर्मका मार्ग दिखलावे, उनके सामने सत्कर्मोकी प्रशंसा करे और स्वयं भी उसी प्रकारका आचरण करके उनके सामने सुन्दर आदर्श उपस्थित करे। इस प्रकार लोक-संग्रह करनेके लिये अर्थात् समाज-संस्थाको अच्छी स्थितिमे रखनेके लिए यदि कर्मोको स्वीकार किया जाय तो वे कर्म अपने कर्त्ताके लिये कभी वन्धक नही होते। बहुरूपिये राजाओ और रानियोका स्वाँग बनाते हैं; और यद्यपि उनके मनसे वास्तवमे स्त्री या पुरुषका भाव नही होता, परन्तु फिर भी जिस प्रकार उन्हे अपना स्वाँग ठीक तरहसे दिखलानेके लिये स्त्री या पुरुषके से सव भाव व्यक्त करके लोगोको सन्तुष्ट करना पडता है, उसी प्रकार ज्ञानवान् पुरुष भी सव प्रकारका ज्ञान प्राप्त कर चुकनेके वाद अर्थात् ज्ञानोत्तर कालमे भी केवल लोक-सम्पादनके विचारसे निष्काम और निर्विकार वृत्तिसे सत्कर्मोका आचरण करते हैं।

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणिः सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥

"हे अर्जुन, फिर इस वातका भी विचार करो कि यदि दूसरोका वोझ अपने सिर पर लिया जाय तो उसके नीचे क्यो न दवेगे? वस इसी न्यायसे मायाके गुणसे उत्पन्न होनेवाले अच्छे और बुरे सभी कर्म मूर्ख मनुष्य बुद्धि-भ्रमके कारण अपने आपको उनका कर्त्ता समझकर स्वय अपने ऊपर लाद लेता है। जो ऐसा अहंकारी, स्वार्थी, संकुचित दृष्टिवाला और मूर्ख हो, उसे परमार्थकी इस गूढताका उपदेश नहीं करना चाहिये। पर अव इन सव वातोको जाने दो। अव मै तुम्हे यह वतलाता हूँ कि इस समय किस वातमे तुम्हारा हित है। हे अर्जुन, तुम ध्यान से सुनो।

तत्त्ववित्तु महावाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

"जिन लोगोको आत्म-तत्वका वोध हो जाता है, उसमे उस मायाका अभाव रहता है जिससे समस्त कर्म उत्पन्न होते हैं। वे लोग देहका अभिमान छोड़ देते हैं, गुण और कर्मका अन्योन्य सम्वन्ध समझते है और केवल तटस्थ वृत्तिसे, तिसरैतकी तरह, शरीरमे रहते हैं। इसी लिए जिस प्रकार पृथ्वी परके प्राणियोकी क्रियाएँ सूर्य-

उसी स्पष्टीकरणके लिए मैंने तुम्हे सांख्यका ज्ञान-योग भी बतला दिया। परन्तु उसमे जो हेतु था, वह तुम्हारी समझमे बिलकुल नही आया, इसलिए तुम्हे व्यर्थ इतनी परेशानी हुई। पर अब तुम यह बात ध्यानमे रखो कि ये दोनो सम्प्रदाय या सिद्धान्त मैंने ही बतलाये है। हे महावीर, ये दोनो सम्प्रदाय अनादि कालसे मैंने ही प्रकट किए हैं। इनमेसे एक तो वह है, जिसे लोग ज्ञान-योग कहते है और उसका अनुसरण सांख्यवादी लोग करते है। जब मनुष्यकी समझमे यह ज्ञान-योग अच्छी तरह आ जाता है, तब जीवात्मा उस परमात्माके साथ मिलकर एक हो जाता है। दूसरेको कर्मयोग कहते है। जिन्हे यह कर्मयोग सिद्ध हो जाता है, वे उचित आचार करनेवाले साधक पुरुष उपयुक्त समय आने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं। पहले तो ये दोनो मार्ग अलग-अलग जान पडते हैं, परन्तु यदि परिणामका विचार किया जाय तो अन्तमे ये दोनो मिलकर एक हो जाते है, एक तो पककर तैयार भोजन रहता है और एक बिना पका हुआ और कच्चा अन्न रहता है। परन्तु जिस प्रकार इन दोनोका अन्तिम कार्य क्षुधा-की शान्ति करना है, अथवा जिस प्रकार पूर्ववाहिनी और पश्चिम-वाहिनी दो नदियाँ अलग अलग दिखाई पडती हैं, पर फिर भी समुद्रमे मिलने पर वे दोनो जिस प्रकार अन्तमे एकही स्वरूप प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार ज्ञानयोग और कर्म-योग ये दोनों सम्प्रदाय एक ही परमार्थका साधन करानेवाले है, और केवल अधिकारीके विचारसे उनका उपासना प्रकार अलग अलग है। देखो, पक्षी तो उडकर चट फलके पास पहुँच जाता है, पर क्या मनुष्य भी उसीप्रकार उडकर फल तक पहुँच सकता है? वह तो धीरे धीरे एक एक डालके सहारेसे, अपने दृढ निश्चयकी सामर्थ्यसे, कुछ समयमे मार्ग का अतिक्रमण करके ही अन्तमे फल प्राप्त करता है। बस उसी पक्षीवाली प्रणालीसे साख्य तो ज्ञानके बलसे तत्काल मोक्ष दिलवाता है, पर कर्मयोगी ऐसे कर्मोका आच-रण करता है जो उसके स्वधर्मके लिए उचित और उपयुक्त होते है, और तभी सुभीते से उचित समय आने पर अर्थात् ज्ञानोत्तर कालमे वह मोक्ष प्राप्त करता है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

"आरम्भमे जिन उचित और विहित कर्मोका आचरण करना आवश्यक होता है यदि उन कर्मोको बिना किए ही कोई यह कहे कि मैं सिद्धोकी तरह कर्म छोड दूँगा, तो उस कर्महीनके किये वह निष्कर्मता कभी हो ही नही सकेगी, क्योकि जो कर्त्तव्य प्राप्त हो चुके हैं, उन्हीको छोड बैठना और तब यह समझ लेना कि इतनेसे ही निष्क-र्मता सिद्ध हो गई, बडी मूर्खता है। देखो, जहाँ नदीके प्रबल प्रवाहके कारण उस पार जाना सकटपूर्ण हो, वहाँ नावको छोड देना क्या कोई बुद्धिमत्ताका काम होगा? अथवा मानलो कि क्षुधा शान्त करनेकी इच्छा है। उस समय रसोई क्यो न पकाई जाय? अथवा यदि रसोई पककर तैयार हो तो वह खाई क्यो न जाय? जब तक वासना नष्ट नही होती, तब तक कर्म सदा साथ ही लगे रहते है। हाँ, जब मनुष्यको अखंड सन्तोष प्राप्त होता है, तब सब कर्म आपसे आप ही बन्द हो जाते है। इसलिए हे अर्जुन, तुम यह समझ रखो कि जो हृदयसे निष्कर्मताका साधन करनेकी इच्छा रखता

को नही लगती, उसी प्रकार ऐसे पुरुष शरीरमे रहते हुए भी कर्मके बन्धनोसे नही वँधते—कर्मके बन्धन उन्हे स्पर्श नही करते।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

"इस संसारमे कर्मकी बाधा उन्ही लोगोके लिए होती है, जिन पर गुणोकी छाप पूरी तरहसे वैठी होती है और जो अपने सव काम मायाके तन्त्रके अनुसार करते है, क्योकि गुणोके आश्रयसे इन्द्रियाँ अपने स्वाभाविक धर्मके कारण जो व्यवहार करती है, उन पराये व्यवहारोको ऐसा पुरुप वलपूर्वक अपने उपर लाद लेता है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

"इसलिए तुम सब प्रकारके विहित कर्म करके मुझे अर्पित करो, परन्तु अपनी चित्त-वृत्तिको बराबर आत्म-स्वरूप पर जमाये रहो। और इस प्रकारका अभिमान कभी अपने मनमे मत आने दो कि "यह कर्म है", "मै कर्ता हूँ" और "इन कर्मो-का करनेवाला मैं हूँ"। वस इतनेसे ही सव काम हो जायगा। तुम इस शरीरके फेरमे मत पडो, सब प्रकार की स्वार्थपूर्ण कामनाएँ छोड दो और फिर जिस समय जो भोग उपस्थित हो, उन सवका नि शक होकर उपभोग करो। अव तुम हाथमे धनुप उठाओ, इस रथ पर चढ आओ और शान्त तथा प्रसन्न चित्तसे क्षात्रवृत्तिको अगीकार करो। संसारमे अपनी कीर्त्तिका विस्तार करो, स्वधर्मका सिर ऊँचा करो और पृथ्वीका यह भार उतार दो। हे अर्जुन, अव तुम सब शंकाएँ छोड दो और इस युद्धमे मन लगाओ। यहाँ तक कि युद्धके सिवा और किसी विपयकी चर्चा भी मत करो।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयतो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

जो लोग मेरे इस निश्चित और निर्वाध मतको आदरपूर्वक स्वीकार करेगे और पूरी श्रद्धासे इसके अनुसार आचरण करेगे, वे सव कर्मोका आचरण करते रहने पर भी कर्म-वन्धनसे अलिप्त रहेगे। इसीलिए यह मत निस्सन्देह आचरण करनेके योग्य ही है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढास्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

"परन्तु जो लोग मायाके फेरमे फँसे रहेगे और इन्द्रियोकी आज्ञाके अनुसार चलते हुए मेरे इस मतका धिक्कार या तिरस्कार करेगे, जो इस मतको सामान्य समझेगे अथवा इसकी ओर तुच्छ दृष्टिसे देखेगे अथवा उद्दडतापूर्वक यह कहेगे कि यह कोरी वकवाद है, उनके सम्वन्धमे तुम निस्सन्देह यह समझ लो कि वे मोहके मदसे मत्त है, विपयोके विषसे भरे हुए है और अज्ञानके कीचडमे डूवे हुए है। जिस प्रकार

हो, उसे उन कर्मोका परित्याग नही करना चाहिए जो उसके स्वधर्मके लिए विहित है। और फिर एक बात यह है कि कुछ लोग यह भी कहते है कि यदि अपनी इच्छाके अनुसार कर्म किये जायँ तो वे कर्म सिद्ध हो जाते है, और यदि उनका परित्याग कर दिया जाय तो फिर वे कर्म रह ही नही जाते, उनका नाश हो जाता है। परन्तु ऐसी बाते कहना व्यर्थ और पागलपनका काम है। यदि तुम चाहो तो इस बात पर अच्छी तरह विचार करके इसे समझ सकते हो। पर यह बात निःसन्देह अपने ध्यानमे रखो कि कर्मका केवल त्याग कर देनेसे ही मनुष्यका वास्तवमे उससे छुटकारा नही हो जाता।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

"जब तक गुणोकी जननी मायाका आधार बना हुआ है, तब तक हम लोग अपने अज्ञानके कारण जो काम करते है, वे सब आपसे आप गुणो पर अवलम्बित रहते है। फिर यह भी देखो कि हमारे जो-विहित कर्म है, उन्हे यदि हम अपने मनके किसी आवेगके कारण छोड भी दे तो भी क्या इन्द्रियोके स्वाभाविक धर्म मर जाते है? कान क्या कभी सुननेका काम छोड देते है? या आँखोंका तेज नष्ट हो जाता है? या नाकके छेद बन्द हो जाते है और वे सूँघना छोड देते है? अथवा क्या मानसिक आवेगके कारण प्राणवायु और अपान-वायुकी गति खडित होती है या चित्त निर्विकल्प हो जाता है या भूख-प्यास आदि इच्छाओका अन्त हो जाता है? अथवा जाग्रति और स्वप्न की अवस्थाएँ नष्ट हो जाती है अथवा पैर चलना भूल जाते है? पर इन सब बातोको जाने दो क्या जन्म और मृत्यु भी कभी टल सकती है? यदि इनमेसे एक भी बात नही हो सकती, तो फिर कर्मोको छोड देनेसे ही क्या होगा? तात्पर्य यह कि जब तक मायाका आधार बना हुआ है, तब तक कर्मोका त्याग हो ही नही सकता। मायाके स्वभाव-बलसे ही सब कर्म आपसे आप होते रहते है। इसलिए जब तक मायाका अस्तित्व बना है, तब तक चाहे किसी प्रकारके निग्रहमे अन्तःकरणको जकडकर बन्द कर दिया जाय, पर वे सब कृत्य निष्फल ही होते है। देखो, जब हम रथ पर बैठते है, तब चाहे हम कितने ही निश्चल होकर क्यो न बैठे, पर फिर भी परतन्त्रताके कारण हम हिलते-डुलते रहते ही हैं। सूखे हुए पत्ते आप तो हिलते-डुलते नही, पर जब जोरकी हवा या आँधी चलती है, तब वे भी आकाशमे इधर-उधर उडने लगते है। इसी प्रकार मायाके आधारसे कर्मेन्द्रियाँ विचलित होती है, जिसके कारण उस पुरुषके हाथसे भी आपसे आप कर्म होते रहते है, जो अपने निग्रहके कारण निरन्तर निष्कर्म रहना चाहता है। इसीलिए जब तक मायाका सहवास बना हुआ है, तब तक कर्मोका कभी त्याग हो ही नही सकता। ऐसी अवस्थामे जो लोग यह कहते है कि हम कर्मोका त्याग करेंगे, वे अपना हठ दिखलानेके सिवा और कुछ भी नही कर सकते।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

प्रेतके हाथमें दिया हुआ रत्न व्यर्थ जाता है अथवा जन्मान्धको प्रभात होनेका विश्वास नही होता, अथवा जिस प्रकार चन्द्रोदयका कौवेके लिए कोई उपयोग नहीं होता, उसी प्रकार कर्म-योगका यह उपदेश भी मूर्खको अच्छा नही लगता। इसी लिए वे लोग इस मतका आदर नही करते, बल्कि उलटे इसकी निन्दा करने लगते हैं। और ऐसा होना बिलकुल स्वाभाविक ही है, क्योकि पतंग कभी दीपकका प्रकाश सहन नही कर सकता। या तुम्ही वतलाओ कि वह सहन कर सकता है? जिस प्रकार पतग दीपकको आलिंगन करने जाता है और सदा उसीमे जल मरता है, उसी प्रकार विषयोका सेवन करनेवाले ऐसे मूर्ख भी आत्मघात ही होते है। इसी प्रकार, भाई अर्जुन, जो लोग परमार्थ सम्बन्धी इन बातोसे घबराते हो, उनसे कभी इस विषयमे वात न करनी चाहिए।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानिः निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

''इसलिए कभी किसी ज्ञानी पुरुषको यह उचित नही है कि वह मनकी उमंग, मौज या रंजनके लिए इन इन्द्रियोका लालन-पालन करे और इनका हौसला बढावे। भला तुम्ही वतलाओ कि क्या कभी सर्पके साथ खेला जा सकता है? अथवा वाघके साथ उठना-बैठना हो सकता है? या हलाहल विष पीकर कोई जीता रहकर उसे पचा सकता है? देखो, पहले यदि विनोदमे कही आग लगा दी जाय तो फिर जब वह भडक उठती है, तव उसका नियंत्रण नही हो सकता। इसी प्रकार इन्द्रियोका लालन-पालन करने और सदा उनके फेरमे पडे रहनेसे बहुत बडा संकट आ उपस्थित होता है। हे अर्जुन, यदि सचमुच यह शरीर पराधीन है तो फिर हम इसके लिए अनेक प्रकारके भोगोका क्यो सग्रह करे? हम क्यो अनेक प्रकारके कष्ट सहकर नाना प्रकारके विषयोका सम्पादन करे और क्यो उन विषयोसे दिन-रात इस शरीरका पालन करते रहे? सब तरहसे कष्ट भोगकर और अनेक प्रकारकी सम्पत्तियाँ प्राप्त करके और इस सम्पत्तिके सम्पादनके लिए स्वधर्मको भी भूलकर किस लिए इस शरीरको पुष्ट करे? यह शरीर तो पांचभौतिक है और अन्तमे यह पंचभूतोमे ही जाकर मिल जायगा। जब वह इस प्रकार पचत्वको प्राप्त हो जायगा, तो फिर हमे अपने इन सब परिश्रमोका फल कहाँ मिलेगा? इसलिए केवल शरीरका पोषण करना तो स्पष्ट रूपसे आत्मघात करना ही है। इसलिए हे अर्जुन, केवल पिंड-पोषणमे तुम कभी मन मत लगाओ।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

''यदि साधारण दृष्टिसे देखा जाय तो यदि हम इन्द्रियोको उनकी रुचिके अनुसार सब विषय देते चले तो मनको सुख होता है। पर देखो, जब कोई यात्री किसी नगरसे चलता है और रास्तेमें उसे भले मानसके वेषमे कोई ठग मिल जाता

"जो लोग विहित कर्मोका परित्याग कर देते है और केवल कर्मेन्द्रियोकी गति-को रोककर निष्कर्म होनेका रूपक बनाते है, उनसे कर्मोका त्याग नही होता, क्योकि उनके मनमे कर्मोका विचार वना ही रहता है। जिस प्रकार कोई दरिद्र पुरुष अपना ऊपरी या बाहरी ठाट-वाट बनाये रहता है, उसी प्रकार ऐसा पुरुप निष्कर्मताका खाली ढोग बनाये फिरता है। हे अर्जुन, इसमे कोई सन्देह नही कि ऐसे लोगोको विषय-वासनामे फँसे हुए ही समझना, चाहिए। अव मै तुम्हे प्रसगवश ऐसे व्यक्तिके लक्षण बतलाता हूँ जो सब प्रकारकी आशाओ और इच्छाओ से मुक्त रहते है। वह सुनो।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

"जो पुरुष अपने अन्त करणमे निग्रही होता है, तो परभात्म-स्वरूपमे मिलकर एक हो जाता है, परन्तु फिर भी जो सामान्य ससारी मनुष्योकी भाँति ऊपरी सव व्यवहार करता है, जो अपनी इन्द्रियोको तो विषयोका सेवन करनेकी स्वतन्त्रता दे देता है, परन्तु जिसके मनमे विषयोका भय नही होता और जो वे सव विहित कर्म करता चलता है जो उसके सामने उपस्थित होते है, वह कर्मेन्द्रियोके सव कर्म करते रहने पर भी उनका नियमन करता है, पर उन कर्मोके द्वारा होनेवाले विकारोसे व्याप्त नही होता। वह कभी किसी कामनाके वशमे नही होता और मोहका मल उसे नही लगता। जिस प्रकार पानीमे तैरता रहनेवाला कमलका पत्ता पानीसे नही भीगता, उसी प्रकार वह भी निर्लिप्त रहकर सव प्रकारके लौकिक व्यवहार करता है और देखनेमे सामान्य लोगोके ही समान जान पडता है। और जिस प्रकार पानी-के सयोगसे सूर्यका बिम्व पृथ्वी परकी वस्तुओके समान दिखाई देता है, उसी प्रकार सामान्य दृष्टिसे देखने पर वह भी साधारण मनुष्योके ही समान जान पडता है। पर यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो उसकी सच्ची स्थितिकी पूरी पूरी थाह ही नही लगती। जो पुरुप इस प्रकारके लक्षणोसे युक्त दिखाई दे, उसीको सव प्रकारकी आशाओ और इच्छाओके पाशसे मुक्त समझना चाहिए। हे अर्जुन, इसी प्रकारके मुक्त पुरुषको "योगी" की विशिष्ट सज्ञा देनी चाहिए। इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम भी इसी प्रकारके योगी वनो। तुम अपने मनका नियमन करो और अपने अन्त करणको शान्त और स्तब्ध होने दो, और तब कर्मेन्द्रियोको भले ही आनन्द-पूर्वक विषयोमे विचरण करने दो। (फिर तुम्हे उनके द्वारा वाधा होनेका कुछ भी डर न रह जायगा।)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

यदि कोई निष्कर्मताका साधन करना चाहे तो वह इस संसारमे सम्भव ही नही है। अव इस बातका विचार तुम आप ही कर लो कि निपिद्ध कर्म करने चाहिए या विहित कर्म। इसी लिए जो जो कर्म उचित हो और सामने आ पडे वे सव निष्काम मनसे करने चाहिएँ। हे अर्जुन, इस सम्वन्धमे एक और विलक्षण वात है जो अभी तक तुम्हारे ध्यानमे नही आई है। वह यह कि इस प्रकार आपसे आप जिन कर्मोका आचरण किया जाता है, वे मोक्ष-दायक होते है। तुम इस बातका

है, तब कुछ देरके लिए—जब तक यात्री सुरक्षित मार्ग पर रहता है, तब तक—उस चोरका साथ भी सुखद जान पडता है। अथवा किसी अवसर पर कदाचित् भूलसे विषकी मधुरता भी आदमीको अच्छी लग सकती है। उस समय यदि परिणामका विचार न किया जाय तो जिस प्रकार उस भूलसे मनुष्यके प्राण चले जाते है, उसी प्रकार 'इन्द्रियोमे जो विषय-वासना होती है, वह सहजमे मनुष्यको सुखका चस्का लगा देती है। जिस प्रकार मासकी सहायतासे वन्शी मछलीको भ्रममे डाल देती है, परन्तु उस मछलीको यह पता नही रहता कि इस मासके अन्दर मेरे प्राण लेनेवाला काँटा छिपा हुआ है, क्योकि वन्शीका वह काँटा माससे ढँका हुआ रहता है, ठीक उसी प्रकारकी बात इन विषय-वासनाओके सम्बन्धमे भी है। मनमे विषयोकी आशा करते ही मनुष्य क्रोधके वशीभूत हो जाता है। जिस प्रकार शिकारी जानबूझकर अपने शिकारको चारो तरफसे घेरकर उस स्थान पर ले जाता है, जहाँ उस शिकारका घात हो सकता है, उसी प्रकार विषय-वासनाओका भी यही काम है कि वे बुद्धिको पकडकर नष्ट कर डालती है। इसलिए हे पार्थ, काम और क्रोध दोनो ही महाघातक है और तुम कभी इनका सग न करो। तुम काम और क्रोधका साथ मत करो, यहाँ तक कि अपने मनमे इनकी स्मृति भी मत आने दो। अपने आत्मसुखके अनुभवका रस नष्ट मत होने दो।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

"अपना स्वधर्म चाहे कठिन ही क्यो न जान पडे, परन्तु फिर भी उसका आचरण करनेमे ही कल्याण है। दूसरेका आचार चाहे देखनेमे कितना ही अच्छा क्यो न जान पडे, तो भी हमे केवल अपना ही आचार स्थिर रखना चाहिये। मान लो कि किसी शूद्रके यहाँ सब प्रकारके अच्छे अच्छे पक्वान तैयार हुए है। अब चाहे कोई ब्राह्मण कितना ही दुर्बल क्यो न हो, फिर भी तुम्ही बतलाओ कि क्या उस ब्राह्मणको कभी वे पक्वान खाने चाहिएँ? इस प्रकारका अनुचित कृत्य क्यो किया जाय? जो वस्तु स्वीकृत करने के योग्य न हो, उसकी इच्छा ही क्यो की जाय? और यदि कभी इस प्रकारकी इच्छा हो भी जाय, तो भी क्या उस अग्राह्य वस्तुको अगीकार करना चाहिये? हे अर्जुन, तुम इन सब बातोका बहुत अच्छी तरह विचार करो। दूसरेका सुन्दर पक्का भवन देकर अपनी बनाई हुई फूसकी झोपडी क्यो गिराई जाय? पर ऐसे प्रश्न बहुत हो चुके। अपनी स्त्री यदि कुरूपा भी हो, तो भी जिस प्रकार उसीकी सगति अपने लिए कल्याणकारिणी होती है, उसी प्रकार स्वधर्म चाहे कितना ही सकटमय क्यो न हो और उसका आचरण करना कितना ही कठिन क्यो न हो, तो भी वह हमे परलोकमे सुख देनेवाला ही होता है। चीनी और दूधकी मिठास तो प्रसिद्ध ही है, परन्तु जिसे कृमि रोग हो, उसके लिए इनका सेवन हानिकर ही होता है। अब जिसे कृमि रोग हो, वह इनका सेवन ही क्यो करे? इतना

ध्यान रखो कि जो व्यक्ति शास्त्रोकी आज्ञाके अनुसार और स्वधर्मके अनुरूप सब कर्म करता है, निश्चयपूर्वक वह उन्ही कर्मोकी सहायतासे मोक्ष भी प्राप्त करता है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाचप्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥

"भाई अर्जुन, अपना जो स्वधर्म होता है, उसीका नाम "नित्य यज्ञ" है और उसका पालन करनेमे पापका लेश मात्र भी नही होता। जब यह स्वधर्म छूट जाता है और मनमे किसी ऐसे-वैसे परधर्मके प्रति प्रवृत्ति या रुचि उत्पन्न होती है, तभी मनुष्य ससार अर्थात् जन्म और मरणके बन्धनमे पडता है। इसी लिए जो पुरुप सदा स्वधर्मके अनुसार कर्मोका आचरण करता है, उसके द्वारा उन कर्मोके आचरणमे ही निरन्तर यज्ञ-कर्म होते रहते है, और इसी लिए जो ऐसे कर्म करता है, उसे ससारके झमेले वन्धनमे नही डाल सकते। यह जो सारा लोक है, वह मायाके कारण ही मोहमे फँसा हुआ है और उससे स्वधर्माचरण रूपी नित्य यज्ञ नही होता, और इसी लिए वह कर्मके बन्धनोमे जकडा हुआ है। हे अर्जुन, अब मै इसी विपयकी एक कथा तुम्हे सुनाता हूँ। जिस समय ब्रह्माने इस सृष्टि और सब पदार्थोकी रचना की थी, उस समय उसने समस्त मनुष्योका इसी नित्य यज्ञके साथ अर्थात् विहिताचारके धर्मके साथ निर्माण किया था। परन्तु यह नित्याचारका धर्म गहन था और इसी लिए वह अज्ञान प्राणियोकी समझमे नही आता था। उस समय सब मनुष्योने मिलकर ब्रह्मासे प्रार्थना की कि हे देव, वह कौन-सा ऐसा आधार है, जिससे हमारा जीवन सार्थक हो और सब काम ठीक तरहसे चले? उस समय ब्रह्माने मनुष्योसे कहा था—'तुम लोगोके लिए तुम्हारे अलग अलग वर्णोके अनुसार स्वधर्म नामक यज्ञकी व्यवस्था की गई है। तुम लोग इसीकी उपासना या आचरण करो। बस इसीमे तुम्हारी सब इच्छाएँ आपसे आप पूरी होती रहेगी। तुम लोगोको व्रतो और नियमोके फेरमे पडनेकी आवश्यकता नही, तपस्या करके शरीर-दंडको सुखानेकी भी आवश्यकता नही, और दूर दूरके तीर्थोकी यात्रा करनेकी भी आवश्यकता नही। मोक्षके योग आदि उपायो, अनेक प्रकारकी कामिक उपासनाओ और मन्त्र-यन्त्रके प्रयोगोके फेरमे भलेही कोई पड जाय, पर तुम लोग अनेक प्रकारके देवताओ का भजन भी बिलकुल मत करो। केवल स्वधर्मका आचरण करो और उनके कारण आपसे आप होनेवाला यज्ञकरते चलो। तुम अपने मनमे किसी प्रकारका स्वार्थ मत रखो और केवल स्वधर्मका अनुष्ठान करो। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री एकनिष्ठ होकर और निष्काम बुद्धि से अपने पतिकी आराधना करती है, उसी प्रकार इस यज्ञकी आराधना करना ही तुम लोगोका एक मात्र कर्तव्य है।' सत्यलोकके अधिपति ब्रह्माने यह भी कहा था— हे मनुष्यो, यदि तुम लोग भक्तिपूर्वक इस स्वधर्मका सेवन करोगे, तो यह कामधेनुके समान तुम्हारी सभी इच्छाएँ पूरी करेगा। और तब यह कभी तुम लोगोको निराधार नही छोडेगा।"

होने पर भी यदि वह रोगी दूध और चीनीका सेवन करेगा तो उसकी सुखकी इच्छा कभी पूरी नही होगी, क्योंकि अन्तमे वह उसके लिए कुपथ्य ही सिद्ध होगा। इस-लिए यदि हम चाहते हो कि हमारा कल्याण हो, तो हमे ऐसे कर्मोका कभी आचरण नही करना चाहिए जो दूसरोके लिए भले ही उचित हो; पर स्वयं हमारे लिए जो अनुचित हों। यदि स्वधर्मका आचरण करनेमे प्राण भी चले जायँ, तो वह भी अच्छा है, क्योंकि वह दोनो ही लोकोमे सदा श्रेष्ठ ही सिद्ध होगा।" यही सब बातें देवेश्वर श्रीकृष्णने कही। इसपर अर्जुनने प्रार्थना की—'हे देव ! आपने जो कुछ कहा, वह सब मैने अच्छी तरह सुना। तो भी मेरे मनमे कुछ बाते आई है जो मैं आपसे पूछता हूँ।

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

"हे देव, ज्ञाता लोग भी आत्म-वृत्तिकी स्थितिसे भ्रष्ट होते है और मार्ग छडो-कर इधर-उधर भटकते फिरते है, सो ऐसा क्यों होता है ? जो लोग सर्वज्ञ हो चुके हो, जो अच्छी तरह समझते हो कि ग्राह्य क्या है और अग्राह्य क्या है, वे लोग किस कारणसे पर-धर्मको स्वीकार करके स्वधर्मका उल्लंघन करते है ? जिस प्रकार अन्धा धान्य और भूसेको अलग-अलग नही कर सकता, उसी प्रकार ग्राह्य और अग्राह्यका निर्वाचन करते समय कभी कभी ज्ञाताओको भी क्यो गडवडीमे पडते हुए देखा जाता है ? जो अपने स्वाभाविक कर्मके सब झगडे छोड देते है, वे भी सारे संसारके बखेडे अपने गलेमे लगाकर तृप्त नही होते। जिन लोगोको वास्तवमे वनोमे रहना चाहिये, वे लोग भी आकर मनुष्योके निवास-स्थानोमें रहने लगते है। यदि वे स्वयं आडमे रहते, तो वे पापोको पूर्ण रूपमे टाल सकते थे। फिर भी वही लोग स्वयं ही जान-बूझकर पापोका आचरण करने लगते है। मन जिस वस्तुका तिरस्कार कर देता है, उसीका वह ध्यान लगाये रहता है, और यदि उसे कोई मना करने जाय तो वह उलटे लडनेको तैयार होता है। देखनेमे ऐसा जान पडता है कि इन ज्ञानियों पर भी बलात्कार हुआ है। तव यह वलात्कार करनेकी सामर्थ्य किसमे है ? हे श्रीकृष्ण, आप कृपा कर यही वात मुझे वतला दे।"

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

इसपर योगियोके निष्काम मनमे भी रमण करनेवाले पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, मैं वतलाता हूँ, सुनो। भाई यह वलात्कार करनेवाले काम और क्रोध ही होते है। इनमे करुणाका लेश भी नही होता। ये कालके समान निष्ठुर होते है। ये ज्ञान-रूपी सम्पत्तिको घेरकर बैठनेवाले काल-सर्प है, अथवा ये विषयोकी खाईमेके बाघ है अथवा इन्हे ईश्वर-भक्तिके मार्गमे डाका डालनेवाले प्राणघातक डोम ही समझना चाहिये। ये शरीर रूपी किले के पत्थर है अथवा इन्द्रिय-रूपी वस्तीके कोट

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ १२॥

"जब तुम इस स्वधर्माचरण रूपी यज्ञसे समस्त देवताओ को सन्तुष्ट करोगे, तब वे देवता तुम्हे सभी इच्छित वस्तुएँ प्रदान करेगे। जब इस स्वधर्माचरण रूपी पूजा से तुम देवताओका पूजन करोगे, तब वे देवता निश्चय ही तुम्हारा योग-क्षेम करेगे, तुम्हे किसी प्रकारकी त्रुटिका अनुभव नही करने देगे। जब तुम इस प्रकार देवताओ-का भजन करोगे, तब वे देवता तुम पर सन्तुष्ट होगे और इस प्रकार तुम दोनोमे प्रेम-भाव उत्पन्न होगा। फिर तुम जो काम करना चाहोगे, वही सिद्ध हो जायगा और तुम्हारे मनकी सभी कामनाएँ पूरी होगी। तुम्हारी वात कभी खाली नही जायगी। तुममे आज्ञा करने की शक्ति आ जायगी और सब प्रकारकी सिद्धियाँ तुम्हारी आज्ञाकी याचना करने लगेगी। जिस प्रकार ऋतु श्रेष्ठ वसन्तके द्वार पर वन-शोभा सदा फल-भारका सौन्दर्य धारण करके उपस्थित रहती है, उसी प्रकार स्वयं दैव सब प्रकारकी सुख-समृद्धि अपने साथ लेकर आप ही तुम्हे ढूँढता हुआ आवेगा। भइया, जब तुम स्वधर्म पर निष्ठा रखकर इस प्रकार आचरण करोगे, तब सब प्रकारसे सुखी और क्लेश-हीन हो जाओगे। परन्तु सब प्रकारकी सम्पदाएँ हाथ आ जाने पर जो विषयोके माधुर्यके प्रलोभनमे पडकर इन्द्रियोके वशमे हो जायगा, और स्वधर्म-यज्ञसे प्रसन्न होनेवाले देवताओकी दी हुई भरपूर सम्पत्तिको जो उचित मार्गमे न लगावेगा और विश्वके प्रभुका भजन न करेगा, जो अग्निको आहुति न देगा, देवताओ-की पूजा न करेगा, ब्राह्मणोको यथा-समय भोजन न करावेगा, जो गुरुकी भक्ति न करेगा, अतिथियो और अभ्यागतोका सत्कार न करेगा, अपनी जाति और गोत्रके लोगोको सन्तुष्ट न रखेगा, और इस प्रकार जो स्वधर्मके आचरणसे पराङ्मुख होगा और मिली हुई सम्पत्तिके कारण अभिमानसे अन्धा होकर केवल सुखोके उपभोगमे ही फँसा रहेगा, उसका बहुत बडा घात होगा, जिससे हाथमे आया हुआ सारा वैभव नष्ट हो जायगा, और जो सुखोपभोग उसे प्राप्त होगे, उन्हे भी वह न भोग सकेगा। जिस प्रकार आयुष्य समाप्त हो जाने पर शरीरमे चेतना-शक्ति नही रह जाती अथवा अभागे पुरुषके घरमे लक्ष्मी नही ठहरती, उसी प्रकार यदि स्वधर्माचरणका लोप हो जाय तो समझ लेना चाहिये कि समस्त सुखोका आधार ही टूट गया। जिस प्रकार दीपकके बुझ जाने पर उसके साथ ही साथ प्रकाशका भी नाश हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ स्वधर्म का उच्छेद हुआ, वहाँ स्वतन्त्रताका भी ठिकाना नही रह जाता।" ब्रह्माने यह भी कहा था—'इसलिए हे प्रजाजन, जो स्वधर्मका परित्याग करेगा, उसे काल दण्ड देगा और उसे चोर ठहराकर उसका सर्वस्व हरण कर लेगा। फिर सब

है। इनका अधिकार सारे संसार पर छाया हुआ है। ये रजोगुणसे व्याप्त मन्त्रमेके राक्षस है और अज्ञानके अन्नसे ही अपना निर्वाह करते है। वास्तवमे इनकी उत्पत्ति तो रजोगुणसे हुई है, पर जान पडता है कि तमोगुणको ये बहुत अच्छे लगते हैं, इसी लिए तमोगुणने प्रमाद और मोह आदि अपने स्वभाव-धर्म इन्हे दे दिये हैं। ये काम और क्रोध प्राण लेनेवाले है, इसलिए मृत्युकी राजधानीमे इनका बहुत सम्मान है। जब एक बार इनकी भूख शुरू होती है, तब समस्त विश्व भी इनके एक ग्रास भरको भी नही होता। ज्यो-ज्यो इनका हाथ चलता जाता है, त्यो-त्यो इनकी आशा भी उत्तरोत्तर बढती जाती है। इसी प्रकार आशाकी छोटी बहन भ्रान्ति भी इन्हे बहुत प्रिय है। वह भ्रान्ति ऐसी है कि जब यह एक बार सहजमे अपनी मुट्ठी खोलती है और उसमे कुछ लेना चाहती है, तो फिर उस मुट्ठीमे चौदहों भुवनोका भी पता नही चलता। यह भ्रान्ति ऐसी विलक्षण है कि जब यह रसोईका खेलवाड करती है, तब तीनो लोकोको सहजमे हजम कर जाती है। तृष्णाका निर्वाह भी इसीकी दासताके बल पर होता है। मोह सदा इन काम-क्रोधका बहुत सम्मान करता है और अहकार भी इनके साथ लेन-देनका व्यवहार रखता है और इसी लिए वह जिस तरह चाहता है, उसी तरह सारे ससारको नचाता रहता है। जो दम्भ सदा सत्यका सार निकालकर असत्यताका भूसा भरता है, वह भी इन्ही सबके ससार-मे निवास करता है। इन्हीने शान्ति को लूटकर माया-रूपी भिखमगिनका शृगार किया है और उससे साधु-मडली को भ्रष्ट किया है। इन्ही काम और क्रोधने विवेक-का आश्रय-स्थल उजाडा है, वैराग्यके शरीर परका चमडा उधेड डाला है और जीते जी उपशमका गला घोट डाला है। इन्होने सन्तोषरूपी वन को उजाडा है, धैर्य का कोट तोड कर गिराया है और आनन्द का पौधा उखाडकर फेक दिया है। इन्हीने उपदेशकी एकता नष्ट की है, सुखके अक्षर पोछ डाले हैं—उनका नाम भी नही रहने दिया है—और संसारके अन्त करणमे तीनो तापोकी आग लगा दी है। ज्यो ही ये किसीके शरीर या अग मे आकर लगते हैं, त्यो ही जीव के साथ भी चिमट जाते हैं और तब ब्रह्मा आदिको भी ढूंढे नही मिलते। ये चैतन्य तत्वके पास ही ज्ञानकी पक्तिमे घुसकर जा बैठते है, और जब एक बार अपना कार्य आरभ कर देते है, तब फिर किसी प्रकार रोके नही रुकते। ये बिना पानी के ही डुबा देते हैं, बिना आग के ही जला डालते है और बिना बोले ही प्राणियोको अपने चगुलमे फँसा लेते हैं। ये बिना शस्त्रो के ही मार डालते है, बिना डोरीके ही जकड लेते है और शर्त्त बदकर ज्ञानवान् पुरुषोका भी वध कर डालते है। ये बिना कीचड के ही जीवोको नीचे धँसा देते है, बिना जाल के ही पकड लेते है और अपने उत्कट बलके कारण किसीसे हार नही मानते।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

दोप चारो ओरसे आकर उसीके गले पड जायँगे; और जिस प्रकार रातके समय श्मशानमे भूत-प्रेत आदि प्रकट होते है, उसी प्रकार त्रैलोक्यके सारे दु ख, अनेक प्रकारके पातक और सब प्रकारकी दीनताएँ आकर उस पुरुषमे निवास करने लगेगी। जो पुरुष वैभवके मदमे अन्धा हो जाता है, उसकी ऐसी ही दशा होती है। और फिर चाहे वह कितना ही रोए और कितना ही कलपे, परन्तु कल्पान्तमें भी उसका छुटकारा नही होता। इसीलिए तुम लोग स्वधर्म कभी मत छोडो और इन्द्रियोको इधर-उधर मत भटकने दो।' वस यही उपदेश ब्रह्माने मानवी जीवोको दिया था। ब्रह्माने यह भी कहा था कि जलचर प्राणी ज्यो ही जलके बाहर निकले, त्योही समझ लेना चाहिये कि उसकी मृत्यु आ गई। इसी प्रकार स्वधर्मका भी कभी किसीको परित्याग नही करना चाहिये, नही तो सर्वस्व नष्ट हो जायगा। इसीलिए मैं वार-वार तुम लोगोसे यही कहता हूँ कि तुम लोग सदा अपने-अपने उचित कर्मोके आचरण मे ही लगे रहो।"

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

"जो पुरुष निष्काम बुद्धिसे स्वधर्मके अनुसार उचित कार्योंमे अपनी सम्पत्तिका व्यय करता है, गुरु, गौ और अग्निकी पूजा करता है, यथा-समय ब्राह्मणोकी सेवा करता है और पितरोकी तृप्तिके लिए श्राद्ध आदि कर्म करता है, और इस प्रकार स्वधर्मका आचरण करके यज्ञोका सम्पादन करता है, जो पंचमहायज्ञ आदि करके अग्निमे आहुति समर्पित करता है और तव सहजमे जो कुछ वचा रहता है, वही भाग यह समझकर अपने कुटुम्बके लोगोके साथ सुखपूर्वक सेवन करता है कि यही भाग पापोंका नाश करनेवाला है और यही भक्षण करनेके योग्य है, जो पुरुष इस प्रकार यज्ञोके हुत-शेष भागका उपभोग करता है, उसे सव पातक उसी प्रकार छोड जाते हैं, जिस प्रकार अमृतके प्राप्त होने पर महारोग मनुष्यको छोड़ जाते है। अथवा जिसे निश्चित रूपसे तत्व-ज्ञान हो जाता है, वह जैसे नाम मात्रको भी भ्रांतिमे नही पडता, उसी प्रकार यह शेष-भोगी भी पापोंके जालमे नही पडता। इसलिए स्वधर्मका आचरण करके जो कुछ सम्पादित किया जाय, उसका व्यय भी स्वधर्मके आचरणमे ही होना चाहिये; और तव जो भाग वच रहे, उसीसे सन्तोषपूर्वक निर्वाह करना चाहिये।" इस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको यह प्राचीन कथा सुनाई थी और कहा था—"हे अर्जुन, तुम यह स्वधर्म यज्ञ अवश्य करो, इसे विना किये मत रहो। जो लोग इस शरीरको ही आत्मा मानते है और कहते है कि विषयोका स्वार्थ-बुद्धिसे उपयोग करना चाहिये और उस उपभोग के पीछे जिन्हे और किसी वातका ध्यान ही नही रह जाता, उन वहके हुए मूर्खोको इस नित्य-यज्ञके साधनका रहस्य मालूम नही होता और वे केवल अहंकारपूर्वक सुखोपभोग भोगनेकी ही इच्छा करते है। जो लोग केवल ऐसे

"जिस प्रकार चन्दन की जड़में साँप लिपटा रहता है अथवा गर्भाशयका आँवल गर्भको घेरे रहता है, अथवा जिस प्रकार प्रभाके बिना सूर्य, धुएँ के बिना अग्नि अथवा मलके बिना दर्पण कभी नही दिखाई पड़ता, उसी प्रकार आज तक मेरे देखने मे ऐसा ज्ञान नही आया, जिसमे काम और क्रोधकी बिलकुल गन्ध न हो ! जिस प्रकार छिलके के नीचे अन्नका दाना छिपा हुआ रहता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वयं शुद्ध होने पर भी काम और क्रोधसे आच्छादित रहने के कारण गूढ बना रहता है। अब यदि यह कहा जाय कि पहले इन दोषो को जीतना चाहिए और तब ज्ञान सम्पादित करना चाहिए, तो काम क्रोध आदि राक्षसोका पराभव होना सम्भव नही होता। यदि यह कहा जाय कि इन्हे मारनेके लिए अपने अंगमे सामर्थ्य लानी चाहिए, तो जिस प्रकार जलाने की लकडी आगकी सहायता ही करती है, उसी प्रकार जो जो उपाय किये जायँ, वे सब इनके सहायक ही होते हैं। इसी लिए हठयोगियो को ये काम-क्रोध बहुत हैरान करते है। परन्तु इस महा-संकटसे बचनेका भी एक उपाय है। यदि वह तुम्हे अच्छा लगे तो मैं बतला दूँ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

"काम और क्रोधका मूल स्थान इन्द्रियोमे होता है और इन्ही इन्द्रियोसे कर्मकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए सबसे पहले इन इन्द्रियोको ही अपने वशमे कर रखना चाहिए।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

"ऐसा करनेसे मनका इधर-उधर दौड़ना आपसे आप बन्द हो जाता है, बुद्धिका छुटकारा हो जाता है और इन काम-क्रोध आदि पापियोका आधार ही नष्ट हो जाता है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

"जब ये अन्तःकरणसे बाहर निकाल दिये जाते है, तब फिर पूर्ण रूपसे इनका नाश हो जाता है। जिस प्रकार बिना सूर्यकी किरणोके मृग-जल नही होता, उसी प्रकार यह समझ लेना चाहिए कि काम-क्रोध आदिके न रह जाने पर ब्रह्म-ज्ञानका साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। फिर जीव अपने आत्मानन्दमें सुख-पूर्वक रहता है। जो गुरु और शिष्यका गुप्त रहस्य है, जो जीव और शिवकी भेंट है, उसी स्थितिमे जीव शान्त होकर रहने लगता है और फिर कभी विचलित नही होता।" संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—'हे राजन्, जो समस्त सिद्धोके राजा और लक्ष्मीके पति देवदेवेश्वर श्रीकृष्ण हैं, उन्होने ये सब बाते कही।" अब वे अनन्त श्रीकृष्ण और भी एक मजेकी बात बतलायेंगे और अर्जुन भी कुछ प्रश्न करेंगे। उस संवादकी योग्यता और रसात्मकताके कारण उनका वर्णन श्रोताओंके लिए सुखका सुकाल ही होगा। इसलिए श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि आप लोग अपनी ज्ञानात्माको अच्छी स्फूर्ति देकर इस कृष्णार्जुन-संवादके माधुर्यका स्वाद लें।

ही अन्न पकाते हैं जो उनकी इन्द्रियो को रुचिकर होते है, उनके सम्वन्धमें यही समझना चाहिये कि वे पापी पुरुप पातकोका ही सेवन कर रहे है। यह सम्पत्ति-संग्रह स्वधर्म-यज्ञमे आहुति देनेका ही द्रव्य है, और यह द्रव्य इस यज्ञमे परम पुरुषको समर्पित करनेके ही लिए है। लोग इस तत्वका तो परित्याग कर देते है और केवल अपनी इच्छा या रुचिके अनुसार अनेक प्रकार के भोजन प्रस्तुत करते है। जिन खाद्य पदार्थोंके योगसे यह यज्ञ सिद्ध होता है और आदि पुरुष सन्तुष्ट होता है, वे खाद्य पदार्थ कुछ ऐसे-वैसे नही समझे जा सकते। अन्नको कभी सामान्य या तुच्छ मत समझो और इन्हे प्रत्यक्ष ब्रह्म-रूप ही मानो; क्योकि यही सारे विश्वके जीवनका साधन है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

"अन्नकी सहायतासे समस्त भूत वढते है और सदा पर्जन्य या मेघसे अन्नकी उत्पत्ति होती है। इस पर्जन्यको उत्पन्न करनेवाला यज्ञ है और कर्मकी सहायतासे यज्ञ सिद्ध होते है, और कर्म वेद-रूपी ब्रह्मासे उत्पन्न होते है। इस वेद-ब्रह्माकी उत्पत्ति अक्षर तथा परात्पर ब्रह्म तत्वसे होती है। इसलिए यह स्थावर और जंगम विश्व मूलत. अक्षर परब्रह्मसे ओत-प्रोत भरा हुआ है। तो भी, हे अर्जुन तुम यह वात समझ लो कि कर्म रूपसे अवतरित होनेवाले इन यज्ञोसे वेदरूपी ब्रह्म अक्षर रहता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

"हे पार्थ, इस प्रकार मैने तुम्हे स्वधर्म-यज्ञकी यह मूल पीठिका सक्षेपमे वतला दी है। इसी लिए यह स्वधर्माचरणरूपी यज्ञ ही वास्तवमे उचित और कर्त्तव्य है। भ्रममे पड़ा हुआ जो मनुष्य इस लोक मे आकर यह यज्ञ नही करता, उसके सम्वन्धमें यह समझलो कि वह केवल अपनी इन्द्रियोकी लालसाएँ पूरी करनेके लिए ही इस लोकमे आया है, और इसीलिए वह पापकी राशि वनकर इस पृथ्वी परका भार ही हुआ है। जिस प्रकार असमयमे आकाशमे फैला हुआ मेघ व्यर्थ होता है, उसी प्रकार ऐसे पुरुषका सारा जीवन भी व्यर्थ ही होता है। जिस मनुष्य से स्वधर्मका साधन न होता हो, उसे वकरीके गलेमे लटके हुए स्तनकी तरह नितान्त निरुपयोगी समझना चाहिए। इसलिए, हे अर्जुन, तुम यह वात ध्यानमे रखो कि कभी किसीको स्वधर्म नही छोडना चाहिए। केवल स्वधर्मका ही अनुष्ठान पूरी तरहसे मन लगाकर करना चाहिए। जव हम लोग शरीरधारी है, तव कर्त्तव्य कर्म भी इस शरीरके साथ स्व-भावत. लगा हुआ है। फिर हम अपना विहित कर्म क्यो छोडे ? हे अर्जुन, शरीर प्राप्त होने पर भी जो स्वधर्मकी उपेक्षा करता है, उसे केवल मूर्ख ही समझना चाहिए।

चौथा अध्याय

अब श्रवणेन्द्रियके लिए वहुत शुभ काल आया है, क्योकि आज उसके लिए गीता रूपी अमृतका भाडार खुल रहा है। जो वात पहले स्वप्नके समान और केवल काल्पनिक जान पड़ती थी, वही आज वास्तविक सिद्ध हो रही है। एक तो विषय ही विलकुल अध्यात्म-विचारका है, तिस पर वक्ता है प्रत्यक्ष श्री जगदीश्वर श्रीकृष्ण, और उसमे भी श्रोता है भक्त-श्रेष्ठ अर्जुन। बस जिस प्रकार कोकिल सरीखे स्वर, मधुर सुवास और सुन्दर रुचि तीनोका मोहक सयोग होता है, उसी प्रकार गीताकी यह कथा प्रसंग वहुत ही आनन्दका हुआ है। यह कितने वड़े सौभाग्यकी वात है कि हम लोगोको यह अमृतकी गगा प्राप्त हुई है। सचमुच आज ही श्रोताओको उनके जप-तपका फल मिला है। अब सव इन्द्रियोकी ले चलकर इसी श्रवणेन्द्रियमे स्थापित कर देना चाहिए और इस गीता नामक श्रीकृष्ण-अर्जुन सवादके रसका सेवन करना चाहिए। पर अव मैं इन लम्वी-चौडी बातोको छोडकर वह कथा कहना ही आरम्भ करता हूँ। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनो वाते कर रहे थे। उस समय सजयने धृतराष्ट्र से कहा—"अर्जुन वास्तवमे निर्मल गुणोकी दैवी सम्पत्तिसे मडित है, क्योकि परमात्मा श्रीकृष्ण उसके साथ अत्यन्त प्रेमसे वाते कर रहे है। श्रीकृष्णने जो गहन तत्व कभी स्वय अपने पिता वसुदेव, माता देवकी और भाई वलरामको भी नही वतलाया वही आज उन्होने अर्जुनको वतलाया। यद्यपि देवी लक्ष्मी उनकी इतनी समीपी है, पर उन्हे भी वह प्रेम-सुख नही प्राप्त होता। वही श्रीकृष्णके प्रेमका सच्चा तत्व आज अर्जुनको प्राप्त हुआ है। सनकादिक योगियोको इस वातकी वहुत वडी आशा थी कि ईश्वरीय प्रेम पूर्ण रूपसे हम्ही लोगोको प्राप्त होगा, पर उन्हे भी वैसी सफलता नही प्राप्त हुई, जैसी अर्जुनको हुई। अर्जुनके प्रति इन जगन्नायकका प्रेम केवल तुलनारहित है। इस अर्जुनकी भी कैसी पुण्याई है कि इसके लिए प्रत्यक्ष निराकार परमेश्वर साकार रूप धारण करके अवतरित हुए है। मुझे तो ये दोनो विलकुल एक रूप जान पडते है। सामान्यत जो योगियोको भी प्राप्त नही होता, वेदार्थकी समझमे नही आता और ध्यान तथा धारणाकी शक्ति भी जिसे नही देख सकती, वही श्रीकृष्ण आत्म-स्वरूप, अनादि और निर्विकार होने पर भी, देखिए, अर्जुनके प्रति कैसे प्रेमपूर्ण और सदय हो गये है। जो श्रीकृष्ण त्रैलोक्य रूपी वस्त्रकी मानो तह ही है अथवा आकार आदि विकारोसे विलकुल अलग और परे है, उन्हे इस अर्जुनके प्रेमने किस प्रकार अपने वशमे कर लिया है।

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥

"जो सदा आत्म-स्वरूपमे आनन्दपूर्वक मग्न रहता है, वह देह-धर्मके चलते रहने पर भी कभी कर्म-फलसे लिप्त नही होता। क्योकि वह आत्म-ज्ञानसे सन्तुष्ट रहता है, उसके जीवनका कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है और उसके लिए कर्मका संग स्वयं ही नही होता।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

"जिस प्रकार एक बार तृप्ति हो जाने पर उसके समस्त साधन आपसे आप नष्ट हो जाते है, उसी प्रकार आत्मानन्दकी प्राप्ति होते ही सब कर्मोका नाश हो जाता है। पर हे अर्जुन, जब तक मनमे आत्म-बोधका उदय नही होता, तब तक स्वधर्माचरणके साधनोका भजन या पालन आवश्यक होता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥

"इसलिए तुम इन्द्रियोका निग्रह करके और स्वार्थ सम्बन्धी सभी इच्छाओंको छोडकर विहित स्वधर्मका आचरण करो। हे पार्थ, जो निष्काम बुद्धिसे स्वधर्मका अनुसरण या पालन करता है, वही वास्तवमे इस संसारमे ब्रह्म-स्थितिमे पहुँचता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥

"उदाहरणके लिए जनक आदि राजर्षियोको देखो, जिन्होने एक भी विहित कर्मका अनुष्ठान नही छोड़ा और फिर भी मोक्ष प्राप्त किया। इसलिए हे अर्जुन, स्वधर्मकी ओर सदा पूरा ध्यान रखना चाहिए। स्वधर्मका अनुष्ठान करनेसे एक और बातका भी अच्छा साधन होगा। जब हम स्वधर्मका आचरण करेगे, तब और लोगोको भी उचित आचारकी शिक्षा मिलेगी और उनकी प्रवृत्ति होगी, जिससे संसारकी आपत्तियाँ और कष्ट आपसे आप दूर होगे। देखो, जो लोग ब्रह्म-स्वरूपमें पहुँचकर धन्य हुए है और जो पूर्ण रूपसे निष्काम हो गये है, वही दूसरे लोगोको भी उचित मार्ग पर लगाते हैं और इस प्रकार उस ज्ञानोत्तर कालमे भी उन्हे कर्म करना पडता है। जिस प्रकार अन्धेको अपने साथ लेकर सुझाखा पुरुष आगे आगे चलता है, उसी प्रकार ज्ञानी लोगोको अपने साथ अज्ञानियोको लेकर चलना चाहिए और उन अज्ञानियोको क्या पता चलेगा और कर्त्तव्य-मार्गका उन्हे किस प्रकार ज्ञान हो सकेगा?

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

देवने अर्जुनसे कहा—"मैंने यही योग सूर्यको बतलाया था; पर इस बातको बहुत दिन हो गये। फिर उस सूर्यने यह योग मनुको बतलाया था। मनुने यह योग-स्थिति प्राप्त करके इक्ष्वाकुको इसका उपदेश दिया था। यही इस योगका पूर्व इतिहास है।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

फिर अनेक राजर्षियोंको इसका ज्ञान हुआ। परन्तु इस समय योगको जाननेवाला कोई दिखाई नहीं देता। प्राणी वासनाओंके फेरमे पड़ गये और देह-बुद्धिके मोहमें पड़ गये और इसीलिए वे लोग यह आत्म-ज्ञान भूल गये। जब आत्म-निष्ठाकी भावना दृढ न हो, तब सुखकी पराकाष्ठा विषय-सुखोंमें ही जान पडती है और लोगोंको संसारके सब उलट-फेर प्राणोंके समान प्रिय होते है। नही तो दिगम्बर क्षपणकों अर्थात् जैन-साधुओंके गाँवमे कपडे-लत्तोंका क्या काम? अथवा जन्मान्धके लिए सूर्यका ही क्या महत्व हो सकता है? अथवा बहरोंके घरमे संगीतका मान क्यो होने लगा? अथवा गीदडोंके मनमे क्या कभी चंदनके प्रति प्रेम और आदर उत्पन्न होता है? अथवा चन्द्रोदय होनेसे पहले ही जिसकी देखनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है, वह कौवा चन्द्रमाको कैसे पहचान सकता है? इसी प्रकार जो लोग कभी वैराग्यके गाँवमें गये ही नहीं और जिन्हे यह ज्ञात नही कि विवेक किसे कहते है, वे मूर्ख पुरुष मेरे परमात्म-स्वरूप तक कैसे पहुँच सकते है? न जाने यह मोह कैसे फैला है, परन्तु इस मोहके कारण बहुत-सा समय व्यर्थ ही नष्ट हो गया और इस लोकसे कर्म-योगका लोप हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

"भाई अर्जुन, आज वही कर्म-योग मैं तुम्हे बतला रहा हूँ। अब तुम अपने सब सन्देह छोड़ दो। यह कर्म-योगका तत्व मेरे हृदयका एक गहन रहस्य है, पर उसे भी मैंने तुमसे गुप्त नहीं रखा, क्योंकि तुम मुझे बहुत ही प्रिय हो। हे वीर पार्थ, तुम पूर्ण प्रेमके अवतार, भक्तिके प्राण और मित्रताके जीवन-सर्वस्व हो। तुम श्रद्धाके आगर हो, इसलिए तुमसे किसी प्रकारका दुराव करना भला कैसे ठीक हो सकता है! यद्यपि इस समय हम युद्धभूमिमें है तो भी क्षण भरके लिए इस ओरसे हटकर और इस गडबड़से अलग होकर तुम्हारी सब शंकाएँ दूर कर देना और तुम्हारा मोह नष्ट कर देना बहुत ही आवश्यक है।"

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

उस समय अर्जुनने कहा—'हे श्रीकृष्ण, यदि माता अपने पुत्रके साथ प्रेम करे तो इसमें आश्चर्यकी कौन सी बात है? हे कृपासागर, देखिये, इस संसारमे आप ही थके-माँदे और त्रस्त लोगोंके लिए शीतल छाया और निराश्रितोंकी माताके समान हैं।

आपकी ही कृपासे मुझे जन्म प्राप्त हुआ है। हे देव, जिस प्रकार कोई स्त्री पहले तो किसी पशुपुत्रको जन्म देती है और तव उसके जन्मसे ही उसकी सव झझटे सहती है, ठीक उसी प्रकार मेरे लिये आपको सब बखेडे सहने पडते है। पर आपकी ही वात आपके सामने मै क्यो कहूँ। इसलिए हे देव, अब आप मेरे प्रश्नोकी ओर अच्छी तरह ध्यान दे, और मैं जो कुछ कहूँ, उसके लिए आप मनमे क्रोध न करे। आपने पिछले समयकी जो यह वात मुझे वतलाई कि आपने कर्म-योगके इस रहस्यका वैवस्वत मनुको उपदेश दिया था, सो यह बात मेरे मनमे तिल भर भी नही बैठी। क्योकि मेरे वडे-बूढे भी यह न जानते होगे कि वह वैवस्वत कौन था। फिर आपने उसे कैसे उपदेश दिया था? सुनते है कि वह वैवस्वत वहुत दिनो पहले हुआ था और आप श्रीकृष्ण इस जमानेके है। इसलिये आपने जो बात अभी कही है, वह मुझे असम्वद्ध जान पडती है। परन्तु हे देव, दूसरी ओर आपका चरित्र हम लोगोके लिये अगम्य है, इसलिये मैं एक दमसे यही कैसे कह सकता हूँ कि यह वात विलकुल निराधार है? इसलिए आपने जो वैवस्वत सूर्यको इसका उपदेश किया था। उसकी बात आप ऐसे ढंगसे कहे कि मेरी समझमे आ सके।'

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ ५॥

इसपर श्रीकृष्णने कहा—"हे पार्थ, तुम तो अपने मनमे निश्चयपूर्वक यह समझते होगे कि जिस समय वैवस्वत सूर्य था, उस समय मै नही था। पर इससे यही सिद्ध होता है कि तुम इन सव वातोके विषयमे कुछ भी नही जानते। भाई, तुम्हारे और हमारे वहुतसे जन्म हो चुके हैं, परन्तु तुम्हे उन जन्मोका स्मरण ही नही है। परन्तु हे अर्जुन मुझे यह सब अच्छी तरह स्मरण है कि मैने कब-कब और कौन-कौनसे अवतार धारण किये थे।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ ६॥

"इसी लिए मुझे सभी पिछली बाते याद है। यद्यपि मै जन्म-हीन हूँ, पर फिर भी मायाके कारण जन्म लेता हूँ। मै जन्म तो धारण कर लेता हूँ, परन्तु इससे मेरा मूलका निराकार अमूर्तत्व भग नही होता। हाँ मायाके गुणसे मेरे आत्म-स्वरूपमे इस प्रकार भास होता है कि मैं अवतार धारण करता हूँ और निज धामको चला जाता हूँ। मेरी स्वतन्त्रतामे तिल भरकी भी कमी नही होती। अवतार धारण करनेके साथ जो मैं कर्मोके अधीन दिखाई पडता हूँ, वह भी भ्रान्तिके कारण ही। जहाँ यह भ्रान्ति दूर हुई, तहाँ मैं फिर स्व-स्वरूपमे निराकार और निर्गुण रहता हूँ। एक वस्तुये जो दो वस्तुये दिखलाई पडती है, उसका कारण दर्पण होता है। यद्यपि दर्पणमे प्रतिविम्व दिखाई पडता है, पर फिर भी यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो क्या वह प्रतिविम्व रूपी दूसरी वस्तु सच्ची और वास्तविक ठहरती है? इस प्रकार हे अर्जुन, मैं स्वयं तो अमूर्त्त हूँ ही, परन्तु जिस समय मै मायाका आश्रय लेता हूँ, उस समय कुछ समय कुछ कर्मोके लिए साकार होकर आचरण करता हूँ।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।३८।।

"यदि अच्छी तरह विचार किया जाय तो यह कहना बिल्कुल असम्बद्ध है कि इस परम ज्ञानसे मनका मल नष्ट नही हो सकता। फिर ज्ञानसे बढ़कर ससारमे और कोई पवित्र वस्तु भी तो नही है। जिस प्रकार ससारमे चैतन्य के सिवा और कोई ऐसी वस्तु नही है जिसकी चैतन्यके साथ उपमा दी जा सके, उसी प्रकार यह ज्ञान भी ऐसा उत्तम है कि इसके जोडका उत्तम और कोई पदार्थ नही है। यदि इस महातेजस्वी सूर्यबिम्बकी कसौटी पर उसका प्रतिबिम्ब खरा उतर सकता हो, अथवा यदि इस आकाशको गठरीमे बाँधा जा सकता हो, अथवा यदि पृथ्वीकी बराबरीका भार हाथमें उठाया जा सकता हो, तभी, भाई अर्जुन, ससारसे इस ज्ञानकी उपमा भी मिल सकती है, और नही तो नही। इसी लिए यदि सब दृष्टियोसे देखा जाय और बार-बार विचार किया जाय तो यही निश्चित होता है कि ज्ञानकी पवित्रता ज्ञानमे ही है और वह किसी दूसरी जगह नही मिल सकती। जिस प्रकार यदि यह बतलाना हो कि अमृतका स्वाद कैसा होता है, तो यही कहना पडता है कि वह अमृतके ही समान होता है, उसी प्रकार ज्ञानके लिए भी केवल ज्ञानकी ही उपमा हो सकती है। परन्तु अब इस विषयमे और अधिक कहना व्यर्थ समय नष्ट करना ही है।" श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर अर्जुनने कहा—"हे देव, आप जो कहते है, वह ठीक है।" इसके बाद अर्जुनने अपने मनमे सोचा कि अब श्रीकृष्णसे यह पूछना चाहिये कि इस ज्ञानको पहचानना कैसे चाहिए, और उसके लक्षण क्या है। परन्तु श्रीकृष्णने उसी समय अर्जुनके मनका यह भाव जान लिया और कहा—"भाई अर्जुन, मैं इस ज्ञानके साधनका उपाय तुम्हे बतलाता हूँ। सुनो।

श्रद्धावाॅंल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

"जो पुरुष आत्म-सुखका स्वाद चख चुकनेके कारण समस्त विषयोको तुच्छ समझता है, जो इन्द्रियोका लालन नही करता, जिसे मन किसी प्रकारका कष्ट नही देता, जो मायामे नही भूलता और जो श्रद्धा-बुद्धिकी सगतिसे सुखी हो जाता है, इसमे कुछ सन्देह नही है कि अखड और निर्दोष शान्ति से भरा हुआ यह ज्ञान आपसे आप उसे ढूँढता हुआ उसके पास पहुँचता है। जहाँ वह ज्ञान अन्त करणमे अच्छी तरह प्रविष्ट हो जाता है और शान्ति उत्पन्न हो जाती है, वहाँ आत्मबोधका आपमे आप प्रचण्ड विस्तार होने लगता है। इतना हो जाने पर वह मनुष्य जिस तरफ आँख उठाकर देखता है, उसी तरफ उसे केवल शान्ति ही दिखाई देती है, और उसकी अपने और परायेवाली भावना बिलकुल नष्ट हो जाती है। इस प्रकार इस ज्ञान-बीजका निरन्तर अपरम्पार विस्तार होता रहता है। अब इसका वर्णन मैं कहाँ तक करूँ! इतना ही कहना यथेष्ट है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

"कारण यह है कि आरम्भसे ही यह क्रम चला आता है कि प्रत्येक युगमे धर्म-मार्ग की रक्षा मैं ही करता हूँ। इसलिये जब जब यह देखनेमे आता है कि अधर्मने धर्मको दवा लिया, तब मैं अपना जन्म-रहितत्व एक ओर रख देता हूँ और अपने मनमे अमूर्तत्वका भी विचार नही रहता।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

"उस समय मैं धर्म निष्ठाका पक्ष लेकर साकार रूपसे अवतार धारण करता हूँ और तव ज्ञानके अन्धकारको निगल जाता हूँ। मै अधर्मकी सत्ताका नाश करता हूँ, दोषोका नाम मिटा देता हूँ और साधु पुरुषोके हाथोसे सुखकी पताका खडी करता हूँ। असुरोके कुलोका नाश करता हूँ, साधुओकी प्रतिष्ठा वढाता हूँ और धर्म तथा नीतिको एकत्र करके उनपर पुण्याक्षत छिडकता हूँ—उनका विवाह सम्बन्ध कराके उन्हे आशीर्वाद देता हूँ। मै अविचारोकी कालिख साफ करके विवेकका दीपक उज्ज-वल करता हूँ जिससे योगियोके लिये वह समय दीवालीके समान हो जाता है। उस समय सारा विश्व आत्म-सुखसे पूरी तरह भर जाता है, संसारमे धर्मके सिवा और कुछ भी दिखाई नही पडता और भक्त मडली सात्विक भक्तिसे ओत-प्रोत भरकर फूल जाती है। हे अर्जुन जिस समय मै साकार होकर अवतार धारण करता हूँ, उस समय पापोके पर्वत नष्ट हो जाते है और पुण्य का प्रभात हो जाता है। इस प्रकारके कार्योके लिए मैं प्रत्येक युगमे अवतार धारण करता हूँ। और जिसे यह रहस्य मालूम हो जाय, उसीको इस ससारमे सच्चा विवेकशील समझना चाहिए।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

"मैं जन्म-रहित होने पर भी जन्म धारण करता हूँ, और अक्रिय होने पर भी कर्मोका आचरण करता हूँ। जो पुरुष विकारोके वशमे न होकर इसका वास्तविक रहस्य जानता हो, उसीको परम मुक्त समझना चाहिए। ऐसा पुरुष ससारमे रहकर भी कर्म-सगमे भ्रष्ट नही होता और देहधारी होने पर भी देह-भावसे नही वँधता, और जब समय आने पर वह पचत्वको प्राप्त होता है, तव वह मेरे आत्म-स्वरूपमे मिल जाता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
वहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

"सामान्यत जो लोग गत और आगतका शोक नही करते, जो निष्काम होते है और जो क्रोधके रास्ते भी नही जाते, जो मेरे स्वरूपसे भरे रहते है, जो केवल मेरी सेवाके लिये जीवित रहते है और निर्विकार होकर आत्म-ज्ञानका आनन्द भोगते है जो महातपस्वी और जती हैं अथवा जो लोग सव प्रकारके आत्म-ज्ञानको अपने आपमे एकत्र कर लेते हैं, वे सहजमे ही मेरे स्वरूपके समान हो जाते हैं, वे और मैं

"हे अर्जुन, जिस प्राणीके मनमें यह ज्ञान प्राप्त करनेकी लालसा न हो, उसका जीनेकी अपेक्षा मर जाना ही अच्छा है। जिस प्रकार उजड़ा हुआ घर या प्राणहीन शरीर होता है, उसी प्रकार ज्ञान-हीन जीवन भी केवल भ्रमपूर्ण ही होता है। अथवा यदि किसी मनुष्यकी ऐसी स्थिति हो कि उसे यह ज्ञान तो न प्राप्त हुआ हो, परन्तु फिर भी जिसके मनमे इस ज्ञानके प्रति कुछ आदर या प्रेम हो, तो यह समझ लेना चाहिए कि उसके लिए यह ज्ञान प्राप्त कर लेना सम्भव है। जिसे ज्ञान न हो, उसका कोई मूल्य नही है। यदि किसीमे यह ज्ञान भी न हो और साथ ही उसके मनमे ज्ञानके प्रति आदर या प्रेम भी न हो, तो उसके सम्बन्धमे यह समझ लेना चाहिये कि वह संशयकी अग्निमे भस्म हो गया। जब किसी मनुष्यके मनमे आपसे आप ऐसी अरुचि उत्पन्न हो जाती है कि उसे स्वयं अमृत भी अच्छा नही लगता, तब स्पष्ट रूपसे यही समझ लेना चाहिये कि उसकी मृत्यु सिर पर आ पहुँची है। इसी प्रकार जो मनुष्य विषय-सुखोमें फँसा रहता है और जिसमे ज्ञानकी रुचि नही होती। उसके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे यही समझ लेना चाहिए कि स्वयं संशयने उसे खूब अच्छी तरह घेर या दबा रखा है। और जो संशयमें पडता है, उसका सत्यानाश ही होता है वह ऐहिक और पारलौकिक दोनो ही सुखोसे वंचित रहता है। जिस मनुष्यको भीषण ज्वर चढा रहता है, उसे गरमी और सरदीके भेदका पता नही लगता। ऐसा मनुष्य जिस प्रकार आग और चन्द्रमाकी चाँदनी दोनोको समान ही समझता है, उसी प्रकार संशय मे पडे हुए मनुष्यको अच्छे और बुरे, असम्बद्ध और योग्य, हित और अहितका भेद ज्ञात नही होता। जिस प्रकार जन्मान्धको रात और दिनका भान नही होता, उसी प्रकार संशयमे डूबे हुए मनुष्यको भी किसी बातका पता नही चलता। इसलिए इस संसारमें संशय के समान और कोई घोर पातक नही है। प्राणियो को पकडकर उनका सत्यानाश करनेके लिए यह एक जाल ही है। इसलिए तुम यह संशय छोड़ दो, जो ज्ञानके अभावमे उत्पन्न होता है। सबसे पहले तुम्हे केवल इस संशय पर ही विजय प्राप्त करनी चाहिए। जिस समय अज्ञानका घोर अन्धकार फैलता है, उस समय इस संशयका बल बहुत बढ जाता है और श्रद्धाके मार्गका पूर्ण रूप से अन्त हो जाता है। फिर यह इतना बढ़ता है कि हृदयमे समा ही नही सकता, वह बुद्धिको ग्रस लेता है और तब शीघ्र ही उस मनुष्यके लिए तीनों भुवन संशयमय हो जाते है!

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥४१॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥४२॥

"देखो, यद्यपि इस संशय की व्यापकता इतनी अधिक है, पर फिर भी एक उपायसे इसका दमन हो सकता है। यदि हमारे हाथमे ज्ञानकी लपलपाती हुई तलवार हो तो उस तेज धारवाली तलवारसे इसका जड़-मूलसे नाश हो जाता है और

हैं, वे सहजमे ही मेरे स्वरूप के समान हो जाते है; वे और मै सब एक ही हो जाते हैं और हम लोगोमें कोई परदा नही रह जाता। देखो, यदि पीतल का सारा कलुष समूल नष्ट हो जाय, तो फिर सोना प्राप्त करनेकी कामनामे कौन सा विशेष अर्थ रह जाता है? इसी प्रकार जो लोग यम-नियमोके द्वारा तपाये जाने पर तपो-रूपी ज्ञानसे चोखे या खरे हो जाते है, वे यदि मेरा स्वरूप प्राप्त कर ले तो इसमे किसीकी शंका ही क्यो हो?

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

"साधारणत· जो लोग मेरी जैसी सेवा करते है, उनके साथ मैं भी वैसा ही आचरण या व्यवहार करता हूँ। तुम यह बात अपने ध्यानमे रखो कि मनुष्य कोटिमें स्वभावत मेरे ही प्रति भक्ति रहती है। परन्तु अज्ञानने मनुष्योको दबा रखा है और इसीलिए उनकी बुद्धि उलटी हो गई है और इसी कारणसे उन लोगोको अनेकताका भास होता है। इसी लिए उन लोगोको अभिन्न वस्तुओमे भी भेद दिखाई देता है और वे नामहीन आत्म-तत्वका भी नाम रखते है और उन्हे देवता तथा देवी मानकर उनकी आराधना करते है। जो आत्म-स्वरूप सभी स्थानोमे और सभी समयोमे एक सा रहता है उसीमे इन लोगोको अपने मनकी गडबडीके कारण उच्च और नीचके विभागोकी कल्पना करनी पडती है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

"वे लोग अपने मनमे अनेक प्रकारकी कामनाएँ रखकर उचित विधियो और विधानोके अनुसार अपनी पसन्दके अनेक देवताओ और देवियोकी आराधना करते हैं। फिर जो वस्तुएँ वे लोग माँगते है, वे सब उन्हे प्राप्त होती है। पर यह बात तुम निश्चय-पूर्वक समझ रखो कि ये सब किये हुए कर्मोके ही फल होते है। वास्तवमे यह बात निस्सन्देह है कि कर्मके सिवा यहाँ न तो कोई और देनेवाला है और न कोई लेनेवाला है। इस मनुष्य लोकमे केवल कर्म ही फलदायक होते है। जिस प्रकार खेतमे वही उगता है, जो बोया जाता है, अथवा दर्पणमे जो देखता है उसीका प्रतिबिम्ब उसमे दिखाई देता है अथवा जैसे पहाडके नीचे खडे होकर जो कुछ कहा जाय, उसीकी प्रति-ध्वनि सुनाई पडती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, यद्यपि इन समस्त देवियो और देवता-ओके भजनका मैं ही मूल आधार हूँ, तो भी उपासककी इच्छा के अनुसार उसे भजनका फल प्राप्त होता है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

"मनुष्य-लोकमे जो ये चारो वर्ण दिखाई पडते हैं, वे भी मैंने ही इसी प्रकार तटस्थ रहकर गुणो और कर्मोके विभागोके अनुसार उत्पन्न किये हैं। कारण यह है कि कर्मोके आचरणका विचार मायाके ही आश्रयसे और गुणके ही मिश्रणसे हुआ है। हे वीर अर्जुन, ये सब मनुष्य मूलतः एक ही वर्णके है। परन्तु गुण और कर्मकी नीतिके

मनमे नामको भी इसका कोई अंग नही रह जाता। इसलिए हे भाई पार्थ, तुम चटपट उठो और अपने मनमे रहनेवाले संशयका नाश कर डालो।" इस प्रकार मर्वश्रेष्ठ और ज्ञान-दीपक श्रीकृष्णने ये सव वाते कृपापूर्वक अर्जुनसे कही। हे राजा धृतराष्ट्र, आप भी ये सब बाते अपने ध्यानमे रखें। श्रीकृष्णने पहले जो वाते कही थी ओर जो अब वाते कही थी, उन सवका विचार करके अर्जुन अव जो प्रश्न करेंगे, उसका प्रसंग भक्तिका भाडार और रसाविर्भावकी प्रौढतासे पूर्ण है। अव आगे वही प्रसग बतलाया जायगा। जिस गान्त रसके माधुर्य पर वाकी आठो रस निछावर करके फेक देनेके योग्य होते है ओर जिस शान्त रसमे सज्जनोकी बुद्धिको विश्राम-स्थल या आश्रय प्राप्त होता है, वह शान्त रस इस कथा मे अपने अपूर्व परिपाकको प्राप्त होगा। यह कथा आप लोग समुद्रसे भी अधिक गम्भीर और अर्थपूर्ण भाषामे सुने। जैसे सूर्यका विम्व बहुत छोटा दिखाई पडता है, पर उसका प्रकाश इतना होता है कि तीनो लोको मे भी नही समाता, उसी प्रकार आपको इस कथाके शब्दोकी व्यापकता का भी अनुभव होगा। अथवा जिस प्रकार कल्प-वृक्ष माँगनेवालेकी इच्छाके अनुसार फल देता है, उसी प्रकार इस वाणीकी व्यापकता भी श्रोताओकी इच्छाके अनुसार कम या अधिक होगी। इसलिए आप सव लोग सावधान होकर सुनें। परन्तु अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नही है। आप सब लोग सर्वज्ञ ही है, इसलिए और अधिक क्या कहा जाय! मेरी यही प्रार्थना है कि आप लोग अच्छी तरह ध्यान देकर सुने। जिस प्रकार किसी स्त्रीमे लावण्य, गुण और कुलीनताके साथ ही साथ पातिव्रत भी रहता है, उसी प्रकार इन पक्तियोमे साहित्यका ललित गुण और शान्त रस दोनो ही स्पष्ट रूपसे दिखाई देते है। एक तो चीनी यो ही लोगोको अच्छी लगती है। तिस पर यदि वह औषधके रूपमे दी जाय तो फिर वह वार बार आनन्दपूर्वक क्यो न खाई जाय? मलय वायु यो ही मन्द और सुगन्धित होती है। तिस पर यदि उसे अमृतका माधुर्य भी प्राप्त हो जाय और सयोगसे उसमे सु-स्वर नाद भी उत्पन्न हो जाय, तव वह अपने स्पर्शसे समस्त अंगोका ताप शान्त करती है, मधुर रुचिसे जीभको आनन्दसे नचाती है और कानोको तृप्त करके उनसे "धन्य! धन्य!" का उद्गार निकलवाती है। इस प्रकार यह कथा सुननेसे कानोके व्रतका पारण हो जाता है और विना किसी अपकारके संसारके सब दुःख समूल नष्ट हो जाते है। यदि मन्त्रसे ही शत्रु मर जाता हो, तो फिर हाथमे कटार लेनेकी क्या आवश्यकता है? यदि दूध और चीनीसे ही रोग नष्ट होता हो, तो फिर कडवी नीमका रस क्यो पीया जाय? इसी प्रकार विना मनको मारे हुए और विना इन्द्रियोको कष्ट दिये केवल यह कथा सुननेसे ही आपसे आप मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य ज्ञानदेव कहता है कि आप लोग उतनी ही शान्तिसे गीताका यह अर्थ अच्छी तरहसे सुने।

अनुसार चारो वर्गोमे विभक्त हो गये है, इसलिए, हे अर्जुन, मै कहता हूँ कि इस चातुर्वर्ण्यकी संस्थाका मैं विलकुल कर्त्ता नही हूँ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

"जिसको समझमे यह तत्त्व अच्छी तरहसे आ जाता है कि ये सव मुझसे ही उत्पन्न हुए है, पर फिर भी मैने इन्हे नही वनाया है, उनके सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिए कि वे इस संसारसे छूटकर मुक्त स्थिति मे पहुँच गये है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

"हे अर्जुन, अव तक जो मुमुक्ष जन हो गए हैं, उन सव लोगोने मेरा यह मूल स्वरूप पहचानकर ही सव कर्मोका आचरण किया है। परन्तु जिस प्रकार आग पर भूने हुए वीजमेसे अकुर नही निकलता, उसी प्रकार उनके वे निष्काम कर्म उनके लिए मोक्षदायक हुए हैं। हे अर्जुन, इन विपयोके सम्वन्धमें ध्यानमे रखने योग्य एक और वात है। वह यह कि कर्म और अकर्मका विचार वुद्धिमान पुरुपोको भी केवल अपनी पसन्दके अनुसार और मनमाने तौर पर करनेकी आवश्यकता नही होती।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

"वुद्धिमान् लोग भी इस वात का विचार करते करते चकरा गये है कि कर्म क्या है और अकर्मके लक्षण क्या हैं। जिस प्रकार नकली सिक्के देखनेमे ठीक सच्चे सिक्कोके समान होते है और आँखोंको धोखेमें डाल देते है, उसी प्रकार ऐसे महा सामर्थ्यशाली लोगोंके कर्म भी, जो यदि अपने मनमे चाहें तो एक दूसरी ही सृष्टि तकका निर्माण कर सकते है, निष्कामताकी मिथ्या कल्पनाके फेरमे पडकर अन्तमे सकाम ही सिद्ध हुए हैं। फिर यहाँ मूर्खोका पूछने ही क्या है! इस प्रश्न पर विचार करते समय बडे-वडे दूरदर्शी लोग भी धोखेमे आ गये हैं। इसीलिए मैं यह विषय वहुत ही स्पष्ट करके तुम्हे वतलाता हूँ। सुनो।

कर्मणो ह्यपि वोद्धव्यं वोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च वोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

"जिससे सहजमे ही इस विश्वकी सृष्टि होती है, उसीको "कर्म" कहना चाहिए। पहले यह सहज कर्म ही वहुत ही साफ तरहसे समझ लेना चाहिए। फिर अच्छी तरह यह समझ लेना चाहिए कि शास्त्रोमे वतलाए हुए वे कौन से "विहित कर्म" है जो हमारे वर्ण और आश्रम के लिए उपयुक्त कहे गये है और उनका उपयोग क्या है! फिर जिन कर्मोका निपेध किया गया है, वे सव कर्म भी अच्छी तरह जान लेने चाहिए। इसका फल यह होगा कि हम चक्कर या भ्रममें नही पड़ेंगे। वास्तवमे यह

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

फिर अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—"हे देव, आप ये किस प्रकारकी बातें कर रहे हैं ? यदि आप कोई एक बात निश्चयपूर्वक बतलाते तो मैं अपने मनमें उस पर विचार कर सकता। अभी आपने यही बात अनेक प्रकारसे बतलाई है कि सब कर्मोका संन्यास या परित्याग करना चाहिए, और तब आप ही बडे आनन्दसे कर्मयोगका खूब समर्थन करते और महत्व बतलाते है। यह क्या बात है ? आप जो इस प्रकार दो-रुखी बाते कहते है, उनके कारण मुझ अल्पज्ञकी बुद्धिमे असल बात उतनी अच्छी तरहसे नही आती, जितनी अच्छी तरहसे आनी चाहिए। हे देव, यदि आपको किसी एक ही तत्व-सिद्धान्तका उपदेश करना हो तो उसके सम्बन्धमे आपका भाषण भी निश्चित और ऐसा होना चाहिए जिसमे और किसी विषयकी बाते न हो। आपकी बाते दुविधामे डालनेवाली नही होनी चाहिएँ। और यह कोई ऐसी बात नही है जो मैं आपको समझाकर बतलाऊँ। इसी लिए आप सरीखे सद्गुरुसे मैने आरम्भमे ही प्रार्थना की थी कि आप मुझे परमार्थका ऐसा उपदेश न करे जो गूढ हो। परन्तु देव, अब आप उन सब पिछली बातोको जाने दीजिए, और स्पष्ट रूपसे इस बातका विवेचन कीजिए कि "कर्म-संन्यास" और "कर्म-योग" इन दोनोमेसे कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है जो अन्त तक ठीक ठहर सके, जो निश्चित रूपमे फलदायक हो और जिसका आचरण भी स्पष्ट और सहज हो ? वह साधन पालकीकी तरह ऐसा सुखद और सहज होना चाहिए जिसमे नीद भी खराब न हो और यात्रा भी बहुत सी हो जाय।"

अर्जुनकी ये बातें सुनकर श्रीकृष्णको बडा मजा आया और उन्होने बहुत ही सन्तोष-पूर्वक कहा—"हे अर्जुन, सुनो। जो साधन मैं तुम्हे बतलाता हूँ, वह वैसा ही सहज और सुखद है, जैसा तुम चाहते हो।" हे श्रोतागण, श्रीकृष्णका यह कथन बिलकुल यथार्थ है। क्योकि जिस भाग्यशाली बालककी माता प्रत्यक्ष कामधेनु ही हो, वह यदि अपने खेलनेके लिए चन्द्रमा माँगे तो वह भी उसे मिल जाता है। देखिये, जब उपमन्यु पर श्री शंकर भगवान् प्रसन्न हुए थे और उपमन्युने दूध-भात खानेकी इच्छा प्रकट की थी, तब उसकी वह इच्छा पूरी करनेके लिए श्रीशंकरने उसे प्रत्यक्ष क्षीरसागर ही दे दिया था या नही ? इसी प्रकार जो श्रीकृष्ण उदारताके गुणके स्वयं जन्म-स्थान ही है, वे यदि वीरश्रेष्ठ अर्जुन पर प्रसन्न हो गये हो, तब फिर अर्जुनको सब प्रकारके सुखोका आश्रय क्यो न प्राप्त हो ? इसमे आश्चर्य करनेकी कौन-सी बात है ? यदि श्रीलक्ष्मीपति कृष्णके समान धनी मिल जाय तो अपनी इच्छाके अनुसार सब वस्तुएँ उससे अवश्य ही माँग लेनी चाहिएँ। इसी लिए अर्जुनने जिस ज्ञानकी याचना की थी, वह ज्ञान श्रीकृष्णने उसे बहुत आनन्दपूर्वक

संसार कर्मसे व्याप्त है, और कर्मकी यह व्याप्ति बहुत ही प्रचंड है। परन्तु इस प्रसंग के लिए जितना निवेदन करना आवश्यक है, उतना मैं उसके लक्षणोका विवेचन करता हूँ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

"जो पुरुष कर्मोका आचरण करता हुआ भी यह तत्व अपने ध्यानमे रखता है कि मै निष्कर्मा हूँ, जो कर्म-संग होने पर भी अपने मनमे फलकी आशा नही रखता और जो केवल कर्त्तव्य बुद्धिको छोडकर और किसी कारणसे कर्म नही करता, उसके सम्बन्धमे समझ लेना चाहिए। उसमें यह निष्कर्मताका भाव अच्छी तरह प्रविष्ट हो चुका है। इसलिए जो पुरुष अपने समस्त कर्म यथास्थित रीतिसे करता रहे, उसीको उक्त लक्षणोसे युक्त ज्ञानी समझना चाहिए। जिस प्रकार पानीके पास खडा हुआ मनुष्य पानीमे अपना प्रतिबिम्ब देखता है और यह समझता है कि मै इस पानीमेका प्रतिबिम्ब नही हूँ, बल्कि इससे अलग ही हूँ, अथवा जिस प्रकार नाव पर बैठकर नदीमे विहार करनेवाला मनुष्य नदी के किनारेके वृक्षो आदिको वेगपूर्वक एकके बाद एक करके जाता हुआ देखता है, पर जब अच्छी तरह विचार करता है, तब कहता है कि ये सब वृक्ष अचल है, उसी प्रकार जो यह समझता है कि मेरा कर्मोका आचरण आत्म-स्वरूप की दृष्टिसे बिलकुल मिथ्या है और जो अपना मूल स्वरूप पहचान लेता है, वही सच्चा निष्कर्मा है। जिस प्रकार उदय और अस्तकी बाधाओके रहते हुए भी सूर्य अचल रूप से भ्रमण करता रहता है, उसी प्रकार ऐसा पुरुष सब कर्म करता हुआ भी अपनी निष्कर्मता अचंचल रखता है। वह देखनेमे तो मनुष्य के समान ही जान पड़ता है, परन्तु जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब पानीमे पडनेपर भी वास्तविक सूर्य-बिम्ब उस पानीसे नही भीगता, उसी प्रकार ऐसे निष्कर्मा पुरुषको भी मनुष्यत्व कभी स्पर्श नही कर सकता। ऐसे निष्कर्मा पुरुष विश्वको देखता है, सब कुछ करता है और सब प्रकारके भोग भोगता है, परन्तु फिर भी वह इन सब क्रियाओसे तटस्थ और अलिप्त ही रहता है। वह रहता तो एक ही जगह है, पर फिर भी सारे विश्वमे सचार करता है; बल्कि यह कहना चाहिए कि वह स्वयं ही विश्व-रूप हो जाता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

"जिस पुरुषको कर्माचरणके सम्बन्धमे कोई चिन्ता या दुःख नही होता, पर साथ ही जिसमे कर्म-फलके सम्बन्धमे कोई आसक्ति भी नही होती और जिसके मनमे इस प्रकारके संकल्प-विकल्प नही होते कि—"मैं यह कर्म करूँगा, मै यह हाथमें लिया हुआ कर्म पूरा करूँगा।" ओर जो ज्ञान-रूपी अग्निमे अपने समस्त कर्मोकी आहुति दे चुका होता है, उस मनुष्यको तुम प्रत्यक्ष परब्रह्म ही समझो।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

दिया। अब यह हम बतलाते है कि श्रीकृष्णने उससे क्या कहा। आप लोग सुनिए।

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निश्रेःयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

श्री भगवानने कहा—"भाई अर्जुन, यदि कर्म-संयास और कर्म-योगका विचार किया जाय तो सिद्ध होता है कि ये दोनो ही मोक्ष प्राप्त करनेके मार्ग है। तो भी ज्ञानी और अज्ञानी सब प्रकारके जीवोके लिए वास्तवमे यह कर्म-योग ही स्पष्ट और सुगम मार्ग है। जिस प्रकार किसी नदी या जलाशय आदिको पार करनेके लिए नाव स्त्रियो और बालको तकके लिए उपयोगी होती है. उसी प्रकार यदि तारतम्यका विचार किया जाय तो यह कर्म-योग ही सब लोगोके लिए समान रूपसे सुलभ है। यदि इस कर्म योगका ठीक तरहसे आचरण किया जाय तो कर्म-संन्यासका फल भी आपसे आप मिल जाता है। मै पहले तुम्हे संन्यासियोके लक्षण बतलाता हूँ जिससे यह विषय बहुत अच्छी तरह तुम्हारी समझमे आ जाय। उसीसे कर्म-सन्यास और कर्म-योगका अभेद या एकता बहुत सहजमें तुम्हारी समझमे आ जायगी।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्दो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

"जो हाथसे निकल जानेवाली वस्तुका स्मरण करके दुःखी नही होता, अथवा जो न प्राप्त होनेवाली वस्तुके लिए लालायित नही होता, जिसका अन्तरग या मन मेरु पर्वतके समान निश्चल रहता है, जिसके हृदयसे "मैं" "मेरा" आदि की भावनाएँ नामको भी नहीं रहती, हे पार्थ उसी पुरुषको नित्य-संन्यासी समझना चाहिए। जो मनुष्य इस अवस्थामे पहुँच जाता है, उसके लिए कर्म-सग कभी बाधक नही होता और वह सदा अखंड सुखसे सुखी रहता है। ऐसे नित्य-सन्यासीको घर-बार और स्त्री-पुत्र आदिके बखेडोका परित्याग नही करता, क्योकि वह पुरुष संग-हीन रह कर यह बात अच्छी तरह जानता रहता है कि इन सब बखेडोके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नही है। देखो, जब आग बुझ जाती है, तब केवल राख ही बाकी रह जाती हैं। फिर वह राख बत्ती बनाते समय रूईके साथ चुटकीमे पकडी जा सकती है। इसी प्रकार संसारकी उपाधियोमे रहते हुए भी जिसकी बुद्धिको संकल्प-विकल्पकी आँच नही लगती, वह कभी कर्मके बन्धनोमे नही पडता। इसीलिए जब सकल्प बन्द हो जाते हैं, तभी सन्यासकी प्राप्ति या साधन होता है। इसीलिए कर्म-संन्यास और कर्म-योग दोनो साथ ही साथ चलने वाले हैं।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

"हे अर्जुन, जिन मूढ पुरुषोकी समझमें यह तत्व नही आता, वे ज्ञान-योग और कर्म-योगकी व्यवस्था भला कैसे समझ सकते है? वे अपने स्वाभाविक अज्ञानके कारण इन दोनोको एक दूसरेसे भिन्न समझते हैं। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो क्या कभी भिन्न-भिन्न दीपकोके प्रकाशमें कोई भेद दिखाई पडता है? जो लोग स्वानुभवसे आत्मरूपका तत्व अच्छी तरह समझ लेते हैं, वे संन्यास और योगमे भेद नही मानते।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धवसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२०॥

"जिसका देह-भाव छूट जाता है, जो कर्मोके फलके सम्बन्धमे निरिच्छ रहता है, और फलोंकी इच्छा नही रखता और सदा आनन्दित रहता है, जो सन्तोपके मध्य गृहमे भोजन करने मे वैठता है और आत्म-वोधका चाहे कितना ही अधिक भोजन सामने क्यो न परोसा जाय, फिर भी जो कभी यह नही कहता कि "वस, अव यथेष्ट हो चुका ।" वह आत्मानन्दका माधुर्य दिन पर दिन वढती रहनेवाली रुचिके साथ सेवन करता है, वह आशाको छोड देता है और उसे अहंकार के साथ निछावर करके फेक देता है । इसी लिए जिस समय उसे जो कुछ मिल जाता है, उसी पर वह सन्तोप करता है और इस प्रकारकी वात भी उसके पास नही आने पाती कि—"यह मेरा है और वह पराया है ।" वह जो कुछ देखता, सुनता, चलता या वोलता है, वह सव और इसी प्रकारकी जो दूसरी भिन्न-भिन्न क्रियाएँ करता है, वे सव आपसे आप ही होती रहती है । अधिक क्या कहा जाय, यह सारा विश्व ही उसके लिए आत्म-स्वरूप होता है । भला ऐसे पुरुपके लिए कौन-सा कर्म कव वाधक हो सकता है ? जिस द्वैत भाव या दुजायगी के योग से मत्सर उत्पन्न होता है, वह द्वैत भाव जिस मनुष्यमे रह ही नही जाता, उसके सम्वन्धमे यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि वह निर्मत्सर है, क्योकि उसके विपयमे यह वात स्वयं सिद्ध ही होती है । इसी लिए ऐसा पुरुप सव प्रकारसे मुक्त ही रहता है, और इस वातमें कुछ भी सन्देह नही कि सव प्रकारके कर्म करने पर भी अकर्मा ही रहता है । वह देखने में तो गुणयुक्त जान पडता है, परन्तु वास्तव में निर्गुण ही रहता है ।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२२॥

"वह चाहे देहधारी ही हो, पर फिर भी केवल चैतन्य-रूप ही रहता है । वह परब्रह्मकी कसौटी पर खरा और चोखा ही उतरता है । ऐसा पुरुप यदि सहज लीलासे यज्ञ-याग आदि कर्म करे भी, तो भी वे सव उसके आत्म-स्वरूपमे ही लीन हो जाते हैं । जिस प्रकार असमयमे आनेवाले मेघ आकाशमे चारो ओर फैल जाने पर भी वृष्टि नही करते, वल्कि आपसे आप ही आकाशमें लीन हो जाते है, उसी प्रकार ऐसे पुरुपके किये हुए यज्ञ-याग आदि कर्म भी उसके ऐक्यभावमे एक,रूप हो जाते हैं ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

"इसका कारण यही है कि उसकी वुद्धिमे इस प्रकारका कोई भेद-भाव होता ही

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

"परन्तु जो बात लोग साख्य-साधन या ज्ञान-मार्गसे प्राप्त करना चाहते हैं, वही बात योग-साधनसे भी प्राप्त हो जाती है, और इसी लिए वे दोनो एक-रूप ही होते हैं। जिस प्रकार आकाश और अवकाश (खाली स्थान) के भेदका निराकरण नही हो सकता, उसी प्रकार योग और सन्यासकी एकताके सम्बन्धमे भी समझना चाहिए। जो संन्यास और योगका अभेद या एकता समझता हो, उसीके सम्वन्धमें यह समझना चाहिए कि उसे सच्चा प्रकाश प्राप्त हुआ है और उसीको आत्म-स्वरूपके दर्शन हुए है ।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

"हे अर्जुन, जो व्यक्ति कर्म-योगके पैदलवाले रास्तेसे मोक्ष रूपी पर्वत पर चढ़ता है, वह शीघ्र ही आत्मानन्दके शिखर पर पहुँच जाता है। परन्तु जिन्हे योग-साधनकी प्राप्ति नही होती, वे व्यर्थके वखेडोमे फँसे रहते हैं और उन्हे कभी सच्चे सन्यासकी प्राप्ति नही होती ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

"जो लोग अपने मनको हटाकर माया और मोहसे बिलकुल अलग कर लेते है और गुरुके उपदेशसे अपने मनका सारा मल धो डालते है और उसे आत्म-स्वरूपमे भलीभाँति स्थापित कर देते है, और जिस प्रकार नमक जब तक समुद्रमें नही पडता, तव तक तो वह समुद्रसे भिन्न और आकारके विचारसे उसके सामने बहुत ही तुच्छ जान पडता है, पर जव वही नमक समुद्रमे मिलकर उसके साथ एक-जीव हो जाता है, तव वह भी समुद्रमे समान ही विस्तृत और अनन्त हो जाता है, उसी प्रकार जिसका मन-संकल्पोसे बाहर निकलकर चैतन्यमें मिल जाता है, और उसके साथ समरस हो जाता है, वह पुरुष यद्यपि देखनेमे देश-कालकी मर्यादामे विचारसे अन्यान्य लोगोकी तरह एक देशमें स्थित जान पडता है, तो भी वह अपने आत्म-स्वरूपसे तीनो भुवनोको व्याप्त कर लेता है। अर्थात् ऐसे पुरुपके सम्बन्धमे "कर्त्ता", "कर्म" और इसी प्रकारकी दूसरी वातोका सहजमे अन्त हो जाता है और तब वह चाहे सब प्रकारके कर्मोका आचरण भी क्यो न करता रहे, तो भी वह सदा अकर्त्ता ही रहता है। क्योकि हे अर्जुन, जव ऐसे पुरुपको अपने देह-भावका भी स्मरण नही रह जाता तव उसमे कर्तृत्व भला किस प्रकार लग सकता है ?

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
पलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

नही कि यह हवन है, यह होता है, यह यज्ञ का भोक्ता है, आदि। यष्टा, यज्ञ, यांजन, आहुति, मन्त्र आदि सबको वह अविनाशी आत्म-स्वरूप ही समझता है। इसलिए भाई अर्जुन, जिसकी समझ मे यह बात अच्छी तरह आ जाती है कि "कर्म" का अर्थ ही "ब्रह्म" है, उसके लिए कर्म करना भी निष्कर्म होनेके समान ही होता है। इसीलिए जो लोग अविवेक रूपी बाल्यावस्थाको पार करके विरक्तिके साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लेते है और तब योगका अग्निहोत्र आरम्भ कर देते है, जो लोग रात-दिन यही योग-यज्ञ करते रहते हैं और गुरुके उपदेशोकी मन्त्राग्निमे मनके साथ अज्ञानकी आहुति देते रहते है, उन्हींको यह योग-यज्ञ करना चाहिये। और हे अर्जुन, जो यज्ञ करने से आत्म-सुख का लाभ होता है, इन्द्र आदि देवताओको प्रसन्न करनेके लिए किये जानेवाले उस यज्ञको "दैव यज्ञ" कहते है। अब मैं तुम्हे यज्ञके कुछ और प्रकार भी बतलाता हूँ। सुनो। जो ब्रह्माग्निसे अग्निहोत्र करते है, वे उस यज्ञ से ही अर्थात् ब्रह्म यज्ञसे ही यज्ञ-विधि करते है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

"कुछ लोग आत्म-सयमका अर्थात् मनोनिग्रहका अग्निहोत्र करते है। वे काया, वाचा और मनके नियमनको ही मन्त्र समझते है और इन्द्रिय-रूपी द्रव्यकी आहुति देते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनके मनमे वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसे लोग मनमें नियमन को ही अग्निका निवास-स्थान बनाकर उसमे इन्द्रियाग्नि जलाते है। जब वैराग्यकी ज्वाला प्रज्वलित हो जाती है, तब उसमे विकार रूपी लकडियाँ जलने लगती है और अन्त करण पंचक रूपी पाँचो कुण्डोको आशा रूपी धूआँ छोडकर बाहर निकल जाता है, जिससे वे कुण्ड स्वच्छ और तेजस्वी हो जाते हैं। तब ऐसे लोग "अह ब्रह्मास्मि" के महावाक्यवाले मन्त्रका उच्चारण करते हुए अन्त करणके कुण्डमे इन्द्रियाग्निके मुखमे विषयोकी विपुल आहुति देते है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

हे अर्जुन, कुछ लोग इसी प्रकार सयमका अग्निहोत्र करके निर्दोष हो गये है। कुछ ऐसे लोग भी होते है जो हृदयरूपी अरणी अर्थात् काष्ठ खण्डको रगड़कर अग्नि उत्पन्न करनेके लिए विवेकको मथानी बनाते है। इस मथानीको मनके समाधानसे अच्छी तरह बाँध या जकडकर और बडे धैर्यसे दबाकर और गुरु-वाक्योको शक्तिसे खूब जोरोसे चलाते हैं। इस प्रकार निरन्तर अच्छी तरह घर्षण करते रहनेपर शीघ्र ही उसका फल भी मिल जाता है, क्योकि ज्ञानकी अग्नि प्रकट हो जाती है। परन्तु इस ज्ञानाग्निके पूरी तरह प्रज्वलित होनेसे पहले जो थोडा-सा धूआँ निकलता है, वही

"इस प्रकार कर्म-योगी यदि देहका परित्याग न भी करे, तो भी उनमे निर्गुण और निराकार परब्रह्मके लक्षण दिखाई पडते हैं। यदि सामान्य दृष्टिसे देख जाय तो वह भी दूसरे साधारण मनुष्यो की भाँति शरीर धारण करके सब प्रकारके कर्म करता हुआ दिखाई पडता है। कर्म-योगी भी दूसरे लोगोकी ही भाँति आँखोसे देखता है और कानोसे सुनता है, परन्तु उसके सम्बन्ध मे विलक्षण बात यही होती है कि वह इन सब कर्मोमे फँस नही जाता। उसे स्पर्शका भी ज्ञान होता है और वास या गन्धका भी भान होता है। वह प्रसगके अनुसार उपयुक्त भाषण भी कर सकता है। वह अन्नका भी व्यवहार करता है, निषिद्ध वस्तुओ का परित्याग भी करता है और जब सोने का समय आता है, तब वह सुख से सोता भी है। वह अपनी इच्छाके अनुसार चलता-फिरता भी है। इस प्रकार वह सब तरह के कर्मोका सचमुच आचरण करता रहता है। हे अर्जुन, अब मैं और अधिक क्या कहूँ! वह श्वासोच्छ्वास और पलकोको उठाने और झपकानेकी सब क्रियाएँ भी करता है, परन्तु कर्मयोगियोको प्राप्त होने वाले स्वानुभवके बलसे वह फिर "अकर्त्ता" ही बना रहता है। क्योकि जब तक वह माया की सेज पर सोया हुआ था, तब तक तो वह स्वप्नके झूठे सुखके फेरमे पडा हुआ था, परन्तु अब ज्ञान-सूर्यका उदय हो जानेके कारण वह जागकर होश मे आ जाता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

"जब इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब देहके संगसे इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोमे विचरण करती रहती है। जिस प्रकार दीपकके प्रकाश में घरके सब काम धन्धे होते रहते है, उसी प्रकार कर्मयोगियोके सब शारीरिक व्यापार होते रहते है। कर्म-योगी सभी कर्मो का आचरण करता है, परन्तु जिस प्रकार पानीमे रहने पर भी कमलके पत्ते उस पानीसे नही भीगते, उसी प्रकार कर्म करते रहने पर भी कर्म-योगियोके साथ कर्मका ससर्ग या लेप नही होता है।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

"जिन कर्मोके सम्बन्धमे बुद्धिकी कोई बात ही न निकल सकती हो और मनका अंकुर भी न निकल सकता हो, उन कर्मोको शरीर-कर्म कहना चाहिए। यही बात मैं तुम्हे सुगम शब्दोमे बतलाता हूँ, सुनो। जिस प्रकार छोटा बालक बिना किसी हेतु या उद्देश्यके यो ही चलता फिरता है, उसी प्रकार योगी लोग मनमे किसी प्रकारकी वासना न रखते हुए केवल शरीरसे ही कर्मोका आचरण करते है। फिर जब पंच-महाभूतोसे बना हुआ यह जड शरीर योग-निद्राके वश मे हो जाता है, तब मन उसी प्रकार अकेला अपने सब व्यवहार करता रहता है, जिस प्रकार वह स्वप्नकी अवस्थामे करता है। हे अर्जुन, इसमें एक विलक्षण बात यह है कि यह वासना ऐसे ढग से अपना जाल फैलाती है कि वह शरीरको बिल्कुल पता भी नही लगने देती और उसे सुख-दुःख के भोग मे फँसा देती है। जिन व्यापारोकी इन्द्रियोको गध भी नही मिलती, उन व्यापारोको मानस व्यापार कहते हैं। योगी लोग इन मानस कर्मोका

ऋद्धि-सिद्धियोका मोह है। यह धूआँ जब जल्दी ही निकल जाता है, तब पहले ज्ञानाग्निकी बहुत ही छोटी सी चिनगारी उत्पन्न होती है। यम-दम आदिसे सुखाये जानेके कारण पहलेसे ही जो मन हलका हुआ करता है, वही मन इस चिनगारीके लिए ईंधनका काम देता है। जब इससे अच्छी ज्वाला उत्पन्न होती है, तब भिन्न-भिन्न वासनाएँ समिधाके रूपमे ममता रूपी घृतके साथ जलकर राख हो जाती है। उस समय दीक्षित पुरुष "सोऽहमस्मि" के मन्त्रका उच्चारण करते हुए जलती हुई ज्ञानाग्नि मे इन्द्रियोके कर्मोकी आहुति देते है। तब प्राण-कर्म रूपी सुवा नामक दर्भ पात्रसे उस अग्निमे अन्तिम आहुति दी जाती है और तब अन्तमें ब्रह्म-तादात्म्यकी एक-रूप अवस्थामे इस यज्ञ-समाप्तिका स्नान होता है। इसके उपरान्त वे यज्ञ करनेवाले इस संयम-यज्ञका अवशिष्ट हविर्भाग, जो आत्मज्ञानका आनन्द है, पुरोडाशके रूपमे ग्रहण करते हैं। कुछ लोग इस प्रकारका यज्ञ-विधान करके त्रैलोक्यसे मुक्त हो गये है। अब तक मैंने जो यज्ञ-विधान बतलाये है, वे चाहे देखनेमे भले ही अलग-अलग जान पडे, परन्तु उन सबका साध्य एक ही है, और वह साध्य ब्रह्मके साथ सम-रसता प्राप्त करना ही है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

कुछ लोग द्रव्य-यज्ञ, कुछ लोग तपोयज्ञ और कुछ लोग योग-यज्ञ करते है। कुछ लोग शब्दोमे शब्दोका ही होम करते है। इसे "वाग्यज्ञ" कहते है। जिसमे ज्ञानसे ब्रह्मरूपी ज्ञेयकी प्राप्ति होती है, उसे ज्ञान-यज्ञ कहते है। परन्तु हे अर्जुन, इन सब यज्ञोका विधान करना बहुत ही कष्ट-कर है। परन्तु जो लोग इन्द्रियो पर अपनी सत्ता स्थापित कर लेते हैं, वे अपने शारीरिक बलसे इन यज्ञोका साधन कर सकते हैं। ऐसे लोग बहुत कुशल और योगकी शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण ही अपनी जीवात्माका परमात्मा मे हवन कर सकते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा ॥२९॥

"कुछ लोग दृढ निश्चय और अभ्यासकी सहायतासे योगका साधन करके अपान वायु रूपी अग्निमे प्राण वायु रूपी द्रव्यकी आहुति देते है। कुछ लोग प्राणोमें अपानका हवन करते है और कुछ लोग प्राण तथा अपान इन दोनोका ही निरोध कर लेते है। ऐसे योगियोको प्राणायामी कहते है।"

अपरे नियताहाराः प्राणन्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

कुछ लोग वज्र-योग नामक योग-प्रणालीसे विषय रूपी समस्त आहारोका नियंत्रण करके बडे धैर्यसे प्राणोमे प्राणोका ही हवन करते हैं। इस प्रकारके यज्ञका साधन करके मनका सारा मल निकालकर दूर फेंक देनेवाले ये सब यज्ञकर्ता मोक्षकी ही इच्छा करते हैं। जो लोग माया और मोहको जलाकर केवल सहज आत्म-स्वरूप ही बच रहते हैं,

आचरण तो करते है, परन्तु उनके मनमें अहं-भावका स्पर्श भी नही होता, इसलिए वे कर्म उनके लिए बन्धक नही होते। जिस समय कोई मनुष्य पिशाचके चित्तके समान भ्रमिष्ठ होता है, उस समय उसकी इन्द्रियोकी क्रियाये पागलपनकी-सी जान पडती है। उसे आस-पासकी सब वस्तुओ और मनुष्योके रूप और आकार तो दिखाई देते है, यदि उसे पुकारा जाय तो वह सुनता भी है और वह स्वय अपने मुख से बोल भी सकता है, परन्तु देखने से यह नही जान पडता कि वह कुछ समझता भी है। परन्तु अब व्यर्थकी और बातोकी आवश्यकता नही। जो कर्म सब प्रकारके कारणोके अभावमें और आपसे आप होते है, उन्हे इन्द्रिय-कर्म कहते हैं। और जो काम समझ-बूझकर किये जाते है, वे वास्तवमें बुद्धिके कर्म है।" श्रीकृष्ण ने अर्जुन से ये सब बातें कह कर आगे यह भी कहा कि—"वे लोग बुद्धिपूर्वक मन लगाकर सब कर्मो का आचरण तो करते हैं, परन्तु निष्कर्म वृत्तिके कारण वे मुक्त ही रहते है। क्योकि बुद्धिसे लेकर शरीर तकके सम्बन्धमे उनमें अहं-भावका कोई विचार या स्मृति ही नही होती और इसी लिए वे सब प्रकारके कर्म करते रहने पर भी शुद्ध ही रहते है। हे अर्जुन, कर्तृत्वकी अहं-भावनाके बिना ही सब प्रकारके कर्म करना "निष्कर्म काम" कहलाता है और सद्गुरु से प्राप्त होनेवाला यह रहस्य-ज्ञान उसे प्राप्त रहता है। जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब शान्तिकी नदीमें ऐसी बाढ आती है कि वह अपने पात्रमे पूरी तरहसे भर जानेके कारण ऊपर चारो ओर फैलने लगती है, हे अर्जुन, मैंने अभी तुम्हे वह तत्त्व बतलाया है, वाचाकी सहायता से जिसका वर्णन जल्दी हो ही नही सकता।" हे श्रोतागण, जिनकी इन्द्रियोके उपद्रव पूर्णरूप से नष्ट हो जाते है, वही इस ज्ञानके सच्चे अधिकारी होते है। परन्तु व्याख्यान का यह विस्तार सुनकर श्रोता लोग कहते हैं—"यह इधर-उधर की बातें बहुत हो चुकी। यदि कथाका सूत्र इस प्रकार छोड दिया जायगा तो श्लोकोकी संगति ही न रह जायगी। जिस तत्त्वका आकलन करनेमे मनको भी बहुत कठिनता होती है और जिसका पता लगाने में बुद्धिको भी सफलता नही होती, वही तत्त्व इस समय सौभाग्यसे तुम्हे शब्दोके द्वारा बतलाया गया है। जो तत्त्व-ज्ञान शब्दोसे परे है, वही जब तुम्हे वाणी के द्वारा वर्णन करके बतला दिया गया, तब फिर और बाकी ही क्या रह गया? अतः अब इन सब बातोका अन्त करके मूल कथा आगे चलनी चाहिए।" कथा सुननेके सम्बन्धमे श्रोताओं की यह प्रबल लालसा देखकर श्रीनिवृत्तिनाथका दास मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि हे श्रोताओं, अब सावधान होकर श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद सुनो। इसके उपरात श्रीकृष्णने कहा—"अब मैं ऐसी योगी पुरुषोके सम्पूर्ण लक्षण स्पष्ट रूपसे बतलाता हूँ जो सिद्धि प्राप्त कर चुके है। सुनो।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

"जो इस आत्म-योगका सम्पादन कर लेता है और निःशंक होकर कर्मोके फलोकी आशा छोड देता है, उसे इस संसार में शान्ति स्वयं ही आगे-बढकर जयमाल पहनाती है। और हे अर्जुन, जो लोग योग-हीन होते हैं, वे लोग कर्मो की डोरी और वासना-की गाँठसे फल-भोगके खूँटेके साथ कसकर बाँध दिये जाते हैं।

उनसे फिर अग्नि और यष्टाकी भावना ही बाकी नही रह जाती। फिर ऐसी अवस्थामें यज्ञ करनेवाला हेतु पूरा हो जाता है, यज्ञ-विधान समाप्त हो जाता है और कर्मोके सब झगडे भी मिट जाते है। उस समय विचार और हेतुके प्रवेश करने की जगह ही बाकी नही रह जाती और द्वैत भावनाका दोष स्पर्श भी नही कर सकता।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य कुरुसत्तम ॥३१॥

"इस प्रकार यज्ञ-विधानके अन्तमे जो अविनश्वर, अनादि और निर्दोष ज्ञान प्राप्त होता है, उसीको ब्रह्मनिष्ट लोग "अहं ब्रह्मास्मि" मन्त्र का जप करते हुए सेवन करते है। इस प्रकार जो लोग इस यज्ञ-शेपके अमृतसे तृप्त होकर अमरत्व प्राप्त करते हैं, वे सहज ही ब्रह्म-स्वरूप हो जाते है। परन्तु जिन लोगोसे इस आत्म-सयम रूपी अग्निकी सेवा नही हो सकती और जो लोग जन्म धारण करके भी योग-यज्ञका सम्पादन नहीं करते, उन्हे कभी वैराग्य प्राप्त नही होता। जो लोग लौकिक क्रियाओको भली भाँति सम्पादित न कर सकते हो, उनके सम्बन्धमे पारलौकिक अवस्थाकी तो कोई बात ही नही हो सकती।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

"मैने तुम्हे यज्ञके जो अनेक प्रकार बतलाये है उनका वेदो मे बहुत ही विस्तार-पूर्वक निरूपण किया गया है। परन्तु हमे उस विस्तारसे क्या मतलब है। बस यही बात ध्यानमे रखनी चाहिए कि जो कर्म इस प्रकार किए जाते हैं, वही वास्तव में यशस्वी होते है और ऐसे कर्म स्वभावत बन्धक नही होते।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

"हे अर्जुन, वेदोमें जो बाह्य क्रिया-प्रधान स्थूल यज्ञ बतलाये गये हैं, उनका अपूर्व फल स्वर्ग-सुख ही है। उन यज्ञोमे केवल जड द्रव्योका हवन होता है, इसलिए जिस प्रकार सूर्यके सामने सब तारोका तेज फीका पड जाता है, उसी प्रकार इस ज्ञान यज्ञके सामने ये सब जड़-यज्ञ फीके पड़ जाते है और तुच्छ ठहरते है। जो ज्ञान स्फूर्तिकी आखोमे दिव्य अंजनके समान होता है, जिसके मिलने पर योगी-जन यह समझते है कि परम सुखका गुप्त भंडार मिल गया और इसी लिए जिसे योगी-जन कभी अपनेसे दूर नही होने देते, जो ज्ञान प्रचलित कर्मोका अन्तिम फल, निष्कर्मताकी खान और छटपटानेवाले साधकोका पूर्ण समाधान है, जिस ज्ञान के प्राप्त होने पर कर्मोके प्रति होनेवाला अनुराग दुर्वल हो जाता है, तर्क अन्धा होकर बैठ जाता है, इन्द्रियोको

सवकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ १३ ॥

"जिस प्रकार और लोग फलकी आशासे कर्मोका आचरण करते है, उसी प्रकार योगी लोग भी कर्मोका आचरण करते है; पर वे लोग यह समझकर उन कर्मोकी ओरसे उदासीन रहते है कि ये सब कर्म हमारे किए हुए नही है। फिर ऐसा पुरुष जिस ओर देखता है, उस ओर सुख ही सुखकी वर्षा होने लगती है। वह जहाँ रहता है, वही आत्म-बोधका भी निवास होने लगता है। वह इस नौ छिद्रोवाले शरीरमे रहकर भी देह-भावसे हीन रहता है, और वह फलकी आशा छोड चुका होता है, इसलिए कर्मोका आचरण करने पर भी वह अकर्त्ता ही बना रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४ ॥

"यदि जगत्के आदि बीज परमेश्वरका विचार किया जाय तो वह अकर्त्ता ही सिद्ध होता है। परन्तु उसीने मायाकी उपाधिसे तीनो भुवनोकी सृष्टि की है। यदि हम उसे कर्त्ता कहे तो उससे कर्मका सम्पर्क ही नही होता, क्योकि उसके तटस्थ वृत्ति-वाले हाथ-पैरोमे कभी मल लगता ही नही। न तो कभी उसकी योग-निद्रा ही भग होती है और न उसके अकर्तृत्वमे ही कभी अन्तर पडता है, तो भी वही पंचमहा-भूतोसे इस आकारयुक्त व्यूहकी रचना करता है। वह है तो ससारका जीवन ही, तो भी वह कभी किसीके कहनेमे नही रहता। यह ससार बनता और नष्ट होता रहता है, परन्तु इसकी उसे कभी खबर भी नही होती।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५ ॥

"चाहे-समस्त पाप-पुण्य उसे चारो ओरसे घेरे ही क्यो न रहे, परन्तु फिर भी वह कभी उनकी ओर आँख उठाकर देखता भी नही। वह इन पाप-पुण्योको तटस्थ वृत्तिसे देखनेवाला साक्षी तो होता ही नही, फिर और बातोकी तो जिक्र ही क्या है? वह देहकी संगतिसे देही बनकर अवतार-लीला तो करता है, परन्तु उस अचिन्त्य प्रभु-की मूर्त्तता या निर्गुणता कभी नष्ट नही होती। जो लोग यह कहते है कि वह विश्वका निर्माण करता है, उसकी देख-रेख या पालन करता है, और अन्तमे उसका संहार भी करता है, भाई अर्जुन, यह उनका केवल अज्ञान ही समझना चाहिए।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६ ॥

"जिस समय यह अज्ञान पूर्ण रूपसे नष्ट हो जायगा, उस समय भ्रान्तिकी कालिमा भी न रह जायगी और तब मनुष्योको यह अनुभव होने लगेगा कि—"मैं ईश्वर हूँ और अकर्त्ता हूँ।" यदि यह बात मनमे बैठ जाय कि केवल ईश्वर ही अकर्त्ता है, तो इस प्रकारके ज्ञानका प्रकाश पडता है, तब इस त्रिभुवनमे कोई भेद-भाव रह ही नही

विपय सेवनकी वात भूल जाती है, जिससे मनका मनत्व ही नष्ट हो जाता है, वाणीकी वाग्मिताका अन्त हो जाता है और ज्ञेयका पता लग जाता है, जो ज्ञान वैराग्यकी कामना पूरी कर देता है, विवेकका समाधान करता है और जो अनायास ही आत्म-तत्व के साथ भेंट करा देता है, यदि तुम वह अत्युत्तम ज्ञान प्राप्त करना चाहो तो तुम्हे सच्चे मनसे इन सन्त सज्जनो की सेवा करनी चाहिए। क्योकि ज्ञानके मन्दिर-की यही साधु-सेवा देहलीज है। इसलिए हे अर्जुन, तुम बहुत उत्सुकतासे इस ओर प्रवृत्त होकर इसे प्राप्त करो। इसके लिए तन, मन और प्राणसे सन्तोके चरणोमें लगाना चाहिए और अभिमान छोडकर सव प्रकारसे उनकी सेवा करनी चाहिए। ऐसा करने पर जिस ज्ञानकी हमे इच्छा है, उसके सम्वन्धमें प्रश्न करने पर ये सन्त लोग उस ज्ञानका भी हमें उपदेश देगे; और वह ज्ञान ऐसा है कि जिसका उपदेश यदि अन्त करणको हो जाय तो वह सकल्पहीन हो जाता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।३५।।

"जिस अवस्थाके प्रकाशसे चित्त निर्भय होकर परब्रह्मकी बरावरीका हो जाता है, यह अवस्था जव प्राप्त हो जाय, तव हे भाई अर्जुन, तुम स्वयं अपने आपके सहित भूत-मात्रको मेरे स्व-स्वरूपमे ही अखड रूपमे देख सकोगे। हे पार्थ, जिस समय सद्गुरुकी कृपा होगी, उस समय इस ज्ञान-प्रकाशका प्रभात होगा और अज्ञानका अन्धकार दूर हो जायगा।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।३६।।

"तुम चाहे पापोके सागर, अज्ञानके आगर और विकारोके पर्वत ही क्यो न हो, तो भी इस परम ज्ञानकी शक्तिके साथ तुलना करने पर ये सव दोष तुच्छ ठहरते है। इस ज्ञानमे ऐसे ही विलक्षण और उत्तम शक्ति है। जिस ज्ञानके प्रकाशके सामने उस अमूर्त्त परम तत्वकी विश्वाभास-रूपी छाया भी वाकी नही रह जाती, उस ज्ञानको तुम्हारे मनका मल दूर करनेमे भला कितना परिश्रम करना पड़ेगा? इस विषयमे तो कोई शका करना ही निरा पागलपन है। इस ज्ञानके समान महत् और व्यापक इस संसारमे और कोई पदार्थ नही है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।३७।।

"प्रलय कालकी जिस आँधीके सामने त्रिभुवन भी जलकर आकाशमे धुएँको तरह उड़ जाता है, उसके सामने भला साधारण वादल कहाँ तक ठहर सकते हैं? अथवा जो प्रलयाग्नि वायुके वलसे स्वयं पानीको भी जला डालती है, वह क्या कभी घासों और लकड़ियोंके सामने दव सकती है?

जाता। ऐसी अवस्थामे मनुष्य स्वानुभवसे सारे जगतको मुक्त स्थितिमें—आत्मस्वरूपमे—ही देखता है। क्योकि तुम्ही वतलाओ कि क्या कभी ऐसा भी हुआ है कि पूर्व दिशामें सूर्यका उदय होनेपर केवल उसी दिशामे प्रकाश हो, और दूसरी दिशाओका अन्धकार ज्यों का त्यो वना रहें ?

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

"वुद्धिके स्थिर हो जाने पर आत्म-ज्ञान होता है, मनमे यह वात अच्छी तरह जाती है कि हम ब्रह्म-रूप हैं और मन विना कुछ भी चञ्चल हुए ब्रह्म-तत्वमे रहता है और दिन-रात तन्मयता वनी रहती है। इस प्रकारका सर्वव्यापी ज्ञान जिसके हृदयमें ओत-प्रोत भर जाता है, उसीको सम-दृष्टि कहना चाहिए। अव इससे वढकर मै और क्या वतलाऊँ! यदि यह कहा जाय कि वह स्वयं अपने ही समान सारे विश्वको आत्मस्वरूप समझता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु जिस प्रकार दैवमें कभी केवल विनोदके लिए भी दीनता नही दिखाई पड़ सकती, अथवा विवेकमे जिस प्रकार कभी भ्रान्तिका नाम भी नही दिखाई पडता, अथवा जिस प्रकार सूर्यमें कभी स्वप्नमे भी अन्धकारका कोई चिह्न दिखाई नही पड़ सकता, अथवा अमृतके कानोमें कभी मृत्युका नाम भी नही सुनाई पड़ता, अथवा चन्द्रमाको कभी उष्णताका स्मरण भी नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषोमें भूत मात्रके विपयमें कभी कोई भेद-भाव भी देखनेमे नही आता।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

"फिर इस प्रकारके भेद-भाव कहाँ रह जाते हैं कि यह मच्छड़ है, यह हाथी है, यह चांडाल है- यह ब्राह्मण है, वह पराया है, यह मेरा है आदि? अथवा इस प्रकारकी समस्त कल्पनाओका अन्त हो जाता है कि यह गौ है, यह कुत्ता है, यह श्रेष्ठ है, यह नीच है, क्योकि जो जाग रहा हो, उसे स्वप्न कहाँसे दिखाई पड़ेगा? ये सव भेद दिखाई तो पड़ते हैं, परन्तु कव? जव अहं-भाव वाकी वचा रहता है, तव। जव वह अहं-भाव विलकुल नष्ट हो जाता है, तव विषमताका कही पता भी नही रह जाता।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

"इसलिए तुम यह समझ लो कि समदर्शिताका रहस्य ही यह है कि मनुष्य यह समझ ले कि सव स्थानो और सव जीवोमे निरन्तर सम भावसे रहनेवाला जो एकमेवा द्वितीय ब्रह्म हैं, वह मैं ही हूँ। जो विपयोकी संगति विना छोड़े हुए और इन्द्रियोका विना नियन्त्रण किये निष्काम होकर नि.संग स्थितिका भोग करता है, जो साधारण लोगोकी ही तरह सव प्रकारके व्यवहार करता है, परन्तु लौकिक वस्तुओका अज्ञानजन्य मोह छोड़ देता है, जो उसी प्रकार संसारको विना दिखाई पडे शरीरमे रहता है, जिस प्रकार किसीको पछाड़नेवाला भूत किसीको दिखाई नही पडता है, जिस प्रकार वायुकी सहायतासे जलमे उठनेवाली तरंगोको लोग जलसे अलग समझते

और उनका अलग नाम "तरग" रखते है, परन्तु फिर भी जो केवल ब्रह्म ही रहता है और जिसका मन सर्वत्र सम भावसे विचरण करता है और इस प्रकार जो समदृष्टि हो जाता है, उस पुरुषका एक विशेष लक्षण भी होता है। हे अर्जुन, मैं वह लक्षण तुम्हे सक्षेपमे बतलाता हूँ। सुनो।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

"जिस प्रकार मृग-जलकी बाढसे पर्वतराज नही हिलता, उसी प्रकार शुभाशुभ-की प्राप्तिसे योगीमे भी कभी कोई विकार उत्पन्न नही होता। जो मनुष्य इस प्रकार-का हो, उसीको वास्तवमे सम्पूर्ण समदर्शी समझना चाहिए, और वही प्रत्यक्ष ब्रह्म है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥

"जो पुरुष कभी आत्म-स्वरूपको छोडकर इन्द्रियोके वशमे नही होता, यदि वह विषयोंका सेवन न करे तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? स्वाभाविक और असीम आत्मानन्दसे उसका अन्तरंग पूर्ण रूपसे सुखी रहता है और इसलिए वह कभी इस आनन्दके बाहर नही होता। भला जिस चकोरने कुमुदके दलोकी थाली या पत्तल में चन्द्रमाकी किरणोका उत्तम भोजन किया हो, वह क्या कभी रेतके कण खायेगा? उसी प्रकार जिसे आत्म-सुख मिल जाय और जो ब्रह्म-स्वरूप हो जाय, उसके सम्बन्धमे यह कहनेकी कोई आवश्यकता नही है कि विषयोसे उसका आप ही आप छुटकारा हो गया।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

"अब हे अर्जुन, जरा इस बातका भी अच्छी तरह विचार कर देखो कि इन विषय-सुखोके जालमें कौन फँसता है। जिन्हे आत्म-स्वरूपके दर्शन नही होते, वही इन इन्द्रिय-विषयोके फेरमे पडते हैं, जिस प्रकार क्षुधासे पीड़ित मनुष्य भूसी या चोकर भी खा जाता है अथवा प्याससे व्याकुल हिरन असली पानीके स्वरूपके भ्रम-से भूलकर रेतीले जमीनको ही पानी समझकर दौडते हुए उसके पास आ पहुँचते हैं, उसी प्रकार जिन्हे आत्म-स्वरूप के दर्शन नही होते, जिनके पल्ले आत्म-सुखके नामसे सदा दरिद्रता ही पडी रहती है, उन्हीको ये विषय-सुख बहुत प्रिय जान पड़ते है। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय कि इन विषयोमे उपभोगमे कहने योग्य बिलकुल कोई सुख नही होता। यदि यह कहा जाय कि इन विषयोमे सुख है, तो फिर बिजलीकी चमकमे ही ससारके सब काम क्यो नही चलते? यदि आकाश रूपी छतकी छायासे ही वायु, वर्षा और तापका निवारण हो सकता हो, तो फिर पक्के तिमंजले मकान क्यो बनाये जायँ? इसलिए विषय-सुखका शब्द-प्रयोग ही अर्थहीन है। जिस प्रकार माहुर या विषका भी एक नाम "मधुर" है अथवा जिस प्रकार पापग्रह भौमको भी लोग मंगल कहते है अथवा मृग-जलको भ्रमसे जल कहते है, उसी प्रकार विषयोके सम्बन्धमे भी लोग "सुख" शब्दका प्रयोग करते है। परन्तु वास्तवमें इसके लिए "सुख" शब्दका प्रयोग करना व्यर्थ बकवाद ही है। अच्छा, यह सब रहने दो और तुम मुझे केवल यही बतलाओ कि साँपके फनकी छाया चूहेके लिए कहाँ तक सुखकारक हो सकती है? हे अर्जुन, मछलीको फँसानेवाली बन्सीमे माँसका जो टुकड़ा

उलटी चलने लगती है, उसी समय तोतेको उस परसे उड जाना चाहिए। परन्तु उसके मनमे भय समा जाता है। वह व्यर्थ ही गरदन घुमाता है, छाती सिकोडता है और चोचसे उस नलीको खूब जोरसे पकडे रहता है। उसके मनमे यह मिथ्या धारणा हो जाती है कि मैं वास्तवमें पकड़ा गया हूँ, और इस मिथ्या कल्पनाके फेरमे वह ऐसा पडता है कि अपने पैरोके खुले हुए पंजोको उस यन्त्रमे और भी फँसाता चलता है। इस प्रकार जो स्वयं और अकारण ही वन्धनमे पडे, उसके सम्वन्धमे क्या यह कभी कहा जा सकता है कि उसे किसी दूसरेने बन्धनमे डाला है? परन्तु जव एक बार वह ऐसे भ्रममे पड जाता है, तब वह उसके फेरमे ऐसा फँस जाता है कि यदि उसे आधा काट भी डाला जाय तो भी वह उस नलीको कभी न छोडेगा। इसी लिए जो मनुष्य स्वय ही अपने सकल्प-विकल्पोको बढ़ाता है, वह स्वय ही अपना शत्रु होता है। परन्तु इसके विपरीत जिस पुरुषको इस बोधका अनुभव होता है कि "मैं आत्मा हूँ" और जो व्यर्थकी या मिथ्या बातका अंगीकार नही करता, मै कहता हूँ कि वही श्रेष्ठ आत्मज्ञ है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

"ऐसा मनुष्य अपने मनको जीत लेता है; और जिसकी समस्त वासनाएँ शान्त हो जाती हैं, उसे कभी यह नही जान पडता कि परमात्मा मुझसे अलग और दूर है। जिस प्रकार मैल या मिलावटके बिलकुल निकल जाने पर अन्तमे शुद्ध सोना बाकी रह जाता है. उसी प्रकार संकल्प-विकल्पका झगडा मिटते ही स्वय जीव ही परमात्मा होकर रहने लगता है। जिस प्रकार घटाकारके नष्ट होने पर उसके अन्दरके अवकाश-को आकाशके साथ मिलनेके लिए कोई स्थानान्तर नही करना पडता, उसी प्रकार जिसका मिथ्या देहाभिमान समूल नष्ट हो जाता है, उसे परमात्म रूप होनेके लिए फिर और कुछ भी नही करना पड़ता, क्योकि वह तो आरम्भसे ही परमात्मासे ओत-प्रोत भरा रहता है। ऐसे पुरुषके लिए गरमी-सरदी और सुख-दुःखके विचार और मान-अपमानकी बात सम्भव ही नही होती। जिन जिन रास्तोसे होकर सूर्य जाता है, उन उन रास्तोमे सब स्थान प्रकाशमय हो जाते हैं, उसी प्रकार ऐसे पुरुषको जो कुछ मिलता है, वह सब तद्रूप हो जाता है और पुरुषके स्वरूपके साथ समरस हो जाता है। जिस प्रकार मेघसे गिरनेवाली जल-धारा कभी समुद्रके लिए कष्टदायक नही होती, उसी प्रकार योगीश्रेष्ठके लिए, शुभाशुभ बाते आत्म-स्वरूप ही होनेके कारण कभी क्लेशकारक नही होती। इस संसार-विषयक भावनाका विचार करने पर जव यह निश्चित हो जाता है कि यह भावना मायिक है, तव और अधिक ध्यानपूर्वक देखने पर यह पता चलता है कि वह ज्ञान आत्म-स्वरूप ही है। जव ऐसा हो जाता है, तव द्वैत भावकाविनाश हो जानेके कारण इस प्रकारका ऊहापोह आपसे आप जहाँका तहाँ नष्ट

लगाया जाता है, वह मछलीको तभी तक मोहक जान पड़ता है जब तक मछली उसे नही निगलती। उसी प्रकार तुम निस्सन्देह रूपसे यह समझलो कि ठीक वही दशा विषय-संगकी है। हे अर्जुन, यदि इन विषयोकी ओर विरक्तोकी दृष्टिसे देखा जाय तो ये ऐसे पांडु-रोगियोके समान है, जो ऊपरसे देखनेमे फूले हुए जान पडते हैं। इसीलिए विषयोके उपभोगमे जो सुख दिखाई पड़ता है, वह वास्तवमे आदिसे अन्त तक केवल दुःख ही दु ख है। परन्तु अज्ञानी लोग करे क्या? उनसे विपयोका सेवन किये विना रहा ही नही जाता। उन्हे भीतरी रहस्य तो मालूम नही होता, इसलिए वे वेचारे वडे शौकसे विषयोका सेवन करते हैं। पीपके कीचडमे रहनेवाले कीडोको क्या कभी पीपसे घृणा होती है? उन दु खी जीवोंके लिए तो वह दुःख ही परम प्रिय जीवन होता है। वे तो उपभोग रूपी जलमे मछलीके समान रहते है। फिर वे उस कीचड़ और उस पानीको कैसे छोड़ सकते है? ये विषय दु खोकी योनि अर्थात् दु ख उत्पन्न करनेवाले होते है। यदि वे जीव इन विषय-भोगोके प्रति निस्पृह और उदासीन रहे तो घृणित विषय-भोग नष्ट ही हो जायँ। कही नामको भी विश्राम पाये विना गर्भ-त्रास आदिके संकटो और जन्म-मरणकी यातनाओका विकट मार्ग अतिक्रमण करने के लिए भला कौन तैयार होता? और यदि ये विषयासक्त जीव विषयोको छोड दें तो वेचारे महादोषोका कहाँ ठिकाना लगे। और फिर जगतमे यह "संसार" शब्द ही मिथ्या ठहरेगा और उसका अन्त हो जायगा। इसीलिए झूठे सुखके फेरमे पड़े हुए जिन लोगोने विषयोके द्वारा होनेवाले दु खोका अंगीकार किया है, उन्हीने इस कोरे मायिक भ्रमको वास्तविक बना दिया है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, ये विषय बहुत ही बुरे हैं। इसलिए कभी भूलकर भी इन विषयोके मार्गमे पैर नही रखना चाहिए। जो पुरुष विरक्त होते हैं, वे विषयोका विषकी तरह परित्याग करते है, और विषयोका परित्याग करनेमे उनके सामने जो दु.ख आते है वे उनके इच्छा-हीन होनेके कारण ही उन्हें दिखाई नही देते।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

"जो ज्ञानी पुरुष देहके समस्त विकारोको पूर्ण रूपसे अपने वशमे कर लेते है, उनके लिए विपय-जन्य दुःख कही नामको भी नही रह जाते। जो लोग वाह्य विषयो-की वात विलकुल जानते ही नही, उनके अन्दर एक अखंड सुख भरा रहता है। परन्तु इस सुखका उपभोग करनेकी रीति कुछ निराली ही होती है। जिस प्रकार पक्षी फलोका आस्वादन करते हैं, उस प्रकार वे लोग सुखोका आस्वादन नही करते। वे लोग उस सुखका भोग करते हुए भी अपने भोक्ता होनेकी वात बिलकुल भूले रहते हैं। इस आत्म-सुखका उपभोग करते समय उनकी ऐसी तन्मय अवस्था हो जाती है कि वे अहं-भावका परदा दूर हटा देते है, और तव वह तन्मयता उनके साथ ऐसा गाढ़ आलिंगन करती है कि वह आलिंगत होते ही जीवात्मा ठीक उसी प्रकार पर-मात्माके साथ बिलकुल एक-रूप हो जाता है, जिस प्रकार पानीके साथ पानी मिलकर

हो जाता है कि यह आत्म-स्वरूपका तत्व व्यापक है अथवा स्थल और काल आदिसे मर्यादित है। इस प्रकार जो अपनी इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह शरीर धारण किये रहने पर भी परब्रह्मकी बराबरी तक जा पहुँचता है। वही सच्चा जितेन्द्रिय होता है और उसीको योगी कहना चाहिए, क्योकि छोटे और बडेका भेद-भाव जिसे कभी स्पर्श ही नही करता, वह मेरुके बराबर सोनेके पर्वत और मिट्टीके छोटेसे ढेले दोनोको एक बराबर समझता है। वह ऐसा निरिच्छ और सम-बुद्धि बनकर रहता है कि सारी पृथ्वीके मूल्यके अथवा अपार मूल्यवाले तेजस्वी रत्नको भी वह पत्थरके समान मानता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

"फिर ऐसे पुरुषमें स्नेही और शत्रु, पराये और परिचित आदि भेद-भावोकी विचित्र कल्पना भला हो ही कैसे सकती है? उसकी आत्म-स्वरूपवाली दृष्टिमे कौन किसका आप्त और कौन किसका शत्रु रह सकता है? उसे इस प्रकारका निश्चित ज्ञान हो चुका रहता है कि मैं ही समस्त विश्व हूँ। फिर उसकी दृष्टिमें यह भाव कहाँसे बचा रह सकता है कि यह अधम है और वह उत्तम है? यदि पारस पत्थरकी ही कसौटी बनाई जाय तो फिर उस पर सोनेके अलग-अलग कस कैसे लग सकते है? उस पर तो जो जो चीज रगड़ी जायगी, वह सब निर्मल सोना ही बन जायगी। इसी प्रकार जिसमे निर्मल बुद्धिके समभाववाला गुण आ जाता है, उसे सारा स्थावर जंगम विश्व केवल आत्म-स्वरूप ही दिखाई पडता है। चाहे ये विश्व रूपी अलंकार अलग-अलग आकार और गढनके भले ही दिखाई पडे, परन्तु वह यह बात अच्छी तरह जानता है कि ये सब एक ही निर्मल ब्रह्म रूपी सोनेके बने हुए हैं। यह उत्तम प्रकारका ज्ञान जिसे पूर्ण रूपसे प्राप्त हो जाता है, वह बाहरके और दिखौआ आकारो और रूपोके भ्रममे नही पड़ता है। यदि वस्त्रके सम्बन्धमे अच्छी तरह विचार किया जाय तो यही पता चलता है कि यह सब सूतोका ही प्रसार है। इसी प्रकार वह भी निश्चयपूर्वक यही देखता है कि इस समस्त विश्वमे एक परब्रह्मको छोड़कर दूसरी और कोई चीज है ही नही। जिसे इस प्रकारका अनुभव हो जाता है, वही सम-बुद्धि होता है। सम-बुद्धि इससे अलग और कोई चीज नही है। जिसे पवित्र वस्तुओका राजा कहते है, जिसके दर्शन मात्रसे पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसकी संगतिने मोह-ग्रस्त पुरुषको भी आत्म-बोध हो जाता है, जिसके शब्दोसे ही धार्मिकताका जीवन होता है, जिसकी दृष्टिमें अष्ट-महासिद्धियोका जन्म होता है, स्वर्गसुख आदि जिसके लिए केवल खेलवाड़ होते हैं, यदि सहजमे उसका केवल स्मरण भी हो जाय, तो केवल उस स्मरणके बलसे ही वह उस स्मरणकर्त्ताको अपने समान बना लेता है। इतना ही नही, उसकी स्तुति करनेसे भी कल्याण होता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

एक-रूप हो जाता है। अथवा जिस प्रकार आकाशमें वायुके मिल जाने पर इस तरह की द्वैतकी कोई बात बाकी ही नही रह जाती कि यह वायु है और यह आकाश है, उसी प्रकार जब जीवका उस तन्मयतावली अवस्थाके साथ योग होता है, तव केवल सुख ही अपने वास्तविक स्वरूपमें बच रहता है। इस प्रकार भेदका अन्त हो जाता है। अव यदि यह कहा जाय कि उस समय केवल एकता ही बच रहती है, तो भी उसका ज्ञान करनेवाला द्रष्टा ही नही रह जाता। अब मैं यह विषय समाप्त करता हूँ। जो बात कहनेमे आ ही न सकती हो उसके विषयमे क्या कहा जाय ? जिसे आत्म-स्वरूपका अनुभव हो जायेगा, वह इस स्पष्ट रचनासे ही सब समझ लेगा।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४ ॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५ ॥

"जो लोग इस आत्म-सुखसे परिपूर्ण और आत्म-रूप हो जाते है, उन्हे मैं समरसता या ब्रह्मैक्य रसके पुतले ही समझता हूँ। वे आनन्दकी मूर्त्ति, सुखके अंकुर अथवा आत्मबोधके विश्राम-स्थल ही होते है। उन्हे विवेककी जन्म-भूमि या ब्रह्मतत्वका केवल स्वरूप अथवा ब्रह्म-विद्याके शृगारित अवयव समझना चाहिये। उन्हे सत्व गुणकी सात्विकता अथवा चैतन्यकी गति समझना चाहिये।" जब यह व्याख्यान इतने जोरो पर आता है, सब श्रोता लोग कहते हैं—"अब यह विस्तार रहने दो। एक एक कल्पनाको कहाँ तक रँगते चलोगे ! तुम तो सन्तोकी स्तुतिमे तल्लीन हो जाते हो और तब तुम्हे कथा-प्रसंगका ध्यान ही नही रह जाता, और निर्गुण विषयका प्रतिपादन करते समय सुन्दर सुन्दर शब्दोकी योजना ही करते रहना चाहते हो। परन्तु अब इस प्रवृत्तिका आवेग रोको, ग्रन्थके अर्थका दीपक जलाओ और सन्तोके हृदय रूपी घरमें कल्याण-कारक प्रभात करो।" गुरुराज श्रीनिवृत्तिनाथका यह आशय समझकर मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि—फिर श्रीकृष्णने जो कुछ अर्जुनसे कहा, अब आप लोग वही सुनिये।" श्रीकृष्ण कहते है—"हे अर्जुन, आत्मानन्दके अगाध दहका तल जिन लोगोको मिल जाता है, वे वही स्थिर होकर तद्रूप हो जाते हैं। अथवा जो लोग आत्म-ज्ञानके निर्मल प्रकाशकी सहायतासे समस्त विश्व स्वयं अपनेमे ही देखते हैं, उन्हे देहधारी परब्रह्म कहनेमे कोई हर्ज नही है। यह परब्रह्म सत्य, सर्वश्रेष्ठ, अविनाशी और असीम है। जो लोग निष्काम होते है, वही इस परब्रह्म रूपी देशमे निवास करनेके अधिकारी होते है। यह केवल महर्षियोके लिए अलग करके रखा गया है; यह केवल विरक्तोके ही हिस्सेमे आता है और इसकी समृद्धिका कभी अन्त नही होता।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६ ॥

'जो लोग अपने चित्तको विषयोसे बिलकुल अलग कर लेते है और उसको पूर्ण रूपसे अपने वशमे रखते है, वे लोग जिस स्थान पर दृढ़ और शान्त होकर सोते है और फिर कभी जागते ही नही, उसी स्थानको परब्रह्म निर्वाण कहते है। हे अर्जुन,

"जिसके सामने उस अद्वैत भावका दिन चढ जाता है, जिसका कभी अन्त ही नही होता, वह पुरुष निरन्तर अपने आत्म-स्वरूपमे स्थिर रहता है। हे अर्जुन, जो इस प्रकारकी अद्वैत दृष्टिसे विचार करता है, वह अद्वितीय होता है, क्योकि तीनों लोकोमे वही आत्म-स्वरूपसे ओत-प्रोत भरा रहता है और इसी लिए वह सहज ही अपरिग्रही अर्थात् परिवार-हीन रहता है।" इस प्रकार श्रीकृष्णने सिद्ध पुरुषोको पहचाननेके विशेष लक्षण अर्जुनको बतलाये और ये लक्षण बतलाते हुए उन्होने सिद्ध पुरुषोका गौरव स्वयं अपने गौरवसे भी अधिक बढा दिया। फिर श्रीकृष्णने कहा—"जो योगी ज्ञानी जनोका केवल मुकुट-मणि बल्कि जो ज्ञानी-जनोकी दृष्टिका स्वयं प्रकाश ही होता है, जिस समर्थकी सकल्पनासे ही इस विश्वकी रचना हो जाती है, ओंकारकी पैठ या बाजारमें बुना हुआ वेद रूपी उत्कृष्ट वाङ्मय वस्त्र भी जिसके यश-को ढकनेके लिए अधूरा होता है, जिसके शरीरके तेजसे सूर्य और चन्द्रमा तकके व्यापार चलते है और इसी लिए यह (उस सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशमे विचरण करनेवाला) संसार जिसके तेजके विना कर्म-हीन हो जायगा, केवल यही नही बल्कि, हे अर्जुन, जिस योगीके केवल नामका विचार करने पर उसके महत्वके सामने यह असीम आकाश भी तुच्छ दिखाई पडता है, उसका एक एक वास्तविक गुण तुम कैसे ग्रहण कर सकोगे? पर अब इन बातोको खतम करो। मेरी समझमे यही नही आता कि वास्तवमे किसके लक्षणोका वर्णन करना चाहिए और इस बहानेसे मैं किसके लक्षण कह गया। भाई अर्जुन, जो ब्रह्म-विद्या द्वैतका स्वयं आधार ही पूरी तरहसे नष्ट कर डालती है, वह ब्रह्म-विद्या यदि मैं पूरी तरहसे खोल दूँ तो फिर इस कल्पना-मे कि "अर्जुन मेरा प्रिय और दुलारा है", जो मधुर रस है, वही क्या नष्ट नही हो जाएगा? इसी लिए यह सच्चे अद्वैतकी बाते नही है, बल्कि इसमे बीचमे थोडा सा परदा मैने इसलिए रख दिया है कि तुम्हारे स्नेहका सुख भोगनेके लिए मन जरा अलग होकर रहे। जो लोग अहं ब्रह्मास्मिकी भावनामे फँसे रहकर मोक्षका सुख प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करते रहते हैं, उनकी दृष्टि तुम्हारे और मेरे प्रेम पर न लगे, बस इतना ही मैं चाहता हूँ।" उस समय श्रीकृष्णने अपने मनमे विचार किया कि यदि अद्वैतका यह प्रतिपादन सुनकर इस अर्जुनका अह-भाव ही नष्ट हो गया और यदि यह मेरे स्वरूपमे मिलकर सम-रस ही हो गया, तो फिर मै अकेला रहकर ही क्या करूँगा? फिर मेरे लिए ऐसा कौन बाकी हो रह जायगा जिसे देखकर मेरे मनको शान्ति मिलेगी, जिसके साथ मै खुले मनसे जी भरकर बाते करूँगा अथवा जिसे प्रेमके आवेगमे मै अच्छी तरह आलिंगन कर सकूँगा? यदि अर्जुन मेरे स्वरूपमे मिलकर लीन हो जायगा, तो फिर अन्तरगको पूरी तरहसे भरकर बाहर निकलकर चारो ओर फैलनेवाली अपने मनकी कोई अच्छी बात मैं किससे कहूँगा? यह सोचकर श्रीकृष्ण कुछ घबरा-से गये और उन्होने अद्वैतमे ही द्वैतका उपदेश करनेके बहानेसे अर्जुनका मन अपने मनकी ओर आकृष्ट कर लिया। श्रोताओके कानोको कदाचित् यह वर्णन कुछ वेढब जान पडेगा, परन्तु अर्जुन तो वास्तवमे श्रीकृष्णके सुखकी प्रत्यक्ष और जीती-जागती मूर्ति ही था। परन्तु श्रोताओको यह बात ध्यानमे रखनी चाहिए कि

आत्म-ज्ञानियोंका ध्येय जो परब्रह्म है, वही परब्रह्म ऐसे लोग भी होते है। कदाचित् तुम यह पूछोगे कि वे पुरुष इस स्थिति तक कैसे पहुँचे है और शरीर रहते हुए भी उन लोगोंने किस प्रकार यह ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त किया है, तो मैं यह विषय भी थोड़ेमें तुम्हे बतला देता हूँ, सुनो।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः यदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

"जो लोग विरक्तिके वलसे समस्त विषयोको निकाल वाहर करते है और अपना शरीर केवल मनोमय बना लेते है, वे अपनी दृष्टि उलटकर उस सन्धि-स्थान पर लगा लेते हैं, जहाँ दोनो भौहे मिलती है, और तव दाहिने और वाएँ दोनों नथनोके मार्ग बन्द करके प्राण-वायु और अपान-वायुको एकमे मिला लेते है और उन्हे अपने चित्तके साथ चिदाकाशकी ओर ले जाते है। फिर जिस प्रकार मार्गमें पड़नेवाले नदी-नाले आदि गंगामे मिलते हैं और तव वह महानदी उन नदी-नालोके सहित जाकर समुद्रमें मिलती है, उसी प्रकार वे लोग भी परब्रह्ममे ऐसे मिल जाते हैं कि फिर उन्हे किसी प्रकार अलग किया ही नही जा सकता। जब समाधिकी अवस्थामे प्राण और अपानके सम्मिलित वायु-वलसे चिदाकाशमे मनका लय हो जाता है, तव समस्त वासनाओंका आपसे आप परिहार हो जाता है। जिस मन रूपी वस्त्र पर यह ससार रूपी चित्र अंकित होता है, वह इस अवस्थामे फट आता है। जिस प्रकार सरोवरके सूख जाने पर उसमे पड़नेवाला प्रतिबिम्ब आपसे आप नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस समाधि-की अवस्थामे मनका भी पूर्ण रूप से नाश हो जाने पर अहं-भाव आदि वृत्तियो-का फिर भला कहाँ ठिकाना लग सकता है! इसी लिए जिन लोगोको ब्रह्म-सारूप्यके सुखका अनुभव हो जाता है, ये लोग शरीरधारी रहते हुए भी ब्रह्म-रूप हो जाते है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

"मैं अभी तुमको वतला चुका हूँ कि कुछ लोग इस देहको धारण किये रहने पर भी ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेते हैं। वे लोग इसी मार्गसे इस अवस्था तक पहुँचते है। वे लोग यम, नियम, आसन, धारणा आदि योग-साधनके विकट पर्वतो पर चढकर और योगाभ्यासका सागर पार करके इस अवस्था तक पहुँचते है। वे आत्म-साक्षात्कारके वलसे स्वयं निर्लिप्त रहकर यह सव प्रपंच चलाते रहते हैं और स्वयं प्रत्यक्ष शान्त रस वनाकर रहते है।" इस प्रकार श्रीकृष्णने इस भाषणमें कर्म-योगका विवेचन किया; और अर्जुन एक वहुत ही मार्मिक श्रोता था, इसलिए यह नवीन तत्व सुनकर वह चौंक पडा। यह वात श्रीकृष्णके ध्यानमे भी आई और उन्होने कुछ हँसते हुए पूछा—"हे पार्थ, क्या मेरी इन वातोसे तुम्हारा समाधान हो गया?" इसपर अर्जुनने कहा—"हे देव; आप दूसरोके मनका भाव जाननेमे वहुत प्रवीण है, इसलिए आपने मेरे मनकी वात भी वहुत अच्छी तरह जान ली हैं। मैंने अपने मनमे जो वात पूछनेका

इतना ही नही, बल्कि जिस प्रकार कोई बाँझ अधिक अवस्था या बुढापेमे केवल एक ही लडका उत्पन्न होने पर पुत्र-प्रेमकी पुतली बनकर मानों नाचने लगती है, ठीक उसी प्रकारकी अवस्था उस समय श्रीकृष्णकी हो रही थी। यदि अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णके प्रेमका यहाँ इतना अधिक अतिरेक न दिखाई पडता, तो मैने भी इस प्रकारका वर्णन न किया होता। परन्तु देखो, यह कैसे आश्चर्यकी बात है ! कैसा अद्भुत अद्वैतका उपदेश है ! उधर समरागणमे कैसी मारकाट मची हुई है और यहाँ हमारे सामने स्वयं प्रेमकी मूर्ति नाच रही है ! यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो प्रेम और लज्जा, व्यसन और उसके प्रति होनेवाली घृणा और पिशाच तथा शुद्धिका जोड एक साथ ही कैसे दिखाई पड सकता है ? जहाँ प्रेमका नाम आता है, वही लज्जा दूर हो जाती है; जहाँ व्यसनका नाम आया, वहाँ उसके प्रति होनेवाली घृणा दूर हो जाती है; और जहाँ पिशाचका नाम लिया, वहाँ शुद्धिका अन्त ही हो जाता है। इसलिए कहनेका अभिप्राय यही है कि अर्जुन वास्तवमे भगवान्‌की मैत्रीका आश्रय-स्थान अथवा सुखसे फूले हुए श्रीकृष्णके अंतरग का दर्पण ही था। इस प्रकार अर्जुनका पुण्य बहुत बड़ा और पवित्र था और इसी लिए वह श्रीकृष्णकी कृपासे भक्ति रूपी बीजको ग्रहण करनेके लिए उपजाऊ खेत की तरह सुपात्र हो गया था। अथवा नौ प्रकारकी भक्तियोमे जो अन्तकी आत्म-निवेदनशाली भक्ति है, उसके पास ही रहनेवाली जो आठवी सख्य भक्ति है, उस भक्तिका अर्जुनको अधिष्ठाता देवता ही समझना चाहिए। अर्जुन पर श्रीकृष्णका इतना अधिक प्रेम था कि पास ही प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण स्वामीके खड़े रखने पर भी उनका वर्णन न करके उनके दास अर्जुनके ही गुणोका गान करनेको जी चाहता है। और फिर यह देखो कि जो पतिव्रता स्त्री एकनिष्ठ प्रेमसे अपने पतिकी सेवा करती है और पति जिसका सदा बहुत अधिक सम्मान करता है, उस पतिव्रताकी उसके पतिसे भी बढकर प्रशसा की जाती है या नही ? उसी प्रकार मेरे मनमे भी यही बात आई कि अर्जुनकी ही विशेष स्तुति करनी चाहिए, क्योकि समस्त त्रिभुवनकी पुण्याई केवल उसी अर्जुनमे थी। इस अर्जुनके प्रेमके वश होकर उन श्रीकृष्ण परमात्माको अमूर्त्त होने पर भी सकार रूप धारण करना पड़ा था और उन पूर्ण-कामके मनमे भी उत्कंठा उत्पन्न हुई थी। यह सुनकर श्रोताओने कहा—"हम लोगोका भी कैसा सौभाग्य है ! इन शब्दोमे कैसी विलक्षण शोभा भरी हुई है ! यह भाषाका माधुर्य मानो संगीतके सातो स्वरोको भी मात कर रहा है। यह कैसी विलक्षण बात है ! यह भाषा कभी सामान्य प्राकृतोकी हो ही नही सकती। यदि इस भाषाको सीधी-सादी देशी भाषा कहे तो भी यह साहित्य-कलाके नाना प्रकारके अलंकार, रसोके रंगोके जाल, अद्वैतका प्रतिपादन करनेमे भी कैसी अच्छी तरह फैला रही है। इन देशी भाषामे भी ज्ञानकी चाँदनी कैसी अच्छी तरह खिल रही है और गूढ भावार्थकी शीतलता सर्वत्र कैसे समान रूपसे फैली हुई है ! इसी लिए इसके प्रकाशमे गीताके श्लोकार्थ रूपी कुमुद आपसे आप विकसित हो रहे हैं।" यह सुन्दर व्याख्यान सुनकर मनमे उत्कंठाकी विलक्षण तरंगे उडने लगी और निष्काम श्रोता भी स-काम हो गये और भीतरी आनन्दके कारण उनके सिर हिलने लगे। श्रोताओकी इस

विचार किया था, हे देव, आपने वह बात पहले ही जान ली और सब बातें कह डाली। लेकिन आप एक बार फिर वही बात और भी अधिक स्पष्ट करके मुझे बतलावे। हे देव, सच तो यह है कि आपने अभी साधनाके जिस मार्गका उपदेश किया है, वह हमारे सरीखे दुर्बल जीवोंके लिए साख्य योगकी अपेक्षा अर्थात् ज्ञान मार्गकी अपेक्षा वैसा ही अधिक सुगम और सुलभ है, जैसे गहरे पानीमे तैरकर पार जानेकी अपेक्षा वह जल-मार्ग सुगम रहता है जो घुटने घुटने होता है और जिसे आदमी पैरो चलकर पार कर लेता है। अब यदि ऐसा मार्ग ढूँढ निकालनेमे कुछ अधिक समय लगे तो यह कोई ऐसी अड़चन नही है जो सहन न की जा सके। इसलिए अब सब प्रश्नोका निराकरण करनेके लिए फिर एकबार यह सारा विषय विस्तारसे कहे।" इसपर श्रीकृष्णने कहा—"तुम्हे यह साधन मार्ग अच्छा जान पडता है न? ऐसी अवस्थामे फिरसे उसका विवेचन करनेमे मेरा क्या बिगडता है। सुनो, मैं फिरसे सब बाते बहुत प्रसन्नतासे बतलाता हूँ। हे अर्जुन, तुम्हारे मनमे यह विषय सुननेकी लालसा है, और जब तुममे इतनी सिद्धता या सामर्थ्य है कि तुम विषय सुनकर इसके अनुसार आचरण भी करना चाहते हो, तो इस मार्गका विवरण तुम्हे फिरसे बतलानेमे मैं क्यो पीछे हटूँ।" हे श्रोतागण, एक तो माताकी इच्छा हो और तिस परसे उनमें सन्तानकी रुचि और उत्सुकता भी आकर मिल जाय। ऐसी अवस्थामे प्रेम रसकी जो विलक्षण बाढ़ आती है, उसका यथार्थ स्वरूप कौन अच्छी तरह समझ सकता है? श्रीकृष्णने अर्जुनकी ओर जिस प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखा था, मेरी समझमे नही आता कि मैं उस प्रेम दृष्टिको अमृतकी वृष्टि कहूँ या अद्भुत स्नेहरसकी सृष्टि कहूँ। न जाने वह दृष्टि अमृत-रसकी जीती-जागती पुतली थी अथवा वह प्रेम-रसका पान करके मत्त हुई थी जो वह अर्जुनके मोहमे ऐसी फँस गई कि वहाँ से उसका हटना सम्भव ही नही था। परन्तु इस प्रकारके जितने वर्णन किये जायँगे, उन सबसे केवल विषयांतर ही होगा। परन्तु इतना निश्चित है कि श्रीकृष्णके उस स्नेह-भावका ठीक-ठीक शब्द-चित्र खीचा ही नही जा सकता। लेकिन इसमे आश्चर्य की कौन-सी बात है? जो ईश्वर स्वयंही अपना सपूर्ण वर्णन नही कर सकता, उसके स्वरूपका दूसरा कोई कैसे वर्णन कर सकता है? परन्तु जिस प्रकार श्रीकृष्ण आग्रहपूर्वक कह रहे थे कि—कहनेसे यही सूचित होता है कि वे सहज ही अर्जुनके मोह मे फँस गये थे। उस समय श्रीकृष्णने अर्जुन से कहा—"हे अर्जुन, जिस प्रकार यह विषय तुम्हारी समझमे अच्छी तरह आ सके, उसी प्रकार मैं इसका विवेचन बहुत प्रसन्नता के साथ करूँगा। वह योगमार्ग कौन-सा है? उसका क्या उपयोग है? उसके अधिकारी कौन लोग होते है? आदि आदि, इस विषयमे जितने प्रश्न उत्पन्न हो सकते है, उन सबके उत्तर मैं तुम्हे बतलाता हूँ। तुम ध्यानपूर्वक सुनो।" इसके उपरान्त श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, उसका वर्णन आगे के अध्याय में किया गया है। अब श्रीनिवृत्तिनाथका दास मैं ज्ञानदेव श्रोताओ से कहता हूँ कि श्रीकृष्णने बिना सासारिक प्रपंचोको छोड़े योग-साधनाका जो उपदेश अर्जुनको किया था, वह मै स्पष्ट करके बतलाता हूँ।

अवस्थाका ध्यान करके निवृत्तिदासने कहा—"भइया, सावधान हो जाओ। इसमे सन्देह नही कि श्रीकृष्णके प्रसादके प्रकाशमे पाडवोके कुलमे एक विलक्षण प्रभात हुआ। देवकीके उदरमे श्रीकृष्ण जनमे और बढे थे और यशोदाने बड़े कष्टसे उनका लालन-पालन किया था, परन्तु अन्तमे वे इन्ही पाडवोके काम आये थे। इसीलिए अर्जुनकी पुण्याईका बल अपार था, और श्रीकृष्णकी कृपा सम्पादित करनेके लिए न तो उसे दीर्घ काल तक सेवा ही करनी पडी थी और न उपयुक्त अवसरकी प्रतीक्षा करके प्रसादकी याचना ही करनी पड़ी थी।" परन्तु अब मै इन बातोको समाप्त करके जल्दीसे मूल कथा कहना ही आरम्भ करता हूँ। श्रीकृष्णकी ये बाते सुनकर अर्जुनने कुछ दुलारसे कहा—"हे देव, आपने सन्तोके जो लक्षण बतलाये है, वे सब तो मुझमे कही दिखाई नही पडते। और यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो इन लक्षणोका सारांश भी अपने मनमे लाने लायक मुझमें यथेष्ट योग्यता नही है। परन्तु आपके उपदेशसे ही मैं इतना योग्य और समर्थ हो सकूँगा कि इन लक्षणोका साधन करके इन्हे अपनेमें लाऊँ। यदि आप चाहेगे तो मैं निस्सन्देह ब्रह्म ही बन जाऊँगा। आप मुझे जो कुछ करनेको कहेगे, मै वह सब ध्यानपूर्वक करूँगा। यद्यपि मैं यह नही समझ सका हूँ कि आपने अब तक किसके सम्बन्धमे मुझसे ये बाते कही हैं, परन्तु फिर भी उसके लिए मेरे मनमें इतना आदर और श्रद्धा उत्पन्न हो रही है। फिर जब मैं स्वयं उसीके समान हो जाऊँगा, तब तो हे देव, मेरे सुखका पारावार ही न रह जायगा। हे सद्गुरु, क्या आप इतनी कृपा करेगे कि ऐसे सिद्ध पुरुपकी स्थिति तक मै स्वयं ही पहुँच जाऊँ?" इसपर श्रीकृष्णने कुछ हँसकर कहा—"अच्छा, मैं तुम्हारी इच्छाके अनुसार ही सब काम कर देता हूँ। मनुष्यको जब तक सन्तोषकी प्राप्ति नही होती, तब तक उसके मनमे बराबर यही चिंता बनी रहती है कि मुझे किस प्रकार सुख मिलेगा। परन्तु जब एक बार उस सन्तोषकी प्राप्ति हो जाती है, तब इच्छाकी अपूर्णता कही बाकी नही रह जाती। इसी प्रकार जिसने परमात्माकी सेवा की हो, वह सहजमे ब्रह्म स्वरूप प्राप्त कर लेता है।" पर जरा यह देखो कि अर्जुनका सौभाग्य कैसा चमका है और उसकी कामना फलोके भारसे कैसी लद गई है! हजारो बार जन्म लेने पर इन्द्र आदिको भी जिस परमेश्वरकी जल्दी प्राप्ति नही होती, वही परमेश्वर अर्जुनके इतने वशमे हो गया है कि शब्दोके द्वारा उसका वर्णन ही नही हो सकता। अर्जुनने जो यह कहा था कि—"मै ब्रह्म होना चाहता हूँ।" सो उसकी यह बात श्रीकृष्णने अच्छी तरह सुन ली। उस समय श्रीकृष्णने अपने मनमे यह विचार किया कि इसकी बुद्धिके गर्भमे वैराग्यका जन्म हुआ है; और जिस प्रकार गर्भवती स्त्रियोके मनमे अनेक प्रकार की कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार इसके मनमे भी ब्रह्म-स्थिति प्राप्त करनेकी कामना हुई है। यह वैराग्य-गर्भ अभी पूरे दिनोका नही हुआ है, परन्तु फिर भी यह अर्जुन रूपी वृक्ष वैराग्य रूपी वसन्त ऋतुकी बहारके कारण सोऽहमस्मिके मनोभाव रूपी बौरसे लद गया है। इसी लिए यह इतना विरक्त हो गया है कि अब इसमे ब्रह्म प्राप्तिका फल लगनेमे अधिक विलम्ब न लगेगा। उस

छठा अध्याय

धृतराष्ट्रसे संजय कहते हैं—"श्रीकृष्णने अर्जुनको योग-रूपके जिस मार्गका उपदेश किया था, वह अब सुनो। श्रीनारायणने जब अर्जुनके सामने सहज ब्रह्म-रसका यह भोजन परोसा था, उस समय तुम और हम भी मेहमान बनकर वहाँ पहुँच गये। यह हम लोगो का कितना बड़ा भाग्य है! प्यासा आदमी जब पानी अपने मुँह से लगाता है, तब वह उसे अमृत के समान ही जान पड़ता है। उसी प्रकारका अवसर आज तुम्हारे और हमारे लिए आ उपस्थित हुआ है, क्योकि आज ब्रह्म-ज्ञान हमारी मुट्ठीमें आ गया है।" इसपर धृतराष्ट्रने कहा—"हे संजय, इस प्रकारकी बाते तो मैंने तुमसे पूछी नही थी।" धृतराष्ट्रकी यह बात सुनकर संजयने उनके मनका भाव समझ लिया। उसे ज्ञात हो गया कि इस समय धृतराष्ट्रके मनमें केवल अपने लड़कोकी ही चिन्ता हो रही है। इस पर संजयको हँसी आई और उसने मनमे कहा कि यह बुड्ढा पुत्र-मोहसे पागल हो रहा है। और नही तो यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो इस समय कृष्ण और अर्जुनमे जो संवाद हुआ था, वह कितना मनोहर है! परन्तु मोहसे मूढ़ धृतराष्ट्रको इन बातोसे क्या मतलब! जो जन्मसे ही अन्धा हो, भला वह कभी देख सकता है? संजयने यह बात अपने मनमें तो सोची, पर ऊपर उसने कुछ भी नहीं कहा, क्योकि उसे डर था कि मेरी यह बात सुनकर इस बुड्ढेको बहुत क्रोध होगा। परन्तु संजय अपने मनमें इस बात पर बहुत प्रसन्न हुआ कि श्रीकृष्ण और अर्जुनका यह संवाद मुझे सुनने को मिला। उसके मनको पूरी तरहसे व्याप्त करनेवाले उस आनन्दने उसके अन्त.करणमे स्फूर्ति उत्पन्न की और इसी लिए उसने बहुत प्रसन्नतासे उस संवादका प्रसंग कह सुनाया। वह प्रसंग, गीताका छठा अध्याय है जो तत्त्व-निर्णयका स्थान है। जिस प्रकार क्षीर-सागरको मथने पर अन्तमें सब रत्नोका सार अमृत प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार गीताके तत्त्व-ज्ञानका सार अथवा विवेक-सागरका उस पारका तट अथवा, समस्त योग-सम्पत्तिका खुला हुआ खजाना यह छठा अध्याय है। यह वही छठा अध्याय है। जिसमें आदि माया स्तब्ध होकर बैठी है, जहाँ वेदोका बोलना बन्द हो जाता है और जहाँसे गीता रूपी वल्लीका अंकुर निकलता है। मैं भी इसका वर्णन साहित्यके प्रकाशमें 'आलंकारिक भाषामे करूँगा। आप लोग ध्यान देकर सुने। मैं देशी भाषाके शब्दोकी योजना करता हूँ, परन्तु वह योजना ऐसी रस-पूर्ण होगी कि अपने माधुर्यके कारण स्वयं अमृतको भी सहजमें परास्त कर देगी। यदि इन शब्दोकी तुलना कोमल गुणके साथ की जाय तो इसके सामने संगीतके स्वरों की कोमलता भी तुच्छ ठहरेगी। इसके मोहक गुणके सामने सुगन्धकी महत्ता भी फीकी पड़ जायगी। इसकी रसालताका महत्व इतना अधिक है कि कानोमे भी जीभ निकल आवेगी और सब इन्द्रियोमें कलह मच

समय अर्जुनके साथमे श्रीकृष्णके मनमे इसी प्रकारका विश्वास होने लग गया था। उन्होने मनमे सोचा—"अव यह ऐसा सिद्ध हो गया है कि अपने मनमे यह जो काम करनेका विचार करेगा, उसका इसे पहलेसे ही फल मिल जायगा। इसी लिए अव यदि इसे योगाभ्यासका उपदेश किया जायगा तो वह निष्फल नही होगा।" मनमे यही विचार करके श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—"हे पार्थ, अव मैं इस योगाभ्यासका राज-मार्ग तुम्हे वतलाता हूँ; सुनो। इस मार्गमें जगह-जगह प्रवृत्ति-रूपी वृक्षोकी जड़मे निवृत्ति-रूपी फलोके घौद लगे हुए है। श्री शंकर अव भी इसी मार्गसे प्रवास करते रहते हैं। इतर योगीजन पहले-पहले कुछ दूसरे ही टेढे-तिरछे मार्गोमें भटक चुके हैं, परन्तु अनुभव होनेपर अन्तमे उन्होने भी यही राज-मार्ग स्वीकृत किया है। अज्ञानके दूसरे समस्त टेढे-तिरछे मार्गोको छोडकर वे लोग आत्मवोधके इसी सरल मार्गसे वरावर आगे बढ़ते गए हैं। योगियोके वाद वड़े-वड़े ऋषि भी सदा इसी मार्गसे चलते रहे है और साधककी अवस्थासे निकलकर सिद्धता तक पहुँचे है। वडे वड़े आत्म-वेत्ताओने भी इसी मार्गसे चलकर श्रेष्ठता प्राप्त की है। जव योगका यह राजमार्ग एक वार दिखाई पड़ जाता है, तव भूख-प्यास सब मिट जाती है। इस मार्गमे रात और दिनका कोई काल भेद नही है। इस मार्ग पर चलते समय जहाँ जहाँ पैर पडते हैं, वहाँ वहाँ मोक्षकी खान ही खुलकर सामने आती है। और यदि वीचमे कही कोई रुकावट आ पड़े तो फिर स्वर्ग-सुख तो रखा ही हुआ है। चाहे पूर्वकी ओर जाओ और चाहे पश्चिमकी ओर जाओ, इस मार्गका प्रवाह वहुत ही शान्तिपूर्वक और अचूक होता है। मुझे अभी यह वतलानेकी आवश्यकता नही है कि इस मार्गसे चलकर हम जिस गाँवमे पहुँचते है, हम स्वयं वही गाँव वन जाते है। यह वात तो तुम्हे आपसे आप स्वानुभवसे पीछे मालूम हो जायगी।" अर्जुनने कहा—"हे देव, आपने जो कहा कि "पीछे" सो मैं तो यही चाहता हूँ कि वह "पीछे" कव होगा। मैं इस समय इस उत्कंठाके सागरमें डूव रहा हूँ। क्या आप मुझे इससे वाहर नही निकालेगे?" इस पर श्रीकृष्णने कहा—"हे पार्थ, तुम्हारी ये वातें वहुत ही उतावलेपनकी है। मैं तो स्वयं वतला रहा था; पर तुम वीचमें ही प्रश्न कर बैठे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

"अच्छा, अव मैं तुम्हारे सामने सव वातोका सागोपांग वर्णन करता हूँ। परन्तु इन वातोका वास्तविक उपयोग तभी हो सकता है, जव इनका अनुभव किया जाय। योगाभ्यास करनेके लिए सबसे पहले एक उपयुक्त स्थान देखना चाहिए। वह स्थान ऐसा होना चाहिए कि यदि विश्राम करनेकी इच्छासे आदमी वहाँ जाकर वैठे, तो फिर वहाँसे उसका उठनेको जी ही न चाहे। वह स्थान ऐसा हो कि वहाँ के दृश्यसे ही वैराग्य दूना हो जाय। वहाँ यदि सन्त-जनोका निवास हो तो उससे सन्तोपकी पुष्टि होती है और मनको धैर्यका सहारा मिलता है। जहाँ योगाभ्यास आपसे आप होता हो, जहांकी रमणीयताके कारण हृदयको आत्मानन्द का अनुभव हो, हे अर्जुन,

जायगी। शब्द स्वभावत श्रवणेन्द्रियका विषय है। परन्तु जिह्वा कहती है कि इन शब्दोका रस मेरा विषय है। घ्राणेन्द्रियका विषय गन्ध है; परन्तु देशी भाषाके ये वचन अपनी सुगन्धिके कारण घ्राणका भी विषय बन जायँगे। इनके सम्बन्धमे एक और अद्भुत बात यह है कि वे उच्चारण की जानेवाली इन बातोका स्वरूप देखकर नेत्रोको भी ऐसा समाधान होगा कि वे तुरन्त बोल उठेंगे कि यह तो लावण्यकी खान ही खुल गई! और जब पूरे वाक्योकी रचना होगी, तब श्रोताओका मन दौडकर बाहर निकलने लगेगा, क्योकि वह चाहेगा कि मैं इन शब्दोको दोनो हाथोसे पकडकर गलेसे लगा लूँ। इस प्रकार सभी इन्द्रियाँ अपनी'अपनी वृत्तिके अनुसार इन शब्दो पर अधिकार प्राप्त करनेका प्रयत्न करेगी; परन्तु ये शब्द समान रूपसे सबका समाधान करेंगे। जिस प्रकार सूर्य अकेला ही सारे जगतमें चेतना उत्पन्न करता है, उसी प्रकार इन शब्दोकी व्यापकता भी बहुत ही विलक्षण है। जो लोग इन शब्दोके भावार्थ पर विचार करेंगे, उन्हे ऐसा जान पडेगा कि ये शब्द नही है, बल्कि इन शब्दोंके रूपमें हमे स्वयं चिन्तामणि ही प्राप्त हुआ है। परन्तु ये बाते बहुत हो चुकी। अब मैं देशी भाषाके शब्दोकी थालीमे ब्रह्म-रस परोसकर निष्काम साधु-जनोके सामने यह ग्रंथरूपी भोजन उपस्थित करता हूँ। आत्म-ज्ञानकी जो ज्योति कभी मन्द नही होती, वही ज्योति अब दीपाधारमे रखी गई है। वही लोग यह भोजन कर सकेंगे जो इस प्रकार इसे ग्रहण करेंगे कि इन्द्रियोको पता भी न चले। अत इस समय श्रोताओको श्रवणेन्द्रियका भी आश्रय छोड देना चाहिये और केवल मनकी सहायतासे यह भोजन ग्रहण करना चाहिए। ऊपर शब्दोका को दिखौआ कवच है, उसे उतारकर अलग कर दे और अन्दर जो ब्रह्म-भाव छिपा हुआ है, उसके साथ एक-रूप हो जायँ और तब अनायास ही अखण्ड सुख से सुखी हो। यदि श्रोताओमे ऐसी सूक्ष्मदर्शिता आ जायगी तभी यह श्रवण सार्थक होगा। और नही तो फिर इस निरूपणको बहरे और गूँगेका सम्वाद ही कहना पडेगा। परन्तु अब यह व्याख्यान यही समाप्त होना चाहिए, क्योकि मेरे जो श्रोता लोग है, उन्हे इतना समझा-बुझकर बतलानेकी कोई आवश्यकता नही है, क्योकि यहाँ जितने श्रोता उपस्थित है, वे सब निष्काम होनेके कारण इस श्रवणके स्वभावत ही अधिकारी है। जिन लोगो ने आत्म-ज्ञानके प्रेमके कारण समस्त सासारिक सुखोको अपने पाससे हटाकर दूर कर दिया है, उनके सिवा और लोगोको इस विषयके माधुर्यका ज्ञान ही नही हो सकता। जिस प्रकार कौवे चन्द्रमाको नही पहचान सकते, उसी प्रकार साधारण मनुष्योको भी इस ग्रन्थका ज्ञान नही हो सकता। और जिस प्रकार केवल चकोर ही चन्द्रमाकी किरणोका सेवन कर सकते है, उसी प्रकार केवल ज्ञानी जनोको इस ग्रन्थमे आश्रय प्राप्त होगा। अज्ञानियोके रहनेका स्थान अलग ही है, इस ग्रन्थमे नहीं है। इसी लिए इस विषयमे मुझे कुछ अधिक कहनेकी आवश्यकता नही है। परन्तु प्रसंग आ पडने पर सहजमे ये दो-चार बातें कह दी है, इसके लिए साधु श्रोताजन बुरा न माने! अब मैं यह बतलाता हूँ कि श्रीकृष्णने अर्जुनसे क्या कहा। श्रीकृष्णका वह भाषण स्वयं बुद्धिके लिए भी समझना कठिन है, फिर शब्दोके द्वारा उन्हे प्रकट करना तो असम्भव ही है। परन्तु फिर भी सद्गुरु श्रीनिवृति-

जिस स्थान पर पहुँचते ही पाखंडियोके मनमे भी तपश्चर्या करनेकी बुद्धि उत्पन्न हो, जहाँ कोई रास्ता-चलता आदमी अचानक पहुँच जाने पर यदि स-काम हो, तो भी वह वहाँ से लौटने या हटकर जाने की बात बिलकुल भूल जाय, ऐसा स्थान न रहनेवालोको भी रोक लेता है, भटकनेवालोंको भी स्थिर करता है और वैराग्यको थपकी लगाकर जाग्रत करता है। वह स्थान ऐसा होना चाहिए कि उसे देखते ही विषय-सुखोंके लम्पटको भी ऐसा जान पडे कि मैं संसारका सुंदर राज्य छोडकर यही शान्ति-पूर्वक पडा रहूँ। बस वह स्थान ऐसा ही रमणीय होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह स्थान इतना शुद्ध भी होना चाहिए कि वहाँ आँखोको साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप ही दिखाई पडता हो। उस स्थानमें एक और विशेष गुण यह होना चाहिए कि वहाँ योगाभ्यास करनेवाले साधकोकी भी वस्ती हो और दूसरे लोगोका वहाँ आना-जाना न हो। वहाँ ऐसे बडे बडे और सघन वृक्ष भी होने चाहिएँ जो जडसे ही अमृतके समान मीठे और सदा फल देनेवाले हो और वे फल उनमे बारहो मास लगते हो। साथ ही उस स्थान पर वर्षा-कालके अतिरिक्त अन्य ऋतुओमे भी पग पग पर पानी मिलता हो और विशेषत. वहाँ पानीके बहते हुए झरने भी यथेष्ट होने चाहिएँ। वहाँ गरमी बहुत ही ठिकानेकी और साधारण पडती हो और शीतल तथा शान्त वायु मन्द मन्द बहती हो। वह स्थान इतना शान्त होना चाहिए कि जल्दी किसी प्रकारका शब्द वहाँ न होता हो और पशुओ आदिकी कौन कहे, तोते या भुनगे तकका भी वहाँ प्रवेश न होता हो। वह स्थान ऐसा होना चाहिए कि पानीके सहारे रहनेवाले हंस और दो-चार सारस आदि पक्षी ही कही कही दिखाई पडते हो और कभी कभी कोई कोयल वहाँ आ बैठा करती हो। इसी प्रकार सदा तो नही, पर हाँ कभी कभी कुछ मोर भी वहाँ आया-जाया करते हो, तो कोई हर्ज नही। हे अर्जुन, ऐसा स्थान बहुत ही सावधान होकर ढूँढना चाहिए तब वहाँ कोई मठ या शिवमन्दिर देखना चाहिए। इन दोनोमेसे जो अपनेको अच्छा जान पडे, वही अपने लिए चुन लेना चाहिए और वहाँ बिलकुल एकान्तमे जा बैठना चाहिए। अपने लिए कौन सा स्थान उपयुक्त होगा, यह देखनेकी रीति यह है कि पहले इस बातका अनुभव कर लेना चाहिए कि हमारा मन किस स्थान पर शान्त और निश्चल रहेगा; और तब उसीके अनुरूप स्थान चुनकर ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे वहाँ आसन जमाना चाहिए। सबसे ऊपर स्वच्छ मृग-चर्म होना चाहिए, बीचमे अर्थात् उस मृग-चर्मके नीचे धोये हुए निर्मल वस्त्रकी तह होनी चाहिए और उसके नीचे अर्थात् बिलकुल जमीन पर सरल और अखड दर्भांकुर बिछे हुए होने चाहिए। ये दर्भांकुर बहुत ही कोमल हो और बराबर बिछे हुए हो, एक दूसरेके साथ खूब अच्छी तरह मिले हुए हो। इन सब बातोका ध्यान उन्हे बिछाते समय ही पूरी तरहसे रखना चाहिए। यह आसन यदि बहुत ऊँचा होगा तो शरीर हिले-डुलेगा और यदि बहुत नीचा होगा तो भूमिके साथ स्पर्श होनेकी सम्भावना रहेगी। इस लिए उसकी ऊँचाई ठीक और सुभीतेकी होनी चाहिए। परन्तु इन बातोंकी बहुत अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नही। इन सब बातोका भावार्थ यही है कि आसन अच्छा और सुख देनेवाला होना चाहिए।

नाथके कृपा-प्रकाशसे मुझ उसका ज्ञान हो जायगा। जो वस्तु दृष्टिके द्वारा दिखाई न पड़ती हो, वह बिना दृष्टिके ही दिखाई पड़ती है। परन्तु इसके लिए अपने पास अतीन्द्रिय ज्ञानका बल होना चाहिए। जो सोना कीमियागर को भी नही मिलता, वह दैव-योगसे पारस हाथ आ जाने पर लोहेमे ही मिल जाता है। इसी प्रकार यदि सद्गुरुकी कृपा प्राप्त हो जाय, तो फिर कौन-सी बात असाध्य हो सकती है ? इसीलिए मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि वह असीम तत्व भी मेरी समझमे आ जाता है। इसी लिए मै निरूपण करूँगा, निराकार तत्वमे भी साकारता लाऊँगा और जो वस्तु इन्द्रियोकी पहुँचके बाहर है, उसका भी इन्द्रियोके द्वारा ही अनुभव करा दूँगा। अब जिन श्रीकृष्णमे यश, श्री औदार्य, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन छओ गुणोका वैभव है और इसी लिए जिन्हे लोग भगवन्त कहते है और जो सदा वासना-संगहीन पुरुषोके साथ रहते हैं, उन श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'हे पार्थ, अब तुम अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

"योगी और संन्यासी दोनो एक ही होते है। सम्भव है कि तुम इन दोनोको अलग-अलग मानते हो, परन्तु यदि विचार किया जाय तो अन्तमे यही निर्णय होता है कि दोनो एक ही हैं। यदि यह नाम-भेदवाला भ्रम दूर कर दिया जाय तो योग ही सँन्यास सिद्ध होता है; और यदि ब्रह्म ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो इन दोनोमे कोई अन्तर नही दिखाई पड़ता। जिस प्रकार हम एक ही पुरुषको भिन्न-भिन्न नामोसे सम्बोधित करते है, अथवा जिस प्रकार दो भिन्न-भिन्न मार्गोसे एक ही स्थान पर पहुँचते है, अथवा जिस प्रकार स्वभावतः एक-रूप रहनेवाला जल अलग-अलग बरतनोमे भरा जाने पर भी एकरूप ही रहता है, उसी प्रकार योग और संन्यासका भेद केवल दिखौआ है, वास्तविक नही। हे अर्जुन, जगतमे बहुमान्य सिद्धान्त यही है कि जो व्यक्ति कर्मोका आचरण करता हुआ भी उन कर्मोके फलसे संग नही रखता, उसीको योगी समझना चाहिए। जिस प्रकार यह पृथ्वी, वृक्ष आदि उद्भिजोका निर्माण या सृष्टि करती है, परन्तु उनमे लगनेवाले फलो या अनाजोकी इच्छा नही करती, उसी प्रकार जो परब्रह्मकी व्यापकताका आश्रय लेकर अपनी स्वाभाविक स्थितिके अनुरूप जिस समय जो उचित कर्त्तव्य करना होता है, उस समय उसे कर डालता है, परन्तु फिर भी जिसमे देह-बुद्धिका अहकार नही होता और अपने मनको भी फलकी आसक्तिका स्पर्श तक नही होने देता, उसीको सन्यासी समझना चाहिए और वही निस्सन्देह सच्चा और श्रेष्ठ योगी है। परन्तु जिससे इस योगयुक्तिका साधन नही होता और जो स्वाभाविक तथा नैमित्तिक कर्मोको केवल बन्धनकारक मानकर छोड बैठता है, वह साथ ही साथ कुछ दूसरे कर्मोको अपने साथ लगा लेता है। जिस प्रकार अपने शरीरमे लगा हुआ एक लेप तो धो-पोछकर दूर कर दिया जाय और फिर स्वयं ही एक दूसरा नया लेप शरीरमे लगा लिया जाय, उसी प्रकारकी अवस्था उन लोगोकी

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

"फिर उस आसन पर बैठकर चित्तको एकाग्र करना चाहिए और सद्गुरुका स्मरण करना चाहिए। फिर अन्दर और बाहर दोनों ओर सात्विक वृत्तिसे ओत-प्रोत भरकर बहुत सम्मान और आदरपूर्वक तब तक सद्गुरुका स्मरण करते रहना चाहिए, जब तक अहंकारकी कठोरता बिलकुल नष्ट न हो जाय, विषयोकी पूरी पूरी विस्मृति न हो जाय, इन्द्रियो की चंचलता बिलकुल रुक न जाय और मन एकाग्र होकर हृदयमें प्रतिविम्वित न हो जाय, और इस प्रकारकी स्वाभाविक एकताकी अवस्था पूरी तरहसे प्राप्त न हो जाय। फिर इसी आत्मबोधवाली अवस्थामें आसन पर वैठे रहना चाहिए। ऐसी अवस्थामें यह अनुभव होने लगेगा कि शरीर आपसे आप सँभलता हुआ ठिकाने आ रहा है और शरीरमेंकी वायु एक ही स्थान पर एकत्र हो रही है। इस अवस्थामे बैठते ही प्रवृत्ति पराङ्मुख हो जाती है, चित्तकी समाधि अर्थात् एकाग्र सम-स्थिति समीप आ जाती है और योगाभ्यासका साधन होता है। अब वतलाते हैं कि उस समय मुद्राकी अर्थात् कमरसे ऊपरवाले भागकी स्थिति कैसी होनी चाहिए। पिंडलीको जाँघसे मिलाकर पैरके तलुए इस प्रकार टेढ़े करने चाहिए कि वे ऊपरकी ओर हो जाँय और तब उन्हे गुदस्थानके मूलमें रखकर जोरसे दबाना चाहिए। दाहिने तलुएसे गुदस्थानकी सीवनका ठीक बीचवाला भाग दबाना चाहिए। इससे वाँया तलुआ सहजमें ठीक ऊपर जमकर वैठ जायगा। गुदा और वृषणके बीचमें चार अंगुलका अंतर होता है। उसमेसे यदि डेढ़ डेढ अंगुल दोनो ओर छोड दिया जाय तो वीचमे एक अंगुल बाकी रह जाता है। एँडीका पिछला भाग वही रखकर और सारे शरीरका भार खूब तौलकर उस स्थानको अच्छी तरह दवाना चाहिए। फिर पीठके नीचेवाला भाग ऐसे हलकेपनसे ऊपर उठाना चाहिए, जिसमे यह भी पता न चले कि, ऊपरका शरीर उठाया गया है या नही; और दोनो घुटने भी उसी प्रकार सँभालकर रखने चाहिएँ। हे अर्जुन, ऐसा करनेसे सारे शरीरका भार एँडीके केवल अगले भाग पर आ पडेगा। हे पार्थ यह मूलबन्ध नामका आसनका वर्णन है। और इसीका एक दूसरा नाम वज्रासन भी है। इस प्रकार जब गुदा और वृषणके बीचोबीच रहनेवाले आधार-चक्र पर ऊपरके शरीरका सारा भार पडता है, और शरीरके नीचेका भाग दवता है, तब आँतोमे संचार करनेवाला अपान वायु उलटे शरीरके भीतरी भागकी ओर अर्थात् पीछेकी ओर हटने लगता है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

"फिर हाथकी हथेलियाँ द्रोणाकार होकर आपसे आप बाएँ पैर पर आकर टिक जाती हैं और जान पड़ता है कि कन्धे कुछ ऊँचे हो गये है। शरीर-दंड ऊँचा या

होती है जो केवल आग्रहके वशीभूत होकर इस प्रकारका आचरण करते हैं और केवल व्यर्थकी विवंचनामे पडते हैं। अरे भाई, एक तो गृहस्थाश्रमका भार पहलेसे और स्वभावतः ही सिर पर चढ़ा हुआ है। अब उस भारको अच्छी तरह वहन न करके जल्दीमे संन्यासका एक नया वोझ लेकर अपना भार और क्यो वढाया जाय ? इसी लिए अग्नि-होत्र आदि नित्य श्रौत-स्मार्त्त आदि कर्म नही छोडने चाहिए और आचारकी मर्यादाका उल्लंघन नही करना चाहिए। बस फिर अब कर्मयोग स्वभावतः ही आत्म-सुख देनेवाला हो जाता है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगो भवति कश्चन॥ २ ॥

"हे अर्जुन, अनेक शास्त्रोने यही कहा है कि जो सन्यासी है, वही योगी है, और इस प्रकार संन्यास तथा योगके अभेदकी विजय-पताका फहराई है। कर्म करते रहने की अवस्था मे जहाँ सकल्प-विकल्पके सूत्र छोड देनेके कारण टूट जाते है, बस वही कर्म-योगका तथ्य हाथ आ जाता है; और शास्त्रकारोने अपने अनुभवसे यही निश्चित किया है

आरुरुक्षोर्मुनेर्योग कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३ ॥

"हे अर्जुन, यदि कर्म-योग रूपी पर्वतके शिखर पर पहुँचना हो तो यह कर्म-मार्गका सीढियोवाला रास्ता कदापि छोडना नही चाहिए। इन सीढियो से होते हुए पहले यम-नियमोकी आधार-भूमिसे होते हुए योगासनोकी पगडडी पर पहुँचना चाहिए। और तब प्राणायामकी टकरी पर चढ जाना चाहिए। फिर प्रत्याहार की बीचवाली पहाडी पड़ती है। यहाँ इतनी फिसलन होती है कि बुद्धिके पैर भी जल्दी नही टिकते। यहाँ पहुँचने पर बडे बडे हठी योगियोकी प्रतिज्ञा भी टूट जाती है और वे लुढक जाते है। परन्तु अभ्यास और निश्चय वृत्तिसे इस प्रत्याहारवाले बीचके मार्गमे भी धीरे-धीरे वैराग्यका आश्रय प्राप्त होने लगता है। इस प्रकार वायुके पठारसे होते हुए धारणाके विस्तृत प्रान्त मे पहुँचना चाहिए। फिर इस प्रान्तको पार करते हुए तव तक चलते रहना चाहिए, जब तक ध्यानके सिरे पर न पहुँचा जाय। वहाँ पहुँच-कर यह मार्ग समाप्त हो जाता है और प्रवृत्तिकी लालसा नष्ट हो जाती है, क्योकि यही साध्य और साधन दोनो आपसमे गले मिलते है और एकरूप हो जाते है। यहाँ पहुँचकर योगी पुरुष ऐसी समतल भूमिपर स्थिर हो जाता है, जहाँसे और आगे पैर रखनेकी कोई बात ही नही रह जाती, और पिछले मार्गकी भी कोई स्मृति बाकी नही रह जाती। इस उपायसे योगका साधन करके जो पुरुष अत्यन्त उच्च अवस्था तक पहुँचता है, अब मैं उसके लक्षण बतलाता हूँ, सुनो।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४ ॥

"जिसकी इन्द्रियोके घरमे विषयोका आना-जाना बन्द हो जाता है और जो

सीधा खड़ा रहता है और उसके बीचमे मस्तक घुसा या डूबा हुआ-सा मालुम होता है और आँखोमे आपसे आप झपकी आने लगती है। आँखोकी ऊपरवाली पलके तो वन्द हो जाती हैं, पर नीचेवाली पलके खुली रहती है। इससे आँखे आधी खुली रहती हैं। फिर दृष्टि अन्दरकी ओर वढकर जरा सा वाहरकी ओर आती है और नाकके ठीक कोने या अगले भाग पर आकर जम जाती है। इस प्रकार दृष्टि अन्दरकी ओर संकुचित हो जानेके कारण फिर वाहर नही जा सकती, और तव उस अर्द्ध-विकसित दृष्टिको नाकके अगले भाग पर ही स्थिर होना पड़ता है। फिर किसी दिशामे दृष्टिपात करने अथवा किसीका आकार या रूप देखनेकी इच्छा आपसे आप नष्ट हो जाती है। सिर दवकर नीचे वैठ जाता है और ठोंढी गलेके नीचेवाले गड्ढे मे वैठ जाती है और सिर अच्छी तरह छातीके साथ सट जाता है। इससे कंठ-नाली भी उसीमे मिलकर फँस जाती है। इसी प्रकारके वन्धको जालन्धर कहते हैं। नाभि ऊपर उठ आती है और पेट अन्दर धँसकर सपाट हो जाता है, परन्तु हृदय-कोश विस्तृत हो जाता है। इस प्रकार लिंग-मूलके ऊपर और नाभि-स्थलके नीचे जो वन्ध होता है, उसे उड्डीयान-वंध कहते हैं। इस प्रकारकी वन्धमुद्रासे शरीरके वाहरी अगो पर योगाभ्यासकी छाप पडती है और शरीरके अन्दरका वह आधार नष्ट हो जाता है, जिसमे मनोवृत्तियाँ रहती है। कल्पना वे-काम हो जाती है और प्रवृत्ति शान्त हो जाती है। शरीरके लेखे मन आपसे आप नहीके समान हो जाता है। फिर इस वातकी कुछ सुध नही रह जाती कि भूख क्या हो गई और नीद कहाँ चली गई! हे अर्जुन, अभी मैंने तुम्हे जो मूल वन्ध या वज्रासन वतलाया है, उसके द्वारा पूरी तरहसे बँध जानेके कारण अपान वायु शरीरमे पीछेकी ओर चलती है और दवाव पडनेके कारण फूलने लगती है। फिर वह कुपित होकर मत्त होती है और उसी वन्द जगहमे गडगडाने लगती है और नाभि-स्थानमे रहनेवाले मणिपूर नामक चक्रको वीच वीचमे धक्के देती है। इसके बाद जव यह आँधी शान्त हो जाती है, तब वह सारा शरीर रूपी घर ढूढ डालती है और वाल्यावस्थासे लेकर अव तक जितना मल अन्दर जमा रहता है, वह सव शरीरके वाहर निकाल देती है। अपान वायुकी यह लहर शरीरके अन्दर तो समा ही नही सकती इसलिए वह कोठोमे घुसकर कफ और पित्तको आधारस्थलसे निकाल देती है। फिर यह उभरी हुई अपान वायु रुधिर आदि सातो धातुओके समुद्रको उलट देती है, मेदके पर्वतोको चकनाचूर कर देती है और हड्डियोके अन्दर वैठी हुई मज्जा तकको वाहर निकाल देती है। वायु-मार्गकी नालीको खुलासा करती है और सव अवयवोको शिथिल कर देती है। इस प्रकार अपने इन लक्षणोसे यह अपान वायु योगकी साधना करनेवाले नौसिखुए लोगोको डरा देती है। परन्तु योगकी साधना करनेवालोको इन सव बातोसे विलकुल डरना नही चाहिए। कारण यह है कि यद्यपि यह अपान वायु अपने इस प्रकारके व्यापारोसे कुछ व्याधि उत्पन्न करती है, परन्तु साथ ही साथ वह उस व्याधिका परिहार भी करती चलती है। शरीरमे कफ और पित्त अ[illegible] जो जलीय अंग हैं और मास-मज्जा आदि जो पृथ्वीके अश है, वह उन सवको ए[illegible]

आत्म-ज्ञानकी कोठरीमें सुखपूर्वक आत्मानन्दमें सोया रहता है, जिसके मनमे सुख-दुखके फेरमे पड़कर झगड़नेका चाव नही रह जाता और इन्द्रिय-विषयके पास आ पहुँचने पर भी जिसे इस वातका कभी ध्यान भी नही होता कि ये विषय क्या है, इन्द्रियोंको कर्माचरणके मार्गमें लगाने पर भी जिसके अतःकरणमें कर्मोके फलोके सम्बन्धमे नामको भी आसक्ति नही रहती, जो केवल देह-धारणके लिए जाग्रत रहता है और सदा आत्मभावनामे लीन रहता है, निस्सन्देह उसीको योग-रूढ़ पुरुष समझना चाहिए।" यह सुनकर अर्जुनने कहा—"हे देव, यह वात सुनकर तो मुझे बहुत ही आश्चर्य हो रहा है। अव आप मुझे यह वतलावेंगे कि ऐसे पुरुषके समान योग्यता कैसे प्राप्त हो सकती है।"

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

इसपर श्रीकृष्णने हँसकर कहा—"हे अर्जुन, तुम्हारी यह वात भी वहुत ही अद्भुत है। भला इस अद्वैत अवस्थामे कौन किसीको क्या दे सकता है? जिस समय मनुष्यको भ्रान्तिकी शय्या पर कठिन मायाकी तन्द्रा लगती है, तभी उसको जन्म और मरण के दृश्य-स्वप्न दिखाई पडने लगते है। परन्तु आगे चलकर जब वह अकस्मात् जाग उठता हैं तव उसे यह निश्चय होता है कि स्वप्नको वे सव वातें विलकुल मिथ्या थी। परतु उस पहली भ्रान्तिकी भाँति यह आत्न-बोध भी स्वयं उसीको होता है। और, हे अर्जुन, वह केवल अपने देहके अभिमानके फेरमे पडकर ही स्वयं अपना घात करता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

"यदि हम विचारपूर्वक अपना अहं-भाव छोड़ दे और सद्ब्रह्म-रूप हो जायँ तो मानों सहजमे हम स्वयं ही अपना कल्याण कर लेते हैं। और नही तो रेशमके कीड़ेकी तरह जो आप ही अपने आपको कोशमे बन्द कर लेता है, जो मनुष्य अपने शरीरके सौन्दर्यमे भूलकर उसीमे अपने आपको पूर्ण रूपसे वद्ध कर लेता है; वह स्वयं ही अपना वैरी ठहरता है। जिस समय द्रव्य-प्राप्तिका अवसर आता है, उस समय उस अभागेको स्वय ही अन्धे बननेका शौक होता है, और जब उसके सामने धन-कोश खुला हुआ रहता है, तव वह आँखे बन्द करके उस धन-कोशको लाँघकर आगे निकल जाता है। जैसे किसीको भ्रम होता है और वह यह बकता हुआ चारो तरफ दौड़ता फिरता है कि—"अरे मैं नही हूँ।" "अरे मैं खो गया।" "अरे मुझे कोई चुरा ले गया।" और इस प्रकार अकारण ही वह अपने सिर एक आफत ले लेता है। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो जीव भी ब्रह्म ही है। परन्तु किया क्या जाय! उसकी बुद्धि उस ओर जाती ही नही। भला सोचो कि यदि स्वप्नमें किसी पर शस्त्र-का प्रहार हो, तो क्या उस प्रहारसे वह स्वप्न देखनेवाला कभी मरता है? परन्तु ऐसे पुरुषकी स्थिति उसी तोतेके समान होती है जो उस नलिका यन्त्र पर बैठता है जो स्वयं उसीको पकडनेके लिए लगाई जाती है। तोता उस नलिका-यन्त्र पर बैठता है और उसीके भारसे वह नली चलने लगती है। वास्तवमें जिस समय वह नली

मिला देती है। इसी बीचमें, हे अर्जुन, आसनके तापके कारण कुंडलिनी नामकी शक्ति जाग्रत होती है। जिस प्रकार नागिनका कुंकुमके समान लाल बच्चा कुण्डली बनाकर बैठता है, उसी प्रकार यह कुडलिनी नामक छोटी नाड़ी साढे तीन फेरेकी कुंडली मारकर और सिर नीचे करके नागिनकी तरह सोई रहती है। विद्युत्के बने हुए ककण या अग्निकी ज्वालाकी रेखा या सोनेके बढिया घोटे हुए पाँसे की तरह यह कुण्डलिनी नाभिस्थानकी छोटी सी जगहमे अच्छी तरह बन्धनोसे जकडी हुई पडी रहती है। पर जब उसपर वज्रासनका दबाव पडता है. तब वह जाग उठती है। फिर जिस प्रकार कोई तारा टूट पडता है अथवा सूर्यका आसन छूट जाता है अथवा स्वयं तेजका बीज प्रस्फुटित होने पर उसमेसे कोमल गाभ निकलता है, उसी प्रकार यह कुण्डलिनी अपना घेरा छोड देती है और मानो अँगडाई लेती हुई नाभि-कन्द पर खडी हो जाती है। स्वभावतः वह बहुत दिनोकी भूखी रहती है, तिस पर वह दवाकर जगाई जाती है; इसलिए वह अपना मुख बड़े आवेशसे खोलकर उपर उठाती हैं। उसी समय उसे अपने सामने वह अपान वायु मिल जाती है जो हृदय-कोश तल-में आकर एकत्र हुई रहती है, और तब वह उस समस्त वायुको अपने अधिकारमे कर लेती है। अपने मुखकी ज्वालासे वह उसे ऊपर-नीचे और चारो ओरसे घेर लेती है और माँसके कौर खाने लगती है। जहाँ-जहाँ माँस रहता है, वहाँ-वहाँ पहुँचकर वह उसे खाने लगती है और अन्तमे हृदयके भी एक दो कौर वह चट कर जाती है। फिर वह पैरोके तलुओ और हाथोकी हथेलियोकी भी खबर लेती है और तव ऊपर-के अंश पर भी हाथ साफ करती है। इस प्रकार वह शरीरकी प्रत्येक सन्धि और प्रत्येक अंगकी तलाशी लिये बिना नही रहती। वह नीचेके भागोको भी नही छोडती। यहाँ तक कि नाखूनोका सार भी वह चूस लेती है; चमड़े तकका सत्व निकाल लेती है और तब हड्डियो पर जा पहुँचती है। वह हड्डियोकी नलियो तकका रस चूस लेती है, शिराओके जाल तक साफ कर डालती है, और इन सब बातोका परिणाम यह होता है कि बाहरकी ओरके रोम-कूप तक बंद हो जाते है। कुण्डलिनीको बहुत अधिक प्यास लगी रहती है, इसलिए रुधिर आदि सातो धातुओको वह एक ही घूंटमे पी जाती है और इस कारण शरीर बिल्कुल नीरस हो जाता है, जिससे शरीरमे पूर्ण रूपसे ग्रीष्म ऋतु ही व्याप्त हो जाती है। फिर नाकके छेदोमेसे बारह अंगुल तक जो हवा निकलती है, उसे भी यह कुण्डलिनी पकड़कर अन्दरकी ओर खीचने लगती है। ऐसी अवस्थामे नीचेकी वायु ऊपरकी ओर खिचने लगती है और ऊपरकी वायु नीचेकी ओर दबने लगती है, और इन दोनोके बीचमे केवल मध्यवाले चक्रके परदेकी ही आड रह जाती है। यदि बीचमे यह आड न हो तो ये दोनो वायु उसी समय एक दूसरीसे मिल जायँ। परन्तु कुण्डलिनी कुछ व्यग्र होकर इनसे कहने लगती है—'क्या केवल तुम्ही दोनो अब तक बच रही हो?' हे अर्जुन, इसका अभिप्राय यह है कि कुण्डलिनी शरीरमेका पृथ्वीवाला अंश खाकर भी समाप्त कर डालती है और जलके अंशका तो वह कही नाम भी नही रहने देती। जव यह शरीरमेके पृथ्वी और जल दोनो ही भूतोको खा डालती है, तव यह पूर्ण रूपसे तृप्त हो जाती है और तब कुछ शान्त होकर सुषुम्ना नामक

नाडीके पास रहती है। वहाँ तृप्त और सन्तुष्ट होकर वह जो गरल या विष उगलती है, वही प्राण-वायुके लिए अमृतके समान हो जाता है; और उस अमृतसे प्राण-वायु जीवन धारण करती है यद्यपि वह प्राण-वायु उस गरलकी अग्निमेसे निकलती है, परन्तु फिर भी वह शरीरके भीतरी और बाहरी दोनो पार्श्व शीतल कर देती है; और तब वह प्रत्येक अंगमे फिरसे वह सामर्थ्य भरने लगती है जो वह पहले उनमेसे खीच चुकी होती है। परन्तु नाडियोके मार्ग भर चुके होते है और उनका प्रवाह बन्द हो चुका रहता है; और शरीरमे जो अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय नामक नौ प्रकारकी वायु नष्ट हो चुकी होती है और केवल प्राण-वायु ही बची रहती है, इसलिए शरीरके सब धर्म नष्ट हो जाते है। फिर नाकके दाहिने और बाएँ रन्ध्रोकी इडा और पिंगला नामकी नाडियाँ मिलकर एक हो जाती है, उनकी तीनो गाँठे खुल जाती है और शरीरके अन्दरके छओ चक्रोके ऊपरके आवरण फट जाते है। फिर नासिका-रन्ध्रोमेसे बहनेवाली जिन वायुओकी उपमा सूर्य और चन्द्रमासे दी जाती है, उनका ऐसा लोप हो जाता है कि दीपककी ज्योतिको भी वे नही हिला सकती। बुद्धिकी चंचलता नष्ट हो जाती है और घ्राणेन्द्रियमे जो गन्ध बची रहती है, वह भी कुडलिनी शक्तिके साथ साथ मध्यम नाडी अर्थात् सुषुम्नामे घुस जाती है। इसी बीचमें चन्द्रमाकी सत्रहवी कलाके अमृतका वह सरोवर, जो ऊपरकी ओर रहता है धीरे धीरे टेढा होने लगता है और आकर कुंडलिनीके मुँहके साथ लग जाता है। फिर इस कुडलिनीकी नलीमे जो अमृत रस भरा है, वह समस्त अगोमे व्याप्त हो जाता है और प्राण-वायुके साथ प्रत्येक अंगमे पहुँचकर जहाँका तहाँ सूख जाता है। जिस प्रकार साँचेको तपानेसे उसमेका सारा मोम उड जाता है और फिर वह साँचा केवल धातु-रससे भरा रहता है, उसी प्रकार मानों चन्द्रमाकी सत्रहवीं कला इस शरीरके रूपमे अवतरित होती हुई जान पडती है और उसके चारो ओर चमडेका अवगुण्ठन मात्र रह जाता है। बादलोके आगे आ जानेसे सूर्य छिप जाता है, परन्तु उन बादलोके हट जाने पर जिस प्रकार वह फिर अपनी प्रकाशमान प्रभासे प्रकट होता है, उसी प्रकार इसी सत्रहवी कलाके तेजस्वी रूप पर चमड़ेकी खोली ही ऊपर ऊपर रह जाती है। परन्तु फिर वह भी भूसीकी तरह झड़ जाती है। फिर अगोकी कान्ति या प्रभा ऐसी जान पड़ती है कि मानो शुद्ध स्फटिकका निर्दोष स्वरूप हो अथवा रत्नका बीज प्रस्फुटित हुआ हो और उसमे कोमल कल्ले निकले हो। अथवा ऐसा जान पडने लगता है कि सन्ध्या-कालका रंग लेकर यह शरीर बनाया गया है अथवा अन्तस्थ चैतन्यके तेजकी निर्मल प्रभा है। यह शरीर ऐसा जान पडता है कि मानो कुकुमसे भरा हुआ अथवा चैतन्य रससे ढाला गया है। मुझे तो ऐसा जान पडता है कि वह शरीर क्या है, मूर्त्तिमती शान्ति ही है। यह शरीर मानो आनन्द चित्रमे के रंगोका काम अथवा आत्म-सुखका स्वरूप दिखाई पड़ता है अथवा सन्तोषका वृक्ष दृढतापूर्वक रोपा हुआ जान पडता है। अथवा वह स्वर्णचम्पककी कली है अथवा अमृतका पुतला है अथवा कोमलताका ऐसा उपवन है जिसमे पूर्ण रूपसे

भाव होता है, उसी प्रकारका मेरा और उसका एक भाव होता है । ऐसा पुरुष मुझमें ही रहता है और मैं भी ऐसे ही पुरुषमे रहता हूँ । जिस प्रकार उदकके अस्तित्वके कारण रस रहता है अथवा गगनके मापके अनुसार ही अवकाश रहता है, उसी प्रकार वह पुरुष भी मेरे ही रूपसे साकार रहता है ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

"जो मनुष्य एकात्मताकी दृष्टिसे मुझे समस्त भूतोमे उसी प्रकार ओत-प्रोत समझता है, जिस प्रकार वस्त्रमे तन्तु होते है अथवा जिसका विचार उसी न्यायसे ऐक्य-भावसे स्थिर हो गया है, जिस न्यायसे आभूषण अनेक रूपोवाले होने पर भी उन सबका अधिष्ठान सोना एक-रूप ही होता है अथवा जिसकी अज्ञान-रात्रि इस प्रकारके अद्वैत भावके सूर्योदयसे नष्ट हो गई है कि वृक्षमे जितने पत्ते दिखलाई पडते हैं, वे सब अलग अलग लगाये हुए नही है और वृक्षमे पत्ते भले ही बहुतसे दिखलाई पडे, परन्तु मूल वृक्ष एक ही होता है, ऐसा मनुष्य यदि पंचमहाभूतात्मक शरीरमें आ जाय तो भी वह उसी शरीरके वन्धनमे फँसा कैसे रह सकता है ? वह तो अनुभवके प्रभावसे मेरे वरावर ही हो जाता है । उसे आत्मानुभवके कारण वही व्यापकता प्राप्त हो जाती है जो मुझमे है । और चाहे मैंने अभी यह वात न कही हो, परन्तु फिर भी वह स्वभावत ही विश्व-व्यापक हो जाता है । अब यदि वह शरीरधारी भी हो तो भी उसे शरीरका अभिमान नही होता, और यह बात यदि शब्दो द्वारा स्पष्ट रूपसे वतलाई जा सकती तो अवश्य ही वतला दी जाती।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

"परन्तु इस विषयका विस्तार करनेकी आवश्यकता नही । जो विश्वके स्थावर और जंगम समस्त पदार्थोको अपने ही समान देखता और समझता है, जिसके मनमे सुख-दुःख आदिकी भावनाएँ अथवा शुभ और अशुभ कर्मोके सम्वन्धमे कोई भेद-भाव नही होता, जो सम, विषम और विचित्र सभी प्रकारकी वस्तुओको स्वय अपने ही अवयवोके समान समझता है, यहाँ तक कि जिसकी बुद्धिसे तीनो लोक ही आत्म-स्वरूप दिखलाई पडते है, उस पुरुषका भी शरीर होता ही है और लोक-व्यवहारमे प्रसंगके अनुसार उसे सुखी या दुःखी कहा जाता है। परन्तु मेरा अनुभव यह है कि ऐसा पुरुष सचमुच ब्रह्म-स्वरूप ही होता है । इसी लिए, हे अर्जुन, हमे अपने आपमे इस प्रकारके साम्यकी स्थापना करनी चाहिए कि हमे स्वयं अपने आपमे ही सारा विश्व दिखलाई पडे और हम स्वयं ही विश्व-रूप हो जायँ । यह बात जो मै तुमसे वार वार कह रहा हूँ, उसका मतलब यह है कि इस संसारमे इस साम्यसे बढकर और कोई ऐसी वस्तु नही है जो प्राप्त करनेके योग्य हो । यही मनुष्यका परम श्रेष्ठ साध्य है।"

वसन्त ऋतु व्याप्त है। अथवा शरद् ऋतुकी आर्द्रतासे चन्द्र-बिम्ब पल्लवित हुआ है, अथवा यह कल्पना होती है कि स्वयं तेज ही धारण करके आसन पर बैठा हुआ है। जिस समय कुण्डलिनी सत्रहवी कलाके अमृतका पान करती है, उस समय शरीरकी इसी प्रकारकी अवस्था हो जाती है। उस समय स्वयं काल भी इस शरीरसे डरने लगता है। उस समय वृद्धावस्थाकी कलाका लोप हो जाता है, यौवनावस्था भी दब जाती है और फिरसे बाल्यावस्था प्राप्त होती है। यदि केवल वयसका विचार किया जाय तब तो वह बालकोके ही समान दिखाई पडता हैं, परन्तु उसकी सामर्थ्यका महत्व इतना अधिक होता है कि "बाल" शब्दका अर्थ "बल" ही करना पडता है। उस समय उसके जो नये तेजस्वी नख निकलते है, उन्हे देखकर ऐसा जान पडता है कि मानो स्वर्ण वृक्षमे रत्नकी ऐसी कली निकली है जो कभी कुम्हलानेवाली न हो। जो नये दाँत निकलते है, वे भी बहुत ही छोटे-छोटे होते है; और ऐसा जान पडता है कि मानो जबडेमें दोनो तरफ हीरेकी कनीकी पंक्तियाँ बैठाई हुई हो। समस्त शरीर पर केशोके ऐसे नये अग्र भाग दिखाई पडते है कि मानो बहुत ही बारीक मानिककी कनियोके समान हो। हाथोकी हथेलियाँ और पैरोके तलुए लाल कमल के समान सुन्दर जान पड़ते हैं और उसकी जो आँखें धुलकर निर्मल हो जाती है, भला उनका वर्णन कौन कर सकता है! जिस समय मोती अपनी पक्व दशाको प्राप्त होता है, उस समय वह सीपीमे नही समाता। उस समय सीपीकी सीवन जिस प्रकार खुल जाती है, उसी प्रकार उसकी दृष्टि भी आँखोकी पलकोमें नही समाती और आवेशसे बाहर निकलना चाहती है। जिस समय उसकी आँखे अधखुली रहती है, उस स्थिति-में वह समस्त आकाशको आच्छादित कर सकती है। हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यान-मे रखो कि योगका शरीर यद्यपि कान्तिके विचारसे सोनेका होता है तो भी भारके विचारसे वह वायुका ही होता है, और इसका कारण यह है कि उसमे पृथ्वीका जड़ अंश और जल का द्रव अंग नामको भी नही होता। फिर उस योगीको समुद्रके उस पार की चीजे भी दिखाई पडने लडती है, स्वर्ग का नाद भी सुनाई पडने लगता है और वह च्यूँटी के मन का भाव भी जान सकता है। वह हवाके घोड़े पर सवार होता है। और यदि वह पानी के ऊपर चले तो उसके पैर का पानी से स्पर्श भी नहीं होता। बस इसी प्रकारकी अनेक सिद्धियाँ उसे प्राप्त हो जाती है। हे पार्थ, अब तुम इधर ध्यान दो। प्राण वायु का आधार लेकर हृदय-कोशके तलो की सीढियो के डडे बनाकर और सुषुम्ना नामक मध्यम नाडी की सीढ़ी बनाकर जो कुण्डलिनी हृदय तक पहुँच जाती है उसे जगत की जननी ही समझना चाहिए। वही जीवात्मा की शोभा है और वही ओंकार के अंकुर के ऊपर की छाया है। वही शून्यकी बैठक और परमात्मा रूपी शिव प्रतिमा का सम्पुट है अथवा ओंकार की स्पष्ट जन्म-भूमि ही है। अस्तु। जब इस प्रकार की यह सुकुमार कुण्डलिनी हृदय कोश में प्रवेश करती है, तब आपसे आप होने वाला दिव्य-अनाहत ध्वनि का नाद उठने लगता है। कुंड-लिनी शक्ति के अंग में लगे रहने के कारण ही बुद्धि को चैतन्य प्राप्त होता है, इसलिए यह अनाहत नाद उसे थोडा-थोड़ा सुनाई पडने लगता हैं। इस अनाहत नाद के दस प्रकार होते है। उनमें से नाद का पहला प्रकार घोष है जो

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

इस पर अर्जुनने कहा—"हे देव आपको मेरे कल्याणकी चिन्ता है, इसी लिए आप मुझसे इतनी बाते कह रहे है। परन्तु यह मन ही स्वभावत. ऐसा है कि इसके आगे हमारी कुछ भी नही चलती। यदि हम इस बातका विचार करना चाहे कि यह मन कैसा है और कितना बडा है तो इसकी थाह ही नही लगती। साधारणत. इसके विचरण करनेके लिए यह त्रैलोक्य भी छोटा है। फिर ऐसे मनको कैसे रोका जाय? क्या बन्दर कभी शान्त रह सकता है? यदि तेज आँधीसे कहा जाय कि तुम चुपचाप और स्थिर होकर बैठो, तो क्या वह कभी स्थिर और स्तब्ध हो सकती है? जो मन बुद्धिको भी चकमा देता है, स्वयं निश्चयको भी विचलित कर देता है, धैर्यके हाथ पर हाथ रखकर भी निकल भागता है, जो विवेकको भी भ्रममे डाल देता है, जो सन्तोष मे भी वासनाका दाग लगा देता है, जो उस समय भी दसो दिशाओको हिला डालता है जिस समय हम स्वस्थ होकर बैठना चाहते हैं, जो दबाये रखने पर भी जोरोसे उछलता है, निग्रह करनेका प्रयत्न करने पर भी जिसका आवेश और भी बढ़ जाता है, भला वह है, निग्रह करनेका प्रयत्न करने पर भी जिसका आवेश और भी बढ़ जाता है, भला वह मन अपना चञ्चल स्वभाव कैसे छोडेगा? इसी लिए मुझे तो प्रायः ऐसा ही जान पडता है कि मेरा मन कभी स्थिर न होगा और मैं कभी साम्यावस्था तक न पहुँच सकूँगा।"

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

इसपर श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, तुम जो कुछ कहते हो, वह बहुत ही ठीक है। यह मन सचमुच ऐसा ही है। और भाई, चञ्चलता तो इस मनका स्वभाव ही है। पर फिर भी यदि वैराग्यका आश्रय लेकर इसे योगाभ्यासके मार्ग पर लगाया जाय तो कुछ समयमे यह भी स्थिर हो जायगा। इसका कारण यह है कि इस मनकी यह एक अच्छी आदत है कि इसे जिस बातका मजा मिल जाता है, फिर उसीका इसे चस्का लग जाता है। इसी लिए इसे घुमा-फिराकर और कौतुकके द्वारा आत्म-सुखका चस्का लगाना चाहिए।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

"यह बात मैं मानता हूँ कि साधारणतः जो लोग विरक्त नही होते और जो अभ्यासका प्रयत्न नही करते, वे इस मनको अपने वशमे भी नही कर सकते। परन्तु यदि हम कभी यम-नियमोके मार्गमे गये ही न हो, वैराग्यका कभी हमने ध्यान भी न किया हो और हम सदा विषय-समुद्रमें ही डूबे हुए पड़े रहे और इस मनका कभी

पहले सुनाई पड़ता है। फिर उसी घोषके कुण्डमें ओंकारके रूपके समान अंकित नाद-चिह्नकी आकृति बनने लगती है। ये सब बाते कल्पनासे ही जाननी चाहिए। लेकिन कल्पना करनेवालेको भी भला यह बात कैसे मालूम हो सकती है? सच तो यह है कि यही समझमे नही आता कि उस स्थान पर काहेका नाद हो रहा है। परन्तु, हे अर्जुन, इस वर्णनके फेरमें तो मै बिलकुल भूल ही गया। जब तक प्राण-वायुका नाश नही होता, तब तक हृदय रूपी आकाशमे आवाज होती ही रहती है और वही आवाज इस तरह गूँजती रहती है। जब उस अनाहतके मेघ-नादसे समस्त हृदयकाश गूँज उठता है, तब ब्रह्म-रन्ध्र की खिडकी आपसे आप खुल जाती है। हे अर्जुन, हृदयकाश के ऊपर जो महदाकाश अथवा ब्रह्म-रन्ध्र होता है, उसीमे चैतन्य निराधार स्थितिमे रहता है। ज्योही उस महदाकाशके घरमे कुंडलिनी देवीका प्रवेश होता है, त्योही वह अपना तेज उस चैतन्यके आगे भोजन-रूपमे अर्पित करती है। ज्योही बुद्धिके शाकके साथ इस शुद्ध भोजनका नैवेद्य लगता है, त्योही फिर द्वैतका कही नाम भी बाकी नही रह जाता। फिर कुंडलिनीकी निजी कान्ति नष्ट हो जाती है और तब वह केवल प्राण-वायुका स्वरूप प्राप्त कर लेती है। यदि तुम यह पूछो कि उस समय उसका स्वरूप कैसा हो जाता है तो मै बतलाता हूँ, सुनो। ऐसा जान पडता है कि अब तक वायु की यह पुतली सुनहला पीताम्बर पहने हुए थी, पर अब वह अपना पीताम्बर दूर करके नग्न हो गई है। अथवा ऐसा जान पडता है कि हवाका झोका लगनेके कारण दीपककी ज्योति बुझ गई है। अथवा जिस प्रकार बिजली एक बार आकाशमे चमककर अदृश्य हो जाती है, उसी प्रकार जान पडता है कि हृदय-कमल तक सोने-की सलाईके समान दिखाई पडनेवाली अथवा प्रकाशके स्रोतकी तरह बहती हुई वह कुंडलिनी हृदय-प्रान्तकी दरीमे अचानक समा जाती है, और तुरन्त ही शक्तिका शक्ति में लय हो जाता है। ऐसी अवस्थामे हम उसे भले ही शक्ति कह लें, परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो वह प्राण-वायु ही होती है। भेद केवल यही है कि उसका नाद, कान्ति और तेज दिखाई नही पडता। फिर उस अवस्थामे मनको जीतने, वायुको बन्द करने या रोकने अथवा ध्यान लगानेकी भी कोई आवश्यकता नही रह जाती। उस समय मनमे संकल्प विकल्प भी नही उठते। वास्तवमे इस स्थितिको पंचमहाभूतोको पूर्ण रूपसे नष्ट करनेवाली ही समझना चाहिए।" इस प्रकार योग-साधनके द्वारा पिंडमे पिंडको ग्रसना नाथ सम्प्रदायका रहस्य या मूल उपाय है, और यहाँ श्रीकृष्णने उसकी ओर केवल संकेत किया है। यहाँ अच्छे-अच्छे गुण-ग्राहक कथा श्रवण करनेके लिए बैठे है और इसीलिए श्रीकृष्णकी ध्वनितार्थ-वाली गठरीको छोड-कर मैने वास्तविक भावार्थकी तह ही खोलकर सब लोगोके सामने रख दी है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

"हे अर्जुन, सुनो। जिस समय शक्ति निस्तेज होती है, उस समय देहके रूपका भी नाश हो जाता है और तब वह योगी सासारिक लोगोकी आँखोमे अपनी वास्त-

नियन्त्रण न करे तो फिर भला यह मन क्यो निश्चल होने लगा ? इसी लिए तुम पहले ऐसे साधनोका आरम्भ करो जिनके द्वारा मनका नियन्त्रण हो सकता हो; और तब देखो कि यह मन कैसे तुम्हारे वशमे नही आता। यदि तुम यह कहो कि मन कभी वशमे आ ही नही सकता, तो क्या योगके जो साधन आदि कहे जाते हैं, वे सब मिथ्या ही है ? वे सब तो मिथ्या है नही, इसलिए तुम अधिक से अधिक यही कह सकते हो कि मुझसे अभ्यास नही होता। यदि मनुष्यमे योगकी सामर्थ्य आ आय तो फिर उसके सामने मनकी चञ्चलता क्या चीज है ? क्या उस सामर्थ्यसे सब महा-तत्व आदि आदमीकी मुट्ठीमे नही आ जाते ?" इस पर अर्जुनने कहा—"हे देव, आप जो कुछ कहते है, वह बहुत ठीक है। सचमुच योगकी सामर्थ्यके सामने मनकी शक्ति बिलकुल नही चल सकती। परन्तु आज तक मुझे इस बातका पता भी नही था कि इस योगका किस प्रकार साधन करना चाहिए, इसी लिए मै अब तक मनके अधीन बना हुआ हूँ। हे श्रीकृष्ण, इस समस्त जीवनमे केवल आपकी कृपासे मुझे इस योग का ज्ञान हुआ है।

अर्जुन उवाच—

अयतः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

"परन्तु हे गुरुराज ! मेरे मनमे सहज ही एक शंका उत्पन्न हुई है। और उसका समाधान करनेकी सामर्थ्य आपके सिवा और किसीमे नही है। इसी लिए, हे श्री गोविन्द आप मेरी उस शकाका समाधान करें। मान लीजिए कि कोई पुरुष योग-साधनाका उपाय तो नही जानता, परन्तु फिर भी वह बहुत अधिक श्रद्धासे मोक्ष-पद प्राप्त करनेका प्रयत्न आरम्भ करता है। वह इन्द्रियोका ग्राम पीछे छोडकर आत्म-स्वरूपवाले दूरस्थ स्थान तक पहुँचनेके उद्देश्यसे श्रद्धावाले मार्गका अनुसरण करता है। परन्तु उसे आत्म-स्वरूपकी भी प्राप्ति नही होती और वह पीछे भी नही लौट सकता। इस प्रकार वह बीचमे ही पडा रह जाता है और इसी बीचमे उसकी आयुष्य का सूर्य अस्त हो जाता है। जिस प्रकार अ-समयमे सहज ही बादलका हलका और पतला टुकडा बीचमें आ तो जाता है, परन्तु न तो वह ठहरता ही है और न वर्षा ही करता है, उसी प्रकार वह पुरुष भी दोनो ही बातोसे अलग हो जाता है। कारण यह कि उसके लिए आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति तो दूर ही रहती है और अपने श्रद्धा-बलसे वह जिन इन्द्रिय-सुखोका परित्याग करता है, उनसे भी वह वंचित हो जाता है। इस प्रकार वह श्रद्धाके फेरमे पडकर दोनो तरफसे जाता है—न इधरका होता है, न उधरका। ऐसे मनुष्यकी क्या गति होती है।"

विक स्थिति या स्वरूप में नहीं दिखाई पडता। साधारणतः ऊपरसे देखनेमें तो वह पहले की ही तरह शरीरधारी दिखाई पड़ता है, परन्तु वास्तवमें उसका वह शरीर मानों वायुका ही वना हुआ होता है। अथवा जिस प्रकार अपना ऊपरी छिलका उतारकर केलेका गाभा खडा रहता है अथवा स्वयं आकाशमें ही उसका कोई अवयव निकलता है, उसी प्रकार वह योगी भी उस समम हो जाता है। जिस समय योगीका शरीर इस प्रकारका हो जाता है, उस समय उसे खेचर (आकाशमे संचार करनेवाला) कहते है। जिस समय योगीको यह योग्यता प्राप्त हो जाती है, उस समय उसका शरीर संसारमे एक बहुत बडा चमत्कार कर दिखलाता है। हे अर्जुन, इस प्रकार योगकी साधना करनेवाला मनुष्य जिस समय तक चलता है, उस समय अणिमा आदि आठो सिद्धियाँ उसके चरणोके आगे हाथ जोड़े खडी रहती है। परन्तु, हे अर्जुन, इन सिद्धियो की बातोसे हम लोगोका मतलब क्या है? मुख्य तात्पर्य यही है कि योगियों के स्वयं शरीरमे ही पृथ्वी, अप और तेज इन तीनो महाभूतोका लोप हुआ रहता है। पृथ्वीका अंश अपमे घुल जाता है, अपका अंश तेजमें समा जाता है और तेजका अंश हृदयके पवनमे चला जाता है। फिर अन्तमे एक मात्र पवन ही रह जाता है और वह भी केवल शरीरके रूपमे ही रहता है। परन्तु कुछ समय बीतने पर वह भी आकाशमे सम-रस होकर लुप्त हो जाता है। उस समय उस शक्तिका कुडलिनी नाम भी मिट जाता है और उसे मारुति (अर्थात् वायु) वाला नया नाम प्राप्त होता है। परन्तु फिर भी जब तक वह ब्रह्म-स्वरूपमे मिल नही जाती, तब तक उसमे शक्ति बनी ही रहती है। फिर वह ऊपर बतलाया हुआ "जालन्धर" नामक बन्ध छोडकर और काकी-मुखी सुषुम्ना नाड़ीका मुँह फोडकर ब्रह्म-रन्ध्रमे प्रवेश करती है। फिर वह ओंकारकी पीठ पर पैर रखकर चटपट पश्यन्ती-वाचाकी सीढी पार कर जाती है। फिर वह आधी मात्रा तक—अर्थात् ओंकारमे के मकार तक—उसी प्रकार ब्रह्म-रन्ध्र मे घुसती है, जिस प्रकार समुद्रमे नदी प्रवेश करती है। फिर वह ब्रह्म-रन्ध्रमे स्थिर होती है और अपनी सोऽहंवाली भावनाकी भुजा फैलाकर बडे आवेशसे परब्रह्म के साथ मिलती है। उस समय पंच-महाभूतोका परदा दूर हो जाता है और तब वह शक्ति परब्रह्मके गले लगती है और तब आकाशके सहित उस परब्रह्ममे एक-जीव होकर लीन हो जाती है। जिस प्रकार समुद्रका जल मेघोके द्वारा शुद्ध होकर नदी-नालोमें पहुँचता है, पर अन्तमे फिर उसी समुद्रके पानी मे मिलकर अपना मूल स्वरूप प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी देहकी सहायतासे परमात्मामे मिलकर उसके साथ एक हो जाता है। उस समय इस बातका भी विचार करनेकी कोई जगह बाकी नही रह जाती कि जीवात्मा और परमात्मा दोनो अलग-अलग थे और अब मिलकर एक हो गये हैं अथवा दोनो मिलकर एक ही वस्तु है। इस प्रकार गगनमे लीन होनेकी जो स्थिति है, उसका मनुष्यको जिस समय अनुभव होता है, उसी समय उसको उसका ठीक-ठीक ज्ञान भी होता है। इसी लिए ऐसे शब्द ही कही नही मिलते जिनके द्वारा उसका वर्णन सम्वादके प्रान्तमे लाया जा सके। हे अर्जुन, जिस वैखरी वाणीको साधारणतः इस बातका अभिमान रहता है कि मुझमे अभिप्राय प्रकट करनेकी शक्ति

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीकृष्णने कहा—"हे पार्थ, जिनके मनमे मोक्ष-सुखके विषयमे श्रद्धा होती है, भला उसकी मोक्षके सिवा और कौन सी गति हो सकती है? परन्तु ऐसी अवस्थामे एक बात होती है। वह यह कि उसे बीचमे ही रुककर विकल होना पडता है। परंतु उस विकलतामे भी ऐसा सुख है जो देवताओको भी जल्दी नही मिलता। परन्तु वही पुरुष यदि अभ्यासके मार्गमे उसी प्रकार आगे बढता चला जाता, जिस प्रकार उसने आरम्भमे उस मार्ग पर चलनेके लिए पैर उठाया था, तो निश्चय ही आयुष्य-सूर्यके अस्त होनेसे पहले ही और जीवन-रूपी दिन रहते ही सोऽहं-सिद्धिके स्थान तक अवश्य ही जा पहुँचता। परन्तु उसमे इतना अधिक वेग नही होता, इसलिए उसका बीचमे ही कुछ रुकना बिलकुल सहज और स्वाभाविक है। लेकिन इतना होने पर भी अन्तमें उसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

"ऐसे पुरुषके सम्बन्धमे एक और भी विलक्षण बात सुनो। जिन लोकोकी प्राप्ति के लिए इन्द्रको भी अनेक कष्ट करने पडते है, वे सब लोक मुमुक्षुको अनायास ही मिल जाते हैं। फिर उन लोकोमे जो सदा ज्योके त्यो बने रहनेवाले और दिव्य भोग होते है, उन सबका भोग करते करते वे लोग उकता जाते है। उन भोगोको भोगते समय उनके मनमे ग्लानि उत्पन्न होती होगी और वे कहते होगे—"हे भगवन्, यह कहाँका व्यर्थका झगडा तुमने हमारे पीछे लगा दिया!" इसके उपरान्त वे फिर मृत्यु-लोकमे जन्म-धारण करते हैं। परन्तु उनका जन्म बहुत ही धर्मशील कुलमे होता है। जिस प्रकार अच्छी तरह तैयार फसलमें धान्यकी लम्बी-लम्बी बाले उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार वे भी ऐश्वर्य-रूपी धान्यकी बालोके समान खूब जोरोसे बढ़ते है। वह सदा नीति-मार्गके अनुसार आचरण करते हैं, सत्य वचन बोलते हैं, प्रत्येक बातको शास्त्रकी दृष्टिसे देखते है, वेदको ही अपना जीता-जागता देवता समझते हैं, केवल स्व-धर्मका ही आचरण करते है और सारासार-विचारको ही अपना परामर्शदाता बनाते हैं। उनके कुलमे ईश्वरको छोड़कर चिन्तनका और कोई विषय ही नही होता और वे अपने कुलके पूज्य देवताको ही समस्त ऐश्वर्य और सम्पत्ति समझते है। इस प्रकार वे योग-भ्रष्ट पुरुष अपने पुण्योका उपयुक्त फल प्राप्त करके और सब प्रकारके सुखोकी बढ़ती हुई सम्पत्ति भोगते हुए उस जन्ममे सुखी होते है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

या गुण है, वह भी इस विषय मे दुर्बल ही सिद्ध होती और दूर ही रहती है। भौंहों के पिछले भाग मे केवल मकार—अर्थात् ओकार की तीसरी मात्रा—की ही केवल आड़ होती है। परन्तु उसे हटाकर गगन की ओर जाने मे प्राण वायु को भी परिश्रम करना पडता है। इसके उपरान्त जब वह प्राण-वायु ब्रह्मरन्ध्र के आकाश मे मिलकर एक हो जाती है, तब शब्दो के लिए वर्णन करने योग्य कोई बात ही बाकी नही रह जाती और इसी लिए शब्दो की सामर्थ्य का भी अन्त हो जाता है। इसके बादकी सीढी या दरजा तो यही है कि स्वयं उस गगन या आकाश का ही लय हो जाय। जब उस गगन का भी लय हो जाता है, अर्थात् जब महाशून्य के अगाध दह मे उस गगन का भी कही पता नही रह जाता, तब भला वहाँ शब्द की मात्रा या शक्ति क्योकर काम आ सकती है? अतः यह बात त्रिकाल-सत्य है कि यह विषय ऐसा स्पष्ट और सहज नही है जो वाणी के क्षेत्र मे आ सके अथवा श्रवणेन्द्रिय को जिसका आकलन हो सके। यहाँ तो केवल यही कहा जा सकता है कि यदि ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो सके तो इसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए और तब आत्म-स्वरूप हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, बार-बार इसी बात की पुनरुक्ति करने से क्या लाभ। इस प्रकार जहाँ से शब्द भी वापस लौट आते है, जिसमे संकल्प-विकल्प सब नष्ट हो जाते हैं और जिसमे विचार की हवा भी प्रवेश नही कर सकती, जिस उन्मनी अवस्थाका सौन्दर्य चतुर्थ अवस्था का अर्थात् ब्रह्मात्मक जीवन्मुक्तिका पूर्ण वैभव है, जो आदि-रहित, अपरिमित और सर्वश्रेष्ठ तत्व के रूप मे परिगणित होनेके योग्य है, जिसे विश्वका आदि बीज, योग-साधना का अन्तिम साध्य और आनन्द का केवल चैतन्य रूप समझना चाहिए, जिसमे आकार की मर्यादा, मोक्षकी एक-रूप अवस्था और प्रारम्भ तथा अन्तकी सीमाएँ बिलकुल निर्मूल हो जाती है, जो पंच-महाभूतोका मूल कारण, महातेजका भी तेज है और, हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि जिसे मेरा आत्म-स्वरूप ही समझना चाहिए और नास्तिकोके द्वारा भक्त-जन-समूह के छले जाने के कारण जिसे सगुण होकर यह चतुर्भुज आकार धारण करना पड़ा है, वह महासुखात्मक परमात्म तत्व वर्णनकी सीमाके बाहर का ही है। परन्तु जिन पुरुषोने आत्म-स्वरूप प्राप्त कर लिया है, अन्तिम साध्यकी सिद्धि होने तक जिन्होने दृढ निश्चयपूर्वक प्रयत्न किया है और मेरे ऊपर बतलाये हुए प्रकार से जिन्होने अपना शरीर सार्थक किया है वे लोग शुद्ध होकर मेरे ही समान हो जाते है। उनके शरीर की कान्ति देखने से ऐसा जान पडता है कि वे परब्रह्म रूपी रस से शरीर रूपी साँचे मे ढले हुए स्वय परब्रह्म के ही बने हुए पुतले है। यदि मनमे इस प्रकार का पूरा पूरा अनुभव हो जाय तो फिर ऐसा जान पडने लगता है कि यह विश्व नही है, बल्कि प्रत्यक्ष परब्रह्म ही है।

यह सुनकर अर्जुन ने बीच मे ही कहा—"देव, आप जो कुछ कहते है, वह बिलकुल ठीक है। क्योकि हे देव, आपने अभी साधना का जो प्रकार बतलाया है, उससे स्पष्टत परब्रह्म की प्राप्ति होती है। जो लोग दृढ निश्चयपूर्वक यह योगाभ्यास

"अथवा जो योगी ज्ञान-रूपी अग्निकी सेवा करते हैं, जो लोगोंको परब्रह्मका उपदेश देते है, जो आत्मानन्दके जागीरदार है, जो महासिद्धांतका रहस्य जानकर तीनो भुवनोंके राजा हो चुके होते हैं, जो सन्तोषके वनमे पंचम स्वरमें आलाप करने वाली कोकिलके ही समान जान पड़ते है और जो निरन्तर फल देनेवाले विवेक-वृक्ष की जडके पास ही बैठे रहते हैं, उन योगियोके कुलमे वे योग-भ्रष्ट लोग जन्म धारण करते है। जिस समय उनकी छोटी-सी मूर्ति प्रकट होती है, उसी समय साथ ही साथ आत्म-ज्ञानका उष काल भी होता है। जिस प्रकार सूर्यका उदय होनेसे पहले उसका प्रकाश प्रकट होता है, उसी प्रकार प्रौढ़ावस्था आनेके पहले ही और विना पक्व वयसकी अपेक्षा किये ही बाल्यावस्था मे ही उनमे सर्वज्ञताका संचार हो जाता है। उस पक्व बुद्धिके प्राप्त हो जाने पर उनके मनको सब विद्याओका प्रसाद आपमे आप मिल जाता है तब उनके मुखसे सब शास्त्र स्वभावतः ही प्रकट होते है। जिस प्रकारका जन्म प्राप्त करने के लिए स्वर्गमें बैठे रहनेवाले देवता भी ध्यान लगाकर जप-होम आदि करते है और मृत्यु-लोकके महान् वैभवकी भाटोके समान स्तुतियाँ करते हैं, भाई अर्जुन, वही जन्म उस योग-भ्रष्ट पुरुषको प्राप्त होता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

"पिछले जन्ममें उनकी सुबुद्धिके जिस सीमा तक पहुँचने पर उनके आयुष्यकी डोरी टूटी थी, उसी सीमा से आगे उन्हे नई और असीम सुबुद्धि प्राप्त होती है। इतना होने पर जिस प्रकार किसी भाग्यवान् और पैरोंके बल जन्म लेने वाले मनुष्य की आँखोमे दिव्यांजन लगाया जाय और तब उसे जिस प्रकार जमीनके अन्दर छिपे हुए खजाने सहजमे दिखाई पड़ने लगें, ठीक उसी प्रकार ऐसे पुरुषकी बुद्धि भी उन समस्त गूढ रहस्यो और सिद्धान्त-तत्वोको आपसे आप और बिलकुल ठीक जानने लगती है, जिनका ज्ञान साधारणतः गुरुके उपदेशमे हुआ करता है। उसकी प्रबल इन्द्रियाँ उनके मनके वश मे हो जाती है, मन वायुके साथ मिलकर एक-जीव हो जाता है और वह वायु आपसे आप चिदाकाशके साथ मिलकर सम-रस होने लगती है। अभ्यास स्वयं ही उसे इस अवस्था तक ला पहुँचाता है; और इस बातका जल्दी पता ही नहीं चलने पाता कि आत्म-समाधि उसके मन-रूपी घरका हाल-चाल पूछनेके लिए स्वेच्छा-पूर्वक चली आ रही है या और कोई बात है। ऐसे पुरुपको योग-स्थलका अधिदेवता अथवा मूल स्वरूपकी महत्ता अथवा वैराग्य-बुद्धिकी प्रतीतिकी प्रत्यक्ष अवतरित मूर्ति ही समझना चाहिये। जान पडने लगता है कि ऐसा पुरुप संसार को नापने का माप है अथवा अष्टाग योग के साहित्यका द्वीप हैं। जिस प्रकार सुगन्धि चन्दन का रूप धारण करती है, उसी प्रकार ऐसा जान पडता है कि सन्तोप इस पुरुषके रूपमें प्रकट हुआ हे अथवा साधक दशामे ही सिद्धियोके भांडारसे निकला है। तात्पर्य यह कि चाहे देखनेमे वह भले साधक दिखाई पड़ता हो; परन्तु स्पष्ट रूपसे यही जान पडता है कि वह वास्तव मे सिद्ध ही है।

करते है, वे निस्सन्देह ब्रह्मत्वको प्राप्त होते है। आपने अभी जो कुछ बतलाया है, उससे मुझे यह बात अच्छी तरह ज्ञात हो गई है। हे देव, आपने अभी जो केवल वर्णन किया है, यह सुनकर ही मेरे मनको बहुत कुछ बोध हो गया है। फिर जिसे इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ हो, वह यदि तल्लीन हो गया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। इसी लिए अव इस विषयमे और कोई ऐसी बात वाकी नही रह गई है कि जिसके सम्बन्धमे मैं आपसे और कुछ पूछूँ। परन्तु फिर भी मै एक बात कहता हूँ। आप क्षण भरके लिए इधर ध्यान दे। हे देव, आपने अभी जो योग बतलाया है, वह अच्छी तरह मेरे मनमे वैठ गया है। परन्तु सामर्थ्य न होने के कारण मैं पंगु के समान हूँ, और इसी लिए मुझसे इस योग की साधना नही हो सकती। मेरे शरीर मे जितनी शक्ति है, यदि उतनी ही शक्ति से यह योग सिद्ध हो सकता हो तो मै इस मार्ग का सहज मे ही अभ्यास करूँगा। लेकिन आप जो कुछ कहते है, उसके अनुसार कार्य करनेकी मुझमे योग्यता या शक्ति ही न हो तो मुझे ऐसी ही बाते पूछनी चाहिए जो मेरी दुर्वलता को शोभा देती हो—जो उसके अनुकूल पडती हो। मेरे मनमे इसी प्रकारकी इच्छा उत्पन्न हुई है, इसलिए मै आपसे एक बात पूछता हूँ।" इसके उपरान्त अर्जुन ने कहा—"हे देव, आप इधर ध्यान दे आपने जो-जो साधन बतलाये है, वे सब मैंने सुन लिए है। परन्तु अव मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या वे साधन ऐसे है, जिनका साधारणत जो चाहे, वही अभ्यास कर सकता है अथवा वे ऐसे साधन हैं जो बिना कुछ विशिष्ट योग्यता हुए प्राप्त ही नही हो सकते?" इसपर श्रीकृष्णने पार्थसे जो कुछ कहा, वह सुनिये। वे वोले—"यह तो परमार्थ का बहुत ही विकट कार्य है। परन्तु, हे अर्जुन यदि कोई सामान्य कार्य भी हो तो वह भी तब तक कभी सिद्ध नही हो सकता, जब तक उसके कर्त्तामे उसे करनेकी योग्यता न हो। परन्तु जिसे योग्यता कहते हैं, उसका निश्चय तो कार्यकी सिद्धि होने पर ही होता है। क्योकि अपने आपमे योग्यता होने पर जो कार्य आरम्भ किया जाता है, वही सिद्ध होता है। परन्तु इस प्रकार की योग्यताके कारण इस काममे नामको भी कोई अडचन नही होती। और फिर मैं तुम्हीसे एक बात पूछता हूँ। योग्यताकी क्या कही कोई खान होती है जिसके मिलते ही मनुष्य जितनी योग्यता चाहे, उतनी अपने आपमे भर ले? यदि कोई मनुष्य जरा सा विरक्त होकर देहके विहित कर्म नियमपूर्वक करने लग जाय तो क्या वही पुरुष अधिकारी नही सिद्ध होता? इसी प्रकार तुम भी अपने आपमे इतनी योग्यता ला सकते हो कि वासना-रहित होकर सब विहित कर्म कर सको।" इस प्रकार ये वाते कहकर श्रीकृष्णने अर्जुनके मन का दुःख दूर किया। फिर उन्होने अर्जुनसे कहा—"इस विषयमे यह एक नियम है कि जो मनुष्य अपने विहित कर्म विरक्त होकर नही करता, उसमे यह योग्यता कभी आ ही नही सकती।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६ ॥

"जो जीभके चोचलो का दास वन गया हो अथवा जो पूर्ण रूपसे निद्राके अधीन

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

जिस प्रकार करोड़ो वर्षों और हजारो जन्मोके प्रतिवन्धोको पार करता हुआ वह आत्म-सिद्धिके पास तक पहुँचता है, उसी प्रकार मोक्ष-सिद्धिके समस्त साधन आपसे आप उसके पीछे आ लगते है। और इसी लिए वह सहज मे ही विवेक-साम्राज्यका स्वामी हो जाता है। इसके उपरान्त उस विवेकका भी विचार करनेका वेग कुण्ठित हो जाता है—अर्थात् विवेक भी जितना चाहिये, उतना विचार नही कर सकता—और तव वह उस परब्रह्मके साथ एकरूप हो जाता है जो विचारके क्षेत्रमे किसी प्रकार आ ही नही सकता। उस समय मनके ऊपर छाया हुआ मेघ हट जाता है, वायुका वायुत्व भी नष्ट हो जाता है और चिदाकाश भी अपने आपमे ही लुप्त हो जाता है। उसे वह अगाध और शव्दातीत सुख प्राप्त होता है, जिनमे ओकार भी सिर तक डूब जाता है, इसी लिए उसका वर्णन करनेमे भाषा भी पहलेसे ही अपने आपको असमर्थ देखकर पीछे हट जाती है। इस प्रकारकी जो ब्राह्मी स्थिति है और जिसे "परम गति" कहते है, उस निराकार अवस्थाकी वह मूर्त्ति ही बन जाता है। वह अपने पिछले अनेक जन्मो-का विपरीत ज्ञान रूपी जलमेका मल साफ कर चुका होता है, इसलिए उस अवस्थाके पास पहुँचते ही उसके सब विकट प्रसंग उसी पानीमे डूब जाते है। ब्रह्म-स्थितिके साथ उसका शुभ विवाह-सम्वन्ध हो जाता है और वह उसी स्थिति मे मिलकर उसके साथ एकरूप हो जाता है। जिस प्रकार फटा और विखरा हुआ मेघ आकाशके रूपमे वदल जाता है, उसी प्रकार वह अपना वर्त्तमान शरीर धारण किये रहने पर भी वही ब्रह्म वन जाता है जिसमेसे समस्त विश्वकी उत्पत्ति होती है और फिर जिसमे विश्व विलीन हो जाता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

"जिस लाभकी आशासे धैर्यके हाथका आश्रय लेकर कर्म-काडी लोग षट्कर्मके प्रवाह मे कूद पडते है अथवा जिस एक वस्तुके लिये ज्ञानी लोग ज्ञानका अभेद्य कवच धारण करके समरभूमिमे ससारके साथ दो हाथ लड जाते है अथवा तपोनिष्ठ लोग अपने मनमे जिसकी अभिलाषा रखकर तप रूपी विकट गढके टूटे-फूटे, फिसलनवाले और दुर्गम कगार पर चढनेका प्रयत्न करते है, जो भक्तोके लिए भक्तिका विषय और याजकोके लिए यज्ञ-देवता है, तात्पर्य यह कि जो सभी लोगोके लिए और सभी कालो-मे पूज्य है, वही परब्रह्म वह स्वयं हो जाता है, और जिस विचारसे यह सिद्ध तत्वही समस्त साधकोका साध्य होता है, उसी विचार से वह कर्म-निष्ठोके लिए वन्दनीय होता है, ज्ञानियोंके लिए ज्ञानका विषय होता है और तपस्वियोके लिये तपस्याका अधिदेवता होता है। जिसके मनोधर्मके साथ इस प्रकार जीवात्माका सगम होता है, वह शरीर-धारी होने पर भी यह महिमा या महत्व प्राप्त कर ही लेता है। इसीलिये, हे अर्जुन, मैं तो तुम्हे सदाके लिए यही उपदेश देता हूँ कि तुम योगी वनो।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

हो गया हो, वह कभी इस साधनाका अधिकारी नही हो सकता। अथवा जो दुराग्रह-के बन्दीगृहमे प्यास और भूखको वन्द करके अपना शरीर तोड डालता है, खाना-पीना छोड देता है अथवा इसी प्रकारके आग्रहके कारण सोनेका नाम भी नही लेता और जो इस प्रकार हठपूर्वक सब काम करता है, उसका स्वयं शरीर ही उसके अधीन नही होता। फिर भला ऐसे मनुष्यसे योगकी साधना कैसे हो सकती है ? इसी लिए जिस प्रकार विषयोका अतिरिक्त या आवश्यकतासे अधिक सेवन नही करना चाहिए, उसी प्रकार उनके साथ द्वेष भी नही करना चाहिए और उन्हे जबरदस्ती पूरी तरहसे दबाकर भी नही रखना चाहिए।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

"आहारका सेवन करना चाहिए, परन्तु वह उचित और ठिकानेका हो। सभी काम इस प्रकार उचित और ठिकानेके होने चाहिए। नपी-तुली बाते कहनी चाहिए, ठीक तरहसे चलना चाहिए और उचित समय पर निद्राका भी सेवन करना चाहिए। यदि कभी जागनेकी आवश्यकता हो तो जागरण भी नियमित होना चाहिए। ऐसा करनेसे शरीफके कफ-प्रित्त आदि धातु (रस) अपने उचित परिमाणमे रहते है और सुख होना है। इस प्रकार यदि नियमित रूपसे इन्द्रियोको उनके विषयोका अन्न दिया जाय तो मन सन्तुष्ट रहता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

"ज्यो ज्यो शरीरकी वाहरी क्रियाओ पर नियम और नियन्त्रणकी छाप बैठती जाती है, त्यो त्यो अन्दर सुखकी वृद्धि होती चलती है और इस प्रकार योगाभ्यास न करनेकी अवस्थामे भी आपसे आप योगका साधन होता चलता है। जिस प्रकार उद्योगके निमित्तसे, परन्तु वास्तवमे भाग्यके वलसे, सब प्रकारका वैभव आपसे आप घरमे चला आता है, उसी प्रकार जो मनुष्य परिमित रूपसे और संयमपूर्वक सब क्रियाओका आचरण करता है, वह सहजमे ही योगाभ्यासके मार्गमे लग जाता है और उसे आत्मसिद्धिके अनुभवकी प्राप्ति होती है। इसी लिए, हे अर्जुन, जिस भाग्यवान् पुरुषसे यह सयमवाला कर्मयोग सध जाय, वह मोक्षके सिंहासन पर सुशोभित हो जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

"जिस समय क्रियाओके सयमका योगके साथ मेल होता है, उस समय यह शरीर पवित्र प्रयाग-क्षेत्र ही हो जाता है। ऐसे शरीरमे जिसका मन ऐसी दृढ़तापूर्वक स्थिर होता है कि जब तक शरीर-पात न हो, तब तक विचलित नही होता, हे अर्जुन, उकोसी तुम योग-युक्त समझो। प्रसंग-वश मै तुम्हे यह भी वतला देता हूँ कि ऐसेयोग-

"जिसे लोग योगी कहते है, उसे देवोका भी देव समझना चाहिए। वह मेरा सुख-सर्वस्व बल्कि प्राण ही होता है। भक्ति, भजन और भजनीय जो भक्ति-साधनकी त्रिपुटी है, उनके सम्बन्धमे पुरुषका अखड अनुभव यही होता है कि वह तीनो मैं ही हूँ। अर्थात् वह भक्त, भजन और भजनीय सब कुछ मुझको ही समझता है। उस पुरुषमे और मुझमे परस्पर जो प्रीति होती है, उसका वाणीसे कभी वर्णन ही नही हो सकता। उसमे जो तन्मयता होती है, यदि उसके लिए किसी ऐसी उपमाकी आवश्यकता हो जो प्रेमके विचारसे भली और उपयुक्त जान पडे, तो उसकी यही उपमा हो सकती है कि—मैं शरीर हूँ और वह आत्मा है।" इस प्रकार भक्त-चकोरोको आनन्द देनेवाले चन्द्रमा, सद्गुणोके सागर और तीनो भुवनोमे नर-श्रेष्ठ श्रीकृष्णने अर्जुनसे जो कुछ कहा था, वह सब संजयने धृतराष्ट्रको कह सुनाया। उस समय तक श्रीकृष्णकी समझमे यह बात अच्छी तरह आ चुकी थी कि आरम्भसे ही अर्जुनमें उपदेश सुननेकी जो श्रद्धा-युक्त उत्कंठा थी, यह अब बढकर दूनी हो गई है। इसलिए श्रीकृष्णके मनमें स्वभावत ही सन्तोष हुआ। श्रीकृष्णको यह जानकर बहुत आनन्द हुआ जिस प्रकार दर्पणमे प्रतिबिम्ब दिखलाई पडता है, उसी प्रकार अर्जुनकी मुद्रा पर मेरे भाषणका भी प्रतिबिम्ब दिखलाई पड रहा है और उसी आनन्दके कारण वे अब यह प्रकरण और भी विस्तारपूर्वक अर्जुनको बतलावेगे। वह प्रसंग अगले अध्यायमे आवेगा। उस प्रसगमें शान्त रस इतने स्पष्ट उत्कर्पको प्राप्त होगा कि उसमे महा-सिद्धान्त रूपी बीजोमे अकुर निकलते हुए दिखाई देगे। इसका कारण यह है कि सात्विक भावनाओकी वृष्टिसे आत्म-भावनाके ढेले फूट और गल गये है और श्रोताओके चतुर चित्तकी क्यारियाँ बीज धारण करनेके लिए तैयार हो गई है। तिस पर चित्तकी एक-तानताको सोनेके समान प्राप्त होनेके कारण श्रीनिवृत्तिनाथके मनमे भी सिद्धान्त-बीज बोनेका उत्साह उमड पडा है। इसलिए यह निवृत्ति-दास ज्ञानदेव कहता है कि श्रोता-गण, इस बीज बोनेके काममे मुझे श्रीसद्गुरुने वह चोगा बनाया है, जिसमे डालकर बीज बोये जाते हैं और मेरे मस्तक पर हाथ रखकर मेरे हृदयमे बोये जानेवाले बीज डाले हैं। इसी लिए मेरे मुखसे जो जो बाते निकलती है, वह सन्तोके हृदयमे तुरन्त ही अच्छी तरह बैठ जाती हैं। परन्तु कुछ विपयान्तर हो चुका। अब मैं यह बतलाऊँगा कि श्रीकृष्णने इसके उपरान्त अर्जुनमे और क्या कहा। परन्तु श्रोताओको वे सब बाते मनके कानोसे सुननी चाहिए, बुद्धिकी आँखोसे देखनी चाहिए, और अपना चित्त मुझे देकर मेरी बाते ग्रहण करनी चाहिए। और हम लोगोमे इस प्रकारका विनिमयका व्यवहार होना चाहिए। फिर सावधानताके हाथोसे ये सब बाते उठाकर अपने हृदयके भीतरी भागमे भरनी चाहिए, तब सज्जनोकी वासना पूरी होगी। ये बाते आत्म-कल्याणको हस्तगत कराती है, परिणाममे सजीवता लाती है और जीव पर सुखोकी लखौरी माला चढाती है। अब अर्जुनके साथ श्रीकृष्णका जो सुन्दर और चातुर्य-पूर्ण सम्भाषण हुआ था, वह मैं श्रोताओको बतलाता हूँ।

युक्तकी उपमा निर्वात स्थानमे रखे हुए दीपककी ज्योतिके साथ दी जाती है। अब मैं तुम्हारे मनका भाव समझकर तुम्हे कुछ और वातें बतलाता हूँ। तुम उन्हे अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो। तुम मनमे कार्य-सिद्धिकी लालसा तो रखते हो, परन्तु अभ्यासका कष्ट उठानेके लिए क्यो नही तैयार होते? इसमे ऐसी कौन सी कठिनता है जिससे तुम डरते हो? हे अर्जुन, तुम व्यर्थ अपने मनमे इस वातका डर न करो। ये दुष्ट इन्द्रियाँ छोटी छोटी वातोको व्यर्थ ही पहाड बनाकर दिखलाती है। देखो, यदि कोई इतनी गुणकारी दिव्य औपध हो जो आयुको स्थिर कर सके और शरीरसे निकलते हुए प्राणोको भी लौटा लावे, तो भी जीभ उस औपधको शत्रु ही मानती है या नही? इसी प्रकार जो कर्म हमारे उच्च कल्याणके लिए अनुकूल होते हैं, वे सब इन इन्द्रियोको सदा कष्टदायक ही जान पडते है। और नही तो योग-साधनके समान सहज काम वास्तवमे और कोई है ही नही।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २० ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१ ॥

"इसी लिए मैंने दृढ़ आसन लगाकर करनेके लिए जो योगाभ्यास बतलाया है, उससे इन इन्द्रियोका अच्छा नियन्त्रण होगा। क्योकि यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो जव योग-साधनासे इन्द्रियोका निग्रह होता है, उसी समय चित्त आत्म-स्वरूपमे प्रवेश करने लगता है। फिर जब चित्त वहाँसे लौटता है और आत्म-स्वरूपकी ओर उसकी पीठ होती है और वह अपने केवलात्म स्वरूपकी ओर देखता है, तव उसे देखते ही वह पहचान जाता है और कहता है—"मैं स्वयं यही तत्व हूँ।" ज्योही वह उसे पहचान लेता है, त्योही वह सुखके साम्राज्यका भोग करने लगता है और फिर आपसे उस परमात्म तत्वके साथ मिलकर एक रूप हो जाता है। जिसके आगे या उस पार और कुछ भी नही है और जिसका वास्तविक ज्ञान इन्द्रियोको कभी होता ही नही, उसीके साथ वह तन्मय होकर अपनी जगह पर आत्म-सुखमे रहता है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२ ॥

"उस समय चाहे मेरु पर्वतके समान भारी दुःखका पर्वत भी उसके शरीर पर क्यो न आ पडे, परन्तु फिर भी उसका चित्त कभी विचलित नही होता। अथवा चाहे उसका शरीर शस्त्रोसे छेद डाला जाय और चाहे वह अग्निमे जा पडे, परन्तु फिर भी आत्म-तत्वके महासुखमे सोया हुआ चित्त जागने का नाम भी नही लेता। जव चित्त इस प्रकार आत्म-तत्वमें विलीन हो जाता है, तव वह इस शरीरकी ओर कभी भूलकर भी नहीं देखता। उसे अलौकिक आत्म-सुख प्राप्त हो जाता है और इसी-लिए वह इस शरीरके सुख-दुःखोकी सव वातें ही भूल जाता है।

सातवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

हे श्रोता -गण सुनिये, इसके उपरान्त श्रीकृष्णने पार्थसे कहा—"हे अर्जुन, अब तुम सचमुच योग-युक्त हो गये हो। अब मैं तुम्हे ऐसा ज्ञान और विज्ञान अर्थात् प्रपंचज्ञान बतलाऊँगा जिसमे तुम मुझे उसी प्रकार सब अंगोसे भली-भाँति जान लो, जिस प्रकार अपनी हथेली पर रखे हुए रत्नको लोग जान लेते हैं। सम्भव है कि तुम अपने मनमें यह कहते हो कि इस प्रापंचिक ज्ञानसे मुझसे क्या मतलब ? तो मैं तुम्हे बतला देना चाहता हूँ कि पहले प्रपंचोंका ही ज्ञान प्राप्त कर लेना बहुत आवश्यक है। क्योंकि फिर जब ज्ञानका प्रसंग आता है, तब इस प्रापंचिक ज्ञातृत्वकी आँखे बन्द हो जाती हैं। जिस प्रकार किनारे पर लगी हुई नाव हिलती-डुलती नही, उसी प्रकार जहा प्रापंचिक ज्ञातृत्वकी भी पहुँच नही होती, जहाँसे विचार भी पीछे लौट आता है और जिसका रास्ता तर्कको भी नही मिलता, हे भाई अर्जुन, उसीको "ज्ञान" कहते हैं। ज्ञानसे भिन्न जो कुछ है, वह सब प्रपंच है और उसीको "विज्ञान" कहते हैं; और इस प्रकारकी जो कल्पना होती है कि यह प्रपंच सत्य है, इसीको "अज्ञान" समझना चाहिए। अब मैं तुम्हे वह गूढ रहस्य बतलाता हूँ जिससे अज्ञानका लोप हो जाता है, विज्ञान नष्ट हो जाता है और हम केवल ज्ञानस्वरूप हो सकते है। जब ऐसी अवस्था हो जाती है, तब वक्ताकी बातोका अन्त हो जाता है, श्रोताकी श्रवण करनेकी लालसा भी समाप्त हो जाती है और छोटे-बड़ेका भेद-भाव भी बाकी नही रह जाता। यदि इस प्रकारके गूढ रहस्यका मनुष्यको थोडा-सा भी ज्ञान हो जाय, तो भी उसके मनका बहुत कुछ समाधान हो जाता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हजारो आदमियोमे कभी कोई एकाध आदमी ही ऐसा होता है, जिसकी इन बातोकी ओर रुचि होती है, और इस प्रकारकी रुचि रखनेवाले बहुत-से आदमियोसे सच्चा ज्ञानी कोई विरला ही दिखाई पडता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार सारे संसारमेसे एक साहसी वीरको चुनकर सेनाके लाखों आदमियोकी भरतीकी जाती है अथवा फौज भरती कर चुकने पर भी जिस प्रकार युद्ध-क्षेत्रमे खनखनाती हुई तलवारोके द्वारा बहुत-से लोगोको टुकड़े टुकड़े उड़ जाने पर विजय-लक्ष्मीके सिंहासन पर

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

"जिस सुखका माधुर्य चख लेने पर संसारके बन्धनोंमे फँसा हुआ मन वासनाओं-का कभी स्मरण या ध्यान भी नही करता, जो सुख योगकी शोभा और सन्तोषकी राजसम्पत्ति है और जिस सुखके लिए ही ज्ञानका ज्ञातृत्व काम आता है, वह सुख योगाभ्यासके द्वारा मूर्तिमान होकर सामने दिखाई पड़ने लगता है। अब इस प्रकार उसके दर्शन हो जायँ, तभी हम भी उसके साथ मिलकर तद्रूप हो सकेंगे।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

"हे अर्जुन, जो यह योग तुम्हे बहुत ही कठिन जान पड़ता है, वह एक तरहसे बहुत ही सुगम है। इसके लिए आवश्यकता केवल इसी बातकी है कि संकल्पकी सन्तान काम-क्रोध आदिको मार डालना चाहिए जिसमे उस संकल्पको पुत्र शोक प्राप्त हो। जब संकल्पको यह मालूम होगा कि सब विषय मर गये है और उसे इस बातका भी पता चल जायेगा कि इन्द्रियोका पूर्ण रूपसे निग्रह हो गया है, तब वह अपनी छाती पीटकर आप ही अपने प्राण त्याग देगा। यदि मनको इस वैराग्य प्राप्त हो जाय तो फिर इस संकल्पकी यात्रा भी समाप्त हो जायगी—इस संकल्पका भी अन्त हो जायगा और बुद्धि बहुत ही सुखपूर्वक धैर्यके मन्दिरमे निवास करने लगेगी।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ २५ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

"यदि बुद्धिको धैर्य प्राप्त हो जाय तो वह मनको धीरे-धीरे अनुभवके मार्गमे चलाने लगेगी और अन्तमे उसे ले जाकर परमात्म-मन्दिरमे बैठा देगी। इसलिए तुम यह बात ध्यानमे रखो कि इस प्रकारसे भी आत्म-प्राप्ति होती है। परन्तु यदि यह प्रकार भी तुमसे न सध सके तो इससे भी एक और सहज मार्ग है। वह भी सुन लो। हम अपने मनसे यह एक नियम कर लें कि कि हम जो निश्चय कर लेंगे, उससे एक पग भी इधर-उधर न होगे। यदि यही नियम करनेसे मन स्थिर हो जाय तो फिर समझ लेना चाहिए कि वह अपने काममे लग गया। पर यदि यह पता चले कि इस प्रकार मन स्थिर नही रहता, तो फिर उसे बिलकुल खुला छोड देना चाहिए। फिर इस प्रकारसे अनियन्त्रित छोडा हुआ मन जहाँ जाय, वहाँसे उसे नियन्त्रित करके लौटा लाना चाहिए। बस इसीसे उसे धीरे-धीरे स्थिर रहनेकी आदत पड जायगी।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

कोई विरला पुरुष ही वैठता है, वैसे ही इस ब्रह्मज्ञान रूपी जलाशयमें भी करोडों आदमी कूदते हैं, परन्तु उस जलाशयके उस पार कोई विरला ही पहुँचता है। इसी लिए मैं कहता हूँ कि यह कोई साधारण वात नही है। यह कहनेमे भी वहुत ही गहन और कठिन है। पर फिर भी मैं तुम्हे यह वात बतलानेका प्रयत्न करूँगा। तुम सुनो।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

"हे पार्थ, जिस प्रकार मनुष्यके शरीरकी छाया पडती है, उसी प्रकार यह महत्तत्व आदि माया भी मेरी छाया या परछाँही ही है। इसी मायाका दूसरा नाम प्रकृति है। यह माया आठ प्रकारकी है और यही तीनो लोकोको जन्म देती है। यदि तुम्हारे मनमे यह शंका हो कि इसके आठ भेद कौन से है, तो मैं वतलाता हूँ, सुनो। अप, तेज, आकाश, पृथ्वी, वायु, मन, बुद्धि और अहकार यही प्रकृतिके आठ भेद है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

"हे अर्जुन, इन्ही आठों भेदोकी जो साम्यावस्था है, उसीको तुम मेरी परम प्रकृति समझो। इसीका नाम "जीव" है। क्योकि यही निर्जीव शरीर को सजीव करती है, यही शरीरमे गति आदि उत्पन्न करती है और यही मनको शोक, मोह आदि विकारोका भास कराती है। बुद्धिका जो ज्ञातृत्व है, वह भी इस परम मायाके सहवास का ही फल है और इसीसे उत्पन्न होनेवाले अहं-भावने इस संसारका अस्तित्व वनाये रखा है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

"यह सूक्ष्म प्रकृति जब अपनी इच्छासे स्थूल महाभूतोके अंगोसे युक्त होती है, तब भूत सृष्टिकी—अर्थात् प्राणी मात्रकी उत्पत्तिकी—मानो टकसाल ही खुल जाती हैं। इस टकसालमेसे चार प्रकारके प्राणी रूपी सिक्के आपसे आप निकलने लगते है। ये चारो प्रकारके सिक्के जरायुज, अडज- स्वेदज और उद्भिज है। मूल्यके विचारसे तो ये चारो प्रकारके सिक्के समान ही है, परन्तु केवल जाति या वर्गके विचारसे ये एक दूसरेसे भिन्न होते है। इन जातियोके सव मिलाकर चौरासी लाख भेद है। इनके सिवा मुख्य वर्गोमे और जो उपवर्ग है, उनकी तो कोई गिनती ही नही है। इसी प्रकारके प्राणी रूपी असख्य सिक्कोके उस निर्गुण, निराकार और अव्यक्त वीजका भण्डार भर जाता है। इस प्रकार पंच-महाभूतोके वरावरकी तौलके इतने अधिक सिक्के हो जाते है कि केवल प्रकृति ही उनकी गिनती कर सकती है। जिन सिक्कोको वह पहले ढालकर तैयार करती है, उन्हीको वह फिर वादमे गला भी डालती है। केवल उनकी मध्य या अस्तित्ववाली अवस्थामे ही वह उनके द्वारा कर्माकर्म का व्यव-हार कराती है। परन्तु अव इस रूपकालंकारका यही अन्त किया जाता है। अव मैं यह वात ऐसे सीधे-सादे और सरल शब्दोमे वतलाता हूँ जिससे यह सहजमे ही समझमें आ सके। यह प्रकृति—अर्थात् माया—ही विश्वकी उन सव वस्तुओका प्रसार करती

"इसके उपरान्त कभी न कभी एक बार उसी स्थिरताकी सहायतासे मन आपसे आप आत्म-स्वरूपके पास जा पहुँचेगा। फिर उस आत्म-स्वरूपको देखकर वह उसके साथ मिल जायगा। उस समय द्वैतको अद्वैतमे समाधि प्राप्त हो जायगी और उस एकताके प्रभावसे तीनो लोक प्रकाशमान् हो जायँगे। आकाशमें आकाशसे भी भिन्न जान पड़नेवाला मेघ दिखाई पड़ता है, परन्तु उस मेघके हट जाने पर जिस प्रकार केवल सर्वव्यापी आकाश ही बाकी बच रहता है, उसी प्रकार चित्तका भी लय हो जाता है और सब कुछ चैतन्यके ही रूपमें दिखाई पडता है। इस सहज मार्गसे इस प्रकारकी फल-प्राप्ति होती है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८ ॥

"इस सुगम योगावस्थाके द्वारा बहुतसे लोगोने संकल्पकी सम्पत्ति छोडकर मोक्षके दर्शन किये है। जब मन सुखकी संगतिसे परब्रह्मके अन्दर जा पहुँचता है, तब वह उसे उसी प्रकार नही छोडता, जिस प्रकार पानीमें घुला हुआ नमक पानीको नही छोड़ता; और मन भी उस मिलनमे सम-रसत्वके मन्दिरमे संसारके साथ सुखकी दीवाली मनाता रहता है। इस प्रकार मनुष्यको स्वयं अपने ही पैरो से उलटे पीछेकी ओर अर्थात् मूल स्वरूपकी ओर चलते रहना चाहिए। परन्तु यदि तुमसे इस मार्गका भी साधन न हो सकता हो तो मैं तुम्हे एक और उपाय बतलाता हूँ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तत्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३० ॥

"इस तत्वके विषयमें कुछ भी भ्रम या भ्रान्ति नही है कि मैं ही समस्त शरीरमें निवास करता हूँ और इसी प्रकार यह बात भी निर्विवाद रूपसे सिद्ध है कि यह सारा विश्व मुझमे ही निवास करता है। हर आदमीको ऐसी तैयारी करनी चाहिए कि उसकी समझमे यह बात अच्छी तरह आ जाय कि विश्व और हम बिलकुल एक हैं और एक दूसरेमें मिले हुए है। हे अर्जुन, सच तो यह है कि जो मनुष्य इस प्रकार ऐक्यकी भावना रखता हुआ मुझे ही समस्त भूतोमे समान रूप से मिला हुआ समझ-कर मुझे भजता है, भूत-मात्रमे केवल ऊपरसे दिखाई पडनेवाले भेदके कारण जिसके अन्त.करणमे किसी प्रकारका भेद-भाव हो ही नही सकता और जो सब जगह केवल मेरा ही एक स्वरूप देखता है, वह पुरुष इस प्रकारके कथनको बिलकुल निरर्थक कर देता है कि—"यही मै हूँ।" (अर्थात् ऐसा पुरुष केवल अपने आपको ही "मै" नहीं समझता, बल्कि सबको अपने समान और एक समझता है।) और हे अर्जुन, चाहे मैंने यह बात न कही हो, परन्तु फिर भी ऐसा पुरुष मैं ही हूँ। (अर्थात् ऐसे पुरुषको मुझसे भिन्न नही समझना चाहिए। दीपक और उसके प्रकाशमे जिस प्रकारका एक

हैं; जिनकी नाम और रूपके द्वारा प्रतीति होती है। और वह प्रकृति मुझमें ही सम-रस होकर रहती है, इसलिए इस समस्त जगतका आदि मध्य और अन्त मैं ही हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

"यह जो मृग-जल हम लोगोको दिखलाई पडता है, यदि इसका मूल कारण ढूँढा जाय तो पता चलता है कि वह कारण केवल किरण ही नही है, बल्कि प्रत्यक्ष सूर्य ही है। उसी प्रकार, हे अर्जुन, इस प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाली सृष्टिका जिस समय अन्त होगा और यह फिर अपनी मूल स्थितिमे जाकर ज्योकी त्यो समा जायगी, उस समय यह केवल मेरे ही रूपकी हो जायगी, अर्थात् यह मुझमे ही लीन हो जायगी, और उस समय केवल मेरा ही रूप रह जायगा। इस प्रकार जो यह विश्व उत्पन्न होकर फिर विलीन हो जाता है, वह सदा मुझमे ही रहता है। जिस प्रकार डोरेमे मणियाँ पिरोई रहती है, उसी प्रकार यह विश्व भी मुझमे ही रहता है। जिस प्रकार सोनेकी वनी हुई मणियाँ सोनेके ही तारमे पिरोई रहती है, उसी प्रकार इस विश्वको अन्दर और बाहर सव ओरसे मैं ही धारण किये रहता हूँ।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

"इसी लिए, हे भाई अर्जुन, तुम यह समझ रखो कि पानीमे जो रस-गुण है अथवा वायुमे जो स्पर्श-गुण है अथवा चन्द्रमा और सूर्यमे जो तेज-गुण है, वह मै ही हूँ। इसी प्रकार पृथ्वीमे रहनेवाला गन्ध-गुण, आकाशमे रहनेवाला शब्द-गुण और वेदोमे रहनेवाला ओंकार-स्वरूप प्रणव सव स्वाभाविक शुद्ध हैं, अर्थात् ये सब भी मै ही हूँ। मैं यह मुख्य तत्व पहले ही तुम्हे वतला चुका हूँ कि मनुष्योमे होनेवाला जो मनुष्यत्व है और जिस अहं-भावके वलको "पौरुष" कहते है, वह भी मै ही हूँ। तेज पर "अग्नि" नामका जो आवरण है, उसे दूर कर देने पर जो केवल स्वरूप-तेज वाकी वच रहता है वह, भी मै ही हूँ। इस त्रिभुवनमे भूत-मात्र अनेक प्रकारकी योनियोमे जन्म लेकर अपने-अपने विशिष्ट मार्गका निर्वाह करते रहते है। कोई वायु पीकर रहते है, कोई तृण खाकर जीवन-यात्राका निर्वाह करते है और कोई अन्नसे अपनी जीविका निर्वाह करते हैं और कोई केवल पानी पर ही जिलाये जाते है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्राणियोके जीवनके जो स्वभावत भिन्न-भिन्न साधन हुआ करते है, उन सव साधनोमे मैं ही अभिन्न स्वरूपसे निवास करता हूँ।

वीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥
वलं वलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

"जो उत्पत्तिके समय आकाशके अंकुरके साथ-साथ विस्तृत होता है और विश्व का संहार होनेके समय जो ओकारके अ, उ और म अक्षर भी नष्ट कर देता है, जो अस्तित्व रखनेवाले इस दृश्यमान् जगत पर विश्वके आकारमे जान पड़ता है और महाप्रलयका समय आने पर जो ऊपरसे देखनेमे नष्ट हो जाने पर भी वास्तवमे कभी नष्ट नही हो सकता वह स्वयं-सिद्ध और अनादि विश्व-वीज भी मैं ही हूँ। यह गूढः ज्ञान मै तुमको सुलभ किये देता हूँ। हे अर्जुन, जव तुम इस ज्ञानका आत्म और अनात्मके विचारसे सामंजस्य स्थापित करोगे, तव इसके वास्तविक महत्वका तुम्हे अनुभव होगा। परन्तु अव इस विषयान्तरको छोड देना चाहिए। अव मै तुम्हे एक और बात थोडेमे वतलाता हूँ। तपस्वियोकी जो तपस्या है, उसे भी तुम मेरा ही रूप समझो। बलवानोका वल और बुद्धिमानोकी वुद्धि भी मैं ही हूँ, भूत मात्रमे अर्थार्जनके द्वारा धर्मका विपुल सग्रह करनेकी जो शुद्ध काम-वासना है, वह भी आत्म-स्वरूपमे रमण करनेवाला मै ही हूँ। यह शुद्ध काम यद्यपि सामान्यत विकारोंके प्रवाहके अनुसार इन्द्रियोकी तृप्ति करनेवाले कर्म करता है, तो भी वह इन्द्रियोको उनके धर्मके विरुद्ध नही जाने देता। यह काम कर्म-सन्यासका टेढा-तिरछा रास्ता छोडकर विधियुक्त कर्माचरणके राज-मार्ग पर लगता है और नियमितताकी मशाल सदा इसके साथ रहती है। जब इस प्रकार सावधानीसे काम होने लगता है, तव धर्मकी पूर्णता हो जाती है और तब ससारका उपभोग करनेवाले पुरुष भी मोक्ष-तीर्थके मुक्त जन हो जाते हैं। वेदोमे गाये हुए महत्वके मडप पर जो काम विश्वकी वेल इस प्रकार चढाता है कि उसमे लगनेवाली कर्मकी शाखा फल-भारसे झुककर अन्तमे मोक्ष पर आ लगती है, वह सब प्रकारका और समस्त भूतोका उद्भव करनेवाला बीज रूप काम भी मै योगिश्रेष्ठ परमात्मा ही हूँ। लेकिन इस प्रकार एक-एक बात तुम्हे कहाँ तक वतलाई जाय। साराँश यही है कि समस्त वस्तुएँ मुझसे विस्तार प्राप्त करती है—सवका विस्तार मैं ही करता हूँ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषुते मयि॥ १२ ॥

"जितने सात्विक, राजस और तामस विचार होते है, वे सब भी मेरे ही स्वरूप से उत्पन्न होते है। यह बात तुम अच्छी तरह ध्यानमे रखो। यदि ये विकार उत्पन्न हो तो वे भी मुझमे ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु जिस प्रकार स्वप्नावस्थाके दहमे जाग्रत अवस्था नही होती, उसी प्रकार इन विकारोमे भी मैं नही रहता। वीज-कण वास्तव मे रस द्रव्यका ही वना हुआ और उसीसे भरा हुआ होता है, परन्तु अकुर और डालियोमे जो कठिन रूपवाली लकडी होती है, वह उसी वीज-कणसे वनी हुई होती है। परन्तु फिर भी क्या कभी उस लकडीमे कही वीजका गुण रहता है? इसी प्रकार चाहे ऊपरसे देखनेमे भले ही यह जान पडे कि मुझमे ही विकार उत्पन्न हुए हैं, तो भी मैं उन विकारोमें नही रहता। आकाशमे मेघ तो आते है, परन्त मेघोमे आकाश नही रहता। मेघोमे जल तो होता है, परन्तु उस जलमे मेघ नही रहते। फिर मेघो-मे रहनेवाले जलमें जव क्षोभ होता है, तव उसमे विजलीकी चमक दिखाई पडती है। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि उस चमकनेवाली विजलीमे पानी रहता है?

कहने लगा—"क्या ये सब जलमें ही दिखाई पड़नेवाले नक्षत्र है ? केवल अक्षरोंके बाहरी ठाट-बाटके फेरमे ही मैं कैसा फँस गया ! और उनसे मैं कैसा धोखा खा गया ! अरे ये कैसे और कहाँके अक्षर है ? ये तो केवल आकाशके परत है। यहाँ मेरी मति चाहे कितनी ही ऊँची उड़ान क्यो न भरे, परन्तु इसे क्या कभी उसकी थाह लग सकती है ? लेकिन जब तक उसकी थाह न लगे, तब तक इन वचनो का अर्थ कभी समझमें ही नही आ सकता। अपने मनमे इन प्रकारकी वातोका विचार करके अर्जुन ने फिर यादवेन्द्र श्रीकृष्णकी ओर देखा; और तब उस वीर श्रेष्ठने विनयपूर्वक कहा—"हे देव, ये जो सातो पद (अर्थात् शब्द) यहाँ एकत्र हुए है, इनका कभी किसीने आस्वादन नही किया है और ये अपूर्व हैं। यदि यह बात न होती तो भला यह कैसे सम्भव था कि अच्छी तरह एकाग्र-चित्त होकर ध्यान देने पर भी श्रवण के द्वारा बड़े बडे सिद्धान्तोका स्पष्टीकरण हुए विना रह जाता ? परन्तु यह प्रकरण उस प्रकारका नही है। अक्षरोका यह ठाट देखकर स्वयं विस्मयको भी विस्मय होता है। कानोकी खिडकीके रास्ते ज्योही आपकी वाणीकी किरणें अन्त.करणमे पहुँची; त्योही मुझे परम आश्चर्य हुआ और मेरी विचार-शक्ति ही बन्द हो गई। इसलिए मेरे मनमे इस वातका बहुत अनुराग है कि मैं इनके अर्थका ज्ञान प्राप्त करूँ। परन्तु इतना समय नही है कि मैं अपने उस अनुरागका वर्णन कर सकूँ; इसलिए हे देव, आप स्वयं ही बहुत जल्दी सब बातोका विवेचन करे।" इस प्रकार पिछली वातोका विचार करते हुए, आगेके हेतु पर ध्यान रखते हुए और बीचमे अपना उत्कट अनुराग दृढतापूर्वक स्थापित करके अर्जुनका प्रश्न करनेका यह हथकंडा कैसा बढ़िया है ! इस प्रकार प्रश्न करते समय अर्जुनने शिष्टाचारकी मर्यादाका भी उल्लंघन नही किया, और नही तो उसने अपनी दोनो बाहे पसारकर श्रीकृष्णको भली-भाँति आलिंगन कर लिया होता। यह वात केवल अर्जुन ही अच्छी तरह जानता था कि यदि गुरु महाराजसे प्रश्न करना हो तो इसी पद्धतिका अवलम्बन करना चाहिए। अब श्रोताओको इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि अर्जुन के प्रश्न और श्रीकृष्ण द्वारा उनके दिये हुए उत्तर संजय कैसे प्रेमसे और अच्छी तरह बतलाते हैं। ये सब वातें सरल देशी भाषा-मे वतलाई जायँगी। और इन्हे इस प्रकार सरल देशी भाषामें वतलाने का हेतु यह है कि कानोको इनका श्रवण होने से पहले ही बुद्धि अपना उपयोग करने लगे। बुद्धिकी जीभसे अक्षरोका भीतरी अर्थ-रस चखनेसे पहले ही अक्षरोके केवल आकृति-सौन्दर्यसे ही इन्द्रियाँ परम प्रसन्न हो जाती है। देखिये, मालतीकी कलियोंकी सुगन्ध नाकको तो सन्तुष्ट करती ही है, परन्तु उन कलियोका बाहरी रूप देखकर नेत्र क्या उनसे पहले ही तृप्त नही हो जाते ? इसी प्रकार देशी भाषाके सौन्दर्यसे इन्द्रियोको सामर्थ्य प्राप्त होती है और तब वे सिद्धान्तके ठीक स्थान तक सहजमे पहुँच सकती है। अब इस प्रकारके भाषा-सौन्दर्यसे मैं वह वातें स्पष्ट करके वतलाना चाहता हूँ जो शब्दोंके लिए अप्राप्य ही है। इसलिए श्रीनिवृत्तिनाथका दास ज्ञानदेव अपने श्रोताओसे प्रार्थना करता है कि आप लोग सावधान होकर सुनें।

●

आगसे धुआँ निकलता है; परन्तु क्या उस धुएँमे भी कभी आग रहती है ? इसी प्रकार मुझ पर विकार होते हैं, परन्तु वह विकार मैं नही हूँ ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

"जलमें उत्पन्न होनेवाली सेवार जिस प्रकार सारे जलमें छा जाती है और उसे ढक लेती है अथवा जिस प्रकार मेघोसे सारा आकाश आच्छादित हो जाता है अथवा स्वप्नको यद्यपि मिथ्या कहा जा सकता है, परन्तु फिर भी जब तक निद्राकी सत्ता रहती है, तक तक स्वप्न जिस प्रकार सत्य जान पड़ता है और हमें स्वयं अपनी ही स्मृति नही रहती अथवा आँख ही अपनी पुतली पर जो मोतियाबिन्दकी तरहका जाला उत्पन्न कर देती है और वह जाला जिस प्रकार आँखोको देखनेकी शक्ति नष्ट कर देता है, उसी प्रकार वह त्रिगुणमयी माया भी मेरी छाया या परछाँही है और वह मेरे आत्म-स्वरूपकी आडमे ही परदेकी तरह पडी हुई है । इसी लिए ये प्राणी मुझे पहचान नही सकते । वे मुझसे ही हुए है, परन्तु यह बात नही है कि जो कुछ वे है, वह मैं ही हूँ । पानीमे ही उत्पन्न होनेवाला मोती जिस प्रकार पानीमे कभी नहीं घुलता अथवा जिस प्रकार मिट्टीका घड़ा बनाकर उसे तुरन्त ही फिर मिट्टीके साथ मिला दिया जाय तो वह मिट्टीके साथ एक जीव हो जाता है, परन्तु यदि वही घड़ा अग्नि संस्कार करके पका लिया जाय, तब वह मिट्टीसे भिन्न स्वरूपवाला हो जाता है, उसी प्रकार ये सब जितने भूत हैं, वे सब हैं तो मेरे ही अंश, परन्तु प्रकृति के योग से वे सब जीव दशाको प्राप्त हुए हैं । इसी लिए वे मेरे है, परन्तु "मै" नही है । वे मेरे ही है, परन्तु फिर भी वे मेरा स्वरूप नही पहचानते, क्योकि अहंकार, ममता और भ्रमके कारण वे विषयान्ध हो रहे हैं ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

"हे अर्जुन, अब प्रश्न यह होता है कि महत्त्व आदि जो मेरी माया है, उससे पार होकर मेरा मूल स्वरूप किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए । परब्रह्म रूपी पर्वतके शिखर पर मूल सकल्प रूपी जलके साथ-साथ जो माया-नदीका छोटा सा महाभूत रूपी बुलबुला उत्पन्न होता है, इसके उपरान्त जो सृष्टि-रचनाके प्रभाव से और काल-क्रमसे बराबर बढ़ते हुए वेग से कर्म-मार्ग और मोक्ष-मार्ग इन दो ऊँचे तटोमेसे होता हुआ जल-स्रोत मनमाने ढङ्गसे इधर उधर चलता है, फिर सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोकी वर्षाके कारण अच्छी तरह भर कर अपनी मोह-रूपी बाढके द्वारा यम या मनो-निग्रह और नियम या इन्द्रिय-निग्रह रूपी नगरोको बहा ले जाता है जिसमे जगह जगह द्वेषके भँवर पड़ते रहते है, मत्सरके चक्कर पडते रहते है, और उन्माद आदिके भयंकर मगरमच्छ दिखाई पडते हैं, जिसमे प्रपंच-रूपी बहुतसे मोड है और कर्माकर्मकी लहरों पर सुख दु.खका कूडा-कर्कट लहराया है' जिस नदीमे विषय-विलास रूपी टापू पर वासनाओकी लहरे टकराती रहती है और जीव रूपी फेनके पुञ्ज फैले हुए दिखाई पडते हैं, जिस नदीके अहंकार रूपी प्रवाहमे विद्या-मद, धन-मद और बल-मद तीनो की लहरे उठती रहती है और विषय-वासना के

आठवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—"अब आपकी बातोकी ओर मेरा पूरा-पूरा ध्यान है। मैंने जो कुछ पूछा है, वह अब आप मुझे बतलावे। ब्रह्म-कर्म और अध्यात्म क्या है, यह आप मुझे-समझावे। अधिभूत और अधिदैवतका भी आप निरूपण करे। और ये सब बातें ऐसे सहज रूपसे बतलावें जिसमे मेरी समझमे आ जायँ।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

"हे देव, आप जिसे अधियज्ञ कहते है, वह इस देहमे कौन है और कैसा है? मैं उसे जानना चाहता हूँ, परन्तु वह किसी प्रकार मेरे अनुमानमें नही आता। साथ ही, हे देव, मुझे यह भी बतलाइये कि नियुक्त अन्त करण वालोको देहावसानके समय आपका जो ज्ञान होता है, वह किस प्रकार होता है।" देखिये कि कोई भाग्यवान् पुरुष चिन्तामणियोके बने हुए मकानमें सोता है और उस सोने की अवस्थामे ही यदि वह कुछ बड़बडा उठता है, तो उसका वह बड़बड़ाना भी कभी व्यर्थ नही जाता। इसी प्रकार अर्जुनके मुँहसे ये सब बाते अभी पूरी तरहसे निकलने भी नही पाई थी कि श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन; तुमने जो कुछ पूछा है, उसका विवरण अच्छी तरह सुनो।" अर्जुन वास्तवमें उस समय एक कामधेनुका ही वत्स हो रहा था और उसके ऊपर कल्पवृक्षके मंडपकी प्रसन्न छाया थी। ऐसी अवस्थामे यदि मनोरथ-सिद्धि स्वयं ही उसके सामने मूर्त्तिमती होकर आ खड़ी हुई हो तो इसमे आश्चर्यकी ही कौन सी बात है? श्रीकृष्ण क्रोधके आवेशमे भी आकर जिसे मार डाले, वह भी परब्रह्मके साक्षात्कार का पात्र हो जाता है। फिर वही श्रीकृष्ण जिसे अत्यन्त प्रेमसे ब्रह्मका उपदेश दें, उसे ब्रह्मका साक्षात्कार क्यो न प्राप्त होगा? जिस समय हम कृष्ण-रूप होते हैं, उस समय हमारे अन्त.करणमे कृष्ण ही रहते है, और उस अवस्थामे सिद्धि आपसे आप हमारे संकल्पके घर चलकर आती है। परन्तु इस प्रकारका अपूर्व प्रेम केवल अर्जुनमे ही था और इसीलिए उसके मनोरथ भी सदा सफल हुआ करते थे। इसी लिए भगवानने पहलेसे ही यह समझ लिया था कि अब अर्जुन इस प्रकारका प्रश्न करेगा; और इसी लिए उन्होने उसके वास्ते उत्तर-रूपी भोजन पहलेसे ही परोसकर तैयार कर रखा था। बच्चा ज्योही स्तनकी ओर बढ़ता है, त्योही माता

हिलोरे आते रहते हैं, जिसमें उदय और अस्तकी बाढके कारण जन्म-मरणके दह पड़ते है और उनमें पंचभूतात्मक सृष्टिके बुलबुले बराबर उठते है, जिस नदीमे मोह और भ्रम आदिकी मछलियाँ धैर्यका मास नोचकर खाती रहती हैं और तब टेढे-तिरछे अज्ञानके चक्कर खाती हुई इधर-उधर घूमती रहती हैं और जिस माया-नदीमे भ्रमके गँदलेपनके कारण श्रद्धाकी दलदल बनती है और रजोगुणके गर्जनका शब्द स्वर्ग तक सुनाई पडता है, जिस माया-नदीमे तमोगुणका प्रवाह बहुत अधिक और बहुत प्रबल रहता है और सत्व रूपी दहोको तैरकर पार करनेका काम बहुत ही कठिन होता है, वह माया-नदी बहुत ही दुष्ट और कठिन है। इसमे जन्म और मृत्युकी जो बाढ आती है, उसके कारण सत्यलोकके गढ ढह जाते है और ब्रह्माड रूपी बड़ी बडी चट्टानें भी लखखड़ाकर गिरने लगती है। इस माया-नदीके जलके प्रचड वेगके कारण अभी तक उसकी लहरे रुकती ही नही। फिर भला इस प्रकारकी मायारूपी बाढको तैरकर कौन पार कर सकता है? इसमें एक और विलक्षण बात यह भी है कि इस माया रूपी नदीको तैरकर पार करनेके लिए जो जो उपाय किये जाते हैं, उनसे उलटे और भी अपकार ही होता है। अब यह सुनो कि ये अपकार किस प्रकार होते हैं। कुछ लोग तो स्वयं अपनी बुद्धिके भरोसे इस नदीमें प्रवेश करते है, पर वे शीघ्र ही सारी सुध-बुध भूल जाते हैं। कुछ लोग अज्ञानके दहमे अभिमानके मुखमे जा पडते हैं। कुछ लोग इसे तैरकर पार करनेके लिए अपनी कमरमे तीनों वेदोका जो तूँबा बाँधते हैं, उसके साथ ही साथ अहंकारका एक बडा पत्थर भी अपनी कमरमें बाँध लेते हैं और उस अवस्थामे उन्मादकी मछली उन्हे समूचा ही निगल जाती है। कुछ लोग अपनी युवावस्थाके भरोसे ही इसे पार करना चाहते हैं, परन्तु वे विषय-लम्पटताके फेरमे पड जाते है और उन्हे विषय-रूपी मगर चबाकर फेक देते है। और फिर आगे चल-कर वे लोग इस नदीके वार्धक्य रूपी बुद्धिभ्रशके जालोमे इधर-उधर फँस जाते है। फिर शोकरूपी चट्टानसे टकराकर और रागके भँवरमें गोते खाकर वे जब जब ऊपर सिर निकालते हैं, तब तब आपत्ति रूपी गिद्ध उनका कठोर चुम्बन करते है—उन्हे नोचने लगते है। फिर वे दु ख-रूपी कीचडसे लथपथ हो जाते हैं और अन्तमे मरणकी रेतीमे पहुँचकर उसीमे फँस जाते हैं—मर जाते है। इस प्रकार जो लोग विषय-लम्पटताके फेरमे पड़े रहते है, उनका जीवन बिलकुल व्यर्थ हो जाता है। कुछ लोग यज्ञ-विधानको ही अपने लिए तूँबा बनाते हैं और उसीको अपने पेटके नीचे बाँधकर चल पडते हैं और स्वर्गसुख गड्ढेमे जाकर अटक जाते है। कुछ लोग मोक्ष प्राप्त करनेकी आशासे कर्मरूपी बाँहोको अपना आधार बनाते है, परन्तु वे विधि और निषेध अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्यके भँवरमें फँस जाते है। जिसमे वैराग्यकी नौकाका भी प्रवेश नही हो सकता, जिसमे विवेककी डोरी भी नही पहुँचती और जिसे योग-है, साधनासे ही थोडा-बहुत और वह भी क्वचित् ही पार किया जा सकता है, उस माया-नदीके सम्बन्धमे यदि यह कहा जाय कि जीवमे उसे तैरकर पार करनेकी शक्ति तो इस प्रकारके कथनकी किससे उपमा दी जा सकती है? यदि पथ्य न करनेवाले रोगीका रोग अच्छा हो सकता हो, यदि इस बातका पता चल सके कि दुर्जनकी बुद्धि

समझ लेती है कि यह भूखा है। उस समय यह बात नही होती कि बच्चेको टूटे-फूटे शब्दोमे पहले मातासे यह कहना पडे कि मुझे दूध दो तब वह उसे दूध पिलावे। वह बिना उसके कहे ही उसकी इच्छा समझ लेती है और उसे पूर्ण भी कर देती है। इसलिए यदि कृपासागर गुरुमे अपने भक्तके प्रति इतना प्रेम दिखाई पडे तो इसमे आश्चर्यकी कोई बात नही है। अच्छा, अब यह सुनिये कि इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने क्या कहा।

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ३ ॥

सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा—"जो वस्तु अनेक छिद्रोसे युक्त इस शरीरमे रहने पर भी उसमेसे कभी गिरकर बाहर नही निकलती, इसके विपरीत जो वस्तु इतनी सूक्ष्म है कि हम उसे शून्य भी नही कह सकते और जो आकाशके पल्लेमे से छानी गई हो, परन्तु इतनी विरल और सूक्ष्म होने पर भी जो हिलोरने पर भी प्रपंचकी इस झोलीमेसे नीचे नही गिरती, वह परब्रह्म है। वह ब्रह्म-तत्व ऐसा है कि यदि आकार उत्पन्न भी हो जाय तो भी वह जन्मका विकार नही जानता और आकार का लोप हो जाने पर भी उसका लोप नही होता। इस प्रकारका जो ब्रह्म-तत्व अपनी स्वयं-सिद्ध अवस्था मे निरन्तर रहता है, हे भाई अर्जुन, उसको अध्यात्म कहते है। स्वच्छ आकाशमें रंग-बिरगे मेघ-पटल उत्पन्न तो होते हैं, परन्तु उनके सम्बन्धमे कोई यह नही जानता कि ये कैसे उत्पन्न होते है और कहाँसे आते हैं। इसी प्रकार उन निराकार और शुद्ध ब्रह्मसे प्रकृति और अहंकार आदि भिन्न-भिन्न भूत उत्पन्न होते है। और उन्हीसे ब्रह्माडकी रचनाका आरम्भ होता है। निर्विकल्प ब्रह्मकी भूमिमे ही "अहं बहुस्याम्" वाले संकल्पका बीज पहले-पहल जमकर अकुर निकालता है और तब वह शीघ्र ही ब्रह्माँडके रूपमे चारो ओर फैलकर भर जाता है। यदि प्रत्येक ब्रह्माँडके गोलको अच्छी तरह देखा जाय तो वह उस मूल बीजसे ही अर्थात् उस ब्रह्म-तत्वसे ही भरा हुआ दिखाई पडता है, परन्तु उनके मध्यमे उत्पन्न होनेवाले तथा नष्ट होनेवाले जीवोकी गिनती भी नही की जा सकती। फिर उन ब्रह्माडोके भिन्न-भिन्न अंश भी उसी अहं-बहुस्याम् वाले आदि संकल्पका जल्दी-जल्दी जप करने लगते है, जिससे अनेक प्रकारकी इस अनन्त सृष्टिकी वृद्धि होती है। परन्तु सृष्टिके इन सभी पदार्थोंमे वह एकमेवाद्वितीय परब्रह्म ही ओतप्रोत भरा रहता है। और यह अनेकत्व, यह भेद-भाव उस पर केवल बाढके समान छाया रहता है। इसी प्रकार यह भी समझमे नही आता आता कि इस सृष्टिमे जो सम और विषम भाव दिखाई पड़ते हैं, वे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं। यदि यह कहा जाय कि इस स्थावर-जगात्मक विश्वकी रचना व्यर्थ मनोविनोदके लिए ही हुई है, तो उसमे उत्पन्न होनेवाले भूत मात्रकी लाखो जातियाँ दिखाई पडती है। यदि यो ही देखा जाय तो जीवोके इन अंकुरोंकी न तो कोई संख्या ही जानी जा सकती है और उनके भेद-भावकी कोई सीमा ही स्थिरकी जा सकती है। परन्तु यदि उनके मूलका पता लगाया जाय तो यही जान पडता है कि इन सबकी उत्पत्ति उसी शून्य ब्रह्मसे हुई है। इस सृष्टिका मूल कर्त्ता तो कही मिलता ही नहीं;

किस प्रकार वशमें की जा सकती है अथवा यदि लोभी पुरुष हाथमें आई हुई सम्पत्ति छोड सकता हो, यदि चोर भरी सभामें घुस सकता हो अथवा मछलीको वंशी निगल सकती हो, अथवा कोई डरपोक आदमी किसी यक्षिणीको डराकर पीछे हटा सकता हो अथवा यदि हिरनके बच्चे जाल तोड सकते हो या च्यूंटी मेरु पर्वतपर चढकर उसके उस पार जा सकती हो तो जोव भी माया-नदीके उस पार पहुँचा हुआ दिखाई पड सकता है। इसी लिए, हे भाई अर्जुन, जिस प्रकार स्त्रीको ही सब कुछ समझने-वाला मनुष्य स्त्रीको अपने वशमे नही रख सकता, उसी प्रकार जीव भी माया-नदीको तैरकर पार नही कर सकता। जो एक-निष्ठ लोग अन्यय भावसे केवल मुझको ही भजते है, वही इस नदीको तैरकर पार कर सकते है। बल्कि यो कहना चाहिए कि ऐसे लोगोकी माया-नदीके उस पार जानेकी आवश्यकता ही नही होती, क्योकि उनके सामने इसी पार जल नही रह जाता। जिन्हे सद्‌गुरु रूपी अच्छी नौका मिल गई है, जिन्होने कसकर अनुभवका कछाडा बाँध लिया है और जिन्हे आत्म-बोध रूपी बेडा मिल गया है, जिन्होने अहंकारका भारी बोझ फेककर संकल्प, विकल्पकी लहरोसे बचकर और विषयाशक्तिकी प्रबल धारसे बचकर ऐक्यके घाट पर पहुँचकर आत्म-बोधवाला चह पा लिया है और तब जो जल्दीसे निराशाके उस पार पहुँच गये है, वही लोग जल्दी जल्दी वैराग्यके हाथ मारते हुए और अहं-ब्रह्मास्मिवाली श्रद्धाकी सामर्थ्यसे ऊपर लहराते हुए अन्तमे अनायास ही निवृत्ति तट पर जा पहुँचते है। जो लोग इस मार्गसे मेरी भक्ति करते है, वे ही तैरकर मेरी इस मायाको पार कर सकते है। परन्तु ऐसे भक्त विरले ही होते है और वे अधिक संख्यामें नही दिखाई पडते।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५ ॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६ ॥

"इस प्रकारके भक्तोके सिवा बहुत-से ऐसे ही लोग होते है, जिन पर अहंकारका भूत सवार रहता है; और इसी लिए वे लोग आत्मज्ञानको भूल जाते है। वेद कहते हैं कि जब मनुष्यमे इस प्रकारके अहंकारका संचार होता है, तब नियमका—अर्थात् इन्द्रिय-निग्रहका—परदा उठ जाता है, भावी अध पातकी लज्जा नष्ट हो जानी है और प्राणी ऐसे ऐसे काम करने लगता है, जो कभी नही करने चाहिए। ऐसे प्राणी इन्द्रियरूपी ग्रामके राजमार्गमें अहंकारकी बकवाद करते हुए अनेक प्रकारके विकारो-का समुदाय एकत्र करते है। और जब अन्तमें उन पर दुःख तथा शोकके निरन्तर आघात होने लगते है, तब उनकी स्मृतिका नाश हो जाता है। और इन सब बातों-का कारण यही प्रकृति या माया है इसीके कारण वे सब जीव मुझे भूल गये है। आत्म-हितका साधन करनेवाले मेरे भक्त चार प्रकारके होते है--आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७ ॥

"इनमेसे आर्त्त लोग अपने दुखोका निवारण करनेके लिए. जिज्ञासु लोग ज्ञानकी

साथ ही इस सृष्टिका कहीं कोई कारण भी नही दिखाई पड़ता। पर बीचमें ही यह सृष्टि रूपी कार्य आपसे आप और बहुत तेजीके साथ बढ़ने लगता है। इस प्रकार बिना किसी कर्त्ताके ही उस निराकार ब्रह्म पर यह जो इन्द्रियगम्य आकारकी छाप पड़ती है, उसीको "कर्म" कहते हैं।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥४॥

"अब मैं संक्षेपमें अधिभूतका निरूपण करता हूँ। जैसे मेघ प्रकट होते और नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जो ऊपरसे तो देखनेमे आता है, परन्तु वास्तवमे नश्वर है, जो पंचमहाभूतोके अँशोके परस्पर मिश्रणसे बना हुआ है, जो भूतोका आश्रय ग्रहण करके और उन्हींमें मिश्रित होकर भासमान होता है, परन्तु जो नाम-रूप आदिसे विशिष्ट भूत संयोगके बिगडते ही नष्ट हो जाता है, उसीको अधिभूत कहते है। अधिदैवतसे पुरुषका अभिप्राय समझना चाहिए। प्रकृतिके द्वारा जो-जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, यह उन सबका उपभोग करता है। यह पुरुष ही चैतन्य अर्थात् बुद्धिका नेत्र अथवा द्रष्टा है, यही इन्द्रियोके प्रदेशोंका मुख्य अधिकारी अथवा राजा है और यही वह वृक्ष है जिस पर देहके नष्ट होनेके उपरान्त संकल्प-विकल्प रूपी पक्षी जाकर विश्राम करते हैं। यह "अधिदेवत" नामका पुरुष वास्तवमें मूलवाला परमात्मा ही है, परन्तु परमात्मासे कुछ भिन्न हो गया है। यह अहंकार-निद्राके वशमे रहता है और इसी लिए स्वप्न-तुल्य मायाके झगडेमें हर्ष और शोक आदिका अनुभव करता है। जिसे लोग साधारणत. जीव कहते है, वह इसी पंचाभूतात्मक शरीर-पिंडमेंका अधिदैवत है। जो इस शरीर-रूपी राज्यमें शरीर-बुद्धिका लोप करता है, वह मैं ही हूँ और मुझे ही इस शरीरमें का अधियज्ञ समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो अधिदैव और अधिभूत है; वे दोनों भी वस्तुत. मैं ही हूँ। परन्तु जब चोखा और निर्मल सोना घटिया सोनेमे मिल जाता है, तो क्या वह बढ़िया सोना भी हलके मेलका और घटिया सोना नही हो जाता? परन्त फिर भी वह निर्मल सोना स्वयं कभी मलिन नही होता और न उस घटिया सोनेका अंश ही होता है। परन्तु जब तक वह हलके और घटिया सोनेके साथ मिला रहता है, तब तक उसे हलका घटिया सोना ही कहना ठीक है। उसी प्रकार ये अधिभूत आदि जब तक प्रकृतिया मायाके परदेसे ढँके हुए हैं, तब तक उन्हे मूल ब्रह्मसे भिन्न ही जानना चाहिए। परन्तु जब अविद्याका परदा दूर हो जाता है और भेद-बुद्धिकी गाँठ टूट जाती है, तब ये अधिभूत आदि सब दृश्य नष्ट होकर और परब्रह्मके साथ मिलकर एक-रूप हो जाते हैं। उस समय उनमे का पारस्परिक भेद भला कैसे रह सकता है? बालोके जूड़े पर यदि स्वच्छ स्फटिक की शिला रख दी जाय तो नेत्रोको वह स्फटिक शिला टूटी हुई सी दिखाई पडती है। परन्तु यदि उसके नीचेसे बालोका वह जूडा या लट हटा ली जाय तो फिर कौन कह सकता है कि उस स्फटिक शिलाका वह टूटा हुआ रूप कहाँ चला जाता है? क्या उस समय कोई उसके टूटे हुए अंशोको फिरसे जोड देता है? वास्तवमे यह बात तो होती ही नही। उस समय भी वह शिला पहलेकी ही भाँति ज्यो की त्यो और अखण्ड

-लालसासे और अर्थार्थी लोग द्रव्य प्राप्त करनेकी इच्छासे मेरे भक्त होते है। परन्तु चौथे प्रकारके जो भक्त होते है, उनमे कोई ऐसी वासना नही होती, जिसकी वे तृप्ति करना चाहते हो, और इसी लिए वही ज्ञानी लोग मेरे सच्चे भक्त होते हैं। क्योकि उसी ज्ञानके प्रकाशसे भेद-भावका अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसी लिए वे मद्रूप हुए रहते है और साथ ही मेरे भक्त भी हो जाते है। परन्तु जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक-की शिला—उस परसे बहने वाले पानीकी गतिके कारण—साधारण जनोकी दृष्टिमे क्षण भरके लिए पानीके समान जान पडती है, ठीक उसी प्रकारकी अवस्था ऐसे ज्ञानी पुरुषकी भी होती है। यह वर्णन करनेका कोई विलक्षण या अद्‌भुत प्रकार नही हैं। जिस समय वायु शान्त होकर आकाशमे मिल जाती है, उस समय आकाशसे भिन्न उसका कोई वायुभाव नही रह जाता। ठीक इसी प्रकार जब वह ज्ञानी मुझमे मिलकर एक हो जाता है, तब इस प्रकारके विधान या कथनके लिए कोई स्थान ही नही रह जाता कि—"वह भक्त है"। यदि वायुको हिला या चलाकर देखा जाय, तभी उसका आकाशसे भिन्न स्वरूप दिखाई पडता है और तभी इस बातका प्रत्यय होता है कि वह आकाशसे भिन्न है। और नही तो वह स्वभावत गगनके रूपमे ही रहती है। इसी प्रकार जब वह ज्ञानी शरीरके द्वारा कर्मोका आचरण करता है, उस समय लोगोको ऐसा अनुभव होता है कि वह भक्त है। परन्तु वह अपने आत्मानुभवसे सहज गुणके कारण मद्रूप हुआ रहता है अपने ज्ञानके प्रकाशके कारण वह यह समझता है कि मैं आत्मा ही हूँ और इसी लिए मैं भी प्रेमके आवेशमे उसे आत्मा ही कहता हूँ। जो जीवत्वके उस पारका आत्म-स्वरूपका सकेत पहचानकर व्यवहार या आचरण कर सकता है, वह क्या केवल भिन्न देहधारी होनेके कारण ही कभी परमात्म-तत्वसे वास्तवमे अलग हो सकता है?

उदाराः सर्वं एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

"इसी लिए केवल अपना कार्य सिद्ध करनेके उद्देश्यसे जिसे देखो, वही भक्त बन-कर मेरे साथ चिमटने लगता है, परन्तु ऐसा भक्त केवल ज्ञानी ही है, जिसका प्रिय विषय केवल मैं ही रहता हूँ।" इस प्रकार श्रीकृष्णने जो कुछ कहा, वह मिथ्या नही था; क्योकि देखो- दूधके लोभसे सभी जगह लोग गौको बाँधकर रखते है, परन्तु उस बन्धनका अश विना डोरीके ही उसके बछडेको भी कैसे मिल जाता है? विना किसी तरह की डोरीसे बँधे रहने पर भी बछडा जो बन्धनमे पडा रहता है, इसका कारण यही है कि तन, मन और प्राणसे वह बछडा अपनी माँके साथ ही सम्बद्ध रहता है और माँको छोडकर और किसीको वह नही जानता। उसे देखते ही वह कहता है—"यही मेरी माँ है"। इस प्रकार जब वह गौ देखती है कि मेरे बिना यह बछडा बिलकुल अनाथ और अनाश्रित है, तब वह गौ भी उस पर वैसी ही एकान्तिक प्रीति रखती हैं। इसी लिए श्रीकृष्णने जो कुछ कहा है, वह बिलकुल ठीक है। अस्तु। भगवान्‌ने फिर कहना आरम्भ किया—"हे अर्जुन, बाकी जो और तीन प्रकारसे भक्त मैने तुम्हें बतलाये हैं, वे भी अपने अपने स्थान पर अच्छे ही हैं और मुझे भी वे भले लगते हैं। परन्तु मेरा ज्ञान हो जाने पर जो फिर पीछे लौटना ठीक उसी प्रकार भूल

रहती है। वह तो केवल बालोंके जूडे या लटकी संगतिके कारण ही टूटी हुई सी जान पड़ती है और इसी लिए उस जूडे या लटके दूर होते ही वह फिर ज्योकी त्यो और अखंड दिखाई पडती है। इसी प्रकार जब अधिभूत आदिका अहंभाव नष्ट हो जाता है, तब परब्रह्मके साथ उसका वह मूलवाला ऐक्य ज्योका त्यो और पहलेकी ही तरह बना रहता है। जिसमें यह ऐक्य होता है, वही अधियज्ञ मैं हूँ। हे अर्जुन, अपने मनमे यही अभिप्राय रखकर मैंने पहले (अर्थात्, 'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं' आदि श्लोकोमे) तुम्हे यह बतलाया है कि कर्मोंसे ही सब यज्ञ उत्पन्न होते है। समस्त जीवोकी विश्रान्तिका यह निष्काम ब्रह्म-सुखका गुप्त भाडार मैंने आज तुम्हे खोलकर दिखला दिया है। पहले अच्छी तरह वैराग्यका ईंधन लगाकर इन्द्रियोकी अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए और तब उसी अग्निमे विषय-द्रव्योकी आहुति देनी चाहिए। फिर वज्रासनकी भूमि शुद्ध करके इस शरीर-मंडपमे मूलबन्धकी मुद्राकी यज्ञवेदी बनानी चाहिए। इस प्रकारकी सिद्धि हो जाने पर इन्द्रिय-निग्रहके कुंडमे योगरूपी मन्त्रका घोष करते हुए यथेष्ट मात्रामे इन्द्रिय-द्रव्योको अर्पित करना चाहिए। फिर मन और प्राण-वायुके निग्रहको ही इस यज्ञ-विधानका समारम्भ मानकर निर्मल ज्ञान रूपी अग्निको सन्तुष्ट करना चाहिए। जब इस प्रकार ज्ञानकी अग्निमे सब कुछ अर्पित कर दिया जाता है, तब वह ज्ञान समस्त ज्ञेय वस्तुओमे लीन हो जाता है और तब केवल ज्ञेयवाले स्वरूपमे ही सब जगह अवशिष्ट रह जाता है। इस ज्ञेयको ही "अधियज्ञ" कहते है।" इस प्रकार सर्वज्ञ श्रीकृष्णने जो बातें कही, वे सब तत्काल ही बुद्धिमान् अर्जुनकी समझमे आ गई यह देखकर श्रीकृष्णने कहा—"हे पार्थ, तुम अच्छी तरह मेरी बातें सुन रहे हो न ?" श्रीकृष्णके ये शब्द सुनकर अर्जुनने अपने आपको परम धन्य समझा। बालककी तृप्ति देखकर माता भी तृप्त होती है और शिष्यका समाधान देखकर गुरुका भी समाधान होता है; और इस बातका ठीक ठीक अनुभव उस माता अथवा उस गुरुको ही हो सकता है, दूसरोको तो इन बातोकी ठीक ठीक कल्पना भी नही हो सकती। इसी लिए अर्जुनसे शरीरमे सात्विक भावोकी लहर उठनेसे पहले ही स्वयं श्रीकृष्णके शरीरमे सात्विक भावोकी लहर उठी। वह लहर इतनी प्रबल थी कि किसी प्रकार रोके नही रुकती थी। परन्तु फिर भी श्रीकृष्णने किसी प्रकार अपनी बुद्धि ठिकाने रखकर पूर्णताको प्राप्त सुगन्धके समान अथवा अमृतकी परम शीतल लहरोके समान कोमल और रसाल वचन कहने आरम्भ किये। उन्होने कहा—"भइया श्रोता-श्रेष्ठ अर्जुन, सुनो। जब एक बार माया इस प्रकार जलने लगती है, तब उस अग्निमे उसे जलानेवाला ज्ञान भी जलकर राख हो जाता है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयातिस मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५ ॥

"जिसे अधियज्ञ कहते है और जिसका वर्णन मैंने अभी तुमसे किया है उस अधियज्ञके सम्बन्धमे जो लोग यह समझते है कि वह आदिसे अन्त तक "मैं" ही हूँ, वे अपने शरीरको उसी घरके समान समझते है जो अवकाशको अपने भीतरी भागमे भी

जाते हैं, जिस प्रकार समुद्रके साथ नदीके मिल जाने पर उसका पीछे लौटना असम्भव हो जाता है और इसी प्रकार जिनके अन्त.करणमे उत्पन्न होनेवाली अनुभूति-गंगा मेरे स्वरूप-सागरमे आकर मिल जाती है, उस भक्तको बिलकुल मेरा ही स्वरूप समझना चाहिए—यह समझना चाहिए कि वह भक्त नही है, स्वयं मै ही हूँ। अब इस बातका और अधिक विस्तार क्यो किया जाय ? वास्तविक वात तो यह है कि जो ज्ञानी है, वह मेरा शुद्ध चैतन्य और प्रत्यक्ष आत्मा ही हैं। वास्तवमे यह बात तो किसीसे कहने योग्य ही नही है। परन्तु क्या किया जाय ! जो बात नही कहनी चाहिए थी, वही मैं कह बैठा हूँ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९ ॥

"ऐसा पुरुष विषयोके भीषण जंगलके काम और क्रोध रूपी विकारोंके संकटोसे वचकर निर्मल वासनाके पहाड पर आ पहुँचता है। फिर, भाई वीर श्रेष्ठ अर्जुन, वह सत्संगति प्राप्त करके और कर्म-संन्यासका टेढ़ा-तिरछा मार्ग एक ओर छोडकर सरल सत्कर्म-योगके राज-मार्ग पर चल पड़ता है। फिर वह सैकड़ो जन्मो तक उसी मार्गसे प्रवास करता रहता है। इस प्रवासमे वह अपने पैरोमें आशाके खड़ाऊँ तक नहीं पहनता। फिर वहाँ फल-हेतुके विचारके लिए कहाँ स्थान रह जाता है ? वह इस प्रकार जन्म-जन्ममे शरीर धारण करनेकी मायाके रात्रि कालमे वासना-सग छोडकर कर्म-योगके मार्ग पर वेगके साथ अकेला ही चलता रहता है। बस इसी बीचमें कर्मो-का क्षय होते ही उसके लिए ज्ञानका प्रभात हो जाता है। उसी समय गुरुकी कृपासे उष.काल हो जाता है, ज्ञान सूर्यकी किरणे आकर उसपर पड़ने लगती हैं और तब उसकी दृष्टिके सामने भेद-भाव-रहित एकत्वकी सम्पत्ति प्रकट होती है। ऐसी अवस्था-मे वह जिस जिस दिशामे देखता है, उस उस दिशामे उसे केवल मैं ही दिखाई पडता हूँ, और यदि वह कुछ भी न देखे और बिलकुल निश्चेष्ट तथा शान्त रहे, तो भी उसके हृदयमें केवल मैं ही भासमान रहता हूँ। मेरे सिवा उसके लिए कही और कुछ भी नही होता। जिस प्रकार पानीमे डूबे हुए बरतनके अन्दर और बाहर सब जगह पानी ही पानी रहता है, उसी प्रकार वह भी मुझमे निमग्न रहता है और उसके अन्दर और वाहर भी केवल मैं ही रहता हूँ। परन्तु वह अवस्था ऐसी नही है, शव्दोके द्वारा वर्णन किया जा सके। इसी लिए अब मैं केवल इतना ही कहता हूँ कि जव इस प्रकार ज्ञान-सम्पत्तिका भंडार उसके लिए खुल जाता है, तव वह उस ज्ञान-द्रव्यको अपने व्यवहारमे लाकर समस्त विश्वको अपना-सा कर लेता है। उसे यह अनुभव होने लगता है कि इस दृष्टिमे जो कुछ है, वह सव श्री वासुदेव ही हैं; और इस अनुभव-रससे उसका अन्तरंग आपसे आप इतना ही अधिक भर जाता है कि अन्तमे वही श्रेष्ठ भक्त और सच्चा ज्ञानी ठहरता है। उसके आत्मानुभवका भाडार इतना अधिक विस्तृत होता है कि उसमे सृष्टिके स्थावर और जंगम सभी पदार्थ समा सकते हैं। भाई अर्जुन, ऐसा महात्मा वहुत ही दुर्लभ होता है। हाँ जो कामिक भावना से मेरी भक्ति करते हैं और जो आशाके अँधेरेमे अन्धे होकर इधर-उधर भटकते रहते

भरे रहता है और स्वयं भी बाहरके उसी अवकाशमें रहता है। बस इसी प्रकार वे लोग ब्रह्म-रूप होकर अन्दर और बाहर सब जगह सदा ब्रह्म-स्वरूपमे ही निवास करते हैं। जब वे ब्रह्मानुभवके भीतरी घरमे निश्चयकी कोठरीमे प्रवेश करते है, तब उन्हें ब्रह्मके अतिरिक्त बाहरके और किसी पदार्थका कुछ भी स्मरण नही रहता। इस प्रकार जो लोग अन्दर और बाहर एक-रूप होकर मद्रूप हो जाते है, उनके लिए बाहरका पंचमहाभूतोवाला देहरूपी आवरण इस प्रकार गिर जाता है कि उन्हे पता भी नही चलता। जिस समय यह शरीर खडा रहता है, जब उसी समय उन्हे उसकी कोई चिन्ता नही रहती, तब फिर यदि वह गिर पड़े तो भला उन्हे उसके गिरनेका क्या दुःख हो सकता है? अब यदि उनका शरीर गिर पडे या नष्ट भी हो जाय, तो भी उनके ब्रह्मानुभवमें तिल मात्रकी भी कमी नही होती। उनकी वह अनुभूति मानो एकताकी जीती-जागती पुतली ही होती है। वह पुतली नित्यताके चौखटेमे बैठाई हुई होती है और सम-रसताके समुद्रमे धोकर वह इतनी स्वच्छ की हुई होती है कि फिर उसमे नामको भी कही मल बाकी नही रह जाता। यदि किसी गहरे जलाशयमे पानीका घडा डुबाया जाय तो वह अन्दर भी पानीसे भरा रहता है और बाहर भी चारो ओर पानीसे घिरा रहता है। अब उस अवस्थामे यदि वह घड़ा दैव-योगसे टूट जाय तो क्या उसके साथ वह जल भी टूट जाता है? अथवा जिस समय साँप अपनी केचुली छोड़ देता है अथवा गरमीके कारण मनुष्य अपने शरीर परके वस्त्र उतारकर रख देता है, उस समय क्या कभी उस साँप अथवा मनुष्यके अंगोमे भी किसी प्रकारका परिवर्तन या उलट-फेर होता है? ठीक इसी प्रकार यह नाम-रूपात्मक देह भी नष्ट हो जाता है, परन्तु उसमेकी ब्रह्म नामक सद्वस्तु उस देह आदिके बिना ही स्व-स्वरूपसे ज्योंकी त्यो बनी रहती है। फिर जो बुद्धि उस ब्रह्म स्वरूपके साथ सम-रस होकर स्वयं ब्रह्म ही बन जाती है, वह किस प्रकार छिन्न भिन्न और अव्य-वस्थित हो सकती है? इसी लिए जो लोग इस प्रकार देहावसानके समय मुझे जानते हुए शरीर छोडते है, वे मद्रूप ही हो जाते है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भवभावितः॥ ६॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७॥

"साधारणतः यही नियम हैं कि जिस समय मृत्यु आती है, उस समय मनुष्य अपने मनमे जिसका ध्यान या स्मरण करता है, वही वह हो जाता है। जिस प्रकार कोई भयभीत होकर वायु-वेगसे किसी ओर दौड़ने लगे और दौडता हुआ अचानक कुएँमे गिर पड़े, उस समय उसके गिरनेसे पहले उसे सँभालनेके लिए आगे कोई वस्तु नहीं रहती, और इसी कारण उसके लिए कुएँमे गिरनेके सिवा और कोई उपाय ही नहीं रह जाता, उसी प्रकार जब मृत्युका समय आता है, तब जीवके सामने जो कल्पना आकर खडी होती है उसी कल्पनाके रूपके साथ मिल जानेके सिवा उस

हैं, ऐसे दूसरे प्रकारके भक्त, जितने चाहो; उतने मिल सकते है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥

"फलकी वासना रखनेके कारण उनके अन्त करणमे काम (अर्थात् विषय-वासना) का प्रवेश हो जाता है, और उसी कामके थपेडेसे ज्ञानका दीपक बुझ जाता है। इससे वे अन्दर और बाहर घोर अन्धकारमे डूब जाते है, और यद्यपि मैं उनके बिल्कुल पास रहता हूँ, परन्तु फिर भी वे मुझे नही देख पाते और तब वे तन-मनसे दूसरे देवताओके भजनमे लग जाते है। ऐसे पुरुष पहलेसे ही मायाके दास बने हुए रहते हैं, तिस परसे विषय-भोगके फेरमे पडकर वे और भी अधिक दीन-हीन हो जाते है और तब वे लम्पटतासे दूसरे देवताओकी भक्ति बडे कौतुकके साथ करते है। वे स्वयं अपनी ही बुद्धिसे अपने लिए न जाने कितने अधिक नियम और निर्बन्ध बना लेते हैं, पूजा-सेवाके न जाने कितने द्रव्य एकत्र कर लेते है और शास्त्रोक्त विधियोसे वे कितने ध्यानपूर्वक उन देवताओको वे द्रव्य अर्पण करते है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

"फिर भी भक्त चाहे जिस देवताका भजन करे, परन्तु उसके उस भजन और पूजनका फल मैं ही पूरा करता हूँ। उसकी बुद्धिमे इस बातका भी निश्चय नही हुआ रहता कि समस्त देव-देवताओमे मेरा ही निवास रहता है, और इसी लिए उसके मनमे यह भेद-भाव बना रहता है कि जितने देव-देवता है, वे सब वास्तवमे अलग-अलग ही हैं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

"वह इस प्रकारकी श्रद्धासे युक्त होकर अपने इष्ट देवताकी यथा-विधि आराधना करता है, और जब तक कार्य-सिद्धि नही होती, तब तक उसकी वह आराधना अखंड रूपसे चलती रहती है। ऐसे भक्त अपने मनमे जिस फलकी कामना करते है, वह फल उन्हे मिल जाता है, परन्तु वह फल भी मुझसे ही उत्पन्न हुआ रहता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥

"परन्तु ये जो भक्त अपने संकुचित सकल्पो और विचारोके बाहर कभी नही जाते, उन्हे मेरा कुछ भी ज्ञान नही होता, और इसी लिए उन्हे जो फल प्राप्त होता है, उसका कभी न कभी अन्त होना भी अवश्यम्भावी होता है और वे फल शाश्वत नही होते। इतना ही नही; बल्कि इस प्रकारकी भक्तिसे केवल सांसारिक साधन ही प्राप्त होते हैं, क्योकि आत्मानुभवके बिना ये सब फल-भोग क्षण भर दिखाई पड़नेवाले स्वप्नके समान ही होते है। परन्तु यदि हम विचार क्षण भरके लिए छोड़ भी दे तो भी एक और बात यह है कि वे जिस देवताका प्रेमपूर्वक भजन करते हैं, उसी देवताका

प्राणी के लिए और कोई उपाय ही नही रह जाता। इसी प्रकार जागते रहनेकी दशामें जीवको जिस बातका बराबर ध्यान बना रहता है, वही बात आँख लगने पर उसे स्वप्नमे भी दिखाई पडती है। इसी प्रकार जीवित अवस्था मे जीवकी जो लालसा पूरी नही होती, उसके प्रति मरनेके समय उसका अनुराग बहुत अधिक बढ जाता है! और यह नियम है कि मरनेके समय जीवको जिसका स्मरण होता है, उसीकी योनिमे वह जाता है। इसी लिए तुम सदा मेरा ही स्मरण रखा करो। तुम अपनी आँखोसे जो कुछ देखो, कानोसे जो कुछ सुनो, मनमे जो कुछ चिन्ता करो अथवा वाचासे जो कुछ बोलो, वह सब अन्दर और बाहर मद्रूप होकर ही देखो, सुनो, चिन्तन करो और बोलो—मद्रूप होकर ही सब प्रकारके आचरण करो। बस फिर सदा और सब जगह मैं ही सहज भावसे सिद्ध रहूँगा। अर्जुन, यदि तुमसे ऐसा हो सके तो फिर चाहे देहका नाश ही क्यो न हो जाय, परन्तु फिर भी तुम्हे मृत्युका कुछ भी भय न होगा। फिर भला केवल युद्ध करनेमे तुम्हे क्या डर हो सकता है? यदि तुम वास्तविक रूपमे अपना मन और बुद्धि मेरे आत्मस्वरूपमे अर्पण कर दोगे, तो मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ और तुम्हे वचन देता हूँ कि तुम मत्स्वरूप ही हो जाओगे। यदि तुम्हारे मनमे अभी तक इस बातकी शंका बनी ही हो कि यह किस प्रकार होगा, तो तुम पहलेसे ही इसका अभ्यास करके अनुभव कर लो। और यदि फल-सिद्धि न हो तो तुम खुशीसे मुझ पर क्रोध कर सकते हो।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

"इसी प्रकारके अभ्याससे यह कर्म-योग चित्तको निर्मल और समर्थ करता है। जिस प्रकार युक्तिके बल से पंगुल आदमी भी पहाड पर चढ जाता है, उसी प्रकार कर्मयोगके अभ्याससे तुम अपना मन परब्रह्मके मार्ग मे लगाओ। बस फिर मन और शरीर चाहे रहे और चाहे नष्ट हो जायँ, उससे कुछ भी हानि न होगी। जो चित्त मनुष्यको अनेक प्रकारकी अवस्थाओ मे ले जाता है, वह यदि आत्मामे रत हो जाय तो फिर इस बातका ध्यान किसे रह सकता है कि यह शरीर नष्ट हो गया या बचा हुआ है? जो पानी नदीके प्रवाहके साथ जोरोसे बहता हुआ जाकर समुद्रमे मिल जाता है, क्या वह कभी यह देखनेके लिए लौटकर आता है कि पीछे क्या हो रहा है? कभी नही। वह तो समुद्रके साथ एक-रूप होकर उसीमे रह जाता है। इसी प्रकार चित्त भी चैतन्य होकर पर-ब्रह्ममे ही रह जाता है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

"जिसमे जन्म-मरणके सब झगडोका अन्त हो जाता है, जो परमानन्द-स्वरूप है, जो निराकार होता है, जिसमे जन्म और मरण नही होता, जो सर्व-साक्षी है, जो

स्वरूप वे प्राप्त करते हैं, परन्तु जो भक्त तन, मन और प्राणसे मेरे मार्गमें लगते है, वे देहान्त होते ही मद्रूप हो जाते है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४ ॥

"परन्तु सामान्य प्राणी ऐसा नही करते और व्यर्थ ही अपने हितकी हानि कर बैठते है, क्योंकि वे अपने हाथकी हथेली पर पानी रखकर उसीमे तैरनेका प्रयत्न करते है। लेकिन जो लोग वास्तवमे तैरना चाहते हों, उन्हे गहरे पानीमे प्रवेश करना चाहिए। जव अमृतके समुद्रमे गोता लगाया जाव, तव अपना मुँह ही क्यों जोरसे वंद करके रखा जाय और अपने मनमें किसी गड्ढेके पानीका स्मरण रखकर क्यो दु.ख किया जाय? अमृतमे प्रवेश करके भी बलपूर्वक अपने ऊपर मृत्यु क्यो ली जाय? इसकी अपेक्षा स्वयं अमृत वनकर अमृतमे ही क्यों न निवास किया जाय? इसी प्रकार; हे भाई अर्जुन, यह फल-हेतुवाला पिंजरा छोडकर और अनुभवके पंख लगाकर ज्ञानके आकाशमे खूब अच्छी तरह चक्कर क्यों न लगाया जाय और उसके स्वामी वनकर क्यो न रहा जाय? जव मनुष्य ऐसे ऊँचे स्थानमे उड़ने लगता है, तव उसके पराक्रमसे सुख का इतना अधिक विस्तार होता है कि मनुष्य अपने आनन्दके आवेशमें जितनी तेजीसे और जितना अधिक चाहे, उतना उड़ सकता है। उस अपरिमित आत्म-सुखको मापनेका प्रयत्न क्यों किया जाय? मैं तो अव्यक्त और निराकार हूँ। फिर मुझे कोई व्यक्त और साकार क्यों माने? मेरा स्वरूप तो स्वयं प्राणियोमे ही स्वत. सिद्ध है; फिर उसे प्राप्त करनेके लिए व्यर्थके साधनोके फेरमे पड़नेकी क्या आवश्यकता है? परन्तु, भाई अर्जुन, यदि इस प्रकारके प्रश्न किये जायँ, तो वे जीवोको कुछ अच्छे नही लगते।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५ ॥

"जीवोंकी आँखो पर मायाका धुन्ध छाया रहता है जिससे उन्हे कुछ भी दिखाई नही पड़ता। इसी लिए प्रकाशमे भी वे मुझे देख नही सकते। नही तो क्या तुम एक भी ऐसी वस्तु वतला सकते हो, जिसमे मेरा निवास न हो? भला कौन-सा जल ऐसा है जिसमे रस न हो? या कौन सा ऐसा पदार्थ है जिसे वायु स्पर्श न करती हो? अथवा कौन सा ऐसा स्थल है जिसमे आकाश न हो सकता हो? वस यही समझ लो कि सारे विश्वमें एक मैं ही मैं भरा हूँ।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६ ॥

"हे अर्जुन, आज तक जो भूत मात्र हो गये हैं, वे सव अव मद्रूप होकर ही रहते है; और इस समय भी जितने भूत है, वे सब मेरे ही स्वरूप है—उनमे मै ही हूँ। और भविष्यमे जो भूत अभी उत्पन्न होनेको है, वे भी मुझसे भिन्न नही है। यदि सच पूछो तो ये भी केवल मायाकी ही वाते हैं। और नही तो वास्तवमें न कुछ होता ही

आकाशसे भी प्राचीन है, जो परमाणुओं से भी कहीं अधिक छोटा है, जिसके सहवास-से विश्वको चेतना प्राप्त होती है, जो इन सब दृश्योंको प्रसव करता है, जिसके कारण यह विश्व जीवित रहता है, जिसके सामने हेतु अर्थात् कार्य-कारणवाला सम्बन्ध खड़ा नही रह सकता, जो कल्पनासे भी परे है, जो दिनके समय भी चर्मचक्षुओके लिए उसी प्रकार अन्धकारके समान अदृश्य रहता है, जिस प्रकार दीपक अग्निमें प्रवेश नही कर सकता अथवा जिस प्रकार तेजमे अन्धकारका प्रवेश नही हो सकता, जो पूर्ण रूपसे निर्मल किए हुए सूर्य-रूपी किरणोकी राशि है, जो ज्ञानियो के लिए सदा उदित रहने वाले सूर्यके समान है और जिसके लिए लक्षणासे भी "अस्तमान" शब्दका प्रयोग नही किया जा सकता, उस निर्दोष और परिपूर्ण स्वरूपवाले ब्रह्मको जो मरनेके समय शान्त चित्तसे और ज्ञानपूर्वक स्मरण करता है, जो इस बाह्य शरीरसे पद्म नामका योगासन लगाकर और उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके बैठता है, जो कर्म-योगका शाश्वत सुख पूरी तरहसे अपने आपमे भरकर ही अन्दर ही अन्दर एकत्र की हुई मनकी शक्ति से और ब्रह्म-स्वरूपकी प्राप्तिके प्रेमसे बहुत शीघ्र आत्मस्वरूप प्राप्त करनेके लिए सिद्ध किये हुए योगकी सहायतासे, सुषुम्नाके बीचवाले मार्गसे, जिस समय अग्नि चक्रसे ब्रह्म-रन्ध्रकी ओर जाने लगता है और जिस समय प्राण-वायु महदाकाशमें संचार करने लगता है, उस समय देहादिका और चित्तका संयोग जिसे बहुत ही तुच्छ और ऊपरी दिखाई देता है, परन्तु जो मनकी शान्तिसे सँभला रहता है, भक्तिकी भावना से भरपूर रहता है और योगकी शक्तिसे अच्छी तरह सिद्ध हुआ रहता है, वही जड़ और अ-जड़का लय करता है और भौंहोंके मध्य भागमें घूमता रहता है। जिस प्रकार घण्टेका नाद घण्टेमे ही लीन हो जाता है अथवा जिस प्रकार किसी बरतनके नीचे दबा-कर रखे हुए दीपकके सम्बन्धमे किसीको यह पता नही चलता कि वह कब बुझ गया, उसी प्रकार जो ऐसी शान्त अवस्थामें यह शरीर छोड़ जाता है, वही पूर्ण परब्रह्म होता है। परम पुरुष नामका जो मेरा स्वयं-सिद्ध तेजः स्वरूप है, ठीक वही स्वरूप होकर वह रहता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
तदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान सब प्रकारके ज्ञानोका अन्त और चरम सीमा है, उसी सर्व-श्रेष्ठ ज्ञानकी खानि ज्ञानियोकी बुद्धिने जिसे "अक्षर" कहा है और जो प्रचंड वायुसे भी कभी उड़ नही सकता, वही सच्चा आकाश है। यदि यह बात न हो और वह केवल मेघ ही हो, तो भला वह वायुके सामने कैसे ठहर सकता है? इसलिए ज्ञाता लोग कहते हैं कि जिसका ज्ञान केवल ज्ञानियोको ही होता है और जिसकी नाप केवल ज्ञानसे ही होती है, परन्तु फिर भी जो स्वभावत. अक्षर है, वह कभी जाना नही जा सकता। इसी लिए वेदज्ञानी पुरुष जिसे "अक्षर" कहते हैं और जो प्रकृतिसे भी परेका है, जो सच्चिदानन्द स्वरूप है और जो विषयोमेंका विषाक्त अंश निकालकर अथवा पीछे छोड़कर और सब इन्द्रियोको निर्मल करके उदासीन वृत्तिसे शरीरकी छायामे बैठा हुआ है, वह विरक्त पुरुष भी जिसके लिए सदा उत्सुक रहता है और

है और न जाता ही है। जिस प्रकार रस्सीमे भ्रमसे दिखाई पड़नेवाले साँपके सम्बन्ध-मे यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वह काला है, चितकवरा है या लाल है; उसी प्रकार भूत-मात्रके विषयमे भी निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता, क्योंकि यदि उनका मूल देखा जाय तो वे सभी मिथ्या है। हे भाई अर्जुन, इस प्रकार मैं भूत-मात्रमें अखंड और ओत-प्रोत रूपसे भरा रहता हूँ। लेकिन इतना होने पर भी ये जीव जिस संसारके चक्करमे पड़े हुए है, उस संसारकी बातें कुछ निराली ही है।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ २७॥

"अब मैं उस संसारकी कुछ बातें संक्षेपमे बतलाता हूँ, सुनो। जिस समय अहंकार और कायाका प्रेम होता है, उस समय उनके योगसे "इच्छा" नामकी कन्या-का जन्म होता है। जब यह कन्या पूर्ण यौवनावस्थाको प्राप्त होती है, तब वह द्वेषके साथ अपना शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करती है। फिर इच्छा और द्वेषकी इस जोड़ीसे द्वन्द्वमोह (अर्थात् सुख-दुःख, हर्ष-शोक, लाभ-हानि आदिसे होनेवाला अज्ञान-भाव) उत्पन्न होता है। इस बालकका पालन-पोषण इसका मातामह या नाना "अहकार" ही करता है। यह बालक मानसिक धर्मका शत्रु होता है। यह इतना अधिक उद्दंड होता है कि इन्द्रिय-निग्रहके नियन्त्रणमे नही रहता। फिर वह आशाका दूध पीकर खूब हृष्ट-पुष्ट हो जाता है और असन्तोषके मद्यसे मत्त होकर विषय-रूपी कोठरी विकृतिके साथ रहने लगता है। फिर वह शुद्ध भावनाके मार्गमे संकल्प-विकल्पके काँटोकी बाढ लगाता है और अनुचित-कर्मोंके टेढे-तिरछे रास्ते तैयार करता है। द्वन्द्व-मोहके इस प्रकारके कृत्योसे सब जीव भ्रममे पड जाते है और तब वे संसार-के जंगलमें आकर भटकने लगते हैं और महादुःखके बोझके नीचे दब जाते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः॥ २८॥

"ऐसे मिथ्या संकल्प-विकल्पोके तीक्ष्ण काँटोको देखते हुए भी जो लोग अपने आपको द्वन्द्व-मोहकी हवा भी नही लगने देते, जो सरल एक-निष्ठाके कदम रखते हुए और संकल्प-विकल्पके काँटोको अपने पैरो तले कुचलते हुए महापातकोके जगलसे पार हो जाते है और फिर जो पुण्यके बलसे दौड लगाते हुए मेरे पास आ पहुँचते हैं, उनके गुणोका वर्णन कहाँ तक किया जाय! वे काम-क्रोध आदि बटमारोके हाथोसे साफ छूट जाते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

"हे अर्जुन, इसके उपरान्त इस जन्म-मरणवाली बातका आपसे आप अन्त हो जाता है। जिनकी निष्ठामें ऊपर बतलाये हुए प्रयत्नोका फल लगता है, उन्हें वह प्रयत्न कभी न कभी अवश्य ही सिद्धि प्रदान करता है; और तब उनके हाथ वह पर-

इच्छाहीन अथवा निरिच्छ पुरुषोको भी जिसकी इच्छा होती है, जिसके प्रति होने वाले अनुरागके कारण कुछ लोग ब्रह्मचर्यके कठोर व्रतके संकटोकी भी परवा न करके कठोरतापूर्वक अपनी इन्द्रियोको निर्बल कर डालते है, वह दुर्लभ, अचिन्त्य और अनन्त पद, जिसके किनारे पर ही वेद डूबते रहते है, वही पुरुष प्राप्त करते है जो ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे अन्त समयमे मुझे स्मरण करते हैं। अब, हे अर्जुन, मैं फिर एक बार तुम्हे इस स्थितिके सम्बन्धकी बाते बतलाता हूँ।" इस पर अर्जुनने कहा—"हे महाराज, मैं तो स्वयं ही सोच रहा था कि आपसे यही प्रार्थना करूँ। पर इसी बीचमें आपने स्वयं ही मुझ पर यह कृपा की है कि आप यह बात मुझे फिरसे बतलानेके लिए कह रहे है। अत. हे देव, आप अब वह बात मुझे बतलावें। परन्तु आप जो कुछ कहे, वह बहुत ही सरल और सुगम होना चाहिए।" उस समय त्रिभुवनको प्रकाशित करनेवाले श्रीकृष्णने कहा—"अर्जुन, क्या तुम मुझे नही पहचानते? मैं संक्षेपमे ही ये बाते तुम्हे बतलाता हूँ; सुनो। परन्तु तुम्हे केवल इस बातका प्रयत्न करना चाहिए कि मनकी जो बाहरकी ओर दौडनेकी स्वाभाविक टेव हैं, वह छूट जाय और वह सदा हृदय-रूपी दहमे ही स्थित रहे। बस फिर सब बाते आपसे आप तुम्हारी समझमे आ जायँगी।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥

"परन्तु यह बात होगी कब और कैसे? यह बात तभी होगी जब इन्द्रियोके सभी दरवाजोको निग्रह अच्छी तरह बन्द कर देगा। उस अवस्थामे मन सहजमे ही अन्दर ही अन्दर दबकर जम जायगा और वह दबाया हुआ मन हृदयमे ही पड़ा रहेगा। जिस प्रकार वह व्यक्ति कभी अपना घर छोडकर कही नही जाता, जिसके हाथ-पैर टूट जाते है और जो लूला-लँगडा हो जाता है, उसी प्रकार जब मन भी अच्छी तरह अन्दर बन्द हो जाय, तब मनुष्यको प्राण-वायुके द्वारा प्रणव अर्थात् ओंकारका ध्यान करना चाहिए और तब क्रम क्रमसे उस प्राण-वायुको ब्रह्म-रन्ध्र तक ले आना चाहिए। जिस समय प्राणको ब्रह्म-रन्ध्रमे ले आते हैं, उस समय धारणाके बलसे उसे वहाँ इस प्रकार स्थिर रखनेकी आवश्यकता होती है कि वह वहाँ इस तरहसे रहे कि ब्रह्माकाशमे मिलता हुआ-सा हो।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

"इसके उपरान्त अ, उ और म् इन तीन मात्राओका जब तक अर्ध-मात्रामें लय न हो, तब तक प्राण-वायुको चिदाकाशमे निश्चल करना चाहिए। इससे ऐक्य प्राप्त होते ही वह सारा ओंकार मूलब्रह्ममें भरा हुआ दिखाई देगा। इससे ओंकारके स्मरणका भी अन्त हो जाता है और प्राण-वायु भी लीन हो जाता है। इसके उपरान्त ओंकारसे भी परे रहनेवाला केवल शुद्ध ब्रह्मानन्द स्वरूप ही बच रहता है। इसलिए ओंकार ही मेरा एकाक्षर ब्रह्म स्वरूप है। जो मेरे इस स्वरूपका चिन्तन करता हुआ यह

ब्रह्म-रूपी पका हुआ समूचा फल लगता है जिसमे पूर्णताका रस लबालब भरा हुआ होता है। उस समय सारा संसार कृतकृत्यताकी धन्यतासे भर जाता है, आत्म-ज्ञानका गौरव पूर्णताको प्राप्त हो जाता है, कर्मोकी आवश्यकताका अन्त हो जाता है और मन सुखी तथा शान्त हो जाता है। हे भाई अर्जुन, जो अपने व्यवहारमें मुझे ही अपनी पूँजी बनाता है, उसे इसी प्रकारके आत्म-बोधका लाभ होता है। उसकी वृत्तियोकी समावस्थाके साथ ही साथ ब्रह्मैक्यकी खेती-बारीका भी विस्तार होता जाता है और तब फिर भेद-भाववाला भिखारीपन या दीनता कही बाकी नही रह जाती।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

"जिन्हे इस बातका अनुभव हो जाता है कि यह मायामय जड़ सृष्टि मेरा ही स्वरूप है और जो इसी अनुभवके हाथोसे मेरे आधिभौतिक रूपका सहारा लेकर समस्त देवताओके अधिष्ठान मेरे आधिदैविक स्वरूप तक आ पहुँचते है फिर जिन्हें पूर्ण ज्ञानके बलसे मेरा अधियज्ञ अर्थात् परब्रह्म-स्वरूप दिखाई पड़ने लगता है, वे इस शरीरका पात हो जाने पर कभी दुःखी नही होते। और नही तो आयुष्यकी डोरी टूटते ही प्राणी-मात्रको इतनी अधिक व्याकुलता होती है कि उनकी वह व्याकुलता देखकर आस-पासके लोगोको ऐसा जान पड़ने लगता है कि आज मानो कल्पान्त ही हो गया। ऐसे लोगोकी चाहे जो अवस्था होती हो, परन्तु जो लोग मेरा स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं, वे उस अन्त कालकी व्याकुलतामे भी मुझे नही भूलते। साधारणत· यही समझना चाहिए कि जो इतनी पूर्णता तक पहुँच जाते है, वही सच्चे युक्त-चित्त है और वही सच्चे योगी हैं।" श्रीकृष्ण इस प्रकार शब्द-रूपी शीशीमेसे वाणी-रूपी रस उलट रहे थे, परन्तु अर्जुनकी अवधानरूपी अंजलि आगे बढ़कर वह रस ग्रहण नही कर रही थी, क्योकि उस समय वह क्षण भरके लिए पिछले श्लोकोमे बतलाई हुई बातो पर विचार कर रहा था। विपुल अर्थरससे भरे हुए, चारो ओर सद्भावनाकी सुगन्ध फैलानेवाले और परब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले वे वचन-रूपी फल जिस समय कृपा-प्रसाद रूपी वायुके मन्द झोकोसे श्रीकृष्णरूपी वृक्ष परसे अर्जुनके कानोंकी झोलीमे पड़े थे, उस समय उसे ऐसा जान पड़ा था कि मानो ये वचन-फल स्वयं महा-सिद्धान्तके ही बने हुए हैं अथवा ब्रह्म-रसके सागरमे डुबाये हुए है, और तब परमानन्द-रूपी रसमे अच्छी तरह धोकर निकाले हुए है। उनमे ऐसी मोहकता थी कि अर्जुनके अनिमिष नेत्र गटागट विस्मयामृतके घूँट पीने लगे। उस अलौकिक सुखका आस्वादन करके अर्जुन स्वर्गको भी तुच्छ समझने लगा और उसकी अन्तरात्मामे आनन्दकी गुदगुदी होने लगी। जब इस प्रकार उन वचन फलोके केवल बाह्य दर्शनके सौन्दर्यसे ही अर्जुनका सुख बढने लगा, तब उसे उन वचन-फलोका रस चखनेकी उत्कट इच्छा होने लगी। उन वचन-फलोको वह तर्क-बुद्धिके हाथोसे जल्दी से लेकर अनुभवके मुखमे रखकर उनका स्वाद चखने लगा। परन्तु वे वचन फल-विचारकी जिह्वाको नहीं रुचते थे और हेतुके दाँतोसे नहीं टूटते थे। इसलिए उस सुभद्रा-नायने उन्हें चबानेका विचार ही छोड़ दिया। अब अर्जुन चकित होकर अपने मनमें

जड शरीर छोडता है, वह निस्सन्देह मेरा शुद्ध शरीर प्राप्त करता है; और जब वह स्वरूप प्राप्त हो जाता है, तब इससे आगे प्राप्त करने योग्य और कोई वस्तु बाकी ही नही रह जाती। अब, हे अर्जुन, यदि तुम्हारे मनमें इस प्रकारकी शंका उत्पन्न हो कि—"यह कैसे समझा जाय कि अन्तिम कालमे वह स्मरण होगा ही, जिस समय सब इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हो, जीवनका सारा सुख और समाधान नष्ट हो गया हो, इस प्रकारके स्पष्ट लक्षण दिखलाई पडने लग गये हों कि अन्दर और बाहर दोनों ओर मृत्युने अच्छी तरह ग्रस लिया है? उस समय आसन लगाकर कौन बैठ सकता है और इन्द्रियोका निरोध कौन कर सकता है और मनुष्य किसके अन्तःकरणसे ओंकारका चिन्तन करे? ये सब बाते तो असम्भव ही है।" तो तुम्हें इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि जो लोग सदा अखंड रूपसे मेरा चिन्तन करते रहते है, उनके अन्तिम समयमे मैं स्वयं ही दासोकी तरह उनके काम आता हूँ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

"जो लोग विषयोका अन्त करके और बन्धक कर्म-प्रवृत्तिके पैरोमे बेडियाँ डालकर निरन्तर मुझे ही अपने हृदयमें रखते है और मेरे स्वरूपके सुखका उपभोग करते है और इस सुखोपभोगका सेवन करनेकी अवस्थामे जिन्हे भूख और प्यास भी नही लगती, फिर नेत्र हिलानेके समान छोटी-मोटी बातोका तो पूछना ही क्या है, और इस प्रकार जो लोग निरन्तर मेरे स्वरूपमें एकाग्र होकर मिले रहते है और हृदयसे मेरे साथ लगकर मत्स्वरूप ही हुए रहते है, उन लोगोके सम्बन्धमें भी यदि यही बात हो कि देह-पातके समय जब वे मेरा स्मरण करें, केवल तभी वे मुझे प्राप्त कर सके, तो फिर उपासनाका महत्व ही क्या रह जायगा? यदि कोई दीन प्राणी संकटमे पडकर शुद्ध हृदयसे मुझे पुकारे और कहे कि—"हे नारायण, जल्दी आकर मेरी सहायता करो।" तो क्या उसकी यह पुकार सुनकर और उसके दुःखसे विकल होकर मै उसकी सहायता करनेके लिए नही दौड पडता? अब यदि मैं अपने एकनिष्ठ भक्तोकी भी ऐसी ही अवस्था होने दूँ और अन्त समयमे तभी उनके पास पहुँचूँ, जब वे मेरा स्मरण करे, तो फिर भक्ति करनेकी कामना किसे रह जायगी? इसी लिए मै कहता हूँ कि इस प्रकारकी शंकाको तुम क्षण भरके लिए भी अपने मनमे स्थान मत दो। वे भक्त जिस समय मुझे स्मरण करेंगे, उसी समय मुझे दौड़कर उनके पास पहुँचना पड़ेगा। उस एकनिष्ठ उपासनाका भार यो ही मुझसे सहन नही हो सकता। मेरे सिर पर उन लोगोकी उस भक्तिका ऋण रहता है और वही ऋण चुकानेके लिए भक्तोके अन्तिम समयमे उनकी सेवाके लिए मुझे बहुत ही तत्परता-पूर्वक उद्यत होना पड़ता है। मुझे यह भय रहता है कि मेरे उन कोमल भक्तोंकी शरीरकी दुर्बलताके कारण कहीं किसी प्रकारकी पीडा न हो; और इसी लिए मैं उन लोगोको आत्मज्ञानके पिंजरेमे सुरक्षित रूपसे रखता हूँ; और उन पर आत्म-स्मरणकी शान्त तथा

शीतल छाया रखता हूँ। और इस प्रकार मैं उनकी बुद्धि निरन्तर स्थिर और शान्त कर देता हूँ। इसी लिए मेरे भक्तोको देहावसानके समय नामको भी कोई कष्ट नही होता। अपने उन परम प्रिय भक्तोको मैं सहजमे ही अपने स्वरूपकी ओर ले आता हूँ। उनके ऊपर शरीरका जो बाहरी कवच लगा रहता है, उसे मैं हटा देता हूँ, उन परसे झूठे अहं-भावकी धूल झाड देता हूँ और उनकी शुद्ध वासनाको निर्लिप्त रखकर उन्हें अपने स्वरूपके साथ मिला लेता हूँ। इसके अतिरिक्त भक्तोको भी एकताके भावके कारण अपने शरीरके लिए विशेष ममता नही होती और इसलिए अपने शरीरका त्याग करते समय उन्हे भी उसके वियोगका दु ख नही होता। इसी प्रकार उन भक्तो-के मनमे यह भाव भी नही होता कि देह-पात होते ही मैं उनके पास पहुँच जाऊँ और उन्हे आत्म-स्वरूपमे ले आऊँ; क्योकि देहधारी रहनेकी अवस्थामे ही वे मेरे स्वरूपमे मिले रहते हैं। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो इस संसारसे उनका जो अस्तित्व होता है, वह शरीर-रूपी जलमे केवल छायाके समान ही होता है। जलमे चन्द्रमाका प्रतिविम्ब पडता है। पर जब वह जल नष्ट हो जाता है, तब वह प्रतिविम्ब वास्तवमें आपसे आप चन्द्रमामे ही चला जाता है। ठीक इसी प्रकार जब इस शरीर-रूपी जलका अन्त हो जाता है, तब वे लोग वास्तवमे आत्म-स्वरूपमे ही रहते हैं। इस संसारमे उनका जो अस्तित्व होता है, वह वास्तविक नही होता, बल्कि केवल प्रति-विम्बके समान होता है और उनका वास्तविक स्वरूप ब्रह्म-स्वरूप ही होता है। इस प्रकार जो लोग मद्रूप हुए रहते हैं, उन्हे मैं सदा अनायास ही प्राप्त होता हूँ और इसीलिए देहावसानके समय वे मेरा स्वरूप प्राप्त करते हैं। इस बातमे कुछ भी सन्देह नही है। फिर जो शरीर क्लेश-वृक्षोका आगर है, जो आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनो प्रकारके तापोकी केवल अँगीठी ही है, जो मृत्यु-रूपी कालके आगे रखी हुई केवल बलि है, जो विपुल मात्रामे दीनताका प्रसव या उत्पत्ति करता है, दुखोको बढ़ाता है और समस्त दु खोका भाडार बनता है, जो दुष्ट बुद्धिका आदि कारण है और भ्रान्तिकी प्रत्यक्ष मूर्त्ति है, जो संसारका मूल आधार है, जो विकारो-का क्रीडा-स्थल और सब प्रकारके रोगोका खाद्य है, जो कालकी जूठी खिचडी, आशा-का आश्रय-स्थल और जन्म तथा मरणका उपजाऊ खेत है, जो भ्रमसे भरा हुआ, विकल्पसे बना हुआ और दु ख रूपी विच्छुओसे बिलकुल भरा हुआ है, जो बाघकी गुफा, वारागनाओके साथ रहनेवाला और विषय-भोगका सर्वमान्य साधन है, जो यक्षिणीके प्रेमके समान अथवा ठढे किये हुए विषके घूंटके समान अथवा ठगके दिखौआ विश्वसनीय सद्व्यवहारके समान है, जो कुष्ठके रोगियोका आलिगन, काल-सर्पकी कोमलता ओर बहेलियेका स्वाभाविक गान है, जो शत्रु द्वारा किया हुआ आतिथ्य-सत्कार, दुर्जनोके द्वारा दिखलाया हुआ आदर-सत्कार है, अथवा जो समस्त अनर्थोका समुद्र है, जो निद्रामे देखे हुए स्वप्नके समान है, जो मृग-जलसे सीचा हुआ वन अथवा धुएँके कणोसे बना हुआ आकाश है, वह शरीर वे लोग फिर कभी प्राप्त नही करते जो एक बार मेरे असीम ब्रह्म-स्वरूपमे पहुँचकर तद्रूप हो जाते हैं।

बत्तीसे न की जाय ? अथवा पानीके अपरम्पार सग्रह समुद्रको क्या चुल्लू भर पानीसे अर्घ्य न दिया जाय ? आप सब श्रोता लोग शंकरकी मूर्ति हैं और आप लोगोंकी आराधना करनेवाला मैं भक्त दुर्बल हूँ, और मेरी बातें यद्यपि निर्गुण्डीकी पत्तियाँ हैं, फिर भी आप लोग उसको सादर स्वीकार करेंगे ही। बच्चा अपने पिताकी थालीमे हाथ डालता है और अपने बापके मुँहमे ही कौर देने लगता है, और बाप भी बड़े आनन्दसे वह कौर लेनेके लिए मुँह आगे बढाता है। इसी प्रकार यदि मैं लडक-बुद्धि और दुलारसे निरर्थक और अतिरिक्त आत्मीयता प्रकट करूँ, तो भी प्रेमका यह स्वाभाविक धर्म ही है कि उससे आप लोग सन्तुष्ट ही होगे। और आप सन्त-जनोके मनमें अपने आश्रितोके सम्बन्धमे आत्मीयताके कारण बहुत अधिक प्रेम होता है, इसीलिए मैं दुलारसे जो आत्मीयता दिखला रहा हूँ, वह आप लोगोको बोझ नहीं मालुम होगा। जब माताके स्तनमे भूखे बालकके मुखका झटका लगता है, तब माता-के स्तनमे और भी अधिक दूध भर आता है और वह बालकको दूध पिलानेके लिए और भी उत्सुक हो जाती है। जो अपनेको प्रिय होता है, वह यदि एक बार क्रोधसे झटकार भी दे, तो उससे प्रेम और भी दूना बढ जाता है। इसी लिए मैंने भी यही समझकर ये सब बातें कही है कि मुझ सरीखे बालककी बकवादसे आप लोगोकी सोई हुई कृपालुता जाग उठी है। क्या कभी चाँदनीको पकानेके लिए भी कोई उसे पालमें रखकर ढँकता है ? अथवा क्या हवाके बहनेमे कभी किसीने उससे यह कहा है कि तुम इस प्रकार बहो अथवा इस प्रकार उसका कभी नियन्त्रण किया है ? या गगनको कभी कोई खोली पहना सकता है ? जिस प्रकार पानीको पतला नही करना पडता, अथवा मक्खनको मथनेके लिए कोई उसमें मथानी नही डालता उसी प्रकार गीताके जिस अर्थको देखकर मेरा दुर्बल व्याख्यान लज्जित होकर आपसे आप पीछे हट जाता है, केवल इतना ही नही, जो वेद शब्द-ब्रह्म है, वह भी शब्दकी गति समाप्त हो जाने पर जिस गीतार्थ रूपी खाट पर स्तब्ध होकर सो जाता है, वह गीतार्थ देशी भाषामें लानेकी योग्यता भला मुझमे कहाँसे आ सकती है ! परन्तु मुझ सरीखे दुर्बलने भी जो यह साहस किया है, उसमे हेतु केवल यही है कि मैं इस ढिठाईसे ही आप सरीखे लोगोका प्रेम-पात्र बनूँ। इसलिए आप लोगोके जिस अवधानमे चन्द्रमासे भी बढकर शीतलता है और अमृतसे भी बढ़कर जीवित रखनेकी शक्ति है, वह अवधान दान करके आप लोग मेरे मनोरथका पोषण करें। क्योकि ज्योही आप लोगोके कृपा-कटाक्षकी वर्षा होगी, त्योही मेरे सब मनोरथ सिद्ध हो जायँगे। परन्तु यदि मुझे आप लोगोका यह कृपा-कटाक्ष प्राप्त न होगा और आप लोग उदासीन रहेगे, तो मेरे ज्ञान-का निकला हुआ अंकुर भी सूख जायगा। महाराज, आप लोग यह बात ध्यानमे रखें कि वक्ताके वक्तृत्वका स्वाभाविक भोजन श्रोताओकी सावधानता ही है। और यदि उसे यह भोजन प्राप्त होता रहे तो सिद्धात प्रतिपादक शब्दकी तोन्द फूल जाती है (अर्थात् सिद्धात प्रतिपादक बातें बहुत अधिक मात्रामे निकलने लगती हैं) ज्योही

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

"साधारणतः जिन लोगोको अपने ब्रह्म-ज्ञानका अभिमान होता है, वे भी अपने जन्ममरणके चक्रका कभी अन्त नही कर सकते। लेकिन जिस प्रकार मरे हुए आदमी-के पेटमें दर्द नही होता अथवा जिस प्रकार जाग उठने पर कोई स्वप्नमे देखी हुई बाढमे नही डूब सकता, उसी प्रकार जो लोग मद्रूपमे आ पहुँचते है, वे संसारके मलमे कभी नही फँसते। व्यावहारिक दृष्टिसे देखने पर जो ब्रह्म-भुवन इस नाम-रूपात्मक संसार-का मस्तक है, जो चिरस्थायी गुणोमें अत्यन्त श्रेष्ठ है और विश्व रूपी पर्वतका सबसे ऊँचा शिखर है, जिस ब्रह्म-भुवनका एक पहर दिन चढने तक एक इन्द्रकी आयुष्य भी नही टिकती और जिसका एक दिन पूरा होनेमे चौदह इन्द्रोकी पंक्ति क्रम क्रमसे उदित होकर अन्तमे अस्त हो जाती है, चार युगोकी हजार चौकड़ियाँ बीतने पर जिस ब्रह्म-भुवनका एक दिवस होता है और इसी प्रकारकी और भी एक हजार चौकडियाँ वीतने पर जिसकी एक रात होती है और जहाँके दिन और रातका मान इस प्रकारका है, उस ब्रह्म-भुवनमे पहुँचकर भाग्यवान् पुरुष कभी नही मरते और वे स्वर्गमे चिरजीवी होकर सब कुछ देखते रहते है। वहाँ सामान्य देवगणोके सम्बन्धमे भला क्या कहा जाय! जरा यह देखो कि समस्त देवताओंका राजा जो इन्द्र है, स्वयं उस इन्द्रकी ही वहाँ क्या दशा होती है! एक ही दिनमे चौदह चौदह इन्द्र आते और चले जाते हैं। परन्तु जो लोग ब्रह्मदेवके भी आठ पहरोवाला दिवस स्वयं अपनी आँखोसे देखते है उन्हे "अहोरात्रविद्" कहते हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

"उस ब्रह्म-लोकमें जब दिन निकलता है, तब ऐसे निराकार ब्रह्मका, जिसकी गणना भी नही की जा सकती, यह नाम-रूपात्मक साकार विश्व बनता है। जब उस ब्रह्म-भुवनके दिवसके चार पहर पूरे हो जाते हैं, तब इस नाम-रूपात्मक विश्वका पूर्ण रूपसे नाश होने लगता है; फिर जब उस ब्रह्म-भुवनका दिन चढ़ता है, तब इस विश्व-का पुनः निर्माण होने लगता है। जिस प्रकार शरद् ऋतुका प्रारम्भ होते ही सब मेघ आकाशमे ही अदृश्य हो जाते है और फिर ग्रीष्म ऋतुके अन्तमे जिस प्रकार वे फिर उसी आकाश मे उत्पन्न होकर दिखाई पड़ने लगते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मके दिवसके आरम्भमे इस पंचभूतात्मक सृष्टिका उदय होता है, और जब तक उस दिवसकी

इस प्रकारके शब्द निकलते है, त्योही अर्थकी प्रतिपत्ति होती है; क्योकि अर्थ तो शब्दों और वाक्योकी ही बाट देखते रहते है; और जब अर्थकी प्रतिपत्ति होती है, तब अभिप्रेत अर्थकी परम्परा लग जाती है और बुद्धि पर मानो फूलोकी ठीक वसन्त ऋतु या वहार आ जाती है। जब इस प्रकार वक्ता और श्रोताके मेलकी अनुकूल वायु चलने लगती है, तब हृदय-रूपी आकाशमे वक्तृत्वके रस-मेघका संचार होता है। परन्तु यदि श्रोता लोग उदासीनताके कारण ठीक तरहसे ध्यान न देंगे, तो वक्तृत्व रसका बना-बनाया मेघ भी छिन्न-भिन्न हो जायगा। यह ठीक है कि चन्द्रकान्त मणि पसीजती है, परन्तु उसको पसीजनेमे प्रवृत्त करनेकी शक्ति चन्द्रमा मे ही होती है। इसी प्रकार जब तक योग्य श्रोता न हो, तब तक कोई वक्ता कभी वक्ता हो ही नही सकता। परन्तु क्या कभी चावलको खानेवालेसे यह प्रार्थना करनी पड़ती है कि मुझे मीठा समझकर खाइये? अथवा क्या कभी कठपुतलियोको अपने नचानेवालेसे यह प्रार्थना करनी पड़ती है कि हमे नचाओ? और फिर कठपुतलियोका वह सूत्रधार कठपुतलियों को स्वयं उनके हितके लिए नचाता है अथवा लोगोमें अपने ज्ञानके महत्वकी प्रसिद्धि करनेके लिए नचाता है? फिर हम लोग इस प्रश्नकी व्यर्थकी मीमांसा क्यो करे? ज्योही वक्ताने यह कहा, त्योही श्री सद्गुरुने कहा—"अरे, इन सब बातोमें क्या रखा है? हम तुम्हारा सब अभिप्राय समझते है। अब तुम यह बतलाओ कि श्रीकृष्णदेवने क्या कहा।" यह सुनकर श्रीनिवृत्तिनाथके शिष्यने बहुत ही आनन्दपूर्वक और उल्लसित मुद्रासे कहा—"जो आज्ञा महाराज। सुनिये, श्रीकृष्णने क्या कहा।"

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

"हे अर्जुन—मैं तुम्हे वह गुप्त रहस्य फिरसे बतलाता हूँ जो मेरे अन्त.करणके सबसे भीतरी स्थानके समस्त ज्ञानका आदि कारण है। अब यदि तुम अपने मनमे यह सोचते हो कि अन्त.करणका गुप्त द्वार इस प्रकार खोलकर यह रहस्य प्रकट करनेका ऐसा कौन सा प्रसंग आया है, तो हे सुज्ञ अर्जुन, मैं बतलाता हूँ, सुनो। तुम भक्ति-भावना के प्रत्यक्ष अवतार ही हो। मै जो कुछ कहूँगा, तुम कभी उसकी उपेक्षा नही करोगे। इसी लिए चाहे मनकी गूढता भले ही नष्ट हो जाय और जो बाते नही कहनेकी है, वे भी चाहे भले ही कहनी पडे, परन्तु फिर भी मैं यही चाहता हूँ कि मेरे अन्त करणमे जो कुछ है, वह सब एक बार तुम्हारे अन्त.करणमे प्रवेश कर जाय। स्तनमे दूध भरा रहता है, परन्तु स्वयं वह स्तनको मीठा नही लगता। परन्तु जब कोई एकनिष्ठ प्राणी मिलता है, तब सहज ही यह इच्छा होती है कि उसकी रस-सेवन करनेकी इच्छा पूरी हो। यदि अनाजकी कोठीमेसे बीज निकाले जायँ, और अच्छी तरह जोती और साफ की हुई जमीनमे उनमेसे मुट्ठी भर बीज छिडक दिये जायँ, तो क्या कोई यह कह सकता है कि वे बीज व्यर्थ ही फेंक दिये गये? इसी लिए जिसका मन अच्छा और बुद्धि स्वच्छ है और जो अनिन्दक तथा एकनिष्ठ है, उसे अपने मनकी बात बतला देनी

सहस्र युग चौकडियोकी संख्या पूरी नही हो जाती, तव तक इस सृष्टि-समुदायका अस्तित्व रहता है। फिर जब ब्रह्माकी रात्रिका समय आता है, तब इस भूतात्मक साकार विश्वका उस अव्यक्त ब्रह्म-तत्वमें लोप हो जाता है। ब्रह्माका यह रात्रिकाल भी सहस्र युग चौकडियोका ही है। जब उस रात्रि-कालका अन्त हो जाता है, तव फिर पहलेकी ही तरह नाम-रूपात्मक विश्वकी रचना होने लगती है। परन्तु इन सब बातो के कहनेका अभिप्राय क्या है? इसका अभिप्राय यही है कि इस ब्रह्म-भुवनके एक दिवस और रात्रिमे जगतका उदय और प्रलय होता है। इस ब्रह्मभुवनका विस्तार इतना अधिक है कि उसमे समस्त विश्वका बीज सन्निहित है। परन्तु इस ब्रह्मभुवनको भी अन्तमे जन्म और मरणके चक्रमे पड़ना ही पडता है। हे अर्जुन, सच तो यह है कि उस ब्रह्माके नगरका यह विश्व-रूपी बाजार दिन निकलते ही लग जाता है और जब रात्रि-काल आता है, तब यह बाजार आपसे आप उठ जाता है। तात्पर्य यह कि यह अपने मूल बीजमे ही जाकर समा जाता है और उसीके साथ मिलकर एक हो जाता है। जिस प्रकार वृक्ष भी अन्तमे बीजमे ही लीन होता है अथवा जिस प्रकार मेघका पर्यवसान गगनमे होता है, उसी प्रकार अनेकत्वका भेद-भाव जिस स्थितिमें एक-रूप होकर समा जाता है, उसी स्थितिका नाम "साम्य" है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

"इस साम्यमे न तो किसीकी न्यूनता रहती है और न किसीकी अधिकता होती है, इसी लिए उसमे "भूत" शब्दके लिए भी कोई स्थान नही रहता। जिस प्रकार दहीका रूप धारण कर लेने पर दूधके नाम और रूपका लोप हो जाता है, उसी प्रकार जब जगतके आकारका उस साम्यमे लोप हो जाता है, तब ससारकी ससारताका भी अन्त हो जाता है। परन्तु फिर भी जिस बीजसे उस साकारकी उत्पत्ति हुई थी, वह बीजमे साम्य स्थितिमे वह त्योका त्यो बना रहता है। उस समय स्वभावत उसका नाम "अव्यक्त" रहता है और उस अव्यक्तसे जिसका आकार बनता है, उसीको "व्यक्त" कहते है। ये दोनो नाम केवल समझनेके लिए बतलाये जाते हैं। परन्तु यदि वास्तवमे देखा जाय तो वे दोनो कोई अलग-अलग वस्तुएँ नही है। सोना जब यो ही गलाकर ढाल दिया जाता है, तब उसको पासा कहते है। परन्तु जब उस सोनेका आभूषण बन जाता है, तब उस पासेका वह पुराना और अनगढ आकार नष्ट हो जाता है। परन्तु जिस प्रकार ये दोनो ही विकार उसी मूलभूत और एक स्वरूप सोनेके ही होते हैं, उसी प्रकार व्यक्त और अव्यक्त ये दोनो विकार भी उस एक परब्रह्ममे ही होते है। परन्तु वह परब्रह्म न तो व्यक्त ही है और न अव्यक्त ही है। वह नित्य भी नही है और अनित्य भी नही है। वह इन दोनो ही विकारोसे परे और अनादि-

चाहिए। और इस अवसर पर मुझे इन गुणोसे युक्त तुम्हारे सिवा और कोई नही दिखाई पड़ता; और इसी लिए तुमसे कोई रहस्य छिपाना ठीक नहीं है। बार-बार यह "गुप्त" शब्द सुनते-सुनते तुम्हारा मन उकता गया होगा, इसलिए अब मैं तुम्हे विज्ञान सहित ज्ञानकी बाते स्पष्ट करके बतलाता हूँ। यदि बहुत से असली और नकली सिक्के एकमे मिल गये हो, तो जिस प्रकार उन्हे छाँटकर उनके अलग-अलग ढेर लगानेकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मै ज्ञान और विज्ञानकी परख करके उन्हे अलग-अलग तुम्हारे सामने उपस्थित करना चाहता हूँ। अथवा जिस प्रकार राजहंस अपनी चोच रूपी चिमटीसे पानी और दूध अलग-अलग करता है, उसी प्रकार मै भी ज्ञान और विज्ञानको अलग-अलग करके तुम्हे दिखलाना चाहता हूँ। फिर जिस प्रकार हवाके झोकेंमे पडकर भूसा नही ठहर सकता और केवल अनाजके दानोका ही ढेर बाकी रह जाता है, उसी प्रकार जब समझदारीसे ज्ञान और विज्ञानकी परख और पार्थक्य हो जाता है, तब जन्म-मरणके संसारका, इस नाम रूपात्मक संसारके साथ मेल हो जाता है और वह परम ज्ञान हमे अक्षय मोक्ष-पदके सिंहासन पर ले जाकर बैठा देता है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

"जो ज्ञान समस्त विद्याओमे महाश्रेष्ठ आचार्य पद पर पहुँच चुका है, जो समस्त रहस्य ज्ञानके स्वामित्वका भोग करता है, जो समस्त पवित्रोमे धुरन्धर है, जो ज्ञान-धर्मका मायका (जन्म स्थान) है, जो सर्वोत्तम है, जिसकी प्राप्ति होनेपर जन्म तथा मरणके लिए कोई स्थान ही नही रह जाता, जो ज्ञान गुरु-मुखसे किंचित् उदित हुआ सा जान पडता है, परन्तु वास्तवमे जो प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें स्वयभू ही होता है और जो चाहे, वह उसे आपसे आप प्राप्त कर सकता है, इसके सिवा आत्मसुखकी सीढी पर चढते ही जिस ज्ञानकी प्राप्ति होती है और तत्काल भोक्ता, भोग्य तथा भोगकी त्रिपुटीका अन्त हो जानेके कारण भोगनेवालेका भोक्तृत्व भी उसीमे लीन हो जाता है, परन्तु उस लयवाली स्थितिकी इधरवाली मेड या सीमा पर ही जिसके कारण हृदय परम सुखसे भर जाता है, वह ज्ञान यद्यपि सुलभ और सहज है, परन्तु फिर भी वह प्रत्यक्ष परब्रह्म ही है। इस ज्ञानका एक विशेष लक्षण यह भी है कि जब एक बार वह हस्तगत हो जाता है, तब फिर वह कभी हाथसे गँवाया नही जा सकता और न कभी उसका माधुर्य ही कम होता है। हे अर्जुन, सम्भव है कि तुम अपना तर्क लगाकर इस सम्बन्धमे यह शंका करो कि यदि इतनी अधिक अप्रतिम और अमूल्य वस्तु है, तो फिर यह आज तक सब लोगोके हाथोसे बची कैसे रह गई और सब लोगोने इसे प्राप्त क्यो नही कर लिया, जो लोग अपने द्रव्यकी वृद्धि करनेके लिए जलती हुई आगमे भी कूद पडनेका साहस करते है, वे इस बिना परिश्रमके ही प्राप्त होनेवाले आत्म-सुखके माधुर्यसे क्यो वचित रहते हैं, जो आत्मसुख पवित्र, रम्य और सुख-लभ्य है और जो धर्मानुकूल होनेके सिवा आत्म-तत्त्वकी भी प्राप्ति करा देता है और जिसमे सब प्रकारके सुख भरे हुए हैं, वह लोगोके हाथसे कैसे बचा रहा। तुम्हारे

सिद्ध है। वह स्वयं ही सारा विश्व हो जाता है, परन्तु विश्वके नष्ट हो जाने पर भी उसका नाश नही होता। जिस प्रकार लिखे हुए अक्षर यदि पोछ डाले जायँ तो भी उनका अर्थ नही पोछा जाता अथवा जिस प्रकार लहरे उत्पन्न होती है और फिर विलीन हो जाती है, परन्तु पानी फिर भी अपने स्वरूपमें अखण्ड रहता है, उसी प्रकार भूतोका नाश हो जाने पर भी जो अविनाशी रहता है, अथवा उस अलंकारमें जिसका स्वरूप गलाकर नष्ट किया जा सकता है, वह सोना रहता है जिसका स्वरूप गलाने पर भी नष्ट नही होता और किसी न किसी रूपमें बना रहता है, उसी प्रकार जीव-रूपी साकार वस्तुका अन्त हो जाने पर भी जो सदा अमर ही रहता है, जिसे समझनेके लिए यदि चाहे तो कौतुकसे अव्यक्त कह सकते है, परन्तु जिसके सम्बन्धमे यह वर्णन या विशेषण उचित नही जान पडता, क्योकि वह मन या बुद्धिके अधिकार मे ही नही आता और आकार धारण करने पर भी उसकी निराकारताका लोप नहीं होता और आकारका लोप हो जाने पर भी जो शाश्वत रूपसे बना रहता है और इसी लिए जिसे "अक्षर" कहते है और इसी नामसे जिसके नाश-रहित होनेका बोध होता है और उसके आगे और कोई मार्ग ही न रह जानेके कारण जिसे परम गति कहते है, परन्तु जो इन देह-रूपी नगरोमे सोया हुआ-सा रहता है, वही अव्यक्त ब्रह्म है। क्योकि वह न तो कोई काम कराता ही है और न स्वयं करता है, पर फिर भी, हे अर्जुन; शरीरके जितने व्यापार तथा व्यवहार है, उनमेसे एक भी व्यापार या व्यवहार बन्द नही होता और दसो इन्द्रियोके मार्ग समान रूपसे चलते रहते है। मनके चौराहे पर विषयोका बाजार खुलता है और उसके सुखो और दु खोका राज-भाग अन्दर रहनेवाले जीवको भी प्राप्त होता है। परन्तु फिर भी जैसे राजाके सुखसे सोये रहने पर भी देशके समस्त व्यापार तथा व्यवहार बन्द नही हो जाते और प्रजा-जन अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सब उद्योग तथा कार्य करते ही रहते है, इसी प्रकार बुद्धिका जानना; मनका लेन देन, इन्द्रियोके कर्म, वायुका चलन आदि शरीर-के समस्त व्यापार उसके न करने पर भी खूब अच्छी तरह चलते रहते है। जिस प्रकार सूर्यके न चलाने पर भी समस्त लोक आपसे आप चलते रहते है, हे अर्जुन, उसी प्रकार इस शरीरमे सोये हुएके समान रहने पर भी जिसे लोग "पुरुष" कहते हैं और पतिव्रता प्रकृतिके साथ एक पत्नी-व्रतसे रहनेके कारण भी जिसे "पुरुष" कहा जा सकता है और इतनी व्यापक बुद्धि रखनेवाले वेद भी जिसका आँगन तक नही देख सकते, फिर प्रत्यक्ष घरकी देखनेकी बात तो बहुत दूर है, और जो इतना अधिक व्यापक है कि समस्त गगनको भी ढँक लेता है इस प्रकार अपने मनमे लाकर श्रेष्ठ योगीजन जिसे "परात्पर" कहते है, जो एकनिष्ठ और एकान्तिक भक्तोके घर आप ही ढूँढता हुआ आता है, जो काया, वाचा या मनसे भी दूसरी बातकी ओर ध्यान ही नही देना, ऐसे एकनिष्ठ भक्तोको जो निरन्तर फसल देनेवाला उर्वर खेत है, जिसके मनमे इस बात का स्वाभाविक निश्चय हो चुका है कि वह सारा त्रिभुवन केवल ब्रह्म ही है, उस श्रद्धावान भक्तका जो आराम-स्थान है, जो निरभिमानियोको बड़प्पन या महत्व देता है, जो गुणहीनो को ज्ञान देता है और जो निस्पृहो को सुखका साम्राज्य देता है, जो सन्तुष्टोको अन्नसे भरा हुआ थाल देता है, जो संसारके

मनमें इस प्रकारकी शंकाएँ उत्पन्न होना बिलकुल सहज और स्वाभाविक है। परन्तु तुम इस शंकाको अपने मनमें स्थान मत दो।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

"देखो, दूध बहुत पवित्र और स्वादिष्ट होता है और वह गौके स्तनमे बहुत ही पतली त्वचाकी आडमें पास ही संगृहीत रहता है। परन्तु फिर भी उसे छोडकर स्तनमें लगी हुई किलनी क्या रक्तका सेवन नही करती? भौरे और दादुर दोनो ही कमलके पास रहते हैं, परन्तु कमलके परागका सेवन केवल भौरे ही करते हैं और दादुरके हिस्सेमें केवल कीचड ही आता है। इसी प्रकार कभी-कभी किसी अभागे मनुष्यके घरमें हजारो मोहरोसे भरे हुए घडे पड़े रहते है; परन्तु वह उसी घरमें रह-कर भी भूखो मरता है अथवा अत्यन्त दरिद्रताकी अवस्थासे रहकर अपना जीवन व्यतीत करता है। उसी प्रकार अन्तरंगमे समस्त सुखोके भाडार, मुझ आत्मारामके प्रत्यक्ष रहते हुए भी, मायासे मोहित पुरुषोकी वासना विषय-भोगोकी ओर ही प्रवृत्त होती है। जैसे अपार मृग-जल देखकर मुखमेका अमृतका घूँट थूक दिया जाय अथवा पारस पत्थर को तोडकर फ़ेक दिया जाय और एक सीपी उठाकर गलेमें बाँध ली जाय, ठीक उसी प्रकार अहम्मन्यताके फेरमें पडकर ये बेचारे जीव मेरे पास तक आकर पहुँच नही सकते; और इसी लिए जन्म तथा मरणके दोनों तीरोके बीचमें गोते खाते रहते हैं। और नही तो मैं ऐसा हूँ कि सदा आँखोके ठीक सामने ही रहता हूँ। मैं उस सूर्यकी तरह नही हूँ जो कभी तो दिखाई पड़ता है और कभी मेघोकी आडमे छिप जानेके कारण अथवा रातके समय दिखाई नही पड़ता। मैं तो सदा आँखोके सामने चमकनेवाला और निर्मल हूँ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

"यदि तुम मेरे विस्तारकी बात पूछो तो क्या यह बात ठीक नही है कि यह जो सारा संसार है, वह मैं ही हूँ? जिस प्रकार दूध अपने स्वभावके अनुसार जमकर दही वन जाता है अथवा वीज ही वृक्षके रूपमे प्रकट होता है, अथवा जिस प्रकार सोनेके ही अलंकार वनते है, उसी प्रकार एक मेरा ही विस्तार यह सारा संसार है। मेरा निराकार तत्व ही जमकर इस नाम-रूपात्मक विश्वका आकार धारण करता है और मैं अमूर्त्त ही तत्काल त्रिलोकका विस्तार करता हूँ। जिस प्रकार जलका फेन व्यक्त रूपसे दिखाई पडता है, उसी प्रकार महत्व आदि नाम-रूपात्मक समस्त भूत मुझमे ही दिखाई पड़ते है। परन्तु जिस प्रकार उस फेनके अन्दर देखने पर पानी नही दिखाई पडता अथवा स्वप्नकी अवस्थामे दिखाई पडनेवाले अनेक प्रकारके आकार जाग्रत अवस्थामें नही दिखाई पडते, उसी प्रकार यद्यपि ये भूतमात्र मुझमे ही भासमान होते हैं, परन्तु फिर भी इन भूतोमे मेरा निवास नही होता। यह तत्व-विचार मैं इससे पहले भी एक वार तुम्हे वतला चुका हूँ। और इसलिए एक वार

विषयोसे निश्चिन्त रहनेवाले निराश्रितोकी माताके समान रक्षा करता है और जिसके घर तक पहुँचनेका सरल मार्ग केवल भक्ति ही है, वही वह अव्यक्त और अक्षर ब्रह्म है। हे अर्जुन, इस प्रकारके वर्णन करके मै क्यो व्यर्थ विस्तार करूँ? तात्पर्य यह कि जिस स्थान पर पहुँचते ही जीव तद्रूप हो जाता है, जिस प्रकार ठंडकके कारण गरम पानी भी विलकुल ठढा हो जाता है अथवा सूर्यके सामने आते ही जिस प्रकार अन्धकार भी प्रकाशमे परिवर्त्तित हो जाता है, उसी प्रकार जिस स्थान पर पहुँचते ही संसारका बिलकुल मोक्ष ही हो जाता है अथवा जिस प्रकार अग्निमे पडनेवाली लकडी भी अग्निरूप ही हो जाती है, फिर चाहे कुछ ही क्यो न किया जाय और कितना ही क्यो न ढूँढा जाय, पर फिर भी उसका लकडी-पन कही नही मिलता अथवा, हे अर्जुन एक वार ऊखके रससे शक्कर वन जाने पर चाहे कितना ही बुद्धिमान और कुशल पुरुष क्यों न हो, परन्तु फिर उस शक्करसे ऊख नही वना सकता अथवा पारसके स्पर्शसे एक बार लोहेसे सोना वन जाने पर फिर लाख उपाय करने पर भी उस लोहेका वह लोहापन लौटकर नही आ सकता जो पहले नष्ट हो चुका होता है, अथवा एक वार दूधसे घी वन जाने पर फिर उससे कभी दूध नही वनाया जा सकता; उसी प्रकार जहाँ पहुँचकर मिल जाने पर फिर जन्म और मृत्युकी आवृत्ति बाकी नही रह जाती, वही वास्तवमे मेरा सर्वश्रेष्ठ स्थान है। और अपने हृदयका यह गूढ भाव मैं तुम्हे खोलकर और स्पष्ट करके दिखला रहा हूँ।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३ ॥

"देहावसानके समय योगी पुरुष मेरे जिस स्वरूपमें मिल जाते है, वह स्वरूप और भी एक प्रकारसे सहजमे समझा जा सकता है। यदि कभी अकस्मात् देह-पात हो जाय अथवा किसी अनुचित समयमे देह-पात हो जाय, तो फिर देह धारण करना आवश्यक होता है। परन्तु यदि शास्त्रोक्त शुद्ध समयमें वह देह विसर्जन करे, तो देह विसर्जन करते ही वह ब्रह्म-रूप हो जाता है। परन्तु यदि असमयमे देह-पात हो तो उसे पुनः जन्म और मरणके बन्धनमे पडना पडता है। इसलिए "सायुज्य" अर्थात् परब्रह्मके साथ एक-रूप होना और पुनरावृत्ति अर्थात् वारवार जन्म और मरणके फेरमे पडना ये दोनो ही बातें देह-पातके समय पर निर्भर करती है। इसी लिए इस प्रसगमे मैं तुम्हे देह-पातके समय का तत्व बतला देना चाहता हूँ। हे अर्जुन, सुनो; जिस समय मृत्युकी तन्द्रा आती है, उस समय पंचमहाभूत अपने अपने रास्तेसे निकल कर चलते वनते है। अतः जव देह-विसर्जनका समय आवे, तव बुद्धि भ्रान्त न हो, स्मृति अन्धी न हो जाय और शरीरके साथ ही साथ मन भी न मर जाय, ब्रह्म-स्वरूपके अनुभवका कवच मिल जाय और पंचप्राण नामक यह चेतना-समूह विलकुल ठीक अवस्थामे रहे और पूरा पूरा काम दे और इसी प्रकार अन्तरिन्द्रियोका समुदाय भी ठीक अवस्थामे रहे और पूरा पूरा काम दे और प्राणोके प्रयाणके समय तक ज्यों का त्यो वना रहे, आदि इन सव वातोके लिए यह वात वहुत ही आवश्यक है कि शरीरके अन्दरकी अग्नि अर्थात् उष्णता वरावर अन्त तक वनी रहे। देखो, यदि

बतलाई हुई बातका फिरसे विस्तार करना ठीक नही है, इसलिए यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट है परन्तु तुम्हारी दृष्टि मेरे स्वरूपमे प्रविष्ट होकर विस्तृत होनी चाहिए।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५ ॥

"यदि कार्य और कारणवाली कल्पनाको अलग छोड़कर तुम मेरे उस स्वरूपका विचार करोगे जो महामायाके भी उस पार और उससे परे है, तो यह सिद्धांत मिथ्या ठहरेगा कि-सब भूतोका अस्तित्व मुझमे ही है, क्योकि सब कुछ मैं ही हूँ और मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नही है। परन्तु जिस समय प्रथम सकल्पके कारण परब्रह्ममे ज्ञान और अज्ञानका झुटपुटा-सा सन्धि-काल उत्पन्न हुआ, उस समय बुद्धिके ज्ञान-चक्षुमे कुछ अन्धकार सा व्याप्त हो गया; और इसलिए जो परब्रह्म विकार-रहित और आकारहीन था, उसमें अविद्या-रूपी सन्ध्याके कारण भूत-मात्र परब्रह्मसे भिन्न भासित होने लगे। परन्तु जिस समय संकल्पजन्य अविद्याकी सन्ध्याका अन्त हो जाता है, उस समय जिस प्रकार शका दूर होते ही पुष्पमालाके सम्बन्धका वह सर्पाभास नष्ट हो जाता है, जो कुछ-कुछ अन्धकार और कुछ-कुछ प्रकाश रहनेके समय उत्पन्न होता है, उसी प्रकार भूत-मात्रके सम्बन्धमे होनेवाले भासका अन्त हो जाता है और केवल पर-ब्रह्म ही अपने अखण्ड, अविकृत और शुद्ध स्वरूपमे बाकी रह जाता है। यदि वास्तव मे देखा जाय तो क्या जमीनमेसे मिट्टीके घडो और मटको आदिके अंकुर फूटते हैं? असलमे घड़ो और मटको आदिकी सृष्टि तो कुम्हारके कल्पना रूपी गर्भसे होती है। अथवा क्या समुद्रके पानीके लहरोकी कोई अलग खान होती है? लहरें तो वास्तवमे हवाके चलनेसे ही उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार क्या कपासके डोडेके अन्दर कपडोका सन्दूक रहता है? पहननेवालेकी दृष्टिसे ही कपाससे कपड़े बनते है न? यदि सोनेका अलंकार बना डाला जाय तो भी उसका सोना-पन नष्ट नही होता। उसमे केवल बाह्यत. अलंकारता होती है और वह भी केवल अलंकार पहननेवालीकी दृष्टिसे ही होती है। प्रतिध्वनि जो उत्तर देती है अथवा दर्पण जो कुछ दिखलाता है, वह हमारी ही कही हुई बात अथवा हमारा ही रूप होता है, अथवा स्वयं उस प्रतिध्वनिका अथवा उस दर्पणका अंग होता हैं? इसी प्रकार जो मेरे मूलवाले अविकृत तथा शुद्ध स्वरूप पर भूत सृष्टिका आरोप करता है, स्वयं उसीके संकल्प या विचारमे वह भूत-सृष्टि होती है। परन्तु जब उस कल्पना करनेवाली मायाका अन्त हो जाता है, तब भूताभास मूलत. मिथ्या होनेके कारण मेरा केवल शुद्ध, बुद्ध और अविकृत स्वरूप ही बाकी रह जाता है। जिस समय हमे चक्कर आता है, उस समय आस-पासके पहाड और चट्टानें आदि घूमती हुई दिखाई पडती है। ठीक इसी प्रकार अपनी कल्पनाके कारण ही विकारहीन परब्रह्ममें भी भूत मात्रका आभास होता है। परन्तु यदि वही कल्पना दूर कर दी जाय, तब स्पष्ट रूपसे पता चल जाता है कि यह बात स्वप्नमे भी सच माननेके योग्य नही है कि मैं भूत-मात्र हूँ और भूत-मात्र मुझमे हैं। इसीलिए लोग जो प्राय. यह कहा करते हैं कि—"केवल मैं ही इन भूत-मात्रको धारण करता

हवाके झोंके या पानीके थपेड़ेसे दीपककी ज्योति बुझ जाय और उसकी दीपकता अर्थात् प्रकाश देनेकी शक्ति नष्ट हो जाय तो फिर यदि अपनी दृष्टि अच्छी भी हो तो भी भला उसे क्या दिखलाई पड सकता है? इसी प्रकार देह-पातके समयके भयंकर बातप्रकोपसे जब शरीरका अन्दर और बाहर सब कफसे व्याप्त हो जाता है, जब शरीरगत उष्णताकी कला बुझ जाती है, उस समय स्वयं प्राणोमे भी प्राण नही रह जाते, फिर बुद्धिका तो कुछ कहना ही नही है। बिना शरीर-गत ऊष्णताके शरीर में जीवन-तत्व रह ही नही सकता। जब इस शरीरकी उष्णता ही नष्ट हो गई, तब यह शरीर ही क्यो और कैसे रह सकता है? उस अवस्थामे तो इसे कीचड़ या गीली मिट्टीका गोला ही समझना चाहिए। ऐसी अवस्थामे आयुष्यकाल काल अन्धेरेमे पड-कर व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है और यह पता ही नही चलता कि कब इस शरीरका अन्त होगा। अब ऐसी अवस्थामे जब मनुष्य अपने मनमें यह विचार करता है कि मैं अपना पुराना स्मरण जाग्रत रखूँ और शरीर छोड़कर आत्म-स्वरूपमे मिल जाऊँ, त्योंही कफ आदिके कारण कीचड बनी हुई इस शरीरकी जीवन-कला नष्ट हो जाती है और अगली-पिछली सारी स्मृति जाती रहती है। इसी लिए जिस प्रकार धनका भंडार दिखाई पडनेसे पहले ही किसीके हाथका दीपक बुझ जाय, उसी प्रकार पहले से किया हुआ योगाभ्यास मृत्यु आनेसे पहले ही नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानका मूल आधार शरीर-गत उष्णता ही है और प्राणोके प्रयाणके समय इस शरीरस्थ अग्निके भर-पूर बलकी आवश्यकता होती है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४ ॥

"उस समय शरीरके अन्दर तो अग्निकी ज्योतिका प्रकाश रहना चाहिए। और बाहर शुद्ध पक्ष, दिवस और उत्तरायणके छ महीनोमेसे कोई महीना होना चाहिए; और इस प्रकार सभी अच्छे योग मिलने चाहिएँ। ऐसे अच्छे योगमे जो ब्रह्मज्ञानी देहत्याग करते है, वे ब्रह्म-स्वरूपमे मिल जाते है। हे अर्जुन, स्मरण रखो, इस योग का इतना अधिक माहात्म्य है और यही मोक्षके नगरमे पहुँचनेका सरल मार्ग है। इस मार्गकी पहली सीढी शरीरगत अग्नि, दूसरी सीढी उस अग्निकी ज्योति, तीसरी सीढ़ी दिनका समय, चौथी सीढी शुद्ध पक्ष और इसके बाद पाँचवी या सबसे ऊपर-की सीढ़ी उत्तरायणके छः महीनोमेसे कोई एक महीना है। इसी पाँच सीढियोवाले मार्गसे योगीजन ऐक्यके मोक्ष-सदनमे पहुँचते है। इसी लिए इन्हे देह-पातका उत्तम समय समझो! इसीको अर्चिरादि (अर्थात् सूर्यकी किरणोवाला मार्ग) कहते है। अब मैं तुम्हे यह भी बतला देता हूँ कि देह-त्यागके लिए अयोग्य समय कौन-सा है। सुनो।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५ ॥

"मरनेके समय वायु और कफका प्रकोप होता है, जिससे अन्त करणमे अन्धकार भर जाता है। उस समय सब इन्द्रियाँ लकडीकी तरह जड हो जाती हैं, स्मृति भ्रममे पड़ जाती है, मन बहुत ही चञ्चल और क्षुब्ध हो जाता है और प्राण चारो ओरसे दबकर घुटने लगता हैं। शरीरस्थ अग्निका तेज नष्ट हो जाता हैं और चारो ओर

हूँ।" अथवा "मैं इन भूत-मात्रमे रहता हूँ।" सो ये सब संकल्प-रूपी वातके प्रकोप के कारण उत्पन्न होनेवाली भ्रमिष्ठ स्थितिमे मुँहसे निकलनेवाली बकबाद या बड़बड़ाहट है। इसी लिए, हे मेरे परम सखा अर्जुन, तुम यह बात ध्यानमे रखो कि मुझे विश्व मानना अथवा विश्वात्मा मानना मिथ्या भूत-मात्रकी मिथ्या कल्पना है। जिस प्रकार सूर्यकी किरणोके कारण कुछ न रहने पर भी मृग-जल भासमान होता है, उसी प्रकार भूत-मात्र भी मुझमें भासमान होते हैं। केवल इतना ही नही, बल्कि वे मुझे भी अपनेमें भासमान कराते हैं। इस प्रकार मै "भूत-भावन" अर्थात् भूतोके आभास का आधार हूँ। परन्तु जिस प्रकार प्रभा और सूर्य दोनो एक ही है, उसी प्रकार मैं भी भूत मात्रके साथ एक रूप ही हूँ। तत्व-विचारकी इस प्रणालीको ऐश्वर्य-योग कहते हैं। यह वात अच्छी तरह तुम्हारी समझमें आ गई न? अब भला तुम्ही बतलातो कि क्या इसमे भेद-भावके लिए कही तिल मात्र भी स्थान है? इसी लिए यह सिद्धान्त ठीक है कि भूत-मात्र मुझसे भिन्न नही है और तुम मुझे भूतोसे कभी भिन्न मत समझो।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

"'आकाशका जितना विस्तार है, उतना ही विस्तार वायुका भी है' और पंखा आदि हिलानेसे ही वायुका पृथक रूपसे भास होता है, और नही तो वायु सदा गगन के साथ एक-रूप ही रहती है। इसी प्रकार यदि कल्पना की जाय तो भूत मात्रका मुझमे ही भास होता है, और नही तो निर्विकल्प अवस्थामे ये भूत-मात्र नही रह जाते और केवल मैं ही अपने अविकृत रूपमें वच रहता हूँ। इसी लिए 'नही' और 'हाँ' ये दोनो केवल कल्पनाकी ही वाते हैं। जव कल्पना नही रह जाती, तब नाम-रूपात्मक विश्व भी नही रह जाता; और जव कल्पनाका संचार होता है, तब यह सव कुछ रहता ही है। कल्पनाका नाश या अन्त हो जाने पर 'हाँ' और 'नही' वाली बातोके लिए कही कोई आधार ही नही रह जाता। इसलिए यह ऐश्वर्य-योग तुम फिरसे अच्छी तरह समझ लो। पहले तुम इस परम ज्ञानके समुद्रमे तरंगाकार बनो। फिर जव तुम देखोगे, तव तुम्हे पता चलेगा कि स्वयं तुम्ही यह सव चराचर जगत हो।" श्रीकृष्ण कहते है—"हे अर्जुन तुम इस परम ज्ञानसे जाग्रत हो गये न? अव इस जाग्रत अवस्थाके कारण तुम्हारे द्वैतवाले स्वप्नका अन्त हो गया न? और वह स्वप्न नष्ट हो गया न? अव यदि फिर किसी समय वुद्धिको कल्पनावाली नीद आ जाय, तो फिर यह अभेद ज्ञान न रह जायगा, क्योकि उस समय तुम फिर स्वप्नावस्थामे पहुँच जाओगे। इसलिए अव मैं तुम्हे वह रहस्य-ज्ञान स्पष्ट रूपसे वतलाता हूँ, जिससे इस अविद्या-रूपी निद्राका कही नाम भी न रह जायगा और तुम्हारी आत्म-ज्ञानवाली जाग्रति वरावर वनी रहेगी। इसलिए, हे धनुर्धर पार्थ, तुम धैर्यपूर्वक मेरी वातोकी ओर ध्यान दो। तुम समझ रखो कि प्रकृति ही भूत-मात्रकी सृष्टि और नाश करती है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

केवल धूआँ ही धूआँ फैल जाता है जिससे शरीरकी जीवन-कलाका अन्त हो जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमाके सामने जलसे भरा हुआ काला बादल आ जाने पर न तो पूरा पूरा अन्धेरा ही रहता है और न पूरा पूरा उजाला ही रहता है, बल्कि कुछ कुछ धुँधला-सा प्रकाश रहता है; उसी प्रकार उस समय जीवमे एक ऐसी स्तब्धता-सी आ जाती है जिसमे वह मरा हुआ भी नही होता और न होशमे ही रहता है; और उसका जीवन मरनेके किनारे पर पहुँचकर रुक-सा जाता है। इस प्रकार जब उस जीवन पर चारो ओरसे मन, बुद्धि और इन्द्रियोका दबाव पडता है, तो फिर जन्म भरके परिश्रमसे प्राप्त किया हुआ फल बिलकुल व्यर्थ हो जाता है। और जब हाथमें आई हुई वस्तु भी गँवा दी जाती है, उस समय यह तो कहा ही नही जा सकता कि वह वस्तु फिरसे उस समय अर्जित की जा सकती है। बस प्राणोके प्रयाण के समय इसी प्रकारकी दुर्दशा होती है। यह तो हुई शरीरकी भीतरी अवस्था। अब यदि बाहरकी परिस्थिति भी इसी प्रकार प्रतिकूल हो, अर्थात् कृष्ण पक्ष हो, रातका समय हो, और उस पर भी दक्षिणायनके छः महीनोमेंसे कोई महीना हो, अर्थात् जिसके प्राणोके प्रयाणके समय जन्म और मरणका चक्र प्रचलित रखनेवाले इस प्रकार के लक्षण एक साथ एकत्र हो, भला उसके कानोका ब्रह्म-स्वरूपकी प्राप्ति की बात कैसे सुनाई पड सकती है? जिस मनुष्यका देहपात ऐसी दुरवस्थामे होता है, वह यदि बहुत होता है तो केवल चन्द्रलोक तक ही जा सकता है और फिर कुछ कालके उपरान्त इसी लोकके झगडोमे आकर फँस जाता है। मैंने जिसे प्राण प्रयाणके लिए "अकाल" कहा है, वह यही है। और जन्म-मरणके ग्राम तक पहुँचानेवाला यही कष्ट-प्रद "धूम्र-मार्ग" है। इसके अतिरिक्त जो दूसरा अर्चिरादि नामका मार्ग है, वह खूब रौनकवाला, स्वतन्त्र, सब प्रकारकी शान्ति और सुखसे युक्त और ठेठ निवृत्ति (अर्थात् मोक्ष) तक पहुँचानेवाला है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

"इस प्रकार शुक्ल और कृष्ण अथवा अर्चिरादि और धूम्र नामके योगी-जनोके दो मार्ग अनादि कालसे चले आ रहे हैं। इनमेसे पहला मार्ग सरल या सीधा और दूसरा टेढा-मेढा है, इसी लिए मैंने बुद्धिके द्वारा ही उनका विस्तृत वर्णन करके तुम्हें बतलाया है। इसमे हेतु यही है कि तुम सुमार्ग और कुमार्ग को देख लो, अच्छे और बुरेका निर्णय कर लो, हित और अहित समझ लो और तब अपने कल्याणका साधन करो। देखो, यदि किसीको बढिया और मजबूत नाव दिखाई पडती हो, तो क्या फिर वह कभी किसी अथाह दहमे कूदेगा? अथवा यदि किसीको कोई सुभीते-का, खूब चलता हुआ और बढिया रास्ता मालुम हो, तो क्या वह किसी जंगलके टेढे-मेढे और खराब रास्ते पर पैर रखेगा? जो अमृत और विपका भेद समझता हो, वह क्या कभी अमृतको उठाकर दूर फेक देगा? इसी प्रकार जिसे सरल मार्ग दिखाई पडता हो, वह कभी टेढे-तिरछे और खराब रास्ते पर नही जायगा। इसी प्रकार अच्छी तरह इस बातकी परख लेनी चाहिए कि सत्य क्या है और मिथ्या क्या है अथवा अच्छा है और बुरा क्या है, और जो इस बातकी अच्छी तरह परख कर लेता है, कोई विकट प्रसग आ पडने पर उसकी कुछ भी हानि नही होती। और नही तो

"जिसे प्रकृति कहते है, उसके दो प्रकार मैं तुम्हे पहले वतला चुका हूँ। उन दोनो प्रकारोमेंसे पहली अपरा प्रकृति आठ भिन्न-भिन्न स्वरूपोसे व्यक्त होती है और दूसरी परा प्रकृति जीव-रूपमे व्यक्त होती है। इस प्रकृतिके सम्बन्धकी कुछ बाते मै तुमको पहले बतला चुका हूँ। इसलिए बार बार उसका वर्णन करनेसे कोई लाभ नही महाप्रलयके समय इस मेरी प्रकृतिमें ही निराकार अभेदसे भूत मात्र एक रूपसे विलीन होते है। ग्रीष्म ऋतुमे जब खूब गरमी पड़ती है; तब बीज सहित घास भूमिमे ही पूर्ण रूपसे लयको प्राप्त हो जाती है; अथवा वर्षा ऋतुमे दिखाई पड़नेवाले मेघो का उस समय आकाशमे ही लोप हो जाता है जिस समय शरद् ऋतुकी निर्मल शातिका गुप्त भाँडार खुलता है। आकाशमे चलनेवाली वायुका अन्तमे उसी आकाशमे लय हो जाता है और पानीकी लहरे पानीमे ही लुप्त हो जाती है। स्वप्नमे जो दृश्य दिखाई पड़ते है, वे जागने पर मन ही मनमे समा जाते है। ठीक इसी प्रकार कल्पात के समय प्रकृतिमे ही सम-रस होकर समा जाते है। फिर नये कल्पके आरम्भमे जो लोग यह कहा करते है कि मै ही फिरसे भूत-सृष्टि उत्पन्न करता हूँ सो अब मै उसका स्पष्टीकरण करता हूँ। तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

प्रकृति स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

"जिन प्रकार तन्तुओका समूह बुनावटके कारण स्वयं ही वस्त्रका रूप धारण करता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी इस मायाकी सहज लीलाके रूपमे धारण करता हूँ। फिर जिस प्रकार धागोकी बुनावटके कारण उनसे छोटे छोटे चौकोर चारखाने बनते है, उसी प्रकार मेरी प्रकृतिसे ही नाम रूपात्मक पाँचभौतिक सृष्टि उत्पन्न होती है। जिस प्रकार जामनके स्पर्शसे दूध जमने लगता है, उसी प्रकार मूल प्रकृतिमे सृष्टिका भाव प्रतिबिम्बित होने लगता है। जब बीजके साथ पानीका संसर्ग होता है, तब उसमे से अंकुर फूटने लगते है, और उनसे जो शाखाएँ तथा उपशाखाएँ बनती हैं, वे ही वृक्षका रूप धारण कर लेती है। ठीक इसी प्रकार मुझसे प्रकृति-जन्य भूत-सृष्टिका विस्तार होता है। लोग कहते हैं कि राजाने अमुक नगर बसाया, और एक दृष्टिसे लोगोका यह कहना ठीक भी होता है। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो क्या कोई कह सकता है कि उस नगरकी रचनामे राजाका कभी हाथ भी लगा था? इसी प्रकार मैं भी प्रकृतिको उसी तरह स्वीकार करता हूँ, जिस तरह स्वप्नकी स्थितिमे रहनेवाला मनुष्य जाग्रत अवस्थामे प्रवेश करता है। जब स्वप्नावस्थासे मनुष्य जाग्रत अवस्थामें आता है, तब क्या उसके पैरोको कभी कोई श्रम होता है? अथवा उसे स्वप्नसे चलकर कोई प्रवास करना पडता है? इन सब विवरणोका साराश यही है कि भूत सृष्टिकी रचना करते समय मुझे किसी प्रकारकी क्रिया नही करनी पडती। जिस प्रकार राजाके नियन्त्रण मे प्रजा रहती है, परन्तु फिर भी प्रजामेके सब लोग अपनी अपनी रुचिके अनुसार अपने सब व्यापार और व्यवहार करते रहते हैं, उसी प्रकार प्रकृतिका स्वीकार मात्र मुझमे आता है, बाकी सब व्यवहार स्वयं

देह-पातके समय बहुत बड़ा अनर्थ हो जाता है और इन दोनों मार्गोंके सम्बन्धमें भ्रान्ति होनेके कारण बड़ी खराबी होती है; और जन्म भर जिस योगका अभ्यास किया जाता है, वह बिलकुल व्यर्थ ही चला जाता है। यदि अन्त समयमें जीव अर्चि-रादि मार्ग भूल जाय और धूम्र-मार्गमें लग जाय तो फिर उसे संसारके बन्धनमे बँधना पडता है और जन्म-मरणके चक्रमें पडकर भटकना पड़ता है। मुझे इन दोनो योग-मार्गोंको इसलिए स्पष्ट करके दिखलानेकी आवश्यकता पड़ी है जिसमें तुम्हारे ध्यानमे इस अवस्थाके महाकष्ट आ जायँ और तुम यह समझ लो कि इन सब कष्टोका किस तरह बिलकुल अन्त किया जा सकता है। इन दोनो मार्गोंमेसे एक मार्गके द्वारा जीव ब्रह्म-स्वरूपका महत्व प्राप्त करता है और दूसरे मार्गके द्वारा वह जन्म-मरणके बखेड़ोमें फँसता है। परन्तु जिसको इन मार्गोंमेंसे जो मार्ग दैव-योगसे प्राप्त हो जाय, वही उसका मार्ग है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

"यहाँ इस प्रकारकी शंका हो सकती है कि देहपातके समय ठीक-ठीक वही सब बातें तो हो ही नही सकती जो हम चाहते है। जो कुछ हमे प्राप्त होनेको होता है, वही अकस्मात् दैव-योगसे प्राप्त होता है। ऐसी अवस्थामे यह कैसे सम्भव है कि हम इनमेसे एक ही मार्गसे चलकर ब्रह्म-स्वरूप हो सकें? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य-को सदा यही समझना चाहिए कि चाहे शरीर जाय और चाहे रहे, परन्तु हम ब्रह्म-स्वरूप ही है। बात यह है कि डोरीमे जो सर्पका आभास होता है उसका मूल कारण भी डोरी ही होती है। क्या कभी पानीको इस बातका भान होता है कि हममें तरं-गता है या नही? चाहे उसमे तरंग रहे और चाहे न रहे, पर वह हर समय पानी ही रहता है। वह न तो तरंगके उत्पन्न होनेके साथ उत्पन्न ही होता है और न तरंगका नाश होनेके साथ वह नष्ट ही होता है। इसी प्रकार जो लोग देह-धारण किये रहने-की अवस्थामे भी ब्रह्म-स्वरूप ही होते है; उन्हीको "विदेही" कहना चाहिए। अब यदि ऐसे विदेही पुरुषमे शरीरका नाम-ग्राम ही न बच रहा हो, तब क्या उनका किसी समय मरना सम्भव है? तात्पर्य यह कि ऐसे लोग वास्तवमे कभी मरते ही नही। फिर उन्हे मार्ग ढूँढ़नेकी क्या आवश्यकता है और उनके लिए कहाँसे कहाँ और कब जाना हो सकता है? क्योकि उनके लिए तो समस्त देश-काल आत्मरूप ही हुए रहते हैं। और फिर देखो कि जिस समय घड़ा फूटता है, उस समय यदि घटमेंका आकाश सरल मार्गसे जाय, तो भी वह आकाश तत्वमे ही मिलता है। उस घट का आकाश चाहे जिस मार्गसे जाय, पर क्या कभी यह सम्भव है कि आकाश तत्वमे न मिले? वास्तवमें बात केवल यही है कि जब उस घड़ेका नाश होता है, तब उसका केवल आकार नष्ट होता है और उसमे जो मूल आकाश रहता है, वह घटका आकार बननेसे पहले भी रहता है और घटका नाश हो जाने पर भी वह ज्योका त्यो बना रहता है। अब जो योगी इस प्रकारके ब्रह्म-ज्ञानकी सहायतासे ब्रह्म-स्वरूप हो जाते

उस प्रकृतिके ही होतें है। उनके साथ मेरा कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता। देखो, जिस समय पूर्णिमाका चन्द्रमा होता है, उस समय समुद्रमें अपरम्पार लहरें उठने लगती है। हे अर्जुन, क्या वे लहरे उत्पन्न करनेके लिए चन्द्रमा को समुद्र मथना पड़ता है, या उसे उलटना-पुलटना पडता है? लोहा यद्यपि जड होता है, पर फिर भी जब चुम्वक पत्थरके पास आता है; तब वह उसकी तरफ वढ़ने लगता है। परन्तु क्या कभी लोहेको चलनेमे प्रवृत्त करनेके लिए चुम्वकको किसी प्रकारका परिश्रम करना पड़ता है? वस इसी प्रकार मैं भी मूल मायाको धारण करता हूँ और तत्काल ही भूत-सृष्टि आपसे आप अस्तित्वमे आने लगती है। जिस प्रकार वीजमेसे शाखाएँ और पत्ते आदि उत्पन्न करनेमे पृथ्वी सहायक होती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, यह सारी भूत-सृष्टि प्रकृतिकी सहायतासे प्रकट होती है। अथवा जिस प्रकार बाल्य आदि अवस्थाओका मुख्य कारण देह-संग है, अथवा आकाशसे वर्षाकी क्रिया करानेमे जिस प्रकार मेघ-मण्डली मूल कारण होती है, अथवा स्वप्नका कारण जिस प्रकार निद्रा होती है, उसी प्रकार, हे नर-श्रेष्ठ पार्थ, इस समस्त भूत-सृष्टिका समर्थ कारण प्रकृति ही है। समस्त चराचर, स्थूल और सूक्ष्म भूत मात्रका मूल कारण यह प्रकृति ही है। इसी लिए भूत-सृष्टिको उत्पन्न करने अथवा उसका प्रतिपालन करने आदिकी क्रियाओं का सम्पर्क मुझसे विलकुल नही होता। पानीमे चन्द्रमाकी जो किरणे पडती है, वे लहरोके समान ही लम्बी दिखाई पडती है; परन्तु उनकी यह बाढ कुछ चन्द्रमाकी की हुई नही होती। ठीक इसी प्रकार समस्त कर्म मुझ तक पहुँच कर भी मुझसे अलग आर दूर ही रहते हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

"जिस प्रकार समुद्रमे उठनेवाली पानीकी प्रचण्ड लहरोको नमकका बना हुआ बाँध नही रोक सकता, उसी प्रकार जिन कर्मोका अन्तमें मुझमे ही लय होता है, वे कर्म भी मेरे लिए वन्धनकारक नही हो सकते। यदि धुएँके क्षुद्र कणोका बना हुआ ढाँचा वायुको यह कहकर रोक सकता हो कि—"वस रुक जाओ" अथवा सूर्यके प्रभा-मण्डलमे यदि कालिमाका प्रवेश हो सकता हो, तो फिर ये कर्म भी मुझे बाँध सकते है। जिस प्रकार वर्षाकी धारोसे पर्वतका अन्तरंग विद्ध नही होता, उसी प्रकार प्रकृति जिन कर्मोका आचरण करती है, वे कर्म मुझे बाँध नही सकते। यदि वास्तवमे देखा जाय तो यह प्रकृति जो नाम-रूप आदि विकार उत्पन्न करती है, उनका आधार मैं ही हूँ। पर मैं सदा उदासीन या तटस्थ रहता हूँ, और इसीलिए न तो मैं कोई क्रिया करता ही हूँ और न कराता ही हूँ। यदि किसी घरमे कोई दीपक जलाकर रख दिया जाय तो न तो वह दीपक किसीसे कोई काम कराता ही है और न किसीको कोई काम करनेसे रोकता ही है। यह तो यह भी नही देखता कि कौन क्या कर रहा है। जिस प्रकार वह दीपक केवल तटस्थ रहता है, परन्तु फिर भी मकानमे रहनेवाले लोगोंकी क्रियाओका कारण होता है, उसी प्रकार यद्यपि मैं भूत मात्रमे रहता हूँ, परन्तु फिर भी भूत-मात्रके कर्मोंके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नही रहता।

हैं, उनके लिए इस बातका कोई झगड़ा ही नही रह जाता कि मार्ग कौन सा है और अ-मार्ग कौन सा है। इसीलिए हे अर्जुन, तुम निरन्तर योग-युक्त होकर रहो। वस इससे तुम्हे आपसे आप ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त हो जायगा। फिर इस देहका वन्धन जव तक चाहे, तव तक रहे और जव चाहे, तव नष्ट हो जाय, पर तुम्हारे अनिर्वन्ध या स्वतन्त्र ब्रह्मस्वरूपमे तिल मात्र भी वाधा नही हो सकती। वह ब्रह्म-स्वरूप न तो विश्व-रचनाके समय ही जन्मके वन्धनमे पडता है और न विश्वका प्रलय होने पर भी वह मरण के ही वन्धनमे पडता है। और न कल्पादि तथा कल्पान्तके बीचवाले समय-मे ही इस प्रकारके मोहमे पड़ता है कि वह स्वर्ग है और यह संसार है। जो इस प्रकारका बोध प्राप्त करके योगी होता है, वही इस बोधका ठीक-ठीक और पूरा-पूरा उपयोग कर सकता है, क्योकि वह विषय-भोगो पर लात मारकर आत्म-स्वरूपको प्राप्त होता है। इन्द्र आदि देवताओकी जो साम्राज्य-सत्ता स्वर्गमे चारो ओर फैली हुई है, उसे वह दूर फेंकने योग्य और कौडीके दामकी चीज समझकर उसकी अवज्ञा करता है।

"यदि कोई सम्पूर्ण वेदोका अध्ययन करके वेदोनारायण वन जाय अथवा शास्त्रों-मे कहे हुए सब प्रकारके यज्ञ आदि करके अपार फल प्राप्त कर ले अथवा पुरश्चरण करके या दान देकर कोई अपार पुण्य संचित कर ले तो भी इन समस्त पुण्योका समु-दाय या कर्म-फलोकी पूर्णता भी कभी निर्मल परब्रह्मकी वरावरी नही कर सकती। जो स्वर्ग-सुख यदि काँटे पर रखकर तौले जायँ तो वजनमे ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा कम नही जान पडते, वेद और यज्ञ आदि जिन स्वर्ग-सुखोके साधन है, जिन स्वर्ग-सुखोसे कभी आदमीका जी नही भरता अथवा जिन स्वर्ग-सुखोका कभी अन्त नही होता, वल्कि जो स्वर्ग-सुख भोगनेवालेकी इच्छाके अनुसार वरावर व्यापक होते जाते है; जो स्वर्ग-सुख अपने वढते हुए गुणोके कारण ब्रह्म-सुखके सम्वन्धी वल्कि प्राय. सगे भाईके ही समान जान पडते है, जो स्वर्ग-सुख इन्द्रियोको सन्तुष्ट करनेके कारण इन्द्रियोमेके ब्रह्म-सुखके स्थान पर वैठनेके योग्य समझे जाते है, जो स्वर्ग-सुख किसी सौ यज्ञ करनेवालेको जल्दी नही मिलते, उन्ही स्वर्ग-सुखोको जव श्रेष्ठ योगी अपनी उस दृष्टिसे देखते है जो ब्रह्म-ज्ञानके कारण दिव्य हो जाती है और उन स्वर्ग-सुखोको हाथ पर रखकर तौलते है और उनके भारका अनुमान करते है, तव उन्हे पता चलता है कि वे स्वर्ग-सुख उस सुखके सामने वहुत ही हलके हैं जो ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्तिके कारण होता है। उस समय योगी लोग उन स्वर्ग-सुखोको मिट्टीके समान समझ कर अपने पैरोके नीचे पायन्दाजकी तरह विछा लेते है और उन्ही पर पैर रखकर वे पर-ब्रह्मकी पीठ पर आरोहण करते हैं।" इस प्रकार जो स्थावर-जंगमात्मक सृष्टिके एक स्थान पर एकत्र किये हुए वैभव हैं, जिनकी आराधना स्वयं ब्रह्मा और शंकर भी करते है और जो केवल योगी-जनोके ही भोगनेकी वस्तु है, जो समस्त कलाओको भी कला देनेवाले है, जो परमानन्दकी मूर्ति, विश्वके जीवके जीवन, सर्वज्ञताके मूल उद्-गम, यावद कुलके दिव्य कुलदीपक हैं उन श्रीकृष्णने पाडुपुत्र अर्जुनसे ये सब वातें कही। इस प्रकार कुरुक्षेत्रमे जो जो घटनाएँ हुई थी, संजय उनका वर्णन राजा धृत-राष्ट्रसे कर रहे थे। मै ज्ञानदेव आप श्रोताओसे निवेदन करता हूँ कि आप लोग वही वर्णन और आगे सुनें।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥

"हे सुभद्रानाथ अर्जुन, यह एक ही विचार मै भिन्न-भिन्न प्रकारसे वार वार तुम्हें कहाँ तक बतलाऊँ! तुम एक बार इतना ही समझ रखो कि जिस प्रकार लोगोके व्यापारका सूर्य निमित्त मात्र होता है, उसी प्रकार मैं भी जगत की उत्पत्तिका तटस्थ रूपसे निमित्त मात्र होता हूँ। और इसका कारण यही है कि मैं जो मूल प्रकृतिको धारण करता हूँ, उसीसे इस चराचर विश्वकी उत्पत्ति होती है, और इस दृष्टि से विचार करने पर मैं ही इस विश्वकी उत्पत्तिका कारण हूँ। अव तुम इस दिव्य ज्ञानके प्रकाशमे मेरे इस "ऐश्वर्य-योग" का तत्व देखो। वह तत्व यह है कि भूत मात्र मुझमे है, परन्तु मैं भूत मात्रमे नही हूँ। अथवा ये भूत मात्र भी मुझमे नही है और मैं भी इन भूत-मात्रमे नही हूँ। भाई अर्जुन, यह मुख्य वात तुम कभी मत भूलो। यह गूढ ज्ञान ही मेरा सार और सर्वस्व है, और आज यह बात मैं तुम्हे विलकुल खोलकर और स्पष्ट रूप से वतला रहा हूँ। अव तुम इधर-उधर भटकनेवाली इन्द्रियो के द्वार वन्द करके अपने मनमे आत्म-चिन्तन करते हुए इस रहस्यके माधुर्यका उपभोग करो। हे अर्जुन, जव तक इस रहस्यका पता नही चलता, तव तक इस नाम-रूपात्मक ससारके कूडे-करकटमे मेरे यथार्थ रूपका ठीक उसी प्रकार पता नही चलता, जिस प्रकार भूसेमे अनाजके दानोका पता नही चलता। साधारणत ऐसा जान पडता है कि तर्कके मार्गसे ही मर्मका पता चलता है, परन्तु वास्तवमे विना अनुभूतिके इस मर्मका ज्ञान भी व्यर्थ है, क्योकि मृग-जलकी आर्द्रतासे पृथ्वी कभी भीगकर मुलायम नही हो सकती, यदि पानीमे जाल फैला दिया जाय तो ऐसा जान पडता है कि चन्द्रमाका प्रतिविम्व उसी जाल मे आकर फँस गया है। परन्तु जब वह जाल पानीमेसे निकालकर किनारे पर रख दिया जाता है, तब उसमेका चन्द्रमा कहाँ चला जाता है? इसी प्रकार लोग व्यर्थकी वाचालता करके अनुभवकी आखोमे धूल झोकते है और अनुभव न होने पर भी वाचालतापूर्वक कह वैठते है कि हमे अनुभव हो गया। परन्तु जव यथार्थ वोधका समय आता है, तव उनके उस अनुभवका कही कोई ठीक ठौर-ठिकाना ही नही रह जाता।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥११॥

"यदि तुम्हे सचमुच संसारका भय जान पडता हो और वास्तवमे मेरे प्रति तुम्हारा सच्चा अनुराग हो, तो तुम्हे उचित है कि तुम इस तत्व-विचारको अच्छी तरह और प्रयत्न पूर्वक स्मरण रखो। नही तो जिस प्रकार नेत्रोमे कमल रोग व्याप्त होने पर स्वच्छ चाँदनी भी पीली जान पडती है, उसी प्रकार मेरा निर्मल रूप भी स-दोष जान पडने लगता है। अथवा जिस प्रकार ज्वर के कारण मुखका स्वाद वदल जानेसे दूध भी कडुवा लगने लगता है, उसी प्रकार मेरे मनुष्य न रहते हुए भी लोग मुझे मनुष्य मानने लगते हैं। इसी लिए हे भाई अर्जुन, मैं वार वार तुमसे कहता हूँ कि तुम इस रहस्य-ज्ञानको मत भूलो, क्योकि विना इस रहस्यके केवल ऊपरी या स्थूल दृष्टि किसी

नवाँ अध्याय

हे श्रोतागण, आप लोग केवल एकाग्र मनसे मेरा प्रवचन सुनें। बस इतनेसे ही आप लोगोंको सब प्रकारके सुखोंकी प्राप्ति होगी, यह मेरा बिलकुल स्पष्ट प्रतिज्ञा-वचन है। परन्तु यह बात मैं अभिमानपूर्वक नही कर रहा हूँ, क्योंकि आप सब श्रोता लोग तो सर्वज्ञ ही हैं। परन्तु फिर भी मैं आप लोगोसे बहुत ही आत्मीयतापूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग मेरी बातोंकी ओर ध्यान दे। इसका कारण यही है कि जिस प्रकार किसी स्त्रीको सम्पन्न मायका प्राप्त होता है और वहाँ से उसके दुलार पूरे होते है, उसी प्रकार मुझे आप लोगोंका आश्रय प्राप्त हुआ है और आप ही लोगो से मेरे सब दुलार पूरे होंगे और मेरा मनोरथ सिद्ध होगा। आप लोगोकी कृपा-दृष्टिकी वृष्टिके कारण मेरी प्रसन्नताका उपवन कुछ अच्छी तरह फल-फूल रहा है; और उस उपवनकी शीतल छाया देखकर संसारके तापसे तृप्त मेरा जीव उस छायामें लोट रहा है और उसके तापकी शान्ति हो रही है। आप लोग सुख-रूपी अमृतके गम्भीर दह हैं, इसलिए मैं उनमेंसे जितना चाहूँ, उतना सुख-रूपी अमृत प्राप्त कर सकता हूँ। अब ऐसा सुन्दर अवसर पाकर भी यदि मैं दुलारसे बाते करनेमे डरूँ, तब फिर मुझे सुख और शान्ति कब प्राप्त हो सकती है? सच तो यह है कि जिस प्रकार अपने बच्चेकी तोतली बातें सुनकर और उसके टेढे-तिरछे पड़नेवाले पैरोको प्रसन्नता-पूर्वक देखकर उसकी माता आनन्दित होती है, उसी प्रकार मैं भी आप सन्तजनोका प्रेम प्राप्त करनेकी उत्कंठासे दुलारकी ये सब बातें कह रहा हूँ। और नही तो यदि मेरे वक्तृत्वकी योग्यता देखी जाय तो वह कुछ भी नही है और आप सब श्रोता लोग सर्वज्ञ ही हैं। ऐसी अवस्थामें यदि मैं आप लोगोके सामने बैठकर प्रवचन करूँ और आप लोग उसे सुनें, तो मेरा यह प्रयास स्वयं सरस्वतीके पुत्रको पटिया पर पाठ लिखाकर उन्हे शिक्षा देनेके समान ही होगा। देखिए, जुगनूँ चाहे कितना ही बड़ा क्यो न हो, परन्तु फिर भी सूर्यके महातेजके सामने उसकी कुछ भी नही चल सकती। भला ऐसा रस-परिपाक कहाँ मिल सकता है जो अमृतकी थालीमें परोसा जा सके? भला यह कभी सम्भव है कि सबको शीतल करनेवाले चन्द्रमाको पंखेसे हवा की जाय? या स्वयं नाद-तत्त्वको गाना सुनाया जाय? या अलंकारकों ही अलंकार पहनाया जाय? जो स्वयं सुगन्ध हो, वह भला कौन-सी चीज सूँघे? समुद्र किस दहमें स्नान करने जाय? और ऐसा कौन सा स्थल-विस्तार है, जिसमे सारा आकाश समा सके? इसी प्रकार भला ऐसा वक्तृत्व मैं कहाँसे ला सकता हूँ जिससे आप लोगोका चित्त सन्तुष्ट हो और आप लोगोको इतना आनन्द हो कि आप लोगोके मुखसे इस प्रकारका धन्यताका उद्गार निकले कि—"वाह! वक्तृत्व हो तो ऐसा हो।" परन्तु फिर भी क्या सारे विश्वको प्रकाशित करनेवाले सूर्यको आरती हाथसे बनाई हुई

कामकी नही। स्थूल दृष्टिसे मुझे देखना वास्तवमें कोई देखना ही नही है, क्योकि यदि कोई स्वप्नमें झूठ-मूठका अमृत पी ले, तो उससे वह कभी अमर नही हो सकता। साधारणत: लोग मुझे ऊपरसे, स्थूल दृष्टिसे देखते है और उसी ऊपरी रूपमे मुझे जानते हैं; परन्तु जिस प्रकार उस हंसका नाश होता है, जो पानी में पडनेवाले नक्षत्रोके प्रतिबिम्बके धोखेमें आ जाता है और उन्हीको रत्न समझकर उन्हें प्राप्त करनेकी आशा करता है, उसी प्रकार यह ऊपरी ज्ञान भी यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके मार्गमें बाधक होता है। यदि हम मृग-जलको ही गंगा मानकर उसके पास जायँ तो उससे भला हमें किसी फलकी प्राप्ति हो सकती है ? यदि हम बवूलको ही कल्प-वृक्ष मानकर उसे हाथमे लें तो उससे क्या लाभ होगा ? यदि हम काल-सर्पको यह समझकर हाथमें पकडे कि यह नील मणियोका दो-लडा हार है, अथवा सफेद पत्थरको ही रत्न समझकर चुने अथवा खैरके जलते हुए अंगारोको यह समझकर झोलीमे भर ले कि यह तो गुप्त धनका भाडार खुल गया, अथवा यदि कोई सिह किसी कूएँमें अपनी परछाँही देखकर इस बातका विचार न करे कि यह सचमुचका सिह है या मेरी परछाँही मात्र है और उस कूएँमें कूद पड़े- तो उसका क्या परिणाम होगा ? इसी प्रकार जो लोग अपने मनमे इस बातका पक्का निश्चय कर लेते हैं कि मैं परमात्मा सचमुच साकार होकर संसार मे अवतार धारण करता हूँ और यही समझकर इस सांसारिक प्रपंचमे लीन होते है उनकेसम्वन्धमे यही समझ लेना चाहिए कि वे पानीमें पड़नेवाले प्रतिबिम्बको ही चन्द्रमा समझकर उसका संग्रह करते हैं। इस प्रकार बुद्धिका भ्रमिष्ठ निश्चय केवल व्यर्थ ही होता है। जिस प्रकार कोई माँड़ पीकर उसमे अमृतके गुणकी अपेक्षा करता हो, ठीक उसी प्रकारकी वात यह भी है कि इस नश्वर नाम-रूपात्मक स्थूल रूप पर मनसे पूरा पूरा विश्वास रखा जाय और तव उसीमे मेरा शाश्वत स्वरूप देखा जाय। भला इस प्रकारके प्रयत्नसे मैं कैसे दिखलाई पड़ सकता हूँ ? क्या पूर्वकी ओर जानेवाले मार्गसे चलकर कभी कोई पश्चिमी समुद्र के उस पारवाले तट पर पहुँच सकता है ? अथवा हे अर्जुन, भूसेको चाहे कितना ही कूटा जाय, पर उसमेंसे क्या कभी अनाजका दाना मिल सकता है ? इसी प्रकार जिस स्थूल विश्वका आकार केवल विकारसे वना है, उसीको जानकर मेरा केवल, निराकार और निर्गुण स्वरूप भला कैसे जाना जा सकता है ? क्या फेन पीनेसे ही पानी पीनेका फल हो सकता है ? इसी प्रकार मनमे मोह उत्पन्न होनेके कारण लोग भ्रमसे यह कल्पना कर लेते हैं कि यह विश्व मैं परमात्मा ही हूँ, और तव यह मान लेते है कि यहाँके जो जन्म और मरण आदि कर्म है, वे मुझपर भी प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार वे लोग मुझ नाम-रहित पर नामका, क्रियाहीन पर कर्मका और विदेह पर देह-धर्मका आरोप कर लेते है। मेरे निराकार होते हुए भी वे मुझ पर आकारका आरोप करते हैं, मुझ उपाधि हीन पर उपचार-विधिका आरोप करते है मेरे निष्क्रिय होने पर भी मुझ पर व्यवहारका, वर्ण-हीन होने पर भी वर्णका, निर्गुण होने पर भी गुणका, हस्त-पाद आदिसे रहित होने पर भी हस्तपाद आदिका, अपरिमित होने पर भी परिणामका और सर्वव्यापी होने पर भी स्थान विशेषका आरोप करते हैं। जिस प्रकार सोया हुआ मनुष्य स्वप्नमें अपने विछौने पर ही जंगल देखता है, उसी प्रकार वे लोग मुझ श्रवण-हीनके सम्वन्धमे यह समझते हैं कि मुझे श्रवण है;

और यद्यपि मुझमें नेत्र, गोत्र, रूप, आकार, इच्छा, तृप्ति, वस्त्र, भूषण और कारण आदि कुछ भी नही है, परन्तु फिर भी वे मुझमे इन सब बातोंका आरोप या भावना करते हैं। यद्यपि मैं स्वयंसिद्ध हूँ, परन्तु फिर भी वे मेरी मूर्ति बनाते है; मैं स्वयंभू हूँ, पर फिर भी मेरी प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं और मैं सदा सर्वदा अखंड और सर्वत्र व्यापक हू, पर फिर भी वे मेरा आवाहन और विसर्जन करते हैं। यद्यपि मैं सदा स्वयंसिद्ध हूँ, परन्तु वे अपनी बुद्धिसे मेरे अविकृत एक-रूपके साथ बाल्य, युवा तथा वृद्धावस्थाका सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यद्यपि मैं द्वैतहीन हूँ, परन्तु फिर भी वे मुझमे द्वैत भावका आरोप करते है, मेरे निष्क्रिय होने पर भी मुझमे क्रियाकी सम्भावना करते हैं और मेरे अभोक्ता होने पर भी यह समझते हैं कि मैं भोगोका उपभोग करता हूँ। यद्यपि मेरा कोई कुल या गोत्र नही हैं, पर फिर भी वे मेरे कुलका वर्णन करते है। मेरे अविनाशी होने पर भी मेरी मृत्युकी कल्पना करके दुःखी होते हैं; और यद्यपि मैं सबके अन्दर समान रूपसे ओत-प्रोत रहता हूँ, पर फिर भी मेरे सम्बन्धमे शत्रु और मित्र आदि भावोकी सम्भावना करते हैं। यद्यपि मैं आत्मानन्दका प्रत्यक्ष आगर हूँ, परन्तु फिर भी वे समझते हैं कि मैं नाना प्रकारके सुखोकी इच्छा करता हूँ, और यद्यपि मैं सब जगह समान रूपसे व्यापक रहता हूँ, परन्तु फिर भी वे मुझे एकदेशीय कहते हैं; और यह मानते हैं कि मैं अमुक स्थल-विभागमे रहता हूँ। और यद्यपि मैं समस्त चर और अचरकी आत्मा हूँ, पर फिर भी वे मेरे सम्बन्धमे यह प्रसिद्ध करते है कि मैं एकका पक्ष लेता हूँ और दूसरे पर क्रोध करके उसे मारता हूँ। तात्पर्य यह कि इस प्रकारके जो अनेक मनुष्य-धर्म है, उन्होको वे "मैं" कहने लगते है और उन सबका मुझमे आरोप करते है। इस प्रकार उनके ज्ञानका स्वरूप सत्यके बिलकुल विपरीत होता है। वे जब कोई मूर्ति अपने सामने देखते है, तब उसीको देवता कहने लगते है, पर जब वही मूर्ति टूट जाती है, तब यह कहकर उसे फेंक देते है कि यह देवता नही है। तात्पर्य यह कि वे लोग अनेक प्रकारसे यही मानते है कि मैं साकार मनुष्य ही हूँ। इस प्रकार उनका वह विपरीत ज्ञान ही सच्चे ज्ञानको अन्धकारमे रखता है और सच्चा ज्ञान उनकी दृष्टिके सामने नही आने पाता।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥१२॥

"इसी लिए ऐसे पुरुषोका जीवन निष्फल सिद्ध होता है। वर्षा ऋतुके अतिरिक्त अन्य ऋतुओमे जो मेघ दिखाई पडते हैं, अथवा मृग-जलकी जो लहरें उठती हुई दिखाई देती है, वे सब दूरसे ही देखने भरकी होती है। यदि उनके पास जाकर उनकी परीक्षा की जाय तो कुछ भी अर्थ नही सिद्ध होता। ऐसी परीक्षामे वे दोनों ही निस्सार सिद्ध होते है। बच्चोके खेलनेके लिए मिट्टीके जो घुड-सवार बनाए जाते हैं, अथवा जादूगर लोग जो अलंकार आदि उत्पन्न करते है, अथवा आकाशमे बादलोके बने हुए जो महल और कोट आदि या गन्धर्वनगर दिखाई देते हैं, वे सब वास्तवमें कुछ न होने पर भी देखनेवालोको भासमान होते ही हैं। सरपत बराबर सीधा बढ़ता तो रहता है, परन्तु उसमे फल नही लगते और उसके कांड भी अन्दरसे पोले ही होते

सरीखा कोतवाल घोडा है। तात्पर्य यह कि जब तक उनकी गाँठमे पुण्य रहता है, तब तक वे इन्द्र-सुखके समान इसी प्रकारके अनेक सुखोका उपभोग करते है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

"जब उनके कमाये हुए पुण्यका आधार नही रह जाता और साथ ही इन्द्र-पद-का तेज भी उतर जाता है, तब वे लोग फिर इसी मृत्यु-लोकमे चले आते है। जिस प्रकार कोई व्यसनी पुरुप वेश्याके फेरमे पडकर अपना सारा धन गँवा देता है और तब उस दरिद्रावस्थामे उसके लिए उस वेश्याके द्वार पर जाना भी असंभव हो जाता है, उसी प्रकार सगृहीत पुण्य समाप्त हो जाने पर उन यज्ञकर्त्ताओकी जो लज्जास्पद अवस्था होती है, उसका मैं क्या वर्णन करूँ! इस प्रकार जो लोग मेरी शाश्वत आत्माको न पहचानकर अपने पुण्य-कृत्योकी सहायतासे स्वर्गका भोग प्राप्त करते है, उन्हे वास्तविक अमरत्व नही प्राप्त होता और अन्तमें उन्हे इस मृत्यु-लोकमे ही आना पड़ता है। वे माताके गर्भाशयमे गन्दगीमे नौ मास तक रहकर बार-बार जन्म लेते और मरते है। स्वप्नमे द्रव्यका बहुत सा भाडार देखा जाता है, परन्तु ज्योही नीद खुलती है, त्योही सारा भाडार न जाने कहाँ चला जाता है। ठीक इसी तरह वेदज्ञो-को मिलने वाला स्वर्ग-सुख भी मिथ्या ही समझना चाहिए। हे अर्जुन, अनाज निकाल लेने पर जो भूसा बच जाता है, उसे ओसाना बिलकुल व्यर्थ ही होता है। इसी प्रकार चाहे कोई पुरुप वेदवेत्ता भले ही हो जाय, परन्तु यदि उसे मेरे शाश्वत स्वरूपका ज्ञान न हो तो समझ लेना चाहिए कि उसका सारा जीवन व्यर्थ ही गया। इसीलिए यदि मेरा ज्ञान न हो तो समस्त वेदोक्त धर्म निरुपयोगी ही सिद्ध होते है। परन्तु यदि तुम्हे मेरे सत्स्वरूपका ज्ञान हो जाय और तब तुम्हे और किसी प्रकारका ज्ञान न भी हो, तो तुम सुखी ही होगे।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

"जिसने सम्पूर्ण मनोयोगपूर्वक अपने आपको मुझे अर्पित कर दिया है, जो उसी प्रकार मेरे सिवा और किसी दूसरेको अच्छा नही समझता, जिस प्रकार गर्भाशयमे-का पिंड और कोई उद्योग नही जानता और जिसे समस्त जीवनका ही ज्ञान मेरे नामके रूपमें होता है और इस प्रकार जो एकनिष्ठ होकर मेरा चिन्तन करता है, तथा मेरी उपासना करता है, उसीकी मैं भी बराबर सेवा करता रहता हूँ। जब वह पूर्ण मनोयोगपूर्वक एकीकरण करके मेरी उपासना का मार्ग अंगीकार कर लेता है, उसी समय उसकी सब प्रकारसे सुव्यवस्था करने का भार या चिन्ता मुझ पर आ पडती है। तब जो जो बातें उसके करनेकी होती हैं, वे सब बातें उसके लिए मुझे करना आवश्यक हो जाता है। माता पक्षिणी अपने उन्ही बच्चोके लिए अपना जीवन धारण करती है जिन बच्चोके अभी तक पंख नही निकले होते। उसे अपनी भूख-प्यासका कुछ भी ध्यान या चिन्ता नही रहती। वह सदा केवल अपने बच्चोके हितके ही सब काम करती हैं। इसी प्रकार जो लोग सब तरहसे मुझपर विश्वास रखकर मेरी उपासना करते है, उनकी सब प्रकारसे देख-रेख मैं ही करता हूँ। यदि वे मेरे

है। बकरीके गलेमें जो स्तन निकलते है, वे भी केवल दिखाऊ ही होते है। ठीक इसी प्रकारका मूढ पुरुषोका जीवन भी होता है। उनके किए हुए कर्म सेमलके फलोकी तरह लेने-देनेके कामके नही होते और केवल धिक्कारनेके योग्य होते है। ऐसे लोग जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह बन्दरके तोड़े हुए नारियलके समान अथवा अन्धेके हाथमें आये हुए मोतियोके समान निष्फल होता है। तात्पर्य यह है कि उनके शास्त्र लड़कियो के हाथके शस्त्रोके समान अथवा अशुद्ध पुरुषोके मन्त्रबीजके समान केवल निरूपयोगी होते है। इसी प्रकार, हे अर्जुन, उनका समस्त ज्ञान-संग्रह और कर्म-संग्रह दोनो व्यर्थ ही होते है, क्योकि उनके चित्तमें यथार्थ ज्ञानका अभाव होता है। अच्छी-भली बुद्धि-को भी ग्रसनेवाली, विवेकका ठौर-ठिकाना नष्ट करनेवाली और अज्ञानके अन्धकारमे संचार करनेवाली तामसी राक्षसी प्रकृति (माया) के चंगुलमे वे लोग फँसे रहते है और इसी लिए उनके चित्तके धुर्रे उड़ जाते है और वे तमोगुण-युक्त राक्षसीके मुखमे जा पड़ते है। उस तामसी राक्षसीके मुखमे आशाकी लारके अन्दर हिंसाकी जीभ लपलपाती रहती है जो असमाधान या असन्तोपके लोथडे बराबर चबाती रहती है। यह हिंसाकी जीभ होठ चाटती हुई अनर्थके कानो तक बाहर निकलती है। यह राक्षसी दोषोके पर्वतोकी दरियामे निरन्तर मत्त होकर घूमा करती है। द्वेष ही उसकी दाढें है जिनसे वह ज्ञानको चबाकर उसका कचूमर निकाल देती है। स्थूल बुद्धिवाले मूर्खोके लिए वह त्वचा और अस्थिके वेष्टनके समान होती है। इस प्रकार इस तामसी माया राक्षसीके मुखमे जो लोग भूतोको दी हुई बलिके समान पड़ते है, वे अज्ञान या भ्रान्तिके दहमे डूबकर नष्ट हो जाते है। इस प्रकार जो लोग तमोगुणके गड्ढेमे जा पडते है, उनके पास तक सहायताके लिए विचारका हाथ पहुँच ही नही सकता। ऐसे लोगोकी तो कोई बात ही नही करनी चाहिए; क्योकि इस बातका पता भी नही चलता कि वे कहाँ चले गये। इसी लिए इन मूढ लोगोकी यह व्यर्थकी कहानी अब समाप्त की जाती है। यदि इसका विस्तार किया जायगा तो उससे व्यर्थ ही वाणीको कष्ट होगा।" श्रीकृष्णकी इस प्रकारकी बाते सुनकर अर्जुनने कहा—"हे महाराज, आप जो कुछ कहते है, वह बिलकुल ठीक है।" इस पर श्रीकृष्णने कहा—'हे अर्जुन, अब मैं साधु पुरुषोकी स्थिति बतलाता हूँ। सुनो।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

"निरन्तर पवित्र स्थलोमे रहनेका संकल्प करनेवाला मैं क्षेत्र-सन्यासी जिनके शुद्ध अन्त करणमे निवास करता हूँ, जिन्हे वैराग्य कभी निद्राके समय भी छोड़कर कही नही जाता; जिनकी श्रद्धायुक्त शुद्ध भावनाओंमे धर्मका साम्राज्य रहता है, जिनके मनमें सदा विवेककी आर्द्रता रहती है, जो ज्ञान-गंगामे स्नान कर चुके होते है, जो पूर्ण ब्रह्मकी स्थिति तक पहुँचकर समाधान प्राप्त कर चुके होते है, जो शान्ति-रूपी बेलमें मानो नये पल्लवके समान निकले हुए होते है, जो उस परब्रह्ममे निकले हुए अंकुरके समान होते हैं जिसमे जगतकी परिणति या परिसमाप्ति होती है, जो धैर्यके आधार-स्तम्भ जान पड़ते हैं, जो आनन्द-समुद्रमे डुबाकर भरे हुए पात्रके समान होते

साथ एक-रूप होकर मोक्षकी रुचि रखते है, तो उनकी वह रुचि भी मैं ही पूरी करता हूँ। और यदि उन्हे मेरी सेवा ही अच्छी लगती हो, तो मैं उन्हे प्रेमका दान देता हूँ। इस प्रकार वे लोग अपने मनमें जिन जिन बातोकी इच्छा करते है, वे सब मैं उन्हे बार बार देने लगता हूँ। और इस प्रकार जो कुछ मैं उन्हे देता हूँ, उनके लिए उसकी देख-रेख भी मुझे ही करनी पडती है। उनका योग-क्षेम मुझे ही करना पडता है, क्योकि उनकी सब बाते मुझ पर ही आश्रित रहती है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

"इसके सिवा और भी अनेक सम्प्रदाय है, परन्तु उनके अनुयायी मेरा सर्वव्यापक रूप नही जानते। वे अग्नि, इन्द्र, सूर्य और सोमके उद्देश्यसे यज्ञ करते है। वे यज्ञ भी मुझे ही प्राप्त होते है, क्योकि यह सारा विश्व मैं ही हूँ। परन्तु यह उपासना प्रणाली सीधी नहीं बल्कि टेढी है। देखो, वृक्षकी शाखाएँ और पत्ते सब एक ही बीजसे उत्पन्न होते है, परन्तु सबके लिए पानी ग्रहण करनेकी क्रिया मूल या जड़ ही करती है, इसलिए जडमें ही पानी देना ठीक है। अथवा मनुष्यके शरीरमे दस इन्द्रियाँ होती है और वे सब एक ही शरीरमे होती हैं, और वे इन्द्रियाँ जिन विषयोका सेवन करती है, वे भी अन्तमें एक ही स्थानमें जाते हैं। तो भी क्या कोई खाद्य पदार्थ प्रस्तुत करके कानोमें डालता है? अथवा फूल यदि आँखोके साथ बाँध दिये जायँ तो काम चल सकता है? नही। अन्न मुखमे डालना होगा और सुगन्धका अनुभव नाकसे करना होगा। इसी प्रकार मेरा वास्तविक स्वरूप समझकर ही मेरी उपासना की जानी चाहिए। यदि मेरे आत्म-स्वरूपको विना जाने हुए मेरा भजन किया जायगा तो वह व्यर्थ किये हुए कामकी तरह निष्फल होगा। अतः कर्मके लिए ज्ञान-दृष्टिकी आवश्यकता होती है और उस दृष्टिका स्वच्छ तथा निर्मल होना भी आवश्यक है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

"हे अर्जुन, यदि वास्तवमें देखा जाय तो यज्ञोके समस्त उपचारोका मेरे सिवा और कौन भोक्ता हो सकता है? मै ही समस्त यज्ञोका मूल हूँ और मै ही यज्ञोकी अन्तिम मर्यादा हूँ। परन्तु इन याज्ञिकोको इस बातका ज्ञान नही है और इसी लिए वे दूसरे देवताओके भजनमे लगे हुए है। जिस प्रकार देवताओ और पितरोके नामसे गंगाका पानी गंगामे ही अर्पण किया जाता है, उसी प्रकार यज्ञ आदि विधि-विधानों के द्वारा वे लोग मेरी ही वस्तु मुझको ही अर्पित करते है, परन्तु केवल अर्पण विधि दूसरे देवताओके उद्देश्यसे करते है। इसी लिये, हे अर्जुन, वे इन विधि-विधानोके द्वारा मुझ तक आकर नही पहुँचते, बल्कि याज्ञिक लोग जिन देवताओके उद्देश्यसे इन सब कर्मोका आचरण करते है, उन्ही अपने उपास्य देवताओको वे लोग प्राप्त होते हैं।

यान्ति देवव्रता देवापितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

हैं, जिनका भक्तिके प्रति इतना अधिक अनुराग होता है कि उसके सामने मुक्तिसे कहते हैं कि "दूर हो; हमें तेरी आवश्यकता नही है ।" जिनके सहज आचरणमें भी नीति जीवित रूपसे विहार करती हुई जान पड़ती है, जिनकी समस्त इन्द्रियाँ शांतिसे शृंगारित होती है और जिनका चित्त इतना अधिक विशाल होता है कि वह मुझ सरीखे सर्वव्यापकको भी चारो ओरसे आच्छादित कर लेता है, इस प्रकार जो महा-समर्थ महात्मा मेरा वह सत्य स्वरूप पूर्ण रूपसे जान लेते है, जो दैवी सम्पतिका सौभाग्य ही है और दिन-दूने रात चौगुने प्रेमसे मेरा भजन करते है, परन्तु जिन्हें द्वैत भाव कभी नामको भी स्पर्श नही करता, हे अर्जुन, वे लोग मत्स्वरूप ही होकर रहते है । वे मेरी सेवा तो करते हैं. परन्तु उस सेवामे जो एक विलक्षणता होती है, वह भी सुनो ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।१४।।

"ऐसे भक्त प्रायश्चितका व्यापार तो बन्द कर देते है और कीर्त्तनके समय भक्ति-के आवेशमे नाचने लगते है । उनका प्रायश्चित्तवाला व्यापार इसलिए वन्द हो जाता है कि उनमे पापका नाम भी नही होता ! वे यम-दम आदिको निस्तेज कर देते है, तीर्थ-क्षेत्रोके चिह्न तक मिटा देते है और यम-लोकके मार्गका अन्त कर देते हैं । क्योकि यम कहता है—"इन लोगोने तो पहलेसे ही इन्द्रियोको वशमे कर रखा है । फिर मेरे लिए नियमनका काम ही कहाँ वाकी रह जाता है ।" ऐसे लोगोका मनो-निग्रह देखकर दम कहता है—"मैं अव किसका दमन करूँ ?" तीर्थ कहते है—"इनके अंगोमे दोष तो इतना भी नही हैं जो औषध भरको भी प्राप्त हो सके । फिर हम अपने पावन गुणसे इनका कौन सा मल दूर करे ? इस प्रकार वे महात्मा लोग केवल मेरे नाम-कीर्त्तन के घोषसे ही विश्वके दुखोका नाश करके समस्त संसारको आत्म-सुखसे भरपूर कर देते हैं । वे विना प्रभातके ही ज्ञानदिवसका उदय करा देते है, विना अमृतके ही अमर कर देते है और विना योग-साधनाके ही नेत्रोको मोक्षके दर्शन करा देते है । राजा और रंकमें योग्यताके भेद-भावकी कल्पना करना अथवा किसीको छोटा और किसीको वडा समझना तो वे लोग विलकुल जानते ही नही । वे ऊँच-नीचका कोई भेद नही करते और आनन्दका वाड़ा सारे संसारके लिए खुला रखते है । वैकुण्ठमे तो शायद ही कभी कोई जाता हो, परन्तु वे सारे विश्वको वैकुण्ठ बना डालते है । इस प्रकार वे केवल नाम कीर्त्तनके घोषसे सारे संसार को स्वच्छ प्रकाशमय वना देते है । वे सूर्यके समान तेजस्वी होते हैं, परन्तु सूर्यको जो अस्तकालका दोष लगता है, वह दोष उन्हे कभी स्पर्श भी नही करता । चन्द्रमा तो केवल पूर्णिमाके दिन ही सम्पूर्ण रूपसे मंडल-युक्त दिखाई देता है, परन्तु वे सदा पूर्णता धारण किये रहते है । इसमे सन्देह नही कि मेघ उदार होते है, पर उनकी पूँजी भी कभी न कभी खतम हो जाती है, और इसलिए वे भी उन महात्माओकी वरावरी नही कर सकते । इन्हे सचमुच उड़ते हुए सिंह कहना चाहिए । एक वार जो मेरा नाम मुखपर लानेके लिए हजारो जन्म धारण करने पड़ते है, वह नाम उनकी जीभ पर प्रेमके कारण निरन्तर नाचता रहता है । मैं ऐसा हूँ कि मैं वैकुंठमे भी

"जो लोग अपना मन, वाणी और इन्द्रियाँ इन्द्र आदि देवताओके भजनमें लगाते हैं, वे शरीर-पात होते ही उन देवताओका रूप प्राप्त करते है। अथवा जिनके मन पितृव्रतके आचरणमें रँगे हुए हैं, वे मृत्युके उपरान्त पितृ-स्वरूप होते है। जिन लोगो को वेताल, पिशाच और हीन ग्राम्य देवता ही सबसे श्रेष्ठ जान पड़ते है, और जारण मारण आदि मन्त्रोके लिए जो उनकी उपासना अंगीकार करते है, उनके शरीरका परदा जब मृत्यु उठा देती है, तब वे लोग तुरन्त ही भूत-योनिको प्राप्त होते है। इस प्रकार सब लोग अपने अपने संकल्पो या विचारोके अनुसार ही अपने अपने कर्मोका फल प्राप्त करते हैं। परन्तु जिनकी आँखोने मेरे दर्शन किये है, जिनके कानोने मेरा श्रवण किया है, जिनके मनने मेरा ध्यान किया है, जिनकी वाचाने मेरी कीर्त्तिका गान किया है, जो अपने समस्त अगोसे समस्त स्थानो पर मेरे ही उद्देश्यसे नमन करते हैं जो अपने दान-पुण्य आदि सब काम मेरे प्रीत्यर्थ करते है, जिन्होने मेरा ही अध्ययन किया है, जो अन्दर और वाहर मद्रूप होकर सन्तुष्ट होते हैं, जो अपना सारा जीवन मुझे ही अर्पण करते है, जो केवल हरिभक्तोके लक्षण धारण करनेके लिए ही अह-भावना का स्वीकार करते है, जिन्हे केवल मेरा ही लोभ लगा हुआ है; जो केवल मुझे प्राप्त करनेकी इच्छासे ही स-काम रहते हैं, जो मेरे ही प्रेममे व्याकुल होते है, मेरे सर्वव्यापी स्वरूपसे भरे होनेके कारण जिन्हें लौकिक भाव भासमान भी नही होते, जिनके शास्त्र और मन्त्र-तन्त्र सब मेरे प्रीत्यर्थ होते है, तात्पर्य यह कि जो अपने समस्त व्यवहारो और आचारोमे मेरा ही भजन करते है, वे मृत्युके पहले ही मेरा सत्य शुद्ध और वुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लेते है। फिर भला मरनेके वाद वे और कहाँ जा सकते है? इसी लिए जो अपने समस्त व्यवहार स्वय ही मेरे स्वरूप अर्पित करते है, वे मेरे याज्ञिक या उपासक मेरा ही स्वरूप प्राप्त करते है। हे अर्जुन, आत्म-स्वरूपका अनुभव हुए विना मैं कभी किसीको प्रिय नही होता। मैं और किसी उपाय से किसीके लिए साध्य नही हो सकता। इन विपयोमे जो अपने ज्ञानका गर्व करता हो, उसको अज्ञानी समझना चाहिए। जो अपना वडप्पन दिखलाता हो, समझ लेना चाहिए कि उसीमे कुछ कमी और सच्चाई है। जो अभिमान पूर्वक यह कहता हो कि अब मै परिपूर्ण हो गया हू उसके सम्वन्धमे खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि उसमे कुछ भी महत्व नही है। इसी प्रकार, हे अर्जुन, जो लोग अपने यज्ञ-याग आदिकी अथवा तपश्चरणकी डीग हाँकते हैं. उनके इन सब कर्मोका तृण भर भी उपयोग नही होता। भला तुम्ही वतलाओ कि ज्ञानकी सामर्थ्य रखनेमे वेदोसे भी वढकर और कोई समर्थ है? अथवा वक्तृत्व-शक्तिमे सहस्र-वदन शेप-नागसे भी वढ कर कोई और कुशल है? परन्तु वह शेप भी मेरे विछौनेके नीचे दवा वैठा है और वेद भी मेरे स्वरूपका यथा-तथ्य विचार करनेसे घवराते है और "नेति नेति" कह-कर पीछे हट जाते है। इस विपयमे सनक आदि ज्ञाता भी पागल और भौचक्के हो गये है। यदि तपश्चरणका विचार करो शूलपाणि शंकरके वरावर कठोर तपस्या किसने की है? परन्तु वे तपस्वी-श्रेष्ठ शकर भी सव अभिमान एक ओर रखकर मेरे चरण-तीर्थ अपने मस्तक पर धारण करते है। सम्पन्नतामें लक्ष्मीके समान कौन श्रेष्ठ

नही रहता, मैं भानु-मण्डलमे भी नही दिखाई पड़ता और यहाँ तक कि मैं योगियोके मनको भी पार करके निकल जाता हूँ। तो भी, हे अर्जुन, जिस स्थान पर मेरे अनन्य भक्त प्रेमसे मेरे नाम-संकीर्त्तनका घोष करते रहते है, वहाँ मै जो और कही कभी नही मिलता, सहजमे मिल जाता हूँ। जरा देखो कि वे लोग मेरे गुणोंमें कहाँ तक और कैसे लीन हो जाते है। उन्हे स्थल और कालका भी स्मरण नही रह जाता और वे मेरे नाम-कीर्त्तनमे आत्मसुख प्राप्त करते हैं। उनकी कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविन्दकी अखंड माला बरावर चलती रहती है, और वे मेरे सम्बन्धमें मुक्त हृदयसे अध्यात्मकी चर्चा करके जी भरकर मेरे गुणोके गीत गाते रहते है। परन्तु अव इन वातोका अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नही है। हे अर्जुन, वे भक्त इस प्रकार मेरा कीर्त्तन करते हुए चराचरमे सचार करते है। और हे भाई अर्जुन, वे भक्त अत्यन्त यत्न-पूर्वक पंच-प्राणों और मनको पूरी तरहसे दबाकर उन्हे अपने अधीन रखते हैं। वे वाहरसे तो यम-नियमोके घेरे खड़े कर देते है और अन्दर वज्रासनका कोट वनाकर प्राणायामकी तोपोसे मोरचेबन्दी करते है। उस समय कुंडलिनी शक्तिके जाग्रतिके कारण जो प्रकाश होता है, उसमे मन और प्राण-वायुकी अनुकूलतासे सत्रहवी कलाके अर्थात् परिपूर्ण आत्मज्ञान रूपी अमृतके सरोवर खुल जाते है। उस समय अन्तर्मुख इन्द्रियोकी एकाग्रताकी परम अवधि हो जाती है (अर्थात् वे एकाग्रता की चरम सीमा पर पहुँच जाती है), विकारोकी भाषाका अन्त हो जाता है और समस्त इन्द्रियाँ खीचकर हृदयमे बन्द हो जाती है। इतनेमे धारणा अर्थात् ध्यानकी परिपक्व दशाके घुड-सवार दौड़-धूप करके पचमहाभूतोको एकत्र करते है और वे पचमहाभूत एकत्र होकर आकाशमे लीन हो जाते है और संकल्प-विकल्पकी चतुरंग सेनाका पूर्ण रूपसे नाश हो जाता है। फिर यह प्रचड जय-घोप होने लगता है कि—'विजय हो गई।'' ''विजय हो गई।'' और उस जय-घोपमे ध्यान-धारणाका नगाडा वजने लगता है और ब्रह्मके साथ ऐक्यका एक-छत्र राज्य दिखाई देने लगता है। इसके उपरान्त सम्पूर्ण आत्मानुभवके साम्राज्यमे समाधि-लक्ष्मीका अभिषेक होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार मेरा भजन वहुत ही गम्भीर और गूढ रहस्यात्मक है। जो भक्त मेरा इस प्रकारका भजन करते है, वे यह समझ लेते है कि जिस प्रकार वस्त्रमे एक सिरेसे दूसरे सिरे तक एक-जात तन्तु रहते है, उसी प्रकार मै भी समस्त चराचरमें ओत-प्रोत भरा रहता हूँ। उनकी समझमे यह भी आ जाता है कि ऐसा कोई पदार्थ नही है जिसमे मेरा निवास न हो। उन्हे इस वातका ज्ञान हो जाता है कि इस संसार-रूपी वस्त्रका एक सिरा ब्रह्मदेव और दूसरा सिरा मशक या मच्छर है; और इन दोनोके वीचमे जो समस्त भूत सृष्टि है, वह सव मेरा ही स्वरूप है। फिर ये छोटे-वड़े और सजीव-निर्जीवका कोई भेद नही करते। उस समय जो वस्तु उनकी दृष्टिमे पडती है, उसे वे मद्रूप अर्थात् ब्रह्म-स्वरूप समझकर उसका सरलतापूर्वक आदर करते है। उन्हे अपनी श्रेष्ठताका ध्यान ही नही रह जाता और न दूसरोकी योग्यता तथा अयोग्यताकी ही कोई भावना रह जाती है। उन्हे एक सिरेसे समस्त व्यक्तियोका नम्रतापूर्वक आदर करना ही अच्छा लगता है, जिस प्रकार ऊँचे स्थान पर गिरा हुआ पानी आपसे आप इकट्ठा होकर फिर नीचे स्थान पर आ जाता है,

है ? उस लक्ष्मीके घरमें श्री देवी सरीखी दासियाँ काम करती है ? उसी लक्ष्मीने खेलवाडमे जो घरौदा बनाया है, उसीको लोग अमरपुरी कहते है। ऐसी अवस्थामें क्या इन्द्र आदि देवाधिपति उन लक्ष्मीकी पुतलियाँ नही सिद्ध होते ? वह लक्ष्मी जब इस प्रकारके खेलवाडसे उबकर ये घरौदे तोड़ डालती है, तब महेन्द्रादि सब कंगाल हो जाते है। वे दासियाँ जिन वृक्षोकी ओर देख लेती है, वे वृक्ष कल्पतरु हो जाते है। जिस लक्ष्मीके घरमें काम करनेवाली परिचारिकाओमें भी इस प्रकारकी अलौकिक सामर्थ्य है, उस मुख्य नायिका लक्ष्मीका भी नारायणके सामने कोई विशेप महत्व नही है। इसलिए, हे अर्जुन, वे लक्ष्मी मनोयोगपूर्वक मेरी सेवा करती है और अभिमान अलग रखकर उन्होने नारायणके चरण धोनेका सौभाग्य प्राप्त कर लिया है। इसलिए पहले अपने महत्वके सब विचार छोडने पड़ते हैं, ज्ञान सम्बन्धी अभिमानका परित्याग करना पडता है और मनमें इस प्रकारकी सच्ची भावना रखकर विनयी होना पडता है कि मैं संसारके सब जीवोसे छोटा हूँ। तब जाकर मनुष्य मेरे स्वरूपके समीप पहुँच सकता है। देखो, सहस्र-कर सूर्यकी दृष्टिके सामने चन्द्रमा भी फीका पड जाता है। फिर जुगनूँ अपने तेजकी प्रौढ़ताकी डीग क्यो हाँके ? इसलिए जहाँ लक्ष्मीका महत्व और शंकरका तप भी कोई चीज न हो, वहाँ मूढ और दुर्बल सामान्य मनुष्योका भला क्या पूछना है ! इसी लिए शरीरके अभिमानका विचार छोड देना चाहिए, समस्त सद्गुणोकी प्रतिष्ठा राई-नोनकी तरह उतारकर फेक देनी चाहिए और सम्पन्नताके मदको निछावर करके उसका अन्त कर डालना चाहिए।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६ ॥

"ऐसा भक्त जिस समय असीम-प्रेम-रसमे भरकर किसी वृक्ष फल मुझे अर्पित करनेके लिए मेरी तरफ बढाता है, तब मै बड़ी उत्कठासे उसे लेनेके लिए अपने दोनो हाथ आगे बढाता हूँ और उस फलका डंठल तोडनेके लिए भी नही रुकता और बड़ें प्रेमसे ज्योका त्यो उसे सेवन करता हूँ। हे अर्जुन, यदि मेरा कोई भक्त भक्तिपूर्वक एक फूल भी मुझे देता है, तो वास्तवमे मुझे वह फूल भी सूँघना चाहिए, परन्तु उस समय मैं भक्तके प्रेमसे इतना अधिक भर जाता हूँ कि वह फूल भी मैं अपने मुखमे रखकर खा जाता हूँ। परन्तु फूलकी तो वात ही क्या है, यदि मेरा भक्त मुझे किसी ऐसे-वैसे वृक्षका एक पत्ता भी अर्पित करता है, तो मै यह भी नही देखता कि वह पत्ता ताजा है या बासी और सूखा है। मै तो केवल यही देखता हूँ कि वह प्रेम-रससे भरा हुआ है, और वह पत्ता भी मैं उसी प्रकार सुखसे खाकर पुष्ट होता हूँ। जिस प्रकार कोई भूखा आदमी उतावलेपनसे अमृत पीकर तृप्त होता है। अथवा किसी अवसर पर ऐसा भी होता है कि कही कोई पत्ता भी नही मिलता। परन्तु पानीकी तो कमी नही रहती न ? वह तो सब जगह बिना दामके ही मिल जाता है। परन्तु वही मुफ्तमे मिला हुआ पानी मेरा भक्त मुझे अपना सर्वस्व समझकर अर्पित करता है, और उसके इस अल्प समर्पणसे ही मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उस भक्तने मानो मेरे लिए वैकुण्ठसे भी बढ़कर कोई निवास स्थान बनवा दिया है अथवा कौस्तुभसे भी बढ़कर निर्मल तेजवाला कोई जड़ाऊ अलंकार मुझे पहना दिया है;

उसी प्रकार उन भक्तोका यह स्वभाव ही हो जाता है कि वे भूतमात्रको देखते ही नम्र हो जाते है। अथवा जिस प्रकार फलोसे लदे हुए वृक्षकी शाखाएँ आपसे आप झुककर जमीनकी ओर आ जाती हैं, उसी प्रकार वे भूत-मात्रके सामने स्वाभाविक रूपसे नम्र हो जाते है। वे निरन्तर गर्व-रहित रहते है। वे नम्रताको ही अपना सारा वैभव समझते है और वह सारा वैभव वे जय जय मन्त्रपूर्वक मुझे अर्पित कर देते है। इस प्रकार सदा भूतमात्रके सामने नम्र होते रहनेके कारण उनकी मान और अपमानवाली भावना बिलकुल नष्ट हो जाती है और इसीलिए वे आपसे आप मद्रूप होकर निरन्तर समरस रहकर उपासना करते रहते है। हे अर्जुन; इस प्रकार मैंने तुम्हे सच्ची और महत्वपूर्ण भक्तिकी सब बाते बतला दी हैं। आप जरा उन लोगों-की भी कुछ बातें सुन लो जो ज्ञान-यज्ञके द्वारा मेरी उपासना करते है। हे अर्जुन, भजन करनेका कौशल तो तुम जानते ही हो, क्योकि यह विषय मैं तुम्हे एक बार पहले बतला चुका हूँ।" श्रीकृष्णकी ये सब बातें सुनकर अर्जुनने कहा—"हाँ महाराज, भक्ति और भजनकी सब बाते मैं सुन चुका हूँ। इस सौभाग्यका प्रसाद मुझे एक बार प्राप्त हो चुका है। तो भी यदि अमृत बार बार परोसा जाय तो क्या कभी कोई यह कह सकता है कि—'बस, अब और नही चाहिए।" अर्जुनकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णने समझ लिया कि अब इसे इस विषयका चस्का पड गया है और ज्ञान-सुखसे इसका अन्तरग डोलने लग गया है। अत. श्रीकृष्णने कहा—"वाह वाह ! अर्जुन, तुमने यह बहुत अच्छी बात कही। और नही तो यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो इस विषयके विवेचनका यह कोई उचित प्रसंग नही था। परन्तु मेरे अन्त करणमें तुम्हारे लिए जो स्नेहपूर्ण आदर रहता है, वही मुझे बोलनेमे प्रवृत्त करता है।" यह सुनकर अर्जुनने कहा—"महाराज, आप यह कैसी बाते कहते हैं। यदि चकोर न हो तो क्या चाँदनी नही छिटकती ? क्या चाँदनीका यह सहज स्वभाव नही है कि संसारके तापका निवारण करे ? जिस प्रकार चकोर पक्षी अपने अनुराग-के कारण चोंच खोलकर चन्द्रमाकी ओर देखता है, उसी प्रकार मैं भी आपसे थोडी-सी प्रार्थना करता हूँ। परन्तु महाराज, आप तो कृपाके प्रत्यक्ष सागर ही है। मेघ अपनी सामर्थ्यसे ही संसारकी इच्छा पूरी करता है, और नही तो यदि मेघसे होने-वाली वर्षाका विचार किया जाय तो उसके सामने चातककी प्यास कितनी अल्प ठहरती है ! परन्तु जिस प्रकार चुल्लू भर पानीके लिए भी गंगा नदीके तटपर जाने-की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मेरी माँग चाहे थोडी हो और चाहे बहुत, परन्तु हे महाराज, आप सब बाते विस्तारपूर्वक कहे।" अर्जुनकी यह बात सुनकर भगवानने कहा—"अच्छा, अब इन बातोको जाने दो। मुझे जो सन्तोष हुआ है, उसके कारण अब तुम्हारे मुखसे निकली हुई स्तुति सहन करनेके लिए अवकाश ही नही रह गया। तुम सचमुच मेरी बाते सच्चे भावसे सुन रहे हो, और यही बात मेरे वक्तृत्वके लिए उत्साह-वर्द्धक हो रही है।" इस प्रकारकी प्रस्तावनाके उपरान्त श्रीकृष्णने आगे यो कहना आरम्भ किया—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अथवा क्षीर-सागरसे भी बढकर सुखदायक दूधके असंख्य नवीन शयन-स्थल मेरे लिए बनवा दिये है, अथवा कपूर, चन्दन और कृष्ण अगर इन तीनो वस्तुओका सुगन्धिमय, बहुत ऊँचा मेरु पर्वत मेरे उपभोगके लिए उत्पन्न कर दिया है, अथवा मेरी दीप-मालामे एक दूसरा सूर्य ही लाकर लगा दिया है; अथवा उसने गरुड़ सरीखे वाहन अथवा प्रत्यक्ष कल्पवृक्षोके उपवन अथवा कामधेनुके झुण्ड ही मुझे अर्पित किये हैं, अथवा अमृतसे भी बढकर स्वादिष्ट नाना प्रकारके दिव्य पक्वान्न उसने मेरे सामने रखे हैं। जिस समय मेरा भक्त मुझे पानीकी एक बूँद भी देता है, उस समय मुझे इतना ही अपरम्पार सन्तोष तथा आनन्द होता है। हे अर्जुन, यह कुछ आवश्यक नही है कि मैं तुम्हे ये सब बाते बतलाऊँ ही, क्योकि तुम तो प्रत्यक्ष ही यह बात देख चुके हो कि भक्तिपूर्वक लाये हुए तीन मुट्ठी चावलोके लिए मैंने सुदामाके फटे हुए दुपट्टेकी गाँठे अपने हाथसे खोली है। मैं तो केवल भक्ति ही देखता हूँ; और जहाँ भक्ति होती है, वहाँ मैं छोटे और बडेके भेद-भावकी कभी कल्पना भी नही करता। चाहे कोई हो और चाहे जिस प्रकारका मेरा आतिथ्य करे, परन्तु यदि मुझे उसमे सच्चा भाव दिखलाई पडता है तो मैं तुरन्त ही प्रेमपूर्वक उसका स्वीकार करता हूँ। यदि सच पूछो तो पत्र पुष्प और फल आदि सामान्य वस्तुएँ तो भक्ति प्रदर्शित करनेका साधन मात्र है। मुझे वास्तवमे इन निमित्तो और साधनोसे कोई मतलब नही होता। मेरा मुख्य आधार तो भक्तितत्व ही है। इसलिए, हे अर्जुन, इस योगके साधनकी मैं एक सहज युक्ति तुम्हे बतलाता हूँ, सुनो। यदि तुम भक्ति-तत्वकी साधना करना चाहते हो तो अपने मनसे कभी मुझे विस्मृत मत होने दो—सदा मेरा स्मरण रखो।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

"तुम जो कर्म करो, जिन विषयोका भोग करो, जिन यज्ञोका सम्पादन करो, जो कुछ दान करो अथवा नौकर-चाकरोके निर्वाहकी जो व्यवस्था करो, अथवा ताप और व्रत आदिका आचरण करो, तात्पर्य यह कि सब प्रकारकी क्रियाएँ ज्यो-ज्यो तुम्हारे हाथोसे होती जायँ, त्यो-त्यो वे सब मेरे ही उद्देश्यसे समर्पित करते चलो। परन्तु हाँ, ऐसा करते समय उसमे अहकारका लेश भी नही होना चाहिए। इस प्रकार अहकारका दोष धो डालना चाहिए और सब कर्मोको अहकार-दोपसे निर्मल रखकर मुझे अर्पित करना चाहिए।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

"जिस प्रकार अग्नि-कुडमे भूना हुआ बीज कभी अकुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार मुझे अर्पित किये हुए कर्मोका कभी कोई फल नहीं हो सकता। अर्थात् जो कर्म मुझे अर्पित किये जाते हैं, उनके फलके बन्धनमे कर्त्ता कभी नही पडता—वे कर्म उसके लिए कभी बाधक नही हो सकते। हे अर्जुन, जब कर्म अवशिष्ट रहते है, तभी उनके फल भी उत्पन्न होते है, और उन फलोका भोग करनेके लिए जीवको किसी न किसी शरीरका आश्रय लेना पडता है। परन्तु यदि वे समस्त कर्म पूरी तरहसे मुझे अर्पित

"अब मैं यह बतलाता हूँ कि ज्ञान-यज्ञका सम्पादन किस प्रकार होता है। पर-ब्रह्ममें जो "अहं बहुस्याम् प्रजायेय" वाला मूल संकल्प उत्पन्न होता है, वह इस यज्ञ-का यज्ञ-स्तम्भ है। महाभूत यज्ञ मंडप है और द्वैत यज्ञ-पशु है। फिर पंचमहाभूतोके जो विशिष्ट गुण अथवा इन्द्रियाँ और प्राण है, वही इस ज्ञान-यज्ञके उपचार-विधानकी सामग्री है। और अज्ञान इस यज्ञमें आहुति देनेका घृत है। इस ज्ञान-यज्ञमें मन और बुद्धिके कुण्डोमे ज्ञानकी अग्नि धधकती रहती है; और हे सखा अर्जुन, साम्य भावना-को ही इस ज्ञान-यज्ञकी वेदी समझना चाहिए। विवेक बुद्धिकी कुशलता ही मन्त्र-विद्याकी शक्ति है, शान्ति इसका यज्ञ-पात्र है और जीव इसका यज्ञ-कर्त्ता यजमान है। यही यजमान जीव ब्रह्मानुभवके पात्रमेसे विवेकरूपी महामन्त्रका घोष करता हुआ ज्ञानाग्निके होममे द्वैतकी आहुत देता है। जब अज्ञानका नाश हो जाता है, तब यज्ञ-कर्त्ता और यज्ञ-विधि दोनोका अन्त हो जाता है। फिर जिस समय आत्मैक्यके जलमें जीव यज्ञ-समाप्तिका अवभृथ स्नान करता है, उस समय भूतों, विषयो और इन्द्रियों-का विभेद भासमान नही होता। आत्मैक्य बुद्धिके पूर्ण रूपसे प्रतिबिम्बित हो जानेके कारण सब एक ब्रह्म-रूप ही हो जाते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार नीदसे जागा हुआ मनुष्य कहता है—'सोये रहनेकी अवस्थामे जो स्वप्न मैंने देखा था, उसकी अद्भुत सेना मैं ही बना हुआ था। परन्तु अब मैं जग गया हूँ। वह स्वप्नकी सेना केवल भ्रमजात थी। वह सब कुछ मैं ही था और अब भी मैं ही हूँ।" उसी प्रकार ज्ञान-यज्ञ करनेवालीकी समझमें यह तत्त्व आ जाता है कि यह सारा विश्व एक अभिन्न ब्रह्म-रूप ही है। इससे उसका जीव-भाव ही नष्ट हो जाता है। वह परमात्म-बोधसे ओत-प्रोत भर जाता है और ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेता है। बस कुछ लोग इसी एक भावसे ज्ञान-यज्ञके द्वारा मेरा भजन करते हैं। कुछ ऐसे भक्त भी होते है जो यह मानते है कि यह विश्व अनादि है। और इस विश्वमे होते तो सब एक दूसरेके समान ही हैं, परन्तु नाम और रूप आदिके कारण वे भिन्न-भिन्न जान पडते है। इसी लिए इस विश्वमे भेद-भाव भासमान होता है, परन्तु फिर भी भेद-भावके कारण उनके ज्ञानमे भेद नही होता। जिस प्रकार अवयव भिन्न भिन्न होने पर भी वे वास्तवमें एक ही देहके होते हैं अथवा शाखाएँ छोटी बड़ी होने पर भी जिस प्रकार वे एक ही वृक्षकी होती है अथवा किरणें असंख्य होने पर भी वे सब एक ही सूर्य की होती है, उसी प्रकार उनके लिए तरह तरहकी रूपात्मक वस्तुएँ, उनके भिन्न भिन्न नाम, उनके भिन्न भिन्न व्यापार और उन सबसे संबंध रखनेवाले भेद भौतिक विश्व भरके लिए ही होते है, और वे भक्त यह भी जानते हैं कि मैं पूर्ण रूपसे भेद-भावसे रहित हूँ। हे अर्जुन, जो लोग इस भिन्न प्रकारसे अपने ब्रह्म-स्वरूपके ज्ञानको भेद-भावका स्पर्श नही होने देते, वे ही ठीक तरहसे ज्ञान-यज्ञ करते है। कारण यह है कि जिस समय और जिस स्थान पर उन्हे जो कुछ दिखाई देता है, उसके सम्बन्धमें पहलेसे ही उनका यह ज्ञान रहता है कि वह मुझ परब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। देखो, जो बुलबुला बनता है; वह जल-रूप ही होता है। अब चाहे वह फूट जाय और चाहे रहे; पर उसके सम्बन्ध मे जो कुछ होता है, वह जलसे ही होता है। हवाके धूलके कण भले ही इधर-उधर उड़ने लगें, परन्तु फिर भी उनका पृथ्वी-भाव कभी नष्ट

कर दिये जायँ, तो उसी समय जन्म और मरणका सारा आधार ही नष्ट हो जाता है। हे अर्जुन, यह कहनेका कि—"आज ही कौन सी जल्दी है! कल देखा जायगा।" और इस प्रकार आजका काम कल पर टालनेका समय नही है; इसी लिए आत्म-स्वरूप प्राप्त करनेका सबसे सहज उपाय फल-संन्यास-युक्त कर्म-योग है और उसका मैंने तुम्हे उपदेश कर दिया है। तुम इस शरीरके बन्धनमे मत रहो और सुख-दुखके समुद्रमें गोते मत खाओ। और सहजमे इस सुगम मार्गसे चलकर प्रसन्नतापूर्वक मेरे आनन्दमय स्वरूपमे मिलकर रहो।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

"सम्भव है कि तुम यह प्रश्न करो कि—"वह मैं कैसा हूँ?" तो उसका उत्तर यह है कि मैं समस्त भूतोमे सम भावसे रहता हूँ। मुझमे अपने और परायेका तिल मात्र भी भेद भाव नही है। जो जीव मेरा शाश्वत सत्य स्वरूप पहचान लेते है, अहंकारका नाम-निशान भी मिटा देते है, समस्त भावो और समस्त कर्मोके द्वारा मेरा ही भजन करते है, अर्थात् अपना जीवन और समस्त कर्म मुझे अर्पित कर देते है, वे चाहे शरीरमे भी रहे, परन्तु वास्तवमें वे शरीरमे नही होते, बल्कि वे पूर्ण रूपसे मेरे स्वरूपमे ही रहते हैं और मैं भी उन्हीमे निवास करता हूँ। इतना बड़ा वट-वृक्ष अपने सम्पूर्ण विस्तारके साथ एक छोटे-से बीजमे लीन स्थितिमें रहता है; और वह बीज उसी वट वृक्षमे रहता है। इसी प्रकार मुझमे और ऐसे भक्तोमे केवल बाहरी और नाम मात्र का अन्तर रहता है, परन्तु यदि अन्दरकी वस्तुस्थितिका विचार किया जाय तो जो कुछ मैं हूँ, वही मेरे भक्त भी है और हम दोनोमें कोई भेद नही होता। जिस प्रकार किसी दूसरेसे मँगनी माँगकर लाया हुआ गहना यदि अपने शरीर पर पहन लिया जाय तो भी उसके सम्बन्धमे किसीका यह भाव नही होता कि यह गहना मेरा है, उसी प्रकार मेरे भक्त यद्यपि देह धारण करते है; परन्तु फिर भी वे कभी उसे अपना नही समझते। फूलकी सुगन्ध हवाके साथ मिलकर आगे निकल जाती है और पीछे जो खाली फूल रह जाता है, वह तब तक डठलके साथ लगा रहता है, जब तक मुरझाकर गिर नही जाता। इसी प्रकार वह भक्त भी, जिसके मनसे अपनेपनका विचार निकल जाता है, अन्त काल तक किसी प्रकार अपनी आयुष्य धारण किये रहता है। हे अर्जुन, जो अपने कर्तृत्वके अभिमानका मुझपर आरोप कर देता है, उसका अभिमान मुझमे ही आ जाता है, और फिर वह अभिमान मेरे भक्तके लिए किसी प्रकार बन्धक या बाधक नही हो सकता।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

"जो लोग इस प्रकार निर्मल प्रेम-भावसे मेरा भजन करते है, उनका शरीर कुछ भी बाधा नही करता, फिर चाहे वे लोग किसी जातिके हो, इसमें कुछ भी हर्ज नही है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, यदि आचरणके विचारसे ऐसा मनुष्य दुराचारी भी हो, तो भी यह नही भूलना चाहिए कि जीवनके अन्तमे शरीर-पात होनेके समय वह भक्तिके चबूतरे पर आरोहण कर चुका होता है। अन्त समयमे जैसी बुद्धि होती है, उसीके

नही होता। और जब वे गिरते हैं, तब पृथ्वी पर ही गिरते है। इसी प्रकार चाहे कोई नाम-रूपात्मक वस्तु क्यों न हो, फिर चाहे वह बनी रहे और चाहे नष्ट हो जाय, पर वह निरन्तर ब्रह्म-रूप ही रहती है। मैं जिस प्रकार सर्व-व्यापक हूँ उसी प्रकार उनका ब्रह्मानुभव भी सर्वव्यापक होता है। इस प्रकार वे लोग यह ज्ञान रखकर सब प्रकारके व्यवहार करते हैं कि नाना-विध विश्व एक-विध ब्रह्म ही है। हे अर्जुन, जिस प्रकार इस सूर्य बिम्बको जो देखना चाहता है, यह उसके सामने ही रहता है, उसी प्रकार इस विश्वको अपने ब्रह्म-बोधसे व्याप्त रखनेके कारण वे भी सबको अपने सामने ही दिखाई देते हैं। हे पार्थ, उनके ज्ञानमे नामको भी भेद-भाव नही होता। जिस प्रकार गगनमे वायु सब स्थानो पर समान भावसे और पूरी तरहसे भरी रहती है, उसी प्रकार उनका ज्ञान भी सारे विश्वको सम भावसे व्याप्त रखता है। जितनी अधिक मेरी व्याप्ति है, उतनी ही उनके ब्रह्म-बोधकी भी व्याप्ति रहती है, और इसी लिए चाहे वे उपासना सम्बन्धी एक भी काम न करें, परन्तु फिर भी उनके द्वारा मेरी आपसे आप उपासना हो जाती है। यो तो सब जगह एक मैं ही हूँ, फिर भला मेरी उपासना किससे और कब नही होती? (अर्थात् सब लोग आपसे आप निरन्तर किसी न किसी रूपमे मेरी उपासना करते ही रहते है।) परन्तु उन सब लोगोको वह सर्वव्यापक ज्ञान नही होता, इसलिए जीव अप्राप्त स्थितिमे रहते है—वे मेरे यथार्थ स्वरूपको प्राप्त नही होते। परन्तु अब इस विषयका विशेष विस्तार करनेकी आवश्यकता नही। मैंने तुम्हे यह बतला दिया है कि इस प्रकारके योग्य-यज्ञके द्वारा मेरी उपासना किस तरह की जाती है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियोके द्वारा और भिन्न-भिन्न साधनोसे जिन जिन कर्मो का आचरण होता है, वे सब अन्तमे मुझे ही अर्पित होते हैं। परन्तु मूढ जनोको इस रहस्यका पता नही होता; और इसी लिए वे मेरा शुद्ध स्वरूप प्राप्त नही करते।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

"परन्तु जब उस शुद्ध ब्रह्म-ज्ञानका उदय हो जाता है, तब इस बातका ज्ञान हो जाता है कि वेद भी मैं ही हूँ और वेदोमे बतलाई हुई अनुष्ठा-विधिसे जो क्रतु या यज्ञ किये जाते है, वह भी मैं ही हूँ। फिर उन क्रतु कर्मोंसे जो यथा स्थित यज्ञ होते है वे सब अंगों और उपांगोके सहित यज्ञ भी मैं ही हूँ। स्वाहा, स्वधा, सोम आदि औषधियाँ, वल्ली, घृत, समिधा, मन्त्र आहुति, द्रव्य, होता, अग्नि और हवन की हुई वस्तुएँ आदि जो यज्ञमे काम आती है, वे सब भी मैं ही हूँ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥

"जिसके सहवाससे आठ प्रकार की प्रकृति (माया) से यह नाम-रूपात्मक संसार उत्पन्न होता है, उस ससारका पिता भी मैं ही हूँ। अर्द्ध-नारी-नटीश्वरकी मूर्तिमेका जो पुरुष होता है, वही नारी भी होता है, और इसी प्रकार इस चराचर विश्व की माता भी मैं ही हूँ। फिर उत्पन्न होनेवाला संसार जिसके आधार पर बना रहता

अनुसार आगेकी गतिका स्वरूप भी निश्चित होता हैं। इसी लिए जो अन्त समय में अपना जीवन भक्तिके हाथमें सौप देता है, वह पहले चाहे दुराचारी भी रहा हो, परन्तु अब वह अपनी भक्तिकी पावन सामर्थ्यसे सर्वश्रेष्ठ गिना जाना चाहिए। एक बार मनुष्य यदि किसी बडी बाढमें डूब जाय, परन्तु उसमेसे जीवित ही बाहर निकल आवे, तब उसका पहलेका डूबना जिस प्रकार निरर्थक हो जाता है, उसी प्रकार यदि अन्त समयमें मनुष्य भक्ति ग्रहण कर ले, तो उसके पहलेके आचरित समस्त पाप धुल जाते हैं। इसलिए यदि कोई पुरुष किसी समय दुराचारी भी रहा हो, परन्तु यदि वह पश्चात्तापके तीर्थमे अच्छी तरह स्नान करके शुद्ध हृदयसे मेरे स्वरूपमे प्रविष्ट हो तो उसका कुल पवित्र ही समझना चाहिए और यह मान लेना चाहिए कि उसकी कुलीनता सचमुच निर्दोष है और सचमुच उसने अपना जन्म सार्थक कर लिया है। फिर उसके लिए ऐसा हो जाता है कि मानो उसने विद्या, तप, अष्टाग योग आदि सबका संग्रह कर लिया हो। हे अर्जुन, अब इस विषयके विशेष विस्तारकी आवश्यकता नही। तात्पर्य यही है कि जिसके मनमें मेरा अखड अनुराग उत्पन्न हो जाता है, वह पूर्ण रूपसे समस्त कर्मोसे पार हो जाता है। जो अपने मन और बुद्धिकी समस्त क्रियाएँ एकनिष्ठाके सन्दूकमे भरकर वह सन्दूक पूर्ण रूपसे मेरे अधीन कर देता है, वह इसी प्रकार कर्मातीत हो जाता है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

"यदि तुम्हारे मनमे यह विचार उत्पन्न हुआ हो कि—"मेरा भक्त कुछ कालके उपरान्त अर्थात् मृत्युके अनन्तर मेरे समान होगा।" तो मैं तुमसे पूछता हूँ कि जो स्वय अमृतमे ही निवास करता हो, उसका मरण ही कैसे हो सकता है? जिस समय सूर्य आकाशमे उगा हुआ नही रहता, उस समयको रात कहते हैं। इसी प्रकार जो कर्म बिना मेरी भक्तिके किये जायँ, क्या उन्हे महापाप ही नही कहना चाहिए? इसलिए, हे अर्जुन, जिस समय उसकी चित्त-वृत्ति मेरे पास आती है, उसी समय वह पूर्ण रूपसे मेरा स्वरूप प्राप्त कर लेता है। यदि किसी एक जलते हुए दीपकसे एक और दूसरा दीपक भी जला लिया जाय तो यह नही कहा जा सकता कि इनमेसे पहलेसे जलनेवाला दीपक कौन सा है और बादमे कौन सा दीपक जलाया गया है। इसी प्रकार जो जीव पूरी तरहसे मेरी भक्ति करता है, वह तत्काल ही मद्रूप हो जाता है। फिर मेरी जो अक्षय शान्त वृत्ति है, वही उसे प्राप्त हो जाती है, जिससे उसकी तेजस्विता बढ जाती है; बल्कि यो कहना चाहिए कि वह मेरे जीवनसे ही जीवित रहता है। हे अर्जुन, इस विषयमे अब कहाँ तक चर्वित-चर्वण किया जाय। मुख्य तत्व यही है कि यदि किसीको मेरी प्राप्तिकी इच्छा हो तो, उसे पूर्ण रूपसे मेरी भक्ति करना नही भूलना चाहिए। वंशकी शुद्धताके महत्वकी ओर ध्यान मत दो, कुलीनताका प्रशंसापूर्ण बखान मत करो और ज्ञानका मिथ्या अभिमान छोड दो। रूप-लावण्य अथवा यौवन-बलसे मत्त मत हो और धन-सम्पन्नताकी अहताका गर्जन मत करो; क्योकि यदि एक मेरी भक्ति न हो तो ये सभी बाते निष्फल हो जाती हैं। यदि पौधेमे अनाजकी बालें तो बहुत लगी हों, परन्तु उन बालोमे दाने बिलकुल न

और वढ़ता है, वह आधार भी मेरे सिवा और कोई नहीं है। यह प्रकृति अथवा शिव-शक्तिकी जोड़ी जिसके सहज संकल्पसे अस्तित्वमे आई है, वह त्रिभुवनका पिता भी मैं ही हूँ और हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, समस्त भिन्न भिन्न ज्ञान-मार्ग अन्तमे जिस एक चौमुहानी पर आकर मिलते हैं, जिसका नाम "वेद्य" अर्थात् जाननेकी वस्तु है जहाँ नाना मत एक-मत हो जाते है, जहाँ भिन्न भिन्न शास्त्र आपसमे एक दूसरेको पहचान लेते हैं और जहाँ उनका भेद-भाव नष्ट हो जाता है, जहाँ एक दूसरेसे अलग रहनेवाले ज्ञान-मार्गोंका मेल होता है, जिसे "पवित्र" कहते है और आदि संकल्प रूपी ब्रह्म-वीजसे अंकुरित नाद-स्वरूप घोष ध्वनिमय अंकुरका मूल स्थान जो ओंकार है, वह भी मैं ही हूँ। उस ओकारके पेटमें रहनेवाले जो अ, उ और म ये तीनों अक्षर वेदोंके साथ उत्पन्न हुए है, वे अक्षर भी मै ही हूँ। ऋक्, यजुस् और साम ये तीनो वेद भी मैं ही हूँ। इस प्रकार समस्त साहित्यकी परम्परा मैं ही हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

"यह सारा चराचर विश्व जिस प्रकृतिमें समाया हुआ है, वह प्रकृति (माया) थक जाने पर जिसमे विश्राम करती है, वह परम धाम भी मैं ही हूँ। जिसके कारण प्रकृति मे जीवन आता है और जिसका स्वीकार करनेसे वह इस विश्वको प्रसव करती है और जो इस प्रकृतिका सहवास करके गुणोंका उपभोग करता है, हे अर्जुन, वह इस विश्व-लक्ष्मीका नाथ भी मैं ही हूँ। इस समस्त त्रिभुवनका मैं ही शास्ता हूँ। आकाश जो अशेष स्थलको व्याप्त करता है, वायु जो क्षण-मात्र भी निश्चल नहीं रहती, अग्नि जो जलती है, पानी जो वरसता है, पर्वत जो अचल रहते है, समुद्र जो अपनी मर्यादा उल्लंघन नहीं करता, पृथ्वी जो भूत-मात्रका भार सहन करती है, वह सब मेरी ही आज्ञा से। यदि मैं वोलूँ, तभी वेद भी वोलते है। मै चलाऊँ, तभी सूर्य भी चलता है। मैंने गति दी है, इसी लिए संसारको चलानेवाले प्राण भी चलते रहते हैं। मैंने जो नियम वना दिये हैं, उन्हीके आधार पर यम भी भूतोका संहार करता है। जिसके कहनेसे ये सव काम होते हैं और जो जगत्का सामर्थ्यवान् प्रभु है, वह भी मैं ही हूँ। और गगनकी तरह कुछ भी न करके जो तटस्थ रहनेवाला है, वह भी मैं ही हूँ। हे अर्जुन, जो इन समस्त नाम-रूपोमे भरा हुआ है और जो इन समस्त नाम-रूपोका मूल आधार है, जो इस समस्त भौतिक सृष्टिका उसी प्रकार आधार होकर रहता है, जिस प्रकार जलकी तरगो का आधार जल ही होता है, वह आधार भी मैं ही हूँ। जो एकनिष्ठ होकर मेरी शरणमे आता है, उसके जन्म-मरणका भी मैं ही अन्त करता हूँ; इसलिए शरणागतोका शरण्य (अर्थात् जिसकी शरणमें जाना उचित हो) वह भी मैं ही हूँ। मैं ही अनेकत्व धारण करके प्रकृतिके भिन्न भिन्न गुणोके द्वारा संसारके प्राण रूपसे कर्म करता हूँ। सूर्य कभी इस वातका भेद-भाव नहीं करता कि यह समुद्र है और यह कीचडसे भरा हुआ गड्ढा है। वह समस्त जलाशयों पर समान रूपमे प्रतिविम्ब होता है। इसी प्रकार ब्रह्मासे लेकर कीड़े-मकोड़े तक समस्त भूतोमे समान भाव और सख्य रूपसे रहनेवाला भी मैं

हों, अथवा नगर तो वहुत वड़ा हो, पर वह विलकुल उजाड़ और वीरान पड़ा हो, तो उसका क्या महत्व है ? जैसे हो तो सरोवर, परन्तु सूखा पड़ा हो अथवा जंगलमे किसी दीनकी किसी दूसरे दीनके साथ भेट हो अथवा वृक्ष तो हो, परन्तु वन्ध्या फूलोसे लदा हो, बस इसी प्रकार सारा वैभव, कुलका सारा महत्व अथवा जातिका महत्व भी समझना चाहिए। यदि शरीरके सव अंग तो ज्योके त्यो वर्त्तमान हों, परंतु वह निर्जीव हो तो उस अवस्थामे वह शरीर बिलकुल निरुपयोगी होगा। ठीक इसी प्रकार जिस प्राणीमे मेरी भक्ति न हो, वह धिक्कारका ही पात्र होता है। क्योंकि इस प्रकार जीवित रहनेवाले मनुष्यो और पृथ्वी-तल पर पडे हुए पत्थरोमे अन्तर ही क्या है ? जिस प्रकार कँटीले थूहड़ वृक्षकी छाया बुद्धिमान् लोग जान-बूझकर बचा जाते है और उसकी छायामे नही बैठते, उसी प्रकार पुण्य भी अ-भक्तको बचा जाते हैं—उसके पास नही जाते। नीमका पेड चाहे निंबौरीसे भरकर बिलकुल झुक ही क्यो न जाय, पर फिर भी उस पर केवल कौवे ही आनन्द करते है। इसी प्रकार भक्ति-हीन पुरुष चाहे वहुत अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली क्यो न हो जाय, परन्तु फिर भी वह केवल दोषोका ही विस्तार करता है। यदि षट्रस भोजन किसी ठीकरेमें परोसकर चौराहे पर रख दिया जाय तो उससे कुत्तोका खौरा रोग ही बढता है (अर्थात् उसे खाकर कुत्ते खौरहे हो जाते है)। इसी प्रकार भक्ति-हीन पुरुषका जीवन भी होता है। उससे स्वप्नमे भी पुण्य-कृत्य नही होते। वह जीवन ऐसी थालीके समान होता है जिसमे संसारके दुःख रुपी पक्वान्न परोसे हुए होते हैं। इसलिए चाहे उत्तम कुल न हो, चाहे अन्त्यजकी ही जाति हो, यहाँ तक कि यदि पशुका भी शरीर हो, तो भी हर्ज नही है। हे अर्जुन, देखो जब ग्राहने गजेन्द्रको पकड लिया था, तब गजेन्द्रने मुझे पुकारा था। बस भक्तिपूर्वक मेरा स्मरण करते ही वह मद्रूप हो गया और उसके पशुत्वका उसी समय अन्त हो गया।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

"हे अर्जुन, जिसके नामका उच्चारण भी निन्दनीय है, उस हीन नामवाली जातियोमे भी जो सबसे बढ़कर हीन जाति है, उस हीन जातिवाली पाप-योनिमें जिसने जन्म लिया है, उस पाप-योनिमे जन्म लेनेके सिवा जो ज्ञानके नामसे केवल पत्थर है, परन्तु फिर भी जिसमे मेरे प्रति पूरी-पूरी भक्ति है, जिसकी वाणी निरन्तर मेरे ही गीत गाती है, जिसकी दृष्टि निरन्तर मेरा ही रूप देखती है, जिसका मन निरन्तर मेरे ही सम्बन्धमे सकल्प या विचार करता है, जिसके कान मेरी कीर्तिके श्रवणसे कभी खाली नही रहते, जिसे मेरी परिचर्या ही अपने शरीरका भूषण जान पड़ती है, जिसे विषयोका कोई भान भी नही होता, जो केवल मुझे ही जानता है और इन सब बातोके न होने पर जिसे अपना जीना बिलकुल मरनेके समान जान पड़ता है; हे अर्जुन, इस प्रकार जिसने अपनी समस्त वृत्तियोसे जीवनके लिए केवल मुझे ही अपना आधार बना रखा है, फिर चाहे उसने पाप-योनिमें ही क्यों न जन्म धारण किया हो और चाहे वह विद्या-हीन ही क्यो न हो, तो भी यदि मेरे साथ उसकी तुलना की जाय तो वह मुझसे रत्ती भर भी कम न ठहरेगा। हे अर्जुन, ध्यान रखो कि इस भक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण ही दैत्योने भी देवताओ-

ही हूँ। हे अर्जुन, मैं ही इस संसारका आधार हूँ और इसकी उत्पत्ति, नाश तथा पुनरुत्पत्तिका भी मैं ही कारण हूँ। बीज ही समस्त शाखाओंको उत्पन्न करता है, पर फिर भी सारा वृक्षत्व उस बीजमे ही समाया रहता है। इसी प्रकार सारा विश्व आदि संकल्पसे ही उत्पन्न होता है और अन्तमे उसी सकल्पमे समाया रहता है। इस प्रकारका अमूर्त्त वासना रूपी जो संकल्प जगत्का बीज है, वह संकल्प कल्पान्तमे लौटकर जिसमे समाता है, वह भी मैं ही हूँ। जिस समय नाम और रूप नष्ट होते हैं, व्यक्तियोकी विशिष्टता नही रह जाति और वर्गका भेद-भाव मिट जाता है और आकार नही रह जाता, उस समयसे लेकर आदि संकल्पकी वासनाका फिरसे स्फुरण होनेके समय तक सारा चराचर जिसमे सुखपूर्वक रहता है, वह भी मै ही हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।। १९ ।।

"जब मै सूर्य रूपसे ताप उत्पन्न करता हूँ, उस समय जल सूख जाता है। फिर मैं ही इन्द्रके रूपमे वर्षा करता हूँ जिससे सब जगह फिर जल भर जाता है। अग्नि जिस समय लकडीको जलाती है, उस समय वह लकडी ही अग्नि हो जाती है। उसी प्रकार मरनेवाले भी और मारनेवाले भी दोनो मेरे ही स्वरूप होते है। इसी लिए जो लोग मृत्युके मुखमे जाते है, वे भी मेरे ही रूप है और जो अमर है, वे तो स्वभावतः मेरे रूप हैं ही। जो बात बहुत सी लम्बी-चौडी वक्तृताके द्वारा बतलाने की है, वह अब मैं तुम्हे एक ही शब्दमे बतला देता हूँ, सुनो। सत् और असत् अर्थात् अविनाशी और विनाशी सब कुछ मै ही हूँ। इसी लिए, हे अर्जुन, ऐसा कोई स्थान नही है, जहाँ मै न होऊँ। परन्तु प्राणियोका भाग्य ही ऐसा खराब है कि मै उन्हे दिखाई ही नही देता। यदि तरंगे यह कहकर सूख जायँ कि पानी नही है अथवा सूर्य की किरणे यह कहकर अन्धी हो जायँ कि दीपक नही है, तो यह कितने आश्चर्यकी बात है। इसी प्रकार यह भी एक आश्चर्यकी ही बात है कि लोग मद्रूप होते हुए भी यह कहकर भ्रान्त होते है कि मैं नही हूँ। इस समस्त विश्वके अन्दर और बाहर मै ही व्याप्त हूँ और यह सारा जगत् मेरी ही मूर्त्ति है, परन्तु इन अभागोका दुर्भाग्य बीचमे ही ऐसा बाधक होता है कि वे यह कहते हैं कि "मै नही हूँ।" यह बात भी ठीक वैसी ही है, जैसे कोई पहले तो अमृतके कूएँमे गिर पडे और तब अपने आपको उसमेसे निकालकर बाहर ले आवे और किनारे पर पहुँच जाय। फिर भला लोगोके ऐसे अभाग्यके लिए क्या किया जाय ? हे अर्जुन, जिस प्रकार कोई अन्धा कौर भर अन्नके लिए इधर-उधर मारा मारा फिरता है और अपने अन्धेपनके कारण पैरमें लगनेवाले चिन्तामणिको इधर-उधर ठुकरा देता है, उसी प्रकारकी अवस्था उन जीवोकी भी होती है जिन्हे ज्ञान नही होता। इसी लिए मनुष्यको जो कुछ करना चाहिए; वह उससे ज्ञान न होनेके कारण नही हो सकता। अन्धे गरुडको भी पख होते हैं, पर वे क़िस कामके ? इसी प्रकार ज्ञानके विना सत्कर्मका आयास व्यर्थ जाता है।

को नीचा दिखलाया है। मेरे भक्त प्रह्लादने दैत्य-कुलमें ही जन्म लिया था; परन्तु उसकी निर्मल भक्ति के कारण मुझे नृसिंह अवतार धारण करना पड़ा था। उस प्रह्लादको मेरे लिए ही वहुतसे लोगोने अनेक प्रकारके कष्ट पहुँचाये थे। इसीका यह फल हुआ कि जो कुछ मैं उसे दे सकता था; वह सव उसे पहलेसे ही प्राप्त था। नहीं तो उसका कुल विलकुल दैत्योका था। परन्तु इन्द्र भी उसकी वरावरी न कर सका। इन सव बातोका मुख्य अभिप्राय यही है कि यहाँ केवल भक्ति ही काममें आती है; जातिका कुछ भी महत्व या उपयोग नही हो सकता। यदि राजाज्ञाके अक्षर चमड़ेके किसी टुकडे पर भी अंकित कर दिये जायँ तो उस चमडेके टुकडेके वदलेमें भी सब चीजे मिल सकती है। परन्तु यदि राजाज्ञाके अक्षरोका ठप्पा न हो तो सोने रूपेके टुकडोको भी कोई हाथमे नही लेता। अत. यह सिद्ध हुआ कि सारा महत्व राजाज्ञा का ही है। और यदि कोई ऐसा चर्म-खण्ड मिल जाय जिस पर राजाज्ञाके अक्षर अंकित हो, तो उसकी सहायतासे हम जो वस्तु चाहे, वह मोल ले सकते है। इसी प्रकार जव मेरे प्रेमसे मन और वुद्धि पूरी तरहसे भर जाती है, तभी महत्ता और सर्वज्ञता भी उपयोगी हो सकती है। इसी लिए कुल और जाति आदि सव व्यर्थंकी वाते है। हे अर्जुन, वास्तविक धन्यता तो मेरी सच्ची भक्तिमे ही है। फिर वह भक्ति-भाव चाहे जिस प्रकारका हो, एक वार जव उस भक्ति-भाव से भरा हुआ मन मुझमे प्रविष्ट हो जाता है, तव उससे पहलेके समस्त चरित्र पूर्ण रूपसे मिट जाते हैं। नाले आदि तभी तक नाले कहलाते है; जव तक वे गंगामे मिल नही जाते; परन्तु एक वार गगा जलमे मिल जाने पर जिस प्रकार वे गंगा का रूप ही हो जाते है अथवा जिस प्रकार लकडियोके चन्दन, खैर आदि वर्ग तभी तक रहते हैं, जव तक वे आगमे पडकर उसके साथ एक-रूप नही हो जाते, उसी प्रकार जबतक कोई मेरे स्वरूपके साथ मिलकर सम-रस नही हो जाता, तभी तक वह क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र अन्त्यज आदिके रूपमे भासमान होता है। परन्तु जिस प्रकार समुद्रमे डाला हुआ नमकका डला उसीमे लीन हो जाता है, उसी प्रकार मेरे साथ समरस होते ही जाति-भेदवाले भासका पूर्ण रूपसे लोप हो जाता है। भिन्न भिन्न नदो और नदियोकी कल्पना तभी तक रहती है, जव तक वे जाकर समुदमे मिल नही जाती; और तभी तक उनके सम्वन्धमे यह भेद भी किया जा सकता है कि अमुक नदीका प्रवाह पश्चिम ओर है और अमुक नदीका प्रवाह पूर्वकी ओर है। इसलिए कहना यही है कि चाहे जिस निमित्तसे हो, एक वार चित्तका प्रवेश मेरे स्वरूपमे हो जाना चाहिए; वस फिर वह मनुष्य आपसे आप मद्रूप हो जाता है। चाहे पारसको तोडनेके ही उद्देश्यसे क्यो न हो परन्तु एक वार लोहेका पारसके साथ स्पर्श हो जाना चाहिए, वस फिर काम हो जाता है, क्योकि पारसके साथ छूते ही वह भी सोना हो जायगा। हे अर्जुन, देखो, जव प्रेमके निमित्त गोपियो का अन्तरग मेरे रंगमे रँगा गया, तव वे तुरन्त ही मद्रूप हो गईं या नही? इसी प्रकार भयके निमित्तसे कस, निरंतर शत्रुता करनेके कारण शिशुपाल आदि शत्रु, सगोत्र और सम्वन्धी होनेके कारण यादव, और ममताके निमित्तसे वसुदेव आदि क्या मेरे साथ मिलकर एक-रूपता नही प्राप्त कर चुके हैं? जिस नारद, ध्रुव, अक्रूर, शुक और सनत्कुमार आदि के लिए मैं भक्तिके गुणसे साध्य हो

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

"हे अर्जुन, ध्यान रखो, जो लोग आश्रम-धर्मके अनुसार स्वयं ही सदाचारकी कसौटी बन जाते हैं, जिनकी यज्ञ-क्रिया देखकर तीनो वेद भी सन्तोषसे सिर हिलाते हैं, और जिनके सामने यज्ञ-क्रियाका फल मूर्त्तिमान होकर खड़ा रहता है, उन सोमपान करनेवाले यज्ञ-कर्त्ताओके सम्बन्धमे जो स्वयं ही यज्ञ-रूप होते है, तुम यही समझ लो कि उन्होने पुण्यके जन्मसे पापोका ही संचय किया है, क्योकि वे लोग तीनो वेदोका पठन करके और सैकडो यज्ञ करके उस मुझको भूल जाते हैं जिसको समस्त यज्ञ पहुँचते है, और मुझे भूलकर वे लोग स्वर्गको स्वीकार करते है। जिस प्रकार कोई अभागा पुरुष कल्पवृक्षके नीचे बैठकर अपनी झोलीमे गाँठ लगावे और तब उठकर भीख माँगनेके लिए इधर-उधर भटकता फिरे, उसी प्रकार जब ये लोग भी सैकडों यज्ञोके द्वारा मेरी ही उपासना करके अन्तमे स्वर्ग-सुखकी कामना करते है, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उनके कर्म वास्तवमें पुण्य ही है; पाप नही हैं? इसी लिए मुझे छोडकर स्वर्गका संग्रह करना अज्ञानका पुण्य-मार्ग है, परन्तु ज्ञानी लोग इससे केवल उपद्रव अर्थात् कल्याणकी हानि ही समझते हैं। यदि सच पूछो तो नरकके दु.ख देखकर ही लोग स्वर्गको सुख समझते हैं। परन्तु वास्तवमें केवल मेरा स्वरूप ही ऐसा है जो दोष-रहित और अविनाशी सुख है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, मेरे पास तक पहुँचनेमे जो दो टेढे-तिरछे और बाधक मार्ग है, वे यही हैं। स्वर्ग और नरक तो चोरोके मार्ग है। नियम यह है कि पुण्य मिश्रित पापसे लोग स्वर्ग प्राप्त करते है, शुद्ध पाप करनेसे नरकमे जाते है और शुद्ध तथा निर्दोष पुण्य करके मुझे प्राप्त नही कर सकते, उसी कर्मको पुण्य कहनेवाली जीभके क्या सैकड़ों हजारो टुकडे नही हो जायेंगे? परन्तु ये दूसरे विषयकी बाते है और अब इन्हे जाने दो। अब अपने विषयको लो। इस प्रकार ये यज्ञकर्त्ता यज्ञके द्वारा मेरी उपासना करके स्वर्ग-भोगकी याचना करते है। और फिर अपने उस पाप रूपी पुण्यकी सामर्थ्य से, जिससे कभी मेरी प्राप्ति नही हो सकती, वे लोग स्वर्ग-लोक प्राप्त करते है। उस स्वर्गमे एक अमरत्व ही सिंहासन है। वहाँ बैठनेके लिए ऐरावत और रहनेके लिए राजधानी अमरावती है। वहाँ महासिद्धियोके संग्रह, अमृतके भाण्डार और कामधेनुके झुण्ड हैं। वहाँ सेवाके लिऐ सदा देवता प्रस्तुत रहते है, जमीन पर चिन्तामणिके फर्श बने हैं और क्रीडाके लिए चारो ओर कल्पतरुके उपवन हैं। वहाँ गन्धर्व गान करते हैं, रम्भा सरीखी अप्सराएँ नाचती है और उर्वशी आदि विलासिनी स्त्रियाँ प्राप्त होती है। वहाँ शयनागारमे स्वयं मदन सेवा करता है, चन्द्रमा आँगनमे छिडकाव करता है वायु सरीखे नौकर-चाकर बराबर इधर-उधर दौड़-दौडकर सब काम करते रहते है। वहाँ ऐसे स्वस्ति-वाचन करनेवाले ब्राह्मण होते है जिनमे स्वयं बृहस्पति मुख्य है, और भाटोका काम करनेके लिए जितने चाहिए, उतने देवता मिल जाते है। वहाँ सरदारोंकी तरह पंक्तिबद्ध होकर खड़े रहनेवाले लोकपाल होते है और उच्चैश्रवा

गया, उसी प्रकार, हे अर्जुन, मैं काम-भावनासे गोपियोंको, भय और भ्रान्तिसे कंसको और शिशुपाल आदि दूसरे अनेक लोगोको उनकी दुष्ट और नष्ट मनोवृतियोके कारण ही प्राप्त हो गया। मैं सबका अन्तिम ध्येय हूँ, फिर चाहे लोग मेरे पास भक्तिसे, चाहे किसी मनोधर्मके मार्गसे ही क्यो न आवे। इसी लिए, हे अर्जुन मेरे स्वरूपमे प्रवेश करनेके उपायोका बिलकुल टोटा नही है वे उपाय अनेक और प्रचुर है। मनुष्यका जन्म चाहे जिस जातिमे हुआ हो और वह चाहे मेरी भक्ति करे और चाहे मेरा विरोध करे पर उसे होना चाहिए मेरा ही भक्त अथवा मेरा ही शत्रु; बस यही मुख्य तत्व है। चाहे किसी बहाने मनुष्यको मेरा-पन प्राप्त हो जाय, उसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि मेरा स्वरूप उसके हाथमे आ गया। इसीलिए, हे अर्जुन, चाहे पाप-योनि हो और चाहे वैश्य, शूद्र अथवा स्त्री हो सब लोग मेरी उपासनासे ही मेरे स्थान तक पहुँचते है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥३३॥

"जब वास्तवमें स्थिति ऐसी है, तब जो ब्राह्मण चातुर्वर्ण्यके राजा, स्वर्गके धनी और मन्त्र-विद्याका जन्म-स्थान है, जो भूदेव हैं, जो तपके मूर्त्तिमन्त अवतार है, जिसके योगसे तीर्थोंका भी भाग्य उदय हो जाता है, जो यज्ञ-यागके सदाके आधार है, जो वेदोके निस्सीम अभिमानी हैं और जिनकी कृपा-दृष्टिकी गोदमे ही बैठकर कल्याण भी वृद्धिको प्राप्त होता है, जिनसे सम्मानित होनेके कारग सत्कर्म विस्तार प्राप्त करते हैं, जिनकी इच्छासे ही सत्यका जीवन बना हुआ है, जिनके अभय-वचनसे अग्निने आयुष्य प्राप्त किया है और इसी लिए अग्निके सहज शत्रु समुद्रने भी बड़वाग्निको अपना जल अर्पित करके उसका पोषण किया है, जिनकी चरण-रज प्राप्त करनेके लिए मैंने स्वयं लक्ष्मीको भी एक ओर हटाकर और बीचमें बाधक होनेवाली कौस्तुभ मणिको भी निकालकर और अपने हाथोमे लेकर अपने वक्षस्थलका पुट उनके चरणो-के आगे रख दिया है और, हे अर्जुन, अपने भाग्यशाली होनेका लक्षण बनाये रखनेके लिए मैं अब तक अपने हृदय पर जिनके पैरकी शुभ मुद्रा रक्षित रखता हूँ, जिनकी क्रोधाग्निमे प्रत्यक्ष रुद्रका निवास है और जिनकी कृपासे अष्ट महासिद्धियाँ सहज ही और बिना मूल्यके प्राप्त होती है, उन परम पुण्यवान् ब्राह्मणोके सम्बन्धमे तो यह कहने की आवश्यकता ही नही है कि मेरे स्वरूपमे लीन रहनेवाले उन ब्राह्मणोको मेरी प्राप्ति होती है। चन्दनके वृक्षके साथ लगकर जो हवा आती है, उसके संसर्गसे आस-पासके नीमके वृक्ष भी सुगन्धित हो जाते है और वे जड वृक्ष भी देवताओके मस्तक पर स्थान प्राप्त करते हैं। फिर जो प्रत्यक्ष चन्दन ही हो, वह भला देवताओके मस्तक पर कैसे स्थान न प्राप्त करेगा? अथवा उसके सम्बन्धमे यह कहनेकी आवश्यकता ही क्या है कि उसे देवताओके मस्तक पर स्थान मिलेगा? यदि शंकर इस आशयसे केवल आधा ही चन्द्रमा सदा अपने मस्तक पर धारण किये रहते है कि हलाहल पान करनेसे जो दाह उत्पन्न हुआ है, वह चन्द्रमाके स्पर्शसे शान्त हो जायगा, तो फिर वह ...

लगाया जाय, जिसके दाह शान्त करनेके गुणका प्रत्यक्ष अनुभव होता है और जो पूर्णता तथा सुवासमे चन्द्रमासे भी बढकर है ? अथवा जिस गंगाका आश्रय लेकर रास्तेमे बहनेवाला पानी भी जाकर समुद्रमे मिल जाता है, उस गंगाके सम्बन्धमे भला यह कब हो सकता है कि वह समुद्रमे जाकर न मिले ? ऐसी अवस्थामे जो राजर्षि अथवा ब्राह्मण शुद्ध हृदयसे मुझे ही अपना शरण्य अर्थात् अपने रक्षणका साधन समझते है, इसमे तिल मात्र भी सन्देह नही कि उनके अन्तिम शाश्वत सुखका साधन-स्थान मे ही होता हूँ । ऐसी अवस्थामे उस नावमे मनुष्य निश्चित होकर क्यो पडा रहे जिसमे सैकडो छेद हो चुके हो ? जहा शस्त्रो की झड़ी लगी हो, वहाँ मनुष्य अपना बिलकुल खुला हुआ शरीर लेकर क्यो रहे ? जहाँ शरीर पर पत्थर गिर रहे हो, वहाँ यह कैसे हो सकता है कि मनुष्य अपनी रक्षाका कोई साधन अपने हाथमे न ले ? जिस समय रोगसे शरीर जर्जर हो रहा हो, उस समय औषधके विषयमे मनुष्य किस प्रकार निश्चित रह सकता है ? जिस समय चारो ओर आग लगी हो, उस समय यह कैसे हो सकता है कि बाहर निकलनेका प्रयत्न न किया जाय ? इसी प्रकार हे अर्जुन, दु खो और संकटोसे भरे हुए इस मृत्युलोक में आने पर यह कैसे हो सकता है कि मनुष्य मेरा भजन न करे ? और मनुष्यमे ऐसा कौन सा बल है जिसके भरोसे वह मेरा भजन न करनेकी ढिठाई कर सके ? घर-बार और विषय-विलास आदिसे ऐसी कौन सी बात है कि उस पर भरोसा रखकर मनुष्य आनन्दपूर्वक और निश्चिन्त रह सके ? क्या बिना मेरा भजन किये मनुष्य अपने मनमे इस बातका भरोसा रख सकता है कि विद्या और यौवनसे ही सुख प्राप्त किया जा सकता है ? जितने विषय-भोग हैं, वे सब वास्तवमे शरीरके स्वस्थ रहने पर ही निर्भर करते है । और यह शरीर सदा मृत्युके मुखमे पडा रहता है । इस मृत्युलोकमे जन्म-मरणका एक ऐसा बाजार लगा हुआ है जिसमे प्रबल दुःख रूपी माल चारो तरफ खुला पडा है और मृत्यु-रूपी मालके गट्ठर पर गट्ठर बराबर चले आते हैं । और प्राणी इस बाजारमे आ पहुँचे है । ऐसी अवस्थामे, हे अर्जुन, सुखका व्यवहार कैसे हो सकता है ? इस लोकमे सुखका सौदा कैसे किया जा सकता है ? क्या राखी फूँकनेसे भी कभी दीया जल सकता है ? जिस प्रकार कोई किसी जहरीले कन्दको पीसकर उसमे से रस निकाले और फिर उस रसका नाम "अमृत-रस" रखकर उसे पी जाय और उसके प्रभावसे अमर होनेकी आशा रखे, उसी प्रकारके अमृत-रसके समान विषयोके द्वारा प्राप्त होनेवाला सुख है जो वास्तवमे केवल महादु.ख है । परन्तु किया क्या जाय ? जो लोग मूर्ख हैं, वे बिना उन विषयोका सेवन किये रह ही नही सकते । यदि पैरमे घाव हो जाय और उस घाव पर कोई अपना सिर काटकर लगावे, तो यह बात उसके लिए कहाँ तक हितकर हो सकती है ? बस मृत्यु-लोकके सब सुखोको भी इस प्रकारका कल्याणकारक समझना चाहिये । ऐसी अवस्थामे इस मृत्यु-लोकमे सच्चे सुखकी बात भला किसके कानोको सुनाई पड सकती है ? जिस बिस्तर पर बिच्छू हो. उस पर निश्चित होकर कोई कैसे सो सकता है ? जिस लोकका चन्द्रमा भी क्षयरोगसे ग्रस्त हो, जिसमे सूर्य भी केवल अस्त होनेके लिए ही निकलता हो, जहा केवल दुःख ही सुखका ढोंग रचकर सारे संसारको धोखा देता हो, जहां मंगलके

इन सबको एक ही आत्म-स्वरूप मानना उचित और आवश्यक है। जो अपने मनो-बलकी सहायतासे इस आत्म-योगके द्वारा मेरे साथ मिलकर सम-रस हो जाता है, वह अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। इस विषयमे सन्देह करनेके लिए तिल मात्र भी स्थान नहीं है। और हे अर्जुन, जो इस प्रकार अभेद भावसे मेरी भक्ति करता है, उसके भजनके चौखटमें प्रवेश करके मेरा रहना आवश्यक हो जाता है। इसी लिए मैंने जो अभेदा-त्मक भक्तियोग बतलाया है, उसमे किसी प्रकारकी शंका नही हो सकती, और उसमे दुर्बलताके लिए भी कोई स्थान नही है। पहले (छठे अध्यायमे) यह बात स्पष्ट रूप से बतलाई जा चुकी है कि जिस समय यह भक्ति-योग चलता रहे, यदि उसी समय मृत्यु हो जाय तो बहुत अच्छा है। अब यदि तुम्हारे मनमे यह जाननेकी इच्छा उत्पन्न होती हो कि इस अभेदका स्वरूप क्या है, तो सुनो। मैं तुम्हे उस अभेदका स्वरूप भी बतलाता हूँ।

अहं सर्वस्य प्रभावो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८ ॥

"इस सारे ससारका मूल मैं ही हूँ और हे अर्जुन, मुझसे ही इन सबकी स्थिति रहती और गति होती है। लहरे पानीमे उत्पन्न होती है और उनका आश्रय तथा जीवनका साधन दोनो पानी ही है। जिस प्रकार बिना पानीके लहरे हो ही नही सकती, उसी प्रकार इस विश्वमे कोई ऐसी वस्तु नही हो सकती जो मेरे बिना हो और जिसमे मेरा निवास न हो। जो लोग मेरा यह विश्वव्यापक स्वरूप जानते है, वे चाहे जहाँ रहकर मेरा भजन करे, पर वे वास्तवमे उदित होनेवाले प्रेम-भावसे ही वह भजन करते हैं। ऐसे लोग देश, काल और वर्त्तमान आदि सबको मुझसे अभिन्न मानते है, और जिस प्रकार वायु गगन-रूप होकर गगनमे संचार करती है, उसी प्रकार वे मुझ जगद्रूपको मनमे रखकर अपने आत्म-ज्ञानसे तीनो भुवनोमे सुखपूर्वक रमण करते हैं। तुम यह बात निश्चित रूपसे समझ रखो कि भूत मात्रमेसे जो कुछ दिखलाई पड़े, उसीको भगवानके रूपमे मानना ही मेरा सच्चा भक्ति योग है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९ ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १० ॥

"जिनका चित्त मद्रूप हो जाता है, मेरे स्वरूपसे जिनके अन्तःकरणका पूरा पूरा समाधान हो जाता है, और जो आत्म-बोधके प्रेममे पडकर जन्म और मरण सब कुछ भूल जाते है, वे लोग उसी आत्म-बोधके बढते हुए प्रभावसे अद्वैतानन्दके सुखमे नाचने लगते हैं और आपसमे केवल आत्म-बोधका ही लेन-देन करते है। जिस प्रकार पास पास रहनेवाले सरोवर बाढ आने पर आपसमे मिल जाते हैं और उनकी तरगोंका निवास एक दूसरेकी तरंगोमे ही होता है, उसी प्रकार अभेद भक्तिवाले भक्त जब आपसमे मिलते है और उनमे एकता स्थापित हो जाती है, तब मानो आनन्दके आगार एक दूसरेके साथ पिरोये जाते है और आत्म-बोधको आत्म-बोधके ही द्वारा आत्म-

उगते हुए अंकुरोमें ही तत्काल अमंगलके कीड़े लग जाते हों, जहां माताके पेटमेके गुप्त गर्भाशय तकमें मृत्यु पहुँचकर अपना काम कर डालती हो, जहाँ लोगोको सदा मिथ्या और असत्य बातोका ही ध्यान लगा रहता हो, और उसी मिथ्या बात (जीवन) को यमदूत जवरदस्ती ले जाते हो और इस बातका पता भी न लगता हो कि वे उसे कहाँ ले जाते है, जहाँ चारों ओर अच्छी तरह ढूँढने पर भी कहीसे निकलनेका कोई मार्ग ही न दिखाई पड़ता हो, जहाँ केवल पुराणों (अर्थात् असख्य मरे हुए लोगो) की ही बाते होती हो, जहाँ ब्रह्माके समान आयुष्य रखनेवाला मनुष्य भी वस्तु मात्रके अशाश्वत होनेका दीर्घकाल तक वर्णन करने पर भी उसका पूरा-पूरा वर्णन न कर सकता हो और जिस लोककी ऐसी अशाश्वत स्थिति हो, उस लोकमे जन्म लेकर जीव यदि निश्चित रहे तो यह बात कितनी आश्चर्यजनक और हास्यास्पद है ! जो लोग लौकिक अथवा पारलौकिक लाभके लिए गाँठकी एक कौड़ी भी खर्च करनेके लिए तैयार नही होते, वही लोग ऐसी वस्तुओ के लिए, जो पूर्ण रूपसे हानिकारक है, लाखों करोड़ो रुपये खर्च करनेमें भी आगा-पीछा नही देखते। जो मनुष्य अनेक प्रकारके विषय-विलासमे फँसा रहता है, उसी सम्बन्धमे लोग कहते है कि यह आजकल बहुत सुखसे रहता है। और जो मनुष्य वासनाओ के भारसे नीचे पूरी तरहसे दबा रहता है, उसीको लोग स-ज्ञान समझते हैं। जिसकी आयु बहुत ही थोड़ी बच रहती है और जिसकी बुद्धि सठिया जानेके कारण बिलकुल नष्ट हो जाती है, उसीको लोग बड़ा कहते हैं और उसके पैरो पर सिर रखकर लोटते है। ज्यों ज्यो बच्चा बड़ा होता है, त्यो त्यों माता-पिता आदि मारे आनन्द के नाचने लगते है। परन्तु इस विषयमें उनके मनमें कुछ भी खेद नही होता कि ज्यो ज्यों बच्चा बढ़ता है, त्यों त्यों उसकी आयुकी डोरी छोटी होती जाती है। जन्म लेते ही मनुष्यको दिन पर दिन कालके और भी अधिक अधीन होना पडता है, तो भी लोग जन्म-गाँठका उत्सव खूब धूमधामसे करते है और आनन्द की पताकाएँ भी फहराते हैं। लोगोको मरणका शब्द भी नही सुनाई पड़ता। और जब कभी कोई मर जाता है, तब लोग जोर जोरसे रोने लगते है। परन्तु वे लोग अपनी मूर्खताके कारण कभी इस बात का विचार भी नही करते कि स्वयं हमारी ही आयु दिन पर दिन कम होती चली जा रही है। जब मेढकको साँप निगलने लगता है, तब भी वह मेंढक मक्खियोको खानेके लिए अपने मुँहसे जोरसे पकड़े रहता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी वासनाएँ बराबर बढाता चलता है, परन्तु इससे उसे क्या लाभ हो सकता है ? इस मृत्यु-लोककी अवस्था भी कैसी खराब हो रही हैं ! हे अर्जुन, तुमने अपने कर्मोंकी गतिसे ही इस लोकमे आकर जन्म लिया है। परन्तु फिर भी तुम चटपट इससे अलग होकर मुक्त हो जाओ और उस मार्गमें लगो, जिसपर चलनेसे तुम्हें मेरे निर्दोष अक्षय पदकी प्राप्ति हो सकती है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

"तुम अपना मन मद्रूप कर लो और मेरे प्रेमके भजनमे रँग जाओ और सब जगह मेरा अस्तित्व मानकर मेरी वन्दना करो। केवल मेरी ही ओर लक्ष रखकर समस्त संकल्पो-

बोधका ही अलंकार प्राप्त होता है; और इस प्रकार उस आत्म-बोधकी शोभा बढ़ जाती है। जैसे एक सूर्य दूसरे सूर्यकी आरती करे अथवा एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमा के साथ प्रेमालिंगन करे अथवा एक ही मानके दो जल-प्रवाह आपसमे एक दूसरेके साथ मिल जाय, ठीक उसी प्रकार जब भक्ति-योगसे युक्त भक्त आपसमे मिलते है, तब उनकी सम-रसताका पवित्र प्रयागतीर्थ बन जाता है और तब उस तीर्थके जलमे सात्विक भावोकी बाढ सी आ जाती है। और वे एकताके चौराहेके अध्यक्ष गणेश बन जाते हैं। इसके उपरान्त उस आत्मानन्दके अत्यन्त सुखसे भरे हुए वे भक्तियोगी देह-भानवाली सीमा पार करके और मेरे लाभसे पूर्ण समाधान प्राप्त करके उच्च स्वरसे घोष करने लगते है। गुरु एकान्तमे अपने शिष्यको जिन मन्त्राक्षरोका उपदेश करता है, उन्ही मन्त्राक्षरोकी घोषणा वे लोग सबके सामने मेघोकी तरह गरज गरज कर करते है। कमलकी कली जिस समय अपनी पूर्णावस्थाको प्राप्त होती है, उस समय वह अपने अन्दरका मधु रस किसी प्रकार दबाकर नही रख सकती और वह राजासे लेकर रंक तक सब लोगोका समान रूपमे आतिथ्य तथा सत्कार करती है। इसी प्रकार वे भक्ति-योगी अतिशय आनन्दमे भरकर विश्वमे मेरा घोष करते हैं और उस कीर्त्तनके घोषसे उत्पन्न होनेवाले सन्तोषसे इतने अधिक भर जाते है कि अन्तमे वे कीर्त्तन भूलकर स्तब्ध हो जाते हैं और उसी विस्मृतिमे तन-मनसे रमण करते रहते हैं। इस प्रेमके अतिरेकमे उन्हे दिन और रातका भी ध्यान नही रह जाता। इस प्रकार जो लोग मेरे स्वरूप-लाभका निर्दोष सम्पूर्ण सुख प्राप्त कर लेते है, उन्हे मै जो कुछ देता हूँ, उसका सर्वोत्तम अंश पहलेसे ही उनके अधिकारमे होता है। क्योकि जिस मार्गसे वे चलते है, यदि उस मार्गकी सारी व्यवस्था देखी जाय तो स्वर्ग और मोक्षके मार्ग भी उसके सामने टेढे-तिरछे और छोड़ देनेके योग्य जान पड़ते है। इस-लिए वे लोग अपने मनमें जो प्रेम एकत्र करके रखते हैं, उनका वही प्रेम मै उन्हे देना चाहता हूँ। परन्तु वह प्रेम भी जो मैं उन्हे देना चाहता हूँ, उसे वे पहलेसे ही सिद्ध तथा प्राप्त कर चुके होते है। अब उनके लिए केवल इतना ही बाकी रह जाता है कि उनका वह प्रेम-सुख बराबर बढ़ता रहे, और इसके लिए मुझे केवल इतनी ही व्यवस्था करनी पड़ती है कि उनके उस प्रेम पर कालकी दृष्टि न लगे और वह नष्ट न होने पावे। हे अर्जुन, माता अपने लाडले बालक पर अपनी स्नेहपूर्ण दृष्टि-का आच्छादन डालकर उसे रक्षित रखती है, और जब वह इधर-उधर खेलता फिरता है, तब उसके पीछे पीछे दौडती रहती है, और तब वह जिन जिन खेलोके प्रति अपना अनुराग दिखलाता है, उन उन खेलोके उपयुक्त खिलौने बनाकर वह अपने प्रिय पुत्रके आगे रखती है। ठीक इसी प्रकार अपने भक्ति योगी भक्तोके लिए मै भी वही काम करता हूँ जिनसे उपासनाके मार्गका पोषण होता है। उपासनाके मार्गके इस पोषणसे वे लोग सहजमें और निरपवाद रूपसे मेरे पास आ पहुँचें, बस इसीकी व्यवस्था करना मेरे लिए नितान्त आवश्यक हो जाता है। भक्तोका मेरे प्रति बहुत अधिक प्रेम होता है और मुझे भी उनकी अनन्य शरणागतिका पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ता है, क्योकि प्रेमपूर्ण भक्तो पर यदि संकट आवे तो मानों वह संकट स्वयं मेरे घर पर ही आता है। फिर स्वर्ग और मोक्षके दोनो प्रसिद्ध मार्गमें

का अन्त कर डालना ही मानो मेरा यजन करना है। जब इस प्रकार तुम मेरे ध्यान से सम्पन्न हो जाओगे, तभी तुम मेरा स्वरूप प्राप्त कर सकोगे। अपने मनका यह रहस्य आज मैने तुम पर प्रकट कर दिया है। आज तक मैने जो वात सब लोगोसे गुप्त रखी है, उसे प्राप्त करके तुम सुखसे ओत प्रोत भर जाओगे।" संजयने कहा—"भक्तोके कल्प-वृक्ष उन ब्रह्म-स्वरूप साँवले श्रीकृष्णने इस प्रकार अर्जुनको उपदेश दिया।" वृद्ध धृतराष्ट्र ये सब वाते शात होकर सुन रहे थे। जिस प्रकार कोई आलसी भैसा नदीका जल वढ आने पर भी चुपचाप आरामसे वैठा रहता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्र वैठे रहे। उस समय सजयने सिर हिलाकर मन ही मन कहा—"यहाँ अमृतकी लगातार वर्षा हो रही है और यह वुड्ढा इस प्रकार चुपचाप वैठा हुआ है कि मानो यहाँ मौजूद ही नही है। परन्तु फिर भी यह हमारा पालन-पोषण करता है, इसलिए इसके सामने स्पष्ट वात कहकर अपनी वाचाको दूषित करना ठीक नही है। इसका कोई उपाय नही हैं, क्योकि इसका स्वभाव ही ऐसा है। परन्तु फिर भी मैं वहुत वडा भाग्यवान् हूँ क्योकि युद्ध-क्षेत्रका समस्त समाचार सुनानेके लिए श्रीवेद-व्यास जी महाराजने मुझे नियुक्त किया है।" इस प्रकार वहुत प्रयत्नपूर्वक अपने मनको दृढ करके सजय ये सव वाते अपने मन ही मनमे कह रहे थे कि उस समय सात्विक भक्ति-भावका उनमे आवेश हुआ और वे अपने आपको न सँभाल सके। उनका चित्त चकित हो गया, वाचा स्तब्ध हो गई और सारे शरीरमे रोमाच हो आया। उनकी जो आँखे आधी खुली और आधी बन्द थी, उनमेसे आनन्दाश्रु वहने लगे। उनके मनमे सुखकी जो लहर उठी थी, उससे उनका शरीर थरथर काँपने लगा। उनके रोम रोममे स्वेदके निर्मल सूक्ष्म विन्दु चमकने लगे; और ऐसा जान पड़ने लगा कि मानो उन्होने अपने सारे शरीर पर मोतियोका एक जाल सा ओढ लिया है। इस प्रकार महासुखके उस अपरम्पार रसमे डूवनेके कारण उन्हे अपने शरीरका भी ध्यान न रह गया और युद्धका समाचार सुनाने का जो काम श्री वेद-व्यासने उन्हे सौपा था, उसके सम्वन्धमे ऐसा जान पडने लगा कि मानो वह काम अव उनसे न हो सकेगा। इतनेमे श्रीकृष्णकी वाणीने उनके कानोमे प्रवेश किया जिससे सजयके होश फिर ठिकाने हुए और वे फिर युद्धका समाचार सुनानेको उद्यत हुए। इसके वाद उन्होने अपनी आँखोके अश्रु पोछे, सारे शरीरका पसीना भी पोछा और तव कहा—"हे महाराज, धृतराष्ट्र अव मै आपको इसके आगेका वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप ध्यानपूर्वक सुनें।" श्रीकृष्णके वचन तो सुन्दर वीज है ही, पर अव ऐसा सुन्दर अवसर आया है कि सजयकी सात्विक वृत्ति रूपी भूमि उस वीजके वोये जानेके लिए तैयार है। अत' अव इस वातमे कुछ भी सन्देह नही है कि श्रोताओ को सिद्धान्तकी वढिया फसल तैयार होकर मिलेगी। हे श्रोतागण, आप लोग इस कथनकी ओर और थोडा ध्यान दे और मजेमे आनन्दके पुंज पर वैठे। आज आप लोगोकी श्रवणेन्द्रियोका भाग्य खुल गया है। अव सिद्धराज श्रीकृष्ण अर्जुनके सामने ईश्वरीय विभूतिके स्थानका निरूपण करेंगे। श्रीनिवृत्तिनाथके दास ज्ञानदेवको आप लोगोसे प्रार्थना है कि वह निरूपण आप लोग सुनें।

उनकी सेवाके लिए नियुक्त कर देता हूँ। इतना ही नही, वल्कि लक्ष्मीके सहित मैं स्वयं अपना सारा शरीर भी उन्हीके काममे लगा देता हूँ। परन्तु देहसे भी भिन्न और सदा ताजा बना रहनेवाला जो आत्म-सुख है, उसे मै अपने प्रेमपूर्ण भक्तोको अनुरागपूर्वक अपने पास रखता हूँ। परन्तु यह वात ऐसी नही है जो शब्दोके द्वारा वतलाई जा सके।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

"इसीलिए जिन लोगोने मेरे आत्म-स्वरूपके अस्तित्वको ही अपने जीवनका आश्रय-स्थल बना रखा है और जो लोग मुझे छोडकर और किसी पर कुछ भी श्रद्धा नही रखते, हे अर्जुन उन श्रेष्ठ तत्वज्ञोके लिए मै सदा कपूरकी मशाल जलाकर और उनके लिए स्वयं ही मशालची वनकर उनके आगे आगे चलता हूँ। अज्ञानकी रात्रिमे जो घोर अन्धकार रहता है, उनका नाश करके मै उनके लिए अक्षय प्रकाशका उदय करता हूँ।" जव प्रेमी भक्तोके प्रेम-निधान श्रीकृष्णने ये सव वाते कही, तव अर्जुनने कहा—"मैं अव पूर्ण रूपसे तृप्त हो गया हूँ। हे प्रभु, सुनिये। आपने मेरी संसार-रूपी मैल दूर कर दी है। मै अव जन्म-मरणकी अग्निसे मुक्त हो गया हूँ। आज मुझे जीवनका सच्चा मर्म ज्ञात हो गया है, और मुझे ऐसा जान पडता है कि आज मेरा जीवन सार्थक हो गया है। आज मेरा जीवन कृतकार्य हो गया है। आज मेरा सौभाग्य खुल गया है, क्योकि आज परमेश्वरकी प्रसाद-वाणी मेरे कानोमे पहुँची है। आज इस वाणीके प्रकाशसे मेरे अन्दर और वाहरका भ्रम-पटल दूर हो गया है और इसीलिए इस समय मुझे आपके सच्चे स्वरूपके दर्शन हो रहे है।

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

"इस विश्वका जो विश्राम-स्थल परब्रह्म है, वह परब्रह्म आप ही हैं। हे जगन्नाथ, आप परम पवित्र है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनो देवताओके परम देव आप ही हैं। पचीसवाँ तत्व जो पुराण पुरुष है, वह आप ही है। आप ही माया-की पहुँचके वाहर हैं। जो स्वयंसिद्ध विश्वका स्वामी है और जो जन्मके वन्धनसे कभी वँध नही सकता, वह आप ही हैं। अव यह वात अच्छी तरह मेरी समझमे आ गई है। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनो कालोके सूत्रधार आप ही हैं। इस जीवात्माके अधिपति आप ही है, इस ब्रह्माण्डके पालक आप ही हैं। ये सव वाते अव अच्छी तरह मेरी समझमे आ गयी है।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

दसवाँ अध्याय

हे गुरुदेव, आप ही ब्रह्म-ज्ञानका स्पष्ट बोध करानेमे समर्थ हैं। विद्या-रूपी कमलका विकास आप ही हैं। परा प्रकृति एक श्रेष्ठ तरणी है और आप इसके साथ सुखपूर्वक क्रीडा करते है। संसार रूपी अन्धकारका नाश करनेवाले सूर्य आप ही हैं। आपका स्वरूप अमर्याद है। आपकी सामर्थ्य अनन्त है। जो तुरीयावस्था अर्थात् आत्म-समाधि अभी हालमे युवावस्थामे प्राप्त होनेको है, सहज रीतिसे इसका लालन पालन करनेवाले आप ही है। इसलिए मै आपको नमस्कार करता हूँ। आप समस्त संसारका पालन करनेवाले और शुभ कल्याण रूपी रत्नोका संग्रह है। सज्जन रूपी वनको सुगन्धित करनेवाले चन्दन आप ही हैं। आराधना करने योग्य देवता आप ही हैं। इसलिए मै आपको नमस्कार करता हूँ। जिस प्रकार चकोरके चित्तको चन्द्रमा सन्तुष्ट और शान्त करता है, उसी प्रकार चतुर जनोके चित्तको आप सन्तुष्ट और शान्त करते हैं। आप आत्म-साक्षात्कारके सर्वाधिकारी हैं, वेदके ज्ञान-रसके सागर हैं और समस्त संसारको मन्थन करनेवाला जो काम-विकार है, उस काम-विकारका मंथन करनेवाले आप है। हे गुरुदेव, इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप सद्-भक्तोके भजनके पात्र है, संसाररूपी हाथीका गंड-स्थल तोड़नेवाले आप ही है और संसारकी उत्पत्तिके आदि-स्थान भी आप ही हैं, इसलिये मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे महाराज, आपके प्रसाद यही विद्यापति गणेश हैं; और जब उन गणेशजीकी कृपा प्राप्त होती है, तव मूढ बालक भी साहित्यके प्रान्तमें प्रवेश कर सकता है। जिस समय गुरुकी वाणी अभय वचन देती है, उसी समय शृंगार आदि नौ रसोके मधुर समुद्रकी थाह लगती है। हे महाराज, यदि आपकी प्रेमपूर्ण वाणी किसी गूंगे पर भी कृपा करे, तो वह भी ग्रन्थ रचनाके काममें स्वयं बृहस्पतिके साथ प्रतिज्ञापूर्वक स्पर्धा कर सकता है। केवल यही नही, जिस किसी पर आपकी दृष्टिका प्रकाश पड जाता है अथवा आपका कोमल हाथ जिसके मस्तक पर जा पडता है, वह जीव होने पर भी शिवकी बरावरीका हो जाता है। जिसके कार्योका ऐसा माहात्म्य है; उसका मैं अपनी मर्यादित वाणीके वलसे भला कैसे वर्णन कर सकता हूँ। क्या कभी कोई सूर्य-के शरीरमें भी उवटन लगा सकता है? फूलोसे भला कल्प वृक्षका कहाँ तक शृंगार किया जा सकता है? क्षीर सागरका आतिथ्य भला किस प्रकाके पकवानोसे किया जा सकता है? कपूरको किस सुगन्धित वस्तुसे सुगन्धित किया जा सकता है? चन्दन पर किस चीजका लेप लगाया जा सकता है? अमृतका कौन सा अन्न पकाया जा सकता है? क्या आकाशको और भी ऊपर उठानेकी कोई युक्ति हो सकती है? ठीक इसी प्रकार श्रीगुरुदेवके माहात्म्यका पूरा पूरा आकलन करनेके लिए कहाँ और कौन सा साधन प्राप्त हो सकता है? ये सब बाते समझकर ही विना किसी प्रकारकी

"इस ज्ञानकी परीक्षा एक और रीतिसे भी हो जाती है। अब तक जो बडे बड़े श्रेष्ठ ऋषि हो गये हैं, उन्होने भी आपका ऐसा ही वर्णन किया है। उनके किये हुए वर्णनकी सत्यता अब मुझे अच्छी तरह जान पडने लगी है। और ये सब देवता आपके ही प्रसादका फल हैं। यों तो नारद सदा मेरे पास आकर आपके गुणोके गीत गाया करते थे, परन्तु उनका अर्थ मेरी समझमे नही आता था; और इसलिए मुझे केवल उन गानोके सुखकी मधुरताका ही स्वाद आता था। यदि अन्धोके गाँवमे सूर्यका प्रकाश आवे तो वे अन्धे केवल सूर्यकी किरणोका ही सुख भोग सकेंगे। सूर्यके प्रकाशका अनुभव वे कैसे कर सकते हैं। इसी प्रकार जब नारद मेरे पास आकर अध्यात्म-सम्बन्धी गीत गाया करते थे, तब राग-रागिनियोके द्वारा ऊपर-ऊपर जो माधुर्य उत्पन्न होता था, वही मेरे मनको रुचता था। इसके सिवा और कुछ भी मेरी समझमे नही आता था। असित और देवल नामक ऋषियोके मुखसे भी मैंने आपके इस स्वरूपका वर्णन सुना था, परन्तु उस समय मेरी मनोवृत्ति विषयोंके विपसे भरी हुई थी। उस विषय-विषकी इतनी अधिक प्रबलता थी कि उस समय मुझे मधुर अध्यात्म भी कडुवा लगता था और कटु विषय ही मधुर जान पड़ते थे। अब इस समय औरोंकी बात तो जाने दीजिए, स्वयं महर्षि व्यास भी मेरे घर आकर सदा आपके स्वरूपका ठीक और पूरा वर्णन किया करते थे। परन्तु जिस प्रकार अँधेरेमे चिन्तामणि मिलने पर यह कहकर दूर फेंक दिया जाता है कि यह चिन्तामणि नही है और फिर दिन निकलने पर प्रकाशमे उसका स्वरूप पहचानकर कहा जाता है कि यह चिन्तामणि ही है, उसी प्रकार यद्यपि उन व्यास आदि ऋषियोकी वाणी ज्ञान रूपी रत्नोकी खानि ही थी, परन्तु फिर भी, हे श्रीकृष्ण महाराज, वह आप नही थे जो सूर्यके समान हैं, और इसी लिए आपका प्रकाश भी नही था, जिससे मैं उन ज्ञान रूपी रत्नोंको पहचान नही सकता था।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मा वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवा ॥१४॥

"परन्तु अब आपकी वाक्य-रूपी किरणो का प्रसार हो गया है और इसी लिए अब मैं उन ऋषियोके बतलाये हूए मार्गको पहचानने लगा हूँ। हे देव, उनके वचन थे तो ज्ञानके बीज ही, परन्तु वे हृदय रूपी भूमिमे यो ही पड़े हुए थे। परन्तु अब उसपर आपके प्रसादकी वर्षा हो गई है जिससे वे बीज अंकुरित हुए है और उनमे एकवाक्यता रूपी फल लगा है। नारद आदि सन्तोके वचन नदियोके समान थे, परन्तु उन नदियोके द्वारा आज मैं एकवाक्यताके सुखका अपरम्पार सागर ही बन गया हूँ। हे प्रभु, मैंने इस जन्ममे जो जो उत्तम पुण्य सम्पादित किये है, उन पुण्योमें, हे सद्गुरु, वह पदार्थ देनेकी बिलकुल सामर्थ्य नही है जो पदार्थ आप मुझे दे सकते हैं। और नहीं तो बड़े लोगोके मुखसे आपकी महिमा मैंने न जाने कितनी बार सुनी थी। परन्तु जब तक एक आपकी कृपा नही हुई थी, तब तक कुछ भी मेरी समझमे नही आता था। जिस समय दैव अनुकूल होता है, उस समय जो उद्योग करो, वह आप ही आप सफल हो जाता है। इसी प्रकार सुना और पढा हुआ ज्ञान भी तभी फलदायक होता है, जब गुरुकी कृपा हो। माली जन्म भर बहुत

वाचालता किये मैंने उन गुरुदेवको चुपचाप नमस्कार किया है। यदि कोई अपने बुद्धि बलके अभिमानमे यह कहे कि—"मैं गुरुदेवकी सामर्थ्यका पूरा-पूरा और ठीक ठीक वर्णन करता हूँ।" तो उसका यह काम आवदार मोती पर अवरककी कलई करनेके समान ही हास्यास्पद होगा। अथवा गुरुदेवकी वह जो कुछ स्तुति करेगा, वह स्तुति खरे सोने पर चाँदीका मुलम्मा करनेके समान ही होगी। इसलिए कुछ भी न कहकर चुपचाप गुरुदेवके चरणो पर मस्तक रख देना ही सबसे अच्छा है। फिर मैंने श्री गुरुनाथसे कहा—"हे स्वामी, आपने प्रेमपूर्वक मेरी ओर दृष्टिपात किया है, इसलिए इस कृष्णार्जुन सम्वादके संगममे मैं भी वैसा ही हो गया हूँ, जैसा गंगा और यमुनाके संगममे प्रयागका वटवृक्ष है। जिस प्रकार प्राचीन कालमे उपमन्युने श्रीशंकरसे दूध माँगा था, तब उन्होने स्वयं क्षीर-सागर ही उसके सामने दूधके कटोरेकी भाँति रख दिया था, अथवा रूठे हुए ध्रुवको बहुत प्रेमके साथ समझाने और मनानेके लिए वैकुण्ठाधिपतिने उसे ध्रुव-पद रूपी मिठाई दी थी, उसी प्रकार आपने प्रसन्न होकर कृपापूर्वक उस भगवद्गीताकी टीका करनेमे मुझे समर्थ किया है, जो समस्त अध्यात्म विद्यामे श्रेष्ठ है, जिसमे समस्त शास्त्रोका मेल होता है और जिसमे समस्त शास्त्रोकी बाते सुखपूर्वक एकत्र होकर रहती है। जिस वाणीके जंगलमें मारे मारे फिरने पर भी सार्थ अक्षरके फलका कही नाम भी सुनाई नही पडता, उस मेरी रूखी वाणीको आपने ही आज विवेककी कल्प-लता बना दिया है। मेरी जो बुद्धि बिलकुल देह-भावमयी हो गई थी, उसे आपने अब ब्रह्मानन्दके भण्डारकी कोठरी बना दिया है। मेरा मन गीतार्थ रूपी समुद्रमे आनन्दसे जल-शयन कर रहा है। श्रीगुरुदेवके सभी कृत्य ऐसे ही अलौकिक है। फिर भला उनकी निःसीम कृतियोका वर्णन मुझसे कैसे हो सकता है? तो भी मैंने यहाँ उनकी कुछ कृतियोका वर्णन करनेका साहस किया है और इसके लिए श्री गुरुदेव मुझे क्षमा करें। आपके कृपा-प्रसादसे मैंने श्री भगवद्गीताके पहले खण्डकी टीका बडे उत्साहसे की है। पहले अध्यायमे अर्जुनके उस खेदका वर्णन है जो उसे अपने सगे-सम्बन्धियोके नाशकी कल्पनामे हुआ था। दूसरे अध्यायमे कर्म-योगका स्पष्टीकरण किया गया है और साथ ही उसमे और सांख्यके ज्ञान-योगमे जो भेद है, वह भी दिखलाया गया है। तीसरे अध्यायमे कर्मकी महिमाका वर्णन है और चौथे अध्यायमे उन्ही कर्मोका ज्ञानके साथ प्रतिपादन किया गया है। पाँचवें अध्यायमे योग-तत्वका महत्व बतलाया गया है। छठे अध्यायमें वह योग-तत्व और अधिक स्पष्ट किया गया है। आरम्भके आसनोसे लेकर अन्तकी ब्रह्मैक्यवाली स्थिति तककी सब बाते बहुत ही स्पष्ट रूपसे बतलाई गई है। इसी प्रकार छठे अध्यायमे यह भी बतलाया गया है कि योग-स्थिति क्या है और योग-भ्रष्टोको कौन सी गति प्राप्त होती है। इसके उपरान्त सातवे अध्यायमें पहले मायाके स्वरूप आदिका वर्णन किया गया है और उन चार प्रकारके भक्तोका वर्णन है जो ईश्वरकी उपासना या भजन करते हैं। इसके बाद आठवें अध्यायमे सात प्रश्नोकी व्याख्या की गई है और अध्यायके अन्तमे इस बातका विचार किया गया है कि मरनेके समय लोगो-

परिश्रम करके पौधे सीचता रहता है, परन्तु उन पौधोंसे फल तभी प्राप्त होते हैं, जब बसन्त ऋतु आती है। हे महाराज, जब विषम ज्वर नष्ट होता है, तभी मीठी वस्तु-की मिठासका अनुभव होता है। जब रोग नष्ट होता है, तभी रसायनकी मधुरता अच्छी जान पडती है। इन्द्रियो, वाचा और प्राणवायुका जन्म कब सार्थक होता है ? जब उनमे चैतन्यका संचार होता है, तब। इसी प्रकार साहित्यका लोग जो मन-माना मन्थन करते है अथवा योग आदिका जो अभ्यास करते हैं, उन सबका वास्तविक फल कब प्राप्त होता है ? जब श्री गुरुराज कृपा करते है, तब।" इस प्रकार आत्मानुभव के रंगमे रँगा हुआ अर्जुन निशंक होकर पुतलीके समान नाचने लगा और कहने लगा—"हे देव, आपकी बाते अच्छी तरह मेरे मनमे बैठ गई हैं। हे परब्रह्म-रूपी श्रीकृष्ण, मुझे अब पूर्ण रूपसे यह निश्चय हो गया है कि देवताओ अथवा दानवोकी बुद्धि भी आपके सच्चे स्वरूपका आकलन नही कर सकती। इस बातका मुझे अच्छी तरह विश्वास हो गया है कि बिना आपके बोध-वचन प्राप्त किये जो केवल अपनी बुद्धिके बल पर ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उसे केवल निराश ही होना पडेगा।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५ ॥

"जिस प्रकार आकाशके विस्तारका ठीक ठीक पता स्वय आकाशको ही होता है अथवा पृथ्वीकी घनताकी नाप स्वयं पृथ्वी ही कर सकती है, उसी प्रकार हे लक्ष्मी-नाथ अपनी अपार शक्तिका सब प्रकारसे आकलन केवल आप ही कर सकते हैं। दूसरे जो वेद आदि है, उनकी बुद्धि इस विषयमे व्यर्थ ही इधर-उधर भटकती फिरती है। भला किसमे ऐसी सामर्थ्य है जो वेगमे मनसे भी आगे बढ सके अथवा वायुको अपनी मुट्ठीमे पकड सके अथवा आदि-शून्य तत्त्वसे आगे बढ सके ? इसी प्रकार आपका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना भी किसीके लिए सम्भव नही है। आपके सम्बन्धका पूरा-पूरा ज्ञान केवल आपकी कृपासे ही प्राप्त किया जा सकता है—वह ज्ञान केवल आप प्राप्त करा सकते है। केवल आप ही अपने आपको जान सकते है और दूसरोको भी आप ही वह ज्ञान प्राप्त करा सकते हैं ! इसी लिए मैं भी अब वह ज्ञान प्राप्त करनेके लिए व्याकुल हो रहा हूँ। आप एक बार मुझे वह ज्ञान प्राप्त कराके मेरी उत्सुकता दूर कीजिए। हे देव, आप ही भूत मात्रके आदि कारण हैं, विश्व-भ्रम रूपी हाथीको नष्ट करनेवाले सिंह आप ही है, सारे देवता आपकी ही आराधना करते हैं, आप ही सारी सृष्टिके चालक और पालक हैं, और मैंने सुना है कि यदि आपके महत्त्वका ध्यान रखा जाय तो वह इतना अधिक है कि मुझमे आपके पास खडे होनेकी भी योग्यता नही है। परन्तु यदि यही सोचकर मैं संकोच करूँ और आत्म-ज्ञानके बोधके सम्बन्धमे आपसे प्रार्थना करनेमे डरूँ तो उस बोधकी प्राप्तिके लिए मुझे और कोई साधन ही नही दिखाई पड़ता। चारो ओर चाहे कितनी ही अधिक नदियाँ और सागर क्यों न भरे पडे रहे, परन्तु चातककी दृष्टिमे सब जलाशय व्यर्थ ही होते हैं, क्योंकि उसके कामका तो वही पानी होता है जो मेघोमेंसे गिरता है। इसी प्रकार, हे प्रभु, गुरु तो

की कैसी बुद्धि रहती है। अपार शब्द-ब्रह्म माने जानेवाले वेदोमे जो कुछ तत्व-ज्ञान मिलता है, वही सब एक लाख श्लोकोवाले महाभारत ग्रन्थमें भी मिलता है। और समस्त महाभारतमे जो ज्ञान भरा हुआ है, वह सब कृष्णार्जुन-सम्वादमे मिलता है। और कृष्णार्जुन सम्वादके सात सौ श्लोकोमे जो कुछ सार है, वह सब गीताके केवल नवे अध्यायमे एकत्र करके भरा हुआ है। उसी नवे अध्यायका अर्थ स्पष्ट करनेमे मैं विलकुल घवरा गया था। फिर मैं व्यर्थ ही किस लिए गर्व करूँ? गुड और चीनी दोनो एक ही ऊखके रससे बने हुए होते है, परन्तु फिर भी उनके माधुर्यका स्वाद अलग अलग होता है। इसी प्रकार यद्यपि ये सभी अध्याय गीताके ही है, परन्तु फिर भी इनमेंसे कुछ अध्याय ब्रह्मतत्वको अच्छी तरह समझकर उसका स्पष्ट विवेचन करते है, कुछ अध्याय केवल कुछ बातें सुझाकर रह जाते है और कुछ अध्यायोके सम्वन्धमें यह जान पडता है कि वे अपने ज्ञानके गुणके साथ ब्रह्ममें मिल गये हैं। गीताके ये सब अध्याय इसी प्रकारके है। परन्तु नवे अध्यायका माहात्म्य शब्दोंके द्वारा वतलाया ही नही जा सकता। यह केवल गुरुदेवकी ही सामर्थ्यका फल था कि मैं उसका विवेचन कर सका। किसी (वशिष्ठसे अभिप्राय है) का अँगोछा सूर्यकी तरह चमकने लगा, किसी (विश्वामित्रसे अभिप्राय है) ने इस सृष्टिके जोड़की एक दूसरी सृष्टि ही रच डाली, किसी (भगवान् रामचन्द्रसे अभिप्राय है) ने पत्थरोका पुल बनाकर अपनी सेनाको पैरो चलाकर समुद्रके पार पहुँचाया, किसी (हनुमानजीसे अभिप्राय है) ने सूर्यको अपने हाथसे पकड लिया, किसी (अगस्तसे अभिप्राय है) ने अपने एक चुल्लूमे ही सारा समुद्र भर लिया। इसी प्रकार हे गुरुदेव, आपने भी मुझ सरीखे गूँगेके मुखसे आज अगम्य अध्यात्मका वर्णन करा दिया है। परन्तु अपने इस अद्भुत कृत्यकी उपमा ढूँढ सकना असम्भव है। यदि कोई पूछे कि राम और रावणका युद्ध कैसा हुआ, तो इसका उत्तर केवल यही दिया जा सकता है कि वह राम-रावणके युद्धके समान ही हुआ। (अर्थात् उस युद्धकी और कोई उपमा ढूँढे नही मिल सकती।) इसी प्रकार इस नवें अध्यायमे श्रीकृष्णका जो भाषण है, वह इस नवे अध्यायके भाषणके ही समान है और इसकी दूसरी उपमा कही ढूँढ़नेसे भी नही मिल सकती। और जिन लोगोने गीताका अर्थ बिलकुल अपना सा लिया है, वे तत्वज्ञ लोग यह वात अच्छी तरह जानते है। इसी प्रकार मैंने भी अपनी बुद्धिके अनुसार गीताके आरम्भके नौ अध्यायोका विवेचन किया है और अव आप लोग शाँत होकर गीताका उत्तर खंड सुने। इस खडके आरंभमें अर्जुनको श्रीकृष्ण अपनी प्रधान तथा गौण विभूतियाँ वतलावेगे और अब उसीकी सुन्दर रसपूर्ण कथा सुनाई जायगी। यह है तो देशी भाषा परन्तु इसके सौदर्यके आधार पर शात रस शृंगार रससे भी आगे वढ़ जायगा और इस देशी भाषाके सुदर साहित्यका उससे शृंगार हो जायगा। मूल संस्कृत श्लोकोंका देशी भाषामे जो आशय वतलाया गया है, उससे अर्थको अच्छी तरह समझ लेनेके उपराँत श्रोताओको यह भ्राति होने लगेगी कि इसमे मूल कौन सा हैं और टीका कौन सी है और वे चकित हो जायँगे। जिस प्रकार सुन्दर शरीर अपने जातीय लावण्यके कारण स्वयं ही आभूषणोंका अलंकार हो जाता है (अर्थात् सुन्दर

सभी जगह है'। परन्तु हे कृष्णदेव, मेरे लिए आपके सिवा और कोई आधार नही है। परन्तु अव मेरी ये दुर्वल वाते बहुत हो चुकी। अव आप कृपा करके मुझे अपनी विभूति वतलावे।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

"हे महाराज, अव आप मुझे अपनी वह विभूति दिखलावे जो अपनी दिव्य सामर्थ्यसे सभी जगह व्याप्त हो रही है। अपनी जिन विभूतियोके योगसे आपने इस अनन्त विश्वको व्याप्त कर रखा है, उनमेसे मुख्य मुख्य विभूतियोके नाम आप कृपा कर मुझे वतलावे।

कथं विद्यामहं योगिस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

"हे देव, आप मुझे यह बतलावे कि आपको किस प्रकार जानूँ और क्या समझकर आपका चिन्तन करूँ। यदि यह कहा जाय कि यह सारा विश्व तो आप ही है, फिर चिन्तन करनेके लिए कोई जगह ही बाकी नही रह जाती। इसीलिए अभी आपने संक्षेपमे जो अपने भाव वतलाये है, उनका अव जरा विस्तारपूर्वक विवेचन करे। आप अपने वे भाव मुझे बिलकुल स्पष्ट करके बतलावे जिनके द्वारा आपका चिन्तन करना मेरे लिए कठिन न हो, और इस प्रकार मुझे अपनी प्राप्ति करावे—ऐसा उपाय करे जिसमे मुझे आपकी प्राप्ति हो।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

"हे भूत-मात्रके अधिपति श्रीकृष्णदेव, मैंने आपकी जिन विभूतियोके सम्वन्धमें प्रश्न किया है, कृपया उन विभूतियोका वर्णन करे। इसपर कदाचित् आप यह कहे कि—'एक वार तो वह विभूतियाँ मैं तुमको बतला चुका हूँ। इसलिए अव उन्ही विभूतियोका मै दोवारा क्यो वर्णन करूँ?" तो हे देव, आप इस शंकाको तिल मात्र भी स्थान न दे, क्योकि यदि किसी को थोड़ा सा साधारण अमृत पान करनेको मिले, तो भी उसके लिए कोई 'नही" नही कहता, और फिर वह अमृत भी कैसा? जो हलाहल विषका सगा भाई है और मृत्युसे डरे हुए देवताओने अमर होनेके लिए जिसका पान किया था, परन्तु जिसके पान कर लेने पर भी ब्रह्माके एक ही दिनमे चौदह इन्द्र अमर राजाओके सिहासन पर बैठते और नष्ट हो जाते है—जो अमृत इस प्रकार क्षीर समुद्रमेसे निकला हुआ एक सामान्य रस है और जिसके सम्बन्धमे लोगोमे यह मिथ्या भ्रम फैला हुआ है कि वह अमृत अर्थात् लोगोको अमर करनेवाला है। जव ऐसे नामधारी अमृतका मधुर अंश भी लोगोको यथेष्ट नही जान पडता और उसे पान करनेसे लोग नही अघाते और इतनी क्षुद्र वस्तुकी मधुरता भी जब इतना अधिक आदर पाती है, तव फिर आपके इन वोध-वचनोका तो कहना ही क्या है! ये तो प्रत्यक्ष परमामृत ही है। इनके लिए न तो मन्दर पर्वतको मथानी वनाकर ही फिराया गया है और न क्षीर समुद्रको ही मथा गया है। यह तो अनादि और स्वयंसिद्ध है। यह न तो पतला ही है और न गाढा ही, न इसमे रस अथवा गन्धका ही

शरीरके कारण स्वयं आभूषणोकी शोभा बढ जाती है) और तब यह स्पष्ट रूपसे नही कहा जा सकता कि आभूषणोके कारण शरीरकी शोभा बढ़ी है अथवा शरीरके कारण आभूषणोकी शोभा बढी है, उसी प्रकार आप लोग शुद्ध और सरल मतिसे यहाँ यह देखें कि देशी भाषा और संस्कृत भाषा प्रकृत विषयमे अर्थके एक ही आसन पर अधिष्ठित होकर कैसे समान रूपसे शोभा दे रही है। ज्योही कोई भाव आकार प्राप्त करता है, त्योही रसकी वर्षा होने लगती है और चातुर्यकी शोभा बढ जाती है और वह अधिक खिलने लगता है। इसी प्रकार देशी भाषाका समस्त सौंदर्य तथा आवेश लूटकर लाया गया है और उसीके द्वारा इस गहन गीता तत्वका प्रतिपादन किया गया है। अब आप लोग यह सुने कि समस्त चराचरके श्रेष्ठ गुरु और चतुर जनोके चित्तको सन्तुष्ट करनेवाले उन यादवनाथ श्रीकृष्णने क्या कहा। श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य ज्ञानदेव कहता है कि श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, अब आत्मज्ञानका सम्पूर्ण प्रतिपादन सुनने के लिए तुम अपने अन्त करणसे सचमुच योग्य हो गये हो।

श्री भगवानुवाच—

भूय एवं महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

मैंने अब तक जो बाते कही थी, वह सब केवल यही जाननेके लिए कही थी कि इस विषयकी ओर तुम्हारा कितना ध्यान और अनुराग है। इस परीक्षासे यह सिद्ध हुआ है कि इस विषयकी ओर तुम्हारा ध्यान अधूरा नही बल्कि भरपूर है। पहले बरतनमें थोडा सा पानी डाला जाता है और यह देखा जाता है कि वह पानी उस बरतनमे ठहरता है या उसमेसे चू जाता है। और जब वह पहलेका डाला हुआ पानी उसमे बना रहता है और चू नही जाता, तभी उसमे और अधिक पानी डालकर वह बरतन भरा जाता है। इसीलिए मैंने तुम्हे पहले थोडी सी बाते बतलाई थी और यह सिद्ध हो गया है कि तुम्हे सब बातें बतला देना उचित है। जब कोई नया नौकर रखा जाय, तब उसकी परीक्षा करने के लिए कोई मूल्यवान् वस्तु किसी ऐसे स्थान पर रख देनी चाहिए, जहाँ सहजमेही उसकी दृष्टि उस वस्तु पर पडे। और जब उसके मनमे उस वस्तुके प्रति अभिलाषा न उत्पन्न हो और इस प्रकार वह अपनी विश्वसनीयताका पूर्ण रूपसे निश्चय करा दे, तब उस नौकरको भंडार या खजानेके काम पर नियुक्त करना चाहिए। इसी प्रकार हे अर्जुन, तुम मेरी कसौटी पर खरे उतरे हो और इसलिए अब तुम मेरे सर्वस्व हो गये हो।" 'सबके स्वामी श्रीकृष्णने इस प्रकार अर्जुनसे कहा, और तब जिस प्रकार ऊँचे पर्वतोको देखकर मेघ भर जाता और बरसनेके लिए तैयार हो जाता है; उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी प्रेमसे भर गये और कहने लगे—"हे वीरवर अर्जुन, सुनो। पहले जो बाते मैं तुम्हे बतला चुका हूँ, वही अब मैं तुम्हे फिरसे बतलाता हूँ। जब आदमी हर साल खेती करता रहता है और हर साल उसे अच्छी फसल मिलती रहती है, तब खेतीके लिए परिश्रम करनेमें उसका जी नही घबराता। बार बार आगमे तपाने पर और उसे साफ करने पर सोनेकी कान्ति और भी बढती चलती है। और इसी लिए, हे अर्जुन, लोग यह सम-

कही नाम है, और इसका स्मरण करते ही सहजमे प्रत्येक व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता है। इस अमृतकी वात सुनते ही सारा संसार निस्सार हो जाता है और सुननेवालेको ऐसी नित्यता प्राप्त होने लगती है जिसका कभी नाश हो ही नही सकता। जन्म और मरणकी बात समूल नष्ट हो जाती है और अन्दर बाहर सभी जगह आत्मानुभवके महासुखकी वृद्धि होने लगती है। अव यदि सौभाग्यसे ऐसा परमामृत सेवन करनेके लिए मिल जाय तो वह तुरन्त ही जीवको आत्म-स्वरूप कर डालता हे। और वह अमृत जव आप मेरे सामने परोस रहे हो तो यह सम्भव ही नही है कि मेरा चित्त उसके लिए कहे कि—'वस कीजिये'। हे देव, आपका नाम ही मुझे अत्यन्त मधुर जान पडता है। तिस पर आपके साथ प्रत्यक्ष मिलाप होता है और आपका सामीप्य भी होता है। इसके सिवा आप वहुत ही आनन्दपूर्वक मेरे साथ वाते भी करते है। ऐसी अवस्थामे, हे देव, मैं क्या वतलाऊँ कि यह परम सुख कैसा है? मेरे अन्त.करण को इतना अधिक सन्तोष हुआ है कि वाणीसे उसका वर्णन ही नही किया जा सकता। परन्तु हाँ, इतना अवश्य मेरी समझमे आता है कि आपके मुखसे इस परमामृतकी पुनरावृत्ति होनी चाहिए। नित्य वही सूर्य उदय होता है, परन्तु फिर भी क्या कभी कोई उसके सम्बन्धमे यह कहता हैं कि—"यह तो वही कलवाला वासी सूर्य है।" सबको पवित्र करनेवाली अग्निके सम्वन्धमे कभी यह कहा जा सकता है कि यह अपवित्र हो गई है, अथवा निरन्तर वहते रहनेवाले गंगाजलके सम्वन्धमे कभी यह कहा जा सकता है कि यह वासी हो गया है? जव आपने अपने मुखमे परमामृत वचनका लाभ कराया, तव मुझे ऐसा जान पडा कि आज शब्द-ब्रह्मने स्वय ही मूर्तिमान होकर अवतार लिया है अथवा चन्दनके वृक्षमे फूल भी लगे है और मैं उन फूलोकी सुगन्धका उपभोग कर रहा हूँ।" अर्जुनकी ये वातें सुनकर श्रीकृष्णके सव अग समाधानजन्य प्रेमसे हिलने लगे। वे अपने मनमे कहने लगे—"यह अर्जुन अव भक्ति-ज्ञानका भाडार वननेके योग्य हो गया है।" जिस अर्जुनका श्रीकृष्णने इस प्रकार स्वीकार किया था, उस अर्जुनके परम सन्तोषके कारण श्रीकृष्णके प्रेमका प्रवाह उमड पडा। परन्तु उस प्रवाहको वडे प्रयत्नसे रोककर उन्होने जो कुछ कहा, वह सुनिये।

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

श्रीकृष्णने अव अर्जुनसे इस प्रकार वाते करना आरम्भ किया कि मानो उन्हे इस वातका स्मरण ही नही रह गया था कि हम ब्रह्माके पिता हैं। वे वोले—"वावा अर्जुन, तुमने वहुत अच्छी वात कही है।" इस अवसर पर श्रीकृष्णने अर्जुनको जो "वावा" कहा, इसके लिए आश्चर्य नही होना चाहिए क्योकि वे स्वय नन्दके पुत्र थे ही। उस समय उनके मुखसे यह शब्द प्रेमके अतिरेकके कारण निकल गया था। अस्तु। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—"हे धनुर्धर, अव तुम मेरी वाते सुनो। हे सुभद्रानाथ अर्जुन, तुमने मेरी विभूतियोके सम्वन्धमे प्रश्न किया है, परन्तु मेरी विभूतियाँ

झने लगते है कि सोनेको खूब अच्छी तरह तपाकर शुद्ध करना चाहिए। इसी प्रकार मैं तुम पर कोई उपकार नही कर रहा हूँ, वल्कि स्वयं अपनी इच्छा और अनुरागसे अपने ही सन्तोषके लिए ये वाते तुमसे वार बार कहता हूँ। लोग छोटे छोटे वच्चों-को गहने पहना देते है। भला उन बच्चोको उन गहनोका क्या ज्ञान होता है? परंतु उन गहनोके सुखका उपभोग माताकी आँखे ही करती हैं। इसी प्रकार ज्यो ज्यो तुमको आत्महितका लाभ होता है, त्यो त्यो मेरा सुख भी बरावर दूना होता जाता है। परन्तु हे अर्जुन, अब इन आलंकारिक वातोको जाने दो। अव तो मैं स्पष्ट रूपसे तुम्हारे स्नेहमे भूल गया हूँ और इसी लिए अव मेरे प्रेमपूर्ण मनकी किसी तरह तृप्ति ही नही होती। इसी लिए मैं वही वातें तुमसे वार वार कहता हूँ। पर अव यह प्रस्तावना वहुत हो चुकी। अब तुम अपने मनको एकाग्र करके मेरी वाते सुनो। हे अर्जुन, मेरा रहस्य तत्व सुनो। देखो, मेरे ये अगाध वचन सुनो। इन वचनोंमें स्वयं परब्रह्म अक्षरोका रूप धारण करके तुम्हे आलिंगन करनेके लिए आ रहा है। परन्तु फिर भी, हे अर्जुन, मेरा वास्तविक और निश्चित ज्ञान अभी तक तुम्हे नही हुआ है। जो मैं यहाँ तुमको दिखाई पड रहा हूँ वही मैं यह सारा विश्व हूँ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

"मेरे स्वरूपका प्रतिपादन करनेमें वेदोने भी मौन स्वीकार कर लिया। मन अथवा वायुकी भी गति वहाँ तक नही है। रात न होने पर भी और दिन रहते भी सूर्य और चन्द्रमा निस्तेज हो गये है। जिस प्रकार माताके उदरमे रहनेवाला गर्भ माताका तारुण्य नही देख सकता, उसी प्रकार किसी देवताको कभी मेरा ज्ञान नही हो सकता। जिस प्रकार मछली अपार समुद्रको नाप नही सकती, अथवा मच्छर जिस प्रकार लाँघ कर गगन-मंडलका विस्तार पार नही कर सकता, उसी प्रकार इन महर्षियोका ज्ञान भी मेरा स्वरूप नही देख सकता। मै कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ और किससे उत्पन्न हुआ हूँ, आदि प्रश्नोका निर्णय करते करते लोगोको अनेक कल्प वीत गये। और इसका कारण यही है कि ये जितने देवता, महर्षि और दूसरे समस्त भूत है उनका मूल कारण मैं ही हूँ। इसीलिए, हे अर्जुन, उन लोगोको मेरा ज्ञान होना वहुत ही कठिन है। यदि नीचे की ओर वहता हुआ पानी फिर उलटकर पर्वत पर चढ़ सकता हो अथवा ऊपरकी ओर वढ़ता हुआ वृक्ष यदि फिर अपनी जड़ की ओर चलकर उससे मिल सकता हो तो फिर मुझसे उत्पन्न होनेवाला यह संसार भी मुझे जान सकता है। यदि वट वृक्षोमेंसे रसनेवाले जलसे ही सारा वट वृक्ष ढँका जा सकता हो अथवा पानी की तरंगो में सारा समुद्र भरा जा सकता हो अथवा मिट्टीके सूक्ष्म कणोमे यह सारी पृथ्वी समा सकती हो, तभी ये भूत मात्र, महर्षि तथा देवता आदि, जो मुझसे ही उत्पन्न हुए है, मुझे जान सकते है।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

"लेकिन इतना होने पर भी जो कोई सहज तथा लौकिक प्रवृत्तिको आगे वढ़ाने-

अपार है। यह ठीक है कि वे सव विभूतियाँ मेरी ही है, परन्तु वे इतनी अधिक हैं कि स्वयं मेरी वुद्धि भी उनका आकलन नही कर सकती। जिस प्रकार कोई यह नही वतला सकता कि मेरे अपने शरीर पर कितने रोम हैं, उसी प्रकार मैं अपनी विभूतियाँ भी नही गिना सकता। मुझे स्वयं ही इस वातका स्पष्ट ज्ञान नही होता कि मै कितना वड़ा और कितना व्यापक हूँ। इसलिए मैं तुम्हे अपनी केवल मुख्य मुख्य विभूतियाँ ही वतलाता हूँ। तुम वही सुनो। हे अर्जुन, इस प्रसिद्ध विभूतियोको जान लेने पर उनके द्वारा दूसरी गौण विभूतियोका भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार वीज हाथमे आ जाने पर स्वयं वृक्ष ही मानो अपने हाथमे आ जाता है अथवा सारा वाग ही अपने हाथमें आ जाता है अथवा फल-फूल आदि सव आपसे आप प्राप्त हो सकते है, उसी प्रकार इन विभूतियोको देखने पर मानो सारा विश्व ही देखा जा सकता है। और नही तो, हे अर्जुन, मेरा विस्तार; मेरी अखिल विभूतियाँ अपरम्पार ही हैं। देखो, यह गगन इतना निस्सीम है, परन्तु वह भी मुझमें न जाने कहाँ समा जाता है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

"मस्तक पर घुँघराले वाल धारण करनेवाले और धनुर्विद्यामें दूसरे शंकर, हे अर्जुन सुनो। मैं भूत-मात्रमे आत्म-रूपसे निवास करता हूँ। भूतोके अन्दर भी मैं ही रहता हूँ और उनके वाहर या ऊपर भी मेरा ही आवरण है। उनका आदि, मध्य और अन्त सव कुछ मैं ही हूँ। जिस प्रकार मेघोके नीचे भी और ऊपर भी, अन्दर भी और वाहर भी, सव जगह आकाश ही आकाश रहता है, वे आकाश-रूप ही होते है और उनका, आधार भी आकाश ही होता है और जव वे विलीन होते है, तव भी वे आकाश-रूप होकर रहते है, उसी प्रकार समस्त भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति तथा गति सव कुछ मैं ही हूँ। इस प्रकार विभूतियोके द्वारा मैं नाना प्रकारका और व्यापक हूँ। इसलिए तुम अपनी सारी चैतन्य शक्तिको अपनी श्रवणेन्द्रियोमे एकत्र करके सुनो। अव मैं तुम्हे अपनी विभूतियाँ वतलाऊँगा। हे अर्जुन, जो विभूतियाँ वतलानेके लिए मैंने तुम्हे वचन दिया है, उनमेसे मुख्य-मुख्य विभूतियाँ सुनो।"

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

इतना कहकर कृपालु श्रीकृष्णने फिर कहा—"वारह आदित्योमें विष्णु मेरी प्रधान विभूति हैं और प्रकाशमान् पदार्थोमे मैं सूर्य हूँ। उनचास मरुद्गणोमें मै नारायण ही मरीचि हूँ और तारागणोमें मै चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥

"मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवताओमें मरुद्वन्ध इन्द्र हूँ, इन्द्रियोमें ग्यारहवी इन्द्रिय मन हूँ और भूत मात्रमें जो स्वाभाविक चेतना शक्ति है, वह सारी शक्ति भी मै ही हूँ।

वाली चाल छोडकर इन्द्रियोसे परांङ्मुख होता है अथवा जिसकी प्रवृत्तिकी वह आगे-वाली चाल जारी रहती है, वह भी यदि पीछेकी ओर मुड़कर और अपना देह-भाव भूलकर पंचमहाभूतोके शिखर पर चढ जाता है और वहाँ अच्छी तरह जमकर अपनी आँखोसे मेरा जन्म-मरण-हीन स्वरूप देखता है और जो इस प्रकार मेरा वह शुद्ध शाश्वत स्वरूप जानता है जो मूल कारणसे परेका और समस्त लोगोका नियन्ता है, उसके सम्बन्धमे तुम्हे यही समझ लेना चाहिये कि वह जीव-रूपी पत्थरोमें पारसके ही समान है। जिस प्रकार सव रसोमे अमृत श्रेष्ठ है, उसी प्रकार उसके सम्वन्धमे तुम्हे यह समझ लेना चाहिए कि वह मनुष्यमात्रमे प्रत्यक्ष मेरा ही अश है। ऐसे पुरुषको चलते-फिरते ज्ञान सूर्यका मण्डल ही समझना चाहिए। उसके अवयव मानो सुख-रूपी वृक्षके कोमल अंकुर ही होते हैं। उसमे जो मनुष्य-भाव दिखाई पडता है, वह वास्तवमें भ्रम है और केवल लौकिक दृष्टिके कारण दिखाई पडता है। उसके उस मनुष्य-भावमे सत्यका अंश बिलकुल नही है। यदि कपूरमे किसी प्रकार हीरा भी मिल जाय और दोनोके ऊपर कहीसे पानी आ पडे तो कपूर तो गल जायगा, परन्तु उसके साथ वह हीरा नही गलेगा। इसी प्रकार ऐसा पुरुष मनुष्य-लोक मे रहनेके कारण भले ही ऊपरसे देखने पर प्रकृत मनुष्योके समान दिखाई पड़े, परन्तु फिर भी उसमे मायाके दोषकी गन्ध भी नही होती। पाप आपसे आप उसे छोडकर दूर चले जाते है, और जिस प्रकार जलते हुए चन्दनके वृक्षको छोडकर साँप दूर हट जाता है, उसी प्रकार समस्त सकल्प उस मनुष्यको भी छोडकर दूर चले जाते है जो मुझे जानता है। अब यदि तुम्हारे मनमें यह प्रश्न उत्पन्न हो कि मेरा इस प्रकारका ज्ञान मनुष्यको कैसे हो सकता है, तो वह उपाय मै तुम्हे वतलाता हूँ। तुम सुनो कि मेरे भाव अर्थात् विकार कौन-कौन से है, मै कैसा हूँ और मेरे धर्म कैसे है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

"मेरे जो भाव भिन्न भिन्न समस्त भूतोमे भरे हैं, वे इस प्रकार तीनों लोकोमे फैले हुए हैं कि जहाँ और जिसमे वे रहते हैं, उसकी स्थितिके अनुरूप ही रहते हैं। उन भावो या विकारोमे पहला स्थान बुद्धिका है। इसके उपरान्त नि सीम ज्ञान, मोहका अभाव, सहनशीलता, क्षमा और सत्य है। इसके उपरान्त मनोनिग्रह और इन्द्रिय-नियन्त्रण ये दो वाते हैं। इसी प्रकार, हे अर्जुन, संसारके सुख दु ख और जन्म मरण भी मेरे ही भावोमे आते है। यहाँ तक कि भय और निर्भयता, अहिंसा और समता, सन्तोप और तप, दान यश और अपयश आदि जो भाव भूत-मात्रमे दिखाई पड़ने हैं, उनकी उत्पत्ति भी मुझसे ही हुई है। जिस प्रकार सव भूत अलग-अलग हैं, इसी प्रकार यह भाव भी अलग-अलग हैं। परन्तु इनमेसे कुछको तो मेरा ज्ञान होता है और कुछको नही होता। प्रकाश और अन्धकार दोनो ही सूर्यके कारण होते हैं।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरु शिखरिणामहम् ॥२३॥

- "चौदह रुद्रोमे मैं मदन-शत्रु शंकर हूँ, यज्ञो और राक्षसोमे शम्भुका मित्र कुवेर हूँ, आठ वसुओनें अग्नि हूँ और समस्त पर्वतोमे अत्यन्त श्रेष्ठ मेरु पर्वत हूँ। सव कुछ मैं ही हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

"समस्त पुरोहितोमे स्वर्गाधिपतिका आधार तथा समस्त ज्ञानका मूल-स्थान बृहस्पति भी मैं ही हूँ। इस त्रिभुवनके सेनापतियोमे कृत्तिकान्त शंकरसे उत्पन्न महाज्ञाता कार्त्तिक स्वामी भी मैं ही हूँ। सरोवरोमे जलका अपार संग्रह सागर हूँ और महर्षियोमें महान् तपस्वी भृगु भी मैं ही हूँ। समस्त साहित्यमे सत्यका क्रीडास्थल मैं ही हूँ। कर्मकाडका त्याग करके ओकार आदि के द्वारा जिस जप-यज्ञकी सागता की जाती है, वह जप-यज्ञ समस्त यज्ञोमे मेरी प्रधान विभूति है। नामके जपका यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है। इसके लिए स्नान आदि नित्य कर्मोकी भी अपेक्षा नही होती। धर्म और अधर्म दोनो ही नामघोषसे पावन होते है। वेदार्थसे भी नाम ही परब्रह्म ठहरता है। अटल पर्वतोमे मैं पुण्य-राशि हिमालय पर्वत हूँ।"

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्णने कहा—"पारिजात तो प्रत्यक्ष कल्प-वृक्ष ही है और चन्दनका गुण भी वहुत अधिक प्रसिद्ध है। तो भी वृक्षोकी कोटिमे मेरी प्रधान विभूति पीपल है। हे अर्जुन, देवर्षियोमे नारद और समस्त गन्धर्वोमे चित्ररथ भी मैं ही हूँ। हे ज्ञाता अर्जुन, समस्त सिद्ध योगियोमे कपिलाचार्य मैं ही हूँ और समस्त अश्व जातिमें उच्चै श्रवा भी मैं ही हूँ। हे अर्जुन, जो हाथी राजाओके भूषणके समान जान पडते है, उनमे ऐरावत भी मैं ही हूँ। समुन्द्रका मन्थन करने पर देवताओको जो अमृत रस मिला था, वह भी मैं ही हूँ। जिसकी आज्ञा सारी प्रजा शिरोधार्य करती है, समस्त जनतामे उसी राजाको मेरी प्रधान विभूति समझना चाहिए।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

जब सूर्य उदय होता है, तब प्रकाश दिखलाई पड़ता है, और जब वह अस्त होता है, तब अन्धकार हो जाता है। इसी प्रकार मुझे जानना अथवा न जानना उन भूतोके दैव अर्थात् कर्मोंके फलोके अनुसार होता है। इसी कारण भूत मात्रके लिए मेरे भावोका अस्तित्व विषम होता है। इस प्रकार, हे अर्जुन, यह सारी भूत-सृष्टि मेरे भावोमे जकडी हुई है। अब इस सृष्टिका पालन करनेवाले और समस्त लोक-व्यवहार को अपने अधीन रखनेवाले ग्यारह भाव भी है। अब उनका वर्णन सुनो।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

"समस्त महर्षियोमे गुणो और ज्ञानमे श्रेष्ठ जो कश्यपादि सप्तर्षि है और चौदह मनुष्योमे जो स्वायम्भू आदि चार मुख्य मनु है, हे अर्जुन, वही ग्यारह मेरे ये भाव है। वे मेरे मनसे उत्पन्न हुए है और उनकी उत्पत्तिका हेतु सृष्टिका व्यापार है। जब तक लोकोकी रचना नही हुई थी और जब तक इन तीनो भुवनोका विस्तार नही हुआ था, तब तक महाभूतोका समूह निष्क्रिय ही था। पीछे इन ग्यारहोका अस्तित्व हुआ और इन्होने सब लोकोको उत्पन्न किया और उन लोकोमे भिन्न भिन्न आठ लोकपाल अधिपति नियुक्त किये। इस प्रकार ये ग्यारहो राजा है और बाकी सारा जगत इनकी प्रजा है। तात्पर्य यह कि तुम इस बातका ध्यान रखो कि यह सारा विश्व मेरा ही विस्तार है। देखो, आरम्भमे केवल एक ही बीज रहता है। फिर उसी बीजके बढनेसे जड निकलती है। तब उस जड़मेसे अंकुर निकलता है और तब उन्ही अंकुरोसे शाखाएँ-निकलती है। फिर उन शाखाओमे भी दूसरी शाखाएँ निकलती है; और सब शाखाओमे पत्ते निकलते है। उन्ही पत्तोमे फल और फूल आते हैं। इस प्रकार वृक्षत्व पूर्णता प्राप्त करता है। परन्तु यदि इस वृक्षत्वका अच्छी तरह विचार किया जाय तो यही सिद्ध होता है कि वह सब उसीके छोटेसे बीजका विस्तार है। इसी प्रकार "मै" भी एक ही मूल तत्व हूँ। उस 'मै' ने ही मन उत्पन्न किया है और इसी मनसे सातो ऋषि और चारो मनु उत्पन्न हुए है। लोकपालोको यही ग्यारहो अस्तित्वमे लाये हैं। और इन लोकपालोने अनेक प्रकारके जन उत्पन्न किये है, और उन जनोसे सारी प्रजाने जन्म लिया है। इस प्रकार सारे जगतका मैने ही विस्तार किया। परन्तु ये सब बाते किसकी समझमे आती है? उसीकी समझमे आती है जिसके मनमे इन भावोकी उत्पत्तिके विषयमे श्रद्धा होती है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

"इस प्रकार, हे अर्जुन, ये भाव मानो मेरी मूर्त्तियाँ ही हैं और इन्होने सारा विश्व व्याप्त कर रखा है। इसी लिए ब्रह्मासे लेकर कीडे-मकोड़ो तक इस सृष्टिमे मेरे सिवा और कोई वस्तु नही है। जिसे इस बातका पता लग जाता है, उसमे ज्ञानकी जाग्रति हो जाती है और तव उसे श्रेष्ठ तथा कनिष्ठ, अच्छे और बुरे आदि भेद-भावकी कल्पनाओके दुष्ट स्वप्न नही आते। मै जो कुछ हूँ, वह मेरी विभूति है और समस्त व्यक्तियाँ मेरी उसी विभूतिके अधीन है। इसलिए आत्म-योगके अनुभवसे

"सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्रके हाथमे जो वज्र रहता है, वह वज्रही समस्त शस्त्रोमें मेरी प्रधान विभूति है। गौओमे कामधेनु और उत्पादकोमे मदन मेरी प्रधान विभूति है। हे अर्जुन, सर्प कुलमे सर्पाधिपति वासुकी और नाग-गणोमे अनन्त नामका नाग मै ही हूँ। समस्त जलचरोमे जो पश्चिम दिशाका अधिपति वरुण हूँ, वह भी मै ही हूँ। समस्त पितृगणोमे अर्यमा नामक पितृ-देवता मेरी प्रधान विभूति है। समस्त संसारके शुभाशुभ कर्मोका लेखा रखनेवाला, सबके अन्त करणकी जाँच करनेवाला और उन्हे कर्मानुसार फलभोग करानेवाला जो नियन्ता है और सबके कर्मोको निरन्तर देखनेवाला जो यम है, वह भी मेरी प्रधान विभूति है।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥३०॥

"दैत्योमे प्रह्लाद मेरी प्रधान विभूति था, इसी लिए उसे दैत्यत्वकी बाधा नही हुई। ग्रसकर नष्ट करनेवाला महाकाल और वन्य पशुओमे सिंह मैं ही हूँ। पक्षियोमे गरुड मेरी प्रधान विभूति है और इसी लिए वह मुझे अपनी पीठ पर सवार कराके उड़ सकता है।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥३१॥

"हे अर्जुन, इस पृथ्वीके असीम विस्तारमे जो बिना एक घडी भी लगाये और एक ही उडानमे सातो समुद्रोकी प्रदक्षिणा कर सकता है, वह सबसे बढ़कर वेगवान पवन भी मैं ही हूँ। हे अर्जुन, समस्त शस्त्रधारियोमे मैं राम हूँ, क्योकि श्री रामने संकटमे पडे हुए धर्मका पक्ष लेकर अपनी सहायताके लिए केवल एक धनुष अपने पास रखकर त्रेता युगमे विजय-लक्ष्मीसे अकेले अपना ही वरण कराया था। इसके उपरान्त लंकाके पासके सुवेल पर्वत पर खडे होकर उन्ही श्रीरामने लंकाधिपति रावणकी मस्तक-पंक्ति आकाशमें जय-जय कारका घोष करनेवाले भूतोके हाथो पर बलि-स्वरूप रखी थी। उन्ही रामने देवताओके मानकी रक्षा की थी और धर्मका जीर्णोद्धार किया था। ये सचमुच सूर्यवंशके सूर्य ही थे। अत. समस्त शस्त्रधारियोमे वह सेनापति राम मैं ही हूँ। पुच्छधारी जलचर प्राणियोमे मैं मकर हूँ। जिस समय गगाको राजा भगीरथ पृथ्वी-तल पर ला रहे थे, उस समय राजा जह्नु उस गगाको पान कर गये थे और फिर उन्ही राजा जह्नुने अपनी जाँघ चीरकर उसमेंसे गंगाको निकाला था। वही तीनो भुवनोमे बहनेवाली जाह्नवी समस्त जल-प्रवाहोमे मेरी प्रधान विभूति है। परन्तु हे अर्जुन, यदि मैं इस प्रकार सारी सृष्टिकी एक एक विभूतिका नाम गिनाने लगूँ तो सैकडो जन्म बीत जाने पर भी उनमेसे आधी विभूतियोके नाम भी न गिनाये जा सकेंगे।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥३३॥

"यदि समस्त नक्षत्रोको एकत्र करनेकी इच्छा हो तो जिस प्रकार आकाशकी गठरी बाँधनेकी आवश्यकता होगी अथवा यदि पृथ्वीके अणुओ और रेणुओको गणना करनेके लिए सारी पृथ्वीको बगलमे दबानेकी आवश्यकता होगी, उसी प्रकार यदि मेरी समस्त विभूतियोको देखनेकी इच्छा हो तो स्वयं मेरा ही ज्ञान प्राप्त करना पडेगा। जिस प्रकार यदि शाखाओ सहित समस्त फूलो और फलोको अपने हाथमे लेनेकी इच्छा हो तो जड सहित वृक्षको ही उखाडकर हाथमे लेना पडेगा, उसी प्रकार यदि मेरी समस्त विभूतियोका ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो तो मेरे निर्दोष व्यापक स्वरूपका ही ज्ञान प्राप्त करना पडेगा। और नही तो मैं अपनी भिन्न भिन्न विभूतियाँ कहाँ तक गिनाऊँगा ? इसलिए तुम सबका साराश यही समझ लो कि मैं ही सब कुछ हूँ। जिस प्रकार वस्त्रके आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और नाश इन तीनो अवस्थाओमे तन्तु ही तन्तु रहते है; उसी प्रकार इस सृष्टिकी तीनो अवस्थाओमे मै ही ओत-प्रोत भरा हुआ हूँ। जब मेरी इस व्यापकताका ज्ञान न हो, तब फिर अलग अलग सब विभूतियाँ बतलानेकी क्या आवश्यकता है ? परन्तु तुममे इतनी सामर्थ्य नही है कि तुम मेरी इतनी व्यापकता समझ सको, इसलिए मैंने तुम्हे इतनी बाते बतला दी है और तुम्हारे लिए यही बाते यथेष्ट है। परन्तु तुमने जिस दृष्टिसे मेरी विभूतियोके सम्बन्धमे प्रश्न किया है, उसी दृष्टिसे मैं भी बतलाता हूँ, सुनो। समस्त विद्याओमे वह अध्यात्म विद्या ही मेरी प्रधान विभूति है जिसका प्रकरण इस समय चल रहा है। बोलनेवालोमे जो वाद होता है और जिसके सम्बन्धमे न तो कभी समस्त शास्त्रोकी एकवाक्यता ही होती है और न जिसका कभी अन्त ही होता है, वह वाद भी मै ही हूँ। दूर करने या मिटाने का प्रयत्न करने पर जो वाद और भी बढता है और जोर पकडता है, जिसके कारण सुननेवालोके मनमे उत्प्रेक्षासे ईर्ष्या बढती है और जिससे वक्ताओके भाषणमे माधुर्य आता है, वह वाद भी मेरी ही विभूति है। अक्षरोमे जो पहला अक्षर अ-कार है, वह भी मैं ही हूँ। समासोमे मैं द्वन्द्व समास हूँ। च्यूँटीसे लेकर ब्रह्मा तक सबको खा जानेवाला काल मै ही हूँ। जो अनन्त काल मेरु और मन्दर आदि पर्वतोके सहित सारी पृथ्वीको गला देता है, प्रलय कालमे सारे विश्व को जलमय करने वाले असीम सागरको भी जो महाकाल जहाँ का तहाँ सुखा देता है और आकाश जिसके उदरमे समा जाता है, वह महाकाल मै ही हूँ। और इसी प्रकार फिरसे सृष्टि उत्पन्न करनेवाला भी मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिःश्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिःक्षमाः॥ ३४॥

"मैं ही समस्त भूतोको उत्पन्न करता हूँ, मैं ही उन सबका पालन करता हूँ और अन्तमे मैं ही उनका सहार भी करता हूँ, इसलिए मृत्यु भी मैं ही हूँ। अब स्त्री-समूहमे मेरी सात विभूतियाँ है, वह भी मै तुम्हे यो ही बतला देता हूँ। हे अर्जुन, जो कीर्ति कभी नष्ट नही होती, वह भी मै ही हूँ, और उदारताकी जिसे संगति प्राप्त हुई है, वह सम्पत्ति भी मै ही हूँ। जो वाणी न्यायके आधार पर सुखसे विवेकके मार्ग पर चलती रहती हैं, वह वाणी भी मैं ही हूँ। दिखाई पडनेवाली वस्तुके साथ ही

चाहिए।" इस पर श्रीकृष्ण बीचमे ही बोल उठे—"हे अर्जुन, अब यह व्यर्थका विस्तार रहने दो। तुम मुझे यह बतलाओ कि अब तुम और क्या चाहते हो।"

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

अर्जुनने कहा—"हे देव,आपने मुझे ज्ञानका जो उपदेश किया है, उससे मुझे समाधान प्राप्त हुआ है। अब जिसके आद्य संकल्पसे इस विश्वका निर्माण होता है और यथा-समय लयको भी प्राप्त होता है, जिसे आप स्वयं "मैं" कहते हैं, आपका जो वह मूल स्वरूप है जिससे आप देवताओके संकटोका निवारण करनेके लिए द्विभुज, चतुर्भुज आदि अनेक प्रकारके रूप धारण करते है, परन्तु जल-शयनके निमित्तसे अथवा मत्स्य, कूर्म आदिके रूपमे किये जानेवाले नाटकोके समाप्त होने पर आपकी सगुणता जिस स्थानमे लीन होती है, उपनिषद् जिसका गान करते है, अपनी दृष्टिको अन्तर्मुख करके योगी जिसे देखते हैं और सनक आदि भक्त जिसे सदा अपने हृदयसे लगाये रहते है और आपके जिस अनन्त विश्व-स्वरूपका वर्णन मैं बराबर कानोसे सुनता आया हूँ, हे प्रभु, आपका वही विश्व-स्वरूप अपनी आँखोसे देखनेके लिए मेरा मन बहुत अधिक उत्सुक हो रहा है। हे देव, आपने मेरे सब संकट दूर करके अब तक बडे प्रेमसे मेरी प्रत्येक कामना पूरी की है। अब मेरे मनमे केवल एक ही कामना बाकी रह गई है। मेरे मनमे इस बातकी बहुत बड़ी उत्कंठा है कि आपके उस विश्व-स्वरूपके दर्शन मुझे इन आँखोसे हो जायँ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

"परन्तु हे नारायण, इस विषयमे एक शंका है। यह बात स्वयं मेरी ही समझमें नही आती कि आपके विश्व-रूपका दर्शन करनेकी पात्रता मुझमे है या नही। हे देव, यदि आप मुझसे यह पूछें कि यह बात क्यो तुम्हारी समझमें नही आती, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या कोई रोगी स्वयं ही कभी अपने रोगका निदान कर सकता है? और मेरी इस इच्छाकी उत्सुकता इतनी प्रबल है कि उसके सामने मैं यह बात भी बिलकुल भूल जाता हूँ कि इस इच्छाके अनुरूप मुझमे योग्यता भी है या नही। जिस प्रकार किसी प्यासे आदमीके सामने स्वयं समुद्र भी रख दिया जाय तो भी वह वह कभी "बस" नही कहता, उसी प्रकार इस प्रबल इच्छाके फेरमे मैं अपने आपको सँभाल नहीं सकता। इसी लिए जिस प्रकार केवल माता ही जानती है कि मेरे छोटे बालकमे कितनी योग्यता है, उसी प्रकार, हे जगदीश, आप ही मेरी योग्यताका विचार करे और तब मुझे विश्व-रूपके दर्शन कराना आरम्भ करें। हे देव, आप इतनी कृपा अवश्य करें। और नही तो यही कह दें कि तुम्हारी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकती। यदि किसी बहिरेके सामने व्यर्थ ही संगीतके पंचम स्वरका आलाप किया जाय तो भला उससे उसे क्या सुख हो सकता है? क्या केवल चातककी प्यास बुझने-के बहानेसे ही मेघ सारे संसारके लिए यथेष्ट वर्षा नहीं करता? परन्तु यदि वह वर्षा

साथ उसके सम्बन्धकी समस्त बातोको याद दिलानेवाली स्मृति भी मै ही हूँ। इसी प्रकार आत्म-हितका साधन करनेवाली बुद्धि; धैर्यकी वृत्ति और सर्वत्र दिखाई पड़नेवाली क्षमा ये सब मेरी ही प्रधान विभूतियाँ हैं, इस प्रकार स्त्री-समूहमे ये सातो शक्तियाँ मैं ही हूँ।" संसार रूपी हस्तीका नाश करनेवाले सिंह श्रीकृष्णने ये सब बाते उस समय अर्जुनसे कही।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५ ॥

इसके उपरात लक्ष्मीपति श्रीकृष्णने कहा—"तीनो वेदोमेके सामवेदमे जो बृहत् साम है, वह भी, हे सखा अर्जुन, मैं ही हूँ। समस्त छन्दोमे गायत्री नामक-छन्द मैं ही हूँ। इस विषयमें तुम्हे तिल भर भी सन्देह नही होना चाहिए। बारह महीनोमे मार्गशीर्ष और छ ऋतुओमे वसन्त ऋतु भी मै ही हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६ ॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कविनामुशना कविः॥ ३७ ॥

"छलनेवाले कामोमें जो द्यूत कर्म है, हे अर्जुन, वह मैं ही हूँ। इसलिए जब कोई द्यूत कर्मके द्वारा खुले आम चोरी करके किसी को लूटता है तो उसका कोई निवारण नही कर सकता। समस्त तेजस्वी पदार्थोका तेज मैं हूँ। समस्त कार्य करनेके सकल्पोमे जो विजय है, वह भी मैं ही हूँ। समस्त उद्योगोमे न्यायको उज्वल करनेवाला व्यवसाय भी मैं ही हूँ। समस्त सत्त्वपूर्ण पुरुषोका सत्व मै ही हूँ और समस्त यादव-कुलमे जो ऐश्वर्यवान् वसुदेव और देवकीका लड़का था, परन्तु जिसे यशोदाकी लडकीके बदलेमे गोकुलमे ले गये थे और जिसने पूतनाके दूधके साथ ही साथ उसके प्राणोको भी पान कर लिया था, जिसने अभी अपनी बाल्यावस्था समाप्त करते करते ही सारी सृष्टिको दैत्य-हीन कर डाला था और गोवर्धन पर्वत नखाग्र पर उठाकर महेन्द्रके महत्वकी परीक्षाकी थी, यमुनाके दहमेसे जिसने कालिय-रूपी शल्य निकाल बाहर किया था, जिसने जलते हुए गोकुलकी रक्षाकी थी और गौओ तथा बछडोके हरणके समय ब्रह्माको अपनी मायासे पागल बना दिया था, जिसने अपनी बाल्यावस्थाके उदय-कालमे ही कंस सरीखे बडे बडे लोगोको भी सहजमे धूलमे मिला दिया था, परन्तु इतनी बडी बातोसे क्या लाभ, हे अर्जुन, जिसके पराक्रमके कृत्य तुमने स्वयं देखे हैं अथवा सुने है, वह श्रीकृष्ण इन सब यादवोमे मेरी प्रधान विभूति है। और चंद्र वंशमे जन्म लेनेवाले तुम पाँडवोमे जो अर्जुन है, उसके सम्बन्धमे भी यही समझ लो कि वह भी मैं ही हूँ और इसीलिए उसके तथा मेरे प्रेम-भावमे कभी अन्तर नही होता और इसके साथ कभी मेरा बिगाड नही होता। तुम संन्यासीका वेप धारण करके मेरी बहन सुभद्राको भगा ले गये थे, परन्तु फिरभी तुम्हारे संबंधमे कभी मेरे मनमे कोई विपरीत भावना नही उत्पन्न हुई। क्योकि मै और तुम दोनो एक ही स्वरूप है।"

भी किसी चट्टान पर हो तो वह व्यर्थ ही जाती है। यह बात नही है कि चन्द्रमा केवल उतनी ही चन्द्रिकाका विस्तार करता हो जितनी चकोरके लिए आवश्यक होती है और दूसरोको उससे वंचित ही रखता हो। परन्तु यदि किसीके आँखे ही न हो तो उसके लिए चन्द्रमाका वह प्रकाश व्यर्थ होता है। इसी लिए मेरे मनमे इस बातका पूरा पूरा विश्वास है कि आप मुझे अपने विश्व-रूपके अवश्य दर्शन देगे। क्योकि ज्ञानी और अज्ञानी सभी के लिए आपका स्वरूप सदा अद्‌भुत और अलौकिक ही है। आपकी उदारता विलकुल निराले ढंगकी, स्वयं-सिद्ध और अनिर्वन्ध है। आप जव दान देने लगते है, तब योग्य और अयोग्यका कुछ भी विचार नही करते। मोक्ष सरीखी पवित्र वस्तु आपने अपने कट्टर शत्रुओ तकको दे डाली है। वास्तवमे मोक्ष प्राप्त होना कितना कठिन है! परन्तु वह भी आपके चरणोमे लगा रहता है और इसी लिए आप उसे जिधर भेज देते हैं, वह उधर ही चला जाता है। जो पूतना राक्षसी आपको अपना जहर मिला हुआ दूध पिलाकर मार डालनेके लिए आई थी, उसे भी आपने सनक आदि सनत्कुमारोकी भाँति ही सायुज्य मुक्तिका मधुर स्वाद चखाया था। फिर हमारे राजसूय यज्ञमे त्रिभुवनके सभासद-मंडलके सामने जिसने सैकडो प्रकारके दुष्ट वचन कहकर आपकी अप्रतिष्ठा की थी, उस महादुष्ट अपराधी शिशुपाल-को भी, हे गोपाल कृष्ण, आपने आत्म-स्वरूपमे मिला लिया। उस उत्तानपाद राजा-के पुत्रकी क्या ध्रुव (अक्षय) पद प्राप्त करनेकी इच्छा थी? वह तो वनमे केवल इसी हेतुसे गया था कि मुझमे अपने पिताकी गोदमे बैठनेकी योग्यता आ जाय। परंतु आपने उसे स्वय ध्रुव-पद प्रदान करके चन्द्रमा और सूर्यसे भी बढ़कर श्रेष्ठ बना दिया। इस प्रकार दु.खसे ग्रस्त लोगोकी बिना आगा-पीछा सोचे उदारतापूर्वक कृपादान देनेवाले एक मात्र आप ही हैं। अजामिलने केवल अपनी ममताके कारण अपने नारायण नामक पुत्रको पुकारा था। परन्तु उसके 'नारायण' नाम उच्चारण करनेके बदलेमे ही आपने उसके पापी चरित्रकी ओर ध्यान न देकर उसे आपने मुक्ति-पद प्रदान कर दिया। जिन भृगु ऋषिने आपकी छाती पर लात मारी थी, उनकी लातका चिह्न आप अब तक भूषणके समान धारण करते हैं, और आपके शत्रु शंखासुरका शरीर जो शंख है, उसे आप अपने हाथमें बड़े आदरसे धारण करते है। इस प्रकार आप अपकार करने-वालेका भी उपकार करते है। आप अयोग्यके प्रति भी अपनी उदारता दिखलाते है। आपने पहले तो राजा बलिसे दान माँगा और तव स्वय ही उलटे उसके द्वारपाल वन गये। जो वेश्या कभी आपकी भक्ति नही करती थी, यहाँ तक कि कभी आपका नाम भी नही सुनती थी और केवल अपने मनोविनोदके लिए अपने तोतेको 'राम-राम'' कहना सिखलाती थी, उसे भी केवल इस नामोच्चारणके निमित्त ही आपने वैकुण्ठका सुख प्राप्त करनेका सुभीता कर दिया। इस प्रकार केवल झूठे वहाने निकालकर आप अपनी इच्छासे वलपूर्वक मुक्ति-पदका दान वहुतोके पल्ले वाँध देते है। फिर भला वही आप मेरे लिए अपनी उदारता छोडकर दूसरे प्रकारका व्यवहार कैसे करेंगे? जो कामधेनु अपने दूधके प्रभावसे ही सारे ससारके

इसके उपरान्त यादव श्रेष्ठ श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन समस्त मुनिगणो मे व्यास मैं ही हूँ और कविवरोमे शुक्र भी मै ही हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥३८॥

"च्यूँटीसे लेकर ब्रह्मा तक सबका नियन्त्रण करनेवाला जो दण्ड है, समस्त शासन-कर्त्ताओमे वह दण्ड मै ही हूँ अच्छे और बुरेका निर्णय करनेवाला और धर्म ज्ञानका पक्ष लेनेवाला समस्त शास्त्रोका नीति-शास्त्र मै हूँ। हे मित्र अर्जुन, समस्त गूढोमें मै मौन हूँ, क्योकि मौन धारण करनेवाले के सामने ब्रह्माकी भी कुछ नही चलती। ज्ञानी-जनोमे जो ज्ञान रहता है, वह भी मै ही हूँ। परन्तु इन विभूतियोका कहाँ तक वर्णन किया जाय! इनका कही अन्त ही नही है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥३९॥
नान्तोऽस्मि मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतैर्विस्तरो मया॥४०॥

"हे धनुर्धर अर्जुन, वर्षाकी धारोकी गिनती की जा सकती है अथवा पृथ्वी पर के अंकुरो और तृणोकी संख्या भी जानी जा सकती है, परन्तु जिस प्रकार समुद्रकी लहरोका कोई प्रमाण नियत नही किया जा सकता, उसी प्रकार मेरी प्रधान विभूतियोकी भी कोई सीमा नही है। इनमेसे जो पाँच-सात मुख्य विभूतियाँ मैंने तुम्हे बतलाई है, हे अर्जुन, वे सब ऊपर ऊपर से तुम्हे परिचय करानेके लिए ही है। मेरी बाकी बची हुई विभूतियोके विस्तारकी कोई सीमा ही नही है, इसलिए तुम सुनोगे क्या और मै बतलाऊँगा क्या? इसलिए अब मै तुम्हे अपना सारा रहस्य ही बतला देता हूँ। इन समस्त भूतरूपी अंकुरोमे जिस बीजका विस्तार होता है, वह बीज मैं ही हूँ। इसलिए किसीको कभी छोटा या बडा नही कहना चाहिए, ऊँच-नीचका भेद भाव छोड देना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि जितनी वस्तुएँ है, वे सब मैं ही हूँ। तो भी सुनो, मैं अब तुम्हे एक साधारण चिह्न बतला देता हूँ। उसी चिह्नसे तुम मेरी विभूतियोको पहचान सकोगे।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम्॥४१॥

"हे अर्जुन, जिन जिन भूतोमे ऐश्वर्य तथा दयालुता दोनो गुण एकत्र दिखाई पडें, उनके सम्बन्धमे तुम यह समझ लेना कि वे मेरी विभूति है।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२॥

"आकाशमे सूर्यका केवल एक ही बिम्ब रहता है, परन्तु उसकी प्रभा तीनो भुवनोमें फैली रहती है। ठीक इसी प्रकार जिस एककी आज्ञाका सब लोग पालन करते हो, उसे तुम कभी अकेला या निर्धन मत समझना। क्या जहाँ जहाँ कामधेनु

संकट दूर करती है, क्या स्वयं उसके बच्चे कभी भूखे रह सकते है ? इसी लिए मैंने आपसे जो कुछ दिखलानेकी प्रार्थना की है, हे देव, इसमे कुछ भी सन्देह नही कि वह आप मुझे अवश्य दिखलावेंगे। परन्तु हाँ, पहले आप उसे देखनेकी पात्रता मुझमें उत्पन्न करे। यदि आप यह समझते हो कि मेरी आँखोमे आपका वह विश्व-रूप देखने की सामर्थ्य है, तो आप मेरी यह कामना पूरी करे।" जब अर्जुनने इस प्रकारकी खरी खरी और स्पष्ट प्रार्थना की, तब षड्गुणोके ऐश्वर्यसे सम्पन्न वे श्रीकृष्ण धैर्य धारण न कर सके। श्रीकृष्ण केवल दया-रूपी अमृतसे भरे हुए मेघ थे और अर्जुन मानो समीप आया हुआ वर्षा-काल था। अथवा यदि हम श्रीकृष्णको कोकिल कहे तो अर्जुन उसके लिए बसन्त काल था। अथवा जिस प्रकार पूर्णिमाके चन्द्रमाका पूरा पूरा चमकता हुआ बिम्ब देखते ही क्षीर सागर आवेशसे भरकर उछलने लगता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी दूरसे भी अधिक प्रेमपूर्ण होकर उल्लसित हो गये। फिर चित्तकी उस प्रसन्नताके आवेशमे दयामय श्रीकृष्णने गम्भीर स्वरमे कहा—"हे अर्जुन, यह देखो मेरा असख्य और अपार स्वरूप।" अर्जुनकी तो यह इच्छा थी कि मुझे श्रीकृष्णके केवल एक ही विश्वरूपके दर्शन हो, परन्तु श्रीकृष्णने अपने उस विश्व-रूपमे समस्त विश्व दिखला दिये। सामर्थ्यवान् देवकी उदारता अपरिमित ही है। किसीको अपनी इच्छासे माँगनेके लिए तैयार भर होना चाहिए। फिर वे उस याचकको अपना वह सर्वस्व अर्पित कर देते हैं जो उसकी याचनासे हजार गुना बढ़कर होता है। जिस गुप्त रहस्यके दर्शन भगवान्ने शेषनागकी सहस्र आँखोको भी नही होने दिये थे, जो गुप्त रहस्य उन्होने वेदो पर भी नही प्रकट किया था, जिसका पता उन्होने लक्ष्मीको भी नही लगने दिया था, वही रहस्य आज श्रीकृष्णने नाना प्रकारसे प्रकट करके महाभाग्यवान अर्जुनको अपने विश्व-रूपके दर्शन करा दिये थे। जिस प्रकार जागनेवाला पुरुष स्वप्नावस्थामे पहुँचकर उस स्वप्नका ही हो रहता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी स्वयं ही इस समय अनन्त ब्रह्माण्ड हो रहे है। उन्होने अपने कृष्ण-रूपका बिलकुल अन्त करके और माया दृष्टिका परदा दूर करके अपना योग सर्वस्व ही बिलकुल स्पष्ट और अनावृत कर दिया है। उस समय श्रीकृष्णको इस बातका विचार करनेका ध्यान ही नही रह गया कि अर्जुनमे मेरा रूप देखनेकी योग्यता भी है या नही। उन्होने प्रेमसे विह्वल होकर कहा—"अच्छा, यह देखो विश्व-रूप।"

श्रीभगवानुवाच—

> पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
> नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, तुमने कहा था कि मुझे केवल विश्व-रूप ही दिखलाओ। परन्तु यदि मै तुमको केवल वही विश्व-रूप दिखलाऊँ तो इसमे कौनसी बडी बात है! मेरे विश्व-रूपमे जो जो वस्तुएं भरी हुई हैं, वह सभी तुम इस समय देख लो। देखो, इसमे कितने नाना प्रकारके आकार और रूप हैं! कोई बहुत ही छोटे है तो कोई बहुत ही बडे, कोई बहुत ही क्षीण है तो कोई बहुत लम्बे-चौडे, कोई

जाती है; वहाँ वहाँ उसके साथ सारी वस्तुओका संग्रह भी बँधा चलता है ? नही। परन्तु उससे जो कोई जो पदार्थ माँगता है, वह पदार्थ वह तत्काल प्रसव करने लगती है। इसी प्रकार उस एक विश्ववीजमे विश्वका सारा ऐश्वर्य भरा रहता है उसे पहचानने का लक्षण एक ही है, और वह यह कि सारा संसार उसके आगे नम्र होता है और उसकी आज्ञाका पालन करता है। जिसमे ऐसा लक्षण दिखलाई दे, उसे तुम मेरा अवतार समझो। इस प्रकारके अवतारोमें किसीको सामान्य और किसीको विशेष उत्कृष्ट समझना और उनमे इस प्रकारका भेद-भाव करना पाप ही है, क्योकि यह सारा विश्व मै ही हूँ। ऐसी अवस्थामे साधारण और उत्तमवाले भेदोकी कल्पना किस दृष्टिसे की जाय ? इस प्रकारके भेद-भावकी कल्पना करना मानो व्यर्थ ही अपनी बुद्धिको कलकित करना है। व्यर्थ ही घीको क्यों मथा जाय ? अमृतको औटाकर आधा करनेसे क्या लाभ है ? क्या वायुमे भी कभी दाहिने और वाएँ अंग होते हैं ? यदि कोई यह देखनेके लिए सूर्यके बिम्ब पर दृष्टि जमावे कि इसका पेट कहाँ है और पीठ कहाँ है तो इसका फल केवल यह होगा कि उसकी दृष्टि ही नष्ट होगी। इसी प्रकार मेरे स्वरूपमे भी साधारण और विशेषवाली भेदमूलक कल्पनाकी गन्ध भी नही है। तुम मेरी एक एक विभूतिको अलग अलग लेकर मेरे असीम स्वरूपको कहाँ तक नापोगे ? इसीलिए, हे अर्जुन; मुझे जाननेका इस प्रकारका प्रयत्न रहने दो। मेरे तो एक ही अंशने इस सारे संसारको पूरी तरहसे व्याप्त कर रखा है, इसलिए तुम समस्त भेद-भाव छोडकर समबुद्धिसे मेरी उपासना करो।"

ज्ञानी-जन-रूपी-वनमे फूलनेवाले बसन्त और विरक्त जनोके सम्पूर्ण ध्येय उन ऐश्वर्य सम्पन्न श्रीकृष्णने अर्जुनसे इस प्रकार कहा। इस पर अर्जुनने कहा—"हे महाराज, आपने तो केवल यही एक रहस्य मुझे वतलाया कि मै सारा भेद-भाव बिलकुल छोड दूँ। अव यदि मैं यह कहूँ कि आपका यह कहना भी वैसा ही अनुचित है, जैसा सूर्यका संसारसे यह कहना कि—"यह अन्धकार दूर कर दो" तो मेरा ऐसा कहना छोटे मुँह वड़ी वात होगी। आपके तो नामका ही इतना माहात्म्य है कि यदि किसीके मुख से कभी आपका नाम निकल जाय अथवा किसीके कानोमे ही आपका नाम पड जाय तो भेद-भाव उसके हृदयसे तत्कालही निकलकर दूर चले जाते है। आपतो स्वयं परब्रह्म ही है और वही परब्रह्म इस समय सौभाग्यसे मुझे मिल गये है। फिर यहाँ कौनसा भेद-भाव रह सकता है और वह किसके लिए वाधक हो सकता है ? क्या चन्द्रविम्वके गर्भमे प्रवेश करने पर भी कही गरमी लग सकती है ? परन्तु हे महाराज श्रीकृष्णको वहुत सन्तोष हुआ और उन्होने प्रेमपूर्वक अर्जुनको आलिंगन करके कहा—"हे अर्जुन, तुम मेरी वातोसे नाराज मत हो। मैने भेदका अंगीकार करके जिन भिन्न-भिन्न विभूतियोका वर्णन किया है, उसके सम्बन्धमें केवल इसी बातकी परीक्षा करनेके लिए मैने कुछ ऊपरी और वाह्य बाते कही हैं कि उन वातोकी अभिन्नता तुम्हारे अन्त.करणमे अंकित हुई है या नही। परन्तु अव मुझे इसे वातका अनुभव हो गया है कि तुम्हे मेरी विभूतियोका अच्छी तरह वोध हो गया है।" इस पर अर्जुनने

अत्यन्त स्थूल हैं तो कोई अत्यन्त सरल; और कुछ तो केवल असीम ही है। कुछ तो बहुत ही अ–वश हैं जिनसे अपना आप सँभाला नही जाता और कुछ बिलकुल गरीब और सीधे-सादे है; कुछ चञ्चल है तो कुछ निश्चल; कुछ विरक्त हैं तो कुछ ममतापूर्ण और कुछ अत्यन्त तीव्र प्रेमसे युक्त है। कुछ मत्त हैं तो कुछ सावधान, कुछ छिछले है तो कुछ गम्भीर, कुछ उदार है तो कुछ कृपण और कुछ क्रोधी है। कुछ शान्त है तो कुछ अभिमानसे पूर्ण, कुछ निर्विकार है तो कुछ आनन्दित, कुछ गरजनेवाले है तो कुछ मौन और कुछ मिलनसार है। कुछ स-काम है तो कुछ विषयी, कुछ जागे हुए हैं तो कुछ सोये हुए, कुछ सन्तुष्ट है तो कुछ लोभी और कुछ समाधानयुक्त है। कुछ सशस्त्र है तो कुछ शस्त्र-रहित, कुछ अत्यन्त भयंकर है तो कुछ अत्यन्त स्नेहपूर्ण, कुछ भीषण है तो कुछ विलक्षण और कुछ समाधिमे ही मग्न है। कुछ प्रजा उत्पन्न करने के काममे लगे हुए, हैं तो कुछ प्रेमसे प्रजाका पालन करनेवाले है, कुछ क्रोधमें भर-कर प्रजाका संहार करनेवाले है तो कुछ केवल तटस्थ रूपसे सबका तमाशा देखने-वाले है। ऐसे अनेक प्रकारके असंख्य रूप इसमे है। इसके सिवा कुछ तो दिव्य तेजसे दीप्त हो रहे है और उनके प्रकाशके रंग भी एक दूसरेसे भिन्न हैं। कुछ तो मानो तपाये हुए खरे सोनेके समान जान पडते है, कुछ बिलकुल पीले रंगके हैं और कुछके सर्वाङ्ग सिन्दूर पोते हुए आकाशके समान सुशोभित हो रहे हैं। कुछ तो स्वभावत ऐसे सुन्दर हैं कि मानो मणियो और मानिकोसे जड़े हुए ब्रह्माण्ड के समान जान पडते हैं और कुछ कुमकुम से रंगे हुए अरुणोदय की प्रभा के समान चमक रहे है। कुछ स्वच्छ स्फटिकके समान निर्मल है, कुछ इन्द्रनील मणिके समान नीले है, कुछ काजलके समान नितान्त काले है और कुछ लाल रंगके है। कुछ चमकते हुए सोनेके समान पीले है, कुछ वर्षा कालके बादलोके समान काले है, कुछ सोन-चम्पाके समान गोरे है और कुछ केवल हरे रंगके है। कुछ तपाये हुए ताँबेके समान लाल है, कुछ शुभ्र चन्द्रमाके समान बिलकुल सफेद है। इस प्रकार तुम अनेक रंगोके मेरे रूप देखो। जिस प्रकार ये सब वर्ण अलग अलग तरहके है, उसी प्रकार उनके आकार भी भिन्न भिन्न है। कुछ तो इतने सुन्दर है कि मदन भी लज्जित होकर उनकी शरणमे आता है। कुछकी बनावट ही बहुत हलकी है और कुछके कान्तिमान् शरीर अत्यन्त मनोहर है। और कुछके अन्दरके सुन्दर स्वरूप तो मानो शृङ्गार-लक्ष्मीके बिलकुल खुले हुए भंडार ही जान पडते है। कुछ तो अवयवोसे पुष्ट और मॉसल है, कुछ अत्यन्त सूखे हुए है। कुछ अत्यन्त विकराल रूपवाले है; कुछ बहुत लम्बी गरदनवाले है, कुछ बहुत बडे सिरवाले है और कुछ बहुत ही विलक्षण तथा बेडौल है। और इन आकृतियोमेसे प्रत्येक आकृतिके शरीर-प्रदेश पर तुम्हे सारा संसार ही दिखाई पड़ेगा।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥

इन्हो रूपोमेसे जब किसी एक रूपकी दृष्टि खुलती है, तब आदित्य आदि बारह सूर्य उत्पन्न होते हैं। पर यही दृष्टि जब बन्द हो जाती है, तब वे सब आदित्य एकत्र होकर

कहा—"हे देव, अपनी बात तो आप ही जाने, परन्तु मैं तो सचमुच यही देखता हूँ कि यह जो सारा विश्व है, वह केवल आपका ही स्वरूप है।" परन्तु संजयने जो यह कहा था कि—"हे राजन्, अर्जुन इस प्रकार आत्म-रूपका अनुभव करने लगा।" सो सजयका यह वचन धृतराष्ट्र बिलकुल चुपचाप सुनता रहा। उस समय संजयको अपने मनमे बहुत बुरा मालुम हुआ और उसने मन ही मन कहा—"ऐसा सौभाग्यका फल सामने आया है और फिर भी वह इस धृतराष्ट्रसे इतनी दूर है और यह उसे प्राप्त नही कर रहा है! यह भी एक आश्चर्यकी ही बात है। मैं समझता था कि इसकी बुद्धि तो कमसे कम अच्छी होगी। परन्तु नही, यह जिस प्रकार बाहरसे चर्म-चक्षुओका अन्धा है, उसी प्रकार अन्दरसे अन्तश्चक्षुओका भी अन्धा है।" अस्तु। अब वह अर्जुन अपने आत्म-कल्याणकी मात्रा बराबर बढा रहा था, क्योकि अब उसके मनमे एक और ही बातकी उत्कठा उत्पन्न हो गई थी। उसने कहा—"हे देव, मेरे अन्त करणमे जो आत्म-स्वरूपका अनुभव प्रतिबिम्बित हुआ है, उसके सम्बन्धमे अब मेरा मन इस उत्कंठासे व्याकुल हो रहा है कि वही अनुभव मैं इस बाह्य जगत्मे स्वयं अपनी आँखोसे करूँ।" अर्जुन बहुत बडा भाग्यवान् था और इसी लिए उसके मनमे यह आकाक्षा उत्पन्न हुई थी कि मैं अपने इन दोनो नेत्रोसे सारे विश्वका आकलन करूँ। हे श्रोतागण, वह अर्जुन स्वयं कल्पतरुकी शाखा ही था और इसी लिए यह सम्भव नही था कि वह बाँझ (अर्थात् फलहीन अथवा विफल) होता। इसी लिए उनके मुँहसे जो जो बातें निकलती थी वह सब श्रीकृष्ण पूरी करते चलते थे। जिन नारायणने भक्त प्रह्लादकी बात रखनेके लिए विष तकका रूप धारण किया था, वही नारायण इस अर्जुनको सद्गुरुके रूपमे प्राप्त हुए थे। अब आगेके अध्यायमे श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य ज्ञानदेव श्रोताओको यह बतलावेगा कि उस समय उस अर्जुनने किन शब्दोमे भगवान् श्रीकृष्णसे यह प्रार्थना की थी कि मुझे विश्व-रूप दिखलाइये।



होकर लीन हो जाते है। इन रूपोके मुखके उष्ण श्वाससे सर्वत्र ज्वाला ही ज्वाला हो जाती है और उसी ज्वालामेसे पावक आदि आठ वसुओका जन्म होता है। और इन स्वरूपोकी तिरछी भौहोके सिरे जब क्रोधके कारण आपसमे मिलने लगते है, तब ग्यारह रुद्रोका अवतार होता है। परन्तु जब उन्हींमें सौम्यका आविर्भाव होता है, तब अश्विनीकुमार सरीखे असख्य जीवनदाता उत्पन्न होते है। इन्हीके कानोमेसे अनेक प्रकारके पवन निकलते है। इस प्रकार एक ही रूपके सहज खेलवाडसे देवता और सिद्ध उत्पन्न होते है। और देखो, मेरे विश्व-रूपमे इस प्रकारके असख्य और अनन्त रूप है। जिनका वर्णन करते करते वेद भी बौने हो गये, कालका आयुष्य भी पूरा न सिद्ध हुआ और प्रत्यक्ष ब्रह्माको भी जिनकी थाह नही लगी और जिनकी वार्ता भी कभी वेद-त्रयीके कानो तक नही पहुँची, वे अनेक रूप तुम प्रत्यक्ष देखो और आश्चर्य-मय आनन्द तथा पूर्ण सफलताका उपभोग करो।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

"हे अर्जुन, जिस प्रकार कल्पवृक्षके नीचे तृणोंके अकुर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार इन मूर्त्तियोके रोम-कूपोमे सृष्टिके अंकुर है। जिस प्रकार छतके झरोखोमेसे आनेवाली किरणोमे परमाणु उडते हुए दिखाई देते है, उसी प्रकार इन मूर्त्तियोके अवयवोके सन्धिस्थानोमे अनेक ब्रह्माड उडते हुए दिखाई देते है। इनमेसे प्रत्येक अवयवके प्रदेशमे विश्वका विस्तार दिखाई पडता है। अब यदि तुम्हारी यह इच्छा हो कि इस विश्वके उस पार भी जो कुछ है, उसके भी दर्शन हो, तो यह भी कोई कठिन बात नही है, क्योकि तुम जो कुछ चाहो, वही मेरे इस स्वरूपमे देख सकते हो। दयामय श्रीकृष्णने ये सब बातें तो कही, परन्तु उन्होने जो यह प्रश्न किया था कि— "तुम यह सब देख रहे हो या नही ?" उसका अर्जुनने कुछ भी उत्तर नही दिया। उस समय श्रीकृष्णके मनमे यह शंका उत्पन्न हुई कि अर्जुन इस प्रकार मूलोकी तरह स्तब्ध क्यो हो रहा है। इसी विचारसे जब श्रीकृष्णने उस पर दृष्टि डाली, तब उन्होने देखा की अर्जुन बिलकुल पहलेकी तरह और ज्योका त्यो उत्कठासे भरा हुआ है।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

श्रीकृष्णने अपने मनमे कहा—"अभी तक इसकी उत्कठा नही मिटी। अभी तक इसे आत्म-सुखका लाभ नही हुआ। मैने अपना जो वास्तविक और सत्य स्वरूप इसे प्रकट करके दिखलाया है; उसका आकलन करनेकी शक्ति इसमे नही दिखलाई देती।" यह सोचकर देव हँस पडे और उन्होने उस प्रेक्षक (अर्थात् अर्जुन) ने कहा— "मैंने तो तुम्हे विश्व-रूप दिखलाया, परन्तु तुम तो उसे देख ही नही रहे हो।" देव की यह बात सुनकर चतुर अर्जुनने कहा—"परन्तु इसमे दोप किसका है ? आप बगलेको चाँदनी चुगानेका निष्फल प्रयत्न कर रहे हैं। आप बिल्कुल स्वच्छ किया हुआ दर्पण अन्धेके सामने रख रहे हैं; अथवा हे प्रभु, आप बहिरेके सामने सगीतका आलाप कर रहे हैं। आप जानबूझकर पुष्पोके मधुके कणोका चारा दादुरके सामने

ग्यारहवाँ अध्याय

अब इस प्रस्तुत अर्थात् ग्यारहवें अध्यायमें अर्जुनको विराट् स्वरूपके दर्शन होनेकी जिस कथाका वर्णन है, वह कथा दो रसोसे भरी हुई है। बात यह है कि इस कथामे मुख्य तो शान्त रस ही है, परन्तु उसके घर अद्भुत रस आतिथ्य स्वीकार करनेके लिए आया है। और दूसरे रसोको भी उसके साथ सम्मान प्राप्त हुआ है। हे श्रोतागण, जैसे वर और वधूके विवाहके समय बराती भी अच्छे वस्त्र और आभूषण पहनकर आनन्दसे घूमते है, उसी प्रकार यहाँ देशी भाषाके सुखद आसन पर सब रस सुशोभित हो रहे हैं। परन्तु हरि और हरके समान परस्पर प्रेमपूर्वक गाढ आलिंगन किये हुए शान्त और अद्भुत रस इतने अधिक और ऐसे अच्छे ढंगसे है कि यों आँखोसे भी दिखाई पड़ते हैं। अथवा अमावस्याके पर्व-कालमे जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा दोनोके मंडल एकत्र हो जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ इन दोनों रसोंका मिलाप हुआ है। गंगा और यमुनाके प्रवाहोके मेलकी तरह इन दोनो रसोका भी संगम हुआ है जिससे यहाँ प्रयाग-क्षेत्र ही बन गया है। अब सारा जगत् इस पवित्र तीर्थमें स्नान करके आनन्दपूर्वक निर्मल हो सकता हैं। इस अवसर पर गीताको गुप्त सरस्वती समझना चाहिए और केवल उक्त दोनो रस-प्रवाह व्यक्त है, अत हे श्रोतागण, इस अध्यायको मानो त्रिवेणीका संगम ही कहना चाहिए। ज्ञानदेव कहता है कि मेरे उदार दाता श्रीनिवृत्तिनाथने ऐसा सुभीता कर दिया है कि इस त्रिवेणी तीर्थमे केवल श्रवण मार्गसे ही लोग सहजमे प्रवेश कर सके। इस संस्कृत तीर्थके संस्कृत भाषात्मक तट उतरनेके लिए बहुत ही कठिन हैं, इसलिए श्रीनिवृत्तिदेवने उन्हे तोड़कर देशी भाषाके शब्दोका ऐसा घाट बाँध दिया है कि जिसमे धर्मके भाण्डार सहजमे ही प्राप्त हो सके। अब इस स्थान पर जो श्रद्धालु जन चाहे, वे अच्छी तरह स्नान कर सकते है, इस प्रयागमे विराट् रूपी माधवके दर्शन कर सकते है और जन्म-मरणकी परम्पराको मजेमे तिलाजलि दे सकते हैं। इस अध्यायमे रसोकी ऐसी अच्छी बहार है कि संसारको श्रवणानन्दका मानो साम्राज्य ही मिल गया है। इस अध्यायमें शान्त और अद्भुत रस तो प्रधान हैं ही पर साथ ही दूसरे रसोका भी बहुत कुछ महत्व रखा गया है और केवल ब्रह्मको ही स्पष्ट किया गया है। ऐसा यह ग्यारहवाँ अध्याय है। यह अध्याय स्वयं श्रीकृष्णदेवके विश्राम का स्थान है; परन्तु समस्त भाग्यवान् पुरुषोमें अर्जुन सचमुच श्रेष्ठ है, क्योकि उसका इस स्थानमें भी प्रवेश हुआ है। परन्तु हम क्यो कहें कि एक अर्जुन ही इस स्थान पर पहुँचा है? अब तो यही कहना ठीक होगा कि जो चाहे, वह यहाँ पहुँच सकता है, क्योकि अब गीताका अर्थ देशी भाषाके रूपमे प्रकट हो गया है। इसलिए हे श्रोतागण, आप लोग मेरी प्रार्थना सुने और आप सब सज्जन इस ओर ध्यान दें। इस समय

डाल रहे हैं और वे कण व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं। ऐसी अवस्थामे, हे नारायण, आप दूसरे पर व्यर्थ ही क्रोध क्यो कर रहे है? जो वस्तु इन्द्रियोकी पहुँचके बिलकुल वाहर है और जिसका अनुभव केवल ज्ञान-दृष्टिसे ही किया जा सकता है, वह वस्तु यदि आप मेरे चर्म-चक्षुओके सामने रहते है तो मै उसे कैसे देख सकता हूँ? परन्तु आपकी त्रुटियाँ निकालकर आपको दोष देना ठीक नही है। इसलिए मेरा चुपचाप रहना ही अच्छा है।" यह सुनकर श्रीकृष्णने कहा—"भाई अर्जुन, जो कुछ तुम कह रहे हो, वही ठीक है। जव मैं तुम्हे वह रूप देखनेकी सामर्थ्य प्रदान करता। परन्तु प्रेमके आवेशमे वाते करते करते मैं यह वात विलकुल भूल ही गया था। परन्तु उसका फल क्या हुआ? वही जो जमीनको विना जोते-वोये उसमे बीज वोनेसे होता है। इसमे सारा समय व्यर्थ नष्ट होता है, और वही अव भी हुआ है। पर अव मैं तुम्हे ऐसी दृष्टि देता हूँ जिससे विश्व-रूप देखा जा सके। हे अर्जुन, उस दृष्टिकी सहायतासे तुम मेरे विश्व-व्यापक ऐश्वर्य-योगको प्रत्यक्ष देखकर आनन्दसे आत्मानुभव मे प्रवेश करोगे।" जिनका प्रतिपादन वेद करना चाहते है, जो सारे विश्वके मूल वीज हैं और जो सारे जगतके लिए वन्दनीय हैं, उन श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे कौरव-कुल श्रेष्ठ राजा, मुझे रह रहकर एक वातका वहुत ही आश्चर्य होता है। देखिए, इस त्रिभुवनमे लक्ष्मीसे बढ़कर भाग्यवान और कौन है? अथवा वेदोके सिवा दूसरा और कौन सा ऐसा साधन है, जिससे आत्मस्वरूपका कुछ ज्ञान हो सके? इसी प्रकार जिसे वास्तविक सेवक-भाव कहते है, वह केवल शेषनागमे है। क्यो ठीक है या नही? नारायणके प्रति प्रेमसे भरकर आठो पहर योगियोकी भाँति एकनिष्ठ होकर उनकी सेवा करनेवाला गरुडके समान क्या और कोई भक्त भी है? परन्तु ये सव लोग एक ओर पड़े रह गये, और जिस दिनसे इन पांडवोका जन्म हुआ, उसी दिन से मानो नारायणके सुखको अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला एक नवीन स्थल उदित हुआ है। और इन पाँचो पाडवोमेसे भी इस अर्जुनके कहनेमे तो ये श्रीकृष्ण स्वयं ही पूरी तरहसे हो गये है। ऐसा जान पडता है कि एक विपयी पुरुपको एक लावण्यवतीने लम्पट वना डाला है। शायद कोई सिखाया हुआ पक्षी भी इस तरह न वोलता होगा, और मनोविनोदके लिए लाड-प्यारसे पाला हुआ हिरन भी इस प्रकारकी क्रीडा न करता होगा, जिस तरह ये श्रीकृष्ण अर्जुनके फेरमे पडकर पटापट वातें करते हैं और उसके साथ नाचते और क्रीडा करते है। कुछ पता नही चलता कि इस अर्जुनका ऐसा कौन सा भाग्य उदय हुआ है! स्वयं पूरे परब्रह्मको देखनेका सौभाग्य इसके नेत्रोने प्राप्त किया है। देखिये, श्रीकृष्ण इसकी वातोके एक एक शव्दका कैसे प्रेमसे पालन कर रहे है। यदि अर्जुन क्रोध भी करता है तो देव उसे आनन्दपूर्वक सहन करते है। यदि अर्जुन

आप सन्त-जनोंकी सभामे मुझे इस प्रकार की धृष्टताकी वाते नही कहनी चाहिएँ; परन्तु फिर भी आप लोग प्रेमपूर्वक मुझे अपना बालक ही समझे। आप यदि किसी तोतेको बोलना सिखलावे और वह तोता आपसे सीखकर वोलने लगे तो आप लोग आनन्दसे सिर हिलावेंगे। अथवा यदि माता किसी वालकको किसी विनोदके काममे लगा दे और वह वालक वह काम करने लगे, तो क्या माता उस वालक पर प्रसन्न नही होती ? इसी लिए महाराज, मैं जो कुछ कहता हूँ, वह सव आप ही लोगोका सिखलाया हुआ है। अत अव आप लोग अपनी ही सिखलाई हुई वाते सुने। हे महाराज यह साहित्यका मधुर वृक्ष आप लोगोने ही अपने हाथोसे लगाया है, अत अव अपने अवधान-रूपी अमृत-जलसे सीचकर आप ही लोग इसे वडा भी करें। यदि आप लोग ऐसा करेंगे तो यह वृक्ष रस-भावोके फूलोसे लद जायगा, अनेक अर्थ-रूपी फलोसे भर जायगा और आपकी पुण्याईसे संसारको सुखी होनेका अवसर मिलेगा। इस भाषणसे सज्जन श्रोताओको सन्तोष हो गया और उन्होने कहा—"वाह वाह ! तुमने वहुत अच्छा किया। अव यह वतलाओ कि उस अवसर पर अर्जुनने क्या कहा।" इस पर श्रीनिवृत्तिका शिष्य ज्ञानदेव कहता है कि महाराज, श्रीकृष्ण और अर्जुनका वह गहन सम्वाद मैं निर्बुद्धि क्या वतलाऊँ ! हाँ आप ही लोग वह सव वाते मुझसे कहलावेंगे। जंगलके पत्ते खानेवाले बन्दरोके हाथोमे भी लकानाथ रावण तिरस्कारका पात्र वन गया और उसका पराभव हो गया, और उधर अर्जुन विलकुल अकेला था, पर फिर भी उसने ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओको भग किया। इसी लिए यह कहना पडता है कि समर्थ जो कुछ चाहते है, वह चराचरमे हो ही जाता है। इसी प्रकार आप सन्त लोग भी आज मुझे वोलनेमे प्रवृत्त कर रहे है। अव मै श्रीवैकुण्ठपतिके मुखसे निकली हुई गीताका भावार्थ वतलाता हूँ। आप लोग सुने। इस गीता-ग्रथका भी कैसा माहात्म्य है ? वेदोके प्रतिपादनके जो मुख्य देवता श्रीकृष्ण है, वही इस ग्रन्थके वक्ता है। इस ग्रन्थका अर्थ-गौरव इतना अधिक है कि स्वय शकर भी उसका आकलन नही कर सकते। अत इस अवसर पर हृदयसे उनकी वन्दना करना ही उचित है। अव आप लोग यह सुने कि वह अर्जुन प्रभुके विश्व-स्वरूप पर ध्यान रखकर क्या कहने लगा। अर्जुनके मनमे इस वातकी वहुत वडी अभिलाषा थी कि मेरे मनमे इस सिद्धान्त पर जो दृढ विश्वास हो गया है कि सारा विश्व ही परमेश्वर है, उसे मैं अपने चर्म-चक्षुओसे भी देखूँ और इस प्रकार वाहरसे भी इस सिद्धान्त पर मेरा पूरा पूरा विश्वास हो जाय। परन्तु अपने मनकी यह अभिलाषा भगवान् पर प्रकट करना वहुत ही कठिन था, क्योकि वह सोचता था कि विश्व-स्वरूप सरीखे गूढ रहस्यके विषयमे मैं खुलकर कैसे प्रश्न करूँ। अर्जुन अपने मनमे सोचने लगा कि जो वात आज तक भगवान्‌के किसी प्रिय भक्तने कभी नही पूछी, वह वात मैं एक दमसे कैसे पूछ वैठूँ ? यह ठीक है कि मै श्रीकृष्णका वहुत ही प्रिय सखा हूँ, परन्तु क्या कभी मेरा और इनका प्रेम माताके प्रेमके समान हो सकता है ? माता भी विश्व-रूपके सम्वन्धमे प्रश्न करने डरती थी। मैंने चाहे इनकी कितनी ही मन-पूर्वक सेवा क्यो न की हो, पर फिर भी गरुडने इनकी जो सेवा की है, क्या मेरी सेवा उसकी वरावरी कर सकती है ? परन्तु वह गरुड भी कभी इनसे विश्व-रूपके सम्वन्ध-

१४

रूठता है तो देव उसको मनाते हैं। यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है कि अर्जुनके लिए श्रीकृष्ण ऐसे पागल हो रहे है। विपय-वासना पर विजय प्राप्त करके जो शुक्र आदि योगी-जन सामर्थ्यवान् बने थे, वही इन श्रीकृष्णकी रास लीला और विपय-विलास-के वर्णन करते-करते इनके स्तुति-पाठक वन गये। योगी लोग आत्म-चिन्तनकी समाधि लगाकर इन श्रीकृष्णका ध्यान करते है। परन्तु हे राजा धृतराष्ट्र, मुझे इस बातका बहुत ही आश्चर्य हो रहा है कि वही श्रीकृष्ण आज इस प्रकार अर्जुनके बिलकुल अधीन हो रहे है।" फिर इसके उपरान्त तुरन्त ही संजयने कहा—"अथवा हे कौरव-श्रेष्ठ, इसमे आश्चर्यकी हो कौन-सी वात है? श्रीकृष्ण जिसका स्वीकार कर लेते है, उसका ऐसा ही भाग्योदय होता है। इसी लिए न देवाधिदेवने अर्जुनसे कहा—"हे अर्जुन, अब मैं तुम्हे दिव्य-दृष्टि देता हूँ। इसकी सहायतासे तुम मेरा विश्व-रूप देख सकोगे।" अभी यह बात श्रीकृष्णके मुँहसे पूरी तरहसे निकलने भी नही पाई थी कि एक दमसे अज्ञानका अन्धकार नष्ट होने लगा। वे श्रीकृष्णके मुखसे निकले हुए अक्षर नही थे, बल्कि ब्रह्म-स्वरूपके साम्राज्यका जो दीपक है, उसीकी यह ज्ञान-रूपी ज्योति श्रीकृष्णने अर्जुनके लिए जलाई थी। इसके उपरान्त अर्जुनको अलौकिक ज्ञान-नेत्र प्राप्त हो गये और उन्ही नेत्रोमे ज्ञान-दृष्टिके अकुर उत्पन्न हुए। इस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको अपने विश्व-रूप-योगका वैभव दिखलाया। ईश्वरके भिन्न-भिन्न अवतार जिस सागरकी तरंगोके समान हैं, जिसकी किरणोके योगसे यह विश्व-रूप मृगजलका आभास उत्पन्न करता है, जिस अनादि-सिद्ध, स्वयभू, समान और सपाट भूमिका पर इस चराचरका चित्र अकित होता है, वही अपना विश्व-रूप वैकुण्ठाधिपति श्रीकृष्णने उस समय अर्जुनको दिखलाया। एक बार बाल्यावस्थामे जब श्रीकृष्णने मिट्टी खाई थी, तब यशोदाने क्रोधमे आकर उनकी कलाई पकड ली थी। इस पर इस बातका प्रमाण देने के लिए कि मेरे मुखमे कुछ भी नही है, श्रीकृष्णने डरते-डरते, अपनी तलाशी देनेके उद्देश्यसे, अपना मुँह खोला था। उस समय उस मुखमे यशोदाको चौदहो भुवनोके दर्शन हुए थे। अथवा मधुवनमे एक बार श्रीकृष्णने ध्रुव पर भी ऐसी ही कृपा की थी। ज्योही उन्होने उसके गालसे अपना शख स्पर्श कराया था, त्योही वह धडाधड ऐसी बाते कहने लगा था जो वेद भी स्पष्ट रूपसे नही जानते। हे धृतराष्ट्र, श्रीकृष्णने अर्जुन पर भी इस समय वैसी ही कृपा की थी। इसी लिए उस समय अर्जुनके लिए मायाका मानो कही नाम भी नहीं रह गया था। उस समय एक दमसे प्रभु-स्वरूपकी ऐश्वर्य-प्रभा प्रकट हुई और उसे चारो ओर चमत्कार ही चमत्कार फैला हुआ दिखाई दिया। इससे अर्जुनका चित्त आश्चर्यकी भावनामे लीन हो गया। जिस प्रकार मार्कण्डेयके सम्बन्धकी यह कथा है कि ब्रह्माके सत्य-लोक तक पूरी तरहसे भरे हुए जलमे किसी समय केवल मार्कण्डेय ही तैरता था, उसी प्रकार आज विश्वरूपके महोत्सवमे अकेला अर्जुन ही लोट रहा था। वह कहने लगा—"अरे कहाँ कैसा विस्तृत आकाश था! वह सब कौन कहाँ ले गया? स्थावर और जगमसे युक्त वह भूत सृष्टि कहाँ चली गई! दिशाओंके चिह्न भी नष्ट हो गये। ऊपर और नीचे-की कल्पना ही नही रह गयी। उसके लिए सृष्टिके आकारका आज उसी प्रकार लोप

मे कुछ नही पूछता। क्या मै सनक आदिकी अपेक्षा भी इनका अधिक समीपी हूँ? परन्तु वे सनक आदि भी कभी विश्व-रूप देखनेका पागलपनवाला आग्रह नही करते। क्या मै श्रीकृष्णके लिए गोकुलके प्रेमपूर्ण बाल गोपालोसे भी बढ़कर अधिक प्रिय हूँ? परन्तु उन लोगोको भी भगवान्‌ने केवल अपने बाल-भावसे ही प्रसन्न किया था। अम्बरीष आदि अनेक भक्तोके लिए इन्होने गर्भवासका भी कष्ट सहन किया। परन्तु उनसे भी इन्होने अपना विश्व-रूप गुप्त ही रखा—कभी किसीको अपना वह गुप्त रूप नही दिखलाया। इन्होने आज तक यह गूढ रहस्य अपने अन्तरंगमे ही गुप्त रखा। फिर मैं एकाएक इनसे उनके सम्बन्धमें कैसे कुछ कहूँ? यदि मै यह समझूँ कि इस विषयमे कुछ न पूछना ही ठीक है तो विना विश्व-रूपके दर्शन किये मुझे चैन न मिलेगा। यही नही, वल्कि इस बातमे भी मुझे सन्देह ही है कि विना वह दर्शन किये मैं जीवित भी रह सकूँगा या नही। इसलिए अब मैं दबी जबानसे ही उसका जिक्र छेड़ूँ। फिर देवको जो कुछ अच्छा जान पडेगा, वह करेंगे। इस प्रकार अपने मनमें निश्चय करके अर्जुनने डरते डरते कहना आरम्भ किया। परन्तु उसका वह डरते डरते बोलना भी ऐसी खूबीका था कि उनके केवल एक दो शब्द सुनते ही गौ खड़बड़ा जाती है और उससे मिलनेके लिए व्याकुल होने लगती है। पर जब वह बछडा आकर स्तनमे मुँह लगा दे, तब भला यह कब सम्भव है कि उसके स्तनोमे दूध न भर आवे? पाण्डवोकी रक्षाके लिए श्रीकृष्ण जंगलो तकमे दौड़े-धूपे थे। अब अर्जुनके इस प्रकार प्रार्थना करने पर वे भला कैसे शान्त रह सकते थे? श्रीकृष्ण तो प्रेमके प्रत्यक्ष अवतार ही थे और अर्जुन उस प्रेमका मानो अच्छा खाद्य पदार्थ था। अब यदि ऐसा उत्तम योग होने पर भी वे दोनो अलग अलग रहें तो यह आश्चर्यकी ही बात है। इसलिए अर्जुनके मुखसे ये शब्द निकलते ही श्रीकृष्ण आपही एक दम विश्व-रूप हो जायँगे। यही पहला प्रसंग है। आप लोग इसकी ओर ध्यान दें।

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—"हे दया-सागर देव, जो बात शब्दोमे किसी प्रकार नही कही जा सकती, उसे आपने मेरे लिए ऐसा स्वरूप प्रदान कर दिया कि वह वाणीके द्वारा समझमे आ सके। जिस समय भूत मात्र ब्रह्म-स्वरूपमे मिल जाते हैं, उस समय और जीवो तथा मायाका कही नाम भी नही रह जाता। उस समय परब्रह्म-जिस स्वरूपमे उतरता है, वही उसका अन्तिम रूप है। अपना जो स्वरूप आपने अपने हृदयके भीतरी भागमे लोभीके धनकी भाँति बन्द कर रखा था और जिसका पता स्वयं वेदोको भी नही चला था, वही अपने हृदयका रहस्य आज आपने मेरे सामने खोल दिया है। श्री शंकरने जिस अध्यात्म-रहस्य परसे सारा ऐश्वर्य निछावर करके फेंक दिया, महाराज, आज वही रहस्य आपने मुझे एक दमसे बतला दिया।

हो गया था, जिस प्रकार जागने पर स्वप्नकी सब बातोंका लोप हो जाता है। अथवा जिस प्रकार सूर्यके तेजके प्रभावसे चन्द्रमा और तारे अदृश्य हो जाते हैं, उसी प्रकार जान पड़ता है कि मानो प्रभुके इस विश्व-रूपने सृष्टिकी सारी रचनाको निगल लिया है। उस समय उसके मनका मनत्व भी जाता रहा। बुद्धि अपने आपको सँभाल न सकी और इन्द्रियोकी वृत्तियाँ उलटकर हृदयमें भर गई। उस समय स्तब्धता और एकाग्रताकी परम अवधि हो गई; मानो सभी प्रकारके विचारो पर किसीने मोहनास्त्र-का प्रयोग कर दिया था। जब इस प्रकार आश्चर्यमें लीन होकर अर्जुन कौतुकसे देखने लगा, तब उसे अपने सामने चार हाथोसे युक्त श्रीकृष्णका कोमल स्वरूप दिखाई पडा। परन्तु वही रूप चारो ओर अनेक प्रकारके वेषोमे दिखाई पड़ रहा था। जिस प्रकार वर्षा कालमें मेघोके समूह बराबर बढ़ते जाते है अथवा महाप्रलयके समय सूर्यका तेज बराबर बढता जाता है, उसी प्रकार उस समय प्रभुके विश्व-रूपने अपने सिवा और कुछ भी बाकी नही रहने दिया था। पहले तो आत्म-स्वरूपका इस प्रकार साक्षात्कार होने पर अर्जुन समाधान प्राप्त करके स्तब्ध हो रहा। फिर उसने सहज भावसे आँखे खोली तो उसे विश्व-रूपके प्रत्यक्ष दर्शन हुए। अर्जुनके मनमे जो इस बातकी बहुत बडी कामना थी कि मैं अपनी इन्ही आँखोसे विश्व-रूप देखूँ सो उसकी वह कामना श्रीकृष्णने इस प्रकार पूरी कर दी।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

इस विश्व-रूपमे बहुतसे मुख थे। अर्जुनने प्रभुके ऐसे सुन्दर सुन्दर मुख देखे कि मानो वे लक्ष्मीपतिके राजमन्दिर थे अथवा सौन्दर्य-लक्ष्मीके अनेक भांडार थे अथवा बहारसे भरे हुए आनन्दके वन अथवा लावण्यके साम्राज्य थे। परन्तु इन सुन्दर मुखोके साथ ही साथ उसने बीच बीचमें बहुतसे ऐसे दूसरे मुख भी देखे जो स्वभावत. बहुत भयंकर थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि मानो काल-रात्रिकी सेना ही उमड़ पडी हो अथवा स्वयं मृत्युके मुख निकल आये हों अथवा भयके गढ़ बनाये गये हो अथवा प्रलयकी अग्निके कुण्ड ही खुल गये हों। उस विश्वमूर्त्तिमे वीर श्रेष्ठ अर्जुनने इस प्रकारके बहुत से विलक्षण, विकराल और भयंकर मुख भी देखे। पर साथ ही उस मूर्तिमे अलौकिक सजे-सजाये अथवा सौम्य मुख भी असंख्य थे। वास्तव मे उस ज्ञान दृष्टिको भी कही उन मुखोका अन्त नही दिखाई देता था। फिर अर्जुन बडे कौतुकसे उस विश्व-रूपके नेत्र देखने लगा। वे नेत्र अनेक प्रकारके विकसित कमलोके वनके समान थे। इस प्रकार सूर्यके रंगके और ऐसे तेजस्वी नेत्र अर्जुनने देखे। जिस प्रकार कल्पान्तके समय काले रगके घने मेघ समूहमें बिजलीकी चमक दिखाई पडती है, उसी प्रकार उन काली और टेढी भौहोके नीचे अग्निके समान पीले रंगकी दृष्टिकी किरणे शोभा पा रही थी। इस प्रकार उस एक ही रूपमे भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक चमत्कार देखकर अर्जुनको उस रूपकी अनेकता पूर्ण रूपसे विदित हो गई। वह मन ही मन कहने लगा—"इसके पैर कहाँ है, मुकुट कहाँ है, और हाथ कहाँ हैं।" इस प्रकार उसका विश्व-रूपके दर्शनोका अनुराग उत्सुकतासे

परन्तु यदि मैने इस बातका उल्लेख किया, तो मैने आपका व्यापक स्वरूप प्राप्त कैसे किया ? परन्तु महामायाके अपरम्पार सागरमे मुझे सिर तक डूबा हुआ देखकर, हे श्रीकृष्ण, आपने स्वयं ही कूदकर मुझे उसमेसे बाहर निकाला है। अब मेरे लिए इस विश्वमे आपके सिवा और कोई बात ही नही रह गई है। परन्तु मेरा भाग्य ही कुछ ऐसा खराब है कि अभी तक मेरे मुखसे यही बात निकल रही है कि—'मैं आपसे कोई अलग व्यक्ति हूँ।' अभी तक मेरे साथ एक ऐसा देहाभिमान लगा हुआ था कि मैं समझता था कि इस ससारमे मैं अर्जुन नामका एक पुरुष हूँ। और इन कौरवों-को मै अभी तक अपना "स्वजन" कहता था। केवल इतना ही नही, मैं इस प्रकार-का दुष्ट स्वप्न भी देख रहा था कि मै इन्हे मारूँगा और इस प्रकार मैं पापमे लिप्त होऊँगा। इतनेमे ही आपने मुझे जगा दिया। हे देव लक्ष्मीनाथ अभी तक मैं सच्ची वस्ती छोडकर झूठे गन्धर्वनगरमे विचरण कर रहा था, और पानीके धोखेमे मृगजल पी रहा था। कपडेका साँप वास्तवमे मिथ्या और नकली था, परन्तु मुझे यह मिथ्या भावना हो गई थी कि सचमुच साँपने ही मुझे डस लिया है, और इसी लिए सचमुच विषकी लहरे चढ रही थी और यह जीव व्यर्थ ही मर रहा था। परन्तु उसे बचाने का श्रेय आपको ही है। जैसे सिंह एक कूएँमे अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर वह समझ रहा हो कि यह मेरा कोई प्रतिस्पर्धी दूसरा सिंह है और इसी भ्रममे वह उस कूएँमे कूदना चाहता हो, और उसी समय कोई बीचमे आकर उसे पकड़कर रोक ले और इस प्रकार उसे आत्म-घात करनेसे बचा ले। बस ठीक इसी प्रकार आज आपने मुझे बचा लिया है। और नही तो, हे देव, मैंने तो आज इस बात का पूरा पूरा निश्चय कर लिया था कि चाहे सातो समुद्र एकमे क्यो न मिल जायँ, यह सारा ससार प्रलयसे जलमे क्यो न डूब जाय, चाहे उपरसे आकाश ही क्यो न टूट पडे, परन्तु मैं अपने इन कुटुम्बियोके साथ कभी युद्ध न करूँगा। इस प्रकारकी अहम्मन्यताके आधिक्यके कारण मै आग्रहके दहमे डूब ही गया था, और यदि आप सरीखा समर्थ सखा मेरे पास न होता तो फिर मुझे कौन बचाकर बाहर निकालता ? जो वस्तु बिलकुल थी ही नही, उसके सम्बन्धमे मै जबरदस्ती मानता था कि वह है। और उसीका नाम मैंने "गोत्र" रखा था। मुझपर ऐसा विलक्षण भ्रमका पागलपन सवार हुआ था। परन्तु आपने ही मेरी रक्षा की। एक बार आपने ही मुझे जलते हुए लाक्षागृहसे सुख पूर्वक बाहर निकाला था, परन्तु उस समय मेरा केवल शरीर ही सकटमे था। परन्तु आज इस भ्रमके दूसरे अग्नि-सकटमे मेरे चैतन्य (आत्मा) के ही नष्ट हो जानेका भय था। जिस प्रकार हिरण्याक्ष नामक असुरने पृथ्वी बगलमे दबा ली थी, उसी प्रकार इस समय दुराग्रहने भी मेरी बुद्धि अपनी बगलमें दबा ली थी, और उस कारण जो उपद्रव मचा, उससे मेरे अन्दर मोहका समुद्र लहराने लगा। ऐसे कठिन अवसर पर केवल आपकी सामर्थ्यके कारण ही मेरी बुद्धि फिरसे ठिकाने आई है। इसलिए मै कह सकता हूँ कि आज आपको दोबारा बाराह अवतार ही धारण करना पडा। आपकी कृति असीम है और मैं अकेला भला उसका कहाँ तक वर्णन कर सकता हूँ ? परन्तु इस बातमे कुछ भी सन्देह नही कि आज आपने पंच प्राण ही मुझे

बढने लगा। उस अवसर पर अर्जुन मानो सौभाग्यका भाण्डार ही वन गया था। फिर भला उसका कोई मनोरथ निष्फल कैसे हो सकता था ? क्या शंकरके तरकशमे भी कभी व्यर्थ जानेवाले वाण होते है ? अथवा ब्रह्माकी जिह्वा पर कभी कोई मिथ्या वात आ सकती है ? वस अर्जुनको तत्काल ही उस अपार मूर्तिके सम्पूर्ण दर्शन होने लगे। जिनकी थाह वेदोको भी नही लगती, उनका एक एक अङ्ग अर्जुन अपनी दोनो आँखोसे एक ही समयमे और एक साथ ही देखने लगा। चरणसे मस्तक तक उस स्वरूपका ऐश्वर्य देखते समय अर्जुनको ऐसा जान पडा कि वह मूर्ति नाना प्रकारके अलंकारोसे विभूषित है। वह परब्रह्म-स्वरूप देव अपने शरीर पर धारण करनेके लिए स्वयंही अनेक प्रकारके अलंकार और आभूषण वन गये थे। भला यह कैसे वतलाया जा सकता है कि वे आभूषण कैसे और किसके समान थे। जिस तेजसे चन्द्रमा और सूर्य भी प्रकाशमान् होते हैं, और विश्वके जीवन-रूपी महातेजका जो जीवन-सर्वस्व है, वह तेज ही इस विश्व-रूपका शृंगार था। भला उसका ज्ञान किसकी बुद्धिको हो सकता है ? वीर अर्जुनने देखा कि ऐसा ही तेजस्वी शृगार देवने धारण किया है। जव अर्जुन ज्ञान-दृष्टिसे उस विश्व-रूपके सरल हाथ देखने लगा, तव उसे उन हाथोमे ऐसे शस्त्र चमकते हुए दिखाई पडे कि मानो उनमेसे कल्पान्तकी ज्वाला ही निकल रही हो। उस समय अर्जुनकी समझमे यह वात आई कि इस रूपमे अङ्ग और अलकार, हाथ और हथियार, जीव और शरीरकी जोडियोमेकी दोनों वस्तुएँ स्वयँ देव ही है और इसी ठाटसे देवने सारा स्थावर-जगम विश्व ठसाठस भरकर व्याप्त कर रखा है। उन हथियारोकी किरणोकी प्रवल अग्निमे नक्षत्र मानो भूने जानेवाले चनोकी तरह फूट रहे थे और उसके तापसे अग्नि मानो घवराकर समुद्रमे घुसनेको तैयार हो रही थी। इसके उपरान्त अर्जुनने देवके ऐसे असंख्य हाथ देखे, जिनमे ऐसे शस्त्र थे जो मानो कालकूट विषकी लहरोमे वुझाये हुए थे अथवा प्रचण्ड विद्युत्से युक्त थे।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

मानो भयभीत होकर ही इन शस्त्र-युक्त हाथोकी ओरसे अर्जुनने अपनी दृष्टि हटा ली और तव वह प्रभुका गला और मस्तक देखने लगा। जिनसे कल्प-वृक्षोंकी उत्पत्ति हुई थी, जो आत्म प्राप्तिके आदि स्थान ही हैं और जिनमे थकी हुई लक्ष्मी विश्राम लेती है, वे अत्यन्त स्वच्छ और सुन्दर पुष्प उस गले और मस्तक पर धारण किये हुये दिखाई दिए। मस्तक पर गुच्छे भिन्न भिन्न अवयवो पर फूलोके जाल, गजरे और झालरे आदि और गलेमे दिव्य पुष्प मालाएँ लहलहा रही थी। देवके नितम्वपर पीताम्वर इस प्रकार शोभा दे रहा था कि मालुम होता था कि स्वर्गने सूर्यके तेजका परिधान धारण किया हो अथवा मेरु पर्वत सोनेसे ढक दिया गया हो। जिस प्रकार कर्पूरगौर शंकरको कपूर मला गया हो अथवा कैलाशके धवल गिरि पर पारेका लेप चढाया गया हो अथवा क्षीर सागरको दूधके समान सफेद वस्त्र पहनाया गया हो अथवा चाँदनीकी तह लगाकर आकाश पर उसकी खोली चढ़ाई गई हो,

फिरसे लाकर दिये है। महाराज, आपका इतना बडा पुण्य-कर्म क्या कभी व्यर्थ जा सकता है ? हे देव, आपको बहुत ही उत्तम यश प्राप्त हुआ है, क्योंकि आपने मेरी माया समूल नष्ट कर डाली है। हे महाराज, आनन्द सरोवरमेके खिले हुए कमलोके समान आपके जो ये नेत्र है, वे जिसे अपने प्रसादका स्थान बनाते है, उस जीवके सम्बन्धमें इस बातकी कल्पना करना बिलकुल पागलपन ही है कि उसका मोहके साथ योग होगा—उसे कभी आकर मोह ग्रस सकेगा। भला बडवानलके सामने मृग-जल क्या चीज है ? और यदि आप मेरी बात कहें तो मै तो इस समय आपके कृपाके प्रत्यक्ष गर्भगृहमें प्रवेश करके आनन्दपूर्वक ब्रह्म-रसका आस्वादन कर रहा हूँ। यदि इससे मेरा मोह नष्ट हो गया तो इसमे आश्चर्यकी कौन सी बात है ? हे देव, आपके चरणोके स्पर्शसे आज सचमुच मेरा उद्धार हो गया।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष मदात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

"हे कमलके समान विशाल नेत्रोवाले और कोटि सूर्योके समान तेज धारण करने वाले महाराज, मैंने आज आपसे ज्ञानका बोध प्राप्त किया-है। जिस मायासे ये भूत मात्र उत्पन्न होते है और जिसके कारण ये अन्तमे लीन होते है; उस मायाका स्वरूप आपने मुझे स्पष्ट करके बतला दिया है। और फिर वह माया दूर करके मुझे उस पर ब्रह्मका स्थान दिखला दिया है जिस परब्रह्मका गौरव धारण करके वेद अब तक संसारमे सुशोभित होते थे। और यह जो साहित्यका सागर बढ रहा है और टिका हुआ है और धर्म-सिद्धान्तोके रत्न तथा मोती आदि उत्पन्न कर रहा है, वह भी उस परमात्माके तेजके लाभका ही परिणाम है। इस प्रकार जो समर्स्त साधन-मार्गोका ही ध्येय परमात्मा है और जिसके माधुर्यका ज्ञान केवल आत्मानुभवसे ही हो सकता है, उस परमात्माका अनन्त और अपार माहात्म्य आपने मुझे स्पष्ट करके बतला दिया है। जिस प्रकार आकाशके मेघोका जल बरस जाने पर सूर्यबिम्बके दर्शन होते है। अथवा ऊपरकी सेवार हाथसे हटाने पर नीचेका पानी दिखाई पडने लगता है अथवा चन्दनके वृक्ष पर कुण्डली मारकर बैठनेवाले सर्पको हवा देने पर चन्दनका वृक्ष दिखाई पड़ने लगता है अथवा पिशाचोके भाग जाने पर जमीनके अन्दर गडा हुआ खजाना मिल जाता है,' ठीक उसी प्रकार बीचमे परदेके समान पडी हुई यह माया आज आपने दूर हटाकर मेरी मति तत्व-निष्ठ कर दी है। इसलिए हे देव, इम विषयमे अब मेरे मनमें पूरा पूरा विश्वास हो गया है, परन्तु अब मेरे मनमे एक और नई बात उत्पन्न हुई है। अब यदि मैं इस समय संकोचके कारण आपके सामने उस बातका उल्लेख न करूँ तो फिर और किससे मैं वह बात पूछने जाऊँ ? आपके सिवा मुझे और किसका आश्रय प्राप्त हो सकता है ? यदि पानीमे रहनेवाले प्राणी अपने मनमे इस बातका संकोच करे कि हमारे अमुक काम से पानी को कष्ट होगा अथवा बालक यदि दृढ़ता और हठपूर्वक स्तन-पानकी की याचना न करे तो उसके लिए जीवित रहनेका और उपाय ही कौन सा है ? इस लिए अब मुझसे कुछ भी संकोच नही किया जाता। इस समय मेरे मनमे जो बात आवे, वह मुझे आपसे साफ साफ कह देनी

उसी प्रकार चन्दनका उवटन प्रभुके सारे शरीरमें लगा हुआ दिखाई दिया। जिस सुगन्धसे आत्म-स्वरूपका तेज और भी अधिक प्रकाशमान् होता है, जिससे ब्रह्मानन्दका दाह शान्त होता है, जिससे पृथ्वीको चैतन्य प्राप्त होता है, विरक्त संन्यासी भी जिसकी संगति करते हैं और अनंग मदन भी जो अपने सारे अंगमे लगाता है, उस सुगन्धके महत्वका वर्णन भला कौन कर सकता है? इस प्रकार एक एक शृंगारकी शोभा देखता देखता अर्जुन इतना घबरा गया कि उसे बातका भी अच्छी तरह पता नही चलता कि प्रभु खडे है अथवा बैठे है अथवा सोये है। बाहरके चर्म-चक्षु खोलकर देखने पर सब कुछ देवमूर्त्ति-मय ही दिखाई देता था। और जब वह यह निश्चय करके आँखे बन्द कर लेता था कि मैं इन आँखोसे देखूँगा ही नही, तब अन्दर भी उसे सब कुछ देव मय ही दिखाई देता था। सामने अपरम्पार मुख दिखाई देते थे, इसलिए जब अर्जुन डरकर पीछेकी ओर देखने लगा, तब उसने देखा कि उधर भी देवके मुख, हाथ और पैर आदि सब कुछ कैसे ही है। यदि आँखे खोलकर देखने पर ये सब वस्तुएँ दिखाई पडती हो तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? परन्तु सुनने योग्य विलक्षण बात यह है कि न देखनेकी अवस्थामे भी; आँखे बन्द किये रहने पर भी, देवके वही दर्शन होते थे। प्रभु-कृपाकी भी यह कैसी विलक्षण करनी है! अर्जुनकी देखनेकी भी और न देखने की भी दोनो ही क्रियाये नारायणने पूर्ण रूपसे व्याप्त कर रखी थी और इसी लिए उन दोनो क्रियाओमे उसे नारायणके दर्शन ही होते थे। जब अर्जुन चमत्कारकी एक बाढमेसे निकलकर जल्दी जल्दी किनारेकी ओर आ रहा था, तब इसी बीचमें वह चमत्कारके एक दूसरे महासागरमें जा पडा। इस प्रकार उस अनन्त-स्वरूपी नारायणने अपने दर्शनकी अलौकिक सामर्थ्यसे अर्जुनको बिलकुल घबरा दिया। प्रभु तो स्वभावत ही विश्वतोमुख (अर्थात् सर्वव्यापी) हैं, और तिस पर अर्जुनने उनसे यह प्रार्थना की थी कि आप मुझे अपना विश्व-रूप दिखलावे, इसलिए देव स्वयं ही सारे विश्वका रूप धारण करके उसके सामने प्रकट हुए थे। और फिर नारायण ने अर्जुनको कोई ऐसी स्थूल दृष्टि तो दी ही नही थी कि यदि दीपक अथवा सूर्यका प्रकाश हो, तभी उसे दिखाई पडे, और यदि दीपक अथवा सूर्यकी सहायता न प्राप्त हो तो उस दृष्टि से दिखाई ही न पडे। अत हे राजा धृतराष्ट्र, आप यह बात ध्यानमे रखे कि अर्जुन चाहे अपनी आँखे बन्द रखता और चाहे खुली रखता, दोनो ही अवस्थाओमे अर्जुनके लिए देखनेके सिवा और कोई उपाय ही नही था।" यही बात हस्तिनापुरमे संजय राजा धृतराष्ट्र से कह रहे हैं। सजयने फिर कहा—"हे राजन्, और नही तो कम से कम इतना तो आप अवश्य ध्यानमे रखे कि अर्जुनने प्रभुका विश्व-रूप देखा और वह रूप अनेक प्रकारके अलंकारोसे भरा हुआ होने पर भी सर्वव्यापी था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥

"हे राजन्, मैं क्या बतलाऊँ कि विश्व-रूपके उन अंगोकी कान्तिका अद्भुत दृश्य कैसा और किसके समान था! महाप्रलयके समय बारह सूर्य एकत्र होते है। यदि

उस प्रकारके हजारो दिव्य सूर्य एक साथ उदय हो तो भी उन्हे उस विश्व-रूपके तेज की महिमाकी थाह नही लग सकती । यदि विश्वकी सारी विद्युत् एकत्र की जाय और कल्पान्तकी अग्निका सारा मसाला एकत्र किया जाय और उनमे प्रसिद्ध दस महातेज भी सम्मिलित कर दिये जायँ तो कदाचित् उस विश्व-रूपकी अग-प्रभाके तेजके सामने वे कुछ अल्प-से ही सिद्ध होगे, परन्तु ऐसा तेज कदाचित् कही न मिलेगा जो ठीक तरहसे उसका पासग भी ठहरे । इस प्रकारका अपार महत्व इन श्रीकृष्णमे स्वाभाविक ही है । उनके सर्वाङ्गका सर्वत्र फैलनेवाला तेज जो मुझे देखनेको मिला, यह महामुनि व्यासकी ही कृपाका फल है ।"

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

उसी विश्व-रूपके एक कोनेमे यह सारा जगत् अपने सम्पूर्ण विस्तारके सहित उसी प्रकार पडा हुआ था, जिस प्रकार महासागरमे भिन्न भिन्न बुलबुले दिखाई देते है, किंवा आकाशमे भिन्न-भिन्न मेघ होते है, अथवा जमीन पर च्यूँटियोके बने हुए घर होते है अथवा मेरु पर्वत पर बहुतसे परमाणु रहते हैं । बस ठीक इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व उन देव-देवके शरीरमे उस समय अर्जुन देख रहा था ।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्जुनके मनमे उस समय तक जो इस प्रकारका थोडा-सा भेद-भाव बचा रह गया था कि यह विश्व एक अलग वस्तु है और मैं उससे भिन्न दूसरी वस्तु हूँ, सो वह भेद-भाव भी अब नष्ट हो गया और अर्जुनका अन्त करण बिलकुल द्रवित हो गया । उसके अन्दर आनन्दका सचार हुआ और बाहरी शरीरके अवयवोका बल तत्काल बिलकुल नष्ट हो गया और नखसे लेकर शिखा तक मारे शरीरमे रोमाच हो हो आया । जिस प्रकार बरसातके पहले झोकेमे पानी बह जानेके बाद पर्वतके सब भाग कोमल तृणोके अकुरोसे आच्छादित हो जाते है, उसी प्रकार अर्जुनके सारे शरीर पर रोमाँचके अकुर निकल आये । जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणोके स्पर्शमे चन्द्रकान्त मणि द्रवित होती है, उसी प्रकार उसका शरीर पसीनेकी बूँदोसे भर गया । कमलके कोशमे बन्द हो जानेवाले भौंरेके हिलने-डुलनेसे जिस प्रकार कमलकी कली पानी पर हिलने लगती है, अन्त करणमे सुखकी लहरे उठनेके कारण बाहरसे उसका शरीर भी उसी प्रकार थरथर काँपने लगा । जिस प्रकार कपूर-कदलीके दल खोलने पर उसमे दबे हुए कपूरके कण निकलकर गिरने लगते है, उसी प्रकार अर्जुनकी आँखोसे टपाटप आँसुओकी बूँदे गिरने लगी । चन्द्रमा उदय होने पर जिस प्रकार भरा हुआ समुद्र और भी अधिक भर जाता है, उसी प्रकार अर्जुनभी आनन्दकी लहरोसे और भी अधिक भर गया । इस प्रकार आठो सात्विक भाव मानो परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करते हुए अर्जुनके अगोमे भर गये जिससे उसके जीवको ब्रह्मानन्दका साम्राज्य प्राप्त हो गया । परन्तु इस प्रकारके आत्मानन्दके अनुभवके उपरान्त भी उसकी दृष्टिमे देव और भक्त के द्वैत-भाव का अस्तित्व बना ही रहा । इसीलिए अर्जुनने एक ठण्डी

लिए यही मानना पडता है कि भाग्यमें जो कुछ भोगना बदा होता है, वह कभी टलता नही। और यही बात ठीक है कि जो कुछ होनेको होता है, उसीके अनुसार मनुष्यकी बुद्धि भी हो जाती है। लोग मेरे ही सिर पर इसका ठीकरा फोडनेको थे। फिर भला यह बात न कैसे होती? प्राचीन कालमे जब देवताओंको अमृत प्राप्त हुआ था, तब उससे भी उनका सन्तोष नही हुआ था। इसी लिए जिस प्रकार अन्तमे काल-कूट विष उत्पन्न हुआ था—परन्तु एक हिसाबसे उस काल-कूट विषको भी छोटे ही दरजेका समझना चाहिए, क्योंकि उसका प्रतिकार हो सकता था और उस अवसर पर श्री शंकरजीने किसी प्रकार सब लोगोका उस संकटसे निस्तार कर दिया था—परन्तु अब इस जलती हुई हवाको कौन रोक सकता है? यह विषसे भरा हुआ गगन अब कौन निगल सकता है? महाकालके साथ लडनेकी सामर्थ्य भला किसमे हो सकती है?" इस प्रकार दुखसे भरकर अर्जुन अपने अन्त करणमे शोक कर रहा था, परन्तु श्रीकृष्णका अभिप्राय उसे बिलकुल विदित नही हुआ। जो अर्जुन यह कह रहा था कि मैं मारनेवाला हूँ और ये सब कौरव मरनेवाले है और इस प्रकार वह जो प्रबल मोहके पाशमें पडा हुआ था, उसका वह मोह दूर करनेके लिए ही उन अनन्तदेवने अपना यह गुप्त रहस्य उस पर प्रकट किया था। श्रीकृष्ण उस समय विश्व-रूपके बहानेसे अर्जुन पर यह तत्व प्रकट कर रहे थे कि कोई किसीको मारता नही। मैं ही सबका सहार करता हूँ। परन्तु अर्जुनको फिर भी इस बातका पता नही चलता था कि मेरा यह दुःख निष्कारण है। और इसी लिए उसका वह निष्कारण और निरर्थक कम्प भी बराबर बढने लगा।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥२७॥

अर्जुन कहने लगा—"वह देखिये, जिस प्रकार आकाशमे बादल समा जाते हैं, उसी प्रकार दोनो पक्षोकी सेनाएँ तलवारो और कवचोके सहित आपके मुखमे समा गईं। विश्व-प्रलयके अन्तमे जब सृष्टि पर काल क्रोध करता है, तब वह जिस प्रकार इक्कीसो स्वर्गोंको पातालोके सहित लपेटकर ग्रस लेता है, अथवा दैवके प्रतिकूल होने पर जिस प्रकार कौडी-कौड़ी जमा करनेवालोकी सारी सम्पत्ति जहाँकी तहाँ आपसे आप नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शस्त्रो-अस्त्रोसे सजी हुई ये दोनो सेनाएँ एकमे मिलकर आपके मुखमे समा गई हैं, परन्तु दैवकी गति ऐसी है कि उनमेसे एक भी इस मुखसे छूटकर बाहर नही निकल रहा है। जिस प्रकार ऊँटके चबानेसे अशोकके कोमल अकुर बिलकुल व्यर्थ हो जाते है, उसी प्रकार ये लोग भी आपके मुखमे पडकर नष्ट हो रहे है। दाँतोकी कैंचीमे पडे हुए मुकुटोके सहित सबके सिर किस प्रकार चूर्ण होते हुए दिखाई देते हैं! उन मुकुटोके रत्नोमेसे कुछ रत्न इन्ही दाँतोमे फँस गये हैं, कुछ चूर-चूर होकर जीभके मूल पर फैल गये है और कुछ दाढोके अगले भागमे लगे हुए हैं। यह सब देखने पर ऐसा जान पडता है कि विश्व रूप कालने लोगोके शरीर बलपूर्वक निगल लिये है, परन्तु जीव देहके केवल ये मस्तक बाकी रहने दिये हैं। इसी प्रकार सारे शरीरमे ये मस्तक ही उत्तम थे और इसीलिए वे महाकालके मुखमें

सांस लेकर इधर-उधर देखा, और जिस ओर श्रीकृष्ण बैठे हुए थे, उस ओर उसने प्रभुको नमस्कार किया और तब हाथ जोड़कर उसने कहना आरम्भ किया।

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५ ॥

अर्जुन कहता है—"हे प्रभो, मैं आपका जय-जयकार करता हूँ। सचमुच आपने मुझ पर बहुत ही विलक्षण कृपा की है, क्योंकि उसी कृपाके कारण आज मुझ सरीखे सामान्य जीवको भी यह अद्भुत विश्व-रूप देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। परन्तु महाराज, आपने यह बहुत ही अच्छा काम किया है, और मुझे भी इससे बहुत संतोष हुआ है, क्योंकि आज मुझे यह बात प्रत्यक्ष रूपसे दिखाई पडी है कि आप ही इस सृष्टिके आधार है। हे देव जिस प्रकार मन्दार पर्वतके पठार पर जगह जगह वनचर पशुओके दल एकत्र रहते है, उसी प्रकार चौदहो भुवनोके अनेक संघ आपके शरीर पर लटके हुए दिखाई देते है। आकाशके विस्तारमे जिस प्रकार तारोके समूह रहते है अथवा किसी विशाल वृक्षमे जिस प्रकार अनेक पक्षियोके घोसले लटकते रहते है, उसी प्रकार, हे नारायण, आपके इस विश्वमय शरीरमे स्वर्ग और उसमेके देवगण मुझे दिखाई पड रहे है। हे प्रभो, इसी शरीरमे महाभूतोके अनेक पंचक और भूत सृष्टिका प्रत्येक भूत-समुदाय मुझे दिखाई दे रहा है। हे महाराज, आपके सारे शरीर मे सत्य-लोक है, फिर भला यह कैसे हो सकता है कि उसमे दिखाई पडनेवाले ब्रह्मा न हो? यदि दूसरी ओर देखा जाय तो कैलाश भी दिखाई देता है। हे देव, आपके शरीरके एक छोटेसे कोनेमे गौरीके सहित श्रीशकर भी दिखाई पडते है। केवल यही नही, हे नारायण, स्वयं आप भी अपने इस विश्व-रूपमे दिखाई देते है। इसमे कश्यप आदि समस्त ऋषियोके कुल और नाग-समुदायके सहित पाताल भी दिखाई देता है। संक्षेपमे यह कि, त्रिभुवन-नाथ, आपके रूपके एक एक अवयवकी भीति पर चौदहो भुवनोके चित्र अकित दिखाई पडते है। इन भुवनोके प्रत्येक प्रकारके लोक भी इसमे चित्रित दिखाई देते है। इस प्रकार आपके अगाध महत्वकी अलौकिकता आज मुझे दिखाई पड़ रही है।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६ ॥

"इस दिव्य दृष्टिकी सहायतासे जो मैं चारो ओर देखता हूँ तो मुझे यह दिखाई पडता है कि आपके बाहु-दण्डोसे आकाशके अंकुरोके समान आपके अनेक अग्रहस्त निकले हुए है और उनमेसे प्रत्येक अग्रहस्त सब प्रकारके व्यवहार तथा कार्य कर रहे है। जिस प्रकार अव्यक्त ब्रह्मके विस्तारमे अनेक ब्रह्माडोके भाण्डार खुले हुए दिखाई पडते है, उसी प्रकारके आपके ये अपार उदर मुझे जान पड़ते है। इस शरीरमे एक ही समयमे सहस्रशीर्षत्वकी करोडो आवृत्तियाँ होती है, और ऐसा जान पडता है कि मानो परब्रह्म रूपी वृक्षमे ये हजारो मस्तक रूपी फल अपने भारसे हिल रहे है हे हे विश्व-रूप देव, इस प्रकारके आपके जितने मुख हैं, वे सब मुझे दिखाई पड़ रहे।

पड़कर भी अन्त तक वच रहे है।" इसके उपरान्त अर्जुन फिर कहने लगा—"जिसने जन्म लिया है, उसके वास्ते इसके सिवा और कोई मार्ग ही नही है। यह जगत स्वयं ही इस गम्भीर मुखमें प्रवेश कर रहा है। यह वात ठीक है या नही ? सभी प्रकारकी सृष्ट वस्तुएँ आपसे आप इस मुखके मार्गमे जा रही है और यह विश्व-रूप महाकाल चुपचाप अपने स्थान पर पडा हुआ है; और जव ये सव वस्तुएँ उसके पास आती हैं, तव वह स्वस्थ भावसे उन सवको निगलता चलता है। ब्रह्मा आदि सव ऊपरवाले ऊँचे मुखमें प्रवेश कर रहे है और ये सामान्य भारतीय वीर इधरवाले छोटे मुखमें प्रवेश कर रहे है। दूसरे कुछ भूत ऐसे भी है कि वे जहाँ उत्पन्न होते है, वही ग्रस लिये जाते है। परन्तु यह कही नही दिखाई पड़ता कि कोई इस मुखकी चपेटसे वच निकला हो।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

"जिस प्रकार वडी वडी नदियोका प्रवाह वहुत शीघ्रतासे चलता हुआ समुद्रके विस्तारमे जाकर मिल जाता है, उसी प्रकार सव दिशाओसे आकर यह जगत इसी मुखमें प्रवेश कर रहा है। ये सभी प्राणी आयुष्यके मार्ग पर रात और दिनकी सीढ़ियाँ वनाकर वड़े वेगसे इस मुखमे प्रवेश करनेकी साधना कर रहे है।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

"जिस प्रकार जलते हुए पर्वतकी गुफाओमें पतंगोके झुण्डके झुण्ड आपसे आप आकर गिरते है, उसी प्रकार ये सव लोग भी कूद-कूदकर इस मुखमे गिर रहे हैं। परन्तु जिस प्रकार तपा हुआ लोहा पानी सोख लेता है, उसी प्रकार इस मुखमे जो जो पडते है, वे सव भस्म हो जाते है। उन सवके नाम-निशान व्यवहार क्षेत्रसे वरावर मिटते चले जा रहे है।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

"लेकिन इतना अधिक अन्न खाकर भी इसकी भूख-तनिक भी कमी नही होती, वल्कि उनमे कुछ और भी विलक्षण तीव्रता ही आती है। जिस प्रकार कोई रोगी ज्वरसे मुक्त होने पर अथवा कोई भिखारी अकाल पडने पर अपने होठ चाटता है, उसी प्रकार यह लपलपाती हुई जीभ भी होठ चाटती हुई जान पड़ती है। फिर इस मुखके सम्वन्धमे एक और वात है। कोई चीज ऐसे नही दिखाई देती जो इस मुखके लिए खाद्य न हो—जो कुछ इसके सामने आता है, उन सवको यह खा जाता है। यह भूख भी मनुष्यको विलकुल चकित करनेवाली और वहुत ही अनोखी है। हे प्रभु, आपके इस स्वरूपका कुछ ऐसा स्वाभाविक भुक्खडपन दिखाई देता है कि मानो आप हर दम यही सोचते रहते हैं कि इस समुद्रको एक घूँटमें पी जाऊँ या इस पर्वतको एक ग्रासमें निगल जाऊँ या इस ब्रह्मांडको ही एक दमसे अपनी दाढ़के नीचे रख लूँ या इन दसो दिशाओको ही निगल जाऊँ या इन तारोको ही चट कर जाऊँ। जिस प्रकार

और उनमेके आँखोके रंगोके अनेक समुदाय भी मैं देख रहा हूँ। केवल इतना ही नही, स्वर्ग ,पाताल, भूमि, दिशा और आकाश आदि सभी बातोका यहाँ अन्त हो जाता है और सब यहाँ मूर्त्तिमान् ही दिखाई देते है। मैं चाहता हूँ कि परमाणुके बराबर भी कोई ऐसा अवकाश दिखाई पडे जिसमे आपका निवास न हो; परन्तु मेरा यह प्रयत्न व्यर्थ हो रहा है, क्योकि आपने सभीको ओतप्रोत रूपसे व्याप्त कर रखा है। अनन्त प्रकारके इतने महाभूत इसमे एकत्र है जिनके विस्तारकी गणना ही नही हो सकती; और हे अनन्त देव, उनका वह सारा विस्तार आपमे ही समाया हुआ दिखाई देता है। इस प्रकारका महत्व रखनेवाले आप कहाँसे आये, आप यहाँ बैठे हैं अथवा खडे है, आप किस माताके गर्भमे थे, आपका स्थान कितना बडा था, आपका रूप कैसा है, आपकी अवस्था कितनी है, आपके उस पार और क्या है और आपका मूल आधार क्या है, आदि सब बात जब मैं देखने और विचारने लगा तो मुझे यही दिखाई पड़ा और यही समझमे आया कि आप स्वयं ही अपने मूल आधार हैं और आपकी उत्पत्ति किसी दूसरेसे नही हुई है। इस प्रकार आप अनादि और स्वयं-सिद्ध हैं। आप न तो खड़े ही है और न बैठे ही है। आप न ऊँचे ही है और न ठिगने ही हैं। नीचे, तल पर और ऊपर, हे प्रभु, सब जगह आप ही है। हे देव, अपना रूप, तारूण्य, पीठ और पेट सब कुछ स्वय आप ही है। मैं और अधिक क्या कहूँ, हे अनन्त देव, बार बार देखने पर मुझे यही जान पडता है कि अपना सब कुछ आप ही हैं। परन्तु प्रभु, आपके रूपमे केवल एक कमी दिखाई देती है, और वह यह कि उसमे आदि, मध्य और अन्त इन तीनोमे एक भी कही दिखाई नही पडता। आप सभी स्थानोमे व्याप्त है, परन्तु इसका पता कही नही लगता। इसीलिए यहाँ निश्चित रूपसे यह निर्णय होता है कि आपमे ये तीनो बाते बिलकुल नही है। इसी प्रकार, हे आदि, मध्य और अन्तसे रहित अनन्त विश्वनाथ, मैंने सचमुच आपका विश्व-रूप देख लिया है। हे देव, आपकी इस प्रचंड मूर्तिमे ही भिन्न भिन्न सभी मूर्त्तियाँ प्रतिबिम्बित है और ऐसा जान पडता है कि आपने अनेक रंगोके ये अँगरखे ही पहन रखे हैं। अथवा ऐसा जान पडता है कि ये भिन्न भिन्न मूर्त्तियाँ आपके शरीर-रूपी महापर्वत पर निकली हुई बेले ही है और वे दिव्य अलंकार रूपी फूलो और फलोसे भरी हुई हैं। अथवा हे देव, ऐसा जान पडता है कि आप महासागर है और इन मूर्त्तिरूपी तरगोसे हिल रहे हैं अथवा आप कोई विशाल वृक्ष है और ये मूर्त्तियाँ उन वृक्षमे फलोके समान लगी है। हे प्रभो, जिस प्रकार भूत मात्रसे भरा हुआ पृथ्वी तल दिखाई पडता है अथवा नक्षत्रोसे भरा हुआ आकाश होता है, उसी प्रकार अनन्त मूर्त्तियोसे भरा हुआ आपका स्वरूप दिखाई देता है। जिन मूर्त्तियोमेसे एक एक मूर्त्तिके अगोसे सम्पूर्ण त्रिभुवन उत्पन्न होते है और साथ ही उन्हीके कारण लयको भी प्राप्त होते हैं, वे सब मूर्त्तियाँ आपके शरीर पर मानो रोमोके समान दिखाई देती हैं। अब यदि मैं यह जानना चाहूँ कि इतना अधिक विस्तार रखनेवाले आप है कौन, तो मुझे यह पता चलता है कि आप मेरे ही सारथी श्रीकृष्ण हैं। अत. हे मुकुन्द, विचार करने पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आप सदा ऐसे ही व्यापक

विषयोंके सेवनसे कामका विकार बराबर और भी बढता ही जाता है अथवा ईंधन डालनेसे आग और भी ज्यादा भडकती है, उसी प्रकार बराबर भुक्खडपनसे खाते रहनेवाले इस मुखका भुक्खड़पन भी बराबर बढता हुआ ही दिखाई देता है। इनमेसे एक ही मुखको देखिये कि वह कैसा खुला हुआ है! इसमेकी जीभ पर पडा हुआ त्रिभुवन बडवाग्निमे पडे हुए कैथके समान जान पडता है। इस स्वरूपमे इस प्रकारके असंख्य मुख है, और यद्यपि इन सबके लिए यथेष्ट आहार मिलना सम्भव नही है, पर फिर भी कौन जाने, इनकी संख्या इतनी अधिक बढी हुई क्यो है। हे प्रभो, यह बेचारा जीवलोक इन मुखोकी ज्वालामे उसी प्रकार फँस गया है, जिस प्रकार दावाग्निके घेरेमे हिरन पड जाते हैं। इस समय इस विश्वकी ऐसी ही स्थिति हो रही है। ये देव नही है, बल्कि कर्मोके भोग ही प्रकट हुए हैं। अथवा ऐसा जान पडता है कि जगत रूपी मछलियोको काल रूपी जालमे फँसा लिया गया है। अब इस विश्व-रूपके अगके तेजके पाशमे इन चराचरका किस प्रकार छुटकारा होगा? ये विश्व-रूपके मुख नही है, बल्कि जगतके लिए जलते हुए लाक्षागृह ही है। स्वयं आगकी समझमे कभी यह बात नही आ सकती कि आगमे पडकर जलना कैसा होता है और उससे कितना कष्ट होता है, परन्तु हाँ, जिसे उसका प्रखर ताप लगता है, उसे अवश्य ही अपने प्राण त्याग करने पडते है। इसके सिवा और किसी तरह उसका छुटकारा ही नही होता। अथवा जिस प्रकार शस्त्रको इस बातका ज्ञान नही रहता कि मेरी तीक्ष्णताके कारण दूसरोकी कैसे मृत्यु होती है अथवा जिस प्रकार विष अपना मारक गुण नही जानता, उसी प्रकार, हे प्रभो, आपको अपनी भयानक तीव्रताका कुछ भी ज्ञान नही है। परन्तु इधरवाले इन मुखोसे जगतकी बिलकुल खाई बन गई है। हे देव, यदि आप सारे विश्वमे व्याप्त रहनेवाले केवल आत्म-स्वरूप ही है, तो फिर आज आप हम लोगो पर कालके समान घातक होकर क्यो टूट पडे हैं? ऐसा विकट प्रसग आ उपस्थित हुआ है, इसलिए अब मैंने भी अपने प्राणोका मोह छोड दिया है और आप भी अब बिना किसी प्रकारके सकोचके अपने मनकी सब बाते साफ साफ कह डाले। यह भयकर रूप अब और कितना बढेगा? हे महाराज, आप विश्वको पालन करनेका अपना व्रत स्मरण करे; और नही तो कमसे कम मुझ पर ही कृपा करें।

आख्याहि मे को भावानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१॥

"हे केवल वेदोके जानने योग्य, त्रिभुवनके मूल बीज और सर्व विश्वके वन्दनीय, एक बार मेरी विनती तो सुने।" यह कहकर उस वीर पार्थने श्रीकृष्णके चरणो पर अपना मस्तक रख दिया और तब फिर कहना आरम्भ किया—"हे सर्वेश्वर प्रभो, आप इधर ध्यान दे। मैंने तो केवल अपना समाधान करनेके लिए आपसे यह निवेदन किया था कि मुझे अपने विश्व-रूपके दर्शन कराइये। और आप तो ये तीनो भुवन एक दमसे निगलने लग गये। ऐसी अवस्थामे मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं। आपने ये असंख्य भयकर मुख किस लिए निकाले है? और अपने सब हाथोमे

रहते हैं, परन्तु केवल भक्तके प्रेमके कारण इस प्रकारका प्रेममय और मधुर रूप धारण करते है। वह चार भुजाओवाला साँवला स्वरूप देखते ही मन और नेत्र सभी शीतल हो जाते है; और यदि आलिंगन करनेके लिए हाथ आगे बढ़ाये जायँ तो वह रूप सहजमे प्राप्त भी हो जाता है। हे विश्व-रूप देव, इस प्रकारका सुन्दर रूप आप मुझपर कृपा करनेके लिए ही धारण करते हैं न? अथवा मेरी वह दृष्टि ही दूषित है जिसे आप ऐसे सामान्य और मधुर दिखाई देते है? जो हो, परन्तु अब तो मेरी दृष्टिका मल बिलकुल दूर हो गया है और आपने सहजमे ही मेरे नेत्रोको दिव्य-प्रकाशमय कर दिया है, और इसी लिए मैं आपकी वास्तविक महिमाका ठीक ठीक स्वरूप देख सका हूँ। आज मुझे स्पष्ट रूपसे इस बातका पता चल गया है कि मेरे रथके जूएके मकराकार मुखके पीछेकी ओर बैठनेवाले आप ही का यह सारा विश्व-रूप है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥

"इतना ही नही, हे श्रीकृष्ण, आपके सिर पर इस समय भी वही मुकुट है जो सदा रहता है, परन्तु उसकी इस समयकी प्रभा और विशालता कुछ विलक्षण ही है। और इस ऊपरवाले हाथमे आप उसी प्रकार चक्र धारण किये हुए है कि मानो अभी उसे चलाना ही चाहते हैं। हे विश्व-रूप, परन्तु जो बात इसमें पहले सदा दिखाई देती थी, वह इस समय नही है? दूसरी ओर जो यह गदा है, क्या यह वही पुरानी और पहचानी हुई नही है? और नीचेके ये दोनों शस्त्र हीन और खाली हाथ घोडोकी लगाम पकड़नेके लिए आगे बढ़ रहे हैं। और हे विश्वनाथ, अब यह बात भी मेरी समझमें आ गई है कि मेरे इच्छा करते ही और उतने ही वेगसे जितना वेग उस इच्छामें था, आप एक दमसे विश्व-रूप हो गये। परन्तु यह कितना प्रचंड और अद्भुत चमत्कार है! यह देखकर चकित होनेके लिए विस्मयके जितने बलकी आवश्य-कता होती है, उतना बल भी मुझमे नही है। यह आश्चर्य देखकर चित्त बिलकुल पागल हो ही जाता है। मनमे इस बातका भी कुछ ठीक ठीक निश्चय नही होता कि यह विश्व-रूप यहाँ है अथवा नही है। इस मूर्त्तिकी प्रभाकी नवलताका भला मैं क्या वर्णन करूँ! यह सारा विश्व-समुदाय इसमे किस प्रकार भरा हुआ रखा है! इस तेजकी विलक्षण प्रखरताका ऐसा चमत्कार है कि इसके सामने अग्निकी दृष्टि भी झप जाती है और सूर्य भी खद्योतके समान फीका पड जाता है। इस प्रचंड तेज-के सागरमें मानो सारी सृष्टि डूब गई है अथवा कल्पान्त कालकी विद्युतने सारा आकाश व्याप्त कर रखा है, अथवा विश्व-प्रलयके समयकी अग्नि-ज्वालाको तोड़-मरोड़कर मानो हवामे यह ऊँचा मंडप बनाया गया है मेरी दिव्य ज्ञान दृष्टिसे भी यह दृश्य देखा नही जाता। इसकी देदीप्यमान प्रभा प्रति क्षण इतनी बढ़ रही है और इसका तेज तथा दाहकता इतना विलक्षण है कि इसकी ओर देखने पर दिव्य नेत्र भी घबरा जाते है। ऐसा जान पडता है कि महारुद्रके तीसरे नेत्रमे महाप्रलय करनेवाला अग्निका जो भंडार गुप्त था, वही मानो उस नेत्रकी कली खोलकर बाहर निकल पड़ा है। इस प्रकार फैले हुए दाहक प्रकाशमे पंचाग्निकी ज्वाला-

आपने ये सब हथियार किस लिए धारण कर रखे है ? आप तो बढ़ते बढ़ते इतने बड़े हो गये है कि आकाश भी अब आपके सामने ठिगना जान पड़ता है। आप ये भयंकर नेत्र फैलाकर मुझे क्यों दिखला रहे है ? हे प्रभो, आपने इस समय सर्व-भक्षक यमके साथ प्रतियोगिता करना क्यो आरम्भ कर दिया है ? अपने इस कृत्यका हेतु आप मुझे स्पष्ट रूपसे बतलावे।" इस पर अनन्त-स्वरूप श्रीकृष्णने कहा—"तुम यही जानना चाहते हो न कि मैं कौन हूँ और इस प्रकारका उग्र रूप धारणकरके क्यों इतना बढता चला जा रहा हूँ ?

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

"अच्छा तो सुनो। मैं सचमुच काल हूँ और लोगोका नाश करनेके लिए ही बढ़ रहा हूँ। यह देखो, मेरे असंख्य मुख फैले हुए हैं और अब यह समस्त चराचर मैं निगल जाऊँगा।" यह सुनकर अर्जुनने अपने मनमें कहा—"हाय हाय ! उस पहले संकटसे ही इतना घबरा गया था और इसी लिए मैने इनसे यह प्रार्थना की थी। पर अब यह उससे भी बढ़कर ऐसी उग्रता दिखला रहे हैं जिसके सामने पहलेवाली उग्रता कोई चीज ही नही थी।" उधर श्रीकृष्णने भी अपने मनमे सोचा कि मैंने जो यह कठोर उत्तर दिया है, इससे अर्जुन और भी अधिक निराश तथा दुःखी हो जायगा; इसलिए उन्होने तुरन्त ही यो कहना आरम्भ किया—"परन्तु हे अर्जुन, इन सब कृत्योमें एक निराली ही खूबी है। वह यह कि इस समय जो प्रलय उपस्थित होनेको है, तुम पाण्डव लोग उसमे बाहर हो।" यह सुनकर अर्जुनको कुछ धैर्य हुआ और उसके जो प्राण निकल जाना चाहते थे, उन्हे उनसे किसी तरह सँभालकर रोका। वह उस समय मृत्युके मुखमें पडा हुआ था, पर अब उसके होश कुछ ठिकाने हुए और वह फिर श्रीकृष्णकी बातोकी ओर अच्छी तरह ध्यान देने लगा। उस समय देवने इस प्रकार कहना आरंभ किया—"हे अर्जुन, तुम पांडव लोग मेरे हो। यह बात तुम सदा अपने ध्यानमें रखना। तुम लोगोको छोडकर और बाकी सबको निगल जानेके लिए मैं इस समय तत्पर हुआ हूँ। जिस प्रकार बडवाग्निमे मक्खनकी गोली डाली जाय, उसी प्रकार तुम देख रहे हो कि यह सारा जगत मेरे मुखमे पडा हुआ है। और इसमे कुछ भी मिथ्या नही है। ये सेनाएँ बड़े अभिमानमे अकड रही है, परन्तु इनकी सारी अकड़ निष्फल है। इस चतुरंगिणी सेनाके बलका अभिमान मानो महाकालमे स्पर्धा कर रहा है। देखो, इन पर अंगोके बलका कैसा मद चढ़ा है ! वे कहते हैं—'हम एक दूसरी सृष्टिका निर्माण कर सकते है। प्रतिज्ञा करके उलटे मृत्युको ही मार सकते हैं। और इस सारे जगतको केवल एक ही घूँटमें पी सकते हैं, सारी पृथ्वी को खा सकते हैं, आकाशको उपरही उपर जला सकते हैं और अपने बाणोंके बलसे वायुको भी एक ही जगह रोककर उसे जर्जर कर डालेंगे। ये सैनिको-की टोलियाँ एकत्र होकर अपने शौर्यकी कृतियोमे फूली नही समाती, और वीर अपनी सेनाओंकी प्रशंसा करते हुए उन्हे यमसे भी बढकर भयंकर बतलाते है। इनके शब्द हथियारोकी अपेक्षा भी तीक्ष्ण हैं, इनकी मुद्रा आगसे भी बढ़कर दाहक है और इनकी घातकताके सामने काल-कूट विष मीठा ही जान पडता है। परन्तु ये सब आकाशमे

के भँवर उठते ही मानो सारा ब्रह्माण्ड कोयला हो रहा है। हे देव, आपका इस प्रकारका अद्भुत पुंजवाला स्वरूप मैंने आज बिलकुल विलक्षण और नया ही देखा है। आपकी व्यापकता और तेजस्विताकी सीमा नहीं दिखाई देती।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८ ॥

"हे देव, वेद जिसे ढूढनेसा प्रयत्न करते है, वह अक्षर और ओंकारकी साढे तीन मात्राओके उस पार की वस्तु आप ही है। जो सब आकारोका मूल है और जिसमें सारा विश्व समाया हुआ है, वह अक्षय, गूढ और नाश-रहित तत्व आप ही है। आप ही धर्मके जीवन है, स्वय-सिद्ध तथा अविकृत है और सारे विश्वके नियन्ता है। आप ही छत्तीस तत्त्वोसे आगेके सैंतीसवे तत्त्व है। आज यह बात मेरी समझमे आई है कि जिसे पुराण-पुरुष कहते है, वह आप ही हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९ ॥

"आप आदि मध्य और अन्त सबसे रहित है, आप स्वय-सिद्ध और अपार है और आपकी बाँहे तथा पैर विश्वव्यापी है। चन्द्रमा और सूर्य दोनो आपके नेत्र हैं और उनकी कृपा तथा कोपके खेल बराबर होते रहते हैं। आप किसी पर क्रोधपूर्ण नेत्रोसे देखते हुए उसपर कोप करते हैं और किसी पर अपनी कृपा-दृष्टिकी छाया करते है। हे देव, आपका इस प्रकारका स्वरूप ठीक तरहसे मैं ही देख रहा हूँ। आपका यह मुख मानो प्रलय-कालकी भडकी हुई अग्निका भाण्डार ही है। पर्वतो पर फैलने वाली दावाग्निमेसे जिस प्रकार वस्तु मात्रको जलाती हुई ज्वालाकी लपटें निकलती हैं, उसी प्रकार आपकी जीभ दाढोको चाटती हुई दाँतोमे लपलपा रही है। इस मुख के दाह और सारे शरीरके तेजसे यह सारा विश्व उत्तप्त होनेके कारण अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २० ॥

"और मुझे दिखाई दे रहा है कि स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी, अन्तराल, दसो दिशाएँ और चारो ओर छाये हुए क्षितिजके वर्त्तुल, सबको आपने सहजमे व्याप्त कर रखा है। परन्तु आकाशके सहित इन सबको इस भयानक रूपने मानो निगल रखा है। अथवा आपके इस रूपके अद्भुत रसकी लहरोमे चौदहो भुवन आ पडे है। फिर भला इस प्रकारके अद्भुत दृश्यका मेरी बुद्धि किस प्रकार आकलन कर सकती है? यह विलक्षण व्यापकता किसी प्रकार मर्यादित नहीकी जा सकती और तेजकी यह प्रखरता सहन नही की जा सकती। जगतका सुख तो दूर रहा, वह प्राण-धारण ही बहुत कठिनतासे कर रहा है। हे देव, यह बात भी अच्छी तरह समझमे नही आती कि आपका यह स्वरूप देखकर भयकी बाढ क्यो आ जाती है? अब इस दु:खकी लहरोमें तीनो भुवन डूबे जा रहे हैं। यदि वास्तवमे देखा जाय तो आपसे इस माहात्म्यके दर्शनमे भयका मिश्रण होनेकी क्या आवश्यकता है? परन्तु आपके दर्शनके जिस गुण का अनुभव मुझे हो रहा है इसमे सन्देह नही कि उसमे सुख बिलकुल नहीं है। जब

दिखाई पडनेवाले बादलोके गन्धर्वनगर अथवा केवल पोले पिंड ही है। ये वीर वास्तवमे चित्रमे बने हुए फलोके ही समान है। हे अर्जुन, यह केवल मृग-जलकी बाढ़ है। यह कोई सेना नही है, बल्कि कपड़ेका बनाया हुआ साँप है अथवा सजाकर रखे हुए खिलौने या पुतलियाँ हैं।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहतहः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

"वास्तवमें चैतन्यकी तडप दिखानेवाली जो सेनाएँ है, उन वास्तविक सेनाओको तो मैं पहिले ही निगल चुका हूँ। और अब जो वीर बचे हुए दिखाई देते है, वे केवल कुम्हारके यहाँके बने हुए निर्जीव पुतले हैं। जब कठपुतलियोको बाँधकर रखनेवाली और उन्हे उपयुक्त अवस्थामे रखकर उनसे हाव-भाव और नाच करानेवाली डोरी टूट जाती है, तब वे कठपुतलियाँ आपसे आप उसी प्रकार धडाधड गिर पडती हैं जिस प्रकार धक्का देनेसे कोई गिर जाता है और वे पुतलियाँ गिरकर उलटी-पुलटी हो जाती है। ठीक इसी प्रकार अब इन समस्त सेनाओके उलटकर गिर पड़नेमे कुछ भी विलम्ब न लगेगा। इसलिए, हे अर्जुन, अब तुम तुरन्त उठो और कुछ बुद्धिमत्ता दिखलाओ। तुमने गो-ग्रहणके समय समस्त कौरव सेनाओ पर एक दमसे मोहनास्त्रका प्रयोग किया था और जब उससे सारी सेनाएँ मुर्च्छित हो गई थी तब विराट्के कायर पुत्र उत्तरके द्वारा तुमने सब शत्रुओके वस्त्र छिनवा लिये थे और उन्हे नंगा करा दिया था। परन्तु इस समयका कार्य तो उससे भी कही सूक्ष्म हो गया है। इस रणक्षेत्रकी ये सारी सेनाएँ तो पहले ही मर चुकी है। अब इन पहलेसे मरी हूई सेनाओका संहार कर डालो और यह कीर्ति सम्पादन करो कि अकेले अर्जुनने ही समस्त शत्रुओको मारकर विजय प्राप्त की थी। और फिर तुम्हे यह कोरी कीर्ति ही नही प्राप्त होगी, बल्कि इसके साथ ही साथ समस्त राज्य-लक्ष्मी भी तुम्हारे हाथ आवेगी। सब अब इन सब कार्योमें, हे भाई अर्जुन, तुम्हे केवल निमित्त ही बननेकी आवश्यकता है।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्टा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

"तुम द्रोणकी परवाह मत करो, भीष्मका भय मत मानो और अपने मनमे इस बातकी शंका मत करो कि इस कर्ण पर मै कैसे हथियार चलाऊँ। अब तुम इस चिन्तामे मत पडो कि इस जयद्रथके सामने अब मैं क्या करूँ। इनके सिवा और भी जो बडे बड़े प्रसिद्ध वीर हैं, उन सबको तुम केवल चित्रोमे अंकित प्रचंड सिंहके समान ही समझो। और इनका उसी प्रकार नाश कर डालो, जिस प्रकार चित्रोमें अंकित सिंहोकी पंक्तियाँ हाथोसे पोछ डाली जाती हैं। हे अर्जुन, क्या इतनी बातें बतला देनेके बाद भी रणक्षेत्रमे जमे हुए इन सैनिकोका कुछ महत्त्व बाकी रह जाता है? अरे यह सब भ्रम मात्र है। जो कुछ वास्तविक था, उस सबको तो मैं पहले ही खा चुका हूँ। जिस समय तुमने इन वीरोको मेरे मुखमे पड़ते हुए देखा था, उसी समय इनके आयुष्यका अन्त हो चुका था। अब यहाँ जो कुछ दिखलाई पड़ रहा है, वह सब केवल निःसत्व भूसा ही हैं। इसलिए अब तुम झटपट उठो। जो लोग पहले

तक आपका रूप दिखलाई नही पडता, तभी तक जगतको सांसारिक सुख मधुर जान पड़ता है। परन्तु अब आपके विश्व-रूपके दर्शन हो जाने पर विषयकी इच्छाकी ओरसे विराग हो गया है और मनमे उद्वेग उत्पन्न हुआ है। आपका यह रूप देखने पर क्या आपको प्रेमपूर्वक आलिंगन किया जा सकता है? और यदि इस प्रकार आलिंगन न किया जा सकता हो तो फिर कोई इस शोक-संकटमे रह ही कैसे सकता है? और यदि आपको छोडकर कोई पीछे हटता है तो यह जन्म-मरणका अपरिहार्य-संसार मुँह बाए हुए सामने खडा दिखाई देता है और उसे पीछे भी नही हटने देता। और यदि वह आगे बढे तो आपका यह अद्भुत और अतर्क्य रूप सहन नही होता। इस प्रकार बीचमे ही संकटमे पडा हुआ बेचारा त्रिभुवन कष्ट पा रहा है। इस समय मेरे अन्त:करणकी ठीक ठीक यही अवस्था हुई है। जैसे कोई आगसे जल जाय और अपने शरीरकी जलन दूर करनेके लिए समुद्रकी ओर जाय और वहाँ समुद्रमे उठनेवाली लहरे देखकर और भी अधिक भयभीत हो तथा घबरा जाय। बस ठीक वही दशा इस संसारकी भी हो रही है। वह आपके दर्शन से केवल तलमला रहाहै।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

"वह देखिये, इसी स्वरूपमे उस ओर देवताओके बडे बड़े जमाव है। ये आपकी अंग-प्रभासे अपने कर्मोके बीज नष्ट करके और आपका सद्रूप प्राप्त करके आपके स्वरूपमे लीन हो रहे हैं। और इधर कुछ ऐसे हैं जो स्वभावत. डरे हुए है और ये सब प्रकारसे आपकी ओर प्रवृत्त होकर और दोनो हाथ जोडकर प्रार्थना कर रहे है। वे प्रार्थना करते हैं—'हे प्रभो, हम लोग माया-सागरमे पडे हुए है, विषयोके जालमे फँसे हुए हैं और स्वर्ग तथा ससारके बीचकी विषम अवस्थामे जकड़े हुए हैं। अब आपके सिवा इस संकटसे हमारी रक्षा और कौन कर सकता है? इस लिए हम लोग शुद्ध हृदयसे और सब प्रकारसे आपकी शरणमे आये है।' बस इसी प्रकारकी बाते वे देवता आपसे कह रहे है। और इधर यह महर्षियो अथवा सिद्धो अनेक विद्याधरोके समुदाय "स्वस्ति-वचन" का उच्चारण करते हुए आपकी स्तुति कर रहे है।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥२२॥

"रुद्रो और आदित्योके समूह, आठो वसु, एकसे एक बढकर साध्य देव दोनों अश्विनी कुमार, विश्वदेव और वायु-देव ये सब अपने वैभव सहित और पितृ, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और इन्द्र आदि देवता तथा सिद्ध आदि भी अपने अपने स्थानसे उत्सुक दृष्टिसे आपकी यह दैदीप्यमान तथा विशाल आकृति देख रहे है। और देखते देखते अपने हृदयमे विस्मयपूर्ण होकर अपने मस्तक, हे प्रभो, आपके चरणों पर रख रहे हैं। वे अपने जय-जय शब्दके घोषसे सातो स्वर्गोको गुँजा रहे हैं और दोनो हाथ जोड़कर अपने मस्तक पर रख कर आपको नमस्कार कर रहे हैं। इस विनय-वृक्षोके वनमे सात्विक भावोका वसन्त-काल सुशोभित हो रहा है और

ही मेरे द्वारा मारे जा चुके है, उन सबको अब तुम मार डालो। व्यर्थ ही कल्पित शोक मे पडकर चिन्ता मत करो। जिस प्रकार खेलमे स्वयं ही कोई लक्ष्य बनाकर खडा किया जाता है और फिर स्वयं ही बाणसे उसका वेध किया जाता है, उसी प्रकार मैं स्वय ही इन सबका कर्त्ता भी हूँ, और मारनेवाला भी हूँ। तुम्हे तो मैंने केवल दिखौआ साधन बना रखा है। हे सखे अर्जुन, तुम्हे जिस बातकी चिन्ता हो रही थी, वह बात अब बिल्कुल नही रह गई है। इसलिए अब तुम आनन्दसे उस यशका उपभोग करो जिसमें समस्त राज्य-सुख सचित है। हे भाई अर्जुन, तुम विश्व-की जिह्वा पर इस प्रकारकी लिपि लिखकर विजय सम्पादित करो कि स्वभावत: जो भाई बन्द अपने वैभवके कारण मत्त हो रहे थे और जो अपने बलके कारण संसारको भारके समान जान पडते थे, उन्हे बिलकुल सहजमे और बिना किसी प्रकारके परि-श्रमके ही अर्जुनने बिलकुल नष्ट कर डाला।"

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्‌गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

हे श्रोतागण, इस प्रकारकी यह सारी कथा संजय उस निराश कौरवपति धृत-राष्ट्रको सुना रहा है। जिस प्रकार सत्य-लोकसे छूटी हुई गंगा प्रचंड घोषसे धड़धडाती हुई नीचे आई थी, उसी प्रकार गम्भीर वाणीसे जब श्रीकृष्णने अर्जुनसे यह कहा अथवा जिस प्रकार भयंकर मेघोके समूह एक दमसे सिर पर आकर गड़गडाने लगते है अथवा जिस समय मन्दर पर्वतसे क्षीर सागरका मन्थन किया गया था, उस समय उस मथानीको मथनेसे जैसा भीषण शब्द हुआ होगा, उसी प्रकारकी गम्भीर वाणीमें जब विश्वके बीज-भूत श्रीकृष्णने अर्थात् उन अनन्त स्वरूप भगवानने इन वाक्योका उच्चारण किया, उस समय भगवानके शब्द अर्जुनको कुछ यो ही से सुनाई पडे, और न जाने वे शब्द सुननेसे उसे सुख हुआ अथवा भय जान पड़ा, पर यह ठीक है कि उस समय उसका सारा शरीर थरथर काँपने लगा। वह इतना झुक गया कि मानो उसके शरीरकी पोटली बँध गई हो और वह उसी अवस्थामें हाथ जोडकर बार-बार श्रीकृष्णके चरणो पर अपना मस्तक रखने लगा। उसी समय उसके मनमें आया कि मैं अब कुछ कहूँ, परन्तु उसका गला इतना भर आया था कि उसके मुखसे शब्द ही नही निकलता था। अब इसका विचार आप लोग स्वयं ही कर ले कि श्रीकृष्णकी बाते सुनकर उसे सुख हुआ था अथवा उसके मनमें भय उत्पन्न हुआ था। यदि आप यह पूछे कि अर्जुनकी उस समयकी इस अवस्थाका पता मुझे कैसे चला, तो मैं यह कहूँगा कि इस श्लोकके शब्दोसे ही मुझे यह स्पष्ट जान पडता है कि भगवानकी बाते सुनकर उस समय अर्जुनकी ऐसी ही अवस्था हुई होगी।

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

फिर उसी प्रकार डरते डरते चरण-वन्दना करके अर्जुनने कहा—"हे देव, आपने

उनके इन जोडे हुए हस्त रूपी पल्लवोंमे आपका रूप-फल आपसे आप लटक रहा है।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

"आज इनके नेत्रोके भाग्य जागे है और मनके लिए सुखका सु-समय आया हैं, क्योंकि इन्होने आज आपके विश्व-रूपके दर्शन किये हैं। तीनों लोकोको व्याप्त करनेवाला आपका यह रूप देखकर देवता लोग भी चौक पडते है, परन्तु आज उस स्वरूपके दर्शनोका सौभाग्य एक पामर को भी प्राप्त हो रहा है। इस प्रकारका यह रूप एक ही है परन्तु नाना प्रकारके भयंकर मुखो, अनेक नेत्रो, शस्त्र धारण करनेवाले असंख्य हाथो, असंख्य जाँघो, असंख्य बाहुदण्डो और चरणो, अनेक उदरो तथा नाना वर्णोसे युक्त यह स्वरूप है। प्रत्येक मुखमें कैसा आवेश भरा हुआ है! मानो विश्व-प्रलयके अन्तमे सन्तप्त यमने जहाँ-जहाँ प्रलयाग्नि की भट्ठियाँ सुलगा रखी हैं अथवा ये विश्वका संहार करनेवाले रुद्रके शस्त्रास्त्र अथवा प्रलय उपस्थित करनेवाले भैरवोंकी टोलियाँ अथवा ऐसे पात्र है जिनमें भूत मात्रकी खिचडी पकानेकी शक्ति है। बस, हे प्रभो, ठीक इसी प्रकार आपके प्रचंड मुख चारो ओर दिखाई दे रहे है, जिस प्रकार कोई विशाल सिंह गुफामे न समाता हो और उसकी कोध-पूर्ण मुद्रा गुफाके बहुत कुछ बाहर दिखाई पडती हो, उसी प्रकार आपके उग्र-दाँत मुखके बाहर निकले हुए दिखाई देते हैं। जिस प्रकार घोर अन्धकारपूर्ण रात्रिका आश्रय लेकर घातकी पिशाच बडे आनन्दसे संचारके लिए बाहर निकलते है, उसी प्रकार प्रलयके संहारके रक्तसे सनी हुई आपकी दाढें मुखसे बाहर निकल रही हैं। 'केवल इतना ही नही, आपके मुख पर भयंकरता इस प्रकार दिखाई पड रही है कि मानो कालने युद्धको निमंत्रण दिया हो अथवा प्रलयने मृत्युका पोषण किया हो। इस बेचारी दीन भूत-सृष्टि पर जब आपकी जरा सी भी दृष्टि पड जाती है, तब वह उसी प्रकार दुःख से त्रस्त दिखाई पडती है। जिस प्रकार यमुनाके तट पर कालिय-विषसे त्रस्त वृक्ष दिखाई पडते हैं। आप मानो महामृत्युके सागर है और उसमें यह त्रिभुवनके जीवनकी नौका शोकके बादलोसे घिरी हुई और आँधीमे पडी हुई बराबर हिल रही है। हे महाराज, यदि इस पर भी आप क्रुद्ध होकर यह कहे कि—"तुम्हे इन लोगोके लिए इतनी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? तुम आनन्दसे इस विश्वरूपके दर्शनका सुख भोगो।" तो हे देव, इसके उत्तरमें मेरा निवेदन यह है कि मैंने इन लोगोंकी कहानीकी ढाल व्यर्थ ही बीचमे रख ली है। और यदि आप पूछे कि मैंने ऐसा क्यों किया है, तो इसका कारण यह है कि मारे भयके स्वय मेरे ही प्राण थरथर काँप रहे हैं। यह ठीक है कि मुझसे संहार करनेवाला रुद्र भी डरता है और मेरे भयसे स्वयं यम भी छिप जाता है, पर वही मैं इस अवसर पर थरथर काँप रहा हूँ। इस समय आपने मेरी ऐसी ही अवस्था कर रखी है। परन्तु हे दयालु प्रभो, सबसे बढकर विलक्षण बात यह है कि चाहे इसका नाम विश्व रूप भले ही हो, परन्तु वास्तवमे यह एक महामारी ही है। इसने अपनी भयंकरतासे स्वय भयको भी हार मनवा दी है।

अभी यह कहा है कि—हे अर्जुन, मैं काल हूँ और विश्वको खा जाना मेरा एक खेल है।' हे देव, मैं यह मानता हू कि आपकी यह वाणी अटल सत्य है। परन्तु विचारकी कसौटी पर यह बात कुछ ठीक नही उतरती कि आज विश्वकी स्थिति या अस्तित्वका समय होनेपर भी, प्रलयका समय न होने पर भी, आप अपना काल-स्वरूप प्रकट करके सारे विश्वको ग्रस रहे है। अंगोमे भरा हुआ तारुण्य किस प्रकार निकाला जा सकता है और उसके स्थान पर असमयमे ही शरीरमे वृद्धावस्था भला किस प्रकार लाई जा सकती है? इसी लिए आप जो कुछ कह रहे है, वह प्राय· असम्भव सा जान पडता है। हे अनन्तस्वरूप देव, क्या चार पहर पूरे होनेसे पहले ही बीचमे भी कभी सूर्य अस्त होता है? यदि वास्तवमे देखा जाय तो आप अस्खलित और सतत काल-स्वरूप हैं और आपके तीन भिन्न-भिन्न कार्योंके लिए भिन्न-भिन्न समय नियत हैं। और उनमें से प्रत्येक समय अपने अपने राज्यमे सर्व-समर्थ रहता है। जिस समय उत्पत्ति होने लगती है, उस समय स्थिति और प्रलयका अभाव रहता है। और स्थिति-कालमें उत्पत्ति और प्रलयके लिए कोई स्थान नही रहता। इसके उपरान्त जब प्रलयका समय आता है, तब उत्पत्ति और स्थितिका लोप हो जाता है। यह निश्चित शृङ्खला कभी किसी कारणसे विस्खलित नही होती। वह अनादि है। और इस समय ससार-का ठीक उपभोगका स्थिति काल है, और इसी लिए यह बात मेरे मनमे नही बैठती कि आप इसी समय उसे ग्रस लेना चाहते है और उसका अन्त कर डालना चाहते हैं।" उस समय श्रीकृष्णने संक्षेपमे यह कहा कि—"हे अर्जुन, यह बात मैंने तुम्हे अभी प्रत्यक्ष करके दिखला दी है कि इन दोनो सेनाओका आयुष्य पूरा हो गया है। परन्तु यदि वास्तवमे देखा जाय तो यह बात ठीक और उपयुक्त समय आने पर ही होगी।" इन सूचक शब्दोका उच्चारण करनेमे श्रीकृष्णको जितना समय लगा था, उतने समयमे जब अर्जुनने जरा पीछे की ओर मुडकर देखा तो उसे सब बाते बिलकुल पहले की तरह और ज्योकी त्यो दिखाई पडी। तब उसने भगवानसे कहा—"हे देव आप इस विश्वके नाटकके सूत्रधार है। मैं देख रहा हूँ कि ससार फिर अपनी पहले-वाली अवस्थामे आ गया है। परन्तु इस समय मुझे आपकी इस कीर्तिका भी स्मरण हो रहा है कि दु खके समुद्रमे गोते खानेवाले ससारका तारण करनेवाले भी आपही हैं। और समय समय पर इस कीर्तिका स्मरण होनेसे जिस अपरम्पार सुखका अनुभव होता है, उसी सुखके अमृतकी लहरोपर मैं इस समय लहरा रहा हूँ। हे देव, जीवित रहनेके कारण ही यह संसार आप पर प्रेमासक्त रहता है और दुष्टोका अधिकाधिक नाश होता है। वास्तवमे त्रिभुवन के दुष्ट राक्षसोको आप बहुत ही भयंकर जान पडते है और इसी लिए आप दसो दिशाओके भी बाहर भाग जाना चाहते हैं। और यहाँ आस-पास, हे देव, मानव, किन्नर केवल यही नही बल्कि सारा स्थावर और जंगम विश्व आपके दर्शनसे आनन्दित होकर आपको नमस्कार कर रहा है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

"परन्तु है देव, इसका क्या कारण है कि ये राक्षस आपके चरणोमें लीन नही हो

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

"आपके ऐसे अनेक रागपूर्ण मुख है जो भयंकरतामे महाकालसे भी स्पर्धा करते है। इनके विस्तारके आगे आकाश भी तुच्छ प्रतीत होता है। इनमेसे वह जलती हुई भाप निकल रही है, जो गगनके विस्तारमे भी नही समा सकती और जिसे त्रिभुवन-के पवन भी घेर और रोक नही सकते; और वह भाप स्वयं अग्निको भी जला रही है। फिर सब मुख एकसे नही है और उनमें वर्ण-भेद है। ऐसा जान पड़ता है कि जिस स्वरूपके शरीरकी तेजस्विता इतनी अधिक है कि उसके सामने त्रिभुवन जलकर भस्म हो सकते हैं, उसी स्वरूपमे ये सब मुख है और उन मुखोमें भी विशाल और दृढ दाँत और दाढे हैं। मानो वायुको ही धनुर्वात हो गया हो अथवा स्वयं समुद्र ही किसी वहुत वढी बाढमे पड़ गया हो अथवा बडवानलको साथ लेकर विषाग्नि ही संहार करनेके लिए उद्यत हुई हो अथवा हलाहल विष अग्नि भक्षण कर रहा हो अथवा सवसे बढकर आश्चर्यजनक रूपमे मृत्युको ही किसी दूसरी मृत्युकी सहायता प्राप्त हो; वस इसी प्रकार इस सर्व-संहारक तेजमे ये मुख निकले हुए जान पडते है। और मैं क्या वतलाऊँ कि ये मुख कितने बड़े है ! ऐसा जान पडता है कि मानो अन्तरालने टूटकर आकाशको चारो ओरसे घेर लिया हो, अथवा पृथ्वीको बगलमें दबाकर हिरण्याक्ष विलमे घुसा हो या पातालके महादेवने गुफा खोल दी हो। वस इसी प्रकारका इन मुखोका विस्तार है। और ऐसे मुखोंमें जीभोकी भयकरता तो और भी विलक्षण है। ऐसा जान पड़ता है कि यह मूर्त्ति समझती है कि सारा विश्व मेरे लिए एक पूरा कौर भी नही है और इसीलिए लिए वह कौतुकसे ही निगल नही रही है। जिस प्रकार पातालके नागोकी फुफकारसे विषकी ज्वाला आकाश तक जा पहुँचती है, उसी प्रकार इस फैले हुए मुखके गुफा सरीखे जबड़ेमे यह जीभ दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार प्रलयकालकी विद्युतके जालमे गन्धर्व-नगरमेके मेघोके समूह सजे हुए दिखाई पडते हैं, उसी प्रकार इन होठों पर चमकनेवाली ये टेढ़ी-तिरछी दाढ़े दिखाई देती हैं। और इस ललाट-पट परकी आँखे तो मानो स्वयं भयको भी भय दिखलाकर उसे दवा रही हैं। ऐसा जान पडता है कि महामृत्युके दल घोर अन्धकारमे छिपे हुए वैठे है। हे देव, ऐसा भयंकर स्वाग बनाकर आप कौनसा कार्य सिद्ध करना चाहते है ? और तो कुछ मेरी समझमे नही आता, पर यह वात विलकुल ठीक है कि मुझे अपने मरणका अवश्य भय हो रहा है। हे देव, आपके विश्व-रूपके दर्शन करनेकी जो मैंने कामना की थी, उसका यथेष्ट फल मुझे मिल गया। हे महाराज, आपके दर्शन मुझे हो चुके और अब मेरे नेत्र यथेष्ट तृप्त हो गये हैं। यदि यह जड़ शरीर न रह जाय तो इससे मेरी कोई विशेष क्षति नही है; परन्तु अब तो मुझे इस वातकी चिन्ता हो रही है कि मेरा यह चैतन्य भी वचता है या नही। और यदि यह वात न हो और भयसे केवल शरीर ही काँपे, क्षण भरके लिए मन भी वहुत अधिक सन्तप्त हो अथवा वृद्धि भी

रहे है और आपसे दूर भाग रहे है ? परन्तु यह बात मैं आपसे ही क्यो पूछूँ ? यह तो मैं स्वयं भी समझ सकता हूँ। भला सूर्यके सामने अन्धकार ठहर ही कैसे सकता है ? हे देव, आप प्रकाशके उत्पत्ति स्थान है और यदि आपके सामने ये राक्षस रूपी मल आपसे आप दूर हो जायँ तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? इतने दिनों तक यह बात मेरी समझमे नही आई थी; परन्तु, हे देव श्रीराम, अब आपकी सारी महिमा का पूरा पूरा ज्ञान हो गया है। जिसमेसे इस विविध सृष्टिकी वेलें निकलती है, जिससे इस भूत मात्रकी वेलोंका विस्तार होता है, यह विश्व-बीज महद्‌ब्रह्म ही आपके महा संकल्प से उत्पन्न हुआ है। हे देव, जो तत्व अमर्याद और सदा स्वयंसिद्ध है, वह तत्व ही हैं। आपके गुण अपार और अनन्त हैं। हे देव, आप अत्यन्त साम्यकी अखंडित अवस्था हैं। आप समस्त देवताओके अधिपति है। हे देव, आप ही इन तीनों भुवनोके जीवन हैं। आप अव्यय तथा नित्य मंगल-स्वरूप है। आप सत् और असत् इन दोनो से परे रहनेवाले तत्व हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणास्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

"प्रकृति और पुरुषके उद्‌गम-स्थान आप ही है। महत्तत्व जो माया है, उसकी मर्यादा भी आप ही है। स्वत अनादिसिद्ध पुरातन है। आप सारे विश्वके जीवन और मूल कारण है। भूत और भविष्यका ज्ञान रखनेवाले केवल आप ही है। हे भेद-रहित प्रभो, वेद रूपी-नेत्रोके दर्शनोसे सुख होता है। त्रिभुवनके आधारके आधार आप ही हैं। इसी लिए लोग आपको 'परम महाधाम' कहते है महद्‌ब्रह्म जो महामाया है, वह ब्रह्म-प्रलयके समय आपमे ही प्रवेश करके लीन होती है। यदि संक्षेपमे कहा जाय तो इस समस्त विश्वको आपने ही उत्पन्न करके उसका विस्तार किया है। फिर भला हे अनन्त प्रभो, आपका वर्णन कौन कर सकता है ?

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते॥ ३९॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ ४०॥

"ऐसी कौन सी वस्तु है जिसमे आप नही है ? ऐसा कौन सा स्थान है जहाँ आप नही हैं ? परन्तु अब इन बातोंको जाने देना चाहिए। आप चाहे जैसे हो, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे अनन्त, आप वायु है, सबका नियमन करनेवाले यम हैं और प्राणी मात्रमे निवास करनेवाले अग्नि भी है। वरुण, सोम, सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म और उस विश्व पितामह ब्रह्मके जनक सब कुछ आप ही है। इसके सिवा और जो जो रूप हो अथवा अ-रूप हो, वह आप ही हैं। ऐसे जगन्नाथको मैं नमस्कार करता हूँ।" पार्थने इस प्रकार प्रेमपूर्वक मनसे श्रीकृष्णको नमस्कार करके फिर कहना आरंभ किया—"हे प्रभो, मैं आपकी वन्दना करता हूँ।" इसके उपरान्त उसने श्रीकृष्णकी मूर्तिको सिरसे पैरो तक अच्छी तरह देखकर बार बार "नमस्ते नमस्ते" कहा। उस मूर्तिके भिन्न भिन्न अवयवोको देखकर उसे अत्यन्त समाधान हुआ और

कदाचित् कुछ देरके लिए भयभीत हो जाय, अथवा अभिमान भी विस्तृत हो जाय, परन्तु इन सबसे भी और जो केवल आनंदकी मूर्त्ति ही है, वह मेरी निश्चल अन्तरात्मा भी आज सिहिर उठी है। इस साक्षात्कारका कैसा चमत्कार है! मेरा सारा बोध आज जाता रहा। अब कौन कह सकता है कि यह गुरु शिष्यवाला सम्बन्ध भी किस प्रकार बना रह सकेगा! हे देव, आपके इस स्वरूपके दर्शनसे मेरे चित्तमें जिस दुर्वलताका आविर्भाव हुआ है, उसे सँभालनेके लिए मैं उस पर धैर्यका जो आवरण डालना चाहता हूँ, तो मुझे ऐसा जान पडता है कि मेरा सारा धैर्य ही नष्ट हो गया है, क्योकि उस धैर्यको भी आपके इस विश्व-रूपके दर्शन हो गये है। परन्तु जो हो; फिर भी मुझे एक बहुत अच्छा उपदेश अवश्य मिला है। वह उपदेश यह है कि जीव विश्राम प्राप्त करनेकी इच्छासे इधर-उधर अनेक प्रकारसे भटकता फिरता है, परन्तु उस बेचारेको यहाँ आकर कोई थाह ही नही मिलती। इस प्रकार इस विश्व-रूपकी महामारीसे इस चराचरका जीवन नष्ट हो गया है। हे देव, यदि मैं ये सब बातें न कहूँ तो मै शान्त कैसे रह सकता हूँ?

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

"जिस प्रकार कोई महाभयंकर घडा फूटकर निरन्तर आँखोके सामने दिखाई पडता रहे, उसी प्रकार आपके ये महाविकट और प्रचंड मुख मुझे अपने सामने फैले हुए दिखाई देते है। केवल यही नही, उनमे दाँतो और दाढोका विलक्षण जमाव होनेके कारण और होठोकी आडमे उनके न समा सकनेके कारण दोनो होठोपर मानो अनेक प्रलयकारक शस्त्रोकी बाढ सी लगी है। जिस प्रकार तक्षकको नवीन विप प्राप्त हो अथवा काली और अँधेरी रातमे भूत सचार करे अथवा अग्निके अस्त्र पर विद्युतका पुट चढे, ठीक उसी प्रकार आपके भयंकर मुखमे भरा हुआ आवेश बाहर निकल रहा है, और ऐसा जान पडता है कि इस आवेशके रूपमे हम लोगो पर मृत्युकी लहर ही आ रही है। जिस समय विश्वका संहार करनेवाली प्रचड वायु और महाकल्पान्त करनेवाली प्रलयाग्निका मेल होता है, उस समय भला ऐसी कौन सी वस्तु हो सकती है जो उन दोनोके योगसे जल न जाय? इसी प्रकार आपके ये भयकर वदन देखकर भला मेरा धैर्य मुझे छोडकर क्यो न चला जाय? इस समय मैं इतना अधिक भ्रान्त हो गया हूँ कि मुझे दिशाएँ भी नही दिखाई पडती और स्वय अपना भी भान नहीं होता। मैंने अभी आपका थोडा सा ही विश्व-रूप देखा है और इसे देखते ही मेरे सारे सुखोका अन्त हो गया। बस हे देव, अब आप अपने इस अपरम्पार और फैले हुए विश्व रूपको समेट ले, हे प्रभो, इसे समेट ले। यद्यपि मैं जानता हूँ कि आप शीघ्र ही अपना यह रूप-विस्तार समेट लेंगे, परन्तु यदि आप यह पूछें कि मैं इसके लिए इतना व्याकुल क्यो हो रहा हूँ, तो मैं यही कहूँगा कि अब आप एक बार अपने इस स्वरूपकी सहारक कृतिमे मेरे प्राणोकी रक्षा करें। हे देव, यदि आप मेरे अनन्तस्वरूप गुरु हो तो आप मेरे प्राणोकी रक्षाके लिए अपनी ढाल आगे बढावें और इस महामारीका प्रलयकारक प्रसार समेटकर फिर इसे पहलेकी ही तरह गुप्त रखें। हे प्रभो, हे देव-देव, आप मेरी बात पर ध्यान दें। इस विश्वको जीवित रखनेवाले

उसी तरहसे उसने फिर कहना आरंभ किया—"प्रभो, नमस्ते नमस्ते।" इस स्थावर और जंगम जगतमेके जीव मात्रमे उन्हीको देखकर उसने फिर कहा—"प्रभो; नमस्ते नमस्ते।" उसे इस प्रकार प्रभुके अत्यन्त आश्चर्यजनक अनन्त स्वरूपोका ज्यो-ज्यो स्मरण होने लगा, त्यो-त्यो वह "नमस्ते नमस्ते" का गान करने लगा। उसकी समझमें ही नही आता था कि इसके सिवा प्रभुकी और कौन सी स्तुतिकी जाय, और उससे चुप भी नही रहा जाता था। साथ ही उसे इस वातका भी ध्यान नही रह गया कि प्रेमके आवेशमे मैं क्या घोषणा कर रहा हूँ। सव मिलाकर उसने इस प्रकार हजार वार नमस्कार किया। और इसके उपरान्त फिर भी उसने कहा—"हे श्री हरि, मैं आपके सामने नमस्कार करता हूँ। मुझे इस वातसे कुछ भी मतलव नही है कि देवके पीठ और पेट है या नही। परन्तु फिर भी, हे महाराज, मैं आपके पृष्ठ भागका नाम लेता हूँ, परन्तु वास्तवमे आप न तो ससारके सामने ही है और न उसकी पीठके पीछे ही है। मैं आपके भिन्न भिन्न अवयवोका रूपभेदसे पृथक्करण नही कर सकता, इसलिए हे सर्वात्मक देव, मैं आपके सर्व-रूपका ही एक दमसे नमस्कार करता हूँ। हे देव, जिसके वलका प्रभाव अनन्त है, जिसके पराक्रमकी कोई नाप-तौल नही है, जो भेद-भाव-रहित तथा सर्व-रूप है, उसे मेरा नमस्कार है। जिस प्रकार आकाश ही सारे आकाशको व्याप्त करके अवकाश रूपसे रहता है, उसी प्रकार आप भी अपने सर्वत्वसे सबमे व्याप्त रहते है। यहाँ तक कि आप ही समस्त विश्व है; परन्तु जिस प्रकार क्षीर सागरमे क्षीरकी ही तरगे उठती है, उसी प्रकारका यह सम्वन्ध है। इसी लिए, हे देव, अव यह वात मेरे मनमे अच्छी तरह बैठ गई है कि आप इस समस्त विश्वसे भिन्न नही और यह सव कुछ आप ही है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

"परन्तु हे महाराज, आपका यह स्वरूप मुझे अव तक विलकुल ज्ञात नही था, इसी लिए मैं अव तक आपके साथ उसी प्रकारका व्यवहार करता था जिस प्रकारका व्यवहार अपने सगे-सम्वन्धियोके साथ किया जाता है। यह मुझसे कैसी अनुचित वात हुई! मैंने अमृतका उपयोग आँगन सीचने मे कर डाला। मैंने कामधेनुको घोड़ेका बछेडा समझ लिया। मुझे मिला तो था पारस पत्थर, पर उमे तोडकर मैंने अपने धरकी नीवमें भर दिया। कल्पवृक्ष काटकर उसकी लकडीसे खेतका घेरा वना डाला। जिस प्रकार चिन्तामणिकी खान मिलने पर कोई अनाजमे उसमेकी चिन्तामणियोको कंकड-पत्थर समझकर उनका उपयोग ढोरो और पशुओको हांकनेमे कर डालता है, उसी प्रकार मैंने भी आजतक अपनी सगति आपको केवल अपना सगा-सम्वन्धी समझकर ही की। भला और दूर क्यो जाऊँ, यह आजका ही प्रत्यक्ष प्रसग देखिये। यह कितना वडा युद्ध है और इसमे मैंने आपको अपना सारथी वनाया है! इन कौरवोंके द्वार पर मैंने आपको मध्यस्थता करनेके लिए भेजा था। इस प्रकार, हे जगदीश्वर, स्वयं अपने लाभके लिए मानो आपको मोल ही ले लिया था। योगी लोग समाधिमें

चैतन्य आप ही हैं। परन्तु यह बात भूलकर आज आपने उलटे संहारका ही कार्य आरम्भ कर दिया है। यह क्या वात है? हे देव, अब आप शान्त और कृपालु हो। आप अपनी इस मायाका अन्त करे और मुझे इस प्रचंड भयसे मुक्त करे। मै इतनी देर तक बार वार आपसे बहुत ही दीनतापूर्वक प्रार्थना करता हूँ। हे विश्व-रूप देव, आज मैं इतना कायर बन गया हूँ। और वही मैं पहले ऐसा था कि जब इन्द्रकी स्वर्गीय राजधानी पर शत्रुका आक्रमण हुआ था, तब मैंने अकेले ही वह आक्रमण रोका था और प्रत्यक्ष मृत्युका मुख देखने पर भी मुझे आज तक कभी भय नही हुआ था परन्तु, हे देव, आजकी यह घटना कुछ ऐसी-वैसी नही है। इस समय तो आप कालको भी मात करके सारे विश्वके साथ मुझे भी पी जाना चाहते हैं। यदि वास्तवमे देखा जाय तो यह कोई प्रलयका काल नही था। परन्तु न जाने क्यो बीचमें ही आपके इस काल स्वरूपके दर्शन हो गये। और तत्काल ही यह बेचारा त्रिभुवनका गोला अल्पायु हो गया। दैव भी इस समय कैसा उलटा हो गया? मैंने तो शान्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न किया था; पर बीचमे यह विघ्न आ उपस्थित हुआ। हाय हाय! अब यो निस्सन्देह विश्वका पूरा संहार हो गया। महाराज, क्या आप सचमुच विश्वको निगल जाना चाहते है? क्या मुझे प्रत्यक्ष ही नही दिखाई पड़ रहा है कि आप अपने ये असंख्य मुख फैलाकर चारो ओर इन सेनाओको निगल रहे हैं।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥

"देखिये, ये कौरव-कुलके सब वीर नष्ट होना चाहते हैं और अन्ध धृतराष्ट्रके लड़के परिवार सहित आपके मुखमे पड़ना ही चाहते हैं। और इनके मित्र जो अनेक देशोके राजे-रजवाड़े आये हुए है, उन सबको इस प्रकार निगल जाना चाहते है कि फिर पीछे कोई उनका नाम लेनेवाला भी बाकी न रह जाय। हाथियोके झुडके झुड आप धडाधड़ निगलते चले जा रहे हैं और महावतोकी टोलियाँ भी खाते चले जा रहे हैं। तोपखानोके आदमी और पैदल सिपाहियोके झुड भी आप बराबर अपने मुखमे भरते चले जा रहे हैं। जो यमके भाई-बिरादर हैं और जिनमेंसे प्रत्येक सारे विश्वको निगल सकता है, उन करोडो शस्त्रोको भी आप स्वाहा करते जा रहे हैं। हाथी, घोडे, रथ, पैदल सबकी चतुरंगिणी सेनाएँ और घोड़े जुते हुए रथ आप विना दाँत गडाये ही बराबर निगलते चले जा रहे हैं। परन्तु, हे देव, यह पता नही चलता कि इसमें कौन सा बहुत बडा आनन्द मिलता है। सत्य और शौर्य गुणोमे जिनकी बराबरीका और कोई नही है, उन भीष्मको और ब्राह्मण द्रोणाचार्यको भी आप निगल रहे है। सूर्यपुत्र वीरश्रेष्ठ कर्ण भी इसमे समा गया। और मेरे पक्षके मुख्य वीर तो, जान पड़ता है कि आप कूडे-कर्कटकी तरह साफ करते जा रहे हैं। हे परमेश्वर, आपके कृपा-प्रसादका यह कैसा उलटा परिणाम हो रहा है! मैं आपसे इतनी प्रार्थना करके इस बेचारे दीन जगत पर अच्छा संकट बुला बैठा। पहले देवताओने आपकी दिव्य विभूतिका थोड़ा-बहुत वर्णन करके उसे स्पष्ट किया था, परन्तु उतनेसे ही मेरी हवस पूरी नही होती थी। और मैं और भी अधिक विभूति जाननेका हठ कर बैठा। इस-

रहे हैं और आपसे दूर भाग रहे है ? परन्तु यह बात मैं आपसे ही क्यों पूछूँ ? यह तो मैं स्वयं भी समझ सकता हूँ। भला सूर्यके सामने अन्धकार ठहर ही कैसे सकता है ? हे देव, आप प्रकाशके उत्पत्ति स्थान हैं और यदि आपके सामने ये राक्षस रूपी मल आपसे आप दूर हो जायँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इतने दिनो तक यह बात मेरी समझमे नही आई थी; परन्तु, हे देव श्रीराम, अब आपकी सारी महिमा का पूरा पूरा ज्ञान हो गया है। जिसमेसे इस विविध सृष्टिकी बेले निकलती है, जिससे इस भूत मात्रकी बेलोंका विस्तार होता है, यह विश्व-बीज महद्ब्रह्म ही आपके महा संकल्प से उत्पन्न हुआ है। हे देव, जो तत्व अमर्याद और सदा स्वयंसिद्ध है, वह तत्व ही हैं। आपके गुण अपार और अनन्त है। हे देव, आप अत्यन्त साम्यकी अखंडित अवस्था है। आप समस्त देवताओके अधिपति है। हे देव, आप ही इन तीनो भुवनोके जीवन हैं। आप अव्यय तथा नित्य मंगल-स्वरूप है। आप सत् और असत् इन दोनो से परे रहनेवाले तत्व है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणास्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

"प्रकृति और पुरुषके उद्गम-स्थान आप ही हैं। महत्तत्त्व जो माया है, उसकी मर्यादा भी आप ही है। स्वत अनादिसिद्ध पुरातन है। आप सारे विश्वके जीवन और मूल कारण है। भूत और भविष्यका ज्ञान रखनेवाले केवल आप ही है। हे भेद-रहित प्रभो, वेद रूपी-नेत्रोके दर्शनोसे सुख होता है। त्रिभुवनके आधारके आधार आप ही है। इसी लिए लोग आपको 'परम महाधाम' कहते है महद्ब्रह्म जो महामाया है, वह ब्रह्म-प्रलयके समय आपमे ही प्रवेश करके लीन होती है। यदि संक्षेपमे कहा जाय तो इस समस्त विश्वको आपने ही उत्पन्न करके उसका विस्तार किया है। फिर भला हे अनन्त प्रभो, आपका वर्णन कौन कर सकता है ?

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते ॥ ३९ ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

"ऐसी कौन सी वस्तु है जिसमे आप नही है ? ऐसा कौन सा स्थान है जहाँ आप नही हैं ? परन्तु अब इन बातोको जाने देना चाहिए। आप चाहे जैसे हो, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे अनन्त, आप वायु है, सबका नियमन करनेवाले यम हैं और प्राणी मात्रमे निवास करनेवाले अग्नि भी हैं। वरुण, सोम, सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म और उस विश्व पितामह ब्रह्मके जनक सब कुछ आप ही है। इसके सिवा और जो जो रूप हो अथवा अ-रूप हो, वह आप ही हैं। ऐसे जगन्नाथको मैं नमस्कार करता हूँ।" पार्थने इस प्रकार प्रेमपूर्वक मनसे श्रीकृष्णको नमस्कार करके फिर कहना आरभ किया—"हे प्रभो, मैं आपकी वन्दना करता हूँ।" इसके उपरान्त उसने श्री कृष्णकी मूर्तिको सिरसे पैरो तक अच्छी तरह देखकर बार बार "नमस्ते नमस्ते" कहा। उस मूर्तिके भिन्न भिन्न अवयवोंको देखकर उसे अत्यन्त समाधान हुआ और

उसी तरहसे उसने फिर कहना आरंभ किया—"प्रभो, नमस्ते नमस्ते।" इस स्थावर और जंगम जगतमेके जीव मात्रमे उन्हींको देखकर उसने फिर कहा—"प्रभो; नमस्ते नमस्ते।" उसे इस प्रकार प्रभुके अत्यन्त आश्चर्यजनक अनन्त स्वरूपोका ज्यो-ज्यो स्मरण होने लगा, त्यो-त्यो वह "नमस्ते नमस्ते" का गान करने लगा। उसकी समझमें ही नही आता था कि इसके सिवा प्रभुकी और कौन सी स्तुतिकी जाय, और उससे चुप भी नही रहा जाता था। साथ ही उसे इस बातका भी ध्यान नही रह गया कि प्रेमके आवेशमे मैं क्या घोषणा कर रहा हूँ। सब मिलाकर उसने इस प्रकार हजार बार नमस्कार किया। और इसके उपरान्त फिर भी उसने कहा—"हे श्री हरि, मैं आपके सामने नमस्कार करता हूँ। मुझे इस बातसे कुछ भी मतलब नही है कि देवके पीठ और पेट हैं या नही। परन्तु फिर भी, हे महाराज, मैं आपके पृष्ठ भागका नाम लेता हूँ, परन्तु वास्तवमे आप न तो ससारके सामने ही है और न उसकी पीठके पीछे ही है। मैं आपके भिन्न भिन्न अवयवोका रूपभेदसे पृथक्करण नही कर सकता; इसलिए हे सर्वात्मक देव, मैं आपके सर्व-रूपको ही एक दमसे नमस्कार करता हूँ। हे देव, जिसके बलका प्रभाव अनन्त है, जिसके पराक्रमकी कोई नाप-तौल नही है, जो भेद-भाव-रहित तथा सर्व-रूप है, उसे मेरा नमस्कार है। जिस प्रकार आकाश ही सारे आकाशको व्याप्त करके अवकाश रूपसे रहता है, उसी प्रकार आप भी अपने सर्वत्वसे सबमे व्याप्त रहते है। यहाँ तक कि आप ही समस्त विश्व है, परन्तु जिस प्रकार क्षीर सागरमे क्षीरकी ही तरगे उठती है, उसी प्रकारका यह सम्बन्ध है। इसी लिए, हे देव, अब यह बात मेरे मनमे अच्छी तरह बैठ गई है कि आप इस समस्त विश्वसे भिन्न नही और यह सब कुछ आप ही है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥४१॥

"परन्तु हे महाराज, आपका यह स्वरूप मुझे अब तक बिलकुल ज्ञात नही था, इसी लिए मैं अब तक आपके साथ उसी प्रकारका व्यवहार करता था जिस प्रकारका व्यवहार अपने सगे-सम्बन्धियोके साथ किया जाता है। यह मुझसे कैसी अनुचित बात हुई! मैंने अमृतका उपयोग आँगन सीचने में कर डाला। मैंने कामधेनुको घोड़ेका बछेडा समझ लिया। मुझे मिला तो था पारस पत्थर, पर उसे तोडकर मैंने अपने घरकी नीवमें भर दिया। कल्पवृक्ष काटकर उसकी लकडीसे खेतका घेरा बना डाला। जिस प्रकार चिन्तामणिकी खान मिलने पर कोई अनाजमे उसमेकी चिन्तामणियोंको कंकड-पत्थर समझकर उनका उपयोग ढोरो और पशुओको हाँकनेमे कर डालता है, उसी प्रकार मैंने भी आजतक अपनी सगति आपको केवल अपना सगा-सम्बन्धी समझकर ही की। भला और दूर क्यो जाऊँ, यह आजका ही प्रत्यक्ष प्रसंग देखिये। यह कितना बडा युद्ध है और इसमे मैंने आपको अपना सारथी बनाया है! इन कौरवोंके द्वार पर मैंने आपको मध्यस्थता करनेके लिए भेजा था। इस प्रकार, हे जगदीश्वर, स्वयं अपने लाभके लिए मानो आपको मोल ही ले लिया था। योगी लोग समाधिमें

हो जायेंगे। फिर जिस प्रकार लकडीमें आग भड़क उठती है और लकडीका कहीं नाम भी नही रह जाता, क्योकि वह अग्निका ही रूप हो जाती है, अथवा जब तक प्रकाशका आविर्भाव नही होता, तब तक सारा आकाश अन्धकारमय बना रहता है, परन्तु जब एक बार सूर्योदय हो जाता है, तव तुरन्त ही चारो ओर प्रकाश हो जाता है; उसी प्रकार मेरे स्वरूप साक्षात्कार होते ही अहंकारका अन्त होते ही द्वैत-भाव भी आपसें आप मिट जाता है। तब फिर "मैं" और "वह" दोनों स्वभावतः मिलकर एक "मैं" ही हो जाते हैं और वह भक्त मुझमे मिलकर एक-रूप हो जाता है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

"जो केवल मेरे प्रीत्यर्थ ही समस्त कर्मोका आचरण करता है, जिसे संसारमें मेरे सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता और जिसके लिए इहलोक और परलोक दोनों मै ही हूँ और जिसके जीवनको सार्थक करनेवाला मैं ही हूँ, जो "भूत" शब्दको ही बिलकुल भूल जाता है—क्योंकि उसकी दृष्टिमें सब जगह मैं ही समाया हुआ जान पडता हूँ—और इस प्रकार जो अपने मनमे वैर-भावको कुछ भी स्थान न देकर सबको सम-बुद्धिसे देखता है, उस भक्तका जब यह कफ-पित्त-वातात्मक त्रिधातुक जड़ शरीर नष्ट होता है, उस समय, हे अर्जुन, वह भक्त मेरे स्वरूपके साथ मिलकर एक हो जाता है।"

इतना कहकर संजयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—"जिसका उदर इतना बड़ा है, जिसमे सारा ब्रह्मांड समा जाय और जो दयाके रससे भरे हुए है, उन श्रीकृष्णदेवने अर्जुनसे ये सब बाते कही। इसके उपरान्त अर्जुनको बहुत अधिक आनन्द हुआ। श्रीकृष्णकी सच्ची भक्ति करनेकी योग्यता इस ससारमे केवल उस अर्जुनमे ही है। उसने भगवानकी दोनो ही मूर्तियाँ बहुत अच्छी तरह देखी थी और उसे विश्व-रूपकी अपेक्षा कृष्ण-मूर्त्ति अधिक प्रिय लगी थी। परन्तु देवने उसके इस प्रेम या पसन्दका आदर नही किया; क्योकि विश्व-रूप तो व्यापक है और कृष्ण-मूर्त्ति एकदेशीय अर्थात् दिक् और काल आदिसे मर्यादित हैं- इसे सिद्ध करनेके लिए श्रीकृष्णने एक दो अच्छे अच्छे उदाहरण देकर इस विषयका निरूपण किया था। वह स्पष्टीकरण सुनकर सुभद्रा-पति अर्जुन अपने मनमे कहने लगा कि अब मैं यह बात फिर पूछूँगा कि इन दोनो स्वरूपोंमेंसे वास्तवमें अधिक उत्तम स्वरूप कौन सा है।" इस प्रकार अपने मनमे यह संकल्प करके उसने यह बात कैसी युक्तिसे पूछी, यह कथा श्रोता लोग अगले अध्यायमे सुनें। सीधे-सादे छन्दोमे मैं यह कथा बहुत प्रेमसे कहूँगा और इस ज्ञानदेवकी यह प्रार्थना है कि श्रोता लोग वह कथा आनन्दसे सुने। प्रेमकी अजलिमे मैं इन पंक्तियोके फूल लेकर प्रभुके विश्व-रूपके दोनो चरणो पर अर्पण करता हूँ।

आपका ही ध्यान करके सुख भोगते है। परन्तु मुझ मूर्खको इस बातका कुछ भी पता नही लगा। यहाँ तक कि मैं बराबर आपके सामने हँसी-मजाक भी किया करता था।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

"आप इस विश्वके स्वयं-सिद्ध बीज है। पर जब आप सभामे बैठे रहते थे, तब मैं आपसदारीके नातेसे विनोद और परिहास भी किया करता था। मैं कभी कभी आपके घर भी जाया करता था और वहाँ आप मेरा जो आदर-सम्मान करते थे, उसका मैं भोग करता था। और यदि उस आदर-सम्मानमें आप कभी अणु मात्र भी त्रुटि करते थे तो मैं अपने दुलारके कारण या घराऊ व्यवहार और अति परिचयके कारण रूठ भी जाया करता था। हे देव शार्ङ्गधर, मैने आपके साथ अनेक बार इसी प्रकारका व्यवहार किया है, जिसके लिए अब मुझे आपके चरणो पर गिरकर आपसे क्षमा माँगनी चाहिए। स्नेहके नातेसे मैं अनेक बार आपके सामने इस प्रकार उलटा-सुलटा बैठा हूँ, जैसे मुझे नही बैठना चाहिए परन्तु हे देव, क्या ऐसा करना मुझे कभी उचित था? छीः छीः। मैंने बहुत बडी भूल की। हे देव, कभी मैं आपके गले-में बाँहे डाल दिया करता था, अखाड़ेमे आपके साथ दंगा-मस्ती और उठा-पटक किया करता था और चौपड खेलते समय बेईमानीकी चाल चलकर उलटे आपके साथ झगड़ा करता था। जब कोई अच्छी वस्तु देखता था, तब आपसे यह हठ करता था कि पहले यह चीज मुझको ही मिलना चाहिए। हे भगवान् यहाँ तक कि आपको अक्ल सिखाने मे भी मैंने कभी कमी नही की और अनेक बार तो मैंने आपसे इस प्रकारकी उपमर्दक और अपमानजनक बाते भी कही है कि—'हम तुम्हारे कौन होते हैं?' मेरा यह अपराध इतना बडा है कि वह तीनो भुवनोमें भी नही समा सकता। परन्तु हे देव, मैं आपके चरण छूकर कहता हूँ कि मुझसे ये सब बाते बिलकुल अन-जानमें हुई है—अपनी अज्ञानताके कारण ही मे आपके साथ इस प्रकारका व्यवहार करता था। हे देव, आप तो भोजनके समय मुझे स्मरण करते थे, परन्तु मुझमे इतनी कोरी शेखी थी कि आपसे रूठकर बैठ जाया करता था। आपके विश्रामगृहमे मैं आपके साथ आनन्दसे खेला करता था और आपके बिछौने पर आपके साथ सटकर सोया करता था। मैं "कृष्णा" कहकर आपको पुकारा करता था, आपको भी दूसरे यादवोंके समान ही समझा करता था और जब आप मेरे पुकारने पर मेरी बात अनसुनी करके जाने लगते थे, तब मैं आपको अपनी शपथ देकर रोकता था, और ऐसा प्रायः किया करता था। आपके साथ सटकर एक ही आसन पर बैठा करता था अथवा आपकी बातो पर ध्यान नही देता था और आपसदारीके विचारसे इस प्रकार-की धृष्टता मुझसे अनेक बार हुई है। हे देव, इस प्रकारकी बाते मैं कहाँ तक कहूँ! मैं समस्त अपराधोकी राशि ही हूँ। इसलिए हे प्रभो, मैंने प्रत्यक्ष रूपसे अथवा परोक्ष रूपसे आपके साथ जो कुछ अनुचित आचरण या व्यवहार किये हो, उन सबको आप माताके समान अपनी ममताके उदरमे रख ले और मुझे क्षमा करें। जब कभी कोई नदी गँदला पानी लेकर आती है, तब समुद्रको वह पानी भी ग्रहण करना ही पड़ता

बारहवाँ अध्याय

हे सद्‌गुरुकी कृपा-दृष्टि, तू शुद्ध सुप्रसिद्ध उदार और अखंड आनन्दकी वर्षा करनेवाली है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। विश्व-रूपी सर्पके दर्शन करने पर अवयव अकड़ने न लगे और विषका वेग उतर जाय, यह प्रताप तेरा ही है। अब यदि प्रसाद रसकी लहरें उठने लगे और उसकी बाढ़ आने लगे तो फिर सन्तप्त किसे सन्तप्त कर सकता है और शोक किसे जला सकता है? हे गुरुकी कृपा-दृष्टि, तू अत्यन्त प्रेमपूर्ण होनेके कारण अपने सेवकोंकी ब्रह्मानंदकी कामना पूरी करती है और उनके आत्म-साक्षात्कारके हौसले भी पूरे करती है। मूलाधार चक्र-रूपी शक्तिकी गोदमें उन शिष्य बालकोंको लेकर तू प्रेमपूर्वक उनका संगोपन करती है और हृदयाकाश रूपी पालनेमें उन्हें रखकर आत्म-ज्ञानके झोके देती है। तू जीवात्मवाले भावोंको उनपरसे निछावर करके मन और प्राण वायु उन्हे खेलनेके लिए देती है और उनके अंगो पर आत्मानन्दके आभूषण चढ़ाती है। सत्रहवी पूर्णामृत कलाका दूध तू उन्हें पिलाती है, उनके मनोविनोदके लिए तू अनाहत नामक नाद-घोषके गीत गाती है और उन्हे समाधिः सुखसे शान्त करके सुलाती है। इसलिए समस्त साधक जनोका संगोपन करनेवाली माता तू ही है। तेरे चरणोसे कवित्व-कला उत्पन्न होती है, इसलिए मैं तेरी शीतल छाया कभी न छोड़ूँगा। सद्‌गुरुकी कृपा-दृष्टि, तेरा दयामृत जिसे प्राप्त होता है, वह समस्त विद्याओकी निष्पत्ति करनेके कामोमें ब्रह्मा ही होता है। इसलिए हे माता-गुरु-कृपादृष्टि, तू वैभवशाली है और अपने सेवकोकी कामना पूर्ण करने वाली कल्प-लता है तो भी तू मुझे ग्रन्थका निरूपण करनेकी आज्ञा दे। हे माता, तू मेरे द्वारा इस निरूपणमें नौ रसोका सागर भरवा दे, उत्तम रत्नोका आगर तैयार होने दे और भगवन्तके सच्चे अर्थका पर्वत उठने दे। इस देशी भाषाके प्रदेशमे वाङ्मय सौन्दर्यकी खान खुलने दे और चारों ओर विवेक रूपी लताएँ लगने दे। ऐसे महासिद्धान्त रूपी वृक्षोका घना और भरा हुआ बगीचा रचने दे जिनमें एक-वाक्य रूपी फलोकी समृद्धि हो। नास्तिकोकी गुफाओ; वितंडावादियो टेढ़े-मेढ़े रास्तों और तर्क करनेवालोके हिंसक-श्वापदोका पूरी तरहसे नाश होने दे। तू मुझे ऐसी सामर्थ्य प्रदान कर जिसमें मैं श्रीकृष्णके गुणोका ठीक-ठीक वर्णन कर सकूँ और श्रोताओको भी श्रवणके आनन्दका साम्राज्य प्राप्त होने दे। इस देशी भाषाके नगरमे ब्रह्मविद्याकी भरमार करके लोगोको इस विद्यानन्दका मनमाना लेन-देन करने दे। हे सद्‌गुरुकी कृपा-दृष्टि, यदि तू मुझ पर अपने प्रेमपूर्ण आँचलकी छाया करेगी और मेरे भाग्यमें वह छाया प्राप्त करना बदा होगा, तो हे माता, यह सब कुछ मैं तत्काल ही निर्माण कर सकूँगा। दासकी यह प्रार्थना सुनकर गुरुने उसकी ओर प्रसन्न दृष्टिसे देखा और कहा—"अब

है। इसके सिवा उसके लिए और कोई उपाय ही नही होता। इसी प्रकार प्रीतिसे अथवा भूलेसे मैंने आपके विरुद्ध जो जो आचरण किये हों, वे सब, हे प्रभो मुकुन्द, आपको अपने क्षमा गुणके कारण सहन करने ही पडेंगे। और हे देव, यदि आप क्षमावान् होंगे, तभी इस भूत-सृष्टिमे यमका राज्य रह सकेगा। इसलिए हे पुरुषोत्तम इस विषयमें मैं आपसे चाहे कितनी ही प्रार्थना क्यो न करूँ पर वह सब थोडी ही होगी। इसलिए हे अतर्क्य भगवन्, मैं आपकी शरणमे आया हूँ और आप मुझे इन सब अपराधोके लिए क्षमा करें।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

"परन्तु हे देव, अब आपकी महिमा मेरी समझमे पूरी तरहसे आ गई है। मैं समझ गया हूँ कि आप इस स्थावर और जंगमसे युक्त विश्वके मूल बीज हैं। हरि और हर आदि समस्त देवताओंके परम दैवत आप ही हैं। और वेदो को भी आपसे ही ज्ञान प्राप्त हुआ है। हे प्रभो श्रीराम, आप भूत मात्रके साथ सम भावसे व्यवहार करते हैं। आप सब गुणोमे अप्रतिम और अद्वितीय है। भला यह कहनेकी आवश्यकता है कि आपके समान और कोई नही है? आप आकाश हैं और यह सारा विश्व आपमे ही समाया हुआ है। ऐसी अवस्थामे यह कहना केवल लज्जास्पद ही है कि आप की तरहका और भी कोई भी सर्वव्यापी है। अब इस विषयमे और अधिक क्या कहा जाय! इसलिए त्रिभुवनमे केवल आप ही अद्वितीय हैं आपकी बरावरी का अथवा आपसे बढकर और कोई नही है। आपकी महिमा इतनी विलक्षण है कि उसका किसी प्रकार वर्णन ही नही किया जा सकता।"

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

अर्जुनने ये सब बातें कहकर श्रीकृष्णको दंडवत किया और तत्काल ही उसके शरीरमें आठो सात्विक भावोका संचार हो आया। फिर वह गद्गद स्वरसे कहने लगा— "हे देव; आप प्रसन्न हो। प्रसन्न हो। इस अपराधके समुद्रसे मेरी रक्षा करें। आप सारे विश्वका हित करनेवाले है। परन्तु केवल आपसदारीके विचारसे मैंने कभी आपका विशेष सम्मान नही किया। हे विश्वेश्वर, आपके साथ मैंने ऐसा आश्चर्यजनक और लज्जास्पद व्यवहार किया है। यदि वास्तवमे देखा जाय तो प्रशंसाके योग्य स्वयं आप ही थे। परन्तु आपने भरी सभामे मेरी प्रशंसा की और मैं वड़े अभिमानसे वैठा हुआ बडी वड़ी वाते वघारता रहा। हे मुकुन्द, मेरे इस प्रकारके अपराधोका कही अन्त ही नही है। इस लिए आप इन अपराधोसे मेरी रक्षा करें। मुझमे तो इस प्रकारकी क्षमा-याचना करनेकी भी योग्यता नही है। परन्तु जिस प्रकार बालक अपने पितासे लाड़से बोलता है और यदि बालकका घोर अपराध भी होता है, तो भी जिस प्रकार पिता मनमे परायेपनका भाव न रखकर प्रेमसे उसके सब अपराध क्षमा कर देता है, उसी प्रकार आप भी मेरे सब अपराध क्षमा करेंगे। मित्रका औद्धत्य प्रिय ही सहन करते हैं। बस इसी प्रकार आप भी मेरा औद्धत्य सहन करें। अपने मित्र जनोसे कभी कोई साम्प्रदायिक मान-अपमानकी अपेक्षा नही करता। इसी प्रकार, हे देव,

गीताके अर्थका निरूपण आरम्भ करो, प्रस्तावनाका अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नही -" इस पर शिष्यको स्वभावतः बहुत अधिक आनन्द हुआ और उसने कहा—"हे स्वामी, ठीक है यह आपका महाप्रसाद ही है।" और तब उसने श्रोताओसे कहा—"अब मैं ग्रन्थका निरूपण करता हूँ। आप लोग इधर ध्यान दे।"

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

फिर समस्त वीरोमे श्रेष्ठ और सोम वंशकी विजय-पताका पाडु-नन्दन अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—"हे देव, आपने मेरी बात सुन ली न? आपने मुझे जो विश्व-रूप दिखलाया था, वह बहुत ही अद्भुत था, इसी लिए मेरा मन बहुत घबरा गया था। और इस सुन्दर कृष्ण मूर्त्तिसे मैं सदासे परिचित था, इसलिए मेरा जी यही चाहता था कि मै इसीका आधार ग्रहण करूँ। परन्तु आपने यह कहकर निषेध कर दिया कि ऐसा मत करो। परन्तु व्यक्त और अव्यक्त (अर्थात् सगुण और निर्गुण) दोनो आपके ही स्वरूप हैं। भक्तिसे सगुण रूपका साधन होता है और योगसे निर्गुण रूपका। हे बैकुण्ठाधिपति, ये दोनो ही मार्ग आपके पास तक पहुँचानेवाले है। सगुण और निर्गुण इन मार्गोके प्रवेश द्वार हैं। कसौटी पर सौ भर सोनेके पाँसेको कसनेसे जो कस आता है, वही कस उसमेसे निकाले हुए रत्ती भर सोनेका भी आता है। इसलिए एक देशीय सगुण और सर्वव्यापक निर्गुण दोनोकी योग्यता समान ही है। अमृतके सागरमे जो सामर्थ्य देखनेमे आती है, वही सामर्थ्य अमृतकी लहरके एक चूल्लूमे भी होती है। हे महाराज, इस प्रकारका निश्चित ज्ञान अब मुझे हो गया है। परन्तु हे योगेश्वर देव, मैंने जो यह प्रश्न किया है, वह केवल इसी लिए कि आपने अभी थोडी देरके लिए जो विश्वव्यापक स्वरूप धारण किया था, उसके सम्बन्धमे मेरी यह समझनेकी इच्छा है कि वह स्वरूप वास्तविक था या केवल बनावटी। परन्तु एक तो वे भक्तियोगी होते है, जो सब काम केवल आपके प्रीत्यर्थ करते है, केवल आपको ही सर्वश्रेष्ठ समझते है, अपना समस्त मनोधर्म आपकी भक्तिसे अंकित कर लेते है और सब प्रकारसे आपको अपने हृदयमे रखकर आपकी उपासना करते है। और दूसरे वे ज्ञान-योगी होते है, जो आत्मैक्य भावसे उस वस्तुकी उपासना करते हैं जो ओंकारसे भी परे हैं, जो स्पष्ट वाणीके लिए अलभ्य है, जिसकी किसीके साथ उपमा नही दी जा सकती और जो अविनाशी, निर्गुण, अवर्णनीय और स्थलहीन है। अत हे अनन्त प्रभो, आप कृपा कर यह बतलावें कि उन भक्ति-योगियो और इन ज्ञानयोगियोमेसे वास्तविक ज्ञान किसको होता है।" अर्जुनकी यह बात सुनकर भगवान्‌को सन्तोष हुआ और उन्होने कहा—"हे अर्जुन, तुम सचमुच यह बात बहुत अच्छी तरह जानते हो कि प्रश्न किस प्रकार करना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

आपने जो मेरे घरमें जूठन उठाई और मैंने आपको उठाने दी, उसके लिए भी आप मुझे क्षमा करें। अथवा जब किसी बहुत घनिष्ठ और प्रिय मित्रसे भेंट होती है, तब उससे संसारमे अनुभव किये हुए सब संकटोका वर्णन करनेमें कोई संकोच नही होता। अथवा जब पतिको ऐसी पतिव्रता स्त्री मिलती है जो अपना मन; शरीर और आत्मा तीनो पूरी तरहसे अपने पतिको अर्पित कर चुकी होती है, तब उसके साथ बिना खुले दिलसे बाते किये रहा ही नही जाता। इसी प्रकार, हे सद्गुरु महाराज, मैंने भी आपसे प्रार्थना की है। इसके सिवा ये बाते कहने का और भी एक कारण है।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

"हे देव, देखिये, मैंने बहुत धृष्टता करके आपसे यह आग्रह किया कि आप मुझे अपने विश्व-रूपके दर्शन करावे और इस विश्व के आप माता-पिताने बहुत प्रेमसे मेरा वह आग्रह पूरा किया। मैने इस प्रकारके अनेक हठ किये कि मेरे घरके आँगनमें बहुतसे कल्पवृक्ष लग जायँ, कामधेनुके बछड़े मुझे खेलनेको मिले, मेरे चौपड खेलनेके लिए नक्षत्रोके पाँसे बने और मुझे खेलनेके लिए चन्द्रमाका गेंद मिले; और एक प्रेमपूर्ण माताके समान आपने मेरे वे सभी हठ पूरे किये। जिस अमृतका एक छोटासा कण प्राप्त करनेके लिए भी अपरम्पार कष्ट सहन करना पडता है, उस अमृतकी आपने चातुर्मास भर वर्षा की और जमीन जोतकर मानो क्यारी क्यारीमे आपने चिन्तामणियोकी बोआई कर दी। हे देव, आपने इस प्रकारसे मुझे धन्य किया है और बडे लाडसे मेरा पालन किया है। जो विश्व-रूप कभी शंकर और ब्रह्माने कानोसे भी नही सुना था, उस विश्व-रूपके आपने मुझे दर्शन कराये है। आपके जीवनका जो रहस्य देखना तो दूर रहा, पर जो उपनिषदोके विचारक्षेत्रमे भी नही आ सकता, वही रहस्य आज अपने गाँठ खोलकर मेरे लिए स्पष्ट कर दिया है। हे महाराज, विश्वके आरम्भसे लेकर आज तक मैंने जो जो जन्म धारण किये, यदि उन सब जन्मोको खूब ध्यान-पूर्वक देखा जाय यो भी कही यह पता नही चलेगा कि मेरे लिए कभी वह रहस्य देखने या सुननेका प्रसंग आया था। और मेरे अन्त.करको भी कभी इस बातकी गन्ध भी नही मिली थी। फिर ऐसी बातके आँखोसे देखनेका तो जिक्र ही क्या है! सारांश यह कि मैंने आज तक कभी यह विश्व-रूप देखा या सुना नही था। परन्तु वही विश्व रूप आज आपने मुझे प्रत्यक्ष दिखला दिया जिससे मेरा मन बहुत अधिक आनन्दित हुआ है। परन्तु मेरे मनमे इस समय यह आता है कि मैं आपके साथ जी खोलकर बाते करूँ, आपके पास रहूँ और आपको गले लगा लूँ। अब यदि मैं आपके इस विश्व रूपके साथ ये सब बाते करना चाहूँ तो मेरी समझमे यह नही आता कि आपके इन असंख्य मुखोमेसे किस मुखके साथ मैं बाते करूँ और किसे आलिंगन करूँ, क्योकि आपका यह स्वरूप असमर्याद है। ऐसी अवस्थामें भला वायुके साथ कैसे दौड़ा जा सकता है, आकाशको किस प्रकार आलिंगन किया जा सकता है और अगाध समुद्रमें किस प्रकार जल क्रीड़ा की जा सकती है? हे देव, आपके इस स्वरूपसे मुझे भय लगता है; इसलिए अब आप मेरी यह एक इच्छा और पूरी कर दे कि अपना यह

"अच्छा सुनो पश्चिमकी ओर अस्ताचलके पास पहुँच जाने पर और सूर्यके आड-में हो जाने पर भी जिस प्रकार उस अदृश्य विम्बके पीछे भी सूर्यकी किरणें संचार करती रहती हैं, अथवा हे पार्थ, जिस प्रकार वर्षा ऋतुके आने पर नदियोका जल वढ़ने लगता है, उसी प्रकार जव मनुष्य उपासना करता रहता है, तब उसकी श्रद्धा भी दिन पर दिन वढती जाती है। परन्तु नदी जब समुद्रके पास पहुँच जाती है, तब भी उसके पीछेवाले प्रवाहका जोर बराबर ज्योका त्यो बना रहता है। बस यही नदीके प्रवाहवाली सारी वात प्रेम-भावके सम्बन्धमें भी है। इसी प्रकार जो लोग अपनी समस्त इन्द्रियो समेत अपना मनोभाव मुझमे अर्पण करके रात और दिन समय और असमयका कुछ भी विचार किये विना, सदा मेरी उपासना करते हैं और इस प्रकार जो भक्त अपना सर्वस्व वहन करते है, उन्हीको मै परम योगयुक्त या श्रेष्ठ योगी समझता हूँ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

"हे अर्जुन, जो और दूसरे लोग आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करते है, वे निर्गुण अविनाशी तत्त्वको देखते है। जिसके पास तक मन कभी पहुँच ही नही सकता और जिसमे वुद्धिकी किरणका प्रवेश भी नही हो सकता, उसका साधन भला इन्द्रियोसे कैसे हो सकता है? केवल यही नही, वह तो ध्यानको भी प्राप्त नही होता और इसी लिए वह किसी एक स्थान पर प्राप्त नही हो सकता और न किसी आकारमें ही हो सकता है। जो सभी स्थानो पर, सभी भावोसे और सभी कालोमे रहता है परन्तु जिसकी कल्पना करते करते चिन्तन-शक्ति भी चिन्तित होने लगती है, जिसके सम्वन्धमे न तो यही कहा जा सकता है कि वह होता है और न यही कहा जा सकता है कि वह नहीं होता, जिसके सम्वन्धमे न तो यही कहा सकता है कि वह है और न यही कहा जा सकता हैं कि वह नही है और इसी लिए जिसकी साधना करनेमें कोई उपाय नही चलता, जो न तो चलता ही है और न हिलता ही है और जो न तो कभी समाप्त ही होता है और न कभी दूषित ही होता है, उसे जो लोग-स्वयं अपनी सामर्थ्यसे प्राप्त कर लेते है, जो वैराग्यकी प्रखर अग्निमें विषय-समूहको जला देते हैं और इन्द्रियोकी तपी हुई स्थितिमे वडे धैर्यसे नियन्त्रित रखते हैं और फिर इन्द्रिय-संयमके वल पर जो लोग अपनी इन्द्रियोको मोडकर अपने हृदयकी गुफामें वन्द कर रखते हैं, अपना द्वार अच्छी तरह वन्द करके और अच्छी तरह आसन-मुद्राका साधन करके मूलवन्धका वुर्ज वाँध लेते है, जो आशासे सव प्रकारका सम्वन्ध तोड़ लेते है, सव प्रकारके भयका नाश कर डालते हैं और अज्ञान-निद्राकी कालिमा अच्छी तरह दूर करके उसका नाश कर डालते है, जो वज्रायनकी अर्थात् मूलवन्धकी अग्निकी ज्वालाओमे शरीरमे रहनेवाली सातो धातुएँ जलाकर रोगोके मस्तक पर पटचक्रकी तोपें चलाते और स्फुरित होनेवाली कुडलिनीकी तेजस्वी दीअट आधार-चक्र पर रखकर उसकी प्रभासे मस्तक तक अपने सारा शरीर देदीप्यमान कर लेते हैं और तव

स्वरूप आप समेट लें। कौतुकसे इस स्थावर जंगम विश्वका अवलोकन करनेके उपरान्त जिस प्रकार यह जी चाहता है कि चुपचाप चलकर घर पर पड़े रहें, उसी प्रकार आपका जो सौम्य चतुर्भुज स्वरूप है, वह मुझे विश्राम-स्थल जान पड़ता है। यदि मैंने योग मार्गका अभ्यास किया तो भी अन्तमें मुझे यही अनुभव करना पडेगा। और यदि मैं शास्त्रोका अध्ययन करूँगा तो भी अन्त मे यही सिद्धात मेरे पल्ले पडेगा। यदि मैं यज्ञ-याग करूँ तो उनका भी अन्तमें यही फल होगा। तीर्थ-यात्रा भी इसीके लिए की जाती है। इसके सिवा और भी जो जो दान-पुण्य मैं करूँगा, उन सबका फल यही आपका चतुर्भुज रूप है। इस प्रकार उस रूपके दर्शनकी मेरे मनमें बहुत बडी कामना है और मैं उसके दर्शन करनेके लिए बहुत अधीर हो रहा हूँ। बस मेरी यह चिन्ता आप बहुत शीघ्र दूर कर दे। हे समस्त जीवोके मनकी बात जाननेवाले, हे सारे विश्वमे व्याप्त रहनेवाले, हे देवताओंके भी पूज्य, हे देवाधिदेव, अब आप प्रसन्न हो।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

"जिसके अंगोकी कान्ति नीले कमलके लिए भी आदर्श है, जो आकाशके रंगकी भी शोभा बढ़ाती है और नीलमणिमे भी तेजस्विता लाती हैं, जिसकी कमरकी शोभासे मदनकी शोभा भी उसी प्रकार वढ़ती है, जिस प्रकार मरकत मणिमे मानो सुगंध उत्पन्न हुई हो अथवा आनन्दमें अंकुर निकले हो, जिसके सम्बन्धमे इस प्रकारकी भ्रान्ति होती है कि मस्तककी शोभा मुकुट वढा रहा है अथवा मुकुटकी ही शोभा मस्तकसे वढ रही है—क्योकि उस अंगकी शोभा ही शृङ्गारके लिए भूषण हो रही है—जिस प्रकार आकाशमे इन्द्रधनुष पर मेघ दिखलाई पड़ते है, उसी प्रकार जिस शाङ्‌र्गपाणिने वैजयन्ती माल धारण कर रखी है और दैत्यो तथा दानवोको भी मोक्ष दान देनेमे जो गदा इतनी उदार है और हे गोविन्द, जिसका चक्र अप्रतिम सौम्य तेजसे चमक रहा है, वह सुन्दर रूप देखनेके लिए मैं अधीर हो रहा हूँ। इसलिए हे देव, अब आप अपना वही रूप धारण करें। इस विश्व-रूपके दर्शन करके मेरे नेत्र अत्यन्त तृप्त हो चुके हैं और अब वे आपकी सौम्य कृष्ण मूर्त्ति देखनेके लिए बहुत उतावले हो रहे है। अब इन नेत्रोको उस सुन्दर कृष्णमूर्त्तिके दर्शन करनेके सिवा और कुछ भी अच्छा नही लगता। उस मूर्त्तिके सामने इन्हे इस विश्व-रूपका कुछ भी महत्व नही जान पडता। हम लोगोको उस कृष्णमूर्त्तिके सिवा और कही भोग अथवा मोक्ष नही मिल सकता। इसलिए, हे देव, अब आप अपना यह विश्व-रूप समेटकर वही पहलेवाला सगुण रूप धारण करें।

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

अर्जुनकी ये सब बातें सुनकर उन विश्वरूपी भगवानको बहुत अधिक आश्चर्य हुआ और उन्होने कहा—"मैंने तुम्हारे समान अविचारी कही नही देखा। तुम्हे कैसी अलौकिक वस्तु प्राप्त हुई है! परन्तु इस लाभसे भी तुम्हे सुख नही होता। न जाने

इन्द्रियोके नौ द्वारो पर निग्रहकी कील लगाकर केवल सुषुम्ना नाडीकी खिडकी खुली रखते है, प्राण वायुकी शक्ति रूपी चामुंडाके लिए संकल्प रूपी मेढे काटकर मन रूपी महिषासुरके मुडका वलिदान करते हैं, जो चन्द्रमा और सूर्य अर्थात् इडा और पिंगला नाडियोका एकीकरण करके नाद घोषकी सहायतासे सत्रहवी पूर्णामृत कलाका जल शीघ्रतापूर्वक अपने अधिकारमे कर लेते है और तव मध्यमा अर्थात् सुषुम्ना नाडीके विवर रूपी मार्गसे चलकर अन्तिम ब्रह्मरन्ध्र तक जा पहुँचते हैं, केवल इतना ही नही, वल्कि जो मकार अर्थात् सुषुम्नाके विवरकी सीढियाँ चढकर और महदाकाशको वगलमे दबाकर ब्रह्ममे विलीन हो जाते है और इस प्रकार समवुद्धि होकर जो लोग तत्काल ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त करनेके लिए योग का वीहड मार्ग अपने अधिकारमे कर लेते है और जो अपने मनोभावके वदलेमे निर्गुण निराकारशून्य स्वरूप ब्रह्मको चटपट प्राप्त कर लेते हैं, हे अर्जुन, वही लोग आकर मुझमे मिलते है। यह वात नही है कि उन लोगोको योग-वलसे इसकेसिवा कुछ और अधिक प्राप्त होता हो। हाँ, यदि कुछ अधिक मिलता है तो वह केवल कष्ट ही मिलता है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

"जो लोग बिना भक्तिके ही उस निराधार तथा अव्यक्त तत्वकी साधना करना चाहते है, जो समस्त भूतोका कल्याण करनेवाला है, उनके मार्गमें महेन्द्र आदि पदोकी वासनाएँ वाधक होती है और ऋद्धि-सिद्धि भी उनके काममे विघ्न उपस्थित करती है। उनके मार्गमे काम-क्रोधके उपद्रव बहुत होते है और इन सव वातोके साथ साथ उन्हें शून्य ब्रह्मके वल पर लडना पडता है। उन्हे प्याससे ही प्यास वुझानी पडती है और भूखसे ही भूखको मारना पड़ता है दिन-रात हाथोसे हवा करनी पडती है। उन्हे दिनमे जागनेकी अवस्थामे ही सोना पडता है, इन्द्रिय-निग्रहका सुख भोगना पड़ता है और वृक्षोके साथ सख्य भाव रखना पडता है। उन्हे शीत और उष्णताको ही अपने वस्त्र और ओढना-विछौना वनाना पडता है और वर्षाकी झडियोमे ही अपना निवास-स्थान रखना पडता है। हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि यह योग वैसा ही है, जैसा किसी स्त्रीका उस अवस्थामे सती वनकर चिता पर वैठना, जिस अवस्थामे उसका कोई पति हो ही नही। इस योग-मार्गमे न तो किसी स्वामीका कोई कार्य करना पडता है और न किसी प्रकारके कुलाचारका ही पालन करना पडता है। परन्तु हाँ, मृत्युके साथ निरन्तर युद्ध करना पडता है। इस प्रकार यह मरणसे भी तीव्र विप किस प्रकार पीया जाय? यदि कोई पर्वतको निगलनेके लिए अपना मुँह फ़ैलावे तो क्या उसका मुँह फट जायगा? इसी लिए जो लोग इस योगके मार्ग पर चलते हैं, उनके भाग्यमे दुःखका वहुत अधिक अंश रखा रहता है। हे अर्जुन, देखो, जिसके दांत झड गये हो और मुँह पोपला हो गया हो, यदि उसे लोहेके चने चवाने पड़े, तो तुम्ही वतलाओ कि उसका पेट भरेगा या प्राण जायँगे? क्या केवल वाँहोके वलसे तैरकर कभी समुद्र पार किया जा सकता है? आकाशमे कभी कोई पैरोके वल चल सकता है? रण-क्षेत्रमे कूद पडनेके उपरान्त क्या कभी सम्भव है कि शरीर पर लकडीका

तुम अपनी कायरतासे ये सब बातें कह रहे हो या अपनी हेकड़ीके कारण। जब मैं सहज रूपसे प्रसन्न होता हूँ, तब केवल इस जड़ मर्यादा तक ही सब कुछ प्रदान करता हूँ; और जब तक सच्चा भक्त न मिले, तब तक यह गूढ़ रहस्य भला और किस पर प्रकट किया जा सकता है ? आज केवल तुम्हारे लिए मुझे अपना यह आन्तरिक रहस्य खोलकर यह विशाल विश्वरूप धारण करना पड़ा है। मेरी समझमे नही आता कि मैं तुम्हारे फेरमें क्यो इतना पड़ गया हूँ। परन्तु यह बात बिलकुल ठीक है कि मैं तुम पर प्रसन्न होकर बिलकुल पागल-सा हो गया हूँ। और मैंने अपने भीतरी गूढ़ रहस्यकी मूर्ति संसारके सामने प्रत्यक्ष रूपसे खड़ी कर दी है। मेरा यह स्वरूप अपार-से भी अपार है। कृष्ण आदि अवतार इसी स्वरूपसे उत्पन्न हुए हैं। यह स्वरूप ज्ञान-तेजका सार-सर्वस्व है। यह विश्वरूप शुद्ध, अन्तहीन, निश्चल और सबका मूल बीज है। हे अर्जुन, तुम्हारे सिवा इससे पहले और किसीने यह विश्वरूप नही देखा था और न कभी सुना था, क्योंकि यह स्वरूप किसी साधनसे प्राप्त नही किया जा सकता।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

"इस स्वरूपके मार्ग तक पहुँचते ही वेद मौन हो गये और यज्ञकर्त्ता लोग स्वर्गसे लौट आये। जब साधकोको यह पता चला कि योग-साधनसे भी यह रूप प्राप्त नहीं होता, बल्कि कष्ट ही होता है, तब उन्होने योगाभ्यास ही छोड़ दिया। इसी प्रकार केवल अध्ययनसे भी यहाँ कोई काम नही चलता। बिलकुल प्रथम कोटिके जो पुण्य-कर्म हैं, वे भी बड़े आवेशसे चलकर जैसे-तैसे और मार-पीटकर केवल सत्य-लोक तक ही पहुँच सके हैं। तपने इस स्वरूपका केवल ऐश्वर्य ही देखा है और इतनेसे ही उसकी सारी उग्रता खड़े खड़े न जाने कहाँ चली गई। इस प्रकार जो विश्व-रूप तपके क्षेत्रके बाहर और उससे बहुत दूर है, वह विश्व-रूप आज तुमको बिना परिश्रमके ही देखनेको मिला है, और नही तो मनुष्य-लोकमे कभी किसीको इस रूपके दर्शन नही होते। इस संसार में केवल तुम्ही इस रूप-सम्पत्तिके पात्र हुए हो। इस प्रकारका परम भाग्य स्वयं ब्रह्माको भी प्राप्त नही हुआ है।

मा ते व्यथा मा विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

"इसलिए इस विश्व-रूपके दर्शन करके तुम आनन्दित हो और इससे तिल मात्र भी मत डरो। अपने मनमे इस बातका तनिक भी विचार मत करो कि इससे बढ़कर और कोई दूसरा पदार्थ हो सकता है। यदि अमृतसे भरा हुआ समुद्र अकस्मात् अपने ऊपर आ पडे तो क्या कभी कोई इस भयसे उससे दूर भागेगा कि मैं इसमे डूब जाऊँगा ? अथवा यदि किसीको सोनेका पर्वत दिखाई पड़े तो क्या वह कभी यह समझकर उसकी अवज्ञा करेगा कि यह इतना बड़ा पहाड़ यहाँसे हटाकर कैसे ले जाऊँगा ? यदि सौभाग्यसे चिन्तामणि प्राप्त हो जाय तो उसे अंग पर धारण करना चाहिए या यह सोचकर उसे दूर कर देना चाहिए कि यह एक बोझ है ? क्या कभी कोई केवल इसी

एक भी वार सहे बिना कोई सूर्य-लोककी सीढी पर चढ़ सके ? इसलिए हे अर्जुन, जिस प्रकार किसी पंगुलके लिए वायुके साथ प्रतिस्पर्धा करना उचित नही है, उसी प्रकार निर्गुणकी उपासनाके लिए शरीरधारियोका प्रयत्न करना उचित नही है। लेकिन फिर भी जो लोग इतनी धृष्टता और दुस्साहस करके शून्यको प्राप्त करनेके लिए उद्यत होते है, उन्हे बहुत अधिक क्लेश सहन करने पड़ते हैं। परन्तु हे अर्जुन, जो योगी भक्ति-मार्गका अवलम्बन करते है, उन्हे इन सब दु खोका कभी अनुभव नही करना पडता ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

"अपने वर्ण-भेदके अनुसार जो कर्म अपने हिस्सेमे आते है, वे सब कर्म जो लोग अपनी कर्मेन्द्रियोके द्वारा सुखपूर्वक करते है, सब शास्त्रोक्त कर्म करते रहते है और निषिद्ध कर्म छोड़ देते हैं और सब प्रकारके कर्म मुझे अर्पण करके उनके बन्धक गुणोका नाश कर डालते है और इस प्रकार, हे अर्जुन, समस्त कर्मोकी मुझमे समाप्ति करके उनका नाश कर देते है और शरीर, वाचा तथा मनकी जो और प्रवृत्तियाँ हैं, उन्हे भी जो मेरे सिवा और कही जाने नही देते और इस प्रकार जो मेरी अखंड उपासना करते है, जो ध्यान के निमित्त मेरे निरन्तर निवास-स्थान बन गये है, जो अपने प्रेमपूर्ण गुणसे केवल मेरे साथ व्यवहार रखते है और विषय-भोग तथा मोक्षपद दोनोके ही दुर्बल तथा दरिद्र कुल छोड देते है, और इस प्रकार एकनिष्ठ भक्तियोगसे जो अपने समस्त मनोभाव, अन्त करण और शरीर केवल मेरे अधीन कर देते है उनका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ ! उनकी समस्त कामनाएँ मुझे पूरी करनी पडती है ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

"हे अर्जुन, तुम संक्षेपमे यही समझ लो कि जो माताके पेटमे आता है, वह माताको कितना अधिक प्रिय होता है ! इसी प्रकार वे भक्त भी चाहे जैसे हो, मुझे प्रिय होते हैं। कलि-कालकी सब विघ्न-बाधाओको उनसे दूर रखकर उनकी रक्षा करनेका मानों मैंने पट्टा ही लिखा लिया है। और यदि ऐसा न हो, तो भी एक ओर तो मेरी भक्ति और दूसरी ओर संसार की चिन्ता। यह कैसी विलक्षण और असम्बद्ध कल्पना है ! क्या किसी सम्पन्न व्यक्तिकी प्रिय स्त्री भी कभी रूखे-सूखे अन्नके लिए किसीसे भिक्षा माँग सकती है ? इसी प्रकार मेरा भक्त भी मेरा प्रेमपात्र होता है। फिर भला क्या उसकी लज्जा मुझे न होगी ? जन्म और मृत्युकी लहरे सारी सृष्टि पर पड़ती हैं। यह देखकर मेरे मनमे यह बात आई कि कौन ऐसा है जो इस संसार-सागरकी लहरोसे दुःखी न होता हो ? ऐसी अवस्थामे सम्भव है कि मेरे भक्त भी डर जाते हो। इसी लिए, हे अर्जुन, राम और कृष्ण आदिके हजारो नामोको तुम हजारो नौकाएँ ही समझो। इन नौकाओको इस संसार-सागरमें सजाकर मैं अपने उन भक्तोंका तारक बन गया हूँ। फिर मेरे जो भक्त संगहीन और सबसे अलग रहनेवाले थे, उनके लिए मैंने अपने ध्यानका आधार प्रस्तुत किया और जो संसारी या गृहस्थ थे,

लिए कामधेनुको घरसे बाहर निकाल देता है कि हमें इसका पालन पोषण करना पड़ेगा और वह हमसे नही हो सकेगा ? यदि चन्द्रमा घरमे आवे तो क्या कभी कोई उससे यह कह सकता है कि तुम यहाँसे निकल जाओ, तुमसे हमारा शरीर जल गया ? अथवा यदि घरमे सूर्य आवे तो क्या उससे कोई यह कहेगा कि दूर हटो, तुम्हारी परछाँही पड़ती है ? और यदि कोई ऐसा कहे तो क्या उसका ऐसा कथन बुद्धिमत्ता-पूर्ण समझा जायगा ? इसी प्रकार मेरे विश्वरूपका परम तेजस्वी ऐश्वर्य आज सहजमे तुम्हे प्राप्त हुआ है। तुम इस प्रकार इससे घबरा क्यो रहे हो ? परन्तु तुम मूर्ख हो और यह बात तुम्हारी समझमे नही आ रही है। हे अर्जुन, अब मैं तुम पर क्या क्रोध करूँ ? परन्तु तुम वास्तविक शरीरको छोड़कर केवल छायाको ही आलिंगन करना चाहते हो। तुम यह बात अच्छी तरह समझते हो कि यही मेरा वास्तविक स्वरूप है और वह वास्तविक स्वरूप नही है। और तुम मेरे इस वास्तविक स्वरूपसे डरकर बस चतुर्भुज स्वरूपके साथ प्रेम करते हो जो ऊपरी और नकली है। तो भी, हे अर्जुन, अब अब तुम यह हठ छोड दो और इस फेरमे मत पडो। यद्यपि यह विश्वरूप देखनेमें भयंकर जान पडता है और यद्यपि इसका विस्तार प्रचंड है, तो भी केवल यही स्वरूप वास्तविक और सच्चा है, यह बात तुम अपने मनमे खूब अच्छी तरह समझ लो— इसे गाँठ बाँध लो। जिस प्रकार किसी भारी मक्खीचूस पुरुषका मन सदा द्रव्यमे ही लगा रहता है और वह केवल शरीरसे ही व्यवहार करता है अथवा जिस प्रकार पक्षिणी अपना जीवन घोसलेमें पड़े हुए उन बच्चोके पास, जिनके पंख अभी नही फूटे हैं, छोडकर आकाशमें उड़नेके लिए जाती है अथवा गौ अपने बच्चेके पास अपना वात्सल्यपूर्ण मन छोड़कर जंगलमें चरनेके लिए जाती है, उसी प्रकार तुम भी अपना प्रेम इसी स्वरूप पर सदाके लिए स्थिर रखो। हाँ, बाहरी मनसे,केवल स्नेह-सुखके लाभके लिए, उस चतुर्भुज कृष्ण-मूर्तिका ध्यान करो; परन्तु फिर भी मैं बार बार तुमसे यही कहता हूँ कि तुम मेरा एक उपदेश कभी मत भूलो। और वह उपदेश यह है कि तुम मेरे इस विश्व रूप परसे कभी अपनी श्रद्धा मत हटने दो। तुम्हे इस स्वरूपसे केवल इसलिए भय हो रहा है कि इसे तुमने पहले कभी नही देखा था। परन्तु तुम वह भय छोडकर इसी स्वरूप पर अपना सारा प्रेम स्थिर करो।" इसके उपरान्त श्रीकृष्णने कहा —"अब तुम जैसा कहते हो, मैं वैसा ही करता हूँ। वह मेरा पहलेवाला रूप अब तुम खुशीसे मन भरकर देखो।"

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

भगवानने इन शब्दोका उच्चारण करते ही फिर वह मानवी रूप धारण कर लिया। इसमें तो आश्चर्यकी कुछ भी बात नही है, परन्तु अर्जुनके प्रति उनके मनमे जो प्रेम था वह अवश्य ही आश्चर्यजनक है। श्रीकृष्ण मानों नगद कैवल्य धाम थे और उनका जो सारसर्वस्व विश्व-रूप था, वह उन्होने अर्जुनको स्पष्ट रूपसे दिखला दिया था। परन्तु उनका वह रूप अर्जुनको कुछ अच्छा नही लगा था। जिस प्रकार लोग पहले तो किसीसे कोई वस्तु माँगते हैं और तब उसे उपेक्षापूर्वक अलग रख देते हैं

उन्हे मैंने इन नौकाओ पर बैठाया । कुछ भक्तोके पेटके नीचे प्रेमकी पेटी बाँधी। और इस प्रकार अपने समस्त भक्तोको मैने आत्मैक्यके तट पर ला लगाया । केवल इतना ही नही, जिन जिन लोगोने मेरी भक्ति की, उन सबको, फिर चाहे वे चतुष्पद और पशु ही क्यों न रहे हो, मैंने अपना भक्त मानकर उन्हे बैकुण्ठके साम्राज्यका स्वामी बनाया । इसी लिए मेरे भक्तोको किसी प्रकारकी चिन्ता कष्ट नही पहुँचती और मैं उन्हें तारनेके लिए सदा उद्यत रहता हूँ । ज्योही भक्त लोग अपनी चित्त-वृत्ति मुझे अर्पित करते हैं त्योही वे मानो अपने प्रपंच रूपी खेलोमे मुझे भी अपना साथी बनाकर सम्मिलित कर लेते हैं। इसी लिए हे, अर्जुन, तुम निरन्तर इस मन्त्र-का पाठ किया करो कि जिस समय जीव इस अनन्य भक्तिका मार्ग ग्रहण करता है, उसी समय वह श्रेष्ठ भक्त हो जाता है ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

"बुद्धिसे निश्चय करके मनकी समस्त वृत्तियाँ मेरे स्वरूपमे स्थिर करो । हे अर्जुन, यदि बुद्धि और मन दोनो प्रेमपूर्वक पूर्ण रूपसे मुझमे रमण करने लगे, तब तुम आकर मुझमे मिल जाओगे । क्योकि यदि मन और बुद्धि दोनो मेरे स्वरूपमे स्थिर होकर विहार करने लगे तो फिर भला "मैं" और "तुम" का भेद ही कहाँ बाकी रह जायगा ? जिस प्रकार आँचलसे हवा करने पर दीपक बुझ जाता है और उसका तेज नष्ट हो जाता है । अथवा सूर्य-बिम्बके अस्त हो जाने पर उसका प्रकाश नही रह जाता अथवा जब जीव ऊपरकी ओर चलने लगता है, तब उसकी इन्द्रियाँ भी शरीरको छोड देती है, उसी प्रकार मन और बुद्धिके साथ अहंकार भी आपसे आप मेरी ही ओर आने लगता है । इसीलिए तुम अपने मन और बुद्धिको मेरे स्वरूपमे प्रविष्ट करके उन्हे वही स्थिर करो और तब इस कृत्यकी सहायतासे तुम मेरा सर्वव्यापक स्वरूप प्राप्त करोगे । मै स्वयं अपनी शपथ खाकर तुमसे कहता हूँ कि इस सिद्धान्तमे कोई अपवाद नही है ।

अथ चित्तं समाधतुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

"यदि मन और बुद्धि समेत तुम अपना चित्त पूर्ण रूपसे मेरे अधीन न कर सकते हो तो तुम ऐसा करो कि दिन और रातके आठ पहरोमेसे कमसे कम एक अल्प क्षण भरके लिए ही मन और बुद्धिके सहित अपना चित्त मुझे अर्पण करते चलो । फिर जिन क्षणोमे मेरा सुख भोगनेको मिल सके, कमसे कम उन क्षणोमे तुम्हारे मनमें विषयोकी ओरसे विराग उत्पन्न होगा । और तब जिस प्रकार शरत्-काल आने पर नदी धीरे धीरे उतरने लगती है, उसी प्रकार तुम्हारा चित्त भी धीरे धीरे प्रपचोके वेगसे बाहर निकलने लगेगा । फिर ऐसा होने पर जिस प्रकार पूर्णिमासे चन्द्रमाका बिम्ब दिन पर दिन घटता घटता अन्तमे अमावस्याके दिन आकर बिलकुल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विषय-भोगोसे बाहर निकलते निकलते और मेरे स्वरूपमे प्रवेश करते करते, हे अर्जुन, तुम्हारा चित्त धीरे धीरे मेरे ही स्वरूपके समान हो जायगा ।

अथवा कोई रत्न देखकर उसमें कुछ दोष निकालते हैं अथवा विवाहके लिए कन्याको देखने जाते हैं, तो उसे देखकर नाक-भौ सिकोड़ते हैं, ठीक उसी तरह का आचरण उस समय अर्जुनने किया था। श्रीकृष्णने तो अर्जुनके प्रति अपना इतना अधिक प्रेम दिखलाया था कि अपने उपदेशका सारांश विश्व-रूप तक उसे दिखला दिया था। भला इससे अधिक वे अर्जुनके लिए और क्या कर सकते थे! सोनेका टुकडा गलाकर उससे अपनी इच्छाके अनुसार गहना वनाया जाता है; और यदि वह गहना पसन्द न आवे तो फिरसे गला डालनेके सिवा और उपाय ही क्या है? बस अपने शिष्य अर्जुनके लिए भगवानको भी उस समय ऐसा ही करना पड़ा था। पहले उनका चतुर्भुज कृष्ण रूप था और उससे उन्होंने अपना विश्व-रूप बनाया था। परन्तु वह रूप शिष्यको पसन्द नही आया, इसलिए उन्हें अब फिरसे वही कृष्ण रूप धारण करना पड़ा था। अपने शिष्यका हठ इस सीमा तक माननेवाले गुरु भला और किस देशमें मिलेंगे? संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"परन्तु यह पता नही चलता कि अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णके मनमें जो इतना अधिक प्रेम था, वह किस लिए था?" इसके उपरान्त जो दिव्य तेज सारी सृष्टिको व्याप्त करके उसके चारो ओर फैला हुआ था, वह सब अब उस कृष्ण रूपमें समाविष्ट हो गया। जिस प्रकार आत्म-विचार करते समय "त्वम्" (या तू) पद का तत् (या उस) पदमें समावेश हो जाता है अथवा समस्त वृक्ष-स्वरूपका सूक्ष्म बीजमें अन्तर्भाव होता है अथवा स्वप्नकी सब वातें जीवके जागने पर लुप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णने अपने सगुण स्वरूपमें इस विश्व-रूपका योग एकत्र करके रख लिया। यह बात भी उसी प्रकार हुई थी, जिस प्रकार सूर्यकी कान्ति सूर्यमें अथवा मेघ-समूह आकाशमें अथवा समुद्रकी वाढ़ समुद्रमे लीन हो जाती है। कृष्ण मूर्तिके आकारमे विश्व-रूप-वस्त्रकी तह लगी हुई रखी थी; उसे श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रेमसे प्रेरित होकर खोलकर अर्जुनको दिखला दिया। पर जव उन्होने देखा कि उस वस्त्रकी लम्बाई चौड़ाई और रंग आदि अच्छी तरह देख लेने पर ग्राहकको वह वस्त्र पसन्द नही आया, तव उन्होने उस वस्त्रकी फिर पहलेकी सी तरह तह लगा ली। इस प्रकार जिस स्वरूपने अपने असीम- विस्तारके कारण सब कुछ व्याप्त कर रखा था, वह स्वरूप अब शान्त, मनोहर और बिलकुल सौम्य हो गया। तात्पर्य यह कि उन अनन्त भगवानने फिर वही पुराना छोटा रूप धारण कर लिया और भयभीत अर्जुनका फिरसे समाधान किया। जिस प्रकार स्वप्नकी अवस्थामे कोई मनुष्य एक वार स्वर्गमे जाकर सुखी होता है, परन्तु अकस्मात् जाग उठने पर वह विस्मित होता है, ठीक उसी प्रकारकी अवस्था इस समय अर्जुनकी हुई थी। अथवा जिस प्रकार सद्गुरुकी कृपा होने पर सब सांसारिक प्रपंचोका ज्ञान नष्ट हो जाता है और वास्तविक तत्वका ज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकारकी अवस्था श्रीकृष्णकी मूर्तिके दर्शनोंसे उस समय अर्जुनकी हुई थी। उस सम पार्थको ऐसा जान पड़ा कि मेरी आँखोंके सामने विश्व-रूपका जो परदा आ पड़ा था, वह अब हट गया, यह बहुत अच्छा ही हुआ। उस विश्व-रूपके उपरान्त जब अर्जुनने फिरसे श्रीकृष्णका वही पुराना रूप देखा, तव तुरन्त ही उसे इस प्रकारका अपरम्पार आनन्द हुआ कि मानो वह कालसे वाजी जीतकर आया हो अथवा मेघ और

जिसे अभ्यास-योग कहते है, वह यही है। और इस संसारमें कोई बात ऐसी नही है जो इस अभ्यास-योगसे न सध सकती हो। इस अभ्यासके कारण ही कुछ लोग हवामे चलने लगते है, कुछ लोग वाघो और साँपोको अपने वशमे कर लेते है, कुछ लोग विष पचा जाते है और कुछ लोग समुद्र पर पैरोसे चलने लगते है। इसी अभ्यासके बलसे कुछ लोग वेद-विद्यामे पारंगत हो गये है। इसलिए ऐसी कोई बात नही है जो अभ्यासके साधनके लिए दुर्लभ हो। इसलिए तुम अभ्यास-योगसे ही मेरी प्राप्ति कर लो।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

"अथवा यदि इस प्रकारका अभ्यास करनेकी सामर्थ्य भी तुममे न हो तो फिर तुम जिस स्थल पर और जिस प्रकार हो, उसी स्थल पर और उसी प्रकार रहो। इन्द्रियोको मत रोको, भोगोंको मत छोड़ो अपनी जातिका अभिमान भी मत छोड़ो। कुलाचारका पालन करते चलो और विधि-निषेधका ध्यान रखो। इस प्रकार का आचरण करनेकी तुम्हे खुली आज्ञा दे दी जाती है। परन्तु मनसे, वाचासे, और कायासे जो जो कर्म हो, उनके सम्बन्धमें तुम कभी यह मत कहो कि ये कर्म मैने किये हैं। करना और न करना तो एक मात्र विश्व-चालक परमात्मा ही जानता है। तुम अपने मनमे कभी इस बातका विचार मत करो कि यह कर्म न्यून है और यह कर्म पूर्ण है और अपने मनोभाव स्वयं अपनी आत्माके साथ एक-रूप करके अपने जीवनके सब काम करो। माली जिस तरफ पानी ले जाता है, वह चुपचाप उसी तरफ चला जाता है। उसी प्रकार तुम भी अपने कर्तृत्वका अभिमान छोडकर शान्त रहो। तात्पर्य यह कि प्रवृत्ति और निवृत्तिके बोझ अपने चित्त पर मत लादो। अपनी चित्त-वृत्ति निरन्तर मुझमें ही स्थिर रखो। हे अर्जुन, जरा तुम्ही इस बातको सोचो कि क्या रथ कभी इस बातका विचार करता है कि यह मार्ग सीधा-सादा है और वह मार्ग टेढ़ा तिरछा है? इस प्रकार अपने आपको अलग रखते हुए जो जो कर्म होते चले, उनके सम्बन्धमें न तो कभी यह कहो कि ये न्यून है और न यह कहो कि ये अधिक है और शान्तिपूर्वक वे सब कर्म मुझे अर्पित करते चलो। हे अर्जुन, यदि तुम्हारी भावना इस प्रकारकी हो जायगी तो शरीर-पात होने पर तुम मोक्ष प्राप्त कर लोगे।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

"और हे अर्जुन, यदि यह कर्म-समर्पण भी तुम्हारे किये न हो सके तो तुम मेरी भक्ति करो। यदि कर्मके आरम्भ और अन्तमे अपनी सारी बुद्धिसे मुझे स्मरण करना तुम्हे कठिन जान पडता हो, तो तुम उसे भी रहने दो। यदि मेरा ध्यान एक ओर रख दिया जाय तो भी काम चल सकता है, परन्तु इन्द्रिय-निग्रहके सम्बन्धमें तुम्हारी बुद्धि अवश्य जाग्रत रहनी चाहिए। और तब जिस समय तुम्हारे द्वारा जो कर्म हों, उसी समय तुम उन सब कर्मोंके फलोंका त्याग करते चलो। जिस प्रकार वृक्ष अथवा बेलें अपने फलोको अन्तमे नीचे गिरा देती है, उसी प्रकार जो जो कर्म सिद्ध होते

वायुको भी प्रतिद्वन्द्वितामें पीछे छोड आया हो अथवा हाथसे पानी चीरता हुआ सातो समुद्र पार कर आया हो। जिस प्रकार सूर्यके अस्त होने पर आकाशमें तारे दिखाई पड़ने लगते हैं, उसी प्रकार उसे पृथ्वी और उसमेके सब लोग दिखाई पड़ने लगे। जब उसने अपने चारो ओर देखा, अब उसे पहलेवाला कुरुक्षेत्र दिखाई पडा। उसने अपने दोनो ओर अपने सब भाई बन्दोको भी देखा। उस रणक्षेत्रमे सब शूर-वीर एक दूसरे पर शस्त्रो और अस्त्रोकी वर्षा कर रहे थे। उन वीरोके बाणोके मंडपके नीचे उसने अपना रथ भी पहलेकी तरह खड़ा हुआ देखा। उसने यह भी देखा कि श्रीकृष्ण तो रथके जूए पर बैठे है और मैं नीचे जमीन पर खडा हूँ।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

वीर्यशाली अर्जुनने श्रीकृष्णसे जिस बातकी प्रार्थनाकी, उसके उसे इस प्रकार दर्शन हुए। उसने कहा—"अब मेरी जानमे जान आई। नही तो अब तक बुद्धिका ज्ञान नष्ट हो गया था और चारो ओर भयका जंगल दिखाई पडता था। और अह-भावके सहित मन दूर भाग गया था। इन्द्रियाँ बिलकुल स्तब्ध और निश्चल हो गयी थी। वाचा भी निष्प्राण होकर गूँगी बन गई थी। मेरे शरीरकी इस प्रकारकी दुर्दशा हो गई थी। परन्तु अब वह सारी जीवनावस्था अपनी ठीक स्थितिमें आ गई है और मानो फिरसे मुझे जीवन प्राप्त हो गया है। इस कृष्ण मूर्त्तिके दर्शनसे फिर मुझमें प्राण आ गये है।" इस प्रकार अपने मनके समाधानके उद्गार निकालकर उसने श्रीकृष्णसे कहा—"हे देव, मैंने आपका यह मानवी रूप देखा। हे देवराज, आपने अपना यह रूप मुझे दिखलाकर मुझ पर उसी प्रकार उपकार किया है, जिस प्रकार माता अपने अपराधी बालकको हृदयसे लगाकर उसे स्तन-पान कराती है। उस विश्व-रूपके दर्शनके समुद्रमें दोनो हाथोसे लहरोके साथ लड रहा था, पर अब आपकी इस सगुण मूर्त्ति रूपी तट पर आ पहुँचा हूँ। हे द्वारकानाथ श्रीकृष्ण, आपने मुझे यह दर्शन नही दिये है, बल्कि सूखे हुए वृक्ष पर मेघवृष्टि की है। मैं स्वाभाविक तृषासे छटपटा रहा था। ऐसे समयमें आपका यह सगुण आकार मुझे अमृतके समान ही मिला है। अब मुझे इस बातका भरोसा हो रहा है कि मैं जीवित हूँ। मेरे अन्तःकरणकी भूमि पर आनन्दकी बेल लहरा रही है और मुझे अत्यन्त सुख प्राप्त हो रहा है।"

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥

अर्जुनकी ये बातें सुनकर श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, तुम यह कैसी बाते कर रहे हो? तुम्हे इस विश्व-रूपके प्रति प्रेम-भाव रखना चाहिए; और तब मेरी इस सगुण मूर्त्तिकी निःशंक होकर सेवा करनी चाहिए। मैंने अभी जो बातें तुमको बतलाई हैं, क्या वे सब बाते तुम भूल गये? हे अन्धे अर्जुन, तुम्हारे हाथमें तो मेरु पर्वत

चलें, उन सबका तुम त्याग करते चलो—उन्हे अपनेसे दूर और अलग करते चलो। केवल इतना ही नही, वे कर्म करते समय मेरा स्मरण करनेकी भी कोई आवश्यकता नही है और उन्हे मेरे प्रीत्यर्थ अर्पित करनेकी भी कोई आवश्यकता नही है। तुम आनन्द-से उन कर्मोको उनके फलो सहित शून्यमे विलीन हो जाने दो। जिस प्रकार पत्थर पर बरसा हुआ जल अथवा अग्निमे बोये हुए बीज निष्फल होते है, उसी प्रकार तुम अपने समस्त कर्मोको भी स्वप्नवत् निष्फल समझो। जिस प्रकार कोई अपनी कन्याके सम्वन्धमे अपने मनमे विषय-वासना नही रखता, ठीक उसी प्रकार तुम्हे भी अपने समस्त कर्मोके सम्वन्धमे सदा निष्काम रहना चाहिए। जिस प्रकार अग्निकी ज्वाला आकाशमे पहुँचकर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार तुम भी अपने समस्त कर्मोंको शून्य-मे विलीन हो जाने दो। हे अर्जुन, यद्यपि कर्म-फलोका यह त्याग देखनेमें सुगम जान पडता है, तो भी यह समस्त योगोमे सबसे अधिक श्रेष्ठ योग है। इस फल-त्याग-से जिन कर्मोका नाश होता है, वे कर्म कभी बढते नही—उनसे कभी दूसरे कर्म उत्पन्न नही होते। जब वाँसमे एक वार बीज आ जाते हैं, तब वे वाँस वन्ध्या हो जाते हैं और वहीसे उनका अन्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार फल-त्यागके द्वारा जब वर्तमान शरीरका नाश होता है, तब मनुष्यको फिर कभी शरीर नही धारण करना पडता। केवल यही नही, जन्म और मरणका चक्र ही सदाके लिए बन्द हो जाता है। हे अर्जुन, अभ्यासकी सीढियाँ चढकर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और ज्ञानकी साधना हो जाने पर ध्यानकी प्राप्तिकी जा सक्ती है। फिर जब ध्यानमें सारी वृत्तियाँ रँग जाती है, तब समस्त कर्म-समूह मनुष्यसे अलग हो जाते है। इस प्रकार कर्मोके दूर हो जाने पर आपसे आप फल-त्याग हो जाता और इस फल-त्याग-से मनुष्यको अखंड शान्ति प्राप्त होती है। हे अर्जुन, शान्ति प्राप्त करनेका यह ऐसा मार्ग है जिसमे मनुष्य क्रम क्रमसे चलकर और सीढियाँ पार करता हुआ आगे बढ सकता है, इसलिए अभ्यासका अंगीकार करना ही उचित है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

"हे अर्जुन, अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यानकी अपेक्षा कर्म-फलका त्याग श्रेष्ठ है और कर्म-फल-त्यागकी अपेक्षा शान्ति-सुखकी प्राप्ति श्रेष्ठ है। यही इस मार्गकी बराबर आगे बढनेवाली परम्परा है। हे पार्थ, इस प्रकार एक एक कदम आगे बढते हुए शान्ति अथवा ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति की जा सकती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

"जो मनुष्य भूत मात्रसे कभी किसी प्रकारका द्वेष नही करता, जिसे चैतन्यकी भाँति यह भेद-भाव कभी स्पर्श ही नही करता कि यह अपना है और वह पराया है;

आ गया था, परन्तु तुमने उसे भूलसे बहुत छोटा या तुच्छ समझ लिया। परन्तु मैंने अभी तुम्हें जिस विश्व-रूपके दर्शन कराये है, वह रूप शंकरको भी अपनी सारी तपस्याके बलसे प्राप्त नही हो सकता। योगके आठो अंगोंके साधनका कष्ट करनेवाले योगियोंको भी जिस विश्व-रूपके दर्शन नही हो सकते, उसके सम्बन्धमें देवताओका समय भी इस बातकी चिन्ता करते करते बीत जाता है कि किसी प्रकार उस विश्व-रूपका हमे भी थोड़ा सा दर्शन प्राप्त हो जाय। जिस प्रकार आशाके हाथ अपने हृदय रूपी मस्तक पर जोडकर (अर्थात् बहुत अधिक प्रार्थनापूर्वक और आशा रखकर) चातक मेघकी प्रतीक्षामे आकाशकी ओर टक लगाकर देखता है, उसी प्रकार सभी बड़े बड़े देवता जिस विश्व-रूपके दर्शनोके लिए आठो पहर चिन्ता करते रहते हैं परन्तु फिर भी जिसके उन्हे स्वप्नमे भी दर्शन नही होते, वही विश्व-रूप आज तुमने बहुत सहजमें प्रत्यक्ष देख लिया है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

"हे अर्जुन, ऐसा कोई साधन नही है जिससे इस विश्व-रूपके समीप तक पहुँचनेका मार्ग प्राप्त हो सकता हो। वेद भी और छहो शास्त्र भी इस विषयमें हार गये हैं। हे अर्जुन, बडे बड़े तपोके द्वारा भी कोई मेरे विश्व-रूपके मार्ग पर नही पहुँच सकता और दान आदि पुण्य-कर्मोंके द्वारा भी इस मार्ग तक पहुँचना बहुत ही कठिन है। तुम्हे मेरा इस समय जो ज्ञान हुआ है, वह यज्ञ-विधानोसे भी किसीको सहजमें नही हो सकता। जिस प्रकार आज मैं तुमको प्राप्त हुआ हूँ, उस प्रकार प्राप्त होनेका एक ही मार्ग है। अब तुम यह सुनो कि वह मार्ग कौन सा है। जब अन्तःकरण प्रेमपूर्ण भक्तिके अधीन होता है, तभी मैं इस प्रकार साध्य होता हूँ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

"परन्तु यह भी सुन रखो कि वह भक्ति कैसी होनी चाहिए। जिस प्रकार वर्षाकी छूटी हुई धार पृथ्वीके सिवा और कही जा ही नही सकती अथवा जिस प्रकार सारा पानी अपने साथ लेकर नदी समुद्रको ही ढूंढ़ती हुई आगे बढ़ती जाती है और रास्तेमें विना कही रुके सीधे समुद्रमे ही जाकर मिलती है, उसी प्रकार भक्तको उचित है कि वह अपनी समस्त भावनाओको एकत्र करके प्रेमसे परिपूर्ण होकर मेरी ओर बढ़े, और मुझमें मिलकर मेरे साथ सम-रस हो जाय—मेरे साथ मिलकर एक हो जाय। और भक्तको जिस "मैं" वाले स्वरूपमे मिलकर एक हो जाना चाहिए, वह "मैं" उसी प्रकारका हूँ जिस प्रकार क्षीर-सागरके तट पर भी क्षीर ही होता है और मध्यमे भी क्षीर ही होता है। सच्ची भक्ति वही है जिसमें मनुष्य छोटी सी च्यूंटी को भी "मैं" ही समझे और समस्त स्थावर जंगमको भी मुझसे भिन्न न माने। बस इसके सिवा और किसी प्रकारकी भक्ति सच्ची भक्ति नही है। जिस समय इस प्रकारकी ऐक्यवाली अवस्था प्राप्त होगी, उसी समय मेरे स्वरूपका ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा। और ज्योंही किसीको स्वरूप-ज्ञान होगा, त्योंही उसे स्वाभाविक रूपसे मेरे दर्शन भी

जिसके मनमें पृथ्वी माताकी भाँति यह विचार कभी नही आता कि उत्तमको तो आश्रय देना चाहिए और नीचको यों ही छोड देना चाहिए। जो प्राण-वायु की तरह अपने मनमें इस वातका कभी कोई भेद-भाव नही रखता कि मैं राजाके शरीरमें तो रहूँगी, परन्तु दरिद्रके शरीरको स्पर्श नही करूँगी, जो सदा सब पर कृपा रखता है, जिस प्रकार पानी कभी यह नही कहता कि मैं गौकी प्यास तो वुझाऊँगा। परन्तु वाघके लिए मैं विष वनकर उसे मार डालूँगा, उसी प्रकार जो प्राणी मात्रको एकरूप समझकर उनके साथ मैत्री रखता है और सम भावसे उन पर कृपा रखता है और जो यह वात कभी जानता ही नही कि यह मैं हूँ और यह मेरा है, जिसे सुख-दुःखका विचार कभी कष्ट नही देता जिसमें उतनी ही क्षमा होती है, जितनी सब कुछ सहनेवाली पृथ्वीमे होती है, जो सन्तोषको सदा अपनी गोदमे खेलाता रहता है, जो स्वयं ही सन्तोषसे उसी प्रकार ओत-प्रोत भरा रहता है, जिस प्रकार विना वरसाती वर्षाके भी समुद्र लवालव भरा रहता है, जो अपने अन्त करणको प्रतिज्ञा-पूर्वक अपने अधीन रखता है, जिसका निश्चय सदा अखंड रहता है, जिसमे जीव और शिव दोनो पूर्ण रूपसे एक होकर एकत्र ही निवास करते है, और जो इस प्रकार योग युक्त होकर अपना मन और वुद्धि पूर्ण रूपसे मुझे अर्पित कर देता है, अन्दर और बाहर योगके उत्तम रीतिसे दृढ़ हो जानेके कारण जो मेरी प्रेमपूर्ण भक्तिमे रँग जाता है, हे अर्जुन, उसीको भक्त, उसीको योगी और उसीको मुक्त समझना चाहिए। जिस प्रकार पतिको पत्नी प्राणोसे भी वढ़कर प्रिय होती है, उसी प्रकार वह भक्त भी मुझको प्राणोसे वढकर प्रिय होता है। केवल यही नही, उसके प्रति मेरा जो प्रेम होता है, उसका स्वरूप पूर्ण रूपसे इस उपमासे भी स्पष्ट नही होता कि वह मुझे प्राणोके समान प्रिय होता है। परन्तु यह प्रेमकी कथा मानो भ्रममे डालनेवाला जादूका खेल है। यह प्रेम-कथा वास्तवमें शव्दोमे कही ही नही जा सकती। परन्तु यह थोड़ा-सा वर्णन केवल श्रद्धाके वलसे किया गया है। और इसी लिए यह पति-पत्नीके प्रेमकी उपमा मुँहसे निकल गई है। परन्तु इस निस्सीम प्रेमका वास्तविक वर्णन करना किसी प्रकार सम्भव नही है। परन्तु हे अर्जुन, इस प्रकारकी वाते वहुत हो चुकी, क्योकि जव प्रिय भक्तका प्रसंग चल पड़ा है, तव भक्तके प्रति मेरे मनका प्रेम दूने जोरसे वढकर उछलने लगा है। तिस पर यदि श्रोता भी उसी प्रकारका प्रेमपूर्ण मिल जाय तो फिर ऐसा काँटा कहाँ मिलेगा, जिस पर इस विषयका माधुर्य तौला जा सके? इसी लिए, है अर्जुन मैं तुमसे यह कहता हूँ कि वह प्रिय भक्त और प्रेमपूर्ण श्रोता तुम्ही हो। तिस पर प्रिय भक्तके वर्णनका प्रसंग भी सहजमे प्राप्त हो गया था, इसी लिए वातें करते करते मैं स्वभावतः इस वर्णनके आनन्द में लीन हो गया।" इतना कहकर देव तुरन्त ही प्रेमानन्दसे झूमने लगे। फिर उन्होने कहा—'हे अर्जुन, इस प्रकारके जिस भक्तके लिए मैं अपने अन्तःकरणमे आसन विछा देता हूँ, अव उस भक्तके लक्षण सुनो।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

"जिस प्रकार समुद्रके गर्जनसे जल-चरोको भय नही जान पड़ता और जिस प्रकार जलचर कभी समुद्रसे घबराते या उकताते नही, वैसे ही जिसे इस जगतकी उन्मत्ततासे कभी खेद नही होता और जिससे जगतको भी कभी कोई कष्ट नही पहुँचता और, हे अर्जुन जिस प्रकार शरीर कभी अपने अवयवोसे नही घबराता, उसी प्रकार आत्मैक्य भावसे जो कभी जीव मात्रसे दु खी नही होता, जिसके मनमे यह भावना रहती है कि यह सारा संसार अपना ही है, जिसके मनमे प्रिय और अप्रियका भेद नही रह जाता और दुजायगीका भाव न रह जानेके कारण जिसमे हर्ष और शोकका नाम भी नही रह जाता, इस प्रकार द्वन्द्व बुद्धिके जंजाल से छुटकारा पाकर जो भय और उद्वेग आदि विकारोसे अलिप्त हो जाता है और साथ ही जो मेरा भक्त भी है, उस पुरुष के प्रति मेरे मनमे मोह या प्रेम उत्पन्न होता है। वह मोहक प्रेमका भला मैं क्या वर्णन करूँ ! वह तो मेरे जीवका भी जीव होता है। जो आत्मानन्दसे तृप्त हो गया है, जो केवल स्वाभाविक परिणामसे जन्मको प्राप्त हुआ है, परन्तु जो पूर्णत्वको प्राप्त होकर मेरा प्रिय बन गया है, हे अर्जुन, जिसके अन्त करणमें वासनाका कभी प्रवेश भी नही होता है, जिसके अस्तित्वसे ही सुखकी वृद्धि होती है, वही मेरा प्रिय भक्त होता है। काशी क्षेत्र उदारतापूर्वक मोक्ष प्राप्त करा देता है, परन्तु किसको ? उसीको जिसका उस क्षेत्रमें शरीर-पात होता है। हिमालय भी पापोका नाश करता है, परन्तु इस पापोके प्रक्षालनमे प्राणोकी हानि होती है। परन्तु सज्जनोमें जो पवित्रता होती है, वह इस प्रकारकी नही होती। गंगाजल अपने पावन गुणसे पवित्र है और वह पापके तापोका नाश करता है। परन्तु फिर भी इसके लिए उस गंगा-जलमें स्नान करना पडता है, जिसमें डूब जानेका भय होता है। परन्तु इस भक्ति-रूपी नदीकी गहराईकी थाह यद्यपि आज तक कभी किसीको नही मिली है, तो भी यह ऐसी है कि इसमे भक्त कभी-डूबकर अपने प्राण नही गँवाता। वह मरता नहीं, बल्कि जीवित अवस्थामे ही उसे नगद मोक्षकी प्राप्ति होती है। जिन सन्तोके संसर्गसे गंगामे शुचिता और पावनता आती है, उन सन्तोकी शुचिता कितनी श्रेष्ठ कोटिकी होनी चाहिए ? तात्पर्य यह कि इस प्रकार जो अपनी शुचिताके कारण तीर्थोंका भी आश्रय बनता है, जो अपने मनकी मैल सब दिशाओके उस पार भगा देता है, जो अन्दर और बाहर सूर्यके समान स्वच्छ तथा निर्मल है, जो तत्त्वार्थका रहस्य उसी प्रकार जानता है, जैसे पैरोमे दृष्टिकी शक्ति रखनेवालेको भूमिके अन्दरके द्रव्योका खजाना साफ दिखाई पडता है, वह मेरा भक्त है। आकाश सबको व्याप्त कर लेता है, परन्तु फिर भी वह सबसे अलिप्त रहता है। ठीक इसी प्रकार जिसका मन सदा सर्वत्र व्यापक रहने पर भी सबसे उदासीन रहता है, जो संसारके तापोसे उसी प्रकार छूट जाता है, जिस प्रकार कोई पक्षी किसी व्याधासे छूट जाता है और इस प्रकार जो वैराग्यमे पूर्ण पारंगत हो जाता है, सदा आत्म-सुखमे रँगे रहनेके कारण जिसे किसी प्रकारका कष्ट दु खी नही करता, जिसे लज्जा उसी प्रकार स्पर्श नही करती,

पाँचो इन्द्रियाँ एकत्र होती हैं, तब इन्हीके द्वारा बुद्धि सुख-दु.खका विचार करती है। इनके सिवा, वाणी, हाथ, पैर, गुदद्वार और शिश्न ये पाँच पदार्थ और हैं। इन्हे कर्मेन्द्रिय कहते है। हे अर्जुन, प्राणोकी प्रिय सखी और शरीरमे रहनेवाली जो क्रिया शक्ति है, वह इन्ही पाँचो द्वारोसे होकर आया-जाया करती है। इस प्रकार पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँचो कर्मेन्द्रियाँ तुमको वतला दी। अब हे अर्जुन, मैं तुमको स्पष्ट करके यह बतलाता हूँ कि मन क्या है। सुनो ! इन्द्रियो और बुद्धिके बीचकी सन्धि पर रजोगुणके कन्धे पर चढकर जो बराबर खेलता रहता है और आकाशके नीले रंग अथवा सूर्यकी किरणोमेके मृगजलकी भाँति जो केवल भावमान होनेवाली वायुकी चमक है, वही मन है। पुरुषके शुक्र और स्त्रीके शोणितके एक स्थान पर मिलनेसे पंचमहाभूतोकी जो रचना होती है, उसमे वायु तत्व के दस प्रकार होते है। फिर उन दश-विध वायुओका शरीरके दस भागोमे अवस्थान होता है और वे अपने विशिष्ट धर्मोसे युक्त होकर अलग-अलग रहती हैं। परन्तु उन सबमे एक प्रकारकी चंचलता रहती है जिससे उन्हे रजोगुणका वल प्राप्त होता है। यह चंचलता बुद्धिके वाहर, परन्तु अहकारकी सीमा पर अर्थात् बीचवाले प्रदेशमें प्रवल होती है। इसीका नाम मन रख दिया गया है परन्तु यदि वास्तवमे देखा जाय तो वह, केवल कल्पना-की ही मूर्त्ति है। जिसकी सगतिके कारण ब्रह्मको जीववाली दशा प्राप्त होती है, जो मायाका मूल है, जिससे काम-वासनाको वल प्राप्त होता है, जो सदा अहकारको उत्तेजित करता रहता है, जो इच्छाओको तो पूर्ण करता है, परन्तु आशाओको वढाता है और भयको पुष्ट करता है, जो द्वैत भावका उत्थान करता है, अविद्याको बढाता है और इन्द्रियोको विषम भोगमे फँसाता है, जो केवल कल्पनासे ही सृष्टिकी रचना करता है और रची हुई सृष्टिको पुन नष्ट कर देता है, जो मनोरथोके घडे बनाता और फिर उन्हे तोड डालता है, जो भ्रमका आगार तथा वायुका सार है। जो बुद्धिका द्वार वन्द कर देता है, हे अर्जुन उसीको मन समझना चाहिए। इसमे संशयके लिए कुछ भी स्थान नही है। अब विषयो की वाते सुनो। स्पर्श, शब्द, रूप, रस और गन्ध ये पाँच प्रकारके विषय ज्ञानेन्द्रियोके हैं। जिस प्रकार हरा चारा देखकर कोई पशु उत्कठासे विह्वल होकर उसकी ओर दौड पड़ता है, उसी प्रकार इन पाँचो द्वारोसे ज्ञान भी वाहरकी तरफ दौडता रहता है। अव स्वर, व्यंजन और विसर्गका उच्चारण करना, किसी पदार्थको पकड़ना या छोडना चलना और मलका उत्सर्ग करना, ये पाँचो कर्मेन्द्रियोके विषय हैं। इन्हीकी मचान या भरतीके आधार पर क्रियाओकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इस शरीरमे दस विषय है। अव मैं इच्छाका वर्णन करता हूँ। कोई वीती हुई बात स्मरण होने पर अथवा उसके सम्वन्धकी कोई बात सुनाई पड़ने पर जो भावना क्षुब्ध होती है, इन्द्रियो और विषयोका सयोग होते ही जो तुरन्त कामका हाथ पकडकर उठ खडी होती है, जिसके उठते ही मन इधर-उधर दौडने लगता है और जिस स्थान पर कभी पैर नही रखना चाहिए उस स्थान पर इन्द्रियाँ मुँह डालने लगती है, जिस भावनाके फेरमे पडकर बुद्धि पागलोके समान हो जाती है और जिसे विषयोकी बहुत अधिक लालसा या चसका रहता है, हे अर्जुन, वही भावना इच्छा है। और जब इन्द्रियोको उनकी

जिस प्रकार किसी मृतकको स्पर्श नही करती, कोई कर्म आरम्भ करनेके विषयमें जिसे अहंकारकी कुछ भी बाधा नही होती, ईंधन न मिलनेके कारण अग्निमें जिस प्रकारकी शान्ति आपसे आप आ जाती है, मोक्ष-प्राप्तिके लिए आवश्यक वही सहज शान्ति जिसके हिस्सेमें आ पड़ी है, हे अर्जुन जो इस उच्चता तक पहुँचनेके योग्य ब्रह्मैक्य भावसे ओत-प्रोत भरा हुआ है और द्वैतके उस पारके तट तक पहुँच चुका है, अथवा मुक्ति-सुखका अनुभव प्राप्त करनेके लिए जो स्वयं ही दो भागोमे विभक्त हो जाता है और एक भागमें तो स्वयं अपनी सेवकता रखता है और दूसरे भागको "मैं" अर्थात् "देव" का नाम देता है ओर जो योगी भक्तिहीनोको भक्ति पर विश्वास करा देता है, उस योगी भक्तसे मुझे बहुत अधिक प्रेम होता है। मैं स्वयं ही ऐसे भक्तोका ध्यान करता रहता हूँ। ऐसे भक्तके प्राप्त होते ही मुझे बहुत समाधान होता है। ऐसे ही भक्तोके लिए मैं सगुण रूप धारण करता हूँ, उनके लिए मैं इस संसारमे विचरण करता हूँ और वे मुझे इतने अधिक प्रिय होते है कि मैं उन पर जी जान निछावर कर देता हूँ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

"जो यह मानता है कि आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके समान उत्तम बात और कोई नही है और इसी लिए जिसे किसी प्रकारके विषय-भोगसे आनन्द नही होता, जिसे इस बातका ज्ञान हो जाता है कि मैं ही सारा विश्व हूँ और इस ज्ञानके कारण सहजमे ही जिसका भेदभाव नष्ट हो जाता है, जिसमे द्वेष नामको भी नही रह जाता, जिसे इस बातका पूर्ण विश्वास हो जाता है कि हमारे जो वास्तविक तत्व हैं, कल्पान्तमे भी नष्ट नही होगे और इस विश्वासके कारण जो नित्य होती रहनेवाली बातोका शोक नही करता, जिस आत्म-स्वरूपसे बढकर और कोई वस्तु नही है, उस आत्म-स्वरूपको प्राप्त कर चुकनेके कारण जो और किसी पदार्थकी इच्छा नही करता, जिसे अच्छे और बुरेका भेद उसी प्रकार कभी नही जान पड़ता, जिस प्रकार सूर्यके लिए रात्रि और दिन कभी नही होता और इस प्रकार जो ज्ञानकी प्रत्यक्ष मूर्ति ही बन जाता है और उसमे भी जो मेरा प्रेमपूर्ण भक्त होता है, उस भक्तके समान मुझे और कुछ भी प्रिय नही होता। मै तुम्हारी शपथ खाकर ये सब बाते बिलकुल सच सच कह रहा हूँ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

"हे अर्जुन, जिसमे विषम भाव नामको भी नही होता, जो शत्रुओ और मित्रोको समान समझता है, जो दीपककी तरह ही रहकर कभी यह विचार अपने मनमे नही लाता कि मैं अपने घरके लोगो के लिए तो प्रकाश करूँगा और बाहरवालोके लिए अँधेरा ही रखूँगा, वह मेरा परम प्रिय भक्त होता है। कोई तो कुल्हाड़ी लेकर वृक्षको काटने लग जाता है और कोई बीज बोकर वृक्ष लगाया है। परन्तु वृक्ष उन दोनोको

इच्छाके अनुसार विषयोका उपभोग प्राप्त नही होता, तब इस प्रकारका जो हठपूर्ण विकार उत्पन्न होता है कि वह विषय हमे अवश्य प्राप्त होना चाहिए। उसी विकारको द्वेष कहना चाहिए। अब यह सुनो कि सुख किसे कहते हैं। जिसके कारण जीव और सब बातोको भूल जाता है, जो मन, वाचा और देहको शपथ देकर बाँध देता है, जो देहकी स्मृतिको निराधार कर देता है, जो जन्म लेते ही प्राणोको पंगु बना देता है, परन्तु जो सात्विक भावोका दोहरा लाभ कराता है, इसके सिवा जो समस्त इन्द्रियोकी वृत्तियोकी थपकी देकर शान्त भावसे सुला देता है और जिस अवस्थामे जिसको आत्म-स्वरूपका मार्ग प्राप्त होता है, उस अवस्थामे जो भासमान होता है, उसीका नाम सुख है। और हे अर्जुन, जिस अवस्थामे यह योग नही होता, उसीको तुम पूर्ण रूपसे दु.खकी अवस्था समझो। जब तक संकल्प-विकल्प रहते है, तब तक सुख कभी हो ही नही सकता। परन्तु ज्योही संकल्प-विकल्पोका नाश होता है, त्योही सुख स्वयं-सिद्ध रूपसे प्राप्त होता है। अतएव संकल्प-विकल्पोके होने और न होनेके कारणोसे ही क्रमश. दु.ख और सुख होता है। हे अर्जुन, इस शरीरमे जो संग-हीन तथा उदासीन चैतन्यकी शक्ति रहती है, उसीका नाम चेतना है। जो नखसे लेकर शिख तक सारे शरीरमें समान रूपसे जाग्रत रहती है, जो जाग्रति आदि तीनो अवस्थाओमे अखंड रहती है, जो मन और बुद्धि आदि मे जीवता लाती है और उनको हरा-भरा रखती है, जो प्रकृति रूपी वनकी स्वय वसन्त-लक्ष्मी ही है, जो सजीव और निर्जीव पदार्थोमे भी अश-भेदसे (अर्थात् कही कम और कही अधिक) सदा संचार करती रहती है, वही चेतना है। हे अर्जुन, इसमे तिल मात्र भी असत्यता नही है। हे अर्जुन, राजाको अपने सैनिकोका व्यक्तिश या अलग अलग ज्ञान नही होता परन्तु फिर भी उसकी आज्ञा परकीय अथया शत्रुके चक्रका पराभव करती है। अथवा जब चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओसे पूर्ण होता है, तब समुद्रमें आपसे आप ज्वार आती है। अथवा जब चुम्बक पत्थर पास रहता है, तब लोहा आपसे आप हिलने लगता है। अथवा जिस समय सूर्य प्रकट होता है, उस समय लोग आपसे आप जाग उठते है। अथवा जिस प्रकार कछुएकी मादा अपने बच्चोके मुखके साथ मुख नही लगाती और केवल उसकी दृष्टि-से ही उन बच्चोका पोषण होता है, उसी प्रकार चेतना भी आत्माकी संगतिसे इस शरीर मे रहकर जडको सजीव करती है। यह चेतनाका वृत्तान्त हुआ। अब हे अर्जुन, धृतिका वर्णन सुनो। इस पाँच महाभूत नामक तत्वोमे स्वभावत. सदा वैर रहता हैं। यह कभी नही होता कि पानीसे पृथ्वीका नाश न हो। पानीको तेज सुखा देता है, तेजका वायुके साथ झगडा होता रहता है और गगन बहुत सहजमे वायुको निगल जाता है। इसी प्रकार आकाश किसी दूसरे तत्वके साथ नही मिलता, परन्तु फिर भी वह सबमें घुसा रहता है और हर जगह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। इस प्रकार इन पाँचो भूतो की एक दूसरेके साथ नही पटती, परन्तु फिर भी ये पाँचो भूत इस देह-क्षेत्रमे एकत्र होकर मिलते हैं। वे अपना स्वाभाविक वैर छोड़कर देहमे एक ही जगह रहते हैं और सब अपने-अपने गुणोसे एक दूसरेका पोषण करते हैं। जिस धैर्यके कारण उनमें सहसा न होनेवाला इस प्रकारका मेल होता और बना रहता है उसी धैर्य का नाम धृति है।

ही समान रूपसे अपनी शीतल छाया देता है। जो खेतिहर खेत में पानी डालकर ईख सीचता हैं, उसे भी ईख अपनी मिठास ही देती है और जो उसे कोल्हूमे डालकर पेरता है, उसे भी वह मिठास ही देती है। यह बात नही होती कि वह जल सींचनेवालेको तो मिठास दे और पेरनेवालेको कडुई लगे। वह दोनो के लिए समान रूपसे मीठी रहती है। इसी प्रकार जो अपने शत्रुओके साथ भी और मित्रोके साथ भी एक ही प्रकारके और सम भावसे व्यवहार करता है, जो मान और अपमान दोनोको समान समझता है, जो शीत और उष्णता आदि द्वन्द्वोमे उसी प्रकार समान और एक-रूप रहता है, जिस प्रकार आकाश तीनो ऋतुओमे समान और एक-रूप रहता है, जो सहज भावसे प्राप्त होनेवाले सुखो और दुखोके मध्यमे उसी प्रकार अचल और विकार-हीन रहता है, जिस प्रकार दक्षिणी वायु और उत्तरी वायु दोनोके बीचमें मेरु पर्वत और अचल और विकार-हीन रहता है, जो भूत मात्रके साथ उसी प्रकार समान भावसे आचरण करता है, जिस प्रकार चन्द्रमाकी चन्द्रिका राजा और दरिद्र सबके साथ समान रूपसे व्यवहार करके उन्हे प्रिय तथा मधुर लगती है, जिसको त्रिभुवन उसी प्रकार चाहते है, जिस प्रकार सारा संसार पानीको चाहता है, जो अन्दर और बाहर विषयोकी अभिलाषाका संग छोडकर और स्वयं अपने आपमे ही रमण करता हुआ एकान्तवास करता है, जो निन्दा पर कुछ भी ध्यान नही देता और स्तुतिसे भी आनन्दित नही होता, जो इन सब बातोसे उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार आकाश मेघ आदिसे निर्लिप्त रहता है और निन्दा तथा स्तुतिको एक ही कोटिमे स्थान देता है, जो बस्तीमे भी और निर्जन वनमे भी समान रूपसे और अ-चंचल वृत्तिसे विचरण करता है, जो न तो कभी मिथ्या ही बोलता है और न कभी सत्य ही बोलता है, बल्कि सदा मौन रहता है और उन्मनी नामक ब्रह्म-स्थितिका अनुभव करता रहता है ओर कभी उससे विमुख नही होता, जो सदा समुद्रकी तरह उसी प्रकार भरा-पूरा रहता है, जिस प्रकार वह वर्षा न होने पर भी पूरा रहता है, जो लाभ होने पर भी आनन्दसे फूल नही जाता और हानि होने पर भी दु:खसे दुखी नही होता, और जो उसी प्रकार सारे विश्वको अपनी विश्रान्तिका स्थान बनाये रहता है, जिस प्रकार वायु निरन्तर सारे आकाशमें विचरण करती रहती है, जो इस प्रकारका ज्ञान प्राप्त करके अपना मन सदा स्थिर रखता है कि यह सारा विश्व ही मेरा घर है, बल्कि जो यह जानता और समझता है कि ससारमे जितने चराचर है, सब मैं ही हूँ और हे पार्थ, ऐसी अवस्था मे पहुँच जाने पर भी जिसे मेरी भक्तिका शौक और श्रद्धा रहती है, उसे मैं स्वयं अपने मस्तक पर मुकुटके समान धारण करता हूँ। यदि किसी उत्तम और श्रेष्ठ व्यक्तिके सामने सिर झुकाया जाय तो इसमे आश्चर्य ही किस बातका है? परन्तु त्रिभुवन भी उसके चरण-रूपी तीर्थ बड़े आदरसे अपने मस्तक पर रखता है। वह मैं अपने श्रद्धालु भक्तका कितना अधिक आदर करता हूँ, यह ठीक तरहसे समझनेके लिए स्वयं सदाशिव-जैसा ही सद्गुरु होना चाहिए। परन्तु इस सम्बन्धमे इतना ही कथन यथेष्ट है। क्योकि यदि मैं श्री शंकरके महत्वका वर्णन करूँ तो मानो स्वय अपनी ही

और हे अर्जुन जीवके साथ इन छत्तीसो तत्वो का जो मेल होता है, उसीको इस प्रकरणमें संघात कहते है। इस प्रकार मैंने तुमको छत्तीसो तत्वोके लक्षण स्पष्ट करके बतला दिये हैं। इन्ही सबके योगको क्षेत्र कहते है। जिस प्रकार रथके भिन्न भिन्न भागों-की सजावट या योगको ही रथ कहते हैं, उपर और नीचेके समस्त अवयवोके समूहको जिस प्रकार "देह" कहते है, अथवा हाथी घोडो आदिके सघटनको जिस प्रकार "सेना" कहते है अथवा अक्षरोके समूहको जिस प्रकार "वाक्य" कहते हैं अथवा मेघोके समुदायको जिस प्रकार "अभ्र" तथा समस्त लोक-समुदायको "जगत" कहते हैं अथवा तेल-वत्ती और अग्नि तीनोका संयोग होने पर जिस प्रकार "दीपक" होता है, उसी प्रकार जिसके कारण ये छत्तीसो तत्व एक-रूप होते है, उसी एक-रूपको सामु-दायिक दृष्टिसे "क्षेत्र" कहते हैं। और इन्ही महाभूतोके एक-रूप होकर कार्य करनेसे इसमें पाप और पुण्य की फसल होती है और इसी लिए हम भी आलकारिक दृष्टिसे इसे "क्षेत्र" ही कहते है। कुछ लोग इसीको "देह" भी कहते है। परन्तु इन बातोका विस्तार करनेकी आवश्यकता नही। यदि सच पूछो तो इसके अनन्त नाम हैं। परन्तु परब्रह्मके इस पार और स्थावर या जड जगतकी सीमा तक जो जो पदार्थ उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं, वे सब क्षेत्र ही है। परन्तु उनमे देव, मानव और नाग आदि जो योनि-भेद या भिन्न भिन्न वस्तुओके वर्ग होते हैं, वे सब सत्व, रज और तम गुणो और कर्मोकी सगतिसे उत्पन्न होते है। हे अर्जुन, इन गुणोकी व्यवस्था मै तुमको आगे चलकर बतलाऊँगा। अभी मैं तुमको ज्ञानका स्वरूप स्पष्ट करके बतलाता हूँ। क्षेत्र और उसके विकारोका सम्पूर्ण स्वरूप तुमको बतला चुका हूँ और अब यह बतलाता हूँ कि निर्मल तथा श्रेष्ठ ज्ञान क्या है? जिस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए योगी लोग स्वर्गका टेढ़ा-तिरछा मार्ग पार करके आकाशको भी निगल जाते है, ऋद्धि-सिद्धिके मोहमे न पडकर योग-साधना सरीखी दुर्घट बात भी सहन करते है, तपोके कठिन पर्वत पार करते हैं, करोड़ो यज्ञ-यागोका निछावर कर देते है और सारा कर्म-काड उलट-पुलट डालते हैं अथवा आवेगसे भजन मार्गमे कूद पड़ते है और कोई कोई सुषुम्नाकी सुरंग तकमे प्रवेश कर जाते है और इस प्रकार जिस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए मुनियो की आशापूर्ण इच्छा वेद-रूपी वृक्षके पत्ते-पत्ते पर चक्कर लगाया करती है और, हे अर्जुन जिस ज्ञानके लिए इस आशासे सैकडो जन्म गुरुकी सेवामे विताये जाते है कि कभी तो वे कृपा करेंगे, जिस ज्ञानके प्राप्त होने पर मोह पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाता है, जो ज्ञान जीवको शिवके साथ एक कर दिखलाता है, जो ज्ञान इन्द्रियोका द्वार वन्द करता है, प्रवृत्तिकी टाँगे तोड़ डालता है और मनका दुःख दूर कर देता है, जिसके कारण द्वैतका अकाल पड़ जाता है और सम-भावना या ऐक्यका सुकाल होता है, जो ज्ञान-मदका आधार ही नष्ट कर डालता है, प्रबल मोहको निगल जाता है और द्वैतका यह भाव कही रहने नही देता कि यह मैं हूँ और वह दूसरा या पराया है, जो संसारको समूल उखाडकर फेंक देता है, संकल्पका कीचड धोकर साफ कर देता है और ज्ञेय वस्तु अर्थात परमात्म तत्वसे उसकी भेंट करा देता है, जिसका साधारणत. आकलन करना भी बहुत ही कठिन होता है, जिसका उदय होते ही जगत- को सचालित करनेवाले

स्तुति करनेके समान होगा और इस प्रकार मानों अभिमान करना होगा।" इसलिए रमापति कृष्णने कहा—"मैं इस बातका अधिक वर्णन नही करता। परन्तु हे अर्जुन, इतना अवश्य कह देता हूँ कि ऐसे भक्तको मैं मस्तक पर धारण करता हूँ। चौथा पुरुषार्थ जो मोक्ष है, उसे तो वह स्वयं अपने हाथोमें ही लेकर भक्तिके मार्गमें प्रवेश करता है और तब सारे जगतको वह मोक्ष देने लगता है। कैवल्यको तो वह अपने हाथमे ले लेता है और मोक्ष-रूपी द्रव्यको वह जिस प्रकार चाहता है, उसी प्रकार खोलता और बाँधता है और जिस तरह चाहता है, उसी तरह रखता निकालता है। परन्तु फिर भी वह जलके प्रवाहकी तरह अपने लिए तलका स्थान ही स्वीकार करता है और सदा नम्रता धारण करता है। इसीलिए मैं भी ऐसे भक्तको नमन करता हूँ, उसे मुकुटके समान अपने मस्तक पर धारण करता हूँ और उसकी लातकी मार भी अपने वक्ष-स्थल पर सहन करता हूँ। उसके गुणोका वर्णन करके मैं अपनी वाणीको भूषित करता हूँ और उसके गुण-श्रवणके कुंडल अपने कानोमे धारण करता हूँ। ऐसे भक्तोके दर्शनकी बहुत अधिक इच्छा होनेके कारण ही मैं चक्षु न होने पर भी चक्षुओंसे युक्त हुआ हूँ। इस हाथका भूषण होनेवाले कमलसे मैं उसकी पूजा करता हूँ। मैं जो अपनी दो भुजाओंके ऊपर और दो भुजाएँ धारण करके आया हूँ, इसका कारण यही है कि मैं ऐसे भक्तको दोनो भुजाओंसे खूब अच्छी तरह आलिंगन करना चाहता हूँ। ऐसे भक्तकी संगतिका सुख प्राप्त करनेके लिए ही मैं देह-हीन होने पर भी देह धारण करता हूँ। किसी प्रकारकी उपमाके द्वारा मैं यह बात नही बतला सकता कि ऐसा भक्त मुझे कितना अधिक प्रिय होता है। यदि ऐसे भक्तके साथ मेरी निर्मल मैत्री हो तो इसमें आश्चर्य ही किस बातका है? जो लोग ऐसे भक्तोंके चरित्र सुनते अथवा उनका गान करते हैं, इसमें सन्देह नही कि वे भी मुझे प्राणोंसे भी कही अधिक प्रिय होते है। हे अर्जुन, आज मैं तुमको भक्ति-योग नामक जो यह सर्वश्रेष्ठ योग पूरी तरह बतलाया हैं, यह वही योग है जिसके कारण मैं अपने भक्तो को प्रिय समझता हूँ, अथवा उनका ध्यान करता हूँ अथवा उन्हे अपने मस्तक पर धारण करता हूँ।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

"जिस योगमे इतना अधिक महत्व है, उस योगकी मनोहर, पवित्र और अमृतकी धाराके समान मधुर बात जो लोग सुनकर उसका अनुभव करते है, जो लोग अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ऐसी बातोंका विस्तार करते है और जो इस बातको निरन्तर अपने हृदयमें रखकर उसके अनुसार आचरण करते है, ऊपर बतलाई हुई पूरी पूरी मन की स्थिति होने पर उपजाऊ भूमिमें बोये हुए बीजोमे उत्पन्न होनेवाले उत्तम फल मिलने पर भी जो मुझे अत्यन्त श्रेष्ठ समझते हैं और मेरी भक्तिके प्रति अपना प्रेम रखकर उसीको अपना सर्वस्व मानते है, हे अर्जुन, इस संसारमे वही सच्चे भक्त और सच्चे योगी हैं। मुझे निरन्तर उन्हींकी उत्कंठा लगी रहती है। जिन पुरुषोंको भक्ति-सम्बन्धी कथाओंका प्रेमपूर्ण अनुराग होता है, वही तीर्थ और वही क्षेत्र है और वही इस

प्राण पंगुल (नितान्त निर्वल) हो जाते है जिस ज्ञान के प्रकाशसे बुद्धिकी आँखे खुल जाती है और जीव आनन्दकी राशि पर लोटने लगता है, जो ज्ञान अत्यन्त पवित्र है; जिसके कारण दोषोसे भरा हुआ मन निर्मल हो जाता है, जिसके योगसे आत्माको लगा हुआ जीव भाववाला क्षय रोग बिलकुल अच्छा हो जाता है, यद्यपि उस ज्ञानका निरूपण करना सम्भव नही है, परन्तु फिर भी मैं उसका निरूपण करता हूँ। ज्ञानका यह निरूपण सुनकर बुद्धिमे ही उसे समझना चाहिए, क्योकि विना बुद्धिके और केवल आँखोसे वह कभी दिखलाई ही नही पड सकता। परन्तु जब एक बार बुद्धिके द्वारा जान वह लिया जाता है और इस शरीर पर वह अपनी सत्ता चलाने लगता है, तब वह इन्द्रियोकी क्रियाओके रूपमे नेत्रोको भी दिखाई देने लगता हैं। जिस प्रकार वृक्षोके हरे-भरे और तेजयुक्त होनेसे वसन्तके आगमनका पता चलता है, उसी प्रकार इन्द्रियोकी अवस्था देखकर ज्ञानका भी अनुमान किया जा सकता है। वृक्षोकी जडको पृथ्वीके गर्भमे भी पानी मिल जाता है और तब वह पानी डालियोके पत्तोंमे भी अपनी झलक दिखलाता है। अथवा पृथ्वीमें रहनेवाली मृदुता सुन्दर अंकुरोको भी देखनेसे जानी जाती है। अथवा कुलीन पुरुषोंका महत्व उनके आचरणसे ही समझमें आ जाता है। जब मनुष्य किसीका आदर-सत्कार करनेमें बहुत अधिक व्यस्त होता है, तब उसकी उसी व्यस्ततासे उसका स्नेह प्रकट होता है अथवा शान्त और भव्य आकृतिसे मनुष्यके पुण्यशील होने का पता चलता है अथवा जब कपूरकदलीमे कपूर भर जाता है, तब चारो ओर फैलनेवाली सुगन्धसे ही इस बातका पता चल जाता है कि उसमे कपूर भर गया है। अथवा काँचकी कन्दीलमे रखे हुए दीपकका प्रकाश चारो ओर बाहर फैल जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्यके हृदयमे ज्ञान आकर उपस्थित होता है, तब बाहर भी उसके बहुत से चिन्ह प्रकट होने लगते है। अब मैं वही लक्षण तुमको बतलाता हूँ। ध्यान देकर सुनो।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

"जिसे किसी लौकिक विषयमे पूरी तरहसे रँगा जाना अच्छा नही लगता, लोगोमे अपने बड़प्पनके साथ मिलना जिसे संकट के समान जान पड़ता है, जो अपने गुणोकी स्तुति या प्रशंसा होने पर, अपने सम्मान आयोजन होने पर अथवा विशेष योग्यताको अपने साथ सम्बद्ध होते देखकर उसी प्रकार घबराता है, जिस प्रकार किसी व्याधके हाथमे पड़ने पर हिरन घबराता और व्याकुल होता है अथवा कोई तैरनेवाला किसी भँवरमे पडने पर व्याकुल होता है, हे अर्जुन, जिसे लोगोके द्वारा किया जानेवाला अपना सम्मान संकट के समान कष्टदायक जान पडता है, जो लौकिक महत्व को अपने साथ स्पर्श भी नही होने देता जो अपना सम्मान अपनी आँखोसे नही देख सकता, जो अपनी लौकिक कीर्ति नही सुन सकता, जिसे यह भी सहन नही होता कि लोगोंको मेरा स्मरण हो और वे मेरी चर्चा करे, फिर आदर-सत्कारकी तो भला बात ही क्या है, जिसे उस समय अपनी मृत्यु ही सामने दिखाई पडती है, जिस समय लोग उसे

संसारमें वास्तवमे पवित्र हैं। मैं उन्हीका ध्यान करता हूँ, वही मेरे देवार्चन हैं और उनसे वढकर अच्छा मुझे और कोई दिखाई नहीं पडता। मुझे उन्हीका व्यसन रहता है और वही मेरे द्रव्य के कोष है। वहाँ तक कि ऐसे भक्तोके प्राप्त हुए बिना मेरे मनको समाधान ही नही होता। हे अर्जुन, जो लोग ऐसे प्रेमी भक्तोकी कथाओका गान करते हैं, उनका मैं श्रेष्ठ देवताओके समान आदर करता हूँ।" भक्तोको आनन्द देनेवाले और समस्त जगतके मूल कारण भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे ये सब बातें कही। ये सब वाते कहकर संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे राजा धृतराष्ट्र, जो भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध, दोषहीन, दयालु, शरणागतका प्रतिपालन करने वाले और रक्षक है, जो देवताओकी सदा सहायता करते हैं, लोकोंका लालन-पालन करते है, जगतका पालन करना ही जिनका सदाका खेल है, जिनका पवित्र यश अत्यन्त निर्मल है, जो सरल और अपरम्पार उदार है, जिनका वल असीम है और जो वलिष्ठोको विना अपनी आज्ञामे लाये नही छोडते, जो भक्तोके साथ प्रेम करनेवाले, अपने प्रेमियोके साथ स्नेह करनेवाले, सत्यका पक्ष लेनेवाले और समस्त कला-कौशलके आगर है, वे भक्तोके सम्राट् वैकुण्ठाधिपति श्रीकृष्ण स्वयं ही इस प्रकारकी बातें कह रहे थे और वह भाग्यशाली अर्जुन ये सब वाते सुन रहा था। अब मैं इसके आगेकी कथाका निरूपण करता हूँ। आप सुने।" इस प्रकार संजयने धृतराष्ट्रसे ये सब बातें कही। संजयकी कही हुई वही रसपूर्ण कथा अब देशी भाषामे कही जायगी। श्रोता लोग इस कथाकी ओर ध्यान दे। श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य ज्ञानदेव श्रोताओसे प्रार्थना करता है कि हे महाराज, स्वामी निवृत्तिदेवने मुझे यही शिक्षा दी है कि आप सन्तजनोकी सेवामें आकर मैं आप लोगोकी सेवा करूँ।

नमस्कार करते है, जो बृहस्पतिके समान ज्ञानवान् होने पर भी अपने महत्वके भयसे पागलोके समान हो जाता है, जो लौकिक प्रसिद्धि से घबराता है, जो शास्त्रोके सम्बन्धमे वकवाद करना छोडकर चुपचाप एकान्तमे पडा रहना पसन्द करता है, जो हृदयसे यह चाहता है कि संसार मेरा अपमान और उपेक्षा करे और मेरे सगे-सम्बन्धी मेरी ओर आँख उठाकर देखे भी नही, जो अपना आचरण प्राय ऐसा ही रखता है कि उसमे हीनता और तुच्छता ही शोभा दे और अंगो पर हीनता के ही भूपण चढे, जो सदा इस वातकी इच्छा करता है कि मेरे सम्वन्धमे लोगोकी यही भावना रहे कि यह जीवित नही है, यह विलकुल है ही नही, इसका कोई अस्तित्व ही नही है, जिसकी चाल-ढाल ऐसी होती है कि लोगो को देखकर यह भ्रम होता है कि यह चलता है या हवाके साथ लुढ़कता-पुढकता चला जा रहा है, जो सदा यही चाहता है कि मेरा अस्तित्व ही न रह जाय, मेरा नाम और रूप भी नष्ट हो जाय, मुझे देखकर भूत मात्र भयभीत होकर दूर भाग जायँ, जो सदा एकान्तमे ही रहता है और निर्जन प्रदेशकी कल्पनासे ही जिसकी जानमे जान आती है, जिसकी केवल वायुके साथ ही पटती है, जिसे आकाशके साथ वातें करना ही अच्छा लगता है और वृक्ष ही जिसे सबसे ज्यादा अच्छे लगते है, हे अर्जुन, जिस पुरुपमे तुम्हे ये सब लक्षण दिखाई पडे, उसके सम्बन्धमे यह समझ लो कि वह ज्ञानमे तल्लीन हो गया है। इन्ही लक्षणोसे यह जानना चाहिये कि किसी पुरुपमे अमानित्व है या नही। अव मैं तुम्हे यह वतलाता हूँ कि "अदभित्व" की पहचान किस प्रकार की जानी चाहिए। अदंभित्व भी ऊपर वतलाये हुए प्रकारका ही होता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार लोभी मनुष्य प्राण जाने पर भी यह नही वतलाता कि मैंने अपने द्रव्यका संग्रह कहाँ छिपा-कर रखा है, उसी प्रकार जिसमे अदंभित्व होता है, जिसमे दम्भका अभाव होता है, वह प्राणो पर संकट आने पर भी कभी यह नही वतलाता कि मैंने कौन कौनसे पुण्य कर्म किये है। हे अर्जुन जिस प्रकार दुष्ट गौ स्तनमे आया हुआ दूध भी चुरा लेती है अथवा वेश्या अपनी उतरी हुई उमर छिपाती है, जंगलमे रास्ता भूल जानेवाला सम्पन्न व्यक्ति जिस प्रकार किसी पर अपनी सम्पन्नता नही प्रकट होने देता, कुलीन स्त्री जिस प्रकार अपने सव अग खूव अच्छी तरह छिपाये रहती है अथवा खेतिहर जिस प्रकार जमीनमे वोये हुए अपने वीज मिट्टीके नीचे अच्छी तरह छिपा देता है, उसी प्रकार जो अपने दान आदि पुण्य कर्म सदा गुप्त रखता है, जो शरीरके दिखावटी चोचले नही करता, जो लोगोको प्रसन्न करनेके झगडेमे नही पडता और अपने धार्मिक कृत्योकी चर्चा नही छेडता, जो अपने किये हुए उपकारो का कभी मुँहसे उच्चारण भी नही करता, जो अपनी सीखी हुई विद्या लोगोको दिखाता नही फिरता और अपना सम्पादित किया हुआ ज्ञान लौकिक-कीर्त्तिके लिए नही वेचता, जो शारीरिक विषयों-का उपभोग करनेके लिए कानी कौडी भी खर्च नही करता, परन्तु धार्मिक कृत्योके लिए अपना सारा धन व्यय करनेमे भी जो आगा-पीछा नही करता, जिसके घरमें तो प्रत्येक वातमे दरिद्रता दिखाई दे और शरीर बिलकुल दुर्वल तथा दीन-हीन दिखाई पड़े, परन्तु जो दान देनेमे स्वय कल्पतरुके साथ भी प्रतिज्ञापूर्वक स्पर्धा

तेरहवाँ अध्याय

जिनका स्मरण करते ही शिष्यमे समस्त विद्याएँ आ जाती है, उन श्री गुरु-चरणोंकी मैं वन्दना करता हूँ। जिनका स्मरण करते ही काव्य-शक्ति आ जाती है, सब प्रकार की रसाल वक्तृताएँ जिह्वाके अग्र भाग पर आकर उपस्थित होती हैं, जिनके स्मरणसे वक्तृत्वकी मधुरताके आगे अमृत भी फीका पड़ जाता है, प्रत्येक अक्षरके सामने सब रस सेवकोकी भाँति हाथ जोडकर खड़े रहते है, उद्दिष्ट अर्थ खुल जाता है, रहस्यका ज्ञान हो जाता है और सम्पूर्ण आत्म-बोध हस्तगत हो जाता है, वे श्री गुरु-चरण ज्योही आकर अन्तःकरणमे स्थिर होते हैं, त्योही ज्ञानका प्रकाश अपने वैभवको प्राप्त होता हे। इसी लिये उन गुरु-चरणोको नमस्कार करके अब मैं यह बतलाता हूँ कि जगत के पितामह अर्थात् ब्रह्माके भी जनक रमा-वल्लभ श्रीकृष्णने क्या कहा।

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।। १ ।।

श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, सुनो। देहको "क्षेत्र" कहते हैं और जिसे इस क्षेत्रका ज्ञान होता है, उसे क्षेत्रज्ञ समझना चाहिए।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।। २ ।।

"परन्तु इस प्रसंगमे निस्सन्देह रूपसे तुम यह समझ रखो कि "क्षेत्रज्ञ" मै ही हूँ, क्योंकि मैं ही समस्त क्षेत्रो अर्थात् शरीरोका पोषण करता हूँ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो सच्चा ज्ञान है, वही मेरे मतसे सबसे उत्तम ज्ञान है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ।। ३ ।।

"अब मैं यह बात बतलाता हूँ कि इस शरीरको "क्षेत्र" कहनेका उद्देश्य क्या है। सुनो। इसे क्षेत्र क्यो कहते हैं, यह कैसे और कहाँ उत्पन्न होता है और किन किन विकारोसे इसका विस्तार होता है? यह क्षेत्र यही साढे तीन हाथ का छोटा सा ही है? या बड़ा है तो कितना बडा है और किस आकारका है? यह अनुर्वर है अथवा उर्वर है? इसका कौन है? आदि आदि इस विषयके जितने प्रश्न है, अब मैं उन सबका सांगोपांग स्पष्टीकरण करता हूँ, इसलिए तुम इन सब बातोकी ओर ध्यान दो। हे अर्जुन, इन्ही प्रश्नोंकी मीमांसा करनेके लिए वेद बड़बडाते रहते हैं और तर्कका शाब्दिक चरखा सदा चलता रहता है। इन्ही प्रश्नोका निराकरण करते करते

करता हो, तात्पर्य यह कि जो अपने धार्मिक कृत्योमें बहुत चतुर हो, दानके समय अत्यन्त उदार हो और अध्यात्म--चर्चामे प्रवीण हो, परन्तु और सब विषयोमे पागल-सा दिखाई दे, उसीको दम्भ-हीन समझना चाहिए। केलेका तना हलका और अन्दरसे पोला जान पड़ता है, परन्तु रससे भरे हुए बडे-बडे फल उसीमे लगते है। बादल इतने पतले और हलके होते है कि जरा सी हवाके झोकेसे उड जाते है, परन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि उन्ही बादलोमेसे जलकी बडी बड़ी धाराएँ बरसती है। इसी प्रकार वह परम साधनाका मार्ग तो पूरी तरहसे जानता है, परन्तु लौकिक बातोमे बिलकुल दीन-हीन दिखाई पडता है। हे अर्जुन, जिसमे ये सब लक्षण अच्छी तरह दिखाई पडे, उसके सम्बन्धमे समझना चाहिए कि ज्ञान इसकी मुट्ठीमे आ गया है। यह अदभित्वका वर्णन हुआ। अब यह सुनो कि अहिंसा किसे कहते है। पहले यह बात समझ रखो कि अहिंसाकी व्याख्या अनेक प्रकारसे की जाती है। सब लोग अपने अपने मतके अनुसार उसका वर्णन करते हैं। परन्तु उन वर्णनोमे इतनी विक्षिप्तता है कि मानो किसी वृक्षकी शाखाएँ काटकर उसके तनेके चारो ओर बाँध दी गई हो अथवा हाथ तोडकर उनका मास पकाया गया हो और फिर उसीसे अपनी भूख शान्त की गई हो अथवा देव मन्दिर तोडकर देवताओके बैठनेके लिए मिट्टीका चबूतरा बनाया गया हो। इसी प्रकार पूर्व मीमासामे कुछ इस तरहका विलक्षण निर्णय किया गया है कि हिंसा करके अहिंसाका साधन करना चाहिएँ। उनका मत है कि जिस समय अवर्षाका संकट सामने हो, और वह संकट सारे ससारमे फैलता हुआ दिखाई पडे, तो वर्षा करानेके लिए अनेक प्रकारके यज्ञ करने चाहिएँ। परन्तु उन यज्ञोमे स्पष्ट रूपसे पशुओकी हिंसा होती है। फिर वहाँ अहिंसाका प्रवेश कैसे हो सकता है? शुद्ध हिंसाके बीज बोकर अहिंसाकी फसल कैसे काटी जा सकती है? परन्तु इन याज्ञिकोका साहस भी कुछ विलक्षण ही है। और हे अर्जुन, जिसे आयुर्वेद कहते है, वह भी इसी मार्गसे चलता है। उसका सिद्धान्त ही यह है कि एक जीवके प्राण बचानेके लिए एक दूसरे जीवका घात करना चाहिए। अनेक प्रकारके दुःखोसे पीड़ित और रोगोमे पड़कर लोटनेवाले जीवोको देखकर उनकी हिंसाका निवारण करनेके लिए रोगकी चिकित्सा करना तो ठीक ही है, परन्तु वह चिकित्सा करनेके लिए पहले तो किसी वनस्पतिका कन्द खोदा जाय और दूसरी किसी वनस्पतिके पत्ते जड समेत उखाडे जायँ, किसी वनस्पतिको बीचसे ही तोड़ लिया जाय और किसी वृक्षकी छाल छील ली जाय और कुछ वनस्पतिके कोमल अंकुरोको बर्तनमे उबाला जाय, तब कही जाकर लोगोकी चिकित्सा होती है। जो वृक्ष जन्मसे ही कभी किसीके साथ वैर नही करते, उनका रस निकालनेके लिए उनके सर्वांगमे चीरे लगाये जाते हैं और, हे अर्जुन, इस प्रकार वृक्षोके प्राण लेकर रोगियोको रोगोसे मुक्त किया जाता है। और जंगमो अथात् सजीव प्राणियोंको भी चीरकर उनके शरीरमेसे पित्त आदि पदार्थ निकालकर और उन्हीसे औषध प्रस्तुत करके कुछ रोगियोके जाते हुए प्राण बचाये जाते हैं। रहनेके लिए बने हुए पक्के मकान तोडकर उनके मसालेसे मन्दिर बनाना, रोजगारमे गरीबोको लूटकर

षट् दर्शनोंका अन्त हो गया, तो भी आज तक वे एक मत नही हो सके हैं। इन्ही बातोंके सम्बन्धमे शास्त्रोमें आपसमें झगडे होते हैं और सारे जगतमे इन्ही बातोके सम्बन्धमे अखंड वाद-विवाद होते रहते हैं। इन विषयोमे किसीकी बात दूसरेकी बातोसे नही मिलती, कोई किसीका मुँह नही देखता, मतोमे आपसमें नही पटती, ऊहापोहकी दुर्दशा हो गई है और चारो ओर केवल गड़बडी फैली हुई है। अभी तक इस बात का किसीको पता नही चला कि इस क्षेत्रका स्वामी कौन है। परन्तु अहम्मन्यता का लोभ इतना प्रबल होता है कि घर घर इसी विषयके झगडे होते रहते है। नास्तिकोका मुकाबला करनेके लिए वेदोने बडे बडे आडम्बर रचकर खडे किये है और पाखंडियोने वेदोके विरुद्ध उल्टी सीधी वाचालता आरम्भ कर दी है। पाखडी कहते हैं—'इन वेदोका कोई आधार ही नही हैं, ये झूठमूठके शाब्दिक जाल फैलाते है। यदि तुम हमारी बातको झूठ समझते हो तो इसे सिद्ध करनेके लिए हमने यह प्रतिज्ञाका बीडा रखा है। यदि साहस हो तो इसे उठा लो। हम भी देख लें।' बहुतसे लोगोने पाखंडमें प्रवेश करके वस्त्रो का परित्याग करके लुटिया डुबोई है, परन्तु उनके वितंडावाद आपसे आप स्वयं उन्हीको परास्त कर देते हैं। मृत्युकी परम प्रबल सामर्थ्य देखकर योगी इस भयसे कुछ और आगे बढे कि मृत्यु आने पर यह देह-क्षेत्र व्यर्थ हो जायगा। मृत्युसे घबरानेवाले वे योगी मनुष्योकी बस्तीसे दूर और एकान्त स्थानोमे रहने लगे और उन्होने यम-नियमोके झगडे अपने साथ लगा लिये। इसी देहक्षेत्रकी विवंचना करनेके लिए श्रीशकरने शिव-लोकका परित्याग किया और चारो ओर उपाधियाँ देखकर केवल श्मशान भूमिमे आश्रय लिया। शंकरकी प्रतिज्ञा इतनी प्रबल थी कि केवल दिगम्बर होकर काम मा मदनको इसलिए भस्म कर डाला कि वह लोगोको प्रलोभनोमे फँसानेवाला है। सामर्थ्य बढानेके लिए ब्रह्माको एकके बदले चार मुख प्राप्त हुए, परन्तु फिर भी इस विषयका उन्हे ज्ञान नही हुआ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

"कुछ लोग कहते है कि यह देह-क्षेत्र वास्तवमे पूर्ण रूपसे जीवका ही खेत है और प्राण उसमे खेती-बारी करनेवाला खेतिहर या असामी है। इस प्राणके घरमे अपान, व्यान, समान और उदान ये चार भाई काम-धन्धा करनेवाले हैं और मन, उन सब पर मुख्य हल चलानेवाला और बीज आदि बोनेवाला है। इस मनके पास खेत जोतनेके लिए इन्द्रिय रूपी बैल है। यह मन न तो दिनको दिन और न रातको रात समझता है और हर दम विषयोके खेतमे परिश्रम करता रहता है। वह इस प्रकार-की जोताई करके जो मिट्टी ऊपर-नीचे करता है, उसके कारण उसमेसे कर्त्तव्य कर्मके आचरणका तत्व निकल जाता है और तब वह खेतिहर इस तत्वका नाश करके अन्यायके बीज बोता है और कुकर्मोकी खाद डालता है। तब उन्ही बीजो और खादके उपयुक्त पापोकी फसल पैदा होती है जिससे जीवको करोडो जन्मोतक दु:ख भोगना पडता है। परन्तु ऐसा न करके यदि कर्त्तव्य-कर्मोके तत्वको स्थिर रहने दिया जाय और सत्कर्मोके बीज बोये जायँ, तो वही जीव सैकडो जन्मो तक सुख भोगता

अन्नसत्र चलाना, सिर ढककर घुटने नंगे करना, घर तोड़कर मंडप बनाना, कपड़े जलाकर उनकी आग सेंकना अथवा हाथीको नहलाना अथवा बैल बेचकर मकान बनाना अथवा तोतेको उड़ाकर पिंजरा बनाना आदि आदि काम है या दिल्लगी ? इन सब बातोको देखकर कोई कहाँ तक न हँसे ? कुछ लोग पानी छानकर पीते हैं और इसे पुण्य कर्मका मार्ग कहते हैं। परन्तु पानीको छाननेके फेरमे ही बहुतसे जीवोकी हत्या हो जाती है। कुछ लोग हिंसाके भयसे अन्नका एक कण भी नही खाते। परन्तु भूखो रहनेके कारण उनके प्राण छटपटाते रहते हैं। यह भी हिंसा ही है। इसलिए, भाई अर्जुन, कर्म-काडका जो यह सिद्धान्त है कि हिंसा ही अहिंसा है, सो वह सिद्धान्त इसी प्रकारका है। पहले जब हमने इस अहिंसाका नाम लिया था, तभी यह सहज स्फूर्ति हुई थी कि इस मतका स्वरूप स्पष्ट कर दे। उस समय ऐसा जान पडा कि यह मत भी सहजमे ध्यानमे आ गया है। फिर उसका स्पष्टीकरण क्यो छोड़ दिया जायं। यही समझकर हमने ये सब बाते कही है। और हमारा अभिप्राय यह है कि तुम भी उसी दृष्टिसे यह बात समझ लो। इसके सिवा, हे अर्जुन, ऊपर कही हुई बातोका अहिंसाके विषयके साथ मुख्य रूपसे सम्बन्ध है। यदि यह बात न होती तो हम इस टेढे-तिरछे रास्ते पर चलकर इस विषयका व्यर्थ इतना विस्तार क्यों करते ? और हे अर्जुन, एक बात यह भी है कि अपने मतको अच्छी तरह स्पष्ट करने के लिए सामने आए हुए दूसरे मतोका उचित रूपसे विवेचन करना भी आवश्यक ही होता है। इसलिए अब तक जो निरूपण किया है, वह इसी कारणसे किया है। अब इसके उपरान्त मैं स्वय अपने मतका प्रतिपादन करूँगा। जिस अहिंसाका बाना धारण करने पर अन्तरका ज्ञान व्यक्त होता है, उस अहिंसाका स्वरूप अब स्पष्ट किया जायगा। परन्तु इस बातका पता आचरणसे ही चलता है कि किसी मे अहिंसाका भाव पूर्ण रूपसे आया है या नही। जिस प्रकार कसौटी पर सोने का कस आता है, उसी प्रकार जब ज्ञानका मनके साथ मेल होता है, तब तुरन्त ही मनमे अहिंसाका उदय होता है। अब यह सुनो कि अहिंसाका यह उदय किस प्रकार होता है। तरंगोको बिना तोडे, पानीको बिना हिलाये-डुलाये वेग-सहित परन्तु फिर भी बिलकुल हलके पैरोसे केवल आमिष (अर्थात मछली) की ओर ध्यान रखकर जिस प्रकार बगला बहुत ही सावधानीसे पानी मे पैर रखता है, अथवा भ्रमर इस डरसे कमल पर बहुत ही धीरेसे पैर रखता है कि कही उसके अन्दरका पराग टूट न जाय, उसी प्रकार अपने मनमे यह समझना कि प्रत्येक परमाणुके साथ बहुत ही छोटे-छोटे जीव लगे रहते हैं और लिए इसी बहुत ही धीरे-धीरे पैर रखना अहिंसाका लक्षण है। ऐसा मनुष्य जिस मार्गसे चलता है, वह मार्ग कृपासे पूर्ण हो जाता है और वह जिस दिशामे देखता है, उस दिशाको दया तथा प्रेमसे भर देता है। दूसरे जीवोकी रक्षा करनेके लिए वह सदा अपना जीवन अर्पित करनेके लिए प्रस्तुत रहता है। हे अर्जुन, ऐसे पुरुषके ध्यानपूर्वक चलनेका किसी प्रकारके शब्दोसे वर्णन नही हो सकता और उसके लिए कोई नाप पूरी नही हो सकता। प्रेमसे भरकर बिल्ली जब अपने बच्चोको अपने मुँहसे पकड़ती है, उस समयवह

है। इस पर कुछ और लोग यह कहते हैं कि यह बात बिलकुल नही है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह देह-क्षेत्र केवल जीवका ही है। इस क्षेत्रके सम्बन्धमें सब बातें हमे जाननी चाहिएँ। यह जीव तो केवल एक प्रवासी है। यह घूमता फिरता आता है और रास्तेमें कुछ समयके लिए इस क्षेत्रमें भी निवास कर लेता है। प्राण इस क्षेत्रका अधिकारी है और वह सदा जागकर इसका पहरा देता रहता है। सांख्य शास्त्रमें जिसे अनादि प्रकृति कहते है, वास्तव मे उसीको इस क्षेत्रकी वृत्ति प्राप्त है। इस घरके जितने झगड़े-बखेड़े या प्रपंच है, वे सब उसीके हैं। इसलिए इस क्षेत्रकी जोताई-बोआई आदि उसीके कर्मचारी करते हैं। इस संसारमें इस खेती-बारीका काम करनेवाले जो मुख्य तीन गुण हैं, वे इसी प्रकृतिके पेटसे जनमे हुए हैं। रजोगुण जोताई करता है, सत्वगुण पैदावारकी रखवाली करता है और तमोगुण वह फसल काटकर और उसे बरसाकर इकठ्ठा करता है। फिर महतत्वका खलिहान तैयार किया जाता है और केवल काल स्वरूप बैलोके द्वारा उस फसलकी दँवाई होती है। प्राय: इसी समय अव्यक्तका सायंकाल हो जाता है।" इस पर कुछ दूसरे समझदार आपत्ति करते हुए कहते हैं—"ये सब बाते तो बहुत हालकी है। वास्तवमें परतत्व ब्रह्म ही है। फिर उस ब्रह्मके सामने प्रकृतिको कौन पूछता है! तुम्हारा यह क्षेत्र-सम्बन्धी विचार सुनना मानो व्यर्थकी बकवाद सुनना है। शून्य ब्रह्मके शयनागार में सत्यवाली अवस्थाके पलंग पर जो आदि संकल्प सोया हुआ था, वह एकाएक जाग उठा। वह बहुत चंचल और उद्यमी था, इसलिए उसने अपने मनकी मौजके अनुसार यह विश्वका ढाँचा तैयार किया। निर्गुण परब्रह्मका मैदान त्रिभुवनके बराबर बड़ा था। उसे इस आदि संकल्पकी करनीसे रंग रूप प्राप्त हुआ। फिर महाभूतोका जो बहुत बड़ा बंजर पड़ा हुआ था। उसके चार रेखांकित भाग हुए। ये भाग जारज, स्वदेज, अंडज और उद्भिज नामक चार भूत-ग्राम थे। फिर पंचमहाभूनोका जो एक पिंड था, उसे तोड़कर और उसके अलग अलग विभाग करके पाच भौतिक सृष्टिकी रचना की गई। फिर कर्म और अकर्म रूपी पत्थरोको एकत्र करके दोनो ओरसे बाँध बाँधे गये और उन्हीमे ऊसर जमीनें और जंगल बने। इस प्रदेशमे आने जानेका क्रम सदा चलता रखनेके लिए जन्म और मृत्युकी दो सुरंगे खोदी गई। उस आदि संकल्प ने इन सुरंगोंकी रचना इस प्रकार की थी कि ये सृष्टिसे चलकर निरालम्ब ब्रह्म तक पहुँच जायँ। फिर इस आदि संकल्पने अहंकारके साथ मेल मिलाकर बुद्धिकी मध्यस्थतासे ऐसी योजना की कि इस क्षेत्रका क्रम सदा चलता रहे। इस प्रकार आरम्भमें उस निर्गुण निरालम्ब ब्रह्ममें ही आदि संकल्पका अंकुर निकला था, इसलिए यह निश्चित होता है कि इस प्रपंचका मूल वही आदि संकल्प है।" जब इस प्रकार संकल्पवादियोने अपने मत रूपी मुक्ताफल प्रस्तुत किये, तब तुरन्त ही एक दूसरे मतवाले आगे बढकर कहने लगे—"महाराज आप तो बहुत अच्छे चिकित्सक दिखाई देते है! यदि परब्रह्मके यहाँ आदि संकल्पके शयनागार-की ही कल्पना करनी हो तो फिर सांख्य मतकी उस परब्रह्मवाली प्रकृतिको ही वास्तविक और ठीक मान लेनेमें क्या हर्ज है? परन्तु इन सब बातोंको जाने देना चाहिए, क्योंकि यह निश्चित है कि ये बातें ठीक नही हैं। भाइयो, तुम लोग इन सब बातोके फेरमें

अपने दाँतोकी नोकोंको जितना हलका रखती होगी, अथवा प्रेमपूर्ण माता जब अपने बच्चोकी प्रतीक्षा करती है, उस उसकी दृष्टि में जितनी अधिक कोमलता आ जाती है अथवा कमलके पत्ते हिलनेसे उसकी हवा आँखोको जितनी कोमल लगती है, उतनी ही कोमलतासे उसके पैर भी जमीन पर पड़ते हैं। वे पैर जहाँ पड़ते है, वहाँ रहनेवाले जीवोको भी सुख ही होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार धीरे-धीरे पैर रखनेके समय यदि उसे रास्तेमे कही कोई कीड़ा-मकोड़ा दिखाई पड़ता है तो तो वह धीरेसे पीछे हट जाता है। वह पैर मानों यह कहता है कि यदि मैं जोरसे चलूंगा तो स्वामीकी आत्म-समाधि टूट जायगी और उनकी स्थिर प्रकृतिको आघात लगेगा। इसी चिन्तासे वह पैर पीछे हट जाता है, परन्तु वह किसी जीवको दबा नही देता। जहाँ इतना अधिक ध्यान हो कि मनुष्य तृणको भी जीव समझे और इसी लिए उसे अपने पैरोसे न दबने दे, वहाँ लापरवाहीसे पैर रखनेका कोइ जिक्र ही नही हो सकता। च्यूंटी से जिस प्रकार मेरु पर्वत लाँघा नहीं जा सकता अथवा मच्छड से जैसे तैरकर समुद्र पार नही किया जा सकता, उसी प्रकार मार्गमें पडनेवाला जीव उसके पैरोसे दब नही सकता। जिसके चलनेमे इतनी अधिक कृपा भरी रहती है, उसकी वाणीमे तो तुम्हे मूर्तिमती और जीती-जागती दया ही दिखाई देगी। उसके श्वास भी बहुत ही मन्द तथा कोमल होते हैं। उसकी मुद्रा मानो प्रेमका मायका (जन्म-स्थान) होती है। उसके दांत माधुर्यके अंकुर ही होते है। जब ऐसे मनुष्यके मुखसे अक्षर निकलते है, तब मानो उन अक्षरोके आगे आगे स्नेह पसीजता चलता है। उसका ऐसा ढंग रहता है कि कृपा आगे आगे चलती है और उसके मुखसे निकले हुए शब्द पीछे पीछे रहते हैं। साधारणत. तो वह कुछ बोलता ही नहीं, परन्तु यदि वह कभी अपने मनमे बोलनेका कुछ विचार करता है, तो उसके शब्द इतने कोमल होते है कि उनसे कभी किसी को कुछ भी कष्ट नही पहुँचता। जब वह बोलने लगता है, तब कभी कभी बहुत अधिक भी बोल जाता है, परन्तु उसकी बातोसे कभी किसीके मनको कुछ भी कष्ट नही होता और किसी को उससे डर नही लगता। उसे सदा इस बातका ध्यान रहता है कि कहीं मेरे बोलनेसे किसीकी कोई बनी-बनाई बात न बिगड जाय, कही कोई मुझसे डर न जाय या चौंक न पडे अथवा कही कोई मेरे शब्दोका तिरस्कार या अपमान न करे, इसलिए मुझसे कोई ऐसी बात नही होनी चाहिए जिससे किसीको क्लेश हो। मुझसे किसीका बाल भी बाँका न होने पावे। और इन्ही सब बातोका ध्यान रखकर वह प्रायः कुछ बोलता ही नही। यदि किसी के बहुत अधिक कहने-सुनने पर वह कभी कुछ बोलता भी है, तो श्रोताओंको ऐसा जान पडता है कि हमारे माता-पिता बोल रहे हैं। उसके शब्द इतने शुद्ध और कोमल होते है कि उन्हे सुनते ही ऐसा जान पडता हैं कि मानो स्वयं नाद-ब्रह्मका अवतार हुआ है अथवा गंगा-जल ही उछल रहा है अथवा पतिव्रताको वृद्धावस्था प्राप्त हुई है। उसके ये नपे-तुले और मधुर शब्द अमृत की तरंगोके समान जान पडते हैं। उल्टा तर्क या बातोका क्रम, हठ-वाद, जीवको सन्ताप देनेवाली कठोरता, परिहास, छल-वाद, मर्म-स्पर्शी बातें, दूसरोका विरोध करना या किसीकी बातोमे बाधक

मत पड़ो। इस प्रश्नकी समस्त हम वास्तविक उत्पत्ति अब बतलाते हैं। उसे सुनो। आकाशमे मेघोके समूह कौन भरता है? आकाश मे तारो के समूहको कौन सजाकर स्थापित करता है? आकाशकी छत किसने और कब बनाई? यह आज्ञा किसने दी की वायुको सदा बहने ही रहना चाहिए? केशो या रोमो की उत्पत्ति किसने की? समुद्रको किसने भरा? वर्षा की धाराएँ कौन चलाता है? जिस प्रकार ये सब बातें अपने स्वाभाविक धर्मसे हुआ करती है, उसी प्रकार यह देह क्षेत्र भी स्वभाव-सिद्ध है। यह किसीकी कोई खास जागीर नही है। इसमें जो परिश्रम करता है, उसीको उसका फल प्राप्त होता है, दूसरे को वह फल प्राप्त नही होता।" जब स्वभाववादी इस सिद्धाँत का प्रतिपादन कर रहे थे, तब कुछ और लोग बडे ताव से आगे बढ़कर बोले—"यदि यह बात मान ली जाय तो फिर इस देह क्षेत्र पर एक मात्र काल की ही निरन्तर सत्ता क्यो रहती है? आप यह बात तो अच्छी तरह जानते हैं कि इस कालकी सत्ता अनिवार्य है। परन्तु फिर भी आप अपने मतका झूठा अभिमान करते हैं। यह तो मानो क्रुद्ध मृत्यु या सिहकी गुफा है। परन्तु किया क्या जाय? आप सरीखे बकवादियोको यह बात भला कैसे ठीक जान पडे? यह काल-सिह महाकल्पके उस पार पहुँचकर ब्रह्म-लोक-रूपी हाथी पर भी आक्रमण कर बैठता है। यह काल-सिह स्वर्गके वनमे भी घुस जाता है और वहाँ पहुँचकर नये नये लोकपालो और दिग्गजोके समूहका भी संहार कर डालता है। और दूसरे जो जीव रूपी हिरन आदि होते हैं, वे इस काल सिंहके शरीरकी केवल हवा लगने से ही निर्जीव होकर जन्म और मृत्यु रूपी गड्ढोमे घूमते-फिरते है। देखो, इस काल-सिंहका जबडा कितना फैला हुआ है! इस जबडेमे विश्वके आकारका हाथी भी समा जाता है और उसका कही पता नही लगता। इस लिए हम कालवादियो का यह सिद्धात है कि इस क्षेत्र पर एक मात्र काल की ही सत्ता है।" हे अर्जुन, इस देह क्षेत्रके सम्बन्धमे इस तरहके अनेक पक्ष प्रस्तुत हो चुके है। नैमिषारण्यमे ऋषियोने इस विषयमे बहुत कुछ भवति न भवति की है और पुराण ग्रन्थोमे भी इस विषयकी ऊहापोह प्रत्यक्ष दिखाई पडती है। अनुष्टुप आदि छन्दोमे इस विषयकी जो विविध प्रकार की चर्चाएँ की गई हैं, अब भी बड़े आवेशसे उनका आधार ग्रहण किया जाता है। वेदों मे ज्ञानकी दृष्टिसे बृहत्सामसूत्र बहुत अधिक पवित्र है, परन्तु उसे भी इस क्षेत्र का पूरा पूरा पता नही लगा। इसके सिवा और भी बहुतसे दूरदर्शी महाकवियो ने इस क्षेत्र का विचार करनेमे अपनी बुद्धि रूपी सम्पत्ति व्यय की है। परन्तु आज तक किसीकी समझमे यह बात ठीक तरहसे नही आयी कि यह क्षेत्र इस प्रकार है अथवा इसका इतना विस्तार है और वह वास्तवमे केवल अमुकका है। अब मैं इस क्षेत्र का आदिसे अन्त तक सारा स्वरूप तुमको बतलाता हूँ।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

"पाँचों महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति और दसो इंद्रियाँ और इनके

होना, चिढ़ना, कटुता, आशा दिखलाना, कुशकाएँ निकालना और बहुत बढ बढकर बोलना आदि दुर्गुण उसकी बातोंमे बिलकुल नही होते। और हे अर्जुन, उसका दृष्टिपात भी ऐसा होता है कि उसकी भौहे बिलकुल ढीली छुटी हुई दिखाई देती है और उनमें बल नही पडे होते। इसका कारण यही है कि वह यह समझता है कि भूत मात्रमे परब्रह्मका निवास है; और इसीलिए वह किसी वस्तुकी ओर इस भयसे दृष्टि गडाकर नही देखता कि कही मेरी वह दृष्टि किसीको चुभ न जाय। उसकी सदाकी यही वृत्ति रहती है, इसलिए यदि वह अपने हृदयसे उछलनेवाली कृपाके बलसे प्रसन्न होनेवाली आँखे खोलकर किसीकी ओर एकाध बार देखता है, तब जिसकी ओर वह देखता है, उसका उसी प्रकार समाधान होता है, जिस प्रकार चन्द्र-बिम्बसे निकलनेवाली अमृत-धारा देखते ही चकोरका पेट तुरन्त भर जाता है और उसका समाधान हो जाता है। उसकी कृपा-दृष्टि पडते ही सब जीवोकी यही दशा होती है। यह प्रसिद्ध है कि कछुईकी दृष्टि बहुत ही प्रेमपूर्ण होती है। परन्तु जो बात ऐसे सत्पुरुषकी दृष्टिमे होती है, वह कछुईकी दृष्टिमें भी नही दिखाई देती। भूत मात्रके सम्बन्धमे जिसकी दृष्टि इस प्रकारकी होती है, उसके हाथ भी ठीक इसी प्रकारके होते है। कृतार्थ हो जानेके कारण जिस प्रकार सिद्ध पुरुषोके समस्त मनोरथ जहाँके तहाँ शान्त हो जाते है, उसी प्रकार जिसके हाथ निश्चल और निष्क्रिय होते है, जिसके हाथ ऐसे होते है कि एक तो पहलेसे ही कार्य करनेमे असमर्थ हो और तिस पर उन्होने संन्यास या कार्य न करनेकी प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली हो अथवा जो हाथ उस ईंधनके समान होते है कि पहले तो जलनेका नाम ही नही जानता और तिस पर जिसमे आग बुझी हुई रहती है, अथवा उसकी अवस्था ऐसे मनुष्यके समान होती है जो एक तो पहलेसे ही गूँगा हो और ऊपरसे उसने मौन व्रत धारण कर लिया हो, इसी प्रकार जिसके हाथोको कुछ भी करना बाकी नही रह जाता—क्योकि वे हाथ एक नितान्त व्यापार-शून्य और निष्क्रिय पुरुषके शरीरमे लगे हुए होते हैं—जो अपने हाथोको इस भयसे हिलने भी नही देता कि इससे वायुको धक्का लगेगा अथवा आकाशमे नख गड जायगा, फिर यह कहनेकी तो आवश्यकता ही नही है कि वह अपने शरीर पर बैठनेवाली मक्खीको उडावेगा अथवा आँखोमे घुसनेवाले पतिंगेको झाडकर दूर करेगा अथवा पशु-पक्षियोको डराकर भगावेगा। हे अर्जुन, जो कभी अपने हाथमे डंडा या छडी भी न रखता हो, उसके सम्बन्धमे यह कहनेकी कोई आवश्यकता ही नही है कि वह शस्त्रोको कभी छूता भी नही। वह कमल या पुष्पमालाको उछालनेके खेल भी नही खेलता, क्योकि उसे डर रहता है कि कही मेरे हाथका कमल या पुष्पमाला किसीके ऊपर न जा गिरे और उसे चोट न लग जाय। वह अपने अंग पर इसलिए हाथ नही फेरता कि इससे रोम दबेंगे और नखोको कष्टसे बचानेके लिए उन्हे कटवाता भी नही और उन्हे इस प्रकार बढाता चलता है कि उँगलियो पर उनके कुंडल बन जाते हैं। इस प्रकार ऐसे पुरुषके सम्बन्धमे कार्योका केवल अभाव ही रहता है। लेकिन इतना होने पर भी यदि उसके लिए किसी कार्यके उपक्रमका प्रसंग आता है तो वह अपने हाथोको ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे ही कार्य करनेका अभ्यस्त होता है। उसके हाथ किसीको

सिवा एक मन, दसो विषय और सुख-दु ख, द्वेष, संघात, इच्छा, चेतना और धृति इन सबका व्यक्त स्वरूप ही यह क्षेत्र है। मैने क्षेत्रके तत्वोकी यह नामावली तुमको बतला दी है। अब मैं तुमको अलग अलग यह बतलाता हूँ कि महाभूत कौन हैं, विषय कौन हैं और इन्द्रियोंका क्या स्वरूप होता है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश इन पाँचो को महाभूत समझना चाहिए। और जाग्रतिकी अवस्था में जिस प्रकार स्वप्नकी अवस्थाका अभाव होता है, अथवा जिस प्रकार दिन के समय चन्द्रमा अदृश्य रहता है अथवा प्रौढावस्थाके पास पहुँचे हुए लड़कोंमें जिस प्रकार तारुण्य दवा हुआ रहता है अथवा बन्द कलीमें जिस प्रकार सुगन्ध बन्द रहती है अथवा लकड़ी में अग्नि जिस प्रकार गुप्त रूपसे निवास करती है; उसी प्रकार जो प्रकृति या मायाके पेटमे छिपा रहता है और फिर शरीरको रुधिर आदि धातुओमें छिपा हुआ ताप कुपथ्यके निमित्तकी प्रतीक्षा किया करता है और कुपथ्यका वह निमित्त प्राप्त होते ही तत्काल रोगीका अन्दर और बाहर सब कुछ व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार जब पाँचो महाभूत एकत्र होते है और इस देहका आकार बनता है, तब जो इस देहको चारो ओर नचाने लगता है, हे अर्जुन, उसीको अहंकार समझो। इस अहंकारकी बाते बहुत ही विलक्षण हैं। यह अज्ञानी लोगोके पीछे तो बहुत ज्यादा नही लगता, परन्तु ज्ञानी लोगोको खूब जोरसे आलिंगन करता है और उन्हें अनेक प्रकारके कष्टोमे डालकर नचाता रहता है। अब जिसे बुद्धि कहते हैं, उसे आगे बतलाये हुए लक्षणोसे पहचानना चाहिए। हे अर्जुन, मैं तुमको वह लक्षण बतलाता हूँ। सुनो! जब काम-वासना बलवती होती है, तब इन्द्रियोकी वृत्तियोंका भेद करके विषय-समूह अन्दर घुसते हैं। इसके उपरान्त जीवको सुखो और दु खो का भी अनुभव करना पड़ता है, उस व्यवहारमे सुखो और दु:खों की जो ठीक ठीक नाप-जोख करती है, जो इस बातका निर्णय करती है कि यह सुख है और यह दु ख है, यह पुण्य है और यह पाप है, यह भला और यह बुरा है जिसकी सहायतासे अच्छे-बुरे, बड़े-छोटे आदिका ज्ञान होता है और जिसकी दृष्टिके द्वारा जीवको विषयोकी परख होती है, जो ज्ञान-तेजका मूल कारक और सत्व गुणकी चढती-बढ़ती अवस्था है, जो जीव और शिवका सम्बन्ध स्थापित करती है, हे अर्जुन, उसीको बुद्धि समझना चाहिए। अब अव्यक्त प्रकृतिके लक्षण सुनो। सांख्य शास्त्र और योग शास्त्रके मतोके अनुसार प्रकृतिके जो दो प्रकार हैं, वे पहले (सातवें अध्यायमें) तुमको बतलाये जा चुके है। उनमें दूसरी पर-प्रकृति जो जीव दशा (ज्ञान देवी) है, उसीका यहाँ दूसरा नाम "अव्यक्त" है। जिस प्रकार रात्रिका अन्त होते ही सब नक्षत्र आकाशमे ही लुप्त हो जाते हैं; अथवा दिवसका अन्त होने पर जिस प्रकार प्राणी मात्रका चलना-फिरना बन्द हो जाता है अथवा, हे अर्जुन, जिस प्रकार देहके नष्ट होने पर किये हुए कर्मोमें देह आदि समस्त विकार गुप्त रहते हैं अथवा जिस प्रकार बीजके स्वरूपमे सारा वृक्ष गूढ स्थिति मे समाया रहता है अथवा जिस प्रकार तन्तु वस्त्रके रूपमे रहते हैं, उसी प्रकार समस्त स्थूल धर्म छोड़कर महाभूत और भूत सृष्टि लयको प्राप्त होकर सूक्ष्म रूपसे जिसमे निवास करती है, हे अर्जुन उसीका नाम अव्यक्त है। अब इन्द्रियोका भेद सुनो। कान, आँख, त्वचा, नाक और जीभ इन पाँचो को ज्ञानेन्द्रिय समझना चाहिए। जब ये

अभय देनेके लिए ही ऊपर उठते है, किसीको आश्रय देनेके लिए ही आगे बढते हैं और किसी दु खीको कोमलतापूर्वक स्पर्श करनेके लिए ही हिलते है। और ये सब काम भी उसके द्वारा सिर्फ लाचारीकी हालतमें ही होते है। परन्तु दु खितोका भय दूर करनेमे उसकी जो शीतलता दिखाई देती है, वह शीतलता चन्द्रमाकी किरणोमें भी देखनेमे नही आती। वे हाथ पशु पर इतने प्रेमसे फेरे जाते है कि उनका स्पर्श मानो सुगन्धित और शीतल मलय वायुके स्पर्शके ही समान होता है। वे हाथ सदा निर्लेप और स्वतन्त्र रहते है और यद्यपि चन्दनकी शीतल शाखाओकी भाँति उनमे कभी फल तो नही आते, परन्तु फिर भी वे हाथ कभी निष्फल नही होते; क्योकि उनकी शीतलता या प्रेमार्द्रता बहुमूल्य अक्षय तथा सर्वव्यापी होती है। परन्तु यह शब्द-विस्तार बहुत हो चुका। हे अर्जुन, तुम यही समझ लो कि उसकी हथेलियाँ साधु-सन्तोके शुद्ध और शीतल शीलके समान होती है। अब ऐसे पुरुपके मनका भी कुछ वर्णन होना चाहिए। परन्तु अब तक मैने ऐसे पुरुपके जिस आचारका वर्णन किया है, वह आचार क्या उसके मनका नही है? शाखाएँ क्या वृक्षकी ही नही होती है? बिना पानीके समुद्र कैसे हो सकता है? क्या तेज और तेजस्वी पदार्थ दोनो कभी एक दूसरेसे भिन्न होते है? अवयव और शरीर अथवा रस और पानी कभी अलग अलग रह सकते है? इसी लिए अब तक मैंने ऐसे पुरुषके बाह्य आचारके सम्बन्धमे जो बातें बतलाई है, उन्हे तुम इन अवयवोसे युक्त उस मनकी ही बाते समझो। जमीनमें बीज बोया जाता है, वही वृक्षके रूपमे बाहर प्रकट होता है। इसी प्रकार तुम यह भी समझ लो कि अन्दरका मन ही इन इन्द्रियोके द्वारा बाहर प्रकट होता है। क्योकि यदि मनमे ही अहिंसाकी कमी हो तो फिर वह मनके बाहर निकलकर कैसे प्रकट हो सकती है? हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यानमे रखो कि अहिंसाकी भावना सबसे पहले मनमे ही उत्पन्न होती है और तब वह वाणी, दृष्टि तथा हाथमे प्रकट होती है। और नही तो जो बात मनमें ही न हो, वह भला वाणीमे किस प्रकार प्रकट हो सकती है? क्या बिना बीजके भी कभी जमीनमे अंकुर निकलते है। इसी लिए जब मनका मनत्व नष्ट होता है, उससे पहले ही इन्द्रियाँ बिलकुल दुर्बल हो जाती है, क्योकि सूत्रधारके बिना कठपुतलियाँ व्यर्थ हो जाती है। यदि किसी झरनेका उद्गम ही सूख जाय तो फिर उसके प्रवाहमे पानी कहाँसे आ सकता है? जब जीव ही चला गया तब फिर देहके व्यापार कहाँसे बाकी रह सकते है? इसी प्रकार, हे अर्जुन, इन्द्रियोके समस्त व्यापारोका मूल मन ही है। इन्द्रियोके द्वारा मन ही सब व्यापार करता है। अन्त स्थ मन जिस समय जिस स्थितिमे होता है, उस समय उसी स्थितिमे वह क्रियाओंके रूपमें इन्द्रियोके द्वारा प्रकट होता है। जिस प्रकार पके हुए फलकी सुगन्ध वेगपूर्वक बाहर निकलती है, उसी प्रकार मनकी वास्तविक अहिंसा भी दबने पर आवेशपूर्वक बाहर निकलती है। और तब उसी अहिंसाकी पूँजी लेकर इन्द्रियाँ अहिंसाके लेन-देनका व्यापार आरम्भ करती है। जिस समय समुद्रमें ज्वार आती है, उस समय उसका जल खाडियोको भर देता है। ठीक इसी प्रकार मन भी अपनी सम्पत्तिसे इन्द्रियोको सम्पन्न कर देता हैं। परन्तु अब इस विषयका अधिक

विस्तार करनेकी आवश्यकता नही। जिस प्रकार गुरुजी लडके हाथ पकडकर स्वयं ही अक्षर लिखते हैं, उसी प्रकार मन भी हाथ-पैर आदि इन्द्रियोमे प्रवेश करके उनके द्वारा दयापूर्ण कृत्य कराता है और उनसे अहिंसाका आचरण कराता है। इसलिए, हे अर्जुन, अभी मैंने इन्द्रियोकी क्रियाओका जो वर्णन किया है, वह वास्तवमे मनके व्यवहारोका ही वर्णन है। इसलिए जिस पुरुषमें मनसे, शरीरसे और वाचासे किया हुआ हिंसाका पूर्ण त्याग तुम्हे दिखाई पडे, वास्तवमे उसी पुरुषको ज्ञान-विलासी अथवा ज्ञानका निवासस्थान ही समझना चाहिए। केवल यही नही, वल्कि यह समझना चाहिए कि वह मूर्तिमान् ज्ञान ही है। जिस अहिंसाकी महिमा हम कानोसे सुनते है और ग्रन्थोमे जिसका वर्णन होता है, उस अहिंसाको यदि प्रत्यक्ष देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो तो तुम्हें उस पुरुषको देखना चाहिए। बस इसीसे तुम्हारा काम हो जायगा।" इस प्रकार श्रीकृष्णदेवने अर्जुनसे ये सव वाते कही। वास्तवमे इन सब वातोका मुझे बहुत ही थोडे शब्दोमे वर्णन करना चाहिए था, परन्तु विवेचनके आवेशमे बहुत अधिक विस्तार हो गया। इसके लिए आप लोग मुझे क्षमा करे। हे श्रोतागण, कदाचित् आप लोग कहेगे—"हरा चारा देखकर जिस प्रकार पशु अपना पिछला मार्ग भूल जाता है अथवा वायुके झोकेके साथ उडनेवाले पक्षी जिस प्रकार वरावर आकाशमे आगेकी ओर बढते चलते है, उसी प्रकार जब एक बार इसके प्रेमका स्फुरण होता है और यह रसाल भावनाओके प्रवाहमे पड जाता है, तव इसका चित्त इसके वशमे नही रहता।" परन्तु हे श्रोतागण, वास्तवमे मेरे सम्वन्धमे यह वात ठीक नही है। इस विस्तारका कुछ और ही कारण है। यदि वास्तवमे देखा जाय तो "अहिंसा" शब्द तीन ही अक्षरोका है। अतः ऊपरसे देखनेमे ऐसा जान पड़ेगा कि इसका अर्थ बहुत ही थोडेमे समझाया जा सकता है। परन्तु अहिंसाका पूर्ण, स्पष्ट तथा नि.शक अर्थ बतलानेके लिए अनेक भिन्न-भिन्न मतोका खडन करनेकी आवश्यकता होती है। और नही तो भिन्न-भिन्न मत सामने दिखाई देते हैं। अव यदि मै अपने अभिमानके कारण उन सब मतोको एक ओर रख दूँ और केवल अपना ही विवेचन कर चलूँ तो वह विवेचन आप लोगोको ठीक नही जान पडेगा। यदि कोई जौहरियोके निवास-स्थानमे जाय तो उसे उचित है कि वह वहाँ रत्नोको परखनेकी गंडकी शिला (अर्थात् शालिग्राम) निकालकर सव लोगोके सामने रखे। वहाँ स्फटिक मणिकी प्रशंसा करनेसे क्या लाभ हो सकता है? इसके विपरीत जहाँ आटेकी भी विक्री न होती हो, वहाँ कपूरकी सुगन्धिवाली चीजका क्या आदर हो सकता है? इसी लिए यदि आप सरीखे जानकर सन्तोकी सभामे वक्तृता पर कुछ अधिक रंग चढ़ गया तो महाराज, उसमे दोषके लिए कुछ विशेष स्थान नही रह जाता। यदि सामान्य श्रोताओ और विशेष अधिकारी श्रोताओका संस्कृति-भेद ध्यानमे न रखा जाय और यदि मैं सरसरी तौर पर उन सवको एक ही मालामे पिरोकर निरूपण कर चलूँ, तो फिर आप लोग उस विवेचनको अपने कानोका स्पर्श भी न होने देंगे। यदि शुद्ध सिद्धान्तके निरूपणमे शंकाओका समाधान न हो और विषय जटिलका जटिल ही रह जाय अथवा उसकी जटिलता और बढ जाय, तो श्रोताओका

नामसे उल्लेख किया गया है, हे अर्जुन, वह गुण इसी प्रकारकी मानसिक अवस्था है। जिस पुरुषके शरीर और मनको इस प्रकार की अटल स्थिरता प्राप्त हो जाती है, उसे तुम ज्ञानरूपी धनका खुला हुआ भाडार ही समझो। जिस प्रकार पिशाच अपने रहनेके वृक्षको, द्वन्द्व युद्ध करनेवाला अपने हथियार को अथवा लोभी अपने धनको अपनी आँखोकी ओट नही होने देता अथवा जिस प्रकार माता अपने एक मात्र पुत्रको सदा अपने कलेजेसे लगाये रहती है अथवा जिस प्रकार मधु-मक्खीको सदा मधुका अनिवार्य लोभ रहता है; उसी प्रकार, हे अर्जुन, जो अपने अन्त करणका निरन्तर और खूब जी लगाकर यत्न करता है और उसको इन्द्रियोके द्वार पर पैर भी नही रखने देता, (अर्थात इन्द्रियोके वशमे बिलकुल नही होने देता), जो इस कल्पनासे सदा डरता रहता है कि यदि मेरे इस बालकका नाम भी काम-रूपी हौवेके कानमे पड जायगा या आशा-रूपी डाकिनीकी नजर इसे लग जायगी, तो इसकी जान ही निकल जायगी, अथवा जिस प्रकार अपनी दुश्चरित्रा स्त्रीको उद्दण्ड और प्रबल पति सदा अपने बन्धनमे रखता है, उसी प्रकार जो अपनी प्रवृत्तियोकी भली भाँति अपने बन्धन मे रखता है, जो उस समय भी अपनी इन्द्रियोको भली भाँति निग्रहमे रखता है, जिस समय सजीव देह बहुत कृश हो जाता है और प्राण जानेकी नौबत आ जाती है, जो अपने मनके मुख्य द्वार पर अथवा वृत्तिके पहरे पर अपने शरीर रूपी दुर्गमे शम-दमको सदा पहरेदारोकी भाँति नियुक्त और जाग्रत रखता हैं जो मूलाधार, मणिपूर या नाभि-स्थान और विशुद्ध या कंठ-स्थानके तीन चक्रोमे वज्र, उड्डीयान और जालन्धर नामक तीनो बन्धोकी गश्त बैठाकर अपने चित्तको इडा और पिंगला दोनो नाडियोकी सन्धिमे प्रविष्ट करता है, समाधिकी शय्या पर अपने ध्यानको अच्छी तरह भुलाये रखता है और जिसका चित्त चैतन्यके साथ एक रूप होकर सदा उसी मे रमता रहता है- उसके सम्बन्धमे तुम यह समझ लो कि उसने अपने अन्त करणका पूर्ण रूपसे निग्रह कर लिया है। अन्त.करणका इस प्रकारका निग्रह मानो ज्ञानकी विजय ही हैं। जिस पुरुषकी आज्ञा उसका अन्त करण बिलकुल चुपचाप और सम्मानपूर्वक पालन करता है, उस पुरुषको मूर्तिमान् ज्ञान ही समझना चाहिए।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

जिसके मनमे विषयोके प्रति पूर्ण रूपसे विरक्ति जागृत रहती है, वही ज्ञानी होता है। जिस प्रकार वमन किये हुए पदार्थको देखकर किसीकी जीभसे लार नही टपकती अथवा जिस प्रकार किसी मृत पुरुषको आलिगन करनेके लिए कोई आगे नही बढता अथवा विषको कोई नही निगलता अथवा जलते हुए घरमें कोई प्रवेश नही करता अथवा बाघकी गुफामे कोई अपना निवास नही बनाता अथवा गले हुए लोहेके खौलते हुए रसमे कोई नही कूदता अथवा अजगरको तकिया बनाकर कोई उस पर नही सोता, उसी प्रकार विषयकी बाते जिसे अच्छी नही लगती और जो इन्द्रियोके द्वारा किसी विषयका ग्रहण नही करता, जिसका मन विषयोकी ओरसे सदा उदासीन रहता है,

विषयकी ओर जाने वाला लक्ष्य पिछले पैरों वहाँसे भाग जाता है। जिस जलमें सेवार भरी हुई रहती है, उसकी ओर हंस कभी उलटकर भी नहीं देखता। अथवा यदि चन्द्रमा मेघोंकी आडमें हो जाता है, तो चकोर पक्षी अपा चंचुपुट उत्सुकतासे ऊपरकी ओर उठाकर नही देखता। इसी प्रकार यदि मैं निर्विवाद और निःशंक रूपसे अपना निरूपण न करूँ तो आप लोग भी श्रवणके विषयमें अपना आदर न दिखलावेंगे—इस ग्रन्थको हाथ न लगावेंगे। केवल इतना ही नही, बल्कि उलटे आप लोग और भी क्रुद्ध हो जायँगे। जिस विवेचनमे दूसरे मतोका निराकरण न होगा और जिसमे आक्षेपोका मुँह वन्द न किया जायगा, वह विवेचन आप लोगोको कभी ग्राह्य न होगा। और मैं जो इस ग्रन्थका गुम्फण कर रहा हूँ, इसमें मेरा उद्देश्य यह है कि आप सन्तजन मुझे सदा प्रेम और कृपाकी दृष्टिसे देखे। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो आप ही लोग इस गीतार्थके निकट सम्बन्धी है; और यही जानकर मैंने इस गीताको अपने हृदयसे लगाया है। और इसीलिए मैं यह भी समझता हूँ कि आप लोग अपना ज्ञान-सर्वस्व देकर इसे मेरे पाससे छुड़ा ले जायँगे। यह गीता कोई ग्रन्थ नही है, बल्कि यह मेरे पास धरोहरके रूपमे रखी हुई आप लोगोकी वस्तु है। और यदि आप लोग अपने लोभीपनके कारण अपना ज्ञान-सर्वस्व मुझसे चुराकर रखेंगे और इस गीताको मेरे पास इसी प्रकार रेहन पडी रहने देंगे तो इस गीताका और मेरा एक ही परिणाम होगा। सारांश यह है कि मैं आप लोगो-की कृपा सम्पादित करना चाहता हूँ। और इसी उद्देश्यसे मैंने ग्रन्थ-रचना का यह केवल बहाना किया है। इसी लिए मुझे ऐसा शुद्ध और निर्दोष निरूपण करना पडता है जो आप लोगोको अच्छा लगे। और इसीलिए मैं भिन्न-भिन्न मतोका ऊहापोह करनेके फेरमे पड गया था। परन्तु ऐसा करनेमे बहुत अधिक विस्तार हो गया और मूल श्लोकका अर्थ कहाँका कहाँ चला गया। तो भी आप लोगोको उचित है कि आप इस वालकको क्षमा करे। अन्नके ग्रासमेकी कंकड़ी निकालनेमें यदि समय लगे तो इसमे कुछ दोष नही है, क्योकि कंकडी निकालना तो आवश्यक ही है। यदि वालक-को रास्तेमे ठग मिल जायँ और उन ठगोसे अपना छुटकारा कराके घर आनेमें उस वालकको कुछ देर हो जाय, तो माताको उस वालक पर क्रोध करना चाहिए अथवा उस परसे राई-नोन उतारकर उसे गले लगाना चाहिए ? परन्तु अब इस विषयका और अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नही। आपने मुझे क्षमा कर दिया, वस इसीमे मुझे सव कुछ मिल गया। अव आप लोग यह सुने कि श्रीकृष्णदेवने क्या कहा।

भगवान्‌ने कहा—"भाई अर्जुन, ज्ञानांजनके कारण तुम्हारी दृष्टि खुल तो गई है, परन्तु अव तुम सावधान हो जाओ। अव मैं तुमको वास्तविक ज्ञानका परिचय कराता हूँ। जिसमें इस प्रकारकी क्षमा विराजती हो, जिसमे खेदका कही नाम भी न हो, तुम समझ लो कि उसीको सच्चा और वास्तविक ज्ञान प्राप्त है। जिस प्रकार गहरे सरोवरोमे कमल अथवा भाग्यवान् पुरुषोंके घरोंमें सम्पत्ति होती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, सच्चे ज्ञानी रूपमे क्षमा भरी हुई रहती है। इस क्षमाको पहचाननेके लक्षण अव मैं तुमको पुष्ट रूपसे बतलाता हूँ, सुनो। जिस प्रकार कोई बहुत अच्छा लगनेवाला आभूषण

जिसका शरीर अत्यन्त कृश रहता है और शम दमके सम्बन्धमे जिसके मनमे बहुत उत्साह रहता है, हे अर्जुन, जिसमे समस्त तापोव्रत एकत्र रहते हैं और गाँव या नगरकी भरी हुई बस्तीमे रहना जिसे कल्पान्तके समान दु.खद जान पड़ता है, जिसे योगाभ्यासकी बहुत अधिक लालसा रहती है, जो निर्जन और एकान्त स्थानकी ओर दौड़ता हुआ जाता है और मनुष्योके समाजका जिसे नाम भी अच्छा नही लगता,जो ऐहिक विषयोके भोग-विलासको उतना ही बुरा और त्याज्य समझता है, जितना वाणोकी शय्या पर सोना अथवा पीवके कीचड़मे लोटना, जो स्वर्गके सुखोका वर्णन सुनकर उन सुखोको कुत्तोके सड़े हुए मासके समान समझता है उसका यह वैराग्य ही उसके लिए आत्मलाभका वैभव होता है। इसी प्रकारके वैराग्यके द्वारा जीव ब्रह्मानन्दका सुख भोगनेका पात्र बनता है। इस प्रकार जिसमे ऐहिक और पारलौकिक सुखोके उपभोगके सम्बन्धमे पूरी-पूरी विरक्ति दिखलाई पडे, उसके सम्बन्धमे तुम यह यह समझ लो कि उसीमे विपुल ज्ञान निवास करता है। जो किसी स-काम मनुष्यकी भाँति ही कूएँ और घाट आदि बनवाने के सभी लोकोपयोगी काम करता है, परन्तु उनके कर्तृत्वका अभिमान अपने शरीरको छूने भी नही देता, जो वर्णाश्रम धर्मके पालनके लिए आवश्यक नित्य और नैमित्तिक कर्म किये विना नही रहता, परन्तु फिर भी जिसमे इस प्रकार की भावना तिल मात्र भी नही रहती कि मैंने अमुक कार्य सिद्ध किया है, वही सच्चा ज्ञानी है। जिस प्रकार वायु अपने स्वाभाविक गुणके कारण सभी स्थानोमे संचार करती है अथवा सूर्य अहंकाररहित वुद्धिसे उदय होता है अथवा वेद सहज रूपसे ज्ञानका कथन करते है अथवा गगा विना किसी हेतुके ही सदा वहती रहती है, उसी प्रकार जो अभिमान-रहित होकर सव प्रकार के आचरण और व्यवहार करता है, जो ठीक उसी प्रकार अहंभावसे रहित होकर नित्य कर्मोका आचरण करता है, जिस प्रकार उपयुक्त ऋतु आने पर वृक्ष फल तो देते है, परन्तु इस प्रकारका अहकारपूर्ण ज्ञान उन्हे नही होता कि हम दूसरोको फल दे रहे हैं और इस प्रकार जिसके मन कर्म और वचनमे अहंकारका पूर्ण रूप से नाश हो जाता है, वही सच्चा ज्ञानी है। जिस प्रकार किसी हारको पिरोनेवाली डोरी निकल जाती है अथवा आकाशमे मेघोके इधर-उधर चलते रहने पर भी आकाश पर उन मेघोका दाग नही लगता, उसी प्रकार जिसके शरीर से कर्म तो हो जाते हैं, परन्तु फिर भी जो उन कर्मोसे निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार मद्यपान करनेवालेको अपने शरीर परके वस्त्रोकी अथवा चित्रको अपने हाथमे रखे हुए शस्त्रकी अथवा वैलको अपनी पीठ पर लदे हुए शास्त्रीय ग्रन्थो की कुछ भी सुध नही होती ,उसी प्रकार जिसका अहं-भाव विलकुल व्यर्थ हो जाता हैं और उस अहं-भावका जिसे स्मरण भी नही रह जाता, उस पुरुषकी इस स्थितिको निरहंकारता कहते है। जिस मनुष्यमे इस प्रकार की निरहकारता पूर्ण रूपसे दिखाई देती है, उसी-में ज्ञानका निवास होता है, इसमे तिल मात्र भी सन्देह नही। जो जन्म और मृत्यु आदि दु.खोको और रोग तथा वृद्धावस्था आदि संकटोको अपने शरीरमे लगने नही देता और निर्लिप्त होकर उन सवकी ओर देखता रहता है और वह भी किस प्रकार देखता हैं जिस प्रकार कोई साधक पुरुष पिशाचको, योगी पुरुष उपाधिको अथवा साहुलकी सहायतासे मिस्तरी दीवारकी सीधको विना स्वयं अपने स्थानसे हटे हुए

हम बड़े चावसे अपने शरीर पर धारण करते है, उसी प्रकार चावसे वह पुरुष सब बाते सहन करता है। यदि तीनो प्रकारके तापोका पर्वत भी उस पर आ गिरे, तो भी वह तनिक विचलित नही होता। इष्ट वस्तुकी ही भाँति अनिष्ट वस्तु भी वह बहुत ही आदरपूर्वक स्वीकृत करता है। वह मान और अपमान सब सहन करता है, सुख और दुःख सबको समान समझता है और निन्दा अथवा स्तुतिसे चल-विचल नही होता। वह न तो गरमी से तप्त होता है और न सर्दीसे काँपता है, और चाहे कैसा ही विकट प्रसग क्यो न आवे, परन्तु न तो वह भागता ही है और न डरता ही है। जिस प्रकार मेरु पर्वतको अपने शिखरका भार कुछ भी मालुम नही होता अथवा जिस प्रकार नारायणके तीसरे अवतार यज्ञ-वराह पृथ्वी के भारको कुछ भी नही समझते अथवा असख्य भूतोके भारसे जिस प्रकार पृथ्वी नही दबती, उसी प्रकार सुख-दुख आदि द्वन्द्वोके शरीर पर आ पडनेसे वह बिलकुल नही घबराता। जिस प्रकार बहुत-सी नदियो और नदो के समुदाय के साथ आनेवाले अपरम्पार जल समूह-केलिए समुद्र अपना पेट बड़ा कर लेता है और उन सबको अपने पेटमे स्थान देता है, उसी प्रकार उसके सम्बन्धमे कभी कोई ऐसी बात नही होती जो वह सहन न करे। और इतना होने पर भी उसे इस बातका कभी भान भी नही होता कि मैं अमुक अमुक बाते सहन करता हूँ। जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब आत्म-स्वरूप मानकर सहन करता है और उसके लिए उस सहनशीलताका अभिमान करनेका कोई कारण नही होता। हे सखे अर्जुन, इस प्रकारकी भेद-भाव रहित क्षमा जिस पुरुषमे विराजती हो, समझ लो कि उस पुरुषके कारण स्वयं ज्ञानका ही महत्व बढता है। हे पार्थ ऐसा पुरुष ज्ञानका आधार ही होता है। अच्छा अब मैं आर्जवका निरूपण करता हूँ, सुनो प्राणी मात्रके सम्बन्धमे जिस प्रकार प्राण तत्व एक ही प्रकारका सौजन्य दिखलाता है, उसी प्रकार आर्जव भी सबके साथ भेद-भाव-रहित व्यवहार करता है। जिस प्रकार सूर्य कभी किसीका मुँह देखकर (अर्थात किसीको प्रिय समझकर) उसपर अपने प्रकाश का विस्तार नही करता अथवा आकाश तत्व जिस प्रकार समस्त आकाशको सम-भावसे व्याप्त रखता है, उसी प्रकार जिसमे आर्जव होता है, उसका मन अलग अलग मनुष्योके साथ अलग-अलग प्रकारका व्यवहार नही करता, बल्कि सबके साथ बिलकुल एक-सा व्यवहार करता है। बात यह है ऐसा पुरुष जगतकी स्थिति बहुत अच्छी तरह जान चुका होता है और उसे इस बातका पूरा पूरा ज्ञान हो चुका रहता है कि जगत के साथ मेरा आत्ममैक्यका बहुत ही पुराना और बहुत निकटका सम्बन्ध है। और इसी लिए अपने और परायेका उसे कभी भान नही हो सकता। वह पानीकी तरह हर एक आदमीके साथ मिल जाता है, वह अपने मन मे किसीके विषयमे भी बुरा नही मानता, उसके विचार सदा वायुके प्रवाहके समान बिल्कुल सरल रूपसे चलते है और उसे किसीकी प्रकारकी शका या और कोई भाव स्पर्श ही नही करता। जिस प्रकार माता के सामने जानेमे बालकको किसी तरहकी शका नही होती, उसी प्रकार लोगोके सामने अपनी मनोवृत्ति प्रकट करनेमे भी उसे किसी तरह की शका नही जान पडती है। हे अर्जुन, जब कमल एक बार खिल जाता है, तब फिर उसका

देखता रहता है, उसी प्रकार जो मृत्यु और रोग आदिको निर्विकार होकर देखता रहता है, जो अपने पिछले जन्मके दोषोंका उसी प्रकार स्मरण करता रहता है, जिस प्रकार साँप अपने मनमे पिछले जन्मका भी वैर बनाये रखता है और उसे किसी प्रकार दूर नही होने देता, जिसे पूर्व जन्मके दुःख आदि उसी प्रकार खटकते रहते हैं, जिस प्रकार आखोमे बालूका कण खटकता रहता है, अथवा घावमे बाणकी गाँसी खटकती रहती है, जो निरतर यही कहता रहता है कि मैं पीबके गड्ढेमे पडा था, मूत्र-द्वारसे मैं बाहर निकला हूँ और हाय हाय मैंने स्तनपरका पसीना बडे स्वादसे चाटा है और उन्ही सब बातोका विचार करके जिसे जीवनमे सदा घृणा बनी रहती है और जो अपने मनमे इस बातका निश्चय कर लेता है कि अब मै ऐसा काम कभी नही करूँगा जिससे मुझे फिरसे जन्म धारण करना पडे, जिस प्रकार गँवाया हुआ धन फिरसे प्राप्त करनेके लिए जुआरी फिर दाँव लगानेके लिए तैयार हो जाता है अथवा अपने पिताके वैरका बदला चुकानेके लिए पुत्र सदा अवसर ढूँढता रहता है अथवा मारनेसे चिढकर जिस प्रकार कोई क्रोधपूर्वक मारनेवालेका पीछा करता रहता है और उसने उस मारका बदला चुकाना चाहता है, उसी प्रकार जो हाथ धोकर और आवेशपूर्वक जन्मका बन्धन तोडनेके पीछे पडा रहता है अथवा जन्म धारण करनेकी लज्जा जिसके मनमे सदा उसी प्रकार खटकती रहती है, जिस प्रकार किसी प्रतिष्ठित पुरुषके मनमे अपनी मान-हानि खटकती रहती है अथवा, हे अर्जुन, जब किसी तैरनेवालेसे यह कह दिया जाता है कि आगे बहुत गहरा गड्ढा है, उस समय वह तैरनेवाला जिस प्रकार किनारे पर ही खूब अच्छी तरह अपनी लाँग कस लेता है और जलमें उतरनेका विचार छोड देता है अथवा जिस प्रकार बुद्धिमान् पुरुष रणमे जाकर खडे होनेसे पहले ही अपने होश-हवास ठिकाने कर लेता है अथवा घाव लगनेसे पहले ही जिस प्रकार ढाल आगे करनी पडती है अथवा जिस प्रकार यह पता लगने पर कि प्रवासमे कल हम जहाँ चलकर ठहरेंगे, वहाँ कोई भारी आपत्ति आनेकी सम्भावना है, मनुष्य एक दिन पहलेसे ही सावधान हो जाता है अथवा प्राण निकलनेसे पहले ही जिस प्रकार औषधके लिए दौड-धूप करनी पडती है, इसी प्रकार जो यह समझकर तत्काल ही सावधान हो जाता है कि मृत्यु चाहे आज हो और चाहे कल्पान्तमे हो, परन्तु वह होगी अवश्य, और यदि इस प्रकार मनुष्य पहलेसे ही सावधान न हो तो उसकी अवस्था उसी मनुष्यके समान हो जाती है, जो जलते हुए घरमे पडा रह जाता है और जिसे फिर उस समय कूआँ खोदनेका अवसर ही नहीं मिलता और वह डरकर उसी तरह जहाँका तहाँ रह जाता है, जिस प्रकार गहरे जलमे फेंका हुआ पत्थर चुपचाप पडा रह जाता है और किसीको उसकी पुकार भी नही सुनाई पडती और इसी लिए जो उसी प्रकार आठो पहर सावधान रहता है, जिस प्रकार किसी बडे वह पुरुष सावधान रहता है, जिसका बलवानके साथ बहुत प्रबल वैर हो जाता है अथवा जिस प्रकार विवाहके योग्य कन्या पहलेसेही अपने मायकेके वियोगके लिए तैयार हो जाती है अथवा सन्यास लेनेवाले पुरुष पहलेसे ही संसारका त्याग करनेके लिए तैयार रहता है, उसी प्रकार जो पुरुष मरनेसे पहले ही मृत्यु पर ध्यान रखकर अपने सब व्यवहार और आचरण करता है और इस प्रकार

कोई भाग बन्द नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार उसका मन भी बिलकुल खुला रहता है और उसमें कहीं कोई बन्द या छिपा हुआ अंश नही रह जाता। जिस प्रकार कोई रत्न एक तो पहलेसे ही स्वच्छ हो और ऊपरसे उसपर तेजस्वी किरण पड़े, उसी प्रकार उसका मन एक तो पहले ही बिलकुल निर्मल होता है और फिर उस मनके साथ होनेवाली क्रियाएँ भी उतनी ही निर्मल होती है। उसे कभी किसी बातके सम्बन्धमे इस प्रकारका आगा-पीछा नही होता कि मैं यह बात कहूँ या न कहूँ, और वह अपना वास्तविक अनुभव बिलकुल ठीक-ठीक प्रकट कर देता है। अपने मनकी आधी बात छिपाना और आधी प्रकट करना वह बिलकुल जानता ही नही। उसकी दृष्टिमे कपट नामको भी नही रहता और उसकी बातोंमें न तो कोई दुराव ही होता है और न अस्पष्टता ही होती है। वह किसीके साथ तुच्छताका व्यवहार नही करता। उसकी दसो इन्द्रियाँ बिलकुल निष्कपट, सरल और शुद्ध होती है और दिन-रात उसके प्राणोके पाँचो द्वारा बिलकुल खुले रहते है। उसका अन्तरंग अमृतकी धाराके समान सरल होता है। तात्पर्य यह कि जिस पुरुषमे ये सब लक्षण खूब अच्छी तरह दिखाई देते हो, हे वीर श्रेष्ठ अर्जुन, उसके सम्बन्धमें तुम यह बात अच्छी तरह समझ लो कि वह आर्जव गुणका पुतला है और उसमे ज्ञान अपना घर बनाकर रहता है। हे चतुर-श्रेष्ठ अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि गुरुकी भक्ति किस प्रकार की जानी चाहिए। ध्यान देकर सुनो। यह गुरुसेवा मानो भाग्यकी जननी है, क्योकि जिस जीवकी स्थिति परम शोचनीय हो, उसे भी यह ब्रह्म-स्वरूप-की प्राप्ति करा देती है। इसी गुरुभक्तिके सम्बन्धकी सब बातें मैं तुमको स्पष्ट रूपसे बतलाना चाहता हूँ; इसलिए तुम अपना अवधान बिलकुल एकाग्र करो। जिस प्रकार समस्त जलकी सम्पत्ति अपने साथ लेकर नदी समुद्रकी ओर जाती हैं अथवा समस्त महासिद्धान्तोके साथ वेद-विद्या ब्रह्म-पदमे स्थिर होती है अथवा जिस प्रकार सती स्त्री अपने पाँचो प्राण एकत्र करके अपने समस्त गुणो और अवगुणोके सहित अपने प्रिय पतिको अर्पण करती है, उसी प्रकार जो अपना सर्वस्व गुरु-कुलमे अर्पित कर देता है और जो स्वयं गुरु-भक्ति मायका (जन्म स्थान) बन जाता है; जो गुरु-गृहके स्थानका उसी प्रकार चिन्तन करता है, जिस प्रकार विरहिणी स्त्री अपने पतिका चिन्तन करती रहती है, गुरु-गृहके स्थानकी ओरसे हवाको आते हुए देखकर जो उसका सम्मान करनेके लिए दौड़कर उसके आगे जा खड़ा होता है और उसके सामने जमीन पर लोटकर उससे प्रार्थना करता है कि—"मेरे घरमे आओ।' सच्चे प्रेमके कारण जिसे गुरु-गृहकी दिशाके साथ ही बाते करना अच्छा लगता है और जो अपने जीवको गुरु-गृहका हकदार बना रखता है, जिसका शरीर गुरुकी आज्ञाके साथ बँधा होनेके कारण गुरुसे दूर और अपने घर रहने पर भी उसी प्रकार बन्धनमे पड़ा रहता है, जिस प्रकार बछड़ा रस्सीसे बँधा हुआ गोशालामे पडा रहता है, परन्तु फिरभी उसी बछडेकी तरह जो निरन्तर अपने मनमें यही कहता रहता है कि यह रस्सीका बन्धन किस प्रकार टूटेगा और किस प्रकार कब मुझे गुरुदेवके दर्शन मिलेंगे, जिसे अपने गुरुके विरहका प्रत्येक क्षण युगसे भी बढ़कर जान पड़ता है और

जो पुरुष अपने इसी जन्मसे अपने समस्त भावी जन्मोका और इसी जन्मके होनेवाली मृत्युसे भावी जन्मोकी मृत्युका अन्त कर डालता है और स्वयं केवल आत्म-स्वरूपसे बचा रहता है, उसके घरमें ज्ञानकी कभी कोई कमी नही रहती। जिसके लिए जन्म और मृत्युका कोई खटका नही रह जाता, जिसके शरीरको वृद्धावस्था कभी स्पर्श नही करती और इसी लिए जो सदा अपने आपको यौवनावस्थाकी उमंगोमे ही रखता है, वही ज्ञानी है। वह अपने आपसे कहता है कि आज मेरे जिस शरीरमे पुष्टि दिखाई देती है, वह शीघ्र ही सूखी हुई कचरीके समान हो जायगा, अभागे पुरुषके व्यवहारकी तरह कभी न कभी ये हाथ-पैर थककर व्यर्थ हो जायँगे और इस बलकी अवस्था ऐसे राजाके समान हो जायगी, जिसे परामर्श देनेवाला कोई मंत्री नही होता। जिस मस्तकको आज-कल फूलोका इतना शौक है, वही यह मस्तक शीघ्र ही ऊँटके घुटनेके समान हो जायगा। आषाढ मासकी हवा लगनेके कारण पशुओके खुरोकी रोगी होनेसे जैसी दुर्दशा हो जाती है, वैसी ही दुर्दशा मेरे इस मस्तककी भी होगी। आज तो मेरे ये नेत्र कमलकी पंखडियोके साथ स्पर्धा कर रहे हैं, परन्तु शीघ्र ही ये पके हुए चिचड़े के समान निस्तेज हो जायँगे। ये भौहोके परदे पुरानी छालके समान लटकने लगेंगे और यह वक्षस्थल नेत्रोके जलसे भीगकर सडने लगेगा। जिस प्रकार बबूलके पेड़ पर आने-जानेवाले गिरगिट गोदसे लिपटे रहते हैं, उसी प्रकार मेरा यह मुख भी थूकसे लिथडा रहेगा। जिस-प्रकार रसोई-घरके सामनेके गड्ढे गन्दे और राखके पानीसे भरे रहते है, उसी प्रकार यह नाक कफसे भरी रहेगी। जिस मुखके होठोको मैं रँगता हूँ, हँसते समय जिसमेके दाँत दिखलाता हूँ और जिससे मैं सुन्दर-सुन्दर बाते कहता हूँ, उसी मुखसे कलको लारका प्रवाह बहने लगेगा और सब दाँतोके साथ साथ दाढ़े भी गिर जायँगो। जिस प्रकार ऋणके भारसे दबे हुए खेतिहर अथवा बरसातकी झडीके कारण पशु चुपचाप दबे हुए पड़े रहते हैं और किसी प्रकार उठना जानते ही नही, उसी प्रकार लाख प्रयत्न करनेपर भी यह जीभ किसी तरह हिल या उठ न सकेगी। जिस प्रकार सूखी हुई घासके पूले हवाके झोकोसे जमीन पर इधर-उधर उड़ते रहते है, उसी प्रकारकी दुर्दशा मुँहके अन्दरकी दाढोकी होगी। जिस प्रकार आकाशकी वर्षाके कारण पहाडियोके शिखरो परसे पानीके झरने बहते रहते हैं, उसी प्रकार मेरे मुँहकी खिडकीमेसे लारकी नदियाँ बहने लगेगी। वाचा कुछ बोल न सकेगी, कान बहरे हो जायँगे और सारा शरीर एक बहुत बडे बन्दरके समान दिखाई देने लगेगा। जिस प्रकार घास-फूसका बनाया हुआ और खेतमे खड़ा किया हुआ पुतला हवाके झोकोसे बराबर आगे और पीछेकी तरफ हिलता या झूलता रहता है, उसी प्रकार मेरा यह सारा शरीर भी थर-थर काँपने लगेगा। चलनेमे पैर टेढे-तिरछे पड़ेगे, हाथ टेढे और बेकाम हो जायँगे और तब मानो सौन्दर्यका एक बढ़िया स्वाँग खडा होकर नाचने लगेगा। मल और मूत्रके द्वारोमे निरोधकी शक्ति नहीं रह जायगी और सब लोग यही मानने लगेगे कि मैं किसी तरह मर जाऊँ जिससे उनका पीछा छूटे। सारा ससार मेरी ओर देखकर थूकने लगेगा, मृत्युसे बार बार कहना पड़ेगा कि तू किसी तरह जल्दी से आकर मुझे उठा ले जा और मेरे सगे-सम्बन्धी भी मुझसे दब जायँगे। स्त्रियाँ मुझे भूत कहेगी और लड़के-

ऐसी अवस्थामे यदि उसके गुरुके निवासस्थानसे कोई व्यक्ति आता है अथवा उसका गुरु किसीको उसके पास भेजता है, तो उसे वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है, जैसा किसी मरणोन्मुख व्यक्तिको आयुष्य प्राप्त होने पर होता है अथवा सूखे हुए अंकुरको जिस प्रकार अमृतकी वर्षा होनेके कारण प्राप्त होता है अथवा किसी छोटेसे गड्ढेमें रहनेवाली मछलीको समुद्रमे पहुँच जाने पर होता है अथवा किसी परम दरिद्रको कही कोई गड़ा हुआ खजाना दिखाई पड़ने पर होता हैं अथवा अन्धेको दृष्टि प्राप्त होने पर होता है अथवा किसी दरिद्रको इन्द्र पद प्राप्त होने पर होता है। इसी प्रकार वह गुरुकुलका नाम सुनने ही सुखके रससे ओत प्रोत होकर इतना फूल जाता है कि वह आकाशको भी सहजमें आलिंगन कर लेता है। गुरु-कुलके प्रति इस प्रकारका प्रेम जिस व्यक्तिमे तुमको दिखाई पडे, हे अर्जुन, उसके सम्बन्धमें तुम यह बात अच्छी तरह समझ लो कि उसको सेवाका ज्ञान निरन्तर सिद्ध रहता है। वह अपने प्रेम-गुणकी सामर्थ्यसे अपने अन्त.करणमे अपनी गुरुदेवकी मूर्ति स्थापित करके ध्यानके द्वारा उसीकी उपासना करता है। वह अपने हृदयकी निर्मलताके कोटमें अपने आराध्य गुरुदेवको दृढतापूर्वक स्थापित करके स्वयं बहुत ही भक्ति भावसे उनका सारा परिवार बन जाता है। ज्ञानके चबूतरे पर आत्मानन्दके मन्दिरमे अपने गुरुदेव-कीमूर्ति स्थापित करके वह ध्यान रूपी अमृतकी धार पर चढाता है। ब्रह्म-बोधका सूर्योदय होते ही अपनी बुद्धि-रूपी टोकरी सात्विक भावोसे भरकर अपने गुरुदेव रूपी शंकर पर उन्ही भावोकी लखौरी चढाता है, दिवसके तीनो कालो अर्थात् प्रात काल, मध्यान्ह और सायंकालके शास्त्रोक्त समयोमे जीव भावका धूप जलाकर ज्ञानके दीपकसे वह सदा गुरुदेवकी आरती करता है। फिर उन्हे समस्त ब्रह्मैक्यका नैवेद्य अर्पित करता है। इस प्रकार वह स्वयं तो पुजारी बनता है और अपने गुरुको आराध्य देवता बनाना है। कभी-कभी उसकी बुद्धि जीवकी शय्या पर गुरुराजकी पतिके रूपमे कल्पना करके उनकी सगतिका सुख-भोगती है और प्रेमके आनन्दका अनुभव -रती है। कभी कभी उसके अन्तरंगमे प्रेमकी ऐसी लहर उठती है कि वह उसका नाम क्षीर-समुद्र रख देता है। उसके इस प्रेम-समुद्रमे ध्यान-सुखके निर्मल शेष-मचक पर उसके गुरु-रूपी नारायण जल-संचयमें निद्रा लेते रहते हैं। फिर इन गुरु-रूपी नारायणके पैर पर चबानेवाली लक्ष्मी वह स्वयं ही बनता है और हाथ जोडकर पास खडा रहनेवाला गरुड़ भी वह आप ही बनता है। उन गुरु-रूपी नारायणके नाभि-कमलसे जन्म लेने वाले ब्रह्माकी भी वह अपने आपमे ही कल्पना करता है। इस प्रकार वह गुरु-मूर्तिके प्रेममे मानसिक ध्यान सुखका अनुभव करता है। कभी कभी वह यह भी कल्पना करता है कि श्री गुरुदेव मेरी माता हैं; और तब वह उनकी गोदमे लोटता है और उनके स्तन-पानका भी कल्पित सुख भोगता है। अथवा हे अर्जुन, कभी कभी वह यह भी कल्पना करता है कि ज्ञान रूपी वृक्षकी शीतल छायामे श्री गुरुदेव धेनु माताके समान हैं और मैं उनका बछड़ा हूँ। अथवा कभी कभी वह यह समझता है कि गुरुदेवकी कृपा तो जल है और मैं उसमेकी मछली हूँ। अथवा गुरुकी कृपा तो जलकी वर्षा है और मैं उस वर्षासे बढनेवाला

बच्चे मुझे देखकर घबरा और डर जायँगे और इस प्रकार मैं सबको घृणाका पात्र बन जाऊँगा। कफकी प्रबलता होने पर जब मैं खो-खो खरके खाँसूँगा, तब अड़ोसी-पडोसियोकी नीद टूट जायगी और वह कहने लगेगे कि यह बुड्ढा अभी न जाने और कितने लोगोको सतावेगा। इस प्रकार जो व्यक्ति युवावस्थामें ही अपनी भावी वृद्धावस्थाके लक्षणोका ध्यान रखता है और तब अपने मनमें उन सब लक्षणोसे घृणा करने लगता है, वही ज्ञानी है। वह अपने मनमे कहता है कि अन्तमे शरीरकी इसी प्रकारकी दुर्दशापूर्ण अवस्था होगी और शारीरिक भोगोको भोग चुकनेके उपरान्त इस शरीरका अन्त हो जायगा, तब अपने कल्याणका साधन करनेके लिए मेरे पास बच ही क्या जायगा? इसी लिए जब तक बहरापन न आवे, उससे पहले ही सब कुछ सुन लेना चाहिए और जब तक शरीरमे पंगुता न आवे, तबतक सब जगहकी यात्रा आदि कर लेनी चाहिए। जब तक नेत्रोमे दृष्टि है, जब तक जो कुछ देखते बने, वह देख लेना चाहिए और जब तक वाचा मूक न हो, तब तक मधुर भाषण कर लेना चाहिए। हमे यह बात अभीसे अच्छी तरह मालुम हो गई है कि आगे चलकर हमारे ये हाथ लूले हो जायँगे। लेकिन उन हाथोके लूले होनेसे पहले ही दान आदि समस्त पुण्य कर्म इन हाथोसे करा लेने चाहिएँ। आगे चलकर जब इस प्रकारकी हीन अवस्था आवेगी, तब चित्त बिलकुल पागलोके समान हो जायगा। इसलिए ऐसी अवस्था आनेसे पहले ही शुद्ध ज्ञानका संग्रह कर लेना आवश्यक है। यदि आज हमे यह पता लग जायगा कि कल चोर आकर हमारी सारी सम्पत्ति लूट ले जायँगे, तो अच्छा यही है कि आज ही हम उसकी रक्षाकी व्यवस्था कर लें। दीपकके बुझनेसे पहले ही उसे हवासे बचानेके लिए ढक देना चाहिए। जब वृद्धावस्था आवेगी, तब यह सारा शरीर व्यर्थ हो जाएगा। इसलिए आजसे ही इस शरीरसे बिलकुल निर्लिप्त होकर रहना आरम्भ कर देना ही उचित है। जो यह जानता है कि आगे नाकेबन्दी या रक्षाका प्रबन्ध नही है अथवा यह देखता है कि आकाशमे मेघ घिर रहे है, लेकिन फिर भी जो इन सब बातोकी ओर ध्यान न देकर घरसे बाहर निकल पड़ता है, उसका अवश्य ही घात होगा। इसी प्रकार जब वृद्धावस्था आवेगी, तब यह शरीर धारण करना बिलकुल व्यर्थ हो जायगा। ऐसी अवस्थामे यदि मनुष्यकी आयु सौ वर्षोकी भी हो तो भी यह समझमे नही आता कि उसके इतने दीर्घजीवी होनेमे क्या लाभ है। जिन तिलोके डठलोमेसे एक बार झाडे जानेके कारण तिल निकल जाते है, वे डठल यदि फिर झाडे जायँ तो उनमेसे तिल नही निकलते। अग्नि भले ही हो, परन्तु वह राखको नही जला सकती। इसलिए जब एक बार वृद्धावस्था आ जाती है, तब उस मनुष्यके हाथसे भी कुछ भी नही हो सकता जिसकी आयु सौ वर्षोकी होती है। इसलिए जो मनुष्य सदा यह स्मरण रखता है कि वृद्धावस्था आनेवाली है और यौवन कालमे ही इस बातका प्रयत्न करता है कि मैं उस वृद्धावस्थाके हाथोमे न पडने पाऊँ, उसी पुरुषके सम्बन्धमे यह समझना चाहिए कि इसमे सच्चा ज्ञान है। इसी लिए जब तक नाना प्रकारके रोग आकर सामने खडे नही हो जाते, तब तक वह अपने इस नीरोग शरीरका पूरा-पूरा उपयोग कर लेता है। जिस प्रकार साँकेप

सेवा-वृत्ति-रूपी पौधा हूँ। तात्पर्य यह कि अनुरागके इन प्रकारोका कही अन्त ही नही है। वह कभी कभी ऐसी कल्पना भी करता है कि मै पक्षीका एक ऐसा बच्चा हूँ, जिसकी चोच और पंख अभी अच्छी तरह खुले नही है और गुरु मेरी माता पक्षिणी है और उनकी चोचमेंसे मै चारा लेता हूँ। कभी वह यह कल्पना करता है कि गुरुदेव नौका हैं और मैं उन्हीके आश्रयमे पडा हुआ हूँ। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार ज्वार आने पर समुद्रमे बराबर लहरे उठती है, उसी प्रकार उसके प्रेमकी लहरें भी ध्यानकी परम्परा बराबर चलाती चलती है। सारांश यह कि इस प्रकार वह अपने मनमे निरन्तर गुरुकी मूर्त्ति का उपभोग करता रहता है। अब यह सुनो कि वह अपने गुरुदेवकी दृश्य या प्रत्यक्ष सेवा किस प्रकार करता है। उनके मनमें सदा यही भाव बना रहता है कि मैं अपने गुरुदेवको ऐसी सेवा करूँ कि कि वे प्रसन्न होकर कहे—"वाह वा रे शिष्य, तुझे जो वर चाहता हो, वह वर माँग।" वह सोचता है कि जब गुरुदेव सचमुच इस प्रकार प्रसन्न हो जायँ, तब मैं उनसे विनय-पूर्वक कहूँ—"हे महाराज, मेरी यह इच्छा है कि आपका जो कुछ परिवार हो, वह सारा परिवार एक मैं ही होऊँ। और आपके उपयोग मे आने वाले जो जो उपकरण है, उन सबके रूप भी मैं ही धारण करूँ।" और जब मैं स्वामीसे इस प्रकारका वर मागूँ, तब वे प्रसन्न होकर "तथास्तु" कहे और एक मात्र मैं ही उनका सारा परिवार बन जाऊँ। वह सोचता है कि जब गुरुदेवकी सेवाके समस्त उपकरण मैं ही बन जाऊँगा, तभी मुझे गुरुकी सेवाका वास्तविक कौतुक देखनेको मिलेगा। यो तो गुरुदेव सभीकी माता है, परन्तु मैं उन पर ऐसा दबाव डालूँगा कि वे केवल मेरी ही माता होकर रहे। उनके प्रेमको भी मैं इस प्रकार बेधूँगा कि मेरे साथ एक पत्नी व्रतवाला आचरण करें और उनसे क्षेत्रसन्यासके व्रतका इस प्रकार आचरण कराऊँगा कि उनका प्रेम निरन्तर मेरी ही सीमामें रहे। जिस प्रकार नित्य बहनेवाली वायु चारो दिशाओकी सीमाके बाहर नही जाती, उसी प्रकार मै भी पिंजरा बनकर गुरुदेवकी समस्त कृपाको केवल अपनेमे ही आबद्ध रखूँगा। गुरु-सेवा रूपी स्वामिनी-को मैं अपने समस्त सद्गुणोके नगोसे सजाऊँगा। केवल यही नही, बल्कि मैं ही गुरु-भक्तिका सारा आच्छादन बन जाऊँगा और दूसरे किसीको वह आच्छादन नही बनने दूँगा। जब गुरुके प्रसादकी वर्षा होने लगेगी, तब केवल मैं ही पृथ्वी बनकर उसके नीचे रहूँगा। वह अपने मनमे सदा इसी प्रकारके अनेक मनोरथोंकी रचना करता है। वह कहता है कि मैं गुरुदेवका घर बनूँगा और उस घरमे आप ही दासके समान रहकर उनके सब काम करूँगा। उदार और दाता गुरुदेव आने जानेमे जो डेवढियाँ लाघेंगे, वह डेवढियाँ भी मै ही बनूँगा और द्वारपाल बनकर मैं ही द्वार पर पहरा भी दूँगा। मैं ही उनकी पादुका बनूगा और मैं ही उन्हे वह पादुका पहनाऊँगा। मैं ही उनके ऊपर छाया करनेके लिए छाता भी बनूंगा और छत्र लगाने-वालेकी सेवा भी मैं ही करूँगा। मैं ही रास्तेकी ऊँची-नीची भूमि बतलानेवाला चोब-दार बनूगा। मै ही हाथ पकड़नेवाला बनूंगा और मै ही उनके आगे मशाल लेकर चलनेवाला मशालची बनूंगा। मै ही उनकी झारी बनूंगा और मैं ही उन्हे कुल्ला भी कराऊँगा; और वे जो कुछ कुल्ला करके मुँहसे फेंकेंगे, उसे धारण करनेवाला

मुँहसे उगली हुई अन्नकी गोली बुद्धिमान् मनुष्य दूर फेक देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी वह सारा ऐहिक ममत्व दूर कर देता है, जिसके वियोगसे दु ख, संकट और शोक आदिका पोषण होता है और वह आत्म-सुखसे पूर्ण होकर तथा निस्पृह होकर रहता है। कर्मोके जिन द्वारोसे होकर दोष इस शरीरमें प्रवेश करते है, उन सब द्वारोको वह यम-नियमोको सहायतासे बिलकुल बन्द कर देता है। इस प्रकार जो बहुत युक्तिसे और सावधान होकर सब काम करता है, केवल उसीको ज्ञान-रूपी सम्पत्तिका स्वामी समझना चाहिए। हे अर्जुन, अब मैं तुमको एक और लक्षण बतलाता हूँ, सुनो।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

"जो अपने इस शरीरकी ओरसे उसी प्रकार उदासीन रहता है, जिस प्रकार यात्री उस धर्मशालासे उदासीन रहता है जिसमें वह जाकर एक-दो दिनके लिए निवास करता है और मार्गमे चलते समय वृक्षकी छायाके साथ मनुष्यका जितना ममत्व होता है, उतना ममत्व भी जिसे इस घर अथवा शरीरके सम्बन्धमें नही होता, जिसे स्त्रीका उसी प्रकार बिलकुल लोभ नही होता, जिस प्रकार किसीको सदा अपने साथ रहनेवाली छायाका लोभ नही होता और कभी उसका स्मरण भी नही होता, जो अपने आगे बालबच्चोके रहते हुए भी उनके सम्बन्धमे सदा यही समझता है कि ये मार्ग चलनेवाले यात्रियोकी तरह कुछ समयके लिए मेरे पास आ ठहरे हैं अथवा जो उन बाल-बच्चोको वृक्षकी छायामे आकर खडे होनेवाले पशुओके झुडके समान समझता है, हे अर्जुन, सम्पत्तिकी राशि पर लौटते रहने पर भी जो केवल मार्ग चलनेवाले पराये आदमीकी तरह उसका साक्षी मात्र रहता है, जो पिंजरेमें बन्द रहनेवाले तोते की तरह वेदोकी आज्ञा और मर्यादाका पालन करता हुआ नीतिपूर्वक आचरण और व्यवहार करता है, परन्तु फिर भी जो स्त्री और बाल बच्चोकी माया और ममताके जालमे नही फँसता, उसीके सम्बन्धमे समझना चाहिए कि वह ज्ञानका पालन करनेवाला है। समुद्र जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतुमे भी और वर्षा कालमे भी समान रूपसे भरा रहता है, उसी प्रकार जो अनिष्ट और इष्ट सब कुछ होने पर भी सदा अविकृत रहता है, वही ज्ञानसे सम्पन्न है। लोग दिनके तीन भाग करते हैं, परन्तु सूर्य उन तीनो भागोमे कभी तीन तरहका नही होता। इसी प्रकार सुख और दु खके कारण जिसमे भिन्नत्व उत्पन्न नही होता, जिसमे गगनके समान ही सदा पूरा-पूरा ज्ञान-भाव दिखाई देता है, हे अर्जुन उसीके सम्बन्धमे तुम समझ लो कि उसका ज्ञान पूरा है और सदा ठीक रहता है।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

'मेरे सम्बन्धमें जिस मनुष्यने अपने मनमे यह दृढ निश्चय कर लिया है कि मुझ (अर्थात् श्रीकृष्ण) से बढकर ससारमे और कोई नही है, जिसका शरीर, वाणी और मन इस दृढ निश्चयका सत्व पान कर चुके होते हैं और जो मेरे सिवा किसी दूसरेकी ओर नही देखता, अन्त.करण निरन्तर मेरे समीप रहनेके कारण जो मेरे साथ एक ही

पीकदान भी मैं ही बनूँगा। मैं ही उनका पानदान बनूँगा और पान खाकर जब वह थूकेंगे. वह भी मै ही लूँगा। उनके स्नानकी तैयारी भी मैं ही करूँगा। मैं ही उनका आसन, अलंकार, वस्त्र और चन्दन आदि उपचार भी बनूँगा। मैं ही उनका रसोइया बनकर उनके आगे अन्नका महानैवेद्य लगाऊँगा और मैं ही अपनी आत्मासे उनकी आरती उतारूँगा। जिस समय श्री गुरुदेव भोजन करने वैठेंगे, उस समय उनकी पंक्तिमे मै ही वैठूँगा और भोजनके उपरान्त मैं ही आगे वढकर उन्हे पानोके वीडे दूँगा। उनकी जूठी थाली और बरतन आदि भी मैं ही उठाऊँगा, मैं ही उनका बिस्तर बिछाऊँगा और मैं ही उनके पैर दवाऊँगा। मैं ही उनके वैठनेके लिए मच या सिहासन वनूँगा और जव उस मंच पर गुरु महाराज वैठेंगे, तब अपनी गुरु-सेवाकी पराकाष्ठा समझूँगा। जिन चमत्कारपूर्ण वातो और मनोविनोद आदिमे गुरुदेवका मन रमेगा, वे सव वाते भी मैं ही वनूँगा। जिस समय उनका ग्रन्थ-श्रवण होगा, उस समय शव्दोका समूह भी मैं ही वनूँगा; और जिस समय वे अपना कोई अंग खुजलावेंगे उस समय उनके स्पर्श-ज्ञानका रूप भी मैं ही धारण करूँगा। जिन जिन रूपोको गुरुदेव स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखेंगे, वे सब रूप भी मै ही वनूगा। उनकी जिह्वाको जो जो रस अच्छे लगेगे और उनकी नाकको जो जो सुगन्धियाँ अच्छी लगेंगी वे रस और सुगन्धियाँ भी मैं ही वनूँगा। इस प्रकार शिष्य अपनी दृश्य सेवाके सम्वन्धमे अपने मनमे बरावर यही कहता रहता है कि अपने गुरुके उपयोगकी समस्त वस्तुएँ मैं ही वनूँगा और समस्त गुरु-सेवाको मैं अकेला ही व्याप्त कर लूँगा। जव तक शरीर रहता है, तब तक तो इस प्रकार सेवा की जाती है, और जव देह-पात हो जाता है, तब गुरु-सेवाका कुछ और ही प्रकार उसकी वुद्धिको सूझता है। वह कहता है कि देह-पात होने पर मै अपने इस शरीरकी मिट्टी उसी भूमिमे मिलाऊँगा जिस पर गुरु अपने चरण रखकर खडे होगे। मेरे गुरुदेव जिस पानीको सहजमे स्पर्श करेगे, उसी पानीमे मैं अपने शरीरका जलीय अश मिला दूँगा। जिस दीपकसे गुरुदेव आरती करेंगे अथवा जो दीपक उनके घरमे जलेगा, उस दीपकके तेजमे मैं अपने शरीरका तेजवाला अश मिला दूँगा। गुरुदेवके चँवर या पखेमे मैं अपनी प्राण-वायु रखूँगा जिससे मुझे गुरुदेवकी सेवा और स्पर्श दोनोका ही सौभाग्य प्राप्त होगा। जिन जिन स्थलोमे गुरुमूर्ति रहेगी, उन उन स्थलोके आकाश तत्वमे मै अपने शरीरका आकाशवाला अश लीन करूँगा। चाहे मैं जीता रहूँ और चाहे मर जाऊँ, परन्तु गुरु-सेवाका यह व्रत मैं कभी न छोडूँगा। मै इस प्रकारकी सेवा कल्पान्त कोटि तक करता रहूँगा और क्षण भरके लिए भी वह सेवा किसी दूसरेको करने न दूँगा। जिस शिष्यमे इस प्रकारका धैर्य होता है और जिसकी गुरु-सेवाके लिए स्थल या कालकी कोई सीमा अथवा मर्यादा नही होती, जो सेवा करनेमे रात और दिनका कुछ भी ध्यान नही करता और उसके सम्वन्धमे कभी यह नही कहता कि यह सेवा थोडी हुई या वहुत, उलटे गुरुदेवके वतलाये हुए कार्यकी कठिनतासे और भी ताजा और हृष्ट-पुष्ट होता है, गुरुका वतलाया हुआ काम चाहे आकाशसे भी वडा हो, परन्तु फिर भी जो अकेला ही वह काम पूरा कर डालता है, किसी कार्यके सम्वन्धमे

शय्या पर सोता है, जो मेरे पास उसी प्रकार खुले मनसे आता है, जिस प्रकार कोई धर्म-पत्नी अपने पतिके पास खुले मनसे और वेधड़क होकर जाती है, जो मेरे स्वरूप-के साथ ठीक उसी प्रकार सम-रस हो जाता है, जिस प्रकार गगाजल जाकर समुद्रमे मिल जाता और उसके जलके साथ सम-रस हो जाता है, जो पूर्ण रूपसे मेरी ही भक्ति करता है, सूर्यके साथ ही साथ उदित होने और उसके साथ ही साथ अस्त होनेके कारण सूर्यकी प्रभाको सूर्यके साथ जिस प्रकार की एकता शोभा देनी है, और जिस प्रकार पानीके पृष्ठभाग परका अंश यदि सहज रूपसे हिलता है, तो उसीको लोग 'लहर' कहते हैं, परन्तु वास्तवमे वह पानी ही होता है, ठीक उसी प्रकार जो एकनिष्ठ भक्त मेरे साथ एक रूप होकर मेरी सेवा करता है, वह केवल ज्ञानका पुतला ही होता है। जिस पुरुषको तीर्थो, पवित्र नदियोके किनारो, शुद्ध तपोवनो, जंगलोकी गुफाओ और इसी प्रकारके दूसरे एकान्त स्थानोमे रहनेका शौक होता है, जो पर्वत मालाओकी गुफाओ या सरोवरोके पासके प्रदेशोका वहुत आदरपूर्वक सेवन करता है और जो नगरोमे कभी नही आता, जिसे एकान्त-वास बहुत अच्छा लगता है और मनुष्योकी बस्तीसे जो सदा दूर रहना चाहता है, उस पुरुषको मनुष्य-देह-धारी ज्ञान ही समझना चाहिए। हे अर्जुन, तुम्हे ज्ञानका अच्छी तरह स्पष्टीकरण करानेके लिए मै एक और लक्षण बतलाता हूँ।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

"जिस ज्ञानकी सहायतासे परमात्मा अर्थात वह एकमेवाद्वितीय वस्तु दिखाई देती है, केवल वही ज्ञान सच्चा है। इसके सिवा संसार और स्वर्ग आदिके सम्बन्धके जो ज्ञान हैं, उन सवको जो अपने मनमे निश्चयपूर्वक वास्तवमे अज्ञान समझ लेता है, जो स्वर्ग सम्बन्धी ज्ञानको तिलाजलि दे देता है, जो सासारिक विषयो की वातोको कभी अपने कानो तक पहुँचने ही नही देता और केवल निर्मल भावनासे अध्यात्म-ज्ञानमे निमग्न रहता है, जो और सब ज्ञानोको एक ओर रखकर अपनी बुद्धिको ठीक उसी प्रकार अध्यात्म ज्ञानके मार्गमे आगेकी ओर बढाता है, जिस प्रकार कोई यात्री मार्ग भूल जाने पर टेढी-तिरछी गलियाँ छोडकर राज मार्ग पर चलना आरम्भ करता है, जो अपने मनमे कहता है—"यही एकमात्र सत्य है और दूसरे समस्त विषयोका ज्ञान कोरा भ्रम है।" और यही समझकर जो दृढ निश्चयपूर्वक अपने मनमे मेरु पर्वतके समान स्थिर रहता है, इस प्रकार आकाशके ध्रुव नक्षत्रके समान जिसका निश्चय अध्यात्म-ज्ञानके द्वार पर अचल रूपसे स्थिर रहता है, उसीमे ज्ञानका निवास होता है। इस वचनमे कभी कोई वाधा नही आ सकती, क्योकि जव किसीका मन ज्ञानमे स्थिर हो जाय, तभी यह समझना चाहिए कि वह ज्ञान-स्वरूप हो गया है। भोजन पर वैठनेके कुछ देर बाद जो कुछ होता है (अर्थात् भोजनका जो स्वाद और आनन्द आता है) उसका पता भोजन पर वैठनेके समय तुरन्त ही नही लग जाता। परन्तु फिर भी पुरुषकी मति ज्ञानमे स्थित होतेही उसकी जो स्थिति होती है, वह प्रायः पूर्ण ज्ञानवान् स्थितिके समान ही होती है। इसके सिवा शुद्ध तत्व-ज्ञानका जो एक मात्र फल ज्ञेय वस्तु है, वह उसे सहजमे दिखाई देने लगती लगती है। और नही तो

गुरुदेवकी आज्ञा होते ही मनसे पहले जिसका शरीर आगे दौड़ पडता है, उसे पूरा करनेके लिए मनके साथ प्रतियोगिता करके जो चटपट काम पूरा कर डालता है, गुरुके मुँहसे केवल परिहासमे ही निकली हुई बात पूरी करनेके लिए भी जो अपना सारा जीवन निछावर कर देता है, जो गुरुकी सेवामें ही अपना शरीर कृश कर डालता है और फिर गुरुके प्रेमसे ही पुष्ट होता है, जो गुरुकी आज्ञाके लिए अकेला ही आधार वनता है, जो गुरु-कुलके द्वारा ही अपने आपको कुलीन समझता है, जो अपने गुरुभाइयोंके साथ सौजन्यपूर्ण व्यवहार करनेमें ही सुजनता मानता है, जिसे केवल गुरुकी सेवाका ही व्यसन होता है, गुरु-सम्प्रदायका नियम ही जिसके लिए वर्णाश्रम धर्म होता है, गुरु-भक्ति ही जिसका नित्य कर्म है, जो गुरुको ही क्षेत्र-देवता और माता-पिता आदि सब कुछ मानता है और जो आत्म-कल्याणके लिए गुरु-सेवाके सिवा और कोई मार्ग जानता ही नही, गुरुका द्वार ही जिसके लिए सार और सर्वस्व है—वास्तविक सत्य तत्व है—जो अपने गुरुके सेवकोके साथ सगे भाइयोका-सा प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है, जिसके मुख पर सदा गुरुके नामका मन्त्र रहता है और गुरुके वाक्योको छोड़कर जो और किसी शास्त्र पर ध्यान नही देता, जो गुरुके चरणोके जलको ही त्रिभुवनके समस्त तीर्थोसे श्रेष्ठ समझता है, जो किसी अवसर पर गुरुका जूठा अन्न मिल जाने पर उसके सामने आत्म-समाधिका भी कोई महत्व नही समझता. हे अर्जुन, गुरुदेवके चलनेके समय उनके पैरोसे धूलके जो कण पीछेकी ओर उडते रहते हैं, उनमेका एक कण भी जो मोक्ष सुखके बदलेमे ग्रहण करनेके लिए उत्सुक रहता है, यही वास्तवमे गुरुका सच्चा सेवक और शिष्य होता है। परन्तु इन सव वातोका कहाँ तक विस्तार किया जाय ! वास्तवमे गुरुकी भक्तिकी कोइ सीमा ही नही है। गुरु-भक्तिका प्रसंग आ जानेके कारण इतना अधिक विस्तार करना पडा है। परन्तु वहुत विस्तार हो चुका। हे अर्जुन, जिसके मनमें इन भक्तिके लिए अनुराग होता है, जिसके मनमें इसके लिए उत्कठा होती है, जिसे गुरु-सेवाके सिवा और कुछ भी अच्छा नही लगता, वही पुरुष तत्व-ज्ञानका आधार है और उसीके कारण ज्ञानका अस्तित्व होता है। केवल यही नही, वह ज्ञानी भक्त प्रत्यक्ष देवता ही होता है। वास्तवमे ऐसे भक्तके पास ज्ञान अपने सव द्वार मुक्त करके रहता है और उसका ज्ञान इतना अधिक रहता है कि वह सारे ससारको भरनेके उपरान्त भी वाकी रहता है।" हे श्रोतागण, इस प्रकारकी गुरु-सेवाके प्रति मेरे अन्त करणमे उत्कट उत्कंठा है और इसीलिए मैंने इस विपयका इतना अधिक विस्तार किया है। और नही तो मैं हाथ होने पर भी लूला हूँ, भजनके विपयमे अन्धा हूँ और गुरु-सेवाके काममें पंगुलोसे भी वढ़कर पंगुल हूँ। गुरुकी महिमाके वर्णनके काममें मैं गूँगा हूँ और मुफ्तका माल खाकर पडा रहनेवाला पक्का आलसी हूँ। परन्तु फिर भी इतना है कि मेरे मनमे सच्चा गुरु-प्रेम है और उसी प्रेमके कारण मुझे इन प्रसंगका इतना अधिक विस्तार करना पडा है। मैं ज्ञानदेव आप लोगोसे यही वात कहता हूँ। हे श्रोतागण, मैंने अव तक जो कुछ कहा है, उसे, आप लोग कृपा कर सहन करें और मुझे ऐसा अवसर दें कि मैं आप लोगोकी और भी

ानका बोध हो जाने पर भी यदि मनको ज्ञेय वस्तु न दिखाई दे तो यह नहीं माना ा सकता कि ज्ञानका लाभ हुआ। यदि अन्धा अपने हाथमें दीपक ले ले तो उसके लेए उसका क्या उपयोग हो सकता है? इसी प्रकार यदि ज्ञेय वस्तु न दिखाई पड़े ो फिर यही समझना चाहिए कि सारा ज्ञान निश्चय व्यर्थ ही गया। यदि ज्ञानके प्रकाशसे परमात्म तत्व न दिखाई पडे तो वह ज्ञान स्फूर्ति ही बिलकुल अन्धी ठहरती है। इसलिए बुद्धिमें इतनी निर्मलता आनी चाहिए कि ज्ञान जो जो वस्तुएँ दिखलावे, वे सब परमात्म वस्तुके स्वरूपमें ही दिखलाई पडे। इसी लिए जिसे इस प्रकार की निर्मल स्फूर्ति हो जाती है, उसे निर्दोष ज्ञानका दिखलाया हुआ पर-तत्व दिखाई देने लगता है। जिसे इतता विशद ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि वह उसकी सहायतासे परमात्म तत्वको देख सके, उसकी बुद्धि भी उतनी ही विशद होती है। और ऐसे व्यक्तिके सम्बन्धमे फिर स्पष्ट शब्दोमे यह कहनेकी विशेष आवश्यकता नही रह जाती कि वह पुरुष ज्ञान-स्वरूप हो जाता है। वास्तवमें ज्ञान तेजके साथ जिसकी बुद्धि ज्ञेय वस्तु तक जा पहुँचती है, वह मानों आत्म तत्वको प्रत्यक्ष हाथमें ही स्पर्श कर लेता है। ऐसी अवस्थामे, हे अर्जुन, यदि ऐसे पुरुषको प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! सूर्य तो सूर्य ही ठहरा। भला उसके स्पष्टीकरणकी भी कभी कोई आवश्यकता होती है।"

इतनी बातें सुनकर श्रोताओने कहा—"अब इस विषयका बहुत अधिक विस्तार न करो। ग्रन्थके निरूपणमें ये इधर-उधरकी और फालतू बातें क्यो लाते हो? तुमने ज्ञानके विषयमे इतने विस्तारके साथ जो कुछ कहा, उससे हम लोगोका वाग्विलाससे यथेष्ट आतिथ्य हो चुका। कवियोका यह मन्त्र तुमने सीख लिया है कि निरूपणमे रसालताकी खूब अधिकता होनी चाहिए। परन्तु हम लोगोको निमन्त्रित करके ठीक और उपयुक्त प्रसंग आने पर इधर-उधरकी बातें बढाकर हमे अपना शत्रु बनानेका विचार तुम क्यो करते हो? जब बैठकर भोजन करनेका समय हो, तब जो व्यक्ति आगे परोसा हुआ अन्न लेकर भाग जाता हो, उसका और प्रकारसे किया हुआ आदर-सत्कार भला किस काम आ सकता है? जिस गौमे और सब बाते तो ठीक हों, परन्तु सन्ध्याको दूध दूहनेके समय जो दूहनेवालेको अपने थनके पास बैठने भी न देती हो, उस केवल लात चलानेवाली गौको भला कौन पालेगा? इसी प्रकार ज्ञानमे बुद्धिका प्रवेश न होनेके कारण दूसरे निरूपणकर्त्ता तरह तरहकी बाते कह जाते है और यह भी नही समझते कि हम क्या कह गये। परन्तु इन सब बातोको जाने दो। तुम्हारा निरूपण अवश्य अच्छा हुआ है। जिस ज्ञानका एक कण प्राप्त करनेके लिए भी लोग योग-साधन आदि अनेक प्रकारके कष्ट सहते है, वास्तव मे वही ज्ञान समाधानकारक होता है। और तिसमे भी तुम्हारे समान रसपूर्ण निरूपण हो तो फिर भला कहना ही क्या है! यदि अमृत वर्षाकी झडी लग जाय तो उसमें बुराई ही क्या है? यदि सुखके करोडो दिन प्राप्त हो तो क्या कभी कोइ इस विचारमे ये दिन गिनने बैठता है कि ये दिन कब समाप्त होंगे? यदि पूर्णिमाकी रात पूरे युग भर बनी रहे तो भी क्या चकोर पक्षी उसकी ओर टक लगाकर निरन्तर देखता नहीं रहेगा? इसी प्रकार ज्ञानका विषय, और फिर

अधिक सेवा करूँ। अब आगे मै ग्रन्थका अर्थ ही अच्छी तरह और विशाद रूपसे बतलाऊँगा। श्रोता-गण सुनिये, सारी सृष्टिका भार सहन करनेमे समर्थ नारायणके पूर्ण अंश श्रीकृष्ण कहते हैं और अर्जुन सुनते है। श्रीकृष्ण कहते है—"हे अर्जुन, सुनो। जिसमें इतनी अधिक शुचिता है कि मानो उसके सब अंग और मन कपूरके ही बने हुए है अथवा जिसका अन्दर और बाहर रत्नके पिंडके समान स्वच्छ होता है अथवा जो सूर्यके समान अन्दर और बाहर समान रूपसे तेजस्वी होता है, जो बाहर तो अपने कर्मोके आचरणके कारण और अन्दर ज्ञानके कारण उज्वल होता है और इसलिए जो दोनो तरफ समान रूपसे निर्मल होता है, वेद-मन्त्रोका उच्चारण करनेसे तथा मिट्टी और पानीके योगसे जिस प्रकार बाह्य शुद्धि होती है, जिस प्रकार प्रत्येक काममे बुद्धि ही बलवती होती है, जिस प्रकार बालू दर्पणको स्वच्छ करता है अथवा धोबीके मसालेसे जिस प्रकार कपडे पर का दाग धुलकर साफ हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जो बाहरसे निर्मल होता है और अन्तरगमे भी ज्ञानका दीपक प्रज्वलित होनेके कारण जो शुद्ध हो चुका रहता है वही ज्ञानी है। और नही तो—हे अर्जुन, यदि अन्तरंग शुद्ध न हो तो बाहरी कर्मोका आडम्बर केवल दूसरोको धोखा देनेके लिए ही होगा। यह सब वैसा ही होगा, जैसे मृतकका शृगार करना, गधेको तीर्थमे स्नान कराना, कडुए तूँबेके ऊपर गुडका लेप करना, उजडे हुए और टूटे-फूटे घरको तोरण और बन्दनवारसे सजाना, भूखो मरते हुए मनुष्यके अग पर अन्नका लेप करना, विधवाको कुकुम लगाना, पोले कलशके ऊपर मुलम्मा चढाना या मिट्टीके बन हुए फलको रँगना। बस दिखावटी कर्मकाड ऐसा ही होता है। जिसमे रस नही होता, उसका अधिक मूल्य नही लगता। शराबका घडा गगा-जलसे धोने पर भी शुद्ध नही हो सकता। इसीलिए हृदयमे ज्ञान होना चाहिए। यदि हृदयमे ज्ञान हो तो बाह्य शुद्धिकी प्राप्ति आपसे आप हो जाती है। परन्तु क्या यह भी कभी देखनेमें आया है कि शुद्धिकी ऊपरी और दिखावटी क्रियाओसे ज्ञान प्राप्त हुआ हो? इसीलिए अच्छे कर्मोके द्वारा जिसका बाह्य भाग अच्छी तरह शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है, और साथ ही ज्ञानसे जिसका अन्तरंग भी निष्कलक हो जाता है, उसमे अन्दर और बाहरका कोई भेद ही नही रह जाता और सब जगह समान निर्मलता दिखाई देती है। तात्पर्य यह कि उसमे शुचिता आवश्यकतासे कही अधिक होती है और इसीलिए जिस प्रकार काँचके आवरणके अन्दर रखे हुए दीपकका तेज बाहर भी खूब फैल जाता है, उसी प्रकार उसके अन्तरंगका शुद्ध भाव भी इन्द्रियोके द्वारा बाहर प्रकट होता रहता है। जिन विषयोके कारण संशय उत्पन्न होता है, व्यर्थके विचारोका सचार होता है और कुकर्मो के बीज अकुरित होते है, यदि ऐसे विषयोको वह देखे या सुने अथवा वे विषय आकर उससे संलग्न भी हो जायँ, तो भी जिस प्रकार मेघोके रगके कारण आकाश कभी मैला नही होता, उसी प्रकार उसके मनपर विषयोका कुछ भी सस्कार उत्पन्न नही होता। यो तो वह इन्द्रियोके समूहके सहित विषयोमे लिप्त ही दिखलाई देता है, परन्तु विकारोका लेप उसमे तिल मात्र भी नही होता। यदि रास्तेमे कोई सुन्दर परन्तु छोटी जातिकी स्त्री जाती हुई दिखाई पड़े तो जिस प्रकार उसके

उसका ऐसा रस पूर्ण निरूपण यदि सुननेको मिले तो क्या कभी कोई यह कहेगा कि महाराज, अब बस करो। रहने दो।" जब ऐसा उत्तम योग हो कि भाग्यवान् अतिथि आवे और अच्छी सुधड़ परोसनेवाली हो फिर भोजन कितनी ही देर तक क्यो न होता रहे, तो भी वह समय थोडा ही जान पडता है। बस ठीक वही प्रसग आज भी उपस्थित हुआ है, क्योकि एक तो पहलेसे ही हम लोगोको ज्ञानकी लालसा थी और तिस पर आपको भी निरूपण करनेका उत्साह है। इसलिए इस कथाके प्रति हम लोगोंका अवधान चौगुना हो गया है। और इसी लिए हम लोगोसे यह कहे बिना नही रहा जाता कि तुम ज्ञान-द्रष्टा हो। इसलिए अब तुम अपनी बुद्धिमे प्रवेश करके उसके प्रभावसे इसके आगेवाले "अज्ञानं यदतोऽन्यथा" पद का उपयुक्त निरूपण करो।"

सन्त जनोकी ये वातें सुनकर निवृत्तिनाथके दास ज्ञानदेवने कहा—"महाराज, मेरे मनमे भी यही वात है। तिस पर आप सब समर्थ सन्तोने भी यही आज्ञा दी है। तो अब मैं व्यर्थ वक्तृताका विस्तार नही करता चाहता।" इस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको ज्ञानके अठारह लक्षण वतलाये थे। श्रीकृष्णने कहा—"मेरा मत है कि इन्ही लक्षणोसे ज्ञानकी पहचान करनी चाहिए। और समस्त ज्ञानियोका भी यही मत है। जिस प्रकार हथेली पर रखा हुआ आँवला स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है, उसी प्रकार मैंने तुम्हे यह वतला दिया है कि ज्ञानको किस प्रकार स्पष्ट रूपसे देखना और पहचानना चाहिए। अव, हे अर्जुन, जिसे लोग "अज्ञान" कहते है, उसका स्वरूप भी मैं तुमको लक्षणोके सहित वतलाता हूँ। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो जब मनुष्यकी समझमे ज्ञानका स्वरूप अच्छी तरह आ जाता है, तब सहजमें ही यह वात भी उसकी समझमे आ जाती है कि अज्ञान किसे कहते है, क्योकि हे अर्जुन जो "ज्ञान" नही है, वह पापसे आप "अज्ञान" सिद्ध हो जाता है। जब दिन समाप्त हो जाता है, तव फिर रातकी ही वारी आती है, उस समय और किसी तीसरी वातका होना सम्भव ही नही होता। इस प्रकार जहाँ ज्ञान न हो, वहाँ समझ लेना चाहिए कि अज्ञान ही वर्त्तमान है। तो भी मैं तुम्हे अज्ञानके पहचाननेके कुछ फुटकर लक्षण वतला देता हूँ। जो केवल महत्व या प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिए ही जीता है, जो केवल मानकी ही प्रतीक्षा करता रहता है और आदर-सत्कार होनेसे ही जिसका सन्तोप होता है, जो पर्वतके शिखरकी भाँति सदा ऊपर ही रहना चाहता है और अपने उच्च पदसे कभी नीचे नही उतरना चाहता, उसके सम्वन्धमे समझ लेना चाहिए कि उसमे अज्ञानकी ही समृद्धि है। जिस प्रकार लोग रस्सीमे पीपलके पत्ते बाँधकर तोरण वनाते है, उसी प्रकार जो अपने दान आदि पुण्य-कर्मोका तोरण बडे-वडे शव्दोसे प्रस्तुत करके टाँगता है (आडम्वरपूर्ण शब्दोमे अपने पुण्य-कर्मोकी घोषणा करता रहता है) जो जान-बूझकर मन्दिरकी चँवरीकी तरह सदा सिर उठाये खडा ही रहता है, जो अपनी विद्याका विस्तृत वर्णन करता रहता है, अपने पुण्य-कर्मोका ढिढोरा पीटता रहता है और प्रत्येक कार्य केवल लौकिक कीर्त्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही करता है, जो अपने शरीरका ऊपरी ठाठवाट वहुत बढिया रखता है, परन्तु उन लोगोको सदा धोखेमे रहता है जो उसके फेरमे पडते या उसके-

लिए कोई अपने मनमें अभिलाषा नही करता, उसी प्रकार वह भी विषयोके प्रति अपना व्यवहार बिलकुल निस्पृह रखता है। एक ही स्त्री पतिको भी आलिंगन करती है और भी पुत्रको भी; परन्तु उसके पुत्र-प्रेममे जिस प्रकार कामके विकारका कभी प्रवेश नही हो सकता, उसी प्रकार हृदय शुद्ध होने पर उसमे संकल्प-विकल्पकी दाल नही गलती, परन्तु फिर भी वह अच्छी तरह यह बात जानता है कि कौन सा काम करने योग्य है और कौन सा करनेके योग्य नही है। जिस प्रकार पानीसे हीरा नही भीगता अथवा अदहनमे जिस प्रकार कंकड़ नही सीझते, उसी प्रकार उसके मनके भाव भी विकल्पोसे दूषित नहीं होते। हे अर्जुन, इसी प्रकारकी स्थितिको शुचित्व कहते हैं; और जहाँ यह शुचित्व होता है, वहाँ तुम समझ रखो कि ज्ञान भी अवश्य ही होता है। और जिस पुरुषमे स्थिरता अपना घर बनाकर मजेमे रहती है, उस पुरुषके सम्बन्धमे तुम समझ लो कि वह ज्ञानको जीवित रखता है। शरीर अपनी ओरसे बाह्य आचरण करता रहता है, परन्तु उस आचरणके कारण उसका मन तनिक भी विचलित नही होता। जिस प्रकार गौ का वात्सल्य भाव अपने बछड़ेको छोड़कर जंगलोमे भटकनेके लिए नही जाता और पतिव्रताका विलास जिस प्रकार वैषयिक प्रेमसे युक्त नही होता, अथवा जिस प्रकार किसी लोभीके दूर चले जाने पर भी उसका सारा ध्यान अपने गाडे हुए धनकी ओर ही लगा रहता है, उसी प्रकार शारीरिक कार्योंसे स्थिर पुरुषके मनकी विचलता कभी नष्ट नही होती। जिस प्रकार तेजीमे दौड़नेवाले मेघोके साथ आकाश नही दौड़ता, अथवा तारागणके घूमनेके कारण ध्रुव तारा कभी घूमने नही लगता अथवा रास्ता चलनेवालोके कारण रास्ता स्वयं कभी चलने नही लगता, अथवा हे अर्जुन, उस रास्तेके आस-पासके वृक्ष आदि कभी चलने नहीं लगते, उसी प्रकार इस पंचभूतात्मक शरीरके सब व्यापारोके कारण किसी भूतके बलसे भी उसका अन्तरंग कभी विचलित नहीं होता। जिस प्रकार आँधीके वेगके कारण पृथ्वी नही हिलती, उसी प्रकार सुख-दु.ख आदि उपाधियोके भीषण उपद्रवसे भी वह स्थिर पुरुष कभी विचलित नही होता। वह कभी दीनताके दु:खोसे सन्तप्त नही होता, भय या शोकसे कभी नही काँपता और यहाँ तक कि यदि उसके शरीरके लिए कभी मृत्यु भी आ जाय, तो भी वह कभी नही घबराता। वासना और इच्छाके आवेगसे अथवा विविध रोगोके उपद्रवसे उसका सरल चित्त कभी उलटा या टेढा नही होता। निन्दा, अपमान अथवा दंड होने पर अथवा काम-क्रोधके उपद्रवोंसे भी उसके स्थिर मनका कभी बाल भी बाँका नही होता। चाहे आकाश टूट पड़े और चाहे पृथ्वी फट जाय, परन्तु उसकी चित्तवृत्ति कभी पीछे नही मुड़ती। जिस प्रकार फूलोसे मारने पर हाथी कभी इधर-उधर नही हटता, उसी प्रकार दुष्ट वचनोके बाणोंसे भी वह कभी विचलित नही होता। जिस प्रकार समुद्र-मन्थनके समय क्षीर सागरकी लहरोके आगे मन्दर पर्वतने अपना सिर नही झुकाया था अथवा जिस प्रकार वनमें लगनेवाली आगसे कभी आकाश नही जलता, उसी प्रकार सुख-दु:ख आदिकी चाहे कितनी ही लहरें क्यो न उठें, तो भी उसका मन कभी विचलित नहीं होता और चाहे स्वयं कल्पान्त ही क्यो न आ जाय, तो भी उसका धैर्य अपनी सामर्थ्यके कारण ज्योका त्यो बना रहता है। जिस गुणका स्थैर्यके

अनुगामी बनते हैं, उसे अज्ञानकी खान ही समझना चाहिए। जिस समय वनमें दावाग्नि फैलने लगती है, उस समय जिस प्रकार उस वनमें रहनेवाले समस्त प्राणियों और वनस्पतियोको समान रूपसे उसका दाह सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार जिसके आचरणसे सारे संसारको दुःख भोगना पडता है, जिसका सहज भाषण भी सब लोगो पर कुल्हाडीकी तरह आघात करता है और जो अपने छिपे हुए उद्देश्यकी सिद्धि करनेके लिए विषसे भी बढकर घातक होता है, उसके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिए कि उसमे बहुत अधिक अज्ञान भरा हुआ है; बल्कि उसे अज्ञानका भांडार ही समझना चाहिए, क्योंकि उसका जीवन केवल हिंसामय होता है। जिस प्रकार वायुके अन्दर भर जाने पर भाथी फूल जाती है और दबानेसे वह फिर पचक जाती है, उसी प्रकार जो संयोग और वियोगके कारण बराबर उठता और गिरता या बढता और घटता रहता है, जो अपनी स्तुति होने पर उसी तरह आनन्दसे आकाश पर चढ जाता है, जिस प्रकार हवाके झोकेके कारण धूल आकाशमे पहुँच जाती है, परन्तु अपनी जरा सी भी निन्दा सुनाई पड़ने पर जो सिर पर हाथ रखकर बैठ जाता है, मान और अपमानके कारण जिसकी अवस्था उसी कीचडके समान हो जाती है जो पानी की दो चार बूंदे पड़ने पर तो भीग जाता है और जरा सी हवा लगनेसे फिर सूख जाता है, तात्पर्य यह कि जो किसी प्रकारका मनोविकार बिलकुल सहन नही कर सकता, उसके सम्बन्धमे समझ लेना चाहिए कि उसमें पूरा-पूरा अज्ञान भरा हुआ है। जिसके मनमे गाँठ रहती है, जो ऊपरसे तो खूब खुलकर बाते करता और देखता है, परन्तु एकको आलिंगन करता है और अन्त.करणसे दूसरेकी सहायता करता है, जो उसी प्रकार दिखावटी सरलता और अनुराग दिखलाकर दूसरोके अन्त करण अपने वशमें कर लेता है, जिस प्रकार मृग आदि पशुओकी हत्या करनेके विचारसे व्याधा उन्हे लुभानेके लिए उनके आगे चारा डालकर उन्हे अपने अधिकारमे कर लेता है, जिसकी दिखावटी वृत्ति उसी प्रकार भली और सीधी-सादी होती है जिस प्रकार सेवारमे ढका हुआ पत्थर होता है अथवा पककर पीली हो जानेवाली नीमकौडी होती है, उसमे लेश मात्र भी सन्देह नही कि उसमे अज्ञान पूरी तरह भरा रहता है। अपने गुरुकुलका ध्यान करनेसे जिसे लज्जा होती है, जिसे गुरु-भक्ति अच्छी नही जान पडती जो गुरुसे विद्या प्राप्त करके उलटे उन्हीसे अपनी विद्याका अभिमान करता है मुँहसे उसका नाम लेना मानो शूद्रका अन्न खाने के समान होता है, परन्तु ये लक्षण बतलानेके लिए फिर भी उसका नाम विवश होकर लेना ही पडता है। अब मैं गुरु-भक्तोका नाम लेकर इस दूषित जिह्वाका प्रायश्चित करता हूँ, क्योंकि गुरु-भक्तोंका नाम सूर्यकी तरह चारो ओर प्रकाश का विस्तार करता है। गुरु-द्रोही मनुष्योंके नामका उच्चारण करनेसे पापका जो भार आ पडा है, उस भारसे वाणीको शुद्ध करनेके लिए इतना प्रायश्चित करना आवश्यक है। आज तक गुरुद्रोहियोंके नामका उच्चारण करनेसे जितना पाप हुआ होगा, वह सब गुरुभक्तोंके नामोका उच्चारण करनेसे साफ धुल जायगा। अच्छा अब अज्ञानके दूसरे लक्षण सुनो। आचरणमे जो सदा विचलित और अस्थिर रहता है, जो सदा संशयसे भरा रहता

है, जो मनुष्य अन्दर और बाहर जंगलके उस कूएँकी तरह घृणित और त्याज्य रहता है, जिसके ऊपर तो झाड़-झंखाड और काँटे होते है और जिसके अन्दर केवल हड्डियाँ ही भरी रहती है, जो द्रव्य प्राप्त करनेके लोभमे पडकर अपने और परायेका उसी तरह कोई विचार नही करता, जिस तरह उदरकी ज्वालासे व्याकुल कुत्ता खुले और ढके हुए अन्नका कोई विचार नही करता और जहाँ जो कुछ मिलता है, वह सब खा जाता है, जो कुत्तोकी ही तरह नीति और अनीतिका कुछ भी विचार नही करता और अविचारपूर्वक जहाँ चाहता है, वही रमण करने लग जाता है, जो कर्त्तव्य-कर्मका समय चूक जाने पर अथवा नित्य और नैमित्तिक कर्मोके छूट जाने पर भी मनमे तनिक भी दु खी नही होता, जिसे पापका आचरण करनेमे कुछ भी लज्जा नही जान पडती, पुण्यके लिए जिसमे कुछ भी उत्साह नही रहता और जिसके चित्तमे सदा संशय बना रहता है, उसे स्पष्ट रूपसे अज्ञानका पुतला ही समझना चाहिए। जिसकी दृष्टि सदा धनकी ही प्राप्ति पर रहती है, जो जरा-से स्वार्थके लिए उसी प्रकार धैर्यसे विचलित हो जाता है, जिस प्रकार च्यूँटीके जरा-से धक्के से घासका बीज हिल जाता है, जो भयका नाम सुनते ही उसी प्रकार विचलित हो जाता है, जिस प्रकार पैर रखते ही गड्ढेका पानी गदला हो जाता है, जो अपने मनोरथोकी लहरोके साथ अपने मनको उसी तरह बहाये चलता है, जिस तरह बाढमे पड़ी हुई तूँबी बहती है, जो दु खकी बात सुनते ही उसी प्रकार अपने निश्चित स्थानसे बहुत दूर पहुँच जाता या विचलित हो जाता है, जिस प्रकार हवाका झोका लगनेमे धूल बहुत दूर चली जाती है, जो कभी एक स्थान पर स्थिर नही रहता और बादलोकी तरह इधर-उधर हटता-बढता रहता है, जिसके मनमें कभी किसी क्षेत्र, तीर्थ या नगरमे रहनेका विचार नही आता या जो कभी एक जगह नही ठहरता, जो सदा उसी प्रकार व्यर्थ इधर-उधर घूमता रहता है, जिस प्रकार पागल गिरगिट कभी वृक्षकी फुनगी पर चढ जाता है और कभी वहाँसे उतरकर नीचे जड़के पास आ जाता है, जिसकी अवस्था उस मिट्टीकी नाँदकी तरह होती है जो केवल उसी अवस्थामे स्थिर रहती है, जब कि वह जमीनमे गाड दी जाती है और नही तो बराबर इधर-उधर लुढकती रहती है और इसी कारण जो केवल उसी अवस्थामे एक स्थान पर स्थिर रहता है, जब कि वह लेटा रहता है और नही तो बराबर इधर-उधर घूमता रहता है, उसीमे अज्ञान खूब अच्छी तरह भरा रहता है। वह बन्दरके समान चंचल होता है। और हे धनुर्धर, जिसके अन्त करणमे निग्रहका बल नही होता, जो निषेधको सामने पाकर उससे उसी प्रकार भयभीत नही होता, जिस प्रकार नालेमे आई हुई पानीकी बाढ बालूके बाँधसे कुछ भी भयभीत नही होती और उसे बहा ले जाती है, जो अपने आचारसे व्रतका खडन करता है, अपने धर्मको पैरोसे कुचलता है और यम-नियमोको निराश करता है, जो पापसे बिलकुल नही डरता और पुण्यके प्रति जिसका अनुराग नही होता, जो लज्जाकी बेलको जडसे ही उखाड फेंकता है, जो अपनी कुल-परम्पराकी कुछ भी परवाह नही करता, जो वेदोकी आज्ञाको अपनेसे सदा दूर ही रखता है और इस बातका निर्णय

सब बातें तुमसे नही कर रहे है। तो भी इतना कह देना आवश्यक है कि इस श्रवणसुखके द्वारा आज हम लोगोंको ज्ञान-रूपी नौका प्राप्त हुई है। अब तुम जल्दी हमें यह बतलाओ कि इसके उपरान्त श्री हरिने क्या कहा।" सन्तोके ये वचन सुनते ही श्रीनिवृत्तिनाथके दास ज्ञानदेवने कहा—"हे श्रोतागण, सुनिये।" श्रीकृष्णदेवने कहा—"हे अर्जुन, तुम्हे अन्तमे जो लक्षण मैने बतलाये है, वे सब अज्ञानके ही हैं। तुम इसी अज्ञानकी ओरसे मुँह मोड़कर ज्ञानके विषयमें दृढ निश्चय करो।" जब इस प्रकार ज्ञानका स्पष्टीकरण हो गया, तब अर्जुनकी यह जाननेकी इच्छा हुई कि मनको उस ज्ञेयकी प्राप्ति कैसे होती है। उस समय सर्वान्तरसाक्षी श्रीकृष्णने उसका यह संकेत या अभिप्राय समझकर उससे कहा—"अब मै तुमको यह बतलाता हूँ कि ज्ञेय क्या है। सुनो।"

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

"ब्रह्म वस्तुको लोग जो ज्ञेय कहते है, उसका कारण केवल यही है कि ज्ञानके सिवा और किसी उपायसे उसकी प्राप्ति नही हो सकती। और जिसका ज्ञान हो जाने पर फिर और कोई कार्य बाकी नही रह जाता, जिसका ज्ञान हो जाने पर उसीके साथ तद्रूपता उत्पन्न हो जाती है, जिसका ज्ञान हो जाने पर संसारको तीर पर रखकर ज्ञानी लोग नित्यानन्दके सागरमे गोता लगाकर उसीमे मिल जाते है, वह ज्ञेय ऐसा है कि उसका कोई आदि नही है (अर्थात् वह सनातन है)। परन्तु उसका कोई नाम भी होना चाहिए, इसलिए लोग उसे परब्रह्म कहते है। यदि कोई कहे कि वह है ही नही, तो हम कहते है कि वह विश्वके रूपमे प्रत्यक्ष दिखाई देता है। और यदि उसे विश्व कहे तो यह विश्व केवल मायिक और अशाश्वत है। जिसमे आकार, रंग आदि भेद, और दृश्यत्व यथा द्रष्टत्व आदि भाव ही न हो, उसके सम्बन्धमे भला कोई यह कैसे कह सकता है कि उसका अस्तित्व है? और यदि वह वास्तवमे न हो, तब यह प्रश्न होता है कि उसके बिना महत्तत्वका स्फुरण कहाँमे और किससे होता है? इसी लिए कहते है कि जिसका ज्ञान हो जाने पर "है" अथवा 'नही है" का कोई झगडा या प्रश्न ही नही रह जाता और विचारशक्ति उसके पास तक पहुँच ही नही सकती, जो सभी पदार्थों और सभी आकारोमे ठीक उसी प्रकार निवास करता है, जिस प्रकार हण्डी, मटके और घडे आदिमे पृथ्वी तत्व स्वयं उन्ही पदार्थोके आकारमें रहता है, स्थल और कालसे बिना भिन्न हुए समस्त स्थलो और समस्त कालोमे जो क्रिया स्थूल और सूक्ष्म सभी भूतोके द्वारा होती है, वह क्रिया जिस ब्रह्म-वस्तुके हाथमे है, उसी वस्तुको विश्व बाहु कहते है। और इसका कारण यही है कि वह ब्रह्म वस्तु ही सर्वाकार होकर सदा सब क्रियाएँ करती रहती है। और हे अर्जुन, वह वस्तु सभी स्थानोमे और सदा एक साथ ही प्राप्त होती है और इसी लिए उसे विश्वाङ्घ्रि भी कह सकते है। जिस प्रकार सूर्यके

करना कभी जानता ही नही कि कौन-सा काम करने योग्य है और कौन-सा करनेके योग्य नही है, जो उसी प्रकार मनमाने नाच नाचता है, जिस प्रकार साँड-बिना किसी बन्धनके चारो तरफ नाचता फिरता है अथवा वायु विस्तारपूर्वक बहती रहती है अथवा निर्जन स्थानमे नदी-नाले मनमाने ढंगसे बहते रहते है, जिसका चित्त विषयोमे उसी तरह सब प्रकारके बन्धनोको तोडकर भ्रमता रहता है, जिस प्रकार अन्धा हाथी चारो तरफ घूमता रहता है अथवा पर्वत पर दावाग्नि चारो तरफ जलती रहती है, वही पूरा पूरा अज्ञानी होता है। भला कूड़ेखानेमे कौन-सी चीज नही फेकी जाती? जंगली पशुओको कौन पकडता है? गाँवकी सीमा कौन नही लाँघता? अन्नसत्रका अन्न जो चाहे, वह जाकर खा सकता है, और जब वेश्यामे तारुण्यका तेज आता है, तब उसका आनन्द जो चाहे, वह भोग सकता है, और बनियेकी खुली हुई दूकानमें जो चाहे, वही जा सकता है। इसी प्रकार जिसका अन्त करण हो, उसमे सभी प्रकारके अज्ञानकी समृद्धि होती है। यह बात तुम ध्यानमे रखो। जो चाहे जीता रहे और चाहे मर जाय, परन्तु फिर भी विषय-वासना किसी अवस्थामे नही छोड़ता, जो यह सोचकर इसी लोकमे सब विषयोका सुख भोग लेता है कि आगे चलकर स्वर्गमे तो विषयोका भोग करना ही पडेगा, जो सदा विषय-भोगोका ही जप करता है, जिसका अनुराग सदा सकाम कर्मोके आचरण करनेकी ओर ही रहता है और जो विरागी मनुष्योके दर्शन होते ही इतना बुरा मानता है कि अपने सब कपडे धोकर स्नान कर डालता है, जो उस दशामे भी विषयोका भोग करता रहता है, जब कि स्वयं विषय ही उससे विरक्त हो जाते है और विषयोका उसी प्रकार सेवन करता रहता है, जिस प्रकार कोई महारोगी अपने हाथ सड जाने पर भी उस सड़े हुए हाथसे बराबर अन्न खाता रहता है और जो कभी अपने कल्याणके विषयमे सावधान नही होता, जो उसी तरह विषयोके पीछे लगा रहता है, जिस तरह गधा अन्धा होकर गधीके पीछे लगा रहता है और गधीके बार-बार लात मारने पर भी पीछे नही हटता, जो विषयोका भोग करनेके लिए जलती हुई आगमे भी कूद पड़ता है और अनेक प्रकारके व्यसनोको अलंकारोकी भाँति धारण करता है, विषयोकी प्राप्तिके लिए जिसकी अवस्था उस मृगके समान होती है जो पानीके लालचसे तब तक दौडता रहता है, जब तक उसकी छाती फट नही जाती, परन्तु फिर भी जिसके मनमे कभी इस बातका विश्वास नही होता कि यह जल नही है, बल्कि मृग-जलकी माया है, जो जन्मसे लेकर मृत्यु तक विषयोसे अनेक प्रकारसे पीडित होने पर भी कभी उनसे उकताता नही, बल्कि उल्टे उन्हें और भी अधिक प्रेमपूर्वक प्राप्त करनेका प्रयत्न करता रहता है, वही अज्ञानी है। पहले तो बाल्यावस्थामे उसके सिर पर माता-पिताका पागलपन सवार रहता है, और जब वह पागलपन हट जाता है, तब वह स्त्रीके देहके फेरमे पड जाता है; और जब स्त्रीकी सगतिमे बहुत-सा समय बिता चुकनेके उपरान्त वृद्धावस्था आने लगती है, तब उसके सिर पर बाल बच्चोका प्रेम और पागलपन सवार होता है। बिल्ली या कुतियाके बच्चे जब जन्म लेते हैं, तब वे उस समय तक चुपचाप मुँह-सिर छिपाये और लुण्ड-मुण्ड बने पड़े रहते है, जब तक उनकी आँख नही खुलती। इसी तरह जो सदा

बिम्बमें नेत्रके रूपमें कोई अलग अंग नही होता, बल्कि सारा बिम्ब ही प्रकाशक स्वरूप होता है, उसी प्रकार जो वस्तु अपने सारे स्वरूपसे विश्वकी द्रष्टा होती है (अर्थात् विश्वको प्रकाशमान् करके देखती है), उसी अ-चक्षु (अर्थात् नेत्र हीन) ब्रह्म-वस्तुको वेदोने अत्यन्त आदरपूर्वक "विश्वतश्चक्षु" के नामसे सम्बोधन किया है। विश्वके मस्तक पर जो सदा-सर्वदा आत्म-सत्तासे विराजमान रहता है, उसीको विश्वमूर्धा कहते है। जिस प्रकार अग्निकी सारी मूर्त्ति ही उसका मुख होती है, उसी प्रकार जो अपने सर्वस्वसे शेष भूत मात्रका उपभोग करता है, उसीको, हे अर्जुन, विश्वतोमुख कहना उचित होता है। और जिस प्रकार वस्तुओसे आकाश व्याप्त रहता है, उसी प्रकार जो वस्तु शब्द मात्रमें व्याप्त रहती है, उसी ब्रह्मवस्तुको हम "सब कुछ सुननेवाला" कहते है। इसी प्रकार जो वस्तु समस्त विश्वमें व्याप्त रहती है और सबको देखती रहती है, वही "विश्वतश्चक्षु" है। हे बुद्धिमान् अर्जुन, यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो वेदो आदिने उसको "विश्वतश्चक्षु" कहकर उसका जो वर्णन किया है, वह केवल ब्रह्म-वस्तुकी व्यापकता दिखलानेके लिए और केवल रूपकके तौर पर किया है (अर्थात् अमूर्त्तका मूर्त्तत्वके रूपमें आलंकारिक वर्णन किया है)। बात यह है कि उस ब्रह्म-वस्तुमें वास्तवमे हाथ-पैर, आँख, आदि अंग बिलकुल नही है, इसलिए इन सबसे सम्बन्ध रखनेवाली बाते उसके लिए प्रयुक्त ही नहीं हो सकती। केवल यही नही, यदि शून्यत्व या अभावके रूपमें उसका वर्णन किया जाय तो वह वर्णन भी उसके लिए ठीक ठीक उपयुक्त नही होता। उदाहरणके लिए यदि हम यह बात किसी तरह समझ लें कि जलकी एक तरंगने दूसरी तरंगको निगल लिया, तो भी क्या उस निगलनेवाली और दूसरी निगली जानेवाली तरंगमें स्वरूपत. कोई भेद होता है? इसी प्रकार जब कि वह एक ब्रह्मवस्तु ही सत्य है, तो फिर उसमे व्याप्त करनेवाले और व्याप्त होनेवालेका भेद भला कहाँसे आ सकता है? परन्तु फिर भी केवल इसी लिए इस प्रकार का भेद करना पडता है कि कहने या समझानेमे सुभीता हो। देखो, यदि किसीको शून्य दिखलाना होता है तो इसके लिए एक बिन्दी बनानी या लिखनी पड़ती है। इसी प्रकार यदि शब्दोके द्वारा अद्वैतका निरूपण करना हो तो द्वैतकी भाषाका प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। हे अर्जुन, यदि ऐसा न किया जाय जाय तो गुरु और शिष्यके सम्प्रदायका ही लोप हो जायगा और सब प्रकारके कथनोका ही अन्त हो जायगा। इसी लिए वेदोने अद्वैतका वर्णन करने के लिए द्वैतवाली आलंकारिक भाषाका प्रयोग करनेकी परिपाटी चलाई है। इसलिए अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि इन्द्रियोके द्वारा ग्राह्य होनेवाले जितने आकार है, उन सबमें वह ब्रह्मवस्तु किस प्रकार व्याप्त है। सुनो।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

"हे अर्जुन, जिस प्रकार अवकाशको आकाश व्याप्त कर लेता है अथवा पटके रूपमें भासमान होकर जिस प्रकार तन्तु उस पटको व्याप्त किये रहते हैं, उसी प्रकार

अपनी स्त्री और बच्चोके फेरमे ही पड़ा रहता है और फिर भी जब तक मर नही जाता तब तक विषयोसे बिलकुल नही उकताता, हे अर्जुन, यह समझ रखो कि उस मनुष्यके अज्ञानकी सीमा ही नही है। अब मैं अज्ञानके कुछ और भी लक्षण बतलाता हूँ। जो अपने मनमे यह भाव रखकर कर्मका आरम्भ करता है कि देह ही आत्मा है, जो अपने आचरण किये हुए अच्छे और बुरे सभी तरहके कर्मोका ध्यान करके हर्षसे प्रफुल्लित हो जाता है, जो अपनी विद्या और यौवनावस्थाके कारण उसी प्रकार तनकर चलने लगता है, जिस प्रकार कोई भक्त उस समय गर्वसे तनकर चलने लगता है, जिस समय उसके सिर पर देवताकी प्रतिमा रख दी जाती है, जो बराबर यही कहता है—"मेरी बराबरीका और कोई नही है। यदि सम्पत्तिशाली हूँ तो केवल मैं ही हूँ। भला मुझमे बढकर उत्तम आचरण करनेवाला और कौन है? मेरे समान बडा और कोई नहीं है। मैं सर्वज्ञ हूँ और जो कुछ मैं कहता हूँ, वही सब जगह माना जाता है।" और इस प्रकार जो गर्वसे अपने विषयके समाधानसे फूला नही समाता, जो उसी प्रकार किसी दूसरेकी भलाई नही देख सकता, जिस प्रकार व्याधि ग्रस्त मनुष्यको किसी प्रकारका भोग सहन नही होता, जो गुण अर्थात् अच्छी भावनाओको उसी प्रकार नष्ट करता है, जिस प्रकार दीपक गुण (अर्थात् सूतकी बत्ती) को नष्ट करता है, जो स्नेह (अर्थात् प्रेम) को उसी प्रकार जलाता है; जिस प्रकार दीपक स्नेह (अर्थात् तेल) को जलाता है और जो उसी प्रकार चारो तरफ दु खकी कालिमा फैलाता है, जिस प्रकार दीपक किसी स्थान पर रखे जाने पर चारो ओर अपनी कालिमा फैलाता है, जिसकी अवस्था उस दीपकके समान होती है जो पानीके छीटे पडने पर चट चट करता है, जरा सी हवा लगनेसे बुझ जाता है और सहजमे यदि किसी चीजके साथ लग जाय तो सारे घरको जलाकर राख कर देता है और एक तिनका भी बाकी नही छोडता, जो लाख समझाने पर किसी तरह नही मानता, उलटे लडाई-झगडा करने लगता है और अवसर मिलते ही दूसरोका घात करनेसे नही चूकता, जो अपनी केवल थोडी सी विद्याके लिए असह्य हो जाता है जिस प्रकार थोडा सा प्रकाश करनेवाला दीपक भी केवल उतने ही प्रकाशसे भारी ताप उत्पन्न करता है, गुणी होने पर भी मत्सरके कारण जिसकी अवस्था उस दूधके समान होती है जो औषध रूपमे पीए जाने पर भी नए ज्वर को कुपित कर देता है अथवा जो उस दूधके समान विषाक्त होता है जो सर्पके आगे रखा जाता है तात्पर्य यह है कि जो इस प्रकार सद्गुणी होने पर भी सबके साथ मत्सर करता है, ज्ञानी होने पर भी अहंकार करता है और जिसे अपनी तपस्या तथा ज्ञानका अपरम्पार गर्व होता है, जो गर्वसे उसी प्रकार फूला रहता है, जिस प्रकार अन्त्यज राजगद्दी पर बैठनेसे फूल जाता है अथवा अजगर खम्भा निगलकर फूल जाता है, जो बेलनके समान कभी किसीके आगे नही झुकता और पत्थरकी तरह कभी नही पसीजता और जो उसी प्रकार किसी गुणी मनुष्यके दबावमे नही रहता, जिस प्रकार फुफकारनेवाला साँप किसी मान्त्रिक या झाड फूँक करनेवालेके वशमे नही रहता, हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि मैं तुम्हे निश्चित रूपसे यह बतलाता हूँ जिस पुरुषमे ये सब बातें होती है, ऐसा अज्ञान भरा रहता है

यह ब्रह्म-वस्तु भी सारे विश्वको व्याप्त किये रहती है। उदकके रूपमे रस तत्व जिस प्रकार उदकमें रहता है, दीपकके रूपमे प्रकाश तत्व जिस प्रकार दीपकमे रहता है, कपूरके रूपमे गन्ध तत्व जिस प्रकार कपूरमें रहता है, शरीरके रूपमें कर्म तत्व जिस प्रकार शरीरमे रहता है, साराश यह कि, हे अर्जुन, सोनेके कणमे जिस प्रकार सोना ही रहता है, उसी प्रकार वह ब्रह्म-वस्तु भी सर्व-स्वरूप होकर सबमे अन्दर और बाहर व्याप्त रहती है। परन्तु सोना जब तक रवेके रूपमे रहता है, तब तक हम उसे सोनेका रवा ही कहते है, परन्तु जब उसका वह रवेवाला रूप नष्ट हो जाता है, तब वह रवा ही सोना हो जाता है। अथवा प्रवाह का रूप भले ही टेढा-तिरछा हो, परन्तु पानी फिर भी सदा सरल ही रहता है। अथवा जब अग्निसे तपाये जाने पर लोहा लाल हो जाता है, तब अग्नि कभी लोहा नही बन जाती। मटकेके गोल आकारके कारण उसमेका आकाश भी गोल दिखाई देता है और झोपडीकी चौकोर बनावटके कारण वह चौकोर दिखाई देता है। परन्तु वह गोल अथवा चौकोर आकार वास्तवमें आकाशका नही होता। इसी प्रकार यदि ब्रह्मवस्तुमे किसी तरहका विकार दिखाई दे तो भी वास्तवमे वह कभी विकार-युक्त नही होता। हे अर्जुन, ऊपरसे देखनेमे ऐसा जान पडता है कि वह ब्रह्मवस्तु मन आदि इन्द्रियो और सत्व आदि तीनो गुणोके कारण भिन्न भिन्न आकारोके रूपमे दिखाई देती है। परन्तु जिस प्रकार गुड़की मिठास उसके भेलीवाले आकारमे नही होती, उसी प्रकार गुण तथा इन्द्रियाँ वास्तवमे असली ब्रह्म तत्व नहीं है। जब तक दूधका वास्तविक स्वरूप बना रहता है, तब तक घी भी उसी दूधके आकारमे रहता है, परन्तु फिर भी कोई यह नही कह सकता कि घी भी वही है जो दूध है। इसी प्रकार, हे अर्जुन, यह बात तुम अच्छी तरह अपने ध्यानमे रखो कि गुण और इन्द्रियोके कारण ब्रह्म-वस्तुमे जो विकार दिखाई देते हैं, उनके कारण वास्तवमे ब्रह्म-वस्तुमे कभी कोई विकार नही होता। सोनेको अनेक प्रकारके आकार देकर हम उन आकारोको फूल-पत्ते आदि या अलग-अलग गहने आदि कहते हैं। परन्तु जो वास्तविक सोना होता है, वह चाहे जिस आकारमे रहे, सदा सोना ही रहता है। तात्पर्य यह कि, हे अर्जुन, यदि हम सीधी-सादी और सबके समझने योग्य भाषामे कहे तो ब्रह्म-वस्तु वास्तवमे गुणो और इन्द्रियोसे बिलकुल भिन्न और स्वतन्त्र ही है। नाम और रूप आदि सम्बन्ध और जाति तथा क्रिया आदिके भेद आकारोमे ही होते है और उन आकारोके सम्बन्धमें जो बाते कही जाती है, वे ब्रह्मवस्तु पर ठीक नही घटती। वह ब्रह्म गुण नही है। उसमें तो गुणकी गन्ध भी नही होती। बात केवल इतनी ही है कि वे गुण ब्रह्ममे केवल भासमान् होते है। परन्तु, हे अर्जुन, इसी भासमान् होनेके कारण मोहमे फँसे हुए लोग यह मानते है कि वे सब विकार ब्रह्ममे ही होते है। परन्तु ब्रह्ममे ये सब विकार उसी तरह होते हैं, जिस प्रकार आकाशमे बादल आते है अथवा दर्पणमें प्रतिबिम्ब आता है अथवा पानी जिस प्रकार सूर्यका प्रतिबिम्ब धारण करता है अथवा किरणे मृग-जलका रूप धारण करती है। वह निर्गुण ब्रह्म भी सब प्रकारके विकारो-को बिना उसके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध रखे धारण करता है। परन्तु ब्रह्ममें होनेवाले वे सब विकार निष्फल ही होते है और वे केवल दृष्टिको दिखाई देते है,

जो सदा बढता ही जाता है। और हे अर्जुन, जो इस शरीर-रूपी घरका ही सदा लालन-पालन करता रहता है और अपने पिछले अथवा भावी जन्मोका कभी कोई विचार ही नही करता वही अज्ञानी है। कृतघ्न मनुष्य के साथ किया हुआ उपकार, चोरके हाथमे दिया हुआ धन अथवा निर्लज्ज पुरुषको दी हुई चेतावनी जिस प्रकार व्यर्थ जाती है, जिस प्रकार घरमे घुस आनेवाले कुत्तेको यदि उसके कान और दुम काटकर घरसे भगा दिया जाय तो भी वह कुत्ता कान और दुमका रक्त सूखनेसे पहले फिर उसी प्रकार निर्लज्जतापूर्वक घरमे घुस आता है अथवा जिस प्रकार साँपके मुखमे जाते समय भी मक्खियोको पकडनेके लिए मेढक अपनी जीभ बाहर निकाले रहता है, उसी प्रकार जिस पुरुषको उस अवस्थामे भी खेद नही होता, जब कि उसके शरीरकी नौ इन्द्रियोके द्वार बराबर बहते रहते है, शरीरमे नाशक घुन लगा रहता है, जो माताके पेट रूपी गुफामे मल-मूत्रमे नौ महीने तक पडा रहने पर भी गर्भावस्थाके दु खो अथवा जन्म धारण करनेके समय होनेवाले कष्टोका भी स्मरण नही करता, जो बच्चोको मल-मूत्रके कीचडमे लोटते हुए देखकर भी घृणा नही करता और इस तरह की बातोसे नही घबराता या उकताता, जो कभी इस बातका विचार नही करता कि अभी कल ही पिछला जन्म समाप्त हुआ है और फिर कल ही नया जन्म आनेवाला है, जिसे अपने जीवनके अच्छे दिनोमे मृत्युका स्मरण नही होता, जो अपन मनमे सदा यही विश्वास रखता है कि मैं इस समय जैसी अच्छी अवस्थामे हूँ, वैसी ही अच्छी अवस्थामे सदा बना रहूँगा और इसी विश्वासके कारण जिसकी समझमे ही यह नहीं आता कि मृत्यु भी कोई चीज है, जिसकी अवस्था किसी छोटे-से गड्ढेमे रहनेवाली उस मछलीके समान होती है जो यह समझती है कि यह गड्ढा कभी सूखेगा ही नही और यही सोचकर जो किसी गहरे दहमे नही जाती अथवा जिसकी अवस्था उस हिरणके समान होती है, जो शिकारीके गीतमे ही इतना मग्न हो जाता है कि उस शिकारीको देखना भी भूल जाता है अथवा उस मछलीके समान होती है जो बंसीमेंका काँटा नहीं देखती और उसपरका आमिस खानेका प्रयत्न करती है अथवा जिसकी अवस्था उस पतंगके समान होती है जो दीपककी लौ देखते ही इतना भूल जाता है कि उसे इस बातका ध्यान हो नही रह जाता कि यह दीपक मुझे जला डालेगा, वही अज्ञानी है। जिस प्रकार घरके जलनेके समय भी मूर्ख मनुष्य सोता ही रहता है अथवा अनजानमे विष मिला हुआ अन्न खा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष भी राजस सुखमे मग्न होकर यह नही जानता कि इस जीवनके रूपमे मुझ पर यह मृत्युका ही वार हुआ है। वह दिन-रात अपने शरीरका ही पालन-पोषण करता रहता है और विषय सुखके वैभवको ही सच्चा मानता हैं। परन्तु उस बेचारे मूढकी समझमें यह बात नही आती कि वेश्याको अपना सर्वस्व अर्पण करना ही मानो अपना नाश करना है अथवा ठगके साथ मित्रता करना ही अपने प्राण गँवाना है अथवा दीवार पर रंगसे बनाये हुए चित्रको स्वच्छ करनेके लिए धोना ही मानों उस चित्रको मिटाना है और पांडु रोगके कारण अँगोका फूलना ही मानो उनका नष्ट होना है। बस ठीक इसी प्रकार वह आहार-निद्रामे

परन्तु वास्तवमें वे असत्य होते है। और निर्गुण जो गुणोका भोग करता है, वह उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कोई दरिद्र व्यक्ति स्वप्नमें किसी राज्य पर शासन करता है। इसी लिए निर्गुणके सम्बन्धमे कभी यह नही कहना चाहिये कि गुणोके साथ उसका किसी प्रकारका सम्बन्ध है अथवा वह गुणोका उपभोग करता है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

"हे अर्जुन, जो स्थावर और जंगम आदि सभी भूतोंमें रहता है और जो सभी पदार्थो तथा जीवोमें उसी प्रकार शाश्वत रूपसे और सूक्ष्म अवस्थामें व्याप्त रहता है, जिस प्रकार अग्नियाँ चाहे भिन्न भिन्न हो, परन्तु उन सबमे उष्णता समान रूपसे वर्तमान रहती है, उसको इस प्रकरणमे "ज्ञेय" समझना चाहिए। जो केवल एक होने पर भी अन्दर और वाहर, पास और दूर सब जगह रहता है और जिसके स्वरुपमें कभी कोई अन्तर नही होता, वही "ज्ञेय" है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

"यह वात नही है कि क्षीर सागरका माधुर्य उसके गहरे और मध्य भागमें तो अधिक होता हो और किनारेके पास कम होता हो। इसी प्रकार जो सर्वत्र समान रूपसे व्याप्त रहता है, जो जारज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चारो प्रकारके जीवोमे सदा पूर्ण रुपसे व्याप्त रहता है और फिर भी इस व्यापकताके कारण जिसकी स्थितिमे कभी कोई भाग या खंड नही होता, इसके सिवा, हे श्रोतृ-शिरोमणि अर्जुन, हजारो मटकोके पानियोमे चन्द्रमाके प्रकाशके प्रतिविम्बित होने पर भी जिस प्रकार उस प्रकाशमे कभी किसी तरहका कोई भेद-भाव नही उत्पन्न होता अथवा नमककी सभी राशियोमे से प्रत्येक राशिमे व्याप्त रहनेवाला खारापन या नमकीनी एक ही प्रकारकी रहती है अथवा ऊखके गट्ठेमेके प्रत्येक ऊखमे एक ही प्रकारकी मधुरता रहती है, उसी प्रकार जो भिन्न भिन्न सभी भूतोमे एक रूपसे वर्तमान रहता है, और हे, सुज्ञ अर्जुन, जो इस विश्व-रूपी कार्यका मूल कारण है और ये नाम-रूपात्मक भूत मात्र जिससे उसी प्रकार उत्पन्न हुए है, जिस प्रकार सागरसे तरगे उत्पन्न होती हैं, उन सबका वह ब्रह्म उसी प्रकार आधार है, जिस प्रकार उन तरंगोका आधार सागर होता है। जिस प्रकार वाल, तारुण्य और वृद्धत्व इन तीनो ही अवस्थाओमे शरीर एक ही रहता है, उसी प्रकार भूत मात्रके आदि, मध्य और अवसान इन तीनो ही अवस्थाओमे वह अभिन्न रूपसे रहता है। जिस प्रकार सन्ध्या-काल, प्रात.काल और मध्याह्न आदि दिन-मानके क्रमश. चलते रहने पर भी आकाशमें कभी किसी प्रकारका परिवर्तन नही होता, उसी प्रकार ब्रह्ममे भी कभी किसी प्रकार-का परिवर्तन नहीं होता। हे सखे अर्जुन, विश्वकी उत्पत्तिके समय जिसका नाम ब्रह्मा पड़ा था, विश्वकी स्थितिके समय जिसे विष्णु कहते हैं और अन्तमे इस नाम रूपात्मक विश्वका लोप होनेके समय जिसे रुद्र कहते हैं और इन तीनो गुणोके लुप्त हो जाने पर जो शून्यता रूपमें वाकी रह जाता है और जो गगनका शून्यत्व नष्ट करके और

भूलकर बुद्धिहीन हो जाता है। जिस प्रकार सामने खड़े की हुई सूलीकी ओर दौड़नेवालेके लिए प्रत्येक पग पर मृत्यु पास आती जाती है, उसी प्रकार ज्यो ज्यो उसका शरीर बढता है, ज्यो ज्यो दिन वीते जाते है और ज्यो ज्यो विषय-भोगका सुभीता होता जाता है, त्यो त्यो आयुष्य पर मृत्युकी छाया वरावर वढती जाती है। जिस प्रकार पानीसे नमक गल जाता है, उसी प्रकार यह जीवन भी गलता चला जा रहा है और मृत्यु समीप आती जाती है। परन्तु फिर भी यह प्रत्यक्ष बात उसकी समझमे नही आती। हे अर्जुन, साराश यह कि जिससे विषयोके फेरमे सदा शरीरके साथ लगी रहनेवाली मृत्यु नही दिखाई देती, उसके विषयमे इसके सिवा और कोई मत हो ही नही सकता कि वह पुरुष अज्ञानके राज्यका अधिपति है। जिस प्रकार ऐसे मनुष्यको जीवनके सुखोके फेरमे मृत्युका स्मरण ही नही होता, उसी प्रकार अपने यौवनके मदमे वह वृद्धावस्थाको कोई चीज ही नही समझता। जिस प्रकार पर्वतकी चोटी परसे उलटी हुई गाडी अथवा पहाडीके ऊपरसे गिरा हुआ पत्थर यह नहीं देखता कि सामने क्या है, उसी प्रकार वह भी सामनेसे आनेवाली वृद्धावस्थाको नहीं देखता। अथवा जब जंगलके नालेमे पानी बहुत बढने लगता है और बाढ़ आने लगती है अथवा जब भैसे मस्त हो जाते है, तब उन्हे अपने सामनेकी कोई चीज नही दिखाई देती और वे मनमाने तौर पर चारो तरफ दौडने लगते है। इसी प्रकार वह भी यौवनके मदमे अन्धा हो जाता है। यद्यपि उसके अंग निर्बल होते जाते है, तेज कम होता जाता है, मस्तक झूलने लगता है, दाढी पक जाती है और गरदन हिलने लगती है, परन्तु फिर भी वह अपनी माया या धन सम्पत्तिका विस्तार करता ही जाता है। जैसे अन्धे आदमीको सामनेसे आनेवाला मनुष्य तब तक दिखलाई नही देता, जब तक वह उसकी छाती पर नही आ जाता अथवा आलसी मनुष्य उस समय भी आनन्दमे पडा रहता है, जिस समय घरमे लगी हुई आगकी चिनगारियाँ आकर उसके मुँह पर गिरने लगती है, उसी प्रकार जिस पुरुषको आजकी युवावस्थाका भोग करते समय कल आनेवाली वृद्धावस्था दिखलाई नही देती, हे अर्जुन, वह पुरुष मूर्तिमान अज्ञान ही होता है। जो किसी अशक्त अथवा कुबडेको देखकर अभिमानपूर्वक उसे चिढाने और उसकी नकल उतारने लगता है, परन्तु जो यह नहीं समझता कि आगे चलकर मेरी भी यही अवस्था होनेवाली है और मृत्युकी सूचना देनेवाले वृद्धावस्थाके लक्षण शरीरमे दिखाई पडने पर भी जिसका यौवन-कालका भ्रम दूर नही होता, उस पुरुषको अज्ञानका जन्म-स्थान ही समझना चाहिए। हे अर्जुन, अज्ञानके कुछ और भी लक्षण सुनो। जिस प्रकार कोई पशु किसी ऐसे जंगलमें जाकर चर आता है जिसमे वाघ रहता है और जो भाग्यवश किसी प्रकार वाघसे बचकर लौट आता है और इसी भरोसे पर वह फिर उसी जगलमे चरनेके लिए जाता है अथवा जिस प्रकार कोई मनुष्य एक वार साँपके विलमे रखा हुआ धन साँपके दशके किसी प्रकार बचकर उठा लाता है और तब यह कहने लगता है कि उस बिलमे साँप है ही नही अथवा यदि वह है तो भी काटता ही नही, उसी प्रकार जो एक दो वार कुपथ्य करके भी यह देखता है कि मेरा शरीर स्वस्थ है और इसी

सत्व आदि तीनो गुणोका लोप करके शून्य रूपसे अवशिष्ट रह जाता है, वही वेदों द्वारा प्रतिपादित महाशून्य है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

"जो अग्निका प्रकाश और चन्द्रमाका प्रभा-रहस्य है, जिसके द्वारा सूर्यमे देखने की शक्ति आती है, जिसके तेजसे तारा-गण चमकते है और जिसके आधार पर महातेज सुखपूर्वक सारे संसारमे प्रकाशित होता है, जो आदिका भी आदि, वृद्धिकी भी वृद्धि करनेवाला, बुद्धिकी भी बुद्धि, जीवका भी जीव, मनका भी मन, नेत्रोका भी नेत्र, कानोका भी कान, वाचाकी भी वाचा, प्राणोका भी प्राण, गतिके भी पैर, क्रियाकी भी क्रिया-शक्ति आकारोका भी आकार, विस्तारोका भी विस्तार, संहारोका भी संहार पृथ्वीका भी पृथ्वी, जलका भी जल, तेजका भी तेज, वायुका भी श्वासोच्छ्वास और गगनका भी गगन है, अर्थात् हे अर्जुन, जो इन सबका चैतन्य वीज है और जिसके कारण इन सबका स्फुरण होता है, हे अर्जुन, जो एक मात्र होकर भी सवमे सर्व-स्वरूप हैं और जिसमे द्वैतकी गन्धका भी होना सम्भव नही है, जिसके दर्शन होते ही दृश्य और द्रष्टा आपसमें मिल्कर एक-रस हो जाते है, वही ज्ञान होता है। फिर वही ज्ञान और ज्ञेय दोनो हो जाता है और ज्ञानके द्वारा लोग जिस स्थलको प्राप्त करना चाहते हैं, वह स्थल भी वही हो जाता है। जब कोई हिसाब ठीक तरहसे लग जाता है, तव उन भिन्न-भिन्न अकोमे कोई भिन्नता या भेद नही रह जाता, जिन अकोके द्वारा वह हिसाव लगाया जाता है। ठीक इसी प्रकार जव उस ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, तव साध्य और साधन आदि सभी मिलकर एक हो जाते है। हे अर्जुन, जिसके विषयमे द्वैतका कोई उल्लेख नही किया जा सकता और जो सवके हृदयमे निवास करता है, वही ब्रह्म है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

"हे सुज्ञ अर्जुन, इस प्रकार मैंने तुमको पहले यह वात स्पष्ट करके वतला दी है कि क्षेत्र किसे कहते हैं। साथ ही क्षेत्रके प्रकरणमे ज्ञानके लक्षण भी वतला दिये है। फिर अज्ञानके स्वरूपका भी मैने इतने विस्तारके साथ वर्णन किया है कि जिसे सुनते सुनते तुम चकित हो गये। और अब मैंने खूब अच्छी तरह और स्पष्ट करके तुम्हे ज्ञेयका स्वरूप भी बतला दिया है। हे अर्जुन, जव ये सव वाते बहुत अच्छी तरह समझमे आ जाती है, तव मेरे भक्तोके मनमे मुझे प्राप्त करनेकी उत्कठा उत्पन्न होती है। जो लोग शरीर आदि समस्त विषयोका सन्यास या परित्याग करके अपने प्राण मेरी सेवामे अर्पित कर देते है, हे अर्जुन, वह मेरा ब्रह्म-स्वरूप पहचानकर अन्तमे अपना व्यक्तित्व भी भूल जाते है और मेरे रूपमे मिलकर मद्रूप हो जाते हैं। तुम यह बात अच्छी तरह अपने ध्यानमे रखो कि मै तुम्हे मद्रूप होनेका बहुत सीधा उपाय वतला दिया है। जिस प्रकार शिखर आदि पर चढ़नेके लिए सीढ़ियाँ वनानी पडती है अथवा ऊँचे होनेके लिए मंच वनाना पडता है अथवा वाढ आने पर डूबनेसे

लिए जो रोगका अस्तित्व ही नही मानता अथवा जो अपने वैरीको सोया हुआ देखकर स्वस्थ और निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि अब तो उसके साथ मेरा वैर भी और उससे होनेवाला संकट भी दूर हो गया है और अन्तमे अपने बाल-बच्चोके प्राणोके साथ अपने भी प्राण गँवा बैठता है, अथवा जो आदमी तब तक रोगकी ओरसे निश्चिन्त रहता है, जब तक उसका आहार और निद्रा नियमित रूपसे चलती रहती है और रोग उसके शरीरमे पूरी तरहसे घर नही कर लेता, वही अज्ञानी होता है। वह अपनी स्त्री, पुत्र, परिवार आदिके साथ ज्यो ज्यो अपनी सम्पत्तिके द्वारा अधिकाधिक विषय सम्पादित करता जाता है, त्यो त्यो उसकी धूलसे वह और भी अधिक अन्धा होता जाता है। जिसे यह भावी दु:ख दिखाई नही देता कि अचानक इन विपयोके साथ मेरा वियोग होगा और एक क्षणमे मुझ पर भारी आपत्ति आ पडेगी, हे अर्जुन, वह पुरुष केवल अज्ञान ही है। और वह पुरुष भी अज्ञानी ही है जो इन्द्रियोका उदर विषय रूपी अन्नसे खूब मनमाने ढंगसे भरता रहता है। जो यौवनावस्थाके आवेश और सम्पत्तिकी संगतिसे सेव्य और असेव्यका कुछ भी विचार नही करता और सबका अन्धाधुन्ध सेवन करता चलता है, जिसका मन वही काम करता है जो करना नही चाहिए, जो असम्भव बातोकी आशा करता है और जो ऐसी वातोंका चिन्तन करता है, जिनका कभी विचार भी नही करना चाहिए, जहाँ शरीर और मनको प्रवेश नही करना चाहिए, वहाँ उन्हें प्रविष्ट करता है, जो नही लेना चाहिए, वह माँगता है, जिसे भूलकर भी नहीं छूना चाहिए, उसीका निरन्तर स्पर्श करता रहता है, जो वही जाता है जहाँ नही जाना चाहिए, जो नही देखना चाहिए, उसीको देखता है, जो नही खाना चाहिए, उसीको खाकर आनन्दित होता है, जिसका संग नही करना चाहिए, उसीका संग करता है, जिसके साथ संलग्न नही होना चाहिए, उसीके साथ संलग्न होता है, जिस मार्ग पर नहीं जाना चाहिए, उसी मार्ग पर जाता है, जो न सुनने योग्य बातें सुनता और न कहने योग्य बातें कहता है और यह नही जानता कि इस प्रकारके आचरणमे कितना दोप होता है, हे अर्जुन, जो किसी बातके केवल मनको रुचनेके कारण ही इस बातका कभी तिल मात्र भी विचार नही करता कि अमुक काम करनेके योग्य है अथवा नहीं करनेके योग्य है, जो ऐसे-वैसे काम अपना कर्त्तव्य मानकर करता है, परन्तु जो इस बातका कुछ भी विचार नही करता कि अमुक कार्य करनेसे मुझे पाप होगा और आगे चलकर नरककी यातना भोगनी पडेगी, उस पुरुपकी संगतिसे इस संसारमे अज्ञान इतना अधिक बलवान हो जाता है कि वह ज्ञानी लोगोके साथ भी दो-चार हाथ लड सकता है। परन्तु अब इस विपयको छोड देना चाहिए। अब मैं कुछ और ऐसे लक्षण बतलाता हूँ जिनसे अज्ञानकी बिलकुल ठीक ठीक पहचान हो सके। तुम वह लक्षण सुनो। घर-गृहस्थीमें जिसकी प्रीति उसी प्रकार लगी हो, जिस प्रकार नये निकले हुए सुगन्धित परागमे भृंगीकी रहती है, जिसका इच्छा उसी प्रकार स्त्रीकी आज्ञाके अनुसार या मरजीके मुताबिक काम करनेकी होती है, जिस प्रकार चीनी पर बैठी हुई मक्खीकी सदा चीनी पर ही बैठे रहनेकी होती है और उस

बचनेके लिए नावकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मद्रूप होनेके लिए भी ये सब काम करने पड़ते हैं। नहीं तो हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, यदि केवल यह कह दिया जाय कि सब कुछ आत्मा ही है, तो इस प्रकारके कथनसे तुम्हारे मनको कभी सन्तोष न होगा। इसी लिए मैंने तुम्हारी बुद्धिकी मन्दताका ध्यान रखकर एक ही परब्रह्मके चार विभाग करके उन सबका अलग अलग वर्णन किया है। जिस प्रकार बच्चोंको भरमानेके लिए एक ही ग्रासके दस वीस अलग अलग छोटे छोटे ग्रास बनाने पड़ते हैं, उसी प्रकार मैंने एक ब्रह्मके चार विभाग करके उन सबका अलग अलग वर्णन किया है। तुम्हारी ग्रहण-शक्तिका अनुमान करके मैंने ब्रह्मके क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय और अज्ञान ये चार विभाग किये है। और हे अर्जुन, यदि इतना करने पर भी यह व्यवस्था ठीक तरहसे तुम्हारी समझमें न आई हो तो मैं फिर एक बात तुमको बतलाता हूँ। परन्तु अब मैं ब्रह्मके वे चार विभाग नही करता और उन चारोकी एकताका भी प्रतिपादन नही करता, बल्कि आत्मा और अनात्माका एक साथ ही विचार करता हूँ। परन्तु मैं जो कुछ माँगता हूँ, वह देनेके लिए तुम्हे तैयार रहना चाहिए। मेरी माँग केवल यही है कि तुम खूब अच्छी तरह मन लगाकर और कान देकर मेरी बात सुनो।' श्रीकृष्णकी ये बाते सुनकर अर्जुनको मारे आनन्दके रोमांच हो आया। उस समय देवने कहा—"तुम शान्त हो और इस प्रकार प्रेमसे विह्वल मत हो जाओ।" इस प्रकार अर्जुनका हृदय भर आया, तब श्रीकृष्णने कहा—"अब मैं तुमको प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धकी कुछ बाते बतलाता हूँ। तत्वज्ञानके जिस सम्प्रदाय या प्रणालीको योगी लोग सांख्य योग कहते है और जिसका महत्व प्रसिद्ध करनेके लिए मैंने कपिलका अवतार धारण किया था, अब तुम प्रकृति और पुरुषका वही निर्दोष प्रसंग सुनो।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

"तुम यह बात समझ रखो कि दिन और रातकी जोडी की तरह पुरुष और प्रकृति ये दोनो भी अनादि हैं। हे अर्जुन, रूप मिथ्या नही है, परन्तु सच्चे रूपके साथ ही साथ उसकी छाया भी आती ही है। अथवा फसलके दानोमें अनाजके कणोके साथ साथ उसका ऊपरी छिलका भी बराबर बढता ही रहता है। इसी प्रकार पुरुष और प्रकृति दोनो एक दूसरेके साथ बहुत ही घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध हैं और उनका यह सम्बन्ध अनादि-सिद्ध है। एसी प्रकार "क्षेत्र" शब्दसे जो कुछ प्रदर्शित किया गया है, वह सब भी प्रकृति है। और इसलिए अब तुम्हे अलगसे यह बतलानेकी कोई आवश्यकता नही रह जाती कि जो कुछ क्षेत्रज्ञ है, वह पुरुष ही हैं। यद्यपि इनके ये अलग-अलग नाम हैं, तो भी इनमे निरूपणका जो तत्व है, वह एक ही है। यह बात भूल नहीं जानी चाहिए; और इसी लिए मैं बार बार तुमको बतलाता हूँ। हे अर्जुन, इसमे जो सत्ता अर्थात् सत्यका अंश है, उसीको पुरुष समझना चाहिए और इसके आधार पर होनेवाली क्रियाको प्रकृति समझना चाहिए। बुद्धि, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि विकार उत्पन्न करनेवाली शक्ति और सत्व आदि जो तीन गुण

परसे उसका किसी तरह उठनेको जी नही चाहता, जिसका जीव, मन और प्राण घर गृहस्थीके झमेलोसे उसी प्रकार बाहर नही निकल सकते, जिस प्रकार पानीके गड्ढेसे मेंढक नही निकलना चाहता अथवा मच्छड़ जिस प्रकार नाकसे निकले हुए कफको नही छोड़ना चाहता अथवा ढोर जिस प्रकार सदा कीचडमे ही पडा रहना चाहते हैं, जो घर-गृहस्थीको उसी प्रकार पकडकर बैठा रहता है, जिस प्रकार साँप किसी बंजर या खाली जमीन पर जमकर पडा रहता है और वहाँसे किसी तरह हटना नहीं चाहता, जो अपनी घर-गृहस्थीको उसी प्रकार खूब जोरोसे पकडकर बैठा रहता है, जिस प्रकार कोई स्त्री अपने प्राणनाथको अपनी सारी शक्तिसे आलिगन करके बैठी रहती है, जो घर गृहस्थीकी रक्षाके लिए निरन्तर इसी प्रकार परिश्रम करता रहता है, जिस प्रकार मधु प्राप्त करनेके उद्देश्यसे भृ ग सदा परिश्रम करता रहता है, जिसका घर-गृहस्थी पर उतना ही अधिक अनुराग होता है, जितना उन माता-पिताका अपने उस एकलौते पुत्ररत्न पर होता है जो उन्हे दैवयोगसे वृद्धावस्थामे प्राप्त होता है और जो अपनी स्त्रीके सिवा और किसीको कुछ जानता या समझता ही नही, जो केवल स्त्रीके ही शरीरका भजन और उपासना करता है और इस बातका जिसे नामको भी ज्ञान नही होता कि मैं कौन हूँ और मुझे क्या करना चाहिए, जो अपनी समस्त इन्द्रियोसे उसी प्रकार स्त्रीमे एकाग्र भावसे अपना अनुराग रखता है, जिस प्रकार महाज्ञानी पुरुषका चित्त केवल ब्रह्ममे ही रमण करता है और उस ब्रह्मके सामने उसके दूसरे समस्त व्यवहारोका लोप हो जाता है, जो स्त्री सम्बन्धी अनुरागके सामने लज्जा अथवा हानिको कोई चीज ही नही समझता और न लोकापवाद ही सुनता है, जो सदा स्त्रीकी इच्छाकी आराधना करता है (अर्थात् स्त्रीकी ही इच्छाके अनुसार चलता है) और उसके फेरमे पडकर उसी प्रकार नाचता है जिस प्रकार मदारीका बन्दर नाचता है, जो दान-पुण्यमे उसी प्रकार कजूसी करता है जिस प्रकार कोई बडा भारी लोभी स्वयं कष्ट उठाकर अपने इष्ट मित्रोको भी दुःखी करके कौडी कौडी जमा करता है, जो अपने रिश्ते-नातेके लोगोको तो धोखा देता है और उनके आदर सत्कारमे त्रुटि करता है, परन्तु अपनी स्त्रीकी सभी इच्छाएँ पूरी करता है और उसमे रत्ती भर भी कमी नही होने देता, जो बहुत ही थोडे से व्ययमे आराध्य देवताओको सन्तुष्ट करना चाहता है, गुरुजनोको यो ही चकमा देता है और अपने माता-पिताके सामने भी व्यय करनेमे अपनी असमर्थता ही प्रकट करता है, परन्तु अपनी स्त्रीके उपभोगके लिए वह जो उत्कृष्ट वस्तु देखता है, उसे बहुत अधिक व्यय करके भी प्राप्त करता है, जो अपनी स्त्रीकी उसी प्रकार उपासना करता है, जिस प्रकार कोई प्रेमपूर्ण भक्त अपने कुल-देवताकी उपासना और भजन करता है, जो असल और बढिया चीजें तो अपनी स्त्रीके लिए रख छोडता है और दूसरो को सामान्य निर्वाहके योग्य भी कोई वस्तु नही देता, जो यह समझता है कि यदि कोई मेरी स्त्रीकी ओर आँख उठाकर देखेगा या उसका विरोध करेगा तो मानो प्रलयके समान अनर्थ हो जायगा, जो अपनी स्त्रीकी बहुत छोटी सी बात भी उसी प्रकार आग्रहपूर्वक पूरी करता है, जिस प्रकार दाद या चकत्ते होनेके डरसे लोग देवीको चाँदीके

हैं, उन सबका समूह प्रकृतिसे ही हुआ है और वही सब प्रकार की क्रियाओंका मूल है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

"इस व्ययस्थामे प्रकृति सबसे पहले अहकारके साथ साथ इच्छा और बुद्धि उत्पन्न करती है और तब उन्हे कारणकी धुनमे लगा देती है। फिर इस आरम्भ किये हुए कर्मको सिद्ध करनेके लिए जो भिन्न-भिन्न युक्तियोके धागे और डोरे तानने पडते है, उन्हीका नाम कार्य है। फिर इच्छाके उन्मादके द्वारा वह प्रकृति मनको संचालित करती है और तब वह चलायमान मन इद्रियोको सचालित करता है। इसीको प्रकृतिका कर्तृत्व कहते है।" इसी लिए सिद्ध जनोमे श्रेष्ठ श्रीकृष्ण कहते हैं कि कार्य, कर्तृत्व और कारण इन तीनोका मूल केवल प्रकृति ही है। इस प्रकार इस त्रिपुटीके द्वारा प्रकृति कर्मका रूप धारण करती हैं, परन्तु सत्व आदि तीनो गुणोमेसे जिस गुणका विशेष उत्कर्ष हुआ रहता है, उसी गुणसे वह रँगी रहती है। जो कर्म सत्व गुणसे होते हैं- वे सत्कर्म कहलाते है, रजोगुणसे जो कर्म होते हैं- वे मध्यम कर्म कहलाते है, और जो कर्म केवल तमोगुण होते है, वे अधम कर्म होते है और उन सबको निषिद्ध समझना चाहिए। इस प्रकार भले और बुरे सभी प्रकारके कर्म प्रकतिसे ही उत्पन्न होते है और उन्ही कर्मोसे सुख तथा दु ख उत्पन्न होते है। दुष्ट या बुरे कर्मोसे दु ख उत्पन्न होते है और सत्कर्मोसे सुख उत्पन्न होते हैं, और पुरुप उन दोनोका ही उपभोग करता है। जब तक ये सुख और दु ख सत्य-से जान पडते है, तब तक प्रकृति उन सुखो और दु खोकी उत्पत्तिका काम बराबर करती रहती है और पुरुष भी बराबर उन सबका उपभोग करता रहता है। यदि इन पुरुप और प्रकृति के घरकी व्यवस्था बतलाई जाय तो वह बहुत ही विचित्र है। इसमे स्त्री जो कुज उपार्जन करती है, वह पति चुपचाप बैठा खाता है। ये पत्नी और पति कभी एक साथ मिलकर नही रहते और इनकी कभी ठीक तरहसे सगति नही होती। परन्तु फिर भी यह कितने बडे आश्चर्यकी बात है कि उसी स्त्रीके पेटसे सारा संसार उत्पन्न होता है!

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

"यह जो वर या पुरुप है, वह निराकार, निष्क्रिय, केवल, निर्गुण और पुराना, पुराना या वल्कि पुरानेसे भी पुराना है। उसको यो ही नाम मात्रके लिए पुरुष कहते है। परन्तु यदि वास्तदिक दृष्टिसे देखा जाय तो वह स्त्री भी नही हैं और नपुसक भी नही हैं। बल्कि सच तो यह है कि वह भी निश्चय नही है कि वह क्या है। उसे आँख, कान, हाथ, पैर, वर्ण, नाम आदि कुछ भी नही है। हे अर्जुन, इस प्रकार जिसके सम्बन्धमे यह कहा ही नही जा सकता कि उसे कुछ है, वही प्रकृतिका पति या पुरुष है और उस प्रकृतिके कारण उसके पति या पुरुषको भी सुख-दु.ख आदि भोगने पड़ते है। स्वय पति या पुरुष तो कुछ भी नही करता. क्योकि वह बिलकुल उदासीन रहता है और उसे भोगकी कुछ भी वासना नही होती, परन्तु यह पतिव्रता प्रकृति ही बलपूर्वक उससे भोग भोगवाती है। वह अपने रूप और

नाग चढानेकी मन्नत आग्रहपूर्वक पूरी करते है, हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि जो अपनी स्त्रीको ही सब कुछ समझता है और जिसका प्रेम केवल उन्ही बाल बच्चोके हिस्सेमें पड़ता है जो उस स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न होते है और जिसे अपनो स्त्रीका सारा वैभव अपने प्राणोंसे भी वढकर प्रिय होता है, वह पुरुप अज्ञानका मूल होता है, उसके कारण अज्ञानका तेज वढ़ता है और वह प्रत्यक्ष अज्ञान ही होता है। जिस प्रकार विक्षुब्ध समुद्रमे बिलकुल खुली और छूटी हुई नाव लहरोके साथ ऊपर नीचे होती रहती है, उसी प्रकार प्रिय वस्तुके प्राप्त होने पर तो जिसकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि वह सारे आकाशमें भी नही सम्मा सकता, परन्तु कोई अप्रिय वात होने पर जो दुःखी होकर मानो रसातलमे पहुँच जाता है और इस प्रकार जिसका अन्तःकरण भेद भावनाके वन्धनमे पडा रहता है, फिर वह चाहे कितना ही बुद्धिमान् क्यो न हो उसे अज्ञानका स्वरूप ही समझना चाहिए। जो अपने मनमे किसी प्रकारके फलकी आशा रखकर मेरी भक्ति उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कोई द्रव्य सम्पादित करनेके उद्देश्यसे वैराग्यका वेप धारण करता है अथवा जिस प्रकार कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपने यारके पास जानेका सुभीता पानेके लिए अपने पतिका सन्तोप करके और उसका मन भरकर उसे झूठा विश्वास दिलानेके लिए ऊपरसे अपना शुद्ध व्यवहार और आचरण दिखलाती है, इसी प्रकार, हे अर्जुन जो ऊपरसे दिखलानेके लिए तो मेरी भक्ति करता है, परन्तु वास्तवमें जिसकी सारी दृष्टि विषय सुखोको सम्पादित करनेकी ओर रहती है और जव इस प्रकारकी भक्ति करने पर इच्छित विषय प्राप्त नही होता तव जो यह कहकर तत्काल ही मेरी भक्ति छोड देता है कि यह सारी भक्ति निरर्थक है, जो उसी प्रकार नित्य नये-नये देवताओकी आराधना करता है, जिस प्रकार कोई कृपक नित्य नई नई जमीने लेकर जोतता है और अपने प्रत्येक नये देवताकी अपने पुराने देवताकी ही तरह सेवा करता है, जो किसी नये गुरु-सम्प्रदायका विशेप ठाट वाट देखकर उसीके फेरमे पड जाता है और उसीका मन्त्र लेता है और दूसरोको क्षुद्र समझकर उनका स्वीकार नही करता, जो सजीव प्राणियो-के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करता है, परन्तु वृक्ष और पापाण आदि स्थावर पदार्थोको देवता समझ कर उनकी पूजा करता है और इस प्रकार जिसकी एकनिष्ठ श्रद्धा किसी पर नही होती, जो मेरी मूर्ति तो प्रस्तुत करता है, परन्तु उस मूर्तिको अपने मकानके किसी कोनेमे स्थापित करके स्वय दूसरे देवताओके दर्शन और यात्राके लिए निकल जाता है, जो सदा मेरा पूजन करता है, परन्तु मंगल कार्योमे कुल-देवताओंका अर्चन करता है और कुछ विशेप पर्वोके समय दूसरे देवताओकी आरा-धना करता है, जो घरमे तो मेरी मूर्ति स्थापित करता है, परन्तु मन्नते दूसरे देवताओं-की मानता है और फिर श्राद्धके समय अपने पितरोका भक्त हो जाता है, जो एकादशी-के दिन मेरा जितना मान करता है, उतना ही श्रावण शुक्ला पचमीके दिन नागोका भी मान करता है, जो भाद्रपदकी शुक्ल चतुर्थीके दिन गणपतिका भक्त हो जाता और चतुर्दशी आने पर दुर्गाकी भक्ति करने लग जाता है, जो नवमीका आयोजन करके नवचण्डीका अनुष्ठान करने बैठ जाता है और रविवारको काल भैरवका

गुणोके कारेण थोडी ही चुलबुलाहट दिखलाती है और जिस प्रकारके नाच चाहती है, उस प्रकारके नाच उसे नचाती है। उस प्रकतिका नाम ही गुणमयी है; बल्कि कहा जा सकता है कि वह गुणोकी प्रत्यक्ष मूर्त्ति ही है। वह क्षण क्षण पर अपने रूप और गुणोके नये नये ढंग दिखलाती है और उसीके कारण जड़ पदार्थ भी मत्त हो जाते है। वह नामोको प्रसिद्ध करती है, वही प्रेमको प्रेमपूर्ण बनाती है और वही इन्द्रियोको जगाती है। इस मनको हम नपुसक कैसे कहे ? क्योकि यह प्रकृति इस मनको तीनो लोकोके भोग भोगवाती है। इस स्त्रीका चरित्र कुछ ऐसा ही विलक्षण है। यह भ्रमका असीम प्रदेश है, अमर्यादाकी मूर्ति है और सभी प्रकारके विकार उत्पन्न करती है। यह वासना रूपी वल्लीको वह छतरी या मंडप है जिस पर वह वेल चढती और फलती-फूलती है, यह भ्रान्तिके वनकी वसन्त-लक्ष्मी है और इसी लिए इसका सुप्रसिद्ध नाम दैवी माया रखा गया है। शब्द-सृष्टिका विस्तार यही करती है, नाम रूपात्मक जगत् की सृष्टि भी यही करती है और सब प्रकारके प्रपंचोकी रचना भी बराबर यही करती रहती है। कला, विद्या, इच्छा, ज्ञान और क्रिया आदि सबकी उत्पत्ति इसीसे होती है। नाद रूपी सिक्के ढालनेवाली टकसाल यही है, चमत्कारका मन्दिर भी यही है, यहाँ तक कि सारे विश्वके नाटककी रचना भी इसीने की है। विश्वकी उत्पत्ति और लय मानो इस प्रकृतिकी प्रात· संध्या और सायं संध्या है। तात्पर्य यह कि यह प्रकृति एक अद्भुत मोहिनी है। यह अद्वैतकी जोड़ीदार है और संग-रहितोकी रिश्तेदार है, क्योकि यह शून्यमे वर बनाकर उसीमे आनन्दपूर्वक निवास करती है। इसकी सामर्थ्यका विस्तार इतना अधिक है कि जिस पुरुषका सहसा आकलन भी नही किया जा सकता, उसी पुरुषको यह अपने वशमे करके रखती है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो उस पुरुषमे कुछ भी नही है और वह पूर्ण रूपसे उदासीन रहता है। परन्तु यह प्रकृति स्वयं ही उसका सब कुछ बन जाती है। उस स्वयंभू की उत्पत्ति, उस निराकारकी मूर्ति और स्थिति यह प्रकृति ही होती है। यह प्रकृति ही उस वासना-रहितकी वासना, स्वयंपूर्णका सन्तोष, अजातकी जाति और गोत्र, अनामीका नाम, अजन्माका जन्म, निष्कर्मीका कर्म, निर्गुणका गुण, चरणहीनके चरण, अकर्णके कान, नयनहीनके नेत्र, अभावका भाव, अवयव रहितके अवयव, यहाँ तक कि उस पुरुपका सब कुछ यह प्रकृति आप ही बन जाती है। इस प्रकार इस प्रकृतिके व्यापक विस्तारके कारण वह विकार-हीन पुरुप भी विकारोसे लिप्त हो जाता है। इस पुरुपमे जो पुरुपत्व रहता है, वह केवल इस प्रकृतिके अस्तित्वके ही कारण होता है। जिस प्रकार अमावस्याके हाथसे पड़ने पर चन्द्रमा भी काला हो जाता है अथवा बहुत ही खरे सोनेमें भी रत्ती भर राँगा या जस्ता आदि मिलाने पर उस सारे सोनेका कस हल्का होकर पन्द्रहसे पाँच पर आ पहुँचता है अथवा जिस प्रकार पिशाचका सचार होने पर सज्जन पुरुष भी निन्दनीय तथा घृणित आचार व्यवहार करने लगता है अथवा मेघोकी संगतिके कारण सुदिन भी दुर्दिन हो जाता है अथवा जिस प्रकार पशुके पेटके अन्दर दूध छिपा रहता है अथवा लकड़ीके अन्दर अग्नि दबी रहती है अथवा रत्नदीप वस्त्रमें ढका रहता है अथवा राजा जैसे दूसरे आदमियोंके

खिचडा बाँटने लगता है, और फिर सोमवार आने पर बेल-पत्र लेकर शिव-लिंगकी ओर दौड पडता है, तात्पर्य यह कि इस प्रकार जो पुरुष नाना प्रकारके और सभी देवताओकी आराधना और उपासना करता है और इस प्रकारकी धाँधलीसे जो निरन्तर भक्ति करता है और क्षण भर भी शान्त नही रहता और बराबर सभी देवताओकी ओर दौडता हुआ दिखाई देता है, उसके सम्बन्धमे तुम निश्चित रूपसे यह समझ लो कि वह भक्त मूर्तिमान् अज्ञान ही है। निर्जन और स्वच्छ तपोवन, तीर्थ और नदीतटको देखकर जिसके मनमे घृणा या अरुचि उत्पन्न होती है, वह भी मूर्तिमान् अज्ञान ही है। जिसे मनुष्योकी भीड-भाडमे ही रहना अच्छा लगता है, जो सांसारिक झगडोमे ही भूला रहता है और जो लौकिक विषयोके सम्बन्धमे अनुराग-पूर्वक बातें करता है, वह भी मूर्तिमान् अज्ञान ही है। जिस विद्याके द्वारा आत्म-दर्शनकी प्राप्ति होती है, उस विद्याकी चर्चा होने पर जिस विद्वानमें उसका उपहास करनेकी बुद्धि होती है, जो उपनिषदोकी ओर कभी भूलकर भी नही देखता, योग-शास्त्र जिसे अच्छा नही लगता और अध्यात्म-ज्ञानकी ओर जिसके मनकी प्रवृत्ति नही होती, जिसमे आत्म चर्चा सम्बन्धी श्रद्धाका नितान्त अभाव होता है और जो यह समझता है कि यह विषय विचार करनेके योग्य ही नही है और जिसका मन रस्सा तुडाकर भागनेवाले पशुकी तरह मुक्त और स्वेच्छाचारी रहता है, जो कर्म-काडमें निपुण होता है, जिसे सब पुराण कंठस्थ होते है और जो ज्योतिषमे भी पारंगत होता है, जो शिल्प-कर्मोमे चतुर होता है, पाक विद्यामे निष्णात होता है और अथर्वण वेदके अघोरी मन्त्र तन्त्रोमे कुशल होता है, जिसके लिए कामशास्त्रकी और कोई बात सीखनेके लिए बाकी नही होती, जिसे महाभारतकी सब बाते ज्ञात होती हैं और मूर्त्तिमान् वेद ही जिसके हाथमे आ जाते है, जिसे नीति-शास्त्रका ज्ञान होता है, वैद्यकका ज्ञान होता है और काव्यो तथा नाटकोके ज्ञानमे जिसके मुकाबलेका और कोई नही होता, जो स्मृतियोकी चर्चा करता है, गारुड़ी विद्याका मर्म जानता है और शब्द-कोषको जिसने अपनी बुद्धिका मानो दास ही बना रखा है, व्याकरण-शास्त्रमे जिसका ज्ञान अगाध है, तात्पर्य यह कि जो सभी विषयोका बहुत अच्छा ज्ञाता है, परन्तु फिर भी एक मात्र अध्यात्म-विद्यामे सचमुच जन्मान्ध है, जो अध्यात्म-शास्त्रको छोडकर बाकी सभी शास्त्रोके सिद्धान्तोका प्रतिपादन कर सकता है, उसके इस प्रकारके ज्ञानमे आग लग जाय। ऐसे ज्ञानके किसीको उसी लडकेके समान दर्शन तक न होने चाहिए जो माता-पिताका घात करनेवाले मूल नक्षत्रमें जन्म लेता है। मोरके सारे शरीरमें पंख होते हैं और उन सभी पखो पर नेत्र भी होते है। परन्तु जिस प्रकार उन सभी नेत्रोमे दृष्टिका अभाव होता है, उसी प्रकार इस ज्ञानमे भी वास्तविक दृष्टिका अभाव होता है। यदि संजीवनी बेलकी जरा-सी जड भी हाथ लग जाय तो फिर दूसरी औषधियो तथा वनस्पतियोकी गाडियाँ लादनेकी क्या आवश्यकता है? यदि सौन्दर्यके बत्तीसो लक्षण हो, परन्तु एक मात्र आयुष्य न हो अथवा यदि बहुत-से आभूषण आदि तो हो, परन्तु मस्तक ही न हो अथवा बहुत-से बाजे बजानेवाले और बधाइयाँ देनेवाले तो हों परन्तु वर और वधू

फेरमे पड जाता है अथवा सिंह किसी रोगसे जर्जर हो जाता है, उसी प्रकार इस प्रकृतिकी संगतिमे पडकर पुरुष भी अपना सारा तेज गँवा वैठता है। जिस प्रकार जागा हुआ मनुष्य एक दमसे निद्राके वशमे होकर स्वप्नकी वासनाओके चक्करमे पड़ जाता है, उसी प्रकार इस प्रकृतिके संसर्गके कारण पुरुषको भी गुणोका भोग भोगना पडता है। जिस प्रकार विरक्त पुरुष भी स्त्रीके योगसे सासारिक वन्धनोसे जकड़ा जाता है, उसी प्रकार यह जन्म-रहित, शाश्वत पुरुष भी प्रकृतिके योगसे अनेक प्रकारके बन्धनोमे बँध जाता है और गुणोके संगके कारण उस पर भी जन्म और मृत्युके वार होते रहते है। परन्तु हे अर्जुन, यह बात कुछ उसी प्रकारकी है, जिस प्रकार तपाये हुए लोहे पर धनकी जो चोटें पडती है, उनके सम्बन्धमे साधारण लोग यही समझते है कि ये चोटें अग्नि पर पडती हैं, अथवा जिस प्रकार पानीके हिलने पर उसमे चन्द्रमाके एक प्रतिविम्वके वदलेमे अनेक प्रतिविम्व दिखाई पडते है, और उन प्रतिविम्वोके अनेकत्वका अविचारी लोग उस प्रतिविम्वित होनेवाले चन्द्रमामें आरोप करते है। अथवा जिस प्रकार दर्पणके वहुत समीप होने पर प्रतिविम्वके कारण उसमे एकके बदले दो मुख दिखाई पडते है अथवा कुंकुम लग जानेके कारण स्वच्छ स्फटिकमे भी कुछ लाली और कुछ कालिमा दिखाई देने लगती है, उसी प्रकार गुणोके सगके कारण ऐसा जान पडता है कि उस अजन्माके भी अनेक जन्म होते है। परन्तु जव गुणोके साथ उसका संग नही होता, तव यह वात नही होती। यो तो संन्यासी जाति-हीन होता है, परन्तु कभी कभी स्वप्नमे उसे इस प्रकारका भी भास हो सकता है कि मै अन्त्यज आदि किसी जातिका हूँ। इसी प्रकार तुम समझ लो कि उस पुरुषके सम्वन्धमे भी ऐसा भास होता है कि वह उच्च और नीच योनियोमे आता जाता है। इसीलिए वास्तवमे वह केवल-रूपी और निस्सग पुरुष कभी किसी प्रकारका भोग नही भोगता। इस भोग-प्रकरणका सारा मूल वीज गुणोका संग ही है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥२२॥

"जूहीकी वेलकी सँभाले रहनेवाला खम्भा जिस प्रकार विलकुल सीधा खड़ा रहता है, उसी प्रकार यह पुरुष भी प्रकृतिकी मायामे सदा विलकुल सीधा खडा रहता है। इसमे और प्रकृतिमे आकाश और पातालका अन्तर है। प्रकृति रूपी नदीके तट पर पुरुष मेरु पर्वतके समान रहता है। प्रकृतिका तो जन्म और नाश होता रहता है, परन्तु पुरुष शाश्वत होता है और इसीलिए वह व्रह्मासे लेकर कीडे-मकोडों तक सभीका शास्ता और नियन्ता होता है। प्रकृतिको इसी पुरुषसे जीवनकी प्राप्ति होती है और इसीकी सामर्थ्यसे वह संसारकी उत्पत्ति करती है। वही प्रकृतिका भर्त्ता है। हे अर्जुन, कालके अखंड प्रवाहमे प्रकृति जो जो सृष्टियाँ उत्पन्न करती रहती है, वे सव कल्पान्तके समय इसी पुरुषके पेटमे लीन हो जाती है। यह महद्-व्रह्म उस प्रकृतिका स्वामी है और इसी व्रह्माडके सव सूत्र इसी महद्व्रह्मके हाथमे रहते है। इसकी व्यापकता इतनी असीम है कि वह इन समस्त प्रपंचोका माप कर सकता हैं। इस शरीरमे रहनेवाली जिस वस्तुको लोग परमात्मा कहते है, वह यही

ही न हो तो उन सबका भला क्या उपयोग हो सकता है? इसी प्रकार एक अध्यात्म-शास्त्रके बिना दूसरे समस्त शास्त्र अपनी अपूर्णताके कारण केवल निष्फल और भ्रामक होते है। इसलिए, हे अर्जुन, जिसे पढे-लिखे मूर्खको अध्यात्म-ज्ञानका बोध न हो, उसके शरीरको अज्ञानका मन्दिर ही समझना चाहिए। उसके समस्त ज्ञान एक मात्र अज्ञान रूपी वल्लीके ही फल होते है। उसके प्रत्येक वचनको अज्ञानका पुष्प ही समझना चाहिए और जो पुण्य-फल उसे प्राप्त होते है, वे भी अज्ञान ही होते हैं। जिसके मनमे अध्यात्म-शास्त्रके सम्बन्धमे आदर नही होता, उसके सम्बन्धमें यह बतलानेकी आवश्यकता ही नही है कि उसे ज्ञान-वस्तु कभी दिखाई ही नही देती। जो नदीके इस पारवाले तट पर भी न आता हो और पीछेकी ओर लौटकर भाग जाता हो, भला उसे उस पारकी बातोंका कैसे ज्ञान हो सकता है? अथवा दरवाजेकी ड्योढ़ी पर ही जिसका सिर दबा दिया गया हो, भला उसे घरके अन्दरकी बातें कैसे मालुम हो सकती हैं? इसी प्रकार, हे अर्जुन, जिसका अध्यात्म-ज्ञानके साथ कुछ भी परिचय न हो, उसके लिए सत्य ज्ञान प्राप्त होनेकी जगह ही कहाँ बाकी रह जाती है? इसलिए, हे अर्जुन, अब बहुत ही अधिक विवेचनपूर्वक तुम्हें यह बतलानेकी आवश्यकता नही है कि ऐसे पुरुषको वास्तविक ज्ञानका कुछ भी तत्व ज्ञात नही होता। जिस प्रकार गर्भिणी स्त्रीके आगे अन्न परोसनेका फल यही होता है कि उसके पेटमे रहनेवाला पिंड या बालक बढ़ता है, उसी प्रकार ऊपर बतलाये हुए ज्ञान-पदोमें ही अज्ञान-पदका भी विवेचन या अन्तर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार यदि किसी अन्धेको निमन्त्रण दिया जाय तो वह अपने साथ किसी सुझाले आदमीको लेकर आता है, उसी प्रकार जब अज्ञानके लक्षण बतलाये जाते हैं, तब उनके साथ साथ ज्ञानके लक्षण भी आपसे आप ही समझमे आने लगते है। इसी लिए प्रस्तुत प्रकरणमे अमानित्व आदि ज्ञान-लक्षणोके विपरीत ही अज्ञानके लक्षणोका भी प्रतिपादन किया गया है। ऊपर ज्ञानके जो अठारह लक्षण बतलाये गये हैं, वे सब यदि उलट दिये जायँ तो वे आपसे आप अज्ञानके लक्षण हो जाते हैं।" पिछले श्लोकके एक (अर्थात् चौथे) चरणमे श्रीकृष्णने बतलाया था कि यदि ज्ञानके लक्षणोको उलट दिया जाय तो वे आपसे आप अज्ञानके लक्षण हो जाते है। इसी लिए मैंने इस प्रणालीका अनुकरण करके इस विषयका स्पष्टीकरण किया है। मूलमे इस प्रणालीका अनुकरण नही किया गया था; परन्तु फिर भी पानी डालकर दूध बढानेवाले सिद्धान्तके अनुसार अपनी ओरसे व्यर्थकी बाते बढाकर मैं विषयका विस्तार न करता। मैंने तो मूल श्लोकोके शब्दोकी मर्यादा न छोडकर मूलमे ध्वनित किए हुए अर्थका ही स्पष्टीकरण करनेका प्रयत्न किया है। यह सुनकर श्रोताओंने कहा—"स्पष्टीकरण बहुत हो चुका। इस प्रकारके समर्थनकी कुछ भी आवश्यकता नही है। हे कविपोषक, तुम्हे व्यर्थ ही भय क्यो हुआ कि तुम्हारे इस विवरण विस्तारके कारण लोग उकता गये है? तुम्हे तो श्रीकृष्णने आज्ञा दी है कि गीतामे मैंने जो अर्थ गर्भित कर रखे है; उन्हे तुम स्पष्ट करके लोगोको बतला दो। तुम भगवानका वही मनोरथ आज पूर्ण कर रहे हो। परन्तु यदि यही बात तुमसे कही जाय तो तुम्हारा चित्त प्रेमसे गद्‌गद हो जायगा। इसी लिए हम लोग ये

पुरुष है। हे अर्जुन, लोग जो यह कहा करते है कि इस प्रकृतिसे परे एक और वस्तु है, वह वस्तु वास्तवमे यही पुरुष है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

जो मनुष्य इस पुरुषका स्वरूप स्पष्ट रूपसे जानता है और साथ ही जो इस बातका भी ध्यान रखता है कि त्रिगुणात्मक सृष्टि इसी प्रकृति रूपी मायासे उत्पन्न हुई है और हे अर्जुन, जो इस प्रकारका निर्णय कर सकता है कि यह मूल वस्तु है और यह उसका प्रतिविम्ब है और यह माया-रूपी पानी या मृग-जल है और इस प्रकार जो प्रकृति और पुरुषकी व्यवस्था खूब अच्छी तरह समझ लेता है, वह मनुष्य इस देह-प्राप्तिके कारण भले ही सब प्रकारके कर्म किया करे, परन्तु फिर भी वह कर्मसे ठीक उसी प्रकार अलग और निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार आकाश कभी धूलसे मैला नही होता और सदा उससे अलग और निर्लिप्त रहता है। जब तक उसका यह शरीर रहता है, तब तक वह कभी इस शरीरके मोहमे नही फँसता, और जब उसका देह-पात होता है, तब फिर दोबारा उसका जन्म भी नही होता। इसलिए प्रकृति और पुरुषका जो विवेक इतने अधिक कल्याणका साधन करनेवाला है, वह विवेक या विचार तुम सदा करते रहो। ऐसे अनेक उपाय हैं जिनसे इस विवेकका अन्त करणमे सूर्यके प्रकाशके समान उदय हो। अब वे उपाय मैं तुमको बतलाता हूँ, सुनो।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

"हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, कुछ लोग विचारकी आग सुलगाकर आत्मा और अनात्माके हलके सोने पर ज्ञानका अच्छा सोना चढ़ाते है और इस प्रकार भिन्न भिन्न छत्तीस कसोके भेद विलकुल मिटाकर उसमेसे ब्रह्म-तत्वमे निर्मल सोना ढूँढ निकालते हैं। और तब वे आत्म-ध्यानकी दृष्टिसे उस ब्रह्म-तत्वमे स्वयं अपने आपको ही देखने लगते है। कुछ लोग दैव वशात् सांख्य योगके अनुसार ब्रह्म-तत्वकी ओर ध्यान लगाते हैं और कुछ लोग कर्मका अंगीकार करके उस साध्यकी साधना करते है।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

"इस प्रकार यह बात ठीक है कि लोग भिन्न भिन्न मार्गोसे इस भव-भ्रमके चक्करसे बाहर निकलते हैं। परन्तु कुछ लोग ऐसा भी करते है कि सब प्रकारका अभिमान छोड़कर श्रद्धापूर्वक किसीके उपदेशको अपना आधार और आश्रय बना लेते है। जिन सत्पुरुषोको हित और अहित स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है, जो परम दयालु होते है, जो दूसरोसे पूछ-पूछकर उनके क्लेश हरण करते हैं और उन्हे सुख देते हैं, उन सत्पुरुषोके मुखसे जो उपदेश निकलते है, वे उपदेश वे लोग बहुत ही शुद्ध आदरपूर्वक तथा श्रद्धासे सुनकर अपनी मनोवृत्ति तद्रूप करते है। वे श्रद्धापूर्वक यह बात मानते हैं कि इस उपदेशश्रवणमे ही सब कुछ है और उपदेशोके अक्षरोके अनुसार पूरा पूरा आचरण करते है। हे अर्जुन इस प्रकारके

श्रद्धावान् श्रवण-मार्गी भी इस जन्म मरणके सागरसे अच्छी तरह उस पार पहुँचकर सुरक्षित हो जाते है। इसलिए उस एक ही ब्रह्मको प्राप्त करनेके अनेक भिन्न भिन्न मार्ग हैं। परन्तु इन सब बातोका बहुत कुछ विस्तार हो चुका। इस प्रकारके सारे मन्थनसे महासिद्धान्त का जो सारभूत नवनीत निकलता है, वही अव मैं तुम्हारे हाथ पर रख देना चाहता हूँ और उसीसे सब काम हो जायँगे। हे अर्जुन, इतनेसे ही तुम्हे बहुत सहजमे ब्रह्मका अनुभव हो जायगा और तुम्हारे लिए और किसी प्रकारका आयास करनेकी आवश्यकता न रह जायगी। इसी लिए अब मैं उसी बातका विवेचन करता हूँ और नाना प्रकारके मतोके वाद तोड़कर सबके अन्दरका बिलकुल शुद्ध और सत्य सिद्धान्त तुमको बतलाता हूँ।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

मैंने क्षेत्रज्ञ नामका जो आत्म-तत्व तुम्हे बतलाया है और जिन सबको क्षेत्र बतलाया है, उन दोनोके सम्मिलनसे ही भूत मात्रकी उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार वायुके संयोगसे पानीमे लहरें उठती है और सूर्यके तेज और रेतीली जमीनके संयोगसे मृगजलकी लहरोका आभास होता है अथवा मेघकी धाराके पृथ्वी पर बरसनेसे जैसे अनेक प्रकारकी वनस्पतियोके अंकुर उत्पन्न होते है, उसी प्रकार वे सब स्थावर और जंगम, जिन्हे हम लोग जीव कहते है, इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के योगसे उत्पन्न होते हैं। इसलिए हे अर्जुन, इनमेंसे जो प्रधान या मुख्य तत्व क्षेत्रज्ञ है, उससे यह नाम-रूपात्मक भूत सृष्टि अलग नही है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

"पटत्व वास्तवमे तन्तु नही है, परन्तु फिर भी उसका भास तन्तुओके ही कारण होता है। इसी प्रकार इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी एकताको बहुत गम्भीर दृष्टिसे देखना चाहिए। तुम्हे इस बातका अनुभव करना चाहिए कि ये सब भूत उस एकके ही अनेक रूप हैं और वे सब वास्तवमें एक ही हैं। इन सब भूतोके अलग अलग नाम हैं और इनकी स्थिति-गति और इनके रूप-रंग सब अलग अलग दिखाई देते हैं। परन्तु हे अर्जुन, यदि ये सब विभेद देखकर तुम अपने मनमे भेद-भावको स्थान दोगे तो फिर करोडो जन्म धारण करने पर भी इस संसारसे कभी बाहर न हो सकोगे। जिस प्रकार तूँबी या लौकीकी बेलमे लम्बे, टेढे और गोल आदि अनेक प्रकारके उपयोगमें आनेवाले फल लगते है अथवा जिस प्रकार बेरके फल चाहे टेढ़े-तिरछे और बेढंगे हो और चाहे सरल हो परन्तु फिर भी वे बेरके ही फल कहे जाते है और उनका नाम नही बदलता, उसी प्रकार भूत चाहे कितने ही भिन्न भिन्न आकार और प्रकारके क्यों न हो, परन्तु उन सब भूतोका आधार और मूल कारण जो परम वस्तु है, वह बिलकुल सरल और सीधी-सादी ही है। अंगारोके कण चाहे कितने ही अधिक भिन्न-भिन्न क्यो न हो, परन्तु जिस प्रकार उष्णता उन सबमे समानही

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

भगवान् कहते हैं—"हे अर्जुन, अपना लक्ष बिलकुल एकाग्र करके इस ज्ञानसे भिडना पड़ता है। इस ज्ञानके सम्बन्धकी बहुत-सी बातें मैंने अनेक युक्तिवादोके द्वारा तुम्हे वतलाई हैं; परन्तु अब मैं फिरसे तुमको उनकी उपपत्ति बतलाता हूँ और इसी लिए मैं उस "पर" की उत्पत्ति भी तुम्हे फिरसे बतलाता हूँ जिसे वेदोने बार-बार सबके परे बतलाया है। यदि वास्तवमे देखा जाय तो यह ज्ञान स्वयं अपना ही है; परन्तु वह इसलिए पर अर्थात् परकीय हो गया है कि लोगोने व्यर्थ ही इहलोक और स्वर्ग-लोकका एक झगड़ा लगा रखा है। और मै इसे पर अर्थात् सबसे उत्तम भी कहता हूँ; और इसका कारण यही है कि और सब प्रकारके ज्ञान तो तिनकोके समान हैं और यह ज्ञान उन सबको जलाकर भस्म कर देनेवाली अग्निके समान है। जो ज्ञान-मृत्यु-लोक और स्वर्ग-लोकको सत्य मानते है और यह कहते है कि केवल यज्ञ-कर्म ही अच्छे है, और भेद-भावके कारण जिन्हे द्वैत ही सत्यके समान जान पडता है, वे सब ज्ञान इस ज्ञानके हो जाने पर स्वप्नके समान मिथ्या सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार हवाके झोके अन्तमें आकाशमे जाकर लीन हो जाते है अथवा जिस प्रकार सूर्यके उदय होने पर चन्द्रमा आदिका तेज फीका पड़ जाता है अथवा प्रलय कालके जलका प्रसार होने पर जिस प्रकार समस्त नद और नदियाँ उसीमे लीन हो जाती है और उनका कही पता भी नही रह जाता, उसी प्रकार इस ज्ञानका उदय होने पर बाकी और सब प्रकारके ज्ञान बिलकुल विलीन हो जाते है। इसी लिए, हे अर्जुन, इस ज्ञानको और सब ज्ञानोसे उत्तम समझना चाहिए। हे पाडव, हमारी जो स्वयं सिद्ध मुक्त स्थिति है, उसीको मोक्ष कहते है। जिसके योगसे यह मोक्ष हमें प्राप्त होता है, वही यह ज्ञान है और उस ज्ञानका अनुभव हो जाने पर विचारवान् शूर पुरुष जन्म और मृत्यु रूपी संसारको सिर ऊपर नही उठाने देते। जो लोग मनसे ही मनका निग्रह करके स्वाभाविक विश्रान्ति प्राप्त कर लेते है। वे देहधारी होने पर भी देहके अधीन नही होते। वे देहके बन्धनसे बिलकुल छूट जाते हैं और मेरी बराबरीके हो जाते है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

"हे पार्थ, ऐसे लोग मेरी नित्यतासे ही नित्य होते हैं और मेरी परिपूर्णतासे ही परिपूर्ण होते हैं। मैं जिस प्रकार शाश्वत आनन्दसे वास्तवमे पूर्ण रूपसे सिद्ध हूँ, उसी प्रकार वे भी सिद्ध हो जाते है। फिर मुझमें और उन लोगोमे कोई भेद बाकी नही रह जाता। मेरा स्वरूप जैसा और जितना होता है, उनका स्वरूप भी वैसा और उतना ही हो जाता है। जिस प्रकार घटके फूट जाने पर उसमेका आकाश भी आकाश तत्वमे ही मिल जाता है अथवा दीपककी अनेक ज्योतियोके बुझने पर वे सब ज्योतियाँ उस मूल ज्योति या तेजमे मिल जाती है, उसी प्रकार हे अर्जुन, द्वैतके सब झगडोके मिट जाने पर और हम तथा तुम आदिका भेद नष्ट हो जाने पर समस्त

होती है, उसी प्रकार जीव चाहे कितने ही अधिक प्रकार के क्यों न हों, परन्तु फिर भी परमात्मा एक-रूप है। पावसकी धाराएँ चाहे आकाश भरमें क्यो न फैली हुई हो, परन्तु जल उन सबमें एक-रूप ही रहता है। ठीक इसी प्रकार सब भूतोके भिन्न-भिन्न आकारोमें वह परमात्मा भी सब जगह समान रूपसे रहता है। भूतोका यह समुदाय चाहे भिन्न-भिन्न रूप-रंगोका क्यो न हो, परन्तु फिर भी उन सबमें वह परमात्मा उसी प्रकार समान रूपसे रहता है, जिस प्रकार घट और मठ आदि सबमें आकाश समान रूपसे रहता है। जिस प्रकार बाहु-भूषण आदि अलंकार अलग अलग बनावटके और समय समय पर बदलते रहनेवाले होते है, परन्तु उनमेका सोना सदा सोना ही रहता है और कभी बदलता नही, उसी प्रकार यद्यपि भासमान होनेवाला भूतोका नाम-रूपोवाला यह खेल नश्वर है, परन्तु फिर भी उन सबमे निवास करनेवाली आत्मा शाश्वत ही है। इस प्रकार जो मनुष्य आत्म-तत्वको जीव-धर्मसे अलिप्त परन्तु फिर भी जीवसे अभिन्न समझता है, उसीको समस्त ज्ञानियोमें वास्तविक नेत्रोंवाला और वास्तविक देखनेवाला समझना चाहिए। हे वीर श्रेष्ठ अर्जुन, वह पुरुष ज्ञानकी दृष्टि ही होता है और उसे समस्त देखनेवालोमेंसे वास्तविक देखनेवाला समझना चाहिए। यह स्तुति कोई अतिशयोक्ति नही है। वह मनुष्य वास्तवमे बहुत बडा भाग्यशाली होता है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समावस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥

"यह शरीर गुणों और इन्द्रियोंकी थैली है और इसमे कफ, बात और पित्त तीनो धातुओका त्रिकूट है। इसीमे पाँचो महाभूतोका मिश्रण हुआ है और यह बहुत ही भयंकर है। स्पष्टतः यह पाँच डंकोंवाले बिच्छूके समान है अथवा इसे पाँच तरफोसे सुलगनेवाली भयंकर आग ही समझना चाहिए। अथवा इस जीव रूपी हिंसक सिहको मानो गरीब हिरनोके रहनेकी जगह ही मिल गई है। इस प्रकारके शरीरमे रहकर भला कौन ऐसा होगा जो नित्य बुद्धिकी छुरी अनित्य भावके पेटमें भोककर निश्चिन्त न हो जायगा? परन्तु हे अर्जुन, जो मनुष्य ज्ञानी होता है, वह जब तक इस शरीरमे निवास करता है, तब तक कभी आत्माका घात नही करता और शरीर-पात होने पर वह उसी आत्म-तत्वमें मिलकर एक-रूप हो जाता है। योगी-जन अपने योग-ज्ञानकी सामर्थ्यसे करोड़ो जन्मोको उल्लंघन करके जिस स्थानमे प्रवेश करते है और कहते हैं कि हम इस स्थानसे फिर निकलकर बाहर नही जायँगे, जो नाम-रूपात्मक भूत सृष्टिसे परे या उस पार है, जो नादके उस पारका और तुरीयावस्थाका जन्मस्थान है, जिसे परब्रह्म कहते है, जिसमे उसी प्रकार मोक्ष आदि समस्त परम गति लीन हो जाती है, जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्रमे लीन हो जाती है, उस परब्रह्मकी प्राप्तिका आनन्द और सुख आपसे आप उन लोगोके चरण धोनेके लिए आ पहुँचता है जो भूतोके भेद-भावको अपने मनमे स्थान नही देते और आत्म-बुद्धिके द्वारा सबके साथ सम भावसे व्यवहार करने हैं जिस प्रकार करोड़ों दीपकोंमें तेज एक-सा और सम भावसे निवास करता है, उसी प्रकार वह अनादि

नाम-रूपात्मक पदार्थ आकर एक ही पंक्तिमें बैठ जाते हैं और सब एक-से हो जाते है। इसीलिए जब फिरसे पहली सृष्टि उत्पन्न होती, है तब भी उन्हें उसके फेरमें नही फँसना पडता—उस नई सृष्टिमें भी उन्हें जन्म नही धारण करना पड़ता। फिर आदि सृष्टिके समय ही जिन्हें देह-बद्ध नही होना पडता, भला प्रलय कालमें उनके लिए मृत्यु कहाँसे आ सकती है ? हें अर्जुन, इसी लिए जो लोग इस ज्ञानका अनुसरण करते हैं, वे जन्म और मृत्युकी परम्परासे उस पार पहुँच जाते है और मेरे स्वरूपमें विलीन हो जाते हैं।"

इस प्रकार श्रीकृष्णने ज्ञानका महत्व इसलिए बड़े प्रेमसे अर्जुनको बतलाया जिसमें उसके मनमे इस ज्ञानको प्राप्त करनेकी उत्सुकता और अनुराग बढे। श्रीकृष्णके मुखसे यह वर्णन सुनकर इधर अर्जुनकी कुछ विलक्षण ही अवस्था हो रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि मानों उसके रोम रोममे कान उत्पन्न हो गये है और उनकी एकाग्रताके कारण वह तन्मय हो रहा था। अब भगवानके प्रेमने अर्जुनको इस प्रकार व्याप्त कर लिया था कि उसके निरूपणकी मर्यादा आकाशमे भी नही समाती थी। फिर देवने अर्जुनसे कहा—"हे बुद्धिमाम् अर्जुन, आज मेरा वक्तृत्व धन्य हुआ है, क्योंकि मेरी वाणीके योग्य श्रोता एक तुम्ही मुझे आज मिले हो। अच्छा अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि यह त्रिगुण रूपी पारधी मूलके एक स्वरूप अर्थात् मुझको किस प्रकार देहके पाशमे फँसाता है और मायाके सगके कारण मैं ही किस प्रकार अनेक जगतोका निर्माण करता हूँ। तुम ध्यान देकर सुनो।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

"प्रकृतिका क्षेत्र कहनेका कारण यह है कि वह मेरे संग रूपी बीजसे भूत रूपी फसल उत्पन्न करती है। इसी प्रकृतिका नाम महद्ब्रह्म है; और इसका कारण यह है कि महत् आदि जितने तत्व है, उन सबका यह विश्रान्ति-स्थान है। हे अर्जुन, इसीके कारण विकारोको नाना प्रकारके बल प्राप्त होते है; और इसी लिए इसको महद्ब्रह्म कहते हैं। अव्यक्तवादी इसीको अव्यक्त कहते हैं और साख्य मतकी प्रकृति भी यही है। वेदान्ती लोग इसीको माया कहते है। परन्तु हे ज्ञाता अर्जुन, इस प्रकारके नाम और अभिधान व्यर्थ कहाँ तक बतलाये जायँ। तुम समझ लो कि यह प्रकृति ही अज्ञान है। हे अर्जुन, अपने आत्म-स्वरूपकी विस्मृति हो जाना ही इस अज्ञानका स्वरूप है। इसके सिवा इसमे एक दूसरो विशेषता यह है कि जिस प्रकार दीपक जलाकर देखने पर अन्धकार नही दिखाई देता, उसी प्रकार विचारका स्फुरण होने पर अज्ञाव भी नही ठहरता। यदि दूधको आग पर रखकर चलाते रहें तो उसकी मलाई नष्ट हो जाती है, परन्तु यदि दूधको स्थिर रहने दिया जाय तो उस पर मलाई जम जाती है। जिस प्रकार गाढ़ निद्राकी वह अवस्था होती है। जिसमें न तो जाग्रति ही होती है, न स्वप्न ही होता है और आत्म-स्वरूप-समाधि ही होती है अथवा वायुका संचार न होने पर जिस प्रकार आकाश तत्व बिलकुल शान्त और स्थिर रहता है, उसी प्रकार इस अज्ञानकी भी अवस्था है। सामने जो कुछ दिखलाई पड़ता है, उसके सम्बन्धमे यह दृढ़ निश्चय तो होता ही नही कि वह खम्भा है या

परमात्मा भी सदा और सर्वत्र समान रूपसे निवास करता है। हे अर्जुन, जो पुरुष अपनी जीवन-अवस्थामे ही इस प्रकार की समताका अनुभव करता है, वह फिर कभी जन्म और मरणके बन्धनमे नही पडता। इसी लिए मैं भी उस भगवान् पुरुषकी बार बार स्तुति करता हूँ, क्योकि उसकी दृष्टि सदा सम भाव पर ही लगी रहती है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

"जो मनुष्य सचमुच और अच्छी तरह यह बात जानता है कि मन और बुद्धि आदि समस्त कर्मेन्द्रियोके द्वारा प्रकृति ही सब कर्म करती है, जो यह जानता है कि जिस तरह घरोमे रहनेवाले आदमी ही सब काम धन्धे करते है और स्वयं घर कोई काम नही करता अथवा जिस प्रकार आकाशमे मेघ तो खूब मनमाना संचार करते है, परन्तु स्वयं आकाश हिलता-डुलता नही, उसी प्रकार प्रकृति भी आत्माके तेजसे और त्रिगुणोकी सहायतासे अनेक प्रकारके खेल खेलती है, परन्तु उन खेलोमे आत्मा केवल केन्द्रीय स्तम्भकी भाँति उदासीन रहती है और वह इन सब खेलोको बिलकुल जानती ही नही; और इस प्रकारके निश्चित ज्ञानका प्रकाश जिसके अन्तःकरण पर पडा हो, उसीके सम्बन्धमे यह समझना चाहिए कि उसे इसे कर्तृत्वहीन आत्माका वास्तविक तत्व ज्ञात है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

"हे अर्जुन, यदि वास्तवमे देखा जाय तो जिस समय मनुष्यकी दृष्टिमे भूत-संघकी आकृतियोको नामत्व या भेद नही रह जाता और वे सब आकृतियाँ एक-रूप दिखाई देने लगती है, उसी समय ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब ब्रह्म-स्वरूप ही हैं। जिस प्रकार पानीमे लहरे, स्थलमे पार्थिव द्रव्योके कण, रवि-मंडलमे किरणें, शरीरमें अवयव, मनमे भिन्न भिन्न भाव अथवा एक ही अग्निमे अनेक साकार चिनगारियाँ होती है, ठीक उसी प्रकार जब ज्ञान-दृष्टिको यह दिखलाई पडने लगता है कि ये सब भूताकार उस एक ही आत्माके हैं, तभी मनुष्यको ब्रह्म-सम्पत्तिका जहाज हाथ आता है। उस समय मनुष्य जिधर देखता है, उधर ही उसे केवल ब्रह्मका स्वरूप दिखाई देता है और उससे अपरम्पार सुखकी प्राप्ति होती है। हे अर्जुन, केवल इतना ही विवेचन करके मैंने तुम्हे प्रकृति और पुरुषकी व्यवस्था समझा दी है और उसकी प्रत्येक दिशाका यथा-स्थित अवस्थान दिखला दिया है। तुम यह समझ लो कि जिस प्रकार अमृतका चुल्लू प्राप्त होता है अथवा कही छिपाकर रखा हुआ धन दिखाई पडता है, उसी प्रकार तुम्हे यह परम योग्यताका लाभ हुआ है। परन्तु हे अर्जुन, जब तक तुम्हे इस बातका ठीक अनुभव न हो जाय, तब तक तुम्हारे मनमे इसका दृढ निश्चय नही हो सकता। तो भी मैं तुमको महत्वकी एक दो बातें बतला देना चाहता हूँ। परन्तु पहले तुम अपना ध्यान मेरी ओर करो और तब मेरी बाते सुनो।" जब श्रीकृष्ण ये सब बातें कहकर और आगेकी बातें कहने लगे, तब अर्जुन भी चित्तको एकाग्र करके सुनने लगा।

मनुष्य है, केवल यही भावना होती है कि कुछ दिखाई पड़ता है, पर न जाने वह क्या है। इसी प्रकार आत्म-वस्तुका यथार्थ ज्ञान तो होता नही, पर साथ ही इस बातका भी कोई दृढ निश्चय नही होता कि वह ठीक अमुक वस्तु ही है। जिस प्रकार सन्ध्याके समय न तो पूरा दिन ही रहता हैं और न पूरी रात ही रहती है, उसी प्रकार यह अज्ञान भी न तो आत्म-वस्तुके विरुद्ध ही होता है और न अनुकूल ही होता है। इस प्रकार सत्य ज्ञान और विरुद्ध ज्ञानके बीचकी जो सन्देहवाली अवस्था होती है, उसीको अज्ञान कहते है; और इस अज्ञान मे फँसे हुए आत्म-तत्वको ही क्षेत्र कहते है, अज्ञानकी वृद्धि करने और आत्म स्वरूपको विस्मृत करनेको ही क्षेत्रज्ञका विशिष्ट लक्षण समझना चाहिए। हे अर्जुन, प्रकृति और पुरुष अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका योग जिसें कहते है, वह यही है। यह योग आत्म-तत्वका स्वाभाविक धर्म ही है। अब इस अज्ञानका अनुसरण करके आत्मा आत्मस्वरूपको ही देखती है, परन्तु उसे उसके अनेक स्वरूपोका भास होता है और उसकी समझ मे यह बात नही आती कि इनमेसे कौन-सा स्वरूप सच्चा और वास्तविक है और कौन-सा मिथ्या या अवास्तविक। जैसे कोई दरिद्र पागल होकर यह कहने लगे कि-'जा रे जा मैं, ही राजा हूँ।' अथवा मूच्छित होनेवाला मनुष्य सावधान होने पर कहने लगे कि—'मैं तो स्वर्गलोकसे हो आया।' उसी प्रकार एक बार दृष्टिके भ्रमपूर्ण होने पर जो जो पदार्थ भासमान होते है, उन्ही सबका नाम सृष्टि है। यह सृष्टि मुझसे अर्थात् मूल आत्मा तत्वसे उत्पन्न होती है। जिस प्रकार स्वप्नमे एक ही आदमी भ्रमसे यह समझने लगता है कि हम बहुत-से आदमी है, उसी प्रकारकी दशा आत्म-स्वरूपका विस्मरण होने पर आत्माकी भी होती है। अब मैं यही ढंगसे स्पष्ट करता हूँ जिसमे तुम्हें कुछ भी शंका न रह जाय। तो भी तुम स्वयं इसका अनुभव करो। मेरी यह अविद्या नामकी कान्ता अनादि, सदा युवती रहनेवाली और अवर्णनीय गुणोसे युक्त है। यह कभी और किसी तरह नही कहा जा सकता कि इसका स्वरूप केवल अमुक प्रकारका ही है, इसके सिवा और किसी प्रकारका नही है। इसकी व्यापकता असीम और अपरम्पार है। यह सोये हुए लोगोके पास रहती है और जागे हुए लोगोसे दूर रहती है। जब मैं स्वयं सोया रहता हूँ, तभी यह जागती रहती है और आत्म-सत्ताके साथ सयोग होने पर ही यह गर्भ धारण करती है। फिर यह मूल माया अपने उदरमे प्रकृति-जन्य आठ विकारोके गर्भकी वृद्धि करती है। इन प्रकृति और पुरुषका संयोग होने पर पहले बुद्धि तत्व उत्पन्न होता है और तब उस बुद्धि-तत्वसे ओत-प्रोत भरा हुआ मन जन्म लेता है। जब इस मनकी यौवनावस्था आती है, तब यह अहंकार तत्वको उत्पन्न करता है और उस अहंकारसे महाभूतोका अस्तित्व होता है। भूतोका यह स्वभाव ही है कि वे विषयो और इन्द्रियोके साथ आपसे आप संलग्न रहते है और इसी लिए भूतोके साथ ही साथ इन्द्रियाँ और विषय भी उत्पन्न होते है। जब इस प्रकार विकारोकी वृद्धि होती है, तब तीनो गुण उनकी पीठ पर आपसे आप खड़े रहते है और उनके साथ ही साथ वासना भी जन्म धारण करती है। जिस प्रकार पानी मिलते ही बीजका कण वृक्ष उत्पन्न करनेका उपक्रम करने लगता है, उसी प्रकार मेरे सगकी प्राप्ति होते ही अविद्या या मूल माया आपसे आप अनेक नाम-

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, जिसे परमात्मा कहते है, वह ऐसा है, जैसा वह सूर्य जिसका प्रतिविम्ब तो पानीमें पड़ता है, परन्तु फिर भी जिस पर उस पानीका लेप नही होता। और इसका कारण यह है कि सूर्य तो पानीके होनेसे पहले भी था और उसके बाद भी रहेगा; और हे अर्जुन, केवल बीचवाले समयमे वह प्रतिबिम्बके रूपमें दूसरे लोगोको पानीमे पड़ा हुआ जान पड़ता है, परन्तु वह स्वयं जैसेका तैसा रहता है। इसी प्रकार यह कहना भी ठीक नही है कि आत्मा शरीरमे रहती है, क्योकि वह तो सदा जहाँकी तहाँ, स्वयं अपने आपमे और अपने स्थान पर रहती है। जिस प्रकार दर्पणमे प्रतिविम्ब पडने पर लोग कहते है कि दर्पणमे मुख है, उसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि शरीरमे आत्मा रहती है। यह कहना बिलकुल निरर्थक है कि आत्माके साथ शरीरका सम्बन्ध होता है। भला क्या कभी वायु और बालूका भी संयोग हो सकता है ? भला वह ऐसा कौन-सा डोरा है जिसमें आग और कपास दोनोको एक साथ ही पिरो या बाँध सके ? आकाश और पाषाणका सम्बन्ध भला कैसे बैठाया जा सकता है ? इनमे एककी गति पूर्वकी ओर है और दूसरे पश्चिमकी ओर। बस शरीर और आत्माका भी उसी प्रकारका सम्बन्ध है जिस प्रकार दो विपरीत दिशाओमे जानेवाले यात्रियोका मार्गमें आमना-सामना हो जाता है। प्रकाश और अन्धकार या जीवित और मृतमे जितनी समानता है, उतनी ही समानता शरीर और आत्मामे भी है। रात और दिन या सोने और कपासमें जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर शरीर और आत्मामे भी है। यह शरीर पाँच भूतोसे बना हुआ है, कर्मके बन्धनोसे जकडा हुआ है और जन्म तथा मृत्युके चक्कर पर सदा घूमता रहता है। काल रूपी अग्निके मुखमे पडी हुई मक्खनकी छोटी-सी गोलीके ही समान शरीर है। मक्खीको पंख झाडनेमे जितनी देर लगती है, उतनी ही देरमे इसका नाश हो जाता है। यदि यह शरीर संयोगसे आगमे पड़ जायगा तब तो भस्म ही हो जायगा, पर यदि कही कौओ और कुत्तोके हाथमे जा पड़ा तो फिर यह विष्ठाके ही रूपमे होकर रहेगा। और यदि इन दोनोमेसे एक भी बात न हुई तो फिर यह कीड़ोकी राशि हो जायगा। परन्तु हे अर्जुन, शरीरका इनमेसे चाहे जो परिणाम हो, परन्तु वह होता बुरा ही है। बस यही इस शरीरकी कहानी है। परन्तु आत्मा ऐसी है कि वह अनादि होनेके कारण शाश्वत और स्वयपूर्ण है। वह निर्गुण होनेके कारण न तो कला-सहित या पूर्ण ही है और न कला-रहित या अपूर्ण ही है। वह अक्रिय भी नहीं है और सक्रिय भी नहीं है, सूक्ष्म भी नही है और स्थूल भी नही है। वह अ-रूप है, इसलिए हम उसे आभास अथवा निराभास, प्रकाश अथवा अप्रकाश, अल्प अथवा विस्तृत आदि कुछ भी नही कह सकते। वह शून्य स्वरूप है और इसी लिए वह खोखली भी नही है और ठोस भी नही है, किसीके सहित भी नही है और किसीसे विरहित भी नहीं है, मूर्तिमान भी नहीं है और अमूर्त्त भी नहीं है। वह केवल आत्म-रूप है और इसी-लिए उसमे आनन्द भी नही है और आनन्दका अभाव भी नहीं है, एकता भी

रूपात्मक जगतके अंकुर उत्पन्न करने लगती है। अब हे सुजन-श्रेष्ठ, तुम यह सुनो कि उस गर्भको रूप किस प्रकार प्राप्त होता है। उसमें अंडज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जारज ये चार विभाग उत्पन्न होते है। आकाश और वायुके योगसे मणिज या अंडज नामका विभाग उत्पन्न होता है। जब उदरमे तम और रज नामक गुणोसे युक्त होकर तेजके साथ जल-तत्वकी प्रबलता होती है, तब स्वदेज विभाग उत्पन्न होता है। जल और पृथ्वी नामक तत्वोंकी प्रबलता होने पर जब उसमे केवल तमोगुण रहता है, तब निम्न कोटिका स्थावर वर्ग उत्पन्न होता हैं, और उसीको उद्भिज्ज नामक विभाग समझना चाहिए। जब पाँचो कर्मेन्द्रियाँ और पाचों ज्ञानेन्द्रियाँ परस्पर सहायक होने लगती है और मन तथा बुद्धि आदिसे युक्त हो जाती हैं, तब जारज विभाग सिद्ध होता है। इस प्रकार मूल मायाके घर एक ऐसा विलक्षण पुत्र उत्पन्न होता है जिसके ये चारो विभाग चार सरल हाथ पैर समझने चाहिएँ और मूल है, अष्टधा प्रकृतिको जिसका मस्तक मानना चाहिए, प्रवृत्ति जिसका बढ़ा हुआ पेट है, निवृत्त सीधी पीठ है, आठ देव-योनियाँ जिसके शरीरके ऊपरी भाग है, स्वर्ग जिसका विकसित होनेवाला कंठ प्रदेश है, मृत्यु-लोक जिसकी कमर है और पाताल लोक जिसकी कमरके नीचेका नितम्बवाला भाग है। तीनों लोकका विस्तार इस बालककी बढ़ती हुई बाल्यावस्था है। चौरासी लाख योनियाँ उसकी हड्डियोकी और पसलियो-की सन्धियाँ है। बस यह बालक दिन पर दिन बढ़ने लगा। यह माया उस बालक के अंगों पर नाना प्रकारके नाम-रूपोंके अलंकार पहनाकर उसे नित्य नया अज्ञान रूपी दूध पिलाने लगी। उस बालकके हाथोमें उसने भिन्न भिन्न सृष्टि रूपी अंगूठियाँ पहनाई। उनमेंसे प्रत्येक अँगूठीकी चमक कुछ निराली ही है। इस प्रकार अपने इस इकलौते चराचर स्वरूप और अप्रतिम सुन्दर बालकका प्रसव करके वह प्रकृति अपने आपको धन्य समझने लगी। इस बालकका प्रभात काल ब्रह्मा है, मध्याह्न काल विष्णु है और सन्ध्या काल शंकर है। जब यह खेल खेलकर थक जाता है, तब महाप्रलयके बिछौने पर स्वथ्थ होकर सोता है; और फिर जब नवीन कल्पका उदय होता है, तब विपरीत ज्ञानसे अर्थात् अज्ञानके मोहसे जाग्रत होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार अज्ञानके घरमें यह बालक क्रीड़ाएँ और कौतुक करता हुआ युग-परम्पराके डग भरने लगता है। संकल्प और विकल्प इस बालकके प्रिय मित्र हैं और अहंकार खेल खेलनेमें इसका साथी है। इस बालकका अन्त केवल सत्य ज्ञानसे ही होता है। परन्तु इस विषयका बहुत अधिक विस्तार हो चुका। इस प्रकार मायाने इस विश्वकी रचना की है और इस काममे मेरी सत्ताका उसने उपयोग किया है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिताः ॥ ४ ॥

इसलिए, हे अर्जुन, मैं तो पिता हूँ; महद्ब्रह्म मूल माया माता है और यह भास-मान जगत हम लोगोका लड़का है, परन्तु तुम संसारमे अनेक प्रकारके शरीर देखकर अपने मनमें भेद-भाव मत उत्पन्न होने दो, क्योकि मन और बुद्धि आदि सब एक-रूप ही हैं। क्या एक ही शरीरके भिन्न भिन्न अवयव नहीं हुआ करते? इसी प्रकार

नही है और अनेकता भी नही है, वह मुक्त भी नही है और बद्ध भी नहीं है। वह अलक्ष्य है, इसलिए उसके सम्बन्धमें यह भी नही कहा जा सकता कि वह इतनी है या उतनी है, वह आपसे आप बनी हुई है या किसीकी बनाई हुई है और बोलती है अथवा गूँगी है। न तो वह सृष्टिके साथ उत्पन्न ही होती है और न उसके संहारके साथ उसका नाश ही होता है, क्योकि वह उत्पत्ति और नाश दोनोका लय-स्थान है। वह अव्यय है और इसलिए न तो वह नापी ही जा सकती है और न उसका वर्णन ही किया जा सकता है, वह न तो बढती ही है और न घटती ही है, न वह फीकी हो पड़ती है और न कभी समाप्त ही होती है। ऐसी अवस्थामे जब कि आत्मा-का स्वरूप ऐसा है, तब जो लोग यह कहते है कि वह शरीरमे रहती है, उनका कथन, हे सखे अर्जुन, वैसा ही है, जैसा मठके आकारके अनुसार आकाशका नाम-करण करना। आत्मा भी उसी आकाशकी तरह सर्वव्यापक है। शरीरकी आकृतियाँ तो बनती-बिगडती रहती हैं, परन्तु आत्मा सदा ज्योकी त्यो रहती है। जिस प्रकार दिन और रातका सदा आना-जाना लगा रहता है, उसी प्रकार आत्माकी सत्तासे शरीर भी सदा बनते और नष्ट होते रहते है। इसीलिए वह आत्मा इस शरीरमें रहने पर भी न तो कुछ कराती ही है और न करती ही है, और न सामने आये हुए कर्मोके साथ ही उसका किसी प्रकारका सम्बन्ध होता है। इसी लिए उसके स्वरूपमें न तो कभी किसी प्रकारकी त्रुटि ही होती है और न पूर्णता ही आती है, और वह शरीरमे रहने पर भी शरीरके भावोसे कभी लिप्त नही होती।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

"कभी ऐसा नही होता कि आकाश किसी स्थान पर न हो, परन्तु फिर भी किसी स्थानका मल या दोष कभी उसको मलिन या दूषित नही कर सकता। इसी प्रकार आत्मा भी सभी स्थानो और सभी शरीरमे ओत-प्रोत है, परन्तु फिर भी वह कभी किसी स्थान अथवा शरीर के संग-दोषके कारण मलिन नही होती। मैं बार बार इस लक्षणको इसलिए स्पष्ट करता हूँ कि तुम्हारी समझमे यह बात अच्छी तरह आ जाय कि क्षेत्रज्ञ वास्तवमे क्षेत्र-हीन है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

"चुम्बक पत्थरका संसर्ग होनेके कारण लोहा हिलता है, परन्तु लोहा कभी चुम्बक पत्थर नही हो जाता। ठीक यही बात क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सम्बन्धमे भी है। दीपकके प्रकाशमे घरके सब काम-काज होते है, परन्तु फिर भी दीपक और घरमें अपार अन्तर है। हे अर्जुन, लकडीके अन्दर अग्नि रहती है, परन्तु इसका यह अर्थ यह नही है कि अग्नि ही लकडी है। बस इसी दृष्टिसे क्षेत्रज्ञका भी विचार करना चाहिए। आकाश और मेघ या सूर्य और मृग-जलमे जो अन्तर है, अच्छी तरह विचार करने पर यह बात समझ मे आ जाती है कि क्षेत्रज्ञ और क्षेत्रमे भी वही

नाना रूपोसे भासमान होनेवाला यह विश्व मूलत' एक ही है। जिस प्रकार एक ही बीजसे वृक्षकी बडी और छोटी अनेक प्रकारकी टहनियाँ उत्पन्न होती है अथवा जिस प्रकारके सम्बन्धके कारण मिट्टीसे घट नामक बालक उत्पन्न होता है अथवा कपासके तन्तुओके गर्भसे पट नामक पोता उत्पन्न होता है अथवा जिस सम्बन्धके द्वारा सागरको तरंगोके रूपमे सन्ताने होती है, इस चराचर जगतके साथ मेरा भी उसी प्रकारका सम्बन्ध है। इसी लिए जिस प्रकार अग्नि और ज्योति दोनों केवल अग्नि ही हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व भी मै ही हूँ। यह सच्चा और निर्दोष ज्ञान तुम अपने मनमे खूब अच्छी तरह बैठा लो। मै स्वयं अपने आपको ही भिन्न भिन्न शरीरोमें अलग अलग भासित करता हूँ, और यह बात तुम अपने ध्यानमें रखो कि इसका कारण मेरा उत्पन्न किया हुआ तीनो गुणोका बन्धन ही है। हे अर्जुन, जिस प्रकार हम स्वप्नमें स्वयं अपना ही मरण भोगते हैं अथवा जिस प्रकार कमल रोग होने पर पीली तो स्वय रोगीकी आँखे होती हैं, परन्तु उस संसार-की सभी वस्तुएँ पीली दिखाई देने लगती है अथवा सूर्यका प्रकाश प्रकट होने पर मेघ दिखाई देते है और जब मेघोसे सूर्य ढँक जाता है, तब भी वे मेघ सूर्यके प्रकाशसे ही दिखाई देते हैं अथवा स्वयं हमसे जो छाया उत्पन्न होती है, उसीको देखकर हम डर जाते हैं, परन्तु वास्तवमे वह छाया हमसे भिन्न नही होती, उसी प्रकार मैं ही अनेक प्रकारके शरीर दिखलाकर भेद-भावको प्राप्त होता हूँ। इस कार्यमे मेरे लिए एक बन्धन होता है, वह भी सुन लो। हमारे आत्म-स्वरूपके अज्ञानके कारण ही यह प्रश्न होता है कि मैं बद्ध हूँ अथवा मुक्त हूँ। इसलिए, भइया अर्जुन अब तुम यह भी सुन लो कि किन गुणोके कारण मैं स्वय अपने आपको बद्धके समान दिखाई पडता हूँ। अब तुम यह सारा रहस्य सुनो कि गुण कितने है, उनके धर्म कौन कौन-से हैं, उनके लक्षण तथा नाम क्या है, और उनकी उत्पत्ति कहाँसे होती है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

"ये गुण तीन है और इनके नाम सत्व, रज और तम है। इनकी उत्पत्ति प्रकृतिसे ही होती है। इनमेसे सत्व गुण उत्तम है, रजोगुण मध्यम है और तमोगुण अधम है। ये तीनो गुण एक ही मनोवृत्तिमे भी हो सकते है। जिस प्रकार एक ही शरीरमे बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था तीनो ही विकार दिखाई पडते हैं, अथवा खरे सोनेमे ज्यो ज्यो खोट अधिक मिलाया जाता है, त्यो त्यो कसौटी पर कसनेसे उसका कस मद्धिम पडता जाता है और पन्द्रह कसका सोना अन्तमे पाँच ही कसका बनाया जाता है अथवा जब सावधानता आलस्यमे डूब जाती है, तब निद्रा आकर अपना अधिकार जमा लेती है, उसी प्रकार अज्ञानका आलिंगन करके जो वृत्ति विस्मृत होती है, वह सत्वगुण और रजोगुणसे अंकित होकर अन्तमे तमोगुणसे भी पूर्ण हो जाती है। हे अर्जुन, इनका नाम तो गुण है ही, परन्तु अब यह भी सुन लो कि ये गुण बन्धक किस प्रकार होते है। जब आत्मा क्षेत्रज्ञवाली दशामे अर्थात्

अन्तर है। परन्तु इस विषयकी यथेष्ट बाते हो चुकी। आकाश मे रहनेवाला सूर्य जिस प्रकार भिन्न भिन्न समस्त भुवनोंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ भी भासमान होनेवाले समस्त क्षेत्रोको प्रकाशित करता है। अब इस प्रकार और कोई प्रश्न या शंका करनेकी जगह बाकी नही रह जाती।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

"जिस बुद्धिको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तरका ज्ञान हो जाता है, वही बुद्धि वास्तव में दृष्टिसे युक्त होती है और वही शब्दार्थका ठीक ठीक साराश ग्रहण करती है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद जाननेके लिए ही बड़े बड़े बुद्धिमान् लोग ज्ञानी जनोके द्वारकी पूजा करते और उनका आश्रय लेते है। इसीकी प्राप्तिके लिए सन्त लोग शान्ति रूपी धनका संचय करते है और शास्त्रोका अध्ययन करते है। इसी ज्ञानकी आशासे कुछ लोग योगाभ्याससे आकाशमें उड़नेका साहस करते है। कुछ लोग शरीर आदि समस्त परिग्रहोको तिनकेके समान समझकर सन्तोकी चरण-सेवामें रत होते है। इस प्रकार लोग भिन्न-भिन्न मार्गोंसे ज्ञानकी लालसासे प्रेरित होकर आगे बढनेका प्रयत्न करते हैं। फिर इस प्रकारके प्रयत्नोके द्वारा जो लोग सचमुच क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेदका ज्ञान प्राप्त कर लेते है, इनकी मैं बडे प्रेमसे आरती करता हूँ। और महाभूत आदिके अनेक भेद-भावोसे युक्त जो यह मायावी प्रकृति विस्तृत है, जो शुक-नलिका न्यायसे वास्तवमें बन्धक न होने पर भी अपनी अपनी भावनाओ के अनुसार उन लोगोके लिए बन्धक होती है, जो अपने अन्तःकरणमें यह बात उसी प्रकार पूरी तरहसे समझ लेते हैं कि प्रकृति वास्तवमे पुरुषसे भिन्न और अलग है। जिस प्रकार मालाके सम्बन्धमें होनेवाला व्यर्थका सर्पाभास दूर हो जाने पर नेत्रोंको इस बातका सत्य ज्ञान हो जाता है कि यह वास्तवमें माला ही है अथवा जिस प्रकार सीपीके सम्बन्धमे चाँदीके होनेका भ्रम दूर हो जाने पर सत्य रूपसे यह दिखाई पड़ने लगता है कि यह वास्तवमे सीपी ही है, वही लोग ब्रह्मका स्वरूप प्राप्त करते है। जो आकाशसे साम्य असाम्यका कुछ भी भेद-भाव बाकी नही रह जाता, जिसमे आकार, जीवत्व और द्वैत कभी रह ही नही सकता, जो शुद्ध द्वैत-हीन है, उस परम तत्वका स्वरूप वही लोग प्राप्त करते हैं जो आत्म और अनात्मकी व्यवस्था जानते है और जो राजहंसकी भाँति असारमेंसे भी केवल सार ग्रहण कर सकते है।"

इस प्रकार श्रीकृष्णने अपने परम प्रिय अर्जुनको आत्म और अनात्मका तत्व सभी तरहसे स्पष्ट करके समझा दिया। जिस प्रकार एक कलशका जल किसी दूसरे कलशमे उँडेला जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णने अपना सारा आत्म-ज्ञान, उसमेंसे कुछ भी विना अपने पास बाकी रखे, अर्जुनको दे दिया। परन्तु आखिर यहाँ देने वाला कौन है और लेनेवाला कौन है? क्योकि नर अर्थात् अर्जुन भी नारायण ही हैं और इसलिए इन दोनोंमें किसी प्रकारका भेद ही नही किया जा सकता। फिर श्रीकृष्ण भी स्वयं ही यह बात कहते हैं कि अर्जुन भी मैं ही हूँ। परन्तु जाने दो,

जीवात्म स्वरूपमे शरीरमे जरा-सा भी प्रवेश करती है, तब वह यही कहना आरम्भ करती है कि यह शरीर ही मैं हूँ। फिर जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त सभी देह-धर्मोके विषयमें उसका सदा यही अभिमान बना रहता है। मछलीके मुँहमे ज्योंही आमिष पड़ता है, त्योंही मछुआ उसे पकड़कर खीच लेता है। ज्योही इस प्रकारका तनिक भी अभिमान होता है, त्योही सत्व रूपी व्याधा सुख और ज्ञानका जाल खीचने लगता है और जीवात्मा उस जालमे हिरनकी भाँति अच्छी तरह फँस जाती है। वह ज्ञानके अभिमानसे बड़बड़ाती है, ज्ञातृत्वके कारण छटपटाती है और हाथमें आया हुआ आत्म-सुख गँवा बैठाती है। उस अवस्थामे यदि कोई उसकी विद्वत्ताका आदर करता है तो उसका बहुत सन्तोप होता है, यदि उसे थोड़ा-सा सुख प्राप्त होता है तो बहुत आनन्द होता है और तब उसे इस बातका अभिमान होने लगता है कि मै वास्तवमे सुखी हूँ। उस समय जीवात्मा कहता है—'क्या सचमुच यह सौभाग्य नही है? भला मेरे समान और कौन सुखी है?" इस तरहकी बाते कहते ही उसमें आठो सात्विक भावोंका वेगपूर्वक संचार होने लगता है। परन्तु यह गाड़ी यही नही रुक जाती। इसके मार्गमे एक और अडचन आ खड़ी होती है। वह यह कि विद्वत्ताके भूतकी हवाएँ उसके अंगोमे खेलने लगती है। उसे उस बातका कुछ भी दु.ख नही होता कि मैं मूलत ज्ञान-स्वरूप था और मैंने अपना वह मूल स्वरूप नष्ट कर दिया है। और इसका कारण यही है कि वह स्वयं अपने ज्ञानसे फूलकर आकाशके समान हो जाता है। जिस प्रकार कोई राजा स्वप्नमे भिखारी हो जाता है और उस दीना-वस्थामे स्वयं अपनी राजधानीमे प्रवेश करके अन्न और भिक्षा मिलने पर गर्वसे कहने लगता है—"क्या मैं इन्द्रके समान भाग्यवान् नही हूँ?" उसी प्रकार निरा-कार केवलात्मा जब देहवान् जीवात्माका रूप धारण कर लेती है तब वह भी बाह्य ज्ञानसे भ्रमिष्ठ हो जाती है। वह व्यवहार शास्त्रमे चतुर हो जाती है, याज्ञिकी विद्याका उसे अच्छा ज्ञान हो जाता है; केवल यही नही बल्कि अपने ज्ञानके गर्वके कारण उसे स्वर्ग भी तुच्छ जान पड़ने लगता है। फिर वह शेखी हाँकता है कि मेरे सिवा और कोई ज्ञानी नही है। जिस प्रकार आकाशमें चन्द्रमा विलास करता है, उसी प्रकार मेरे चित्तमें चातुर्य विलास करता है। इस प्रकार सत्वगण जीवात्माको सुख और ज्ञानकी डोरीमे बाँध लेता है और उसकी दशा अपाहिजके बैलके समान कर देता है। अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि वही शरीरधारी जीवात्मा रजोगुणसे किस प्रकार बाँधा जाता है। सुनो।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

"इसे रज कहनेका कारण यह है कि इससे जीवात्माका रंजन होता है। यह सदा विषय वासनाओसे लिप्त रहता है। जब यह रज बहुत ही थोडी मात्रामें भी जीवात्मामे अपना प्रवेश कर लेता है, तब वह विषय-भोगकी इच्छाके मार्ग पर चल पड़ता है और वासनाओकी वायु पर आरूढ़ हो जाता है। जिस प्रकार घी से सीचा हुआ और दहकते हुए अंगारो से भरा हुआ होम-कुंड सदा थोडा-बहुत सुलगता ही

इस व्यर्थके विषय-विस्तारकी कोई आवश्यकता नही। जब यह बात कोई पूछता ही नही, तब मैं क्यों बतलाऊँ? सारांश यही है कि इस प्रसंगमें भगवानने अपना ज्ञान-सर्वस्व ही अर्जुनको अर्पित कर दिया। परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि अर्जुनके मनकी किसी प्रकार तृप्ति ही नही होती थी। उसकी ज्ञान श्रवणकी लालसा बराबर और भी अधिक होने लगी। जिस प्रकार कज्जली झाड देने पर और तेल भर देने पर दीपकका प्रकाश और भी अधिक हो जाता है, उसी प्रकार इस श्रवणसे अर्जुनके अन्तःकरण की उत्सुकता भी और अधिक हो गई। जब भोजन परोसनेवाली गृहिणी चतुर, सुघड और उदार होती है और भोजन करनेवाले भी भोजनके रसज्ञ होते हैं, तब परोसनेवालीके हाथ भी और खानेवालोके हाथ भी बराबर चलते रहते हैं। बस ठीक वही अवस्था इस समय श्रीकृष्णकी हुई थी। अर्जुनकी श्रवण-सम्बन्धी उत्सुकता देखकर भगवानको भी व्याख्यान देनेकी चौगुनी स्फूर्ति हो आई। जिस प्रकार अनुकूल पवन चलने पर बहुतसे मेघ आकर आकाशमे एकत्र हो जाते है, अथवा चन्द्रमाके दर्शनसे जिस प्रकार समुद्रमे ज्वार आती है, उसी प्रकार श्रोताओके उत्साह दिखलाने पर वक्ताको भी स्फूर्ति होती है। उस समय संजयने कहा—"हे राजा धृतराष्ट्र, अब श्रीकृष्ण सारे विश्वको आनन्द से परिपूर्ण करनेको हैं। आप उसका वृत्तान्त सुने।" इस प्रकार महाभारतमे श्री व्यासदेवने अपनी अगाध बुद्धिसे जो कथा भीष्म पर्वमे कही हैं, उसीमे का यह श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद मैं सुन्दर और शिष्ट देशी भाषामे स्पष्ट करके बतलाता हूँ। अब मैं जो कुछ कहनेको हूँ, वह शुद्ध शान्त रसकी कथा है; परन्तु इसमे कुछ भी सन्देह नही कि वह शृंगार रसको भी अपने सामने तुच्छ सिद्ध करेगी। मेरी भाषा तो देशी ही होगी, परन्तु फिर भी मैं उसकी योजना ऐसे कौशलसे करूँगा कि वह ललित साहित्यकी संजीवनी ही होगी और अपने माधुर्यके सामने अमृतको भी फीका कर देगी। देशी भाषामे कही हुई ये बातें अपनी रसार्द्र शीतलता के कारण चन्द्रमाकी बराबरीकी ठहरेंगी और इसकी रसालताके चक्करमे पडकर स्वयं नाद-ब्रह्म भी लीन हो जायगा। इस शब्द रचनासे पिशाच तकके अन्त करणमें भी सात्विक वृत्तिका स्रोत उमड़ पड़ेगा और इसके श्रवणसे सन्तोके मनकी तो आत्म-समाधि ही लग जायगी। मैं इस समय ऐसा वाग्विलास प्रकट करूँगा जिससे यह सारा विश्व गीतार्थसे ओत-प्रोत भर जायगा; और मैं सारे संसारके लिए एक आनन्दमय मन्दिर ही खडा कर दूँगा। इस समय मैं ऐसा व्याख्यान करूँगा जिसे सुनकर विवेक भी बोलने लगे, कान और मन सार्थक हो जायँ, हर किसीको ब्रह्म-विद्याकी प्राप्ति हो सके, सब लोगोको इन्ही आँखोसे परमात्म तत्वके दर्शन होने लगें, सबके लिए सुखका पर्व हो और सारे विश्वको ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्तिका सुभीता हो जाय। बात यह है कि परम श्रेष्ठ श्रीनिवृत्तिनाथका कृपाप्रसाद मुझे प्राप्त हुआ है। इसीलिए मैं उपमा और श्लेष आदिके ढेर लगा दूँगा और ग्रन्थके प्रत्येक पदका अर्थ बिलकुल स्पष्ट कर दूँगा। इसके उद्देश्यको सिद्ध

रहता है, उसी प्रकार विषयोके प्रति होनेवाला अनुराग भी बराबर बना रहता और बढ़ता चलता है, दु.ख मिश्रित विषय भी मीठे लगने लगते है और यदि स्वयं इन्द्रका भी वैभव प्राप्त हो जाय तो वह भी थोडा ही जान पड़ता है। जब यह तृष्णा अच्छी तरह प्रबल हो जाती है; तब यदि मेरु पर्वत भी हाथ आ जाय तो विषयोकी प्राप्तिके लिए जीव उससे भी कही अधिक भयंकर साहसका कृत्य करनेको उद्यत हो जाता है। इस प्रकारके कार्योके लिए वह अपने प्राणोको बिलकुल तुच्छ समझकर उन्हें निछावर कर देनेके लिए तैयार हो जाता है; और यदि उस प्रयत्नमें एक तिनका भी उसके हाथ आ जाता है तो वह अपना जन्म सार्थक मानने लगता है। वह सोचता है कि मेरे हाथमे इस समय जो कुछ है, वह सब यदि मैं आज ही व्यय कर दूँ तो भी हर्ज नही है, पर कल क्या करूँगा ? और इस प्रकारकी विलक्षण आशा मनमें रखकर वह अपने व्यवहारका विस्तार करता है। वह कहता है कि स्वर्ग जाना तो उचित ही है, परन्तु स्वर्ग-लोकमे जाने पर वहाँ खाऊँगा क्या ? और आगेकी इसी चिन्ताके कारण वह यज्ञ-कर्मोके फेरमे पड़ता है। अब वह व्रतोका क्रम आरम्भ करता है और सार्वजनिक कुएँ और तालाब आदि बनवाता और इष्टपूर्तिके कृत्य करता है। परन्तु मनमें कामिक वासना रखे बिना वह कभी कोई काम नही करता। हे अर्जुन, जिस प्रकार ग्रीष्म-ऋतुकी वायु विश्राम करना जानती ही नही, उसी प्रकार वह जीव भी विश्राम करना नही जानता और दिन-रात व्यवहारकी धुनमे लगा रहता है। वासनाओसे पूर्ण रूपसे लिप्त वह जीव इतनी तीव्रता और वेगसे अपने उद्देश्यकी सिद्धिमें लगता है कि उसके सामने मछली की चंचलता भी अथवा कामिनीके कटाक्षकी चंचलता भी कोई चीज नही है। इस प्रकारकी विलक्षण धाँधली और वेगसे ऐहिक और पारलौकिक विषयोका लोभी वह जीव क्रिया-कर्मोकी अग्निमें कूद पड़ता है। इस प्रकार वह देहधारी जीवात्मा वास्तविक शरीरसे भिन्न होने पर भी स्वयं ही वासनाओकी बेडियाँ डाल लेता है और नाना प्रकारके व्यवसायोकी शृङ्खलाएँ अपने गलेमे पहन लेता है। इस प्रकार रजोगुणका भयंकर बन्धन इस देहमे रहनेवाले और इसे धारण करनेवाले जीवात्माको कसकर बाँध लेता है। अब तुम तमोगुणकी बन्धक शक्तिका वर्णन सुनो।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

"जिस परदेके कारण व्यवहार-ज्ञानकी दृष्टि भी मन्द हो जाती है, जो मोह रूपी अँधेरी रातके घर काले मेघोके समान है, जिसमें अज्ञानका ही जीवन सदा लगा रहता है, जिसके भुलावेमे पडकर यह विश्व मदान्ध होकर नाचता रहता है, जो अविचारका मूल मन्त्र है, जो मूर्खता रूपी मदिराका प्याला है, यहाँ तक कि जो जीवोके लिए केवल मोह-शास्त्र हो गया है, हे अर्जुन, वही तम है। वह अपनी युक्तिसे देहभिमानियोको चारो ओरसे खूब कस कर जकड लेता है, जब वह अकेला ही स्थावर और जंगममें एक बार बढ़ने लगता है, तब वहाँ और किसी गुणका कुछ भी

करनेके लिए मेरे सम्पन्न गुरुदेवने मुझे वाणीकी प्रगल्भता और अर्थ-ज्ञानसे परिपूर्ण कर दिया हैं। अपने गुरुदेवकी कृपाकी सहायतासे मैं जो कुछ कहता हूँ, वह सभी मान्य होता है; और इसी लिए मैं आज आप सरीखे अधिकारी श्रोताओके सामने भी गीतार्थका प्रवचन करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ। तिस पर मैं आप सन्तजनोके चरणोके समीप आया हूँ, और इसीलिए अव मेरे मार्गमें कोई अड़चन नही रह गई है। महाराज, भला क्या सरस्वतीके पेटसे कभी भूलसे भी गूँगा बालक उत्पन्न हो सकता है? क्या यह भी कभी सम्भव है कि प्रत्यक्ष लक्ष्मीमें सामुद्रिकके किसी शुभ लक्षणकी कमी हो? इसलिए आप सरीखे सन्तजनोके पास आने पर अज्ञानकी बात भी कभी मुँहसे नही निकलनी चाहिए। इस लिए मैं कहता हूँ कि मैं अपने व्याख्यानसे नौ रसोकी विलकुल झड़ी ही लगा दूँगा। आप लोग मुझे वोलनेका अवसर मात्र प्रदान करे; फिर यह ज्ञानदेव गीता ग्रन्थका सारा अर्थ अच्छी तरह स्पष्ट करके कह डालेगा।

वश नही चलता। इसके कारण सब इन्द्रियोंमें जड़ता आ जाती है, मूर्खता आकर मनको दबा लेती है और आलस्यकी वृद्धि होने लगती है। तब वह जीव अपने अंगोंको ऐठने लगता है, काम-धन्धेकी ओरसे उसे अरुचि हो जाती है और उसे केवल जँभाइयो पर जँभाइयाँ आने लगती है। हे अर्जुन, उस अवस्था मे आँखे खुली रहने पर भी उस जीवको कुछ भी दिखाई नही देता; और यदि उसे कोई आवाज न भी दे, तो भी वह इतना अधिक भ्रमिष्ठ हो जाता है कि व्यर्थ आप ही "हाँ कहकर उठ खड़ा होता है। जिस प्रकार पत्थर एक वार जमीन पर गिरनेके उपरान्त कभी अपने स्थानसे हिलना डुलना नही जानता, उसी प्रकार जब वह मनुष्य एक वार पड़ जाता है, तब फिर वह करवट बदलना भी नही जानता। पृथ्वी चाहे धँसकर पाताल चली जाय और चाहे ऊपर उठकर आकाश तक पहुँच जाय, परन्तु वह पत्थरकी तरह अपनी जगह पर पडा रहता है और उठनेका नाम भी नही जानता। जब वह एक बार चुपचाप आरामसे पड़ जाता है, तव उसे इस बातका भी ध्यान नही रह जाता कि उचित क्या है और अनुचित क्या है। उसके मनमें केवल यह इच्छा रह जाती है कि मैं जहाँका तहाँ पडा हुआ लोटता रहूँ। वह या तो हाथ उठाकर उस पर गाल रख लेता है और या घुटनोमे ही अपना सिर छिपा लेता है। उसे निद्राकी इतनी अधिक लालसा रहती है कि जब एक बार उसे नीद आ जाती है, तब वह यही समझने लगता है कि मानों मुझे स्वर्ग ही मिल गया। उसका केवल यह जी चाहता है कि मुझे ब्रह्माके समान आयुष्य प्राप्त हो और मैं वह सारी आयुष्य केवल सोनेमे बिता दूँ। यदि वह रास्ता चलते समय बीचमे कही जरा-सा रुक जाता है, तो वही बैठकर उँघने लगता है। जब एक बार वह निद्राके वशमे हो जाता है, तब उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि यदि उसे कोई प्रत्यक्ष अमृत भी देने लगे तो उसे इतना होश भी नही होता कि उठकर वह अमृत हाथमें ले सके। यदि कभी बहुत जबरदस्ती उसे कोई काम भी करना पडता है तो वह क्रोधसे मानो अन्धा हो जाता है। उस समय उसकी समझमे भी कुछ भी नही आता कि कब किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, किसके साथ किस तरहकी बाते करनी चाहिए और अमुक कार्य हो सकनेके योग्य है या नही। जिस प्रकार कोई पतिंगा केवल अपने पंखों की सहायतासे ही जंगलमे लगी हुई आग बुझानेका हौसला अपने मनमे रखता है, उसी प्रकार वह भी साहसमेप्रवृत्त होता है और धृष्टतापूर्वक असम्भव कार्योंमे हाथ डाल बैठता है। केवल अविचार करना ही उसे अच्छा लगता है। इस प्रकार निद्रा, आलस्य और अविचारके तीनो बन्धनोसे तमोगुण उस आत्माको कसकर बाँध लेता है जो मूलतः निरंजन और शुद्ध होती है। जब किसी लकडीमें आग लग जाती है, तव वह आग उस लकडीके आकार और रूपमे ही भासमान होती है और घड़ेके अन्दर समाया हुआ आकाश घटके आकारका ही भासमान होता है और उसे लोग घटाकाश ही कहते हैं। भरे हुए सरोवरमे चन्द्रमाका बिम्ब पड़ा हुआ दिखाई देता है। ठीक इसी प्रकार इन गुणोसे युक्त होने पर आत्म-तत्व भी बद्ध सा जान पड़ता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

चौदहवाँ अध्याय

हे आचार्य देव, मैं आपका जय-जयकार करता हूँ। सब देवोमे आप ही श्रेष्ठ हैं। बुद्धि रूपी प्रभात-समयके आप ही सूर्य हैं। सुख का उदय आपसे ही होना है। सबके विश्राम स्थान आप ही है। आत्म-भावनाका साक्षात्कार आप ही कराते है। इस नाना स्वरूपवाली पंचभूतात्मक सृष्टिकी लहरें जिस समुद्रपर उठती है, वह समुद्र आप ही हैं। आपके ऐसे स्वरूपका मैं जय-जयकार करता हूँ। हे दु खितोके वान्धव, अखंड कृपाके समुद्र और शुद्ध आत्म-विद्याके प्रिय स्वामी तथा गुरुदेव, आप सुनें। आप जिनकी दृष्टिमे दिखाई नही देते, उन्हीको यह मायिक विश्व दिखलाते है और उन्ही पर यह नाम-रूपात्मक वस्तु-जात प्रकट करते है। दूसरेकी दृष्टिमे भ्रम उत्पन्न करनेको ही नजरवन्दी कहते है। परन्तु आपका यह अद्‌भुत कौशल ऐसा है कि आप स्वयं अपना ही स्वरूप छिपाते हैं। हे गुरु-राज, आप ही इस विश्वके सर्वस्व हैं। यह सब आपका ही नाटक है जो आप किसीको तो मायाका भास कराते है और किसीको आत्मवोध कराते है। आपके ऐसे स्वरूपको मैं नमस्कार करता हूँ। मेरी वुद्धिमे तो केवल यही आता है कि इस संसारमे जिसे 'अप' (जल) कहते हैं, उसे आपके ही शब्दोसे मधुरता प्राप्त हुई है। पृथ्वीको क्षमावाला गुण भी आपसे ही प्राप्त हुआ है। सूर्य, चन्द्रमा आदि जो तेजस्वी सिपाही संसारमे उदित होते है, उनके तेजको आपकी प्रभासे तेज प्राप्त होता है। वायुकी चंचलता भी आपकी ही दिव्य सामर्थ्य है और आकाश भी आपका ही आश्रय पाकर यह आँख-मिचौलीका खेल खेलता है। साराश यह कि आपकी ही सामर्थ्यसे यह सारी माया उत्पन्न होती है और ज्ञानको दृष्टि प्राप्त होती है। परन्तु अव इस वर्णनका यही अन्त करना चाहिए, क्योकि वेद भी इस प्रकारका वर्णन करते करते थक जाते है। जव तक आपके आत्म-स्वरूपके दर्शन नही होते, तव तक तो वेदोकी वर्णन-शक्ति ठीक तरहसे काम देती है, परन्तु जब आपके आत्म-स्वरूपके पासकी कोई मजिल या पडाव आ जाता है, तव फिर वेद भी और मैं भी दोनो मूक होकर एक ही पंक्तिमे बैठ जाते हैं—दोनोंकी अवस्था समान हो जाती है। जिस समय चारो ओर सागर ही सागर फैल जाता हो और एक बुलबुला भी अलग न दिखाई देता हो, उस समय वड़ी-वड़ी नदियोका पता लगाने की तो बात ही नही छेडनी चाहिए। जव सूर्य उदय होता है, तव चन्द्रमा जुगनूकी तरह फीका पड जाता है। इसी प्रकार आपके आत्म-स्वरूपमें वेद और मैं दोनो ही एक-से हो जाते हैं। फिर जहाँ द्वैतका नाम-निशान भी मिट जाता हो और परा वाणी के साथ वैखरी वाणीका भी लोप हो जाता हो, वह भला मैं किस मुँहसे आपका वर्णन कर सकता हूँ! इसी लिए अव मैं आपकी स्तुति करनेके फेरमे नही पडता और नि.शव्द होकर आपके चरणो पर सिर झुकाना ही अच्छा समझता हूँ। इसलिए हे गुरुदेव, आपका चाहे जो स्वरूप हो, मैं उसी स्वरूपकी

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

जब कफ और वातको निर्बल करके शरीरमे पित्त प्रबल होता है, तब शरीरमें ताप हो आता है। जब पावस और ग्रीष्मका बल तोड़कर शीतलता आती है, तब वातावरणमे शीतका संचार होता है। जब स्वप्न और जाग्रति दोनो ही अवस्थाओंका लोप हो जाता है और केवल सुषुप्तिकी ही दशा बाकी रह जाती हैं, तब चित्त-वृत्ति कुछ देरके लिए सुषुप्ति-मय ही हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जब सत्व-गुण प्रबल होता है, तब वह रज और तम दोनोको दबा देता है और जीवके मुखसे इस प्रकार-का उद्‌गार निकलवाता हैं कि—"मैं कितना अधिक सुखी हूँ।" ठीक इसी प्रकार जब सत्व और रजको दबाकर तमोगुण बढ़ जाता है, तब वह जीवको सहजमे ही प्रमादके वशमें कर देता है। इसी प्रकार जब सत्व और तमको दबाकर रजोगुण प्रबल होता हैं, तब देहका स्वामी जीवात्मा यह मानने लगता है कि कर्मसे बढकर अच्छी और कोई बात नही है।" इन तीनो गुणोकी वृद्धिका विषय तीन श्लोकोमें बतलाया गया है। तो भी आप लोग अब सावधान होकर यह सुने कि सत्व आदि तीनो गुणोकी वृद्धि किस प्रकार होती है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

"जिस समय रज और तमको दबाकर सत्व इस शरीर पर अपनी एकतन्त्री सत्ता स्थापित कर लेता है, उस समय मनुष्योमें नीचे लिखे लक्षण दिखाई देने लगते है। वसन्तऋतुमें कमलकी सुगन्ध स्वयं कमलमें ही न समाकर जिस प्रकार चारों ओर फैलने लगती है, उसी प्रकार उस मनुष्यका ज्ञान अन्दर न समा सकनेके कारण बाहर निकलने लगता है। सभी इन्द्रियोमें विवेक बुद्धि बसी रहती है; और हम यह भी कह सकते है कि उसके कारण हाथो और पैरोको एक अद्‌भुत दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यदि राजहंसके सामने यह प्रश्न उपस्थित हो कि दूध कौन सा है और पानी कौन सा है, तो जिस प्रकार उसकी चोच ही इस प्रश्नका निर्णय कर सकती है, उसी प्रकार योग्य और अयोग्य, पाप और पुण्य आदिको परखकर उनका निर्णय करनेका काम उसकी इन्द्रियाँ आपसे आप करने लगती हैं और नियम अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह तो मानों उसका सेवक ही हो जाता है। जो बात सुननेके योग्य नही होती, उसे उसके कान आपसे आप टाल जाते हैं, जो चीज नहीं देखने के योग्य होती, उसका

वन्दना करता हूँ। हे स्वामी, आप मुझ पर ऐसी कृपा करें जिसमें मैं इस ग्रन्थ-रचनाके उद्योगमें सफल हो सकूँ। अब आप अपनी कृपा रूपी पूँजी खोल दें और उसे मेरी बुद्धि रूपी थैलीमे भर दे और मुझे ज्ञानपद की प्राप्ति करा दे। फिर इस प्राप्तिके आधार पर मैं व्यवहारमें आगे पैर बढ़ाऊँगा और सन्त जनोके कानोंमें विवेक-वचन रूपी कर्ण-भूषण पहनाऊँगा। आप गीता के गूढ़ अर्थका भांडार खोल दें, यही मेरी इच्छा है। आप मेरे नेत्रोमें अपना कृपा रूपी दिव्य अंजन लगावे। आप अपनी निर्मल करुणाके सूर्यका इस प्रकार उदय करे, जिसमें मेरी बुद्धिके नेत्र अच्छी तरह खुल जायँ और साहित्य रूपी सम्पत्ति मुझे स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगे। हे समस्त स्नेह करने करनेवालोमें श्रेष्ठ, आप स्वयं ही ऐसा वसन्त काल बन जायँ जिसके प्रभावसे मेरी बुद्धि रूपी बेलमे काव्य रूपी फल लगने लगें। हे महाराज आप अपनी उदार कृपा-दृष्टिसे ऐसा वर्षा करे जिससे मेरी बुद्धि रूपी गंगा नदीमे तत्व-सिद्धातकी लहरोकी भरपूर बाढ़ आ जाय। हे विश्वके विश्रामस्थल श्री गुरुदेव, आपके अनुग्रहरूपी चन्द्रमासे मुझे स्फूर्तिकी पूर्णिमा प्राप्त हो। और उस पूर्णिमाके दर्शन होते ही मेरे ज्ञान रूपी सागरमें ऐसी ज्वार आवे जो मेरे नौ रसोके स्रोतको पूरी तरहसे भरकर ऊपर उछल पडे और बाहर निकलकर बहने लगे।

यह सुनकर श्री गुरुदेवने कहा—'-प्रार्थना करनेके बहानेसे तुमने फिर मेरी स्तुति करना आरम्भ कर दिया है। परन्तु अब इस व्यर्थकी स्तुतिको रहने दो। ज्ञानकी सुगन्धिसे भरा हुआ अपना ग्रन्थ और आगे चलाओ और व्यर्थ हमारी उत्सुकता खंडित मत करो।'' श्री गुरुदेवके ये वचन सुनकर मैंने कहा—"ऐसा क्यो? महाराज, मैं तो इसी बातकी प्रतीक्षा कर रहा था कि आपके श्रीमुखसे ये शब्द निकलें कि तुम अपना ग्रन्थ आगे चलाओ।'' एक तो दूर्वाके अंकुर स्वभावतः अमर होते हैं; तिस पर यदि उनके ऊपर अमृत की लहर आ जाय तो फिर पूछना ही क्या है! ठीक वही बात यहाँ भी है। तो भी मैं आपके कृपा-प्रसादसे विस्तारपूर्वक तथा स्पष्ट रूपसे मूल ग्रन्थके शब्दोका विवरण करता हूँ। परन्तु अब मेरी यही इच्छा है कि गुरु-कृपाके घरकी भिक्षासे मेरी वाणी में इस प्रकारकी मधुरता प्रतिबिम्बित हो जिसके कारण जीवके मनमें रहनेवाली सन्देहकी नौका डूब जाय और तब श्रवणके सम्बन्धमे लोगोंकी उत्सुकता बढे।'' अस्तु पिछले तेरहवें अध्यायमे श्रीकृष्णने अर्जुनसे यह कहा है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे जगतका निर्माण होता है; और गुणोका संग होनेके कारण आत्मा संसारी बनती है। और प्रकृतिके चगुलमें फ़ँसने पर वही आत्मा सुख और दुःख भोगती है और अपने कैवल्य स्वरूपसे वह आत्मा गुणोसे बिल्कुल परेकी है। ऐसी अवस्थामें इस असंगको संगकी प्राप्ति किस प्रकार होती है? क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष और प्रकृतिका मेल या संयोग किस प्रकार होता है? इस क्षेत्रज्ञको सुख और दुःख आदि भोग किस प्रकार भोगने पडते है? गुण कितने हैं। उनका स्वरूप क्या है और वे किस प्रकार बन्धक होते हैं? और गुणातीतके लक्षण कौनसे हैं? बस इस चौदहवें अध्यायमे इन्हीं सब प्रश्नोंका स्पष्टीकरण किया गया है। अब आप लोग यह सुनें कि इस विषयमें वैकुण्ठ-पति श्रीकृष्णदेव क्या कहते है।

बहिष्कार उसकी दृष्टि स्वयं ही कर देती है और जो बात नही कहनेके योग्य होती, उसकी ओर उसकी जीभ कभी प्रवृत्त ही नही होती। जिस प्रकार दीपककी ज्योतिके सामने से अन्धकार भाग जाता है, उसी प्रकार निषिद्ध कर्म भी उसकी इन्द्रियोके सामने ठहरते ही नहीं और तुरन्त भाग जाते हैं जिस प्रकार वर्षा-ऋतुमें कोई बड़ी नदी खूब बढ जाती है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि भी सब शास्त्रोमें पूर्ण रूप से संचार करती है। जिस प्रकार पूर्णिमाके दिन चन्द्रमाकी प्रभा खूब जोरोसे आकाशमें फैलती है, वैसे ही उसकी वृत्ति भी ज्ञानके प्रान्तमें खूब स्वतन्त्रतापूर्वक चारो ओर विहार करती है। वासना वृत्ति एक स्थानमें स्थिर हो जाती है, प्रवृत्तियाँ आगेकी ओर बढ़नेसे रुक जाती है और मन विषय-भोगोकी ओरसे विरक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि जब सत्व गुणकी वृद्धि होती है, तब मनुष्यमें ही यही सब लक्षण स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगते है। और यदि इसी अवस्थामे उसकी मृत्यु हो जाय तो मानो वैसा ही आनन्दका योग उपस्थित होता है, जैसा सुकाल पड़ने पर और घरमें उत्तम पक्कान्न बनने पर और स्वर्गसे किसी प्रिय अतिथिके आ जाने पर होता है। घरमें जैसी सम्पत्ति होती है, यदि अन्तरंगकी वृत्ति भी वैसी उदार और अधीर हो तो भला परलोक-साधनके साथ ही साथ इह-लोक साधन भी क्यों न हो ? हे अर्जुन, भला ऐसे पुरुषकी उपमा कहाँ मिल सकती है ? इसी प्रकार जो सत्व गुणसे सम्पन्न हो, उसकी इसके सिवा और कौन सी गति हो सकती है ? कारण यह है कि जीवात्मा जब चरम सीमा तक पहुँचा हुआ शुद्ध सत्व साथ लेकर यह भोग-साधक देह-रूपी घोंसला छोडकर बाहर निकलता है और इस प्रकारकी सत्व-सम्पन्न स्थितिमे अकस्मात् इस शरीरसे छूटता है, वह केवल सत्वकी ही मूर्त्ति होता है और आगे चलकर वह ज्ञानी जनोमें जन्म लेता है। हे अर्जुन, यदि राजा अपना सारा वैभव अपने साथ लेकर किसी पर्वत पर चला जाय तो तुम्ही बतलाओ कि क्या वहाँ उसके महत्वमें किसी तरहकी कमी हो सकती है ? अथवा हे अर्जुन, यदि एक गाँवका दीपक उठाकर किसी दूसरे गाँवमे पहुँचा दिया जाय तो भी क्या वह दीपक ही नही बना रहता ? ठीक इसी प्रकार उस शुद्ध सत्वके कारण ज्ञानकी विलक्षण वृद्धि होती है और बुद्धि विवेकरूपी सागरमे तैरने लगती है। फिर महद् आदि समस्त तत्वोका यथासांग विचार करके अन्तमे जो जीव आत्म-स्वरूपमें मिलकर सम-रस हो जाता है और उस शुद्ध ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है, जो छत्तीसो तत्वोसे भी परेका सैंतीसवाँ तत्व है (देखो ऊपर तेरहवे अध्यायका आरम्भ) अथवा जो साँख्यमें बतलाये हुए चौबीसों तत्वोसे परेका पचीसवाँ तत्व है, जो गुणत्रय, देह-त्रय और अवस्था त्रय आदि सबसे आगे या परेका और चौथा है और जो शुद्ध सत्व है वह उस सर्वोत्तम सत्वके बल पर पर ऐसा शरीर प्राप्त करता है, जिसकी इस संसारमे कोई उपमा ही नही है। इसी प्रकार तम और सत्व इन दोनो गुणोको दबाकर जब रजोगुण बलवान् होता है, तब वह अपने कार्य-क्रमसे इस देह-रूपी ग्राममे धमाचौकड़ी मचा देता हैं। उस समय मनुष्यमे जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, वह भी सुन लो। जिस प्रकार आँधी आरम्भ होने पर बहुत-सी चीजोको एकत्र करके आसमानमे उडा ले जाती है, उसी प्रकार जब रजोगुण का आवेश या प्रबलता होती हैं, तब वह इन्द्रियोको

विषयोका भोग करनेके लिए बिलकुल मुक्त कर देता हैं। पराई स्त्री पर कामुकतापूर्ण दृष्टिसे देखनेको वह नीति-विरुद्ध नही समझता और बकरीके मुँहकी तरह वह अपनी इन्द्रियोको अनिर्बन्ध रूपसे चारो ओर चरने देता है। उसकी विषय-लालसा इतनी अधिक बढ जाती है कि उससे केवल वही चीज वच सकती है, जो किसी तरह उसके हाथमे नही आ सकती। हे अर्जुन, उसके सामने जो उलटा-सीधा काम आता है, उसकी प्रवृत्ति उस कार्यकी ओर हुए बिना नही रहती। कभी कभी उसके सिर पर ऐसी वेढव धुन भी सवार हो जाती है कि कोई बहुत वडा भवन या मन्दिर बनवाना चाहिए अथवा अश्वमेध यज्ञ करना चाहिए। वह यह भी सोचता है कि कोई नगर वसाना चाहिए, वापी या जलाशय आदि वनवाने चाहिएँ अथवा अनेक प्रकारके बड़े बडे वाग लगवाने चाहिएँ। वह इस प्रकारके बहुत बड़े बड़े कार्य आरम्भ करता है। उसकी पारलौकिक तथा ऐहिक सुखोकी लालसा कभी पूरी नही होती। उसके अन्त - करणमे सुखकी ऐसी अपरम्पार और प्रचंड अभिलाषा सदा भरी रहती है जिसके सामने महासागरका असीम विस्तार और गहराई कोई चीज नही होती और जिसके आगे अग्निकी दाहक शक्तिका भी कोई मूल्य या महत्व नही रह जाता। उसके मनके आगे आगे भोग-लालसा आशाके वशीभूत होकर बराबर दौड़ लगाती रहती है और वह भोग-लालसा भटकती हुई वडे शौकसे सारे संसारको अपने पैरो तले रौद डालती है। जब इस प्रकार मनुष्यमे रजोगुणका विस्तार होता है, तब ऊपर वनलाये हुए सब चिह्न मनुष्यमे सहजमे ही उत्पन्न हो जाते है, और इस प्रकारकी गडबडी मचने पर जब देह-पात होता है, तब वह इन सब गडबडियोको अपने साथ लेकर ही दूसरे शरीरमे प्रवेश करता है, परन्तु उसे मनुष्य-योनि ही प्राप्त होती है। यदि कोई भिखारी सब प्रकारके सुखो और वैभवोसे युक्त होकर किसी राज-भवनमे जा बैठे तो भी क्या वह कभी राजा हो सकता है? वैलको खानेके लिए सदा कडवी ही मिलेगी, फिर चाहे वह बैल किसी बहुत बडे सम्पन्न और धनवान व्यक्तिकी बरातमे ही क्यो न आया हो। इसी लिए वह केवल ऐसे ही लोगोकी पक्तिमे बैठाया जाता है, जिनके सासारिक व्यवहार रात-दिन चलते रहते है और जिन्हे कभी क्षण भरका भी विश्राम नही मिलता। तात्पर्य यह कि जो मनुष्य रजोगुणकी वृत्तियोमें मग्न रहनेकी अवस्थासे मृत्युको प्राप्त होता है, वह फिर भी कर्मठोमे ही जन्म धारण करता है। इसी प्रकार रज और सत्व दोनोको स्वाहा करके तमोगुण बलवान् होता है। उस अवस्थामे शरीरके अन्दर और बाहर जो लक्षण दिखाई देते है वह भी सुन लो। इस तमोगुणके कारण मन अमावस्याकी रात्रिके उस आकाशके समान हो जाता है जिसमे न तो सूर्य ही होता है और न चन्द्रमा ही। उसी अमावस्याकी रात्रिके आकाशकी भाँति उसका अन्त करण शून्य, निश्चेतन और उदासीन रहता है। उस अवस्थामे उसके मनमे विचारके लिए कोई स्थान ही नही रह जाता। उसकी बुद्धिकी मृदुता इतनी अधिक नष्ट हो जाती है कि कठोरतामें पत्थर भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। उसकी स्मरण शक्ति तो बिलकुल ही भ्रष्ट हो जाती है। अविचारका उद्दाम और प्रबल वेग उसके सारे शरीरमे अन्दर और वाहर सब जगह भरा रहता

कि भक्त इधर या इस पारका है और उन दोनोकी जो मौलिक शाश्वत एकता है, केवल वही बाकी रह जाती है। हे अर्जुन, जब इस प्रकार ब्रह्मैक्यका आलिंगन हो जाता है, तब फिर गुणोको जीतनेकी कोई बात ही बाकी नहीं रह जाती। भाई मर्मज्ञ अर्जुन, इसी स्थितिको ब्रह्मत्व कहते है और यही ब्रह्मत्व मेरे भक्तोको प्राप्त होता है। मैं फिर तुमसे यह बात कहता हूँ कि इस संसारमे मेरा जो इस प्रकारका भक्त होगा, उसकी सेवा यह ब्राह्मी अवस्था पतिव्रता स्त्रीके समान करेगी। जिस प्रकार नदीमें जोरोसे बहनेवाले पानीके लिए सागरके अतिरिक्त और कोई उपयुक्त स्थान नहीं होता, उसी प्रकार जो ज्ञानपूर्ण दृष्टिसे मेरी सेवा करता है, वह बिना ब्रह्मत्ववाली दशाको सुशोभित किये नही रह सकता। इसी ब्रह्मत्वको सायुज्य कहते है और इसीको चौथा पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष कहते है। यह ठीक है कि मेरी सेवा ही ब्रह्मत्वकी प्राप्तिका साधन है, परन्तु इतनेसे ही तुम यह न समझो कि मैं साधन मात्र हूँ। सम्भव है कि तुम्हारे मन में इस प्रकारकी भावना उत्पन्न हो, इसी लिए मैं तुमको बतला देता हूँ कि ब्राह्म कभी "मैं" से भिन्न नही है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

"हे अर्जुन, ब्रह्म का अर्थ "मैं" है और इस प्रकारके सब शब्दोसे मेरा ही अभिप्राय होता है। भाई मर्मज्ञ अर्जुन, जिस प्रकार चन्द्रमा और उसका मंडल दोनो अलग-अलग पदार्थ नही होते, उसी प्रकार "मैं" और "ब्रह्म" मे अणुमात्रका भी भेद नही है। जो वस्तु शाश्वत, अचल, स्पष्ट, धर्म स्वरूप, आनन्दमय, अपार और एकमेवाद्वितीय है, समस्त कामनाओको छोडकर विवेक जो पद प्राप्त करता है और ज्ञानकी जो परम सीमा है, वह सब "मै" ही हूँ।" भक्तोका पक्ष लेनेवाले और उनकी सहायक करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकारकी बाते अर्जुनसे कह रहे थे। यह सुनकर राजा धृतराष्ट्रने कहा—"हे संजय, ये सब बातें तो तुमसे किसीने पूछी भी नही थी। फिर तुम ये सब निरर्थक बाते क्यो कह रहे हो? इस समय मेरे मनमे जो चिन्ता हो रही है, पहले वह चिन्ता तुम दूर करो। तुम पहले मेरे दुर्योधन-की विजयी-वार्त्ता मुझे सुनाओ।" इस पर संजयने अपने मनमे कहा—"विजयकी बातोको इस समय रहने दो।" धृतराष्ट्रकी ये बाते सुनकर संजयको मनमे बहुत अधिक आश्चर्य हुआ। उसने मन ही मन कहा—"हाय हाय! इसके मनमे भगवानके प्रति कितना द्वेष बैठा हुआ है। फिर भी वे कृपालु देव इस पर कृपा करे और यह विवेक रूपी औषधका पान करे जिसमे इसका मोह रूपी महारोग नष्ट हो जाय।" जब संजयके मनमे यह विचार आया, तब श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादकी बातें स्मरण करते करते उसके अन्तःकरणमे आनन्दका विलक्षण उद्रेक हो आया। इसलिए अब भी वह बराबर बढ़ते हुए उत्साहसे श्रीकृष्णका भाषण ही कथन करेगा। उस भाषणके शब्दोका भावार्थ मैं आप लोगोके मनमे बैठानेका प्रयत्न करूँगा। हे श्रोता-गण, श्री निवृत्तिनाथका दास यह ज्ञानदेव आप लोगोसे प्रार्थना करता है कि आप लोग इस ओर ध्यान दें।

है। वह जीव निरन्तर केवल मूर्खताका ही लेन-देन करता रहता है। सदाचारका उल्लंघन सदा मूर्त्तिमान् होकर उसकी इन्द्रियोके सामने खड़ा रहता है और इसी लिए चाहे उसे मरणके तुल्य यातना भी क्यों न प्राप्त हो, परन्तु फिर भी वह अपनी अनाचारपूर्ण और घातकी क्रियाएँ बराबर करता रहता है। इसमें एक और मजेकी बात यह है कि जैसे उल्लूको केवल अँधेरेमें ही दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार उस तामस जीवको सदा दुष्ट कर्म करनेमें ही सबसे अधिक आनन्द मिलता है। इसी प्रकार यदि कभी उससे कह दिया जाय कि अमुक कार्य निषिद्ध है, तो फिर वही कार्य करने की उत्कट कामना उसके मनमे उत्पन्न होती है और उस कामनाके साथ ही साथ उसकी इन्द्रियाँ भी वह काम करनेकी ओर दौड़ पड़ती है। ऐसा जीव बिना मद्य पिये हुए भी मद्यपोकी तरह झोके खाता रहता है, शरीरमें वायुका वेग न रहने पर भी बड़बडाता रहता है और हृदयमें प्रेम न होने पर भी पागलोंकी तरह मोहमे फँसा रहता है। यह ठीक है कि उसका चित्त ठिकाने नही रहता, पर साथ ही वह उन्मनी अवस्थामे भी नही रहता। इस प्रकार वह सदा मादक मोहसे आक्रान्त रहता है। तात्पर्य यह कि जिस समय तमोगुण अपने परिवारके सहित बलवान रहता है, उस समय वह ये सब चिह्न प्रबल रूपसे उत्पन्न करता है। और यदि उसी अवस्थामें उस जीवके लिए मृत्युका आमन्त्रण आवे तो वह अपने सिर पर इस तमोगुणका भार लिए हुए ही इस शरीरसे निकलता है। राई अपना राई-पन (अर्थात् अपना विशिष्ट गुण) और स्वरूप अपने बीजमें रखकर स्वयं सूख और मर जाती है। पर फिर जब वह बीज अंकुरित होता है तब क्या उसमेसे राईके सिवा कभी और कुछ भी उत्पन्न हो सकता है? जिस अग्निसे दीपककी ज्योति जलती है, वह मूल अग्नि यदि बुझ भी जाय तो क्या हो सकता है? जब तक उसकी जलाई हुई दीपककी ज्योति जलती रहती है, तब तक उस मूल अग्निका सारा स्वरूप उस ज्योतिमें वर्त्तमान रहता है। इसी प्रकार जब जीव अपने संकल्पोको तमकी गठरीमे बाँधकर और अपने सिर पर वह गठरी लादकर इस शरीरसे बाहर निकलता है, तब वह फिर तामस शरीर ही प्राप्त करता है। परन्तु अब इस विषयका व्यर्थ और अधिक विस्तार करनेसे क्या लाभ? तमोगुण बढे रहनेकी अवस्थामे जो मनुष्य मरता है, वह पशु-पक्षी अथवा कीड़े-मकोड़ेकी योनिमे जाता हैं।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥

"इसी लिए श्रुति कहती है कि जो सत्व-गुणसे उत्पन्न होता है, वह कृत अर्थात् पुण्य कृत्य है। और इसी लिए उस निर्मल सत्वसे सुख और ज्ञानका जो अपूर्व फल सहजमे प्राप्त होता है, उसे सात्विक फल कहते है। रजोगुणकी क्रिया अर्थात् फलको इन्द्रायणके फलके समान समझना चाहिये, क्योकि वह फल इन्द्रायणके फलके समान ही बाहरसे तो सुन्दर सुखोसे युक्त दिखलाई देता है, परन्तु अन्तमे वह इन्द्रायणके फलके समान ही कटु-दुःखोसे युक्त सिद्ध होता है। अथवा नीमका फल जिस प्रकार ऊपरसे देखनेमें तो बहुत अच्छा रहता है, परन्तु अन्दरसे विषाक्त और कड़ुआ होता है, उसी प्रकार राजस क्रियाओके फल भी ऊपरसे देखनेमे अच्छे, पर अन्दरसे बहुत

पन्द्रहवाँ अध्याय

अब मैं अपने हृदयको चौकी बनाकर उस पर श्री गुरुदेवके चरणोकी स्थापना करता हूँ। समस्त इन्द्रियोके यही किंचित खिले हुए फूल ऐक्य भावसे अपनी अंजलीमे भरकर यह पुष्पांजलि मैं अर्घ्यके रूपमे श्री गुरुदेवको अर्पित करता हूँ। जो एकनिष्ठ वासना अनन्य भक्ति-रससे शुद्ध हो चुकी है, उसीको चन्दनके रूपमें मानकर मैं श्री गुरुदेवको उसका अखंड तिलक लगाता हूँ। निर्मल प्रेम रूपी खरे सोनेके नूपुर मैं श्री गुरुदेवके सुकुमार चरणोमे पहनाता हूँ। जो दृढ और प्रवल प्रेम अव्यभिचार भावसे शुद्ध हो चुका है, उसीके छल्ले बनाकर मै उन चरणोकी उँगलियोमें पहनाता हूँ। आनन्दकी सुगन्धसे सुगन्धित अष्ट सात्विक भावोका खिला हुआ अष्ट-दल कमल मैं उन पर चढाता हूँ। अब मै उनके आगे अहंकार रूपी धूप जलाकर उन गुरु-चरणोके आगे सोऽहं रूपी दीपकसे आरती करता हूँ और सम-रस भावसे निरन्तर उन्हे आलिंगन करता हूँ। मैं अपने शरीर और प्राण दोनोके खड़ाऊँ बनाकर अपने गुरुदेवके चरणोके नीचे रखता हूँ और भोग तथा मोक्षका राई-नोन उन परसे उतारता हूँ। अपने गुरुदेवके चरणोकी सेवा करनेसे मुझमे इतनी पात्रता आ जाय कि समस्त पुरुषार्थके अधिकार मुझे उसीमे प्राप्त हो जायँ। इससे ब्रह्मत्वके विश्राम धाम तक मेरे ज्ञानका तेज इस प्रकार सहजमे और सीधा जा पहुँचे कि उसके कारण मेरी वाणीमे सुधाके समुद्रकी मधुरता आ जाय। उस समय मेरे विवेचनके प्रत्येक अक्षरको ऐसी मधुरता प्राप्त हो कि उस वक्तृत्व परसे करोड़ो पूर्ण चन्द्र निछावर किये जा सके। जिस प्रकार पूर्वमे सूर्यका उदय होने पर वह समस्त जगतको प्रकाशका साम्राज्य अर्पित करता है, उसी प्रकार यह वाणी भी श्रोताओके समाजको दीपावली-सा प्रकाश दिखला सके। जिस सौभाग्यसे ऐसे शब्द मुँहसे निकलते है कि उनके सामने स्वयं वेद भी बहुत ही निम्न कोटिके दिखाई देते है, और कैवल्य तत्व उनकी बराबरी नही कर सकता, जिस सौभाग्यसे वाणीकी बेल इस प्रकार लहलहाने लगती है कि श्रवण-सुखके मंडपके नीचे सारे विश्वको अखंड वसन्तकी शोभाका अनुभव होता है, जिस सौभाग्यके कारण ऐसा चमत्कार दिखाई देता है कि जिस परमात्माका पता न लगनेके कारण मनके साथ वाचाको भी निराश होकर लौट आना पड़ता है, वही परमात्मा शब्दोके लिए भी गोचर हो जाता है, जिस सौभाग्यसे उस इन्द्रियातीत ब्रह्म-तत्वका शब्दोमे वर्णन किया जा सकता है जो साधारणतः ज्ञानके लिए अगम्य और ध्यानके लिए असाध्य होता है, वही परम सौभाग्य श्री गुरुदेवके चरण-कमलोकी धूलका एक कण प्राप्त होते ही वाणीमें आ सकती है। अब इससे अधिक मैं और क्या कहूँ? मैं ज्ञानदेव स्पष्ट रूपसे कहता हूँ कि इस गुरु प्रेमके समान प्रेम माताके सिवा और कही या किसीमें प्राप्त ही नही हो सकता। क्योकि मै बहुत ही छोटे-से बालकके समान हूँ और श्री गुरुदेव ऐसी माताके समान है जिसका एक ही

ही बुरे होते हैं। जिस प्रकार विषाक्त वृक्षके फल भी विषाक्त ही होते है, उसी प्रकार तामस कर्मोंका फल भी अज्ञान ही होता है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

"इसी लिए, हे भाई अर्जुन, जिस प्रकार दिन-मानका कारण सूर्य होता है, उसी प्रकार ज्ञानका कारण सत्व गुण है। इसी प्रकार जैसे आत्म-स्वरूपकी विस्मृतिसे द्वैतकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही रजोगुणसे लोभकी उत्पत्ति होती है। और हे सुविज्ञ अर्जुन, मोह, अज्ञान और प्रमाद आदि जो बहुतसे दोष एकत्र दिखाई देते हैं, उन सबका कारण सदा तमोगुण ही होता है। जिस प्रकार हाथ पर रखा हुआ आँवला स्पष्ट दिखाई देता है, उसी प्रकार इन तीनो गुणोके लक्षण मैंने अलग अलग इस तरह तुम्हें बतला दिये हैं कि वे भी तुम्हे हाथ पर रखे हुए आँवलेके समान ही स्पष्ट दिखाई दे। रज और तमका अध पात केवल सत्व ही कर सकता है। सत्वके सिवा और कोई गुण जीवात्माको ज्ञानकी ओर नही ले जा सकता। इसी लिए जिस प्रकार कुछ लोग अपना सर्वस्व परित्याग करके चौथी भक्ति अर्थात् सन्यास भक्तिको अंगीकार करते हैं, उसी प्रकार बहुत-से लोग जन्म भर केवल सात्विक वृत्तिके व्रतका ही आचरण करते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

"इसी प्रकार जो लोग केवल सात्विक वृत्तिसे ही अपने सब व्यवहार करते है, वे देह-पात होनेपर स्वर्गके राजा होते हैं। जो लोग रजोगुणमे ही जीवित रहते और उसीमें मरते है, वे मरने पर फिर इसी मर्त्य-लोकमे मनुष्य-योनिमे जन्म लेते है। वे लोग इस लोकमे एक ही थालीमेसे सुख और दु खकी खिचडी खाते है और उनके मार्गमे बाधक होनेवाली मृत्यु कभी अपने स्थानसे हटती ही नही। अर्थात् उनके सुख सदा दु खोसे मिश्रित रहते है और वे मृत्युमे कभी बच नही सकते—सदा जन्म लेते और मरते रहते हैं। और जो लोग तमोगुणमे ही बडे होते है और उसी तमोगुणवाली अवस्थामे जिनके इस भोग-क्षम शरीरका पात होता है, वे तामस स्थितिको प्राप्त होने है और उन्हे मानो सदा नरक भूमिमे रहनेका पट्टा ही मिला रहता है—वे कभी नरकसे मुक्त नही होने। हे अर्जुन, इस प्रकार ब्रह्मकी सत्तासे उत्पन्न होने और बढ़नेवाले इन तीनो गुणोके स्वरूप और शक्तियाँ मैंने तुमको स्पष्ट रूपसे बतला दी है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो ब्रह्मके स्वरूपमे कभी कोई भेद होता ही नही; परन्तु वह ब्रह्म ही स्वयं भिन्न-भिन्न अवसरो पर इन गुणोके लक्षणोके अनुसार क्रिया करता है। जब कभी कोई पुरुष स्वप्नमे राजा होता है और तब यह देखता है कि मुझपर किसी दूसरे राजाने आक्रमण किया है और तब स्वप्नमे ही वह विजयी अथवा पराजित होता है, तब स्वयं वह पुरुष ही उस राज्य और जय अथवा पराजयका भोग करता है। इसी प्रकार इन गुणोके मैंने जो उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन वृत्ति-भेद बतलाये है, वे केवल ऊपरी और दिखावटी है; और यदि वास्तवमे देखा जाय तो वह ब्रह्म इन भेद-दृष्टियोसे बिलकुल अलग, अचंचल और शुद्ध ही है।

इकलौता लड़का होता है; इसलिए उनकी कृपाका प्रवाह सदा समान रूपसे एक-मार्गी होकर मेरी ही ओर बहता रहता है। हे श्रोतागण, जिस प्रकार मेघ अपनी सारी जल-सम्पत्ति चातकोके लिए उलट देता है, उसी प्रकार श्री गुरुदेवने भी मुझ-पर अपनी करुणा की वर्षा की है। इसीका यह परिणाम है कि जब मैं व्यर्थकी बकवाद करने लगा, तब उस बकवादमेसे भी गीताका मधुर रहस्य निकल पड़ा। यदि भाग्य अनुकूल हो तो बालू भी रत्न हो जाता है, और यदि आयु अभी पूरी न हुई हो तो मारनेवाला भी दया और प्रेम करने लगता है। जब जगदीश्वर अपने मनमे किसीका पेट भरनेका सुभीता करना चाहता है, तब यदि अदहनमें कंकड़ पत्थर भी डाल दिये जायँ, तो वे भी अमृतके समान मधुर चावल बन जाते है। ठीक इसी प्रकार यदि श्री गुरुदेव भी कृपापूर्वक अंगीकार कर ले तो यह सारा संसार ही मोक्षमय हो जाता है। देखिये, उन जगतके वन्दनीय पुराण-पुरुष नारायणके अवतार भगवान श्रीकृष्णने पाडवोके लिए कभी किसी बातकी कोई कमी होने दी थी ? ठीक इसी प्रकार श्रीनिवृत्तिनाथजी महाराजने मेरे अज्ञानको भी ज्ञानकी बराबरीका बना दिया है। परन्तु इस प्रकारकी बाते यथेष्ट हो चुकी। बोलते बोलते मेरा प्रेम बहुत अधिक उमड़ पडा है। परन्तु यदि वास्तवमे देखा जाय तो ऐसा ज्ञान भला किसका हो सकता है जो गुरुदेवके महत्वका यथार्थ वर्णन कर सके ? अब उन्ही गुरुदेवके प्रसादसे मैं आप सन्त श्रोताओके चरणोमे गीताका अर्थ समर्पित करना चाहता हूँ।

अभी जो चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ है, उसके अन्तमे कैवल्य-धाम श्रीकृष्णने यह सिद्धान्त बतलाया था कि जिस प्रकार स्वर्गकी सम्पत्ति का स्वामी इन्द्र होता है, उसी प्रकार मुक्तिका स्वामी और अधिकारी ज्ञानी पुरुष होता है। अथवा सैकड़ों जन्मों तक जो ब्रह्म कर्म करता रहता है, वही अन्तमे ब्रह्मा होता है, दूसरा कोई ब्रह्मा नही हो सकता। और सूर्य के प्रकाशका अनुभव जिस प्रकार आँखोवाले आदमीको हो सकता है, उस प्रकार बिना आँखोवालेको कभी हो ही नही सकता। ठीक इसी प्रकार मोक्षका परमानन्द भी केवल ज्ञानके ही हिस्सेमे आता है। अब जब भगवान् इस बातका विचार करने लगे कि ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता किसमे होती है, तब उन्हे इसके लिए केवल एक पुरुष योग्य दिखाई दिया। आँखोमे दिव्य अंजन लगा लेने पर पृथ्वीके अन्दर रखा हुआ गुप्त धन स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगता है; परन्तु साथ ही उस गुप्त धनको देखनेके लिए ऐसा आदमी होना चाहिए जो पैरोंके बल और उलटा जनमा हो। ठीक इसी प्रकार यह भी सत्य है कि ज्ञानसे निस्सन्देह मोक्षकी प्राप्ति होती है। परन्तु जिस मनमे ज्ञान रह सके, वह मन भी अत्यन्त शुद्ध होना चाहिए। और फिर भगवानने बहुत ही विचारपूर्वक यह सिद्धान्त भी बतला रखा है कि बिना विरक्तिके ज्ञान कभी स्थिर रह ही नही सकता। फिर भगवानने इस बातका भी विचार किया है कि मनमें किस प्रकार पूर्ण रूपसे विरक्ति आती है। यदि भोजन करनेवालेको यह बात मालुम हो कि विष मिलाकर भोजन तैयार किया गया है, तो वह थाली एक तरफ खिसकाकर भोजन परसे उठ जाता है। ठीक इसी प्रकार जब मनमे यह बात अच्छी तरह बैठ जाती है कि यह ससार अ-शाश्वत और नश्वर है, उस समय यदि कोई विरक्तिको अपने पाससे हटा भी दे तो भी वह आपसे

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

"परन्तु अब इस विस्तारका यही अन्त हो जाना चाहिए। बात केवल यह है कि उस एक ब्रह्मके अतिरिक्त तुम और किसी वस्तुको मत मानो। अब मैं पहले बतलाई हुई बात ही तुम्हें फिरसे बतलाता हूँ; सुनो। तुम यह बात ध्यानमे रखो कि ये तीनो गुण इस देहको निमित्त बनाकर ही अपनी अपनी सामर्थ्य दिखलाते हैं। अग्नि जिस प्रकार वही रूप धारण करती है जो रूप ईंधनका होता है अथवा पृथ्वीके अन्दर रहनेवाला रस जिस प्रकार वृक्षके रूपमें दिखाई देता है अथवा दहीके रूपमें जिस प्रकार दूध रूपान्तरित होता है अथवा मधुरता जिस प्रकार ऊखको निमित्त बनाकर और उसके रूपमें प्रकट होती है, उसी प्रकार ये तीनों गुण भी अन्त करणसे युक्त इस शरीरका रूप धारण करते है और इसी लिए वे बन्धनके कारण बनते हैं। हे अर्जुन, इसमें एक बहुत बडी विलक्षण बात यह है कि इन तीनो गुणोका शरीरके साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, उसके कारण जीवात्माकी सहज स्वतन्त्रतामें कभी नामको भी कमी नही होती। ये तीनों गुण अपने अपने धर्मोके अनुसार शरीरके संचित और क्रियमाण कर्मोका आचरण करते रहते हैं, परन्तु फिर भी उनके कारण निर्गुण आत्म-तत्वमें किसी प्रकारकी न्यूनता नही आने पाती। अब मैं तुमको यह बतलाना चाहता हूँ कि इन गुणोके झमेले बने रहने पर भी जीवात्माकी सहजमें मुक्ति प्राप्त हो सकती है। और इसका कारण यह है कि तुम ज्ञान रूपी कमलमे रमण करनेवाले रसिक भृंग हो। मैंने तुम्हे पहले (अध्याय तेरहका आरम्भ) यह रहस्य बतलाया है कि गुणोके मध्यमे रहनेवाला चैतन्य तत्व कभी गुणोके समान नही होता। बस ठीक यही बात यहाँ भी है। इसलिए हे अर्जुन, जिस समय जीवको आत्म-बोध होता है, उस समय वह यह बात समझने लगता है। जिस प्रकार जाग्रत होने पर स्वप्नका मिथ्यात्व प्रतीत होता है अथवा जब हम तट पर शान्तिपूर्वक बैठे रहते हैं, तब इस बातका ज्ञान होता है कि जलकी लहरोमें जो कुछ हिलता हुआ दिखाई देता है, वह हमारा शरीर नही है, बल्कि उसका प्रतिबिम्ब है अथवा अभिनय-कलामे अत्यन्त निपुण होने पर भी जिस प्रकार स्वयं नट कभी अपने सम्बन्धमे धोखा नही खाता और यह नही समझता कि मैं वही व्यक्ति हूँ, जिसका मै इस समय अभिनय कर रहा हूँ, उसी प्रकार जीवात्माको भी उचित है कि वह अपने आपको इन तीनो गुणोसे अलग रहकर देखे। आकाश भिन्न भिन्न तीनो ऋतुओको अंगीकार करता है, परन्तु फिर भी जिस प्रकार वह स्वयं अपने स्वरूपमे कभी किसी तरहका भिन्नता या मिथ्यात्व नही आने देता, उसी प्रकार जो इन तीनो गुणोमें रहकर भी उनसे परे या अलग रहता है, वह स्वयं सिद्ध आत्मतत्वका सदा अहंब्रह्माऽस्मिके मूल पीठ पर आरूढ रहता है। उस मूल पीठ परसे देखता हुआ वह आत्म-तत्व कहता है—"मैं केवल साक्षी हूँ और मैं कुछ भी नही करता। ये गुण ही इन कर्मोके व्यूहकी रचना करते है।" सत्व, रज और तमके भिन्न भिन्न लक्षणोसे कर्मकी व्यापकताका विस्तार होता रहता है और यह कर्मकाड मानो इन गुणोका ही विकार है। और गुणो तथा कर्मोके मिश्रणमे मैं किस प्रकार हूँ? ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार वनमें दिखाई पड़नेवाली वन-शोभाका मूल

आप पीछे हो लेती है। अब इस पन्द्रहवे अध्यायमें भगवान एक वृक्षके रूपकके द्वारा यह बतलाये है कि इस संसारकी अनित्यता कैसी है। यदि किसी वृक्षको जड़ समेत उखाड लिया जाय और उसकी जड़ ऊपरकी ओर करके वह उलटा रख दिया जाय तो वह सूख जाता है। परन्तु इस संसार रूपी वृक्षके सम्बन्धमें यह बात नही है। इस प्रकार एक रूपकके कौशलसे ही भगवान् इस संसारका आवागमन बन्द कर रहे है। इस पन्द्रहवे अध्यायका कथन इसी उद्देश्यसे किया गया है कि संसारकी निरर्थकता सिद्ध हो जाय और स्व-स्वरूपी अहं ब्रह्मास्मिवाली अवस्था स्थायी और दृढ़ हो जाय। अब ग्रन्थका यह गूढ रहस्य मै बहुत ही मन लगाकर स्पष्ट करना चाहता हूँ; तो भी आप लोग ध्यानपूर्वक सुनें। अब परमानन्दके समुद्रमें ज्वार उत्पन्न करनेवाले पूर्ण चन्द्रमा भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाधीश कहने लगे—"भाई अर्जुन, मेरे स्वरूपकी प्राप्तिके मार्गमे जो विश्व भ्रम बाधक होता है, उसे यह विश्व ही न समझ लेना चाहिये। तुम यही समझ रखो कि यह संसार एक प्रचंड वृक्ष है। परन्तु सामान्य वृक्षोकी भाँति इस वृक्षकी जड़े नीचे और डालियाँ-ऊपर नही है और इसी लिए यह बात सहसा किसीकी समझमे नही आती कि यह भी कोई वृक्ष है। यदि किसी वृक्षकी जड़मे आग लग जाय या कुल्हाडीका प्रहार हो तो फिर चाहें उस वृक्षका ऊपरी विस्तार कितना ही अधिक क्यो न हो, परन्तु वह जडसे ही उखड़ जानेके कारण सहजमे गिर पड़ता है। परन्तु यह संसार रूपी वृक्ष इस प्रकार सहजमे नही गिराया जा सकता। हे अर्जुन, इस संसारके सम्बन्धमे यह एक बहुत ही अद्भुत और चमत्कार-पूर्ण बात है कि इसका विस्तार बराबर नीचेकी ओर ही खूब बढता जाता है। जिस प्रकार सूर्य बहुत अधिक ऊँचाई पर होता है और उसकी किरणोका जाल नीचेकी ओर फैलता है, उसी प्रकार इस संसार रूपी वृक्षका भी बहुत ही चमत्कारिक रूपसे बराबर नीचेकी ओर ही विस्तार बढता जाता है। जिस प्रकार प्रलय कालका जल सारे आकाशको व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार यह संसार रूपी वृक्ष इस विश्वके कोने-कोनेको भर देता है। अथवा जिस प्रकार सूर्यके अस्त होने पर रात्रि अन्धकारसे भर जाती है, उसी प्रकार सारा आकाश भी संसार रूपी वृक्षसे ठसाठस भरा हुआ और पूर्ण रूपसे व्याप्त है। यदि खाना चाहे तो इसमे कोई फल नही होता और यदि सूँघना चाहे तो कोई फूल नही होता। हे अर्जुन, यह केवल वृक्ष ही वृक्ष है। इसकी जड तो ऊपरकी ओर ही है, पर यह कोई उखाड़कर उलटा रखा हुआ वृक्ष नही है और इसी लिए यह सदा खूब हरा-भरा रहता है। और यही कारण है कि इसे ऊर्ध्वमूल कहते है। यद्यपि इसके सम्बन्धमें यह बात बिलकुल ठीक है, तथापि नीचेकी ओर भी इसकी असंख्य जड़े रहती है। आसपास और चारो ओर निकलने-वाली कोपलोके बलसे बड़ और पीपलकी तरह इसके भी बीजो और कोपलोसे बहुत-सी नई-नई शाखाएँ निकलती है। और हे अर्जुन, यह बात नही है कि इस संसार रूपी वृक्षमे केवल नीचेकी ओर ही डाले होती हो, बल्कि ऊपरकी ओर भी इसकी अनगिनत शाखाएँ फैली हुई होती हैं। इसे देखने पर ऐसा जान पडता है कि मानो आकाश ही पल्लवित हुआ है अथवा वायुने ही वृक्षका आकार धारण कर रखा है अथवा उत्पत्ति, स्थिति और लय इन तीनों अवस्थाओने ही यह अवतार धारण कर

कारण वसन्त होता है अथवा जिस प्रकार नक्षत्र पहले तो फीके पड़ते हुए दिखाई देते हैं और तब अदृश्य हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार सूर्य-कान्त मणि प्रज्वलित होती है अथवा कमल फूलते हैं अथवा अन्धकार नष्ट होता है अथवा सूर्योदय होने पर उसके साथ होनेवाले इसी प्रकारके और कार्य होते हैं। जिस प्रकार सूर्योदयके साथ होनेवाले ये सब कार्य कभी सूर्यके अंग नही होते, उसी प्रकार मैं भी अपनी सामर्थ्यसे सब प्रकारके कर्मोका हेतु होने पर भी सदा अकर्त्ता रहता हूँ और मुझमे इन कर्मोका लेप नही होता। मेरे प्रकट करनेके कारण ही गुण प्रकट होते है और उनमे मैं ही सामर्थ्य उत्पन्न करता हूँ; परन्तु इन गुणोके निःशेष होने पर जो तत्व बाकी रह जाता है, वह निर्गुण और शाश्वत तत्व मैं ही हूँ। हे अर्जुन, जो पुरुष इस प्रकारकी विवेक बुद्धिसे उन्नत होता है, वह परम गति प्राप्त करके गुणोकी सीमाके उस पार पहुँच जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

"ऐसा पुरुष उस स्वतन्त्र तत्वको बिलकुल पूरी तरहसे जानता है जो सब गुणोसे परे है, और इसका कारण यह है कि उस पर ज्ञानकी छाप पूरी तरहसे पडी रहती है। हे अर्जुन, साराश यही है कि जिस प्रकार कोई नदी समुद्रमे मिलकर उसके साथ एक-रस हो जाती है, उसी प्रकार ऐसा ज्ञानी पुरुष मेरे साथ एक-रस होकर सारूप्य प्राप्त करता है। नलिका-यन्त्रके भ्रमणसे छुटकारा पानेवाला तोता जिस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक वृक्षकी शाखा पर जा बैठता है, उसी प्रकार वह ज्ञानी जीव मायासे छुटकारा पाकर अहं ब्रह्माऽस्मिके मूल अहं तत्व पर स्थित हो जाता है। और हे अर्जुन, इसका कारण यह है कि अब तक अज्ञानकी निद्रामे पड़ा हुआ जो जोर जोरसे खर्राटे ले रहा था, वही अब आत्म-स्वरूपका बोध प्राप्त करके जाग उठता है। हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, जब बुद्धि-भेद उत्पन्न करनेवाला मोहका दर्पण उसके हाथसे गिर पड़ता है, तब उसे प्रतिबिम्बका आभास हो ही नही सकता। जब देहाभिमान रूपी पवनके झोंके बन्द हो जाते हैं, तब लहरो और सागरके समान जीव और शिव दोनो मिलकर एक रूप हो जाते है। इसी लिए जिस प्रकार वर्षा-ऋतुके अन्तमे मेघ आकाशमे लीन हो जाते है, उसी प्रकार जीवात्मा भी ब्रह्म तत्वमें लीन होकर तद्रूप हो जाता है। और इस प्रकार ब्रह्म-भावकी प्राप्ति हो जाने पर यदि वह देहान्त होने तक इसी शरीरमे रहता है, तो भी शरीरसे उत्पन्न होनेवाले गुणोकी बातोके फेरमे वह कभी नही पडता। जिस प्रकार काँच अथवा अबरकके आच्छादनसे दीपकका प्रकाश कभी रोका नही जा सकता अथवा समुद्रके जलसे जिस प्रकार बड़वाग्नि कभी बुझ नही सकती, उसी प्रकार गुणोके संचारके कारण जीवका बोध कभी मलिन नही हो सकता। जिस प्रकार आकाशका चन्द्रमा जलमे प्रतिबिम्बित होने पर भी जलसे सदा निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार चाहे वह देहमे रहता हुआ भले ही दिखाई पडे, परन्तु फिर भी उसमे देहके धर्म नही लगते। तीनो गुण अपनी अपनी सामर्थ्यसे शरीर के स्वाँग प्रस्तुत करके उसे नचाते रहते है, परन्तु ज्ञानी पुरुष उनकी ओर देखनेके लिए कभी भूलकर भी अपना अह ब्रह्माऽस्मि वाला भाव क्षण-

रखा है। इस प्रकार यह एक विश्व-रूपी प्रचंड ऊर्ध्वमूल वृक्ष अस्तित्वमें आया है। अब इस "ऊर्ध्व" का क्या अर्थ है, इसकी जडोके लक्षण क्या हैं, यह अधोमुख अर्थात् उलटा क्यो है, इसकी शाखाएँ कैसी हैं अथवा नीचेकी ओर इस वृक्षकी जो शाखाएँ हैं, वे कौन-सी है, इसमे ऊपरकी ओर जो शाखायें हैं, उनका स्वरूप क्या है, और इसका नाम अश्वत्थ क्यो रखा गया है, इत्यादि प्रश्नो का निर्णय आत्मश्रेष्ठोने किया है। अब मै यही बातें ऐसे स्पष्ट शब्दोमे तुमको बतलाता हूँ जिसमें ये सब तुम्हारी समझमे खूब अच्छी तरह आ जायँ। भइया भाग्यशाली अर्जुन, यह प्रकरण तुम्हारे ही सरीखें लोगोके सुनने योग्य है, इसलिए तुम हृदयको स्तब्ध करके और इस प्रकार एकाग्र-चित्त तथा सावधान होकर सुनो, मानो तुम्हारे प्रत्येक अवयव मे श्रवण-शक्ति आ गई हो।" जब यादव-श्रेष्ठ भगवानने इस प्रकार प्रेम रसमे भरकर ये सब बातें कही, तब अर्जुन मानो सावधानताका मूर्त्तिमान रूप ही बन गया। उस समय अर्जुनकी श्रवण करनेकी कामना इतनी अधिक बढ गयी कि मानो वह आकाशकी दसो दिशाओको गाढ आलिंगन करना चाहती हो, और इसी लिए भगवानका किया हुआ निरूपण उसे बहुत ही अल्प जान पडने लगा। यद्यपि श्रीकृष्णकी उक्ति समुद्रके समान अनन्त और असीम थी, परन्तु फिर भी यह अर्जुन एक नये अगस्त ऋषिके रूपमे उत्पन्न हुआ था, और इसी लिए वह भगवानके समस्त वचन-सागरको एक ही घूँटमे पान कर जानेका विचार करने लगा। उस समय अर्जुनके हृदयकी उत्कण्ठा इतनी अधिक बढी कि कुछ कहा ही नही जा सकता। जब भगवान्ने उसकी यह अवस्था देखी, तब उन्होने अत्यन्त सन्तोषपूर्वक उसकी बलाएँ ली।

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

इसके उपरान्त भगवानने कहा—"हे अर्जुन, वह ब्रह्म ही इस वृक्षका ऊर्ध्व हैं और इसी वृक्षके सम्बन्धके कारण उसे वह ऊर्ध्वता या उच्चता प्राप्त हुई है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो जो एक-रूप अद्वैत, कैवल्य तत्व है, उसमे ऊर्ध्व, मध्य और अध (अर्थात् ऊपरी भाग, बीचका भाग और नीचेका भाग) का कोई भेद हो ही नही सकता, जो ऐसा नाद है जो कभी कानोसे सुना ही नही जा सकता, जो मकरन्दकी ऐसी सुगन्ध है जिसका घ्राणेन्द्रिय कभी अनुभव कर ही नही सकती, जो ऐसा आनन्द है जो बिना विषयोका सेवन किये हुए ही प्राप्त होता है, जो अपने इस पार भी और उस पार भी, अपने आगे भी और पीछे भी केवल स्वयं ही है, जो अदृश्य रहता है और बिना देखनेवालेके ही दिखाई देता है, जो उपाधिके सम्बन्धसे ही नाम-रूपात्मक विश्व होता है, जो ज्ञाता और ज्ञान-वस्तुके बिना ही ज्ञान है, जो सुखसे पूर्ण रूपसे भरा हुआ होने पर भी शून्य गुण आकाश ही है, जो कार्य भी नहीं है और कारण भी नही है, जो द्वैत भी नही है और अद्वैत भी नही है, जो केवल स्वयं ही और आत्म स्वरूप रहता है, वही अद्वितीय तत्व इस संसार रूपी वृक्षका

मात्रके लिए भी अपनेसे अलग नही करते। उनके अन्तःकरणमें आत्म-स्वरूपका निश्चय इतना अधिक दृढ़ होता है कि उन्हे कभी इस बातका भान भी नही होता कि हम इस शरीरमें रहकर कुछ करते भी हैं या नही। जब साँप एक बार अपनी केंचुली छोड़कर अपने गहरे बिलमें चला जाता है, तब फिर उस केंचुलीका वह भला कब ध्यान करता है? ठीक वही बात यहाँ भी होती है। अथवा जब कोई सुगन्धित कमल खिलता है, तब उसकी सारी सुगन्धि आकाशमें मिलकर लीन हो जाती है और वह फिर कभी लौटकर उस कमल-कोशमे नही आती। इसी प्रकार जब ब्रह्मका सारूप्य प्राप्त हो जाता है, तब इस बातका भान ही नही रह जाता कि यह शरीर क्या है और इसके धर्म क्या है? इसी लिए शरीरके जन्म, जरा, मरण आदि जो छः गुण है, वे शरीरमें ही रहते है और ज्ञानी जीवके साथ उनका सम्पर्क नही होता। जब घड़ा टूट जाय और छोटे छोटे ठीकरोके रूपमें परिवर्त्तित हो जाय, तब यही समझना चाहिए कि घटाकाश आपसे आप तत्काल ही महदाकाशमे सम्मिलित होकर उसीका रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जब देहका अभिमान लुप्त हो जाय और अपने आत्म-स्वरूपका स्मरण हो जाय, तब भला उस आत्म-स्वरूपके अतिरिक्त और क्या बाकी रह सकता है? इस अत्यन्त श्रेष्ठ आत्म-बोधसे युक्त होकर जो वह शरीरमे निवास करता है, इसीसे मैं उसे गुणातीत कहता हूँ।" भगवानके ये वचन सुनकर अर्जुनको उसी प्रकारका अत्यन्त आनन्द हुआ, जिस प्रकारका आनन्द उस मोरको होता है जिसे मेघ स्वयं ही गरज कर पुकारता है।

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ २१॥

इस प्रकारका सन्तोष प्राप्त करके अर्जुनने पूछा—"हे भगवान्, जिसे इस प्रकारका आत्म-बोध हो जाता है, उसमें कौन-से लक्षण दिखाई पड़ते हैं? वह अपनी वृत्तिको किस प्रकार निर्गुण रखता है? वह गुणोके बन्धनसे किस प्रकार छूटता है? हे कृपानिधि, आप ये सब बाते मुझे बतला दें।" षड्गुणोके ऐश्वर्यसे सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी इन शंकाओंका समाधान करते हुए कहने लगे—"हे अर्जुन, मुझे इस बातका बहुत ही आश्चर्य हो रहा है कि तुमने केवल ये सब शंकाएँ की है। तुम गुणातीतके आचारके सम्बन्धमे पूछते हो। परन्तु जिसमें आचार हो, क्या उसे गुणातीत कहना ही अनुचित नही है? जिसे गुणातीत कह सकते हो, वह गुणोके क्षेत्रमे कभी जाता ही नही। अथवा यदि वह कदाचित् गुणोके क्षेत्रमें आचरण करता हुआ दिखाई पड़े तो भी वह कभी गुणोके हाथोमे नही पड़ता। हाँ यदि तुम्हारे मन मे यह शंका हो कि गुणोके सब व्यापारोके चलते रहने पर भी उन गुणोके मध्यमें रहकर सब प्रकारके कार्य करनेपर भी वह किस प्रकार गुणोके हाथोमे नही पडता, तो इसके सम्बन्धमे अवश्य ही तुम प्रसन्नतापूर्वक पूछ सकते हो। अब तुम इसी शंकाका उत्तर सुनो।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥

ऊर्ध्व है। अब मैं तुमको बतलाता हूँ कि इस ऊर्ध्व जड़मे अंकुर किस प्रकार उत्पन्न होते हैं। वन्ध्याके पुत्रके वर्णन की तरह जिसे झूठ-मूठ और व्यर्थ ही माया कहते है, जो सत् भी नही है और असत् भी नही है, जो विचारके सामने नही ठहरता (अर्थात् विचार में नहीं आ सकता) परन्तु इतना होने पर भी जिसे अनादि कहते है, जो भेद-भावका सन्दूक है, जिसमे ये नाना लोक उसी प्रकार रहते है, जिस प्रकार आकाशमे मेघ रहते है, जो समस्त साकार वस्तु रूपी वस्त्रकी असली तह है, जो संसार रूपी वृक्षका सूक्ष्म बीज है, जो प्रपंचकी जन्म भूमि और मिथ्या ज्ञान (अर्थात् मोह) की प्रकाशमान् ज्योति है, वह माया उस निर्गुण ब्रह्ममें इस प्रकार रहती है कि मानो है ही नही; और फिर वह जो जो व्यवहार करती है, वह सब उस ब्रह्मके तेजके प्रभावसे ही करती है। जिस समय हमें नीद नही आती है, उस समय जिस प्रकार हम स्वयं ही अपने आपको ज्ञान-शून्य कर लेते है अथवा दीपक जिस प्रकार कजली उत्पन्न करके स्वयं ही अपनी प्रभा मन्द कर लेता है अथवा जिस प्रकार स्वप्नमे कोई पुरुष यह देखता है; मेरे सामने सोई हुई तरुणी जाग उठी हैं और वह वास्तवमें आलिंगन न होने पर भी यही कल्पना करता है कि वह तरुणी मुझे आलिंगन कर रही है और तब वह कामविकारसे क्षुब्ध होता है, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, उस निर्गुण ब्रह्ममे जो माया उत्पन्न हुई है और अपने मूल स्वरूपकी जो विस्मृति हुई है, वही इस संसार-रूपी वृक्षकी पहली जड़ है। मूल वस्तुको जो यह अपने वास्तविक स्वरूपकी विस्मृति हुई है, वही इस वृक्षका ऊँचाई पर रहनेवाला प्रधान स्कन्द हैं; और इसीको वेदान्तमें "बीज भाव" कहते है। जो पूर्ण अज्ञानमय और सुषुप्तिवाली अवस्था है, उसीका नाम बीजांकुर भाव है। दूसरी जो स्वप्न और जाग्रतिवाली दशायें है, उन्हे उस सुषुप्तिका फल-भाव कहते हैं। इस सम्बन्धमे वेदान्तके निरूपणकी यही परिभाषा है। अस्तु, इस समय केवल इतना ही कहना है कि इस संसार रूपी वृक्षका मूल अज्ञान है। इसका जो ऊर्ध्व भाग है, वह निर्मल आत्मा है, और उसके नीचेकी जो जड़ें बतलाई गई हैं, वह मायाके योगसे बननेवाले थाँवलेमें खूब अच्छी तरह बढ़ी और फैली हुई हैं। इसके उपरान्त और भी नीचेकी ओर अनेक प्रकारके असंख्य शरीर उत्पन्न होते है और उनके चारो ओर अंकुर निकलते है जो नीचेकी ओर बराबर बढते जाते है। इस प्रकार इस संसार-रूपी वृक्षकी जड़ अपने ऊर्ध्व भागमे अद्वैत ब्रह्मसे बल प्राप्त करके नीचेकी ओर केवल अंकुर ही अंकुर निकालती चलती है। इनमेसे पहला अंकुर अन्त.करणकी वृत्तिका होता है। यही महत्तत्त्वका विकसित कोमल पत्ता है। फिर इसमेसे नीचेकी ओर तीन पत्तोंवाला एक अंकुर निकलता है। यही अंकुर अहंकार है और सत्व, रज तथा तम इसके तीनों पत्ते हैं। यही अहंकारका अंकुर आगे चलकर बुद्धिकी डाली या शाखा उत्पन्न करता है और अनेक प्रकारके भिन्न भिन्न भावोको बढाकर मनकी शाखा हरी-भरी रखता है। इस प्रकार यह संसार-रूपी वृक्षमे ऊपरवाले मूलकी सामर्थ्यसे विकल्प-रससे भरा हुआ चित्त-चतुष्टयका अंकुर उत्पन्न होता है। फिर आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पाँचो महाभूतोके रूपमें सुन्दर और सीधी कोपले इसमे निकलती है। फिर इन्हीं

"रजोगुणकी रंगत चढ़ने पर शरीरमें कर्मके अंकुर उत्पन्न होते हैं और जीव प्रवृत्तियोसे घिर जाता है। उस अवस्थामें जिस व्यक्तिको इस प्रकारका अभिमान छू भी नही जाता कि केवल मैं ही कर्म करनेवाला हूँ अथवा अपने कर्मोके निष्फल होने पर भी जिसे कोई दु.ख नही होता अथवा जिस समय सत्व गुणकी वृद्धि होनेके कारण समस्त इन्द्रियों पर ज्ञानके तेजका प्रसार होता है, उस समय विद्याके अभिमान अथवा सन्तोषसे जो फूल नही जाता अथवा तमोगुणकी वृद्धि होने पर भी जो मोहके फेरमे नही पड़ता और मनमे अज्ञानका खेद नही करता, जो मोहका प्रसंग पड़ने पर ज्ञानके लिए उत्कठित नही होता और ज्ञानका प्रसंग पडने पर कर्मोका परित्याग नही करता और अपने हाथोसे कर्म हो जाने पर भी दु खी नही होता, जो ठीक उसी प्रकार कोई भेद नही करता, जिस प्रकार सूर्य प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकालका कोई काल-भेद नही करता, उस पुरुपमे ज्ञान उत्पन्न करनेके लिए भला किसी दूसरेके ज्ञान रूपी प्रकाशकी क्या आवश्यकता है? क्या कभी समुद्रको भरनेके लिए वर्षा-ऋतुकी भी आवश्यकता हुआ करती है? अथवा यदि वह कर्मोका आचरण भी करे तो क्या कभी कर्मठता उसके साथ संलग्न हो सकती है? हे अर्जुन, तुम्ही बतलाओ कि क्या हिमालय भी कभी सरदीसे काँपता है? अथवा मोहका प्रसग प्राप्त होने पर वह कभी ज्ञानका परित्याग कर सकता है? ग्रीष्म चाहे कितना ही अधिक उग्र और तीव्र क्यो न हो, परन्तु क्या वह कभी अग्निको भी जला सकता है?

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥

"ठीक इसी प्रकार इन गुणोका कार्य भी आपसे आप ही होता है और वे आत्म-सत्तात्मक हैं, इसी लिए वह उन गुणोका विश्लेषण या विवेचन करनेके फेरमें नही पड़ता। उसे इस प्रकारका पूर्ण ज्ञान हो चुका रहता है, इसलिए वह इस शरीरका उसी प्रकार आश्रय लेता है, जिस प्रकार कोई यात्री रास्ता चलते समय मार्गमे किसी धर्मशालामे कुछ समयके लिए ठहर जाता है। जिस प्रकार युद्धकी भूमि हार और जीतमे किसी प्रकार सम्मिलित नही होती, उसी प्रकार वह भी लाभ और हानिका हिस्सेदार नही होता। न तो वह गुणोके साथ मिलता ही है और न कर्तृत्वको ही अंगीकार करता है। जिस प्रकार शरीरमे रहनेवाले प्राण अथवा दूसरेके घरमे अतिथिके रूपमे जाकर रहनेवाला ब्राह्मण अथवा चौरस्ते पर गडा हुआ खम्भा अपने आस-पास और चारो तरफ होनेवाली बातोकी ओरसे सदा बिलकुल उदासीन रहता है, उसी प्रकार वह ज्ञानी भी अपने शरीरमें बिलकुल उदासीन भावसे रहता है। और हे अर्जुन, जिस प्रकार मृगजलकी लहरोसे मेरु पर्वत विचलित नही होता, उसी प्रकार गुणोके मनमाने उपद्रवसे वह ज्ञानी पुरुष भी विचलित नही होता। अब यह बात और अधिक विस्तार करके कहाँ तक बतलाई जाय। वायुके झोकोसे आकाश कभी उडाया नही जा सकता और अन्धकारसे सूर्यको कभी छिपाया नही जा सकता। स्वप्न कभी जागते हुए मनुष्यको धोखा नही दे सकता। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषको गुण भी कभी बाँध नही सकते। वह कभी गुणोके हाथमे नही पडता; परन्तु जिस समय दूरसे तटस्थ होकर उनकी ओर देखता है, उस समय उसका

कोपलोमें कर्ण आदि पाँचो इन्द्रियाँ और उनके विषय भी अनेक प्रकारकी और विचित्र कोमल पत्तियोके रूपमें उत्पन्न होते है। जब उसमें शब्द-कर्णका अंकुर निकलता है, तब कर्णेन्द्रियकी वृद्धि दूनी हो जाती है और भिन्न भिन्न वासनाओके समूह उसके सामने आने लगते हैं—अनेक प्रकारकी बातें सुननेकी वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। अंग रूपी बेल और त्वचाके पल्लवोमें स्पर्श-ज्ञानके अंकुर निकलते है, जिससे बहुत से नये नये विकार उत्पन्न होते है। इसके उपरान्त रूपके पल्लव उत्पन्न होते है और चक्षुरिन्द्रिय दूर तक दौड लगाती है जिससे मोह और भ्रान्तिकी उत्पत्ति होती है। जब रसकी शाखा वेगसे और खूब बढती है, तब जिह्वा पर लालसाके असंख्य पल्लव निकल आते है। ठीक इसी प्रकार जब गन्धका अंकुर बढता है, तब घ्राण रूपी शाखा बढ़कर खम्भेके समान हो जाती है और उसके नीचे लोभ आकर आनन्दपूर्वक निवास करने लगता है। इस प्रकार महत्तत्व, अहंकार, मन और महाभूत इस संसार-रूपी वृक्षको खूब जोरोसे बढ़ाते चलते हैं। बस महत्तत्व आदि आठ अगोमे ही इसके अधिकाधिक अंकुर निकलते हैं। परन्तु जब सीपीको देखकर चाँदीका भ्रम होता है, तो वह चाँदी उतनी ही बडी दिखाई देती है, जितनी बड़ी सीपी होती है। अथवा सागरका जितना अधिक विस्तार होता है, उतनी ही दूर तक तरगे भी उठती है। ठीक इसी प्रकार वह अद्वैत ब्रह्म इस अज्ञान-जन्य ससार-वृक्षका रूप धारण करता है। जिस प्रकार स्वप्नमे हम अकेले रहने पर भी स्वयं ही अपना सारा परिवार बन जाते है, ठीक उसी प्रकार इस ससार-वृक्षका विस्तार और प्रसार वह ब्रह्म-तत्व ही है। परन्तु ये सब बाते बहुत हो चुकी। इस प्रकार ऐसे ठाठका यह विलक्षण वृक्ष उत्पन्न होता है और इसमे महत्तत्व आदि अंकुर निकलनेके कारण नीचेकी ओर इसकी शाखाएँ बराबर बढती जाती है। अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि ज्ञाता लोग इसको अश्वत्थ क्यो कहते है। तुम ध्यान देकर सुनो। श्वः का अर्थ है उषा या प्रभात काल, और यह ससार रूपी वृक्ष दूसरे प्रभात-काल तक भी एक-सा नही रहता। जिस प्रकार क्षण भर बीतने पर ही मेघमे एकके अनेक रंग हो जाते हैं अथवा विद्युत् जिस प्रकार पल भर भी अखड या शान्त नही रह सकती अथवा सदा काँपता रहनेवाला पत्ता जल पर क्षण भर भी शान्त होकर नही रहता अथवा जिस प्रकार पीडित या व्याकुल व्यक्तिका चित्त कभी स्थिर नही हो सकता, उसी प्रकार यह संसार-रूपी वृक्ष भी कभी स्थिर या एक सा नही रहता। यह क्षण क्षण पर नष्ट होता रहता है और इसी लिए इसे अश्वत्थ कहते है।" कुछ लोग इस प्रसंग मे अश्वत्थका अर्थ सामान्य पीपलका वृक्ष बतलाते है, परन्तु भगवान श्रीकृष्णका कभी यह अभिप्राय नही है। परन्तु यदि इसे पीपल ही कहा जाय तो भी इस प्रसंगमे इसकी अच्छी सगति बैठाई जा सकती है। परन्तु इन सब बातोको जाने दो, क्योकि लौकिक बातोमे झगडेमे पडनेसे हमे क्या मतलब? इसलिए हे श्रोतागण, अब आप लोग यह अलौकिक ग्रन्थ ही सुनें।"इसकी क्षण भंगुरताके कारण ही इस संसार-रूपी वृक्षको अश्वत्थ कहते है। इस संसार-रूपी वृक्षकी "अक्षय" के नामसे भी अधिक ख्याति है, परन्तु इसका जो कुछ गर्भित अर्थ है, वह भी सुन लो। जिस प्रकार समुद्र एक ओरसे तो मेघोके द्वारा सोखा जाता है और सरीद्

गुणोंका अवलोकन उसी प्रकार का होता है, जिस प्रकार नाटकगृहके दर्शक तटस्थ होकर कठपुतलियोंका नाच देखते है। सत्य सदा शुद्ध कर्मोंमें, रज सदा वैषयिक कर्मोंमें और तम सदा मोह और अज्ञान आदिमें ही विहार करता हैं; परन्तु यह रहस्य स्पष्ट रूपसे समझ रखो कि गुणोका यह विहार केवल आत्म-तत्वकी सत्तासे ही होता है। और इसकी उपमा या उदाहरण यही है कि सूर्य सब लोगोंके व्यापारों और व्यवहारोका संचालन तो करता ही है, पर उन सबको वह बिलकुल तटस्थ रहकर देखता है। अथवा जब चन्द्रमाका उदय होता है, तब समुद्रमें बाढ़ आती है, चन्द्रकान्त मणि पसीजने लगती है और कुमुद विकसित होते है; परन्तु चन्द्रमा उन सबसे अलग और निर्लिप्त रहता है। वायु चाहे खूब जोरोसे बहे और चाहे शान्त भावसे धीरे धीरे चले, परन्तु आकाश सदा अविचल और अविकृत ही रहता है। ठीक इसी प्रकार गुणोके संसर्ग के कारण ज्ञानी पुरुष कभी विचलित नही होता। हे अर्जुन, गुणातीतको इन्ही सब लक्षणोसे पहचानना चाहिए। अब यह सुनो कि उसका आचरण कैसा होता है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

"हे अर्जुन, जिस प्रकार वस्त्रके अन्दर और बाहर सूतोके सिवा और कुछ भी नही होता, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी यह देखता है कि यह स्थावर और जंगम विश्व आत्म-तत्वके सिवा और कुछ भी नही है। जिस प्रकार परमेश्वर अपने वैरियोको भी और भक्तोको भी एक ही प्रकारकी परम-गति देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी सुख और दु.ख दोनोको एक समान समझता है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो यदि जीव इस शरीरमे उसी प्रकार विहार करे; जिस प्रकार मछली जलमें विहार करती है, तो उसे सुख और दुःखका सहज ही अनुभव होना चाहिए। परन्तु ज्ञानी पुरुष सुख और दु ख सबको पूरी तरहसे छोड चुका होता है और सदा आत्म-स्वरूपमे निमग्न रहता है। जब खेतमे फसल तैयार हो जाती है, तब जिस प्रकार बालोमे दाने भरकर बाहर निकलने लगते है अथवा जिस समय नदी अपना प्रवाह छोडकर समुद्रमे मिल जाती है, उस समय जिस प्रकार उसकी सारी उछल-कूद ठंडी पड जाती है, उसी प्रकार मनुष्य जिस समय आत्म-स्वरूपमें रमण करने लगता है, उस समय उसे शरीरके सुख और दुःख का भान ही नही होता और वे सब उसके लिए समान हो जाते है। जिस प्रकार किसी खम्भेके लिए रात और दिन दोनो समान होते हे, उसी प्रकार आत्म स्वरूपमे रमण करनेवाले मनुष्यके लिए शरीरके सुख और दु ख, हानि और लाभ आदि द्वन्द्व एक-से हो जाते है। जो मनुष्य गहरी नीदमे सोया रहता है, उसके लिए सर्पका स्पर्श भी वैसा ही होता है, जैसा उर्वशी सरीखी किसी अप्सराके अंगका स्पर्श। ठीक इसी प्रकार आत्म-स्वरूपमें मग्न रहनेवाले पुरुषके लिए शारीरिक द्वन्द्व भी समान ही होते है। इसी लिए ऐसे पुरुषकी दृष्टिमे सोने और गोबर अथवा हीरे और पत्थर मे कोई भेद नही रह जाता। चाहे स्वर्गका सुख स्वयं चलकर उसके घर आ पहुँचे और चाहे उसपर बाघ आकर आक्रमण करे, परन्तु उसकी ब्रह्मैक्यवाली स्थितिमे तनिक भी अन्तर नही पड़ता।

ओरसे नदियोके द्वारा भरा जाता है और इसी लिए न वह कभी घटता ही है और न बढ़ता ही है, हाँ मेघों और नदियोका भ्रम नही खुलना चाहिए (तात्पर्य यह कि यदि वर्षाका होना और नदियोंका मिलना बन्द हो जाय तब पता चले कि समुद्र कैसे नही सूखता है।) इसी प्रकार इस संसार-रूपी वृक्षकी स्थिति और लय बहुत जल्दी जल्दी होनेके कारण लोगोकी समझमें नही आता और इसी लिए लोग इसे "अव्यय" या "अक्षय" कहते है। जिस प्रकार दानशील पुरुष अपना धन व्यय करके ही पुण्य संचय करता है, उसी प्रकार यह वृक्ष भी अपना व्यय करते रहने के कारण ही अव्यय जान पड़ता है। रथका पहिया जब बहुत जोरो से घूमता है, तब ऐसा जान पड़ता है कि मानो वह घूमता ही नही अथवा जमीनमे ही लगा हुआ है। इसी प्रकार जब कालके प्रभावसे इस संसार-रूपी वृक्षकी कोई भूत शाखा सूखकर गिर जाती है, तथा उसी स्थान पर करोड़ो दूसरी शाखाएँ उत्पन्न हो जाती है। परन्तु जिस प्रकार आषाढ़के मेघोके सम्बन्धमें यह पता नही चलता कि कब एक मेघ हटता है और कब उसके स्थान पर और बहुत से मेघ आ जाते है, उसी प्रकार इस संसार-वृक्षके सम्बन्धमें भी यह पता नही चलता कि कब इसकी एक शाखा टूटी और कब उसके स्थान पर करोड़ो नई शाखाएँ उत्पन्न हुई। महाकल्पके अन्तमे अस्तित्व धारण करनेवाली सारी सृष्टि लयको प्राप्त हो जाती है, परन्तु उसके साथ ही बहुत-सी नई सृष्टियोका भी जंगल बन जाता है। प्रलयके समय संहार करनेवाली वायुके कारण ज्योही विश्वकी एक छाल भस्म हो जाती है, त्योही नवीन कल्पोको आरम्भ करनेवाली नई नई पत्तियोके समूह निकल आते है। जिस प्रकार ऊखके एक कांडमेंसे ही और बहुतसे कांड उत्पन्न होते है, उसी प्रकार एक मनुके उपरान्त दूसरा मनु और एक वंशके उपरान्त दूसरा वंश उत्पन्न होता है, और इस प्रकार मन्वन्तरो और वंशान्तरोकी परम्परा बढ़ती चलती है। कलियुगके अन्तमें ज्योही युगोकी चौकडी की नीरस छाल गिर जाती है, त्योही कृतयुगकी नई छाल तुरन्त उत्पन्न हो जाती है। जब प्रचलित वर्षका अन्त होता है, तब वह आनेवाले वर्षको मानो निमन्त्रण देता है। जिस प्रकार यह बात स्पष्ट रूपसे समझमे नही आती कि आजका दिन समाप्त हो रहा है और कलका दिन आ रहा है, अथवा जिस प्रकार वायुके झोकोमे कहीं कोई सन्धि नही दिखाई देती, उसी प्रकार यह बात भी समझमें नही आती कि कब और कहाँसे इस वृक्षकी कितनी शाखाए गिरती हैं और कब कहाँ कितनी नई शाखाएँ उत्पन्न होती हैं। जब एक शरीरका अंकुर टूटता है, तब अनेक नये शरीरोके अंकुर उत्पन्न होते है। और इसी लिए यह संसार-रूपी वृक्ष अव्यय या अक्षय-सा जान पड़ता है। जिस प्रकार बहता हुआ पानी बराबर आगेकी ओर बढता रहता है, पर साथ ही उसके पीछे आनेवाला पानी तुरन्त ही आकर उसका स्थान ले लेता है, ठीक उसी प्रकारकी बात सदा इस वृक्षके सम्बन्धमे भी होती रहती है; और इसीलिए लोग इस नश्वरको भी शाश्वत मानते हैं। जितनी देरमे एक बार पलक झपकती है, उतनी ही देरमे समुद्रमें करोडो तरगें उठती है और इसी लिए अज्ञानियोको तरंगे नित्य या अक्षय-सी जान पड़ती हैं। कौएकी आंखे तो दो होती है, परन्तु पुतली एक ही होती

जो आदमी मारकर गिरा दिया जाता है, वह फिर कभी उठकर खडा नही होता; और जो बीज एक बार भून डाला जाता है, वह फिर कभी अंकुरित नही हो सकता। ठीक इसी प्रकार उसकी वृत्तिकी समता भी कभी भंग नही होती। चाहे कोई उसे "ब्रह्मा" कहकर उसकी खूब स्तुति करे और चाहे उसे "नीच" कहकर उसकी बहुत अधिक निन्दा करे, परन्तु वह राखके ढेरकी तरह न तो कभी जलता ही है और न कभी बुझता ही है। जिस प्रकार सूर्यके घरमें न तो कभी अंधेरा ही रहता है और न कभी दीपक ही जलता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषके लिए न तो निन्दाका ही कुछ अर्थ होता है और न स्तुतिका ही।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

"चाहे कोई उसे "ईश्वर" कहकर उसकी पूजा करे और चाहे उसे "चोर" कहकर उसकी निन्दा करे, चाहे उसे बैलो और हाथियोके घेरेमे रखे और चाहे राजा बना दे, चाहे उसके पास उसके मित्र आकर एकत्र हो और चाहे बहुत से शत्रु आकर उसे चारो ओरसे घेर ले, तो भी उसका मन उसी तरह कभी बिषमतासे मलिन नही होता, जिस तरह सूर्यके तेजके लिए न तो कभी रात ही होती है और न कभी तडका ही होता है; अथवा जिस प्रकार वसन्त आदि छओ ऋतुओके आने जाने पर भी आकाश सदा निर्लेप ही रहता है। आचारका एक और लक्षण उसमें यह दिखाई देता है कि उसे इस बातका कभी भास ही नही होता कि वह कोई व्यापार अथवा कार्य कर रहा है। वह समस्त कर्मोको हटाकर दूर फेंक देता है और प्रवृत्तिका मूल ही नष्ट कर डालता है। उसके कर्मोके समस्त फल जल कर राख हो जाते है, क्योकि अपने ज्ञानके कारण वह स्वयं अग्निके ही समान हो जाता है। किसी प्रकारकी ऐहिक अथवा पारलौकिक कामना उसके मनमे कभी उत्पन्न ही नही होती इसलिए उसे सहजमे अथवा स्वाभाविक रूपसे जो कुछ मिल जाता है, उसे वह उदासीनतापूर्वक अंगीकार कर लेता है। वह न तो सुखसे सुखी ही होता है और न दुखसे दुःखी ही होता है। उसका मन पत्थरके समान होता है और वह सब प्रकारके संकल्प-विकल्प छोड चुका होता है। परन्तु अब यह वर्णन बहुत विस्तार-पूर्वक हो चुका। जिसमे इस प्रकारका आचार दिखलाई दे, उसीको वास्तवमे गुणातीत समझना चाहिए।" इसके उपरान्त भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अब तुम ये उपाय सुनो जिनसे जीव गुणातीत हो सकता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

"हे अर्जुन, जो पुरुष अव्यभिचार भावसे और भक्ति योगसे मेरी सेवा करता है, वही इन सब गुणोको जला सकता है और इन सब बातोका विवेचन कर देना आवश्यक जान पडता है कि इसमे कहा हुआ "मैं" कौन है "मेरी भक्ति" किस प्रकारकी होती है और "अव्यभिचार भाव" का अर्थ क्या है। तो भी, हे अर्जुन, मै तुमको यह बतला देता हूँ कि जिस प्रकार रत्नकी प्रभा और रत्न दोनो एक ही होते है, उसी प्रकार इस विश्वमे 'मैं' हूँ। अथवा जिस प्रकार पातालका अर्थ पानी या अवकाशका अर्थ आकाश या मधुरता का अर्थ शक्कर अथवा ज्वालाका अर्थ अग्नि

है; परन्तु उस पुतलीको वह कौआ एक ही क्षणमें दोनों आँखोंमें समान रूपसे घुमाता रहता है और इसी लिए लोगोंका यह भ्रम होता है कि कौएकी दोनो पुतलियाँ होती हैं। जब लट्टू खूब जोरसे घूमता हुआ किसी एक ही स्थान पर खडा होकर घूमने लगता है, तब देखनेवालोको यह भ्रम होता है कि वह जमीन पर सीधा खडा हुआ है और बिल्कुल स्तब्ध है। परन्तु इस भ्रमका कारण यही होता है कि वह लट्टू उस समय बहुत अधिक वेगसे घूमता है। दूर क्यो जायँ, जब घेरेमे बनेठी खूब जोरसे घुमाई जाती है, तब प्रकाशकी केवल एक चक्राकार रेखा ही दिखाई देती है। ठीक इसी प्रकार सहजमे इस बातका पता नही चलता कि इस संसार-रूपी वृक्षकी शाखाएँ कब टूटती हैं और कब नई निकलती हैं, और इसी लिए मूढ लोग इसे अव्यय समझते हैं। परन्तु जिसकी समझमे इसका वेग आ जाता है, उसे इसकी क्षणभंगुरताका भली भाँति ज्ञान हो जाता है। ज्ञानी लोग यह बात अच्छी तरह जानते है कि एक ही निमेषमे इसमे करोडो बार स्थिति और लयके विकार होते हैं। जिसकी समझमे यह बात आ जाती है कि इस संसार-रूपी वृक्षका मूल अज्ञानके सिवा और कुछ भी नहीं है, इसका अस्तित्व मिथ्या है और यह वृक्ष ही क्षणभंगुर है, हे अर्जुन, उसीको मैं सर्वज्ञ ज्ञानी कहता हूँ। वेदोके सिद्धान्तका भी वही ज्ञान विषय है। सारा योग-साधन केवल इसी प्रकारके ज्ञानीके लिए उपयोगी होता है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि ऐसा पुरुष ही ज्ञानको जीवित रखता है। परन्तु अब इस विषयका अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नही। जो यह जानता है कि यह ससार-रूपी वृक्ष क्षण-भंगुर है, उसका वर्णन भला कौन कर सकता है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

इसके अतिरिक्त नीचेकी ओर शाखाएँ निकालनेवाले इस संसार-रूपी वृक्ष की सीधी ऊपरकी ओर जानेवाली शाखाएँ भी बहुत-सी हैं। फिर नीचेकी ओर जो शाखाएँ आई है, उनमे भी जड़े निकली है और उन जडोके नीचे भी बेलें और पत्तियाँ निकलकर फैल रही है। यह बात अभी आरम्भमे बतलाई जा चुकी है। पर इस समय वही बात और अधिक स्पष्ट करके बतलाई जाती है। इस वृक्षका जो दृढ़ मूल अज्ञान है, जिससे महत्तत्व आदि आठ प्रकारकी माया उत्पन्न होती है और ज्ञानके घोर जंगल निकल आते हैं। परन्तु पहले इस वृक्षकी जडमेसे स्वेदज, जारज, उद्भिज्ज और अंडज ये चार प्रबल शाखाएँ निकलती हैं। फिर इनमेसे एक एक शाखामेसे ये चौरासी लाख योनियाँ उत्पन्न होती है; और फिर इस वृक्षकी जीवों-वाली शाखा पर अंकुरोके रूपमे अपरम्पार जीवोके समूह उत्पन्न होते है। कुछ शाखाएँ सीधी जाती है और उनमे टेढी-तिरछी और नाना प्रकारकी सृष्टियोकी जो टहनियाँ निकलती है, वही जीवोकी भिन्न भिन्न जातियोकी परम्पराएँ होती हैं। वे जीव नाना प्रकारके विकारोके कारण अपने आपमे स्त्री, पुरुष और नपुसकके भेद लगाने लगते है। जिस प्रकार वर्षाके दिनोमे आकाशको घोर काले मेघ व्याप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार अज्ञानकी दशामें सब जीव साकार बनने लगते हैं। फिर इस

अथवा दलका अर्थ कमल अथवा डालियों और फलो आदिका अर्थ वृक्ष अथवा हिमकी राशिका अर्थ हिमालय अथवा जमे हुए दूधका अर्थ दही होता है, उसी प्रकार इस विश्वका अर्थ भी "मैं" ही है अर्थात् "मैं" ही वह विश्व हूँ। जिस प्रकार चन्द्रमाके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए चन्द्रमाके विम्बको छीननेकी आवश्यकता नही होती, अथवा जमा हुआ घी यदि गरम करके पिघलाया न जाय तो भी वह घी ही होता है अथवा कंकण यदि गलाया न जाय तो भी वह सोना ही होता है अथवा वस्त्रकी तह यदि खोली न जाय तो भी वह मूलतः तन्तुओका समूह ही होता है अथवा घट यदि तोड़ा-फोडा न जाय तो भी जैसे वह सदा मिट्टीका ही होता है, उसी प्रकार यह सारा विश्व भी "मैं" ही हूँ। इसी लिए यह बात नही है कि पहले यह विश्व-भावना नष्ट की जाय और तव मेरा लाभ या प्राप्ति हो; क्योंकि यह सब कुछ केवल "मैं" ही हूँ। इस प्रकारका ज्ञान होना ही मानों मेरी अव्यभिचारी भक्ति है। यदि इस ज्ञानमें किसी प्रकार का भेद-भाव या न्यूनता हो तो वही व्यभिचार है। इसी लिए सब प्रकारके भेद-भाव छोड़कर बिलकुल एकाग्र मनसे अपने सहित मुझे जानना चाहिए। हे अर्जुन, यदि सोनेका दाना सोने पर ही बैठाया जाय तो उसमे किसी प्रकारकी भिन्नता नही हो सकती। ठीक इसी प्रकार विश्वको अपने से भिन्न मानना उचित नही है। तेजका जो अंश तेजसे निकल कर फिर तेजमें ही लीन हो जाता है, उसीको किरण कहते हैं। बस ठीक इन्ही किरणोकी ही तरह आत्म रूप भी है। पृथ्वी-तलमें जिस प्रकार सूक्ष्म कण होते हैं अथवा हिमालयमें जिस प्रकार हिमके कण होते हैं, उसी प्रकार मुझमे अहं है। बस यह बात तुम अच्छी तरह अपने ध्यानमें रखो। लहर चाहे कितनी ही छोटी क्यों न हो, परन्तु वह सागरसे कभी भिन्न नहीं होती। ठीक इसी प्रकार "मैं" भी ईश्वरसे भिन्न नही है। इस प्रकारकी एकताकी भावनासे दृष्टिकी जो आनन्दपूर्ण वृत्ति होती है, उसीको मैं भक्ति कहता हूँ। समस्त-ज्ञानका सार और योगका सर्वस्व यही प्रफुल्लित दृष्टि है। जिस प्रकार सागर और मेघोके बीचमें अखंड धाराओकी वृष्टि होनेके कारण वे दोनो एक दिखाई देते हैं, उसी प्रकार, हे अर्जुन, यह उल्लासपूर्ण वृत्ति भी होती है। कूएँके मुख या ऊपरी भाग और आकाशमें कोई जोड नही लगा रहता, परन्तु फिर भी वे दोनों एकमे मिले हुए रहते हैं। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी विना किसी प्रकारके जोड या सन्धिके उस परम पुरुषके साथ मिला हुआ रहता है। जिस प्रकार प्रतिविम्वसे लेकर विम्ब तक सरल रूपमें प्रभा फैली हुई रहती है, उसी प्रकार यह सोऽहं वृत्ति भी जीवात्मासे लेकर परमात्मा तक पहुँची हुई होती है। जब इस प्रकारकी सोऽहं वृत्ति एक बार बन जाती है, तब मनुष्य उस वृत्तिके सहित आपसे आप परमात्म तत्वमें विलीन हो जाता है। जिस प्रकार नमकका ढेला जब एक बार समुद्रमे पड़कर गल जाता है, तब फिर उसका गलना बन्द हो जाता है अथवा, हे अर्जुन, जिस प्रकार तिनकोको जला चुकनेके उपरांत स्वयं अग्नि भी बुझ जाती है, उसी प्रकार जब एक बार ज्ञानके द्वारा भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है, तब फिर वह ज्ञान भी बाकी नही रह जाता। तब यह कल्पना नष्ट हो जाती है कि "मैं" परे अथवा उस पारका है और यह भावना भी नष्ट हो जाती है

संसार-रूपी वृक्षकी शाखाएँ अपने भारी बोझके कारण नीचेकी ओर झुकने लगती हैं और एक दूसरीमें खूब अच्छी तरह उलझ जाती हैं, जिसके गुण क्षुब्ध हो जाते हैं और उन क्षुब्ध गुणोंकी हवाएँ चारो तरफ बहने लगती हैं। फिर उन गुणोके प्रचंड झोकोंमें पड़कर यह ऊर्ध्व-मूल वृक्ष तीन जगहोसे चिर जाता है। इनमेंसे रजोगुणकी वायुका झोंका बहुत जोरोसे आता है जिसके कारण मानव जातिवाली शाखा खूब जोरोसे मजबूत और बड़ी होने लगती है। वह न तो ऊपर की ओर ही जाती है और न नीचेकी ओर ही झुकती है, बल्कि बीचमें ही रुकी रहती है और उसमेंसे चातुर्वर्ण्यकी टेढी-तिरछी शाखाएँ निकलती है। उसमें विधि और निषेध आदिके विधानोसे विस्तृत होनेवाली वेद-वचनोकी मधुर और लहलहाती हुई शाखाएँ निकलने लगती है। अर्थ और कामका भी यथेष्ट विस्तार होता है और उनमें नये नये अंकुर निकलते है जिससे ऐहिक सुखोपभोगके नये नये परन्तु क्षण-भंगुर स्थलोका निर्माण होता है। उनमे प्रवृत्ति बहुत अधिक बढी हुई होती है, जिसके कारण उनमें भले और बुरे क्रिया-कर्मोकी जो अनेक शाखाएँ निकलती हैं, उनकी कोई गिनती ही नही हो सकती। जो शरीर अपना भोग भोगकर दुर्बल और पुराने हो जाते है, वे सूखी हुई डालोके समान गिर पडते हैं और उनके स्थान पर बहुत-से नये शरीर उत्पन्न होकर सुशोभित होते है। इसी प्रकार शब्द आदि विषयोके स्वाभाविक रंगोंसे चमकनेवाले नित्य नये नये सुन्दर पल्लव उत्पन्न होते रहते है। इस प्रकार रजोगुणकी वायुके भयंकर झोकेसे मानव शाखाओकी बहुत अधिकता हो जाती है जिससे मनुष्य-लोक सज जाता है। फिर जब रजोगुणके ये बादल कुछ शान्त होते है, तब तमोगुण-का घोर प्रभंजन चलने लगता है। उस समय इसी मानव शाखा पर नीचेकी ओर अधम वासनाओकी पत्तियाँ निकलने और दुष्कर्मोकी शाखाएँ फैलने लगती है। फिर कुमार्गकी कोपले निकलती है जो सीधी होने पर भी मजबूत होती है और उनमें पत्तोसे भरी हुई दोपोकी डालियाँ लहलहाती हुई दिखाई देती है। विधि और निपेधका विधान करनेवाले ऋक्, यजुः और साम ये तीनो वेद इस शाखाके सिरे पर झूलने-वाले पत्ते ही माने जाने चाहिएँ। जारण और मारणके बीज-मन्त्रोका उपदेश देकर पर-पीडक होनेवाले अथर्वण वेदके पल्लव इसके बाद निकलते है जिसमे वासनाकी वेल हरी-भरी होती है। ज्यो ज्यो ये सब बाते होती चलती है, त्यो त्यो कुकर्मोकी वेलें विस्तृत होती जाती है और जन्मवाली शाखा बराबर आगे बढती चलती है। फिर चांडाल आदि हीन और दुष्कर्मी जातियोकी एक अच्छी और बड़ी शाखा निकलती है और भ्रम में पडे हुए कर्म-भ्रष्ट लोग इस शाखाके जालमें फँसते है। अब पशु-पक्षी, सूअर, बाघ, विच्छू, साँप आदि असंख्य जीवोकी टेडी-तिरछी शाखाओका भी विस्तार होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार ये शाखाएँ सब जगह हरी-भरी दिखाई देती हैं और इन पर नरक-भोगके फल लद जाते है। निरन्तर हिंसा आदि कर्मोका संचालन करनेवाले ये अंकुर अनेक जन्मो तक समान-रूपसे लहलहाते रहते है। इसी प्रकार, वृक्ष, तृण, लोहा, मिट्टी, पत्थर आदिकी शाखाएँ भी उत्पन्न होती हैं और

उन पर भी इसी प्रकारके फल लगते है । हे अर्जुन, इस प्रकार मानव शाखासे लेकर नीचेवाली शाखाओके स्थावर वर्ग तक वृद्धि होती है । इसीलिए वहीसे यह संसार-रूपी वृक्ष नीचेकी ओर बढ़ने लगता है । नही तो, हे अर्जुन, यदि ऊर्ध्व भाग में रहनेवाले इसके आरम्भिक मूलका ध्यान रखा जाय तो ये नीचेकी ओरकी शाखाएँ मध्यमे रहनेवाली शाखाएँ ही गिनी जानी चाहिएँ । परन्तु सदसद् क्रिया-रूपी जो तमोगुण और सत्व गुणकी शाखाएँ इस वृक्षमे ऊपर और नीचेकी ओर फैली हुई हैं और वेद-त्रयीकी जो शाखा विकसित है, उनका, हे अर्जुन, मनुष्यके बिना अस्तित्व ही नही हो सकता । इसलिए मानव-तन यद्यपि उपरके मूलसे निकली हुई शाखा है, तो भी कर्मकी वृद्धिका मूल कारण यही शाखा होती है । दूसरे वृक्षोकी भी यही अवस्था होती है । ज्यो ज्यो उनकी शाखाएँ बढती जाती हैं, त्यो त्यो उनकी जड़ भी वरावर और नीचेकी ओर जाती और मजबूत होती चलती है । और ज्यो ज्यों जड़ मजबूत होती चलती है, त्यो त्यो वृक्षका विस्तार भी बढ़ता जाता है । यही बात इस शरीरके सम्बन्धमें भी है । जब तक कर्म करते है, तब तक देहकी परम्परा भी रहती है और जब तक देहका अस्तित्व रहता है, तब तक कर्मोका कभी खंड नही होता—कर्म भी बराबर होते और चलते रहते है । इसी लिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह मानव शरीर ही संसारके विस्तारका फल है । जब तमोगुणके प्रचंड झोके कुछ शान्त होते है तब सत्वगुणकी जोरोकी आँधी शुरू होती है । उस समय उसी मानव शाखामे सुवासनाके अंकुर उत्पन्न होते हैं और उसमे सत्कर्मोकी बहुत-सी कोपले लगने लगती है । ज्ञानका यथेष्ट प्रकाश हो जानेके कारण बुद्धि की तीव्र सामर्थ्यसे एक ही क्षणमें बहुत-सी नई-नई शाखाएँ उत्पन्न हो जाती हैं । बुद्धि की सरल और दृढ़ शाखाएँ निकलती है और उनमे स्फूर्तिके अंकुर उत्पन्न होते है और बुद्धिका प्रकाश विवेक-विचारका आश्रय लेता हुआ आगे बढता है । फिर बुद्धिके रससे भरे हुए भक्तिके पल्लवोमेसे सद्वृत्तिके सुन्दर और कोमल अकुर निकलते है । इस सदाचारके विपुल अंकुरोके अग्र भाग पर वेद-वचनोका घोष होता रहता है । फिर शिष्टाचार वेदोक्त विधि और यज्ञादि कर्मोके असंख्य पत्तोमेसे और भी अनेक नये नये पत्ते निकलने लगते हैं । फिर तपस्याकी ऐसी शाखाएँ निकलती है जिनमें यम-दम आदि लटकते रहते हैं और आगे चलकर वही कोमल परन्तु विशाल वैराग्यकी शाखाएँ उत्पन्न करते है । फिर धैर्य-रूपी अंकुरके तीक्ष्ण सिरे पर भिन्न-भिन्न व्रतोकी टहनियाँ निकलती हैं और वे सीधी ऊपरकी ओर बहुत अधिक ऊँचाई तक चली जाती है । इन्हीमें वेदोकी बहुत बडी शाखा रहती है, और जिस समय सत्व गुणकी हवाएँ बहुत जोरोसे चलने लगती है, उस समय यह टहनी सुविद्याकी सरसराहट करती रहती है । फिर धर्मकी शाखा बढने लगती है और उसीमेसे जन्मवाली सरल शाखा निकलती है और साथ ही स्वर्ग-सुख आदिकी टेढी-तिरछी शाखाएँ भी निकलकर खूब बढती और फैलती है । इसी प्रकार सूर्य और चन्द्रमा आदि ग्रह, पितर, ऋषि, विद्याधर आदिकी उपशाखाओका भी प्रसार होने लगता है । इनके और ऊपर बहुत अधिक ऊँची और फलोसे लदी हुई इन्द्र-लोक आदिकी शाखाएँ होती है । और इनसे भी ऊपर मरीचि और कश्यप आदिने तपोज्ञानके बलसे अपनी विशाल शाखाएँ

मायाके समान ही समझकर उसीमें अनुरक्त हो जाता है और उसीके हितके सब काम करने लगता है। इसके उपरान्त वह मनके रथ पर बैठता है, कानके रन्ध्रोमें प्रवेश करता है और शब्दोके वनमे घुसकर चक्करमें पड़ जाता है। उसी प्रकृतिकी बागडोर पकड़कर वह जीवात्मा त्वचाके मार्ग पर चल पडता है और स्पर्श-विषयके घोर जंगलमें प्रवेश करता है। कभी कभी वह नेत्रोमें प्रवेश करके रूप-विषयके पर्वतोमें मनमाना भटकता है। अथवा, हे अर्जुन, वह जिह्वामे संचार करके अपने आपको रस-विषयकी गुफामें पहुँचा देता है। अर्थात् जब यह देहाभिमानी जीवात्मा घ्राणेन्द्रियमें प्रवेश करता है, तब वह गन्ध-विषयके प्रचंड वनमे भी चला जाता है। इसी प्रकार यह देहाभिमानी जीव मनको गले लगाकर शब्दादिक विषय-समुदायोका उपभोग करता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

"परन्तु जिस समय जीवात्मा एकसे अधिक शरीरमे संचार करता है, उस समय उसे ऐसा जान पडता है कि मैं ही कर्त्ता और भोक्ता हूँ। हे अर्जुन, जिस समय कोई पुरुष राजकीय विलासोसे सम्पन्न किसी स्थानमे निवास करता है, उस समय उसे देखनेसे ऐसा जान पडता है कि वह बहुत धनवान् और विलासी है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा जब शरीरका आश्रय ग्रहण करता है, तब उसकी अहं कर्त्ता-वाली भावना बहुत अधिक बलवती हो जाती है और विषयो तथा इन्द्रियोकी धमाचौकड़ी आरम्भ हो जाती है। अथवा जब जीवात्मा शरीरका त्याग करता है, तब वह इन्द्रियोंका सारा साज-सामान भी अपने साथ ही लेता जाता है। जिस प्रकार अतिथिका अप-मान होने पर वह उस गृहस्थकी पुण्यकी सम्पत्ति हरण कर ले जाता है, जिसका वह अतिथि होता है अथवा कठपुतलियोका चलना-फिरना आदि उनको चलानेवाली डोरी अपने साथ ले जाती है अथवा अस्त होनेवाला सूर्य जिस प्रकार लोगोके नेत्रोंका प्रकाश भी अपने साथ ही लेता जाता है अथवा वायु जिस प्रकार फलो ओर फूलोका परिमल लूट ले जाती है, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, शरीरको छोडकर जानेके समय उसका स्वामी जीवात्मा भी मन और श्रोत्र आदि छओ इन्द्रियोको अपने साथ ही ले जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

"फिर इस मृत्यु-लोकमें अथवा स्वर्ग-लोकमें जहाँ कही और जो शरीर वह जीवात्मा धारण करता है, वही और उसी शरीरमें वह उन्ही मन आदि इन्द्रियोंका विस्तार करता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार बुझने पर दीपक अपनी प्रभा अपने साथ ही लेता जाता है, परन्तु फिरसे जलाने पर वही प्रभा प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार इस जीवात्मा और शरीरके सम्बन्धमें भी होता है। तात्पर्य यह कि जो लोग गम्भीरतापूर्वक विचार नही करते, हे अर्जुन, उन लोगोकी दृष्टिमे व्यवहारका यही प्रकार दिखाई देता है। कारण यह है कि वे लोग यह मानते हैं कि आत्मा सचमुच

ऊँची कर रखी हैं। इस प्रकार एक पर एक ऐसी बहुत-सी शाखाएँ बराबर अधिकाधिक फैलती जाती हैं जो मूलकी ओर तो बहुत छोटी होती है, परन्तु जो आगे चलकर बहुत बड़ी हो जाती है और जिनमे फलोकी खूब बहार रहती है और जो अत्यन्त महत्वकी तथा विशाल होती है। इसके अतिरिक्त इन ऊपर जानेवाली शाखाओंमे जो बहुत-से फल लगते है, उनके अग्र भागोंसे हे अर्जुन, ब्रह्मा और शंकर आदि तक समस्त अंकुर निकलते है। फिर फलोके बहुत अधिक भारके कारण ये शाखाएँ झुककर दोहरी हो जाती हैं और अपने मूल पर ही आ ठहरती हैं। साधारण वृक्षोमें भी यही बात होती है। जब उनकी शाखाओं पर फलोका भार बहुत अधिक हो जाता है, तब शाखाएँ अपने आप झुकने लगती है और जड़ पर ही आ ठहरती हैं। ठीक इसी प्रकार, हे अर्जुन, जिस मूलसे इस ससार-रूपी वृक्षकी उत्पत्ति होती है, उसी मूल पर बढ़ते हुए ज्ञानके भार के कारण उसका विस्तार फिर आकर ठहरता है। इसी लिए ब्रह्म-लोक और शिव-लोकसे आगे जीवकी वृद्धि या उन्नतिके लिए और कोई गति नही होती और इन लोकोकी प्राप्ति होने पर जीव ब्रह्म-स्वरूप ही हो जाता है। परन्तु अब इन बातोको जाने दो। वे ब्रह्मा आदि देवता भी अपनी सामर्थ्यसे उस ऊर्ध्व-मूलकी बराबरी तक नही पहुँच सकते। इनसे भी ऊपर सनकादिक नामकी और भी अनेक प्रसिद्ध शाखाएँ है। परन्तु उन शाखाओं पर फलोका भार नही होता और इसी लिए वे मूलकी ओर न लौटकर सीधी ऊपर ही ऊपर चलकर ब्रह्ममें प्रवेश करती हैं। इस प्रकार मनुष्यसे लेकर ऊपर ब्रह्मा आदि तक इन सब शाखाओकी वृद्धि बहुत अधिक ऊँचाई तक हुई है। हे अर्जुन, ये ऊपरकी ओर ब्रह्मा आदिकी जो शाखाएँ है, इनकी उत्पत्ति मानव शाखासे ही हुई है। और इसी लिए मानव शाखाको नीचेवाला मूल या जड कहा गया है। इस प्रकार मैंने तुम्हे इस अलौकिक संसार-रूपी वृक्षकी कहानी कह सुनाई है जिसकी शाखाएँ ऊपरकी ओर भी गई है और नीचेकी ओर भी और जिसके ऊपरी भागमे मुख्य मूल या जड है। साथ ही इस वृक्षकी जो मूल या जड़े नीचेकी ओर हैं, उनका भी मैंने स्पष्ट रूपसे विवेचन कर दिया है। अब तुम यह सुनो कि वह संसार-रूपी वृक्ष किस प्रकार उखाड़कर फेंका जा सकता है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

"परन्तु, हे अर्जुन, कदाचित् तुम्हारे मनमे यह शंका उत्पन्न होगी कि क्या कोई ऐसा साधन भी हो सकता है जिससे यह इतना बडा और विशाल वृक्ष उखाडकर फेंका जा सकता है? यदि ऊपरकी ओर जानेवाली इसकी शाखाओको देखा जाय तो वे ब्रह्म-लोक तक जा पहुँची है और इनका मूल तो स्वयं निर्गुणमें ही है। अपनी नीचेवाली शाखाओके कारण यह वृक्ष स्थावरके अन्तिम भाग तक पहुँचा हुआ है और इसके मध्य भागमे जो मानव रूपी मूल है, वे अलग। इतने दृढ और विशाल वृक्षका भला कौन नाश कर सकता है? परन्तु इस प्रकारका दुर्बल विचार तुम अपने मनमें नामको भी मत घुसने दो। यह वृक्ष भले ही बहुत दृढ़ और विशाल हो,

इस शरीरमे आती है, सचमुच वह विषयों का भोग करती है और सचमुच फिर इस शरीरको छोडकर चली जाती है। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो स्वयं आत्मा यही मानती है कि वह सब आना, जाना, करना और भोगना आदि केवल माया है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

"परन्तु लोग जब यह देखते हैं कि शरीरका आकार सामने उपस्थित है, उसमें चेतना शक्ति आई है और उस चेतना शक्तिके कारण वह शरीर चलता फिरता है, तब वे यही कहते है कि शरीरमे आत्मा आई है। इसी प्रकार, हे अर्जुन, इस शरीर-की संगतिसे भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ अपने विषयोमे जो संचार करती है, उसीको लोग भोगना कहते है। इसके उपरान्त भोगके कारण क्षीण हो जानेवाला शरीर जब आपसे आप निश्चेष्ट हो जाता है, तब यह पुकार मचाई जाती है कि—"अरे जीव चला गया! जीव चला गया!" परन्तु हे अर्जुन, जिस समय वृक्ष हिलता हो, केवल उसी समय यह समझना कि हवा चल रही है और जिस समय वृक्ष हिलता न हो, उस समय यह समझना कि हवा नही चल रही है, क्या कभी ठीक और युक्ति-युक्त हो सकता है? अथवा जिस समय दर्पण सामने रखा हो, क्या उसी समय यह मानना चाहिये कि हमारा रूप हमे प्राप्त हुआ है और इससे पहले हमारा रूप था ही नही? अथवा जिस समय वह दर्पण दूर हटा दिया जाता है और उसमे दिखाई पड़नेवाले प्रतिविम्बका आभास नष्ट हो जाता है, उस समय क्या मनुष्यको यह समझना चाहिए कि हमारे रूपका ही वास्तवमे लोप हो गया? शब्द वास्तवमें आकाशका गुण है; परन्तु जब मेघोकी गडगड़ाहट सुनाई देती है, तब उस गड़गडाहट-का आरोप मेघोमे किया जाता है। अथवा वास्तवमे तो बादल ही चन्द्रमाके सामने वेगपूर्वक दौड़ते है, परन्तु साधारणतः यही समझा जाता है कि चन्द्रमा ही दौड़ रहा है। ठीक इसी प्रकार जो लोग अन्धे होते हैं, वे केवल भ्रमके कारण उस विकार-हीन स-आत्म सत्ता पर शरीरके जन्म लेने और मरनेका विलकुल व्यर्थ ही आरोप करते है। इन सभी अवस्थाओमे आत्मा निरन्तर अपने ही स्थान पर रहती है और शरीरके धर्म शरीरमे ही रहते है। परन्तु इन सब बातोको ठीक तरहसे और वास्तविक रूपमे देखनेवाले विवेकशील पुरुष कुछ दूसरे ही होते है। ज्ञान प्राप्त हो जानेके कारण जिनके नेत्र इस शरीरके ऊपरी आवरणमे ही नही फँसे रहते, ग्रीष्म-कालके सूर्यकी किरणोकी भाँति विवेकका विस्तार होनेके कारण जिनके अन्दर स्वरूपका स्फुरण हो चुका होता है, केवल वही ज्ञानी पुरुष उस शुद्ध आत्माको जानते हैं। नक्षत्रोंसे भरे हुए आकाशका जब समुद्रमे प्रतिविम्व पड़ता है, तब यह बात स्पष्ट रूपसे समझमे आती है कि आकाश टूटकर समुद्रमे नही आ पडा, वल्कि यह केवल उसका प्रतिविम्व है। आकाश जहाँ रहना चाहिये और जहाँ सदा रहना है,

परन्तु फिर भी इसका उन्मूलन करनेमें बहुत वड़े श्रमकी क्या आवश्यकता है ? भला बच्चोको क्या कभी इस बातकी आवश्यकता होती है कि वे हौवेको भगाकर दूसरे देशमें पहुँचा दें ? क्या कभी किसीको गन्धर्वनगरी गिरानेकी, खरगोशके सीग तोड़नेकी अथवा आकाश-कुसुम तोडनेकी भी कोई चिन्ता करनी पडती है ? ठीक इसी प्रकार, हे अर्जुन, यह संसार-रूपी वृक्ष भी बिलकुल वास्तविक या सचमुचका नही है । फिर भला इसे उखाड फेंकना कौन वहुत वडी वात है ? मैंने इसके मूलो और शाखाओका जो वर्णन किया है, उसे वन्ध्याके पुत्रोसे घर भरनेके वर्णनके समान ही समझना चाहिए । स्वप्नमे होनेवाली कोई घटना हमारे जाग्रत होने पर भला हमारा क्या विगाड सकती है ? इसी प्रकार तुम इस वृक्षकी सारी कहानीको भी बिलकुल निर्मूल ही समझो । क्योकि यदि यह बात न मानी जाय और इस वृक्षका मैंने जैसा वर्णन किया है, उसीके अनुसार यह वृक्ष और इसका मूल वास्तवमे इतना ही प्रवल और दृढ हो, तो फिर भला ऐसा कौन माईका लाल हो सकता था जो इसे उखाड़ सकता ? अरे फूँक मारकर कभी आकाश भी उडाया जा सकता है ? इसी लिए, हे अर्जुन मैं तुमको बतलाता हूँ कि कछवीको कभी दूध ही नही होता; और इसी लिए इस संसार रूपी वृक्षका अभी मैने जो वर्णन किया है, वह वैसा ही मायासे पूर्ण है जैसा यह कहना कि कछवीके दूधका मक्खन निकालकर और उसका घी तैयार करके किसी राजाके आगे खानेके लिए परोसा गया था । दूसरे मृग-जलसे भरे हुए जलाशय तो अवश्य दिखाई देते है, परन्तु क्या उस जलकी सहायतासे धानके पौधे रोपे जा सकते है या केलेके पौधे लगाये जा सकते है । यदि मूलतः अज्ञान ही मिथ्या है तो फिर उस अज्ञानके द्वारा होनेवाला कार्य भला कहाँ तक मिथ्या न होगा ? और इसी लिए जब इस संसार-रूपी वृक्षका भली भाँति विचार किया जाता है, तब यह बिलकुल मिथ्या ही सिद्ध होता है । और जो लोग यह कहते हैं कि इस वृक्षका कही अन्त ही नही है और न कभी इसका नाश होता है, तो उनका कहना भी एक दृष्टिसे ठीक ही है । जब तक मनुष्य जागृत नही होता, तब तक क्या कभी निद्राका अन्त होता है ? जब तक रात्रि समाप्त न हो, तब तक भला क्या कभी तडका हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार जब तक विवेकसे मायाको उडा नही दिया जाता, तब तक इस संसार-रूपी अश्वत्थका कभी अन्त नही होता । जोरोसे बहनेवाली हवा जब तक शान्त नही होती, तब तक सागरकी तरगे बराबर अनन्त ही जान पडती हैं । इसी लिए जब सूर्यका अस्त होता है, तभी मृग-जल भी अदृश्य होता है अथवा जब दीपक बुझाया जाता है, तभी प्रभा नष्ट होती है । ठीक इसी प्रकार जब मूल मायाको मिटा डालनेवाला ज्ञान आकर उपस्थित होता है, तभी इस संसार-रूपी वृक्षका अन्त होता है, और नही तो कभी अन्त नही होता । इस संसारको जो अनादि कहा जाता है, वह भी कुछ मिथ्या नहीं है । ऐसा कथन भी ऊपरके विवेचनके आधार पर ठीक ही है । क्योकि जब यह संसार-रूपी वृक्ष स्वय ही वास्तविक या सत्य नही है, तो फिर भला इसका आरम्भ कहाँ हो सकता है और कौन हो सकता है ? जो वास्तवमे किसी स्थान पर उत्पन्न होता है, उसके सम्बन्धमे तो यह कहना अवश्य शोभा देता है कि इसका आदि है, परन्तु जो बिलकुल

वही है; और नीचे दिखाई देनेवाला उसका यह आभास केवल मिथ्या जान पड़ता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा यद्यपि इस शरीरके साथ सम्बद्ध दिखाई देती है, परन्तु फिर भी उसका ऐसा दिखाई देना केवल आभास है। प्रवाहमे जो हलचल दिखाई देती है, वह प्रवाह भरमे ही होती है; और यद्यपि उस प्रवाहमे चन्द्रमाकी चन्द्रिका हिलती-डुलती दिखाई देती है, तो भी वास्तवमे वह चन्द्रिका स्वयं चन्द्रमामे ही स्थित रहती है। अथवा पानीका गड्ढा कभी तो भर जाता है और कभी सूख जाता है। जब वह भरा रहता है, तब उसमे सूर्यका प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, और जब वह सूख जाता है, तब उसमे प्रतिबिंब नही दिखाई देता। परन्तु सूर्य सदा ज्योका त्यो रहता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी लोग यह देखते और समझते है कि शरीर चाहे जन्म ले और चाहे मर जाय, पर मैं सदा ज्योका त्यो और अविकृत रहता हूँ। घट अथवा मठ चाहे बने और चाहे नष्ट हो जाय, परन्तु आकाश सदा ज्योका त्यो और स्वयं सिद्ध ही रहता है। ठीक इसी प्रकार आत्म-सत्ता भी सदा अखंड और अव्यय रहती है और केवल अज्ञानके द्वारा कल्पित शरीर ही जन्म लेता और मरता है; और ज्ञानी लोग ही वास्तवमे यह बात जानते है। ज्ञानी लोग अपने निर्मल आत्म-ज्ञानके कारण यह समझते है कि चैतन्य न तो किसीमे भरा ही जाता है और न किसीमेसे निकलता ही है और न वह कोई कर्म करता ही है और न कराता ही है। अब चाहे कितना ही अधिक ज्ञान क्यो न प्राप्त हो जाय, परमाणुका भी पता लगानेवाली सूक्ष्म बुद्धि क्यो न प्राप्त हो जाय और समस्त शास्त्रोमे पारंगतता क्यों न प्राप्त हो जाय, परन्तु जब तक इस प्रकारकी विद्वत्ताके जोडका वैराग्य मनमे न उत्पन्न हो, तब तक मेरे सर्वात्मक स्वरूपकी कभी प्राप्ति नही हो सकती। हे अर्जुन, यदि ऐसी अवस्था हो कि मनुष्य मुँहसे तो विवेककी बहुत-सी बाते करता हो, परन्तु उसके अन्त करणमे विषयोका दृढ और स्थायी निवास हो तो यह बात निश्चित है कि मेरे स्वरूपकी कभी प्राप्ति नही हो सकती। भला स्वप्नमें बडबडानेवाले मनुष्यके रचे हुए ग्रन्थसे क्या कभी व्यवहारकी समस्याओका निराकरण हो सकता है? अथवा क्या कभी किसी पुस्तकको हाथ लगानेसे ही उसे पढ़नेका फल प्राप्त हो सकता है? अथवा क्या आँखें बन्द करके और केवल नाकके साथ मोती लगाकर उसका दाम आँका जा सकता है? ठीक इसी प्रकार यदि चित्तमें अहंकार भरा हो और मनुष्य सब प्रकारके शास्त्रोकी चर्चा करता हो, तो करोड़ो बार जन्म लेने पर कभी मेरी प्राप्ति नही हो सकती। जो एक मात्र मैं ही समस्त भूतोमे व्याप्त रहता हूँ, वह अपनी व्याप्ति मैं तुम्हे स्पष्ट रूपसे बतलाता हूँ, सुनो।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

"सूर्य समेत यह सारा विश्व जिस तेजसे प्रकाशित होता है, वह सब तेज मेरा ही है। हे अर्जुन, जब सूर्य जलका अंश सुखाकर अस्त हो जाता है, तब सूखे हुए जगतको जो चन्द्रमा आर्द्रता पहुँचाता है, उस चन्द्रमाकी चन्द्रिकाएँ भी मेरा ही तेज हैं। और अग्निका जो बढता हुआ तेज जलाने और सिझाने आदिके अनेक कार्य करता है, वह तेज भी मेरा ही है।

है ही नहीं, उसका भला मूल या आदि कहाँ हो सकता है ? जिसका कभी जन्म ही न होता हो, उसके सम्बन्धमें भला यह कैसे बतलाया जा सकता है कि इसकी माता कौन है ? तात्पर्य यह कि यह संसार-रूपी वृक्ष वास्तवमें बिलकुल है ही नही और इसी लिए यह अनादि ठहरता है। भला वन्ध्याके पुत्रकी जन्मपत्री कहाँसे आ सकती है ? आकाशमें नीले रंगकी पृथ्वीकी कल्पना किस प्रकार की जा सकती है ? हे अर्जुन, आकाश-पुष्पका डंठल भला कौन तोड सकता है ? जिस संसारका वास्तवमें अस्तित्व ही न हो, उसका आदि, आरम्भ या जन्म कहाँसे हो सकता है ? जिस प्रकार घटका मिथ्यात्व स्वयंसिद्ध है, उसी प्रकार यह मूल सहित संसार-रूपी वृक्ष मिथ्या होनेके कारण अनादि है। हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यानमे रखो कि न तो इसका आदि ही है और न अन्त ही है। मध्यमें यह कुछ कुछ अवश्य भास होता है, परन्तु वह भास भी मिथ्या ही है। मृग-जलका स्रोत न तो किसी पर्वतसे निकलता ही है और न जाकर किसी समुद्रमे गिरता ही है। हाँ मध्यमे ही उसका कुछ भास होता है। उसी मृग-जलकी भाँति इस संसारका भी न तो कोई आदि ही है और न अन्त ही और न कभी वास्तवमे इसका कोई अस्तित्व ही होता है। इस संसारका मिथ्या वैलक्षण्य केवल मध्यमें ही भासमान होता है। जिस प्रकार इन्द्र धनुष अनेक प्रकारके रंगोसे रँगा हुआ होता है, उसी प्रकार अज्ञानसे यह संसार रँगा और सजा हुआ दिखाई देता है। जिस प्रकार चतुर नट अपने वेषसे लोगोको भ्रममें डालता है, उसी प्रकार यह संसार भी अपने मध्यवाले आभासके द्वारा लोगोको भ्रममे रखता है। आकाशमे वास्तवमे कुछ भी न होने पर कभी कभी गन्धर्व-नगर दिखाई देता है, परन्तु क्षण ही भरमे वह फिर नष्ट हो जाता है। स्वप्नमे दिखाई देनेवाले मिथ्या दृश्योको भी यदि सत्य मान लिया जाय तो भी क्या जाग्रत अवस्थाके व्यवहारोमें उनका कोई उपयोग हो सकता है ? इसी प्रकार क्षण भरके लिए होनेवाला यह आभास वास्तवमे बिलकुल मिथ्या ही है। बन्दरको जलमे अपना प्रतिबिम्ब तो अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करता हुआ दिखाई देता है, परन्तु जब वह उसे पकडने लगता है, तब उसके हाथमे कुछ भी नही आता। इसी प्रकार यह संसार भी दिखाई तो पड़ता है, परन्तु वास्तवमे इसका कोई अस्तित्व नही है। यह आभास इतनी जल्दी होता हैं और इतनी जल्दी इस आभासका लोप होता कि इसके सामने तरगोकी चचलता तुच्छ सिद्ध होती है और विद्युत् भी इसकी वराबरी नही कर सकती। जिस प्रकार वर्षा-कालके आरम्भकी वायु चारो तरफसे चलती है और इस बातका पता नही चलता कि यह हवा सामनेकी तरफसे आ रही है या पीछें की तरफ से, उसी प्रकार इस संसार-रूपी वृक्षकी भी वास्तविक और सच्ची स्थिति नही है। न तो इसका आदि है, न अन्त है, न स्थिति है औरं न रूप है। फिर भला इसे उखाड फेंकनेके लिए बहुत अधिक परिश्रम या प्रयत्नकी क्या आवश्यकता है ? यह केवल हमारे अज्ञानके कारण ही इतना बलवान् है, इसलिए इस पर आत्म-ज्ञानकी कुल्हाडीसे प्रहार करके इसे गिरा देना चाहिए। एक ज्ञानको छोडकर इसे गिरानेके लिए तुम और जितने उपाय करोगे, वे सभी तुम्हे इस वृक्षमें और भी अधिक फँसावेंगे। फिर तुम इसकी शाखा शाखा पर ऊपर नीचे कहाँ तक घूमते रहोगे ? हाँ यदि तुम

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

"मैं ही इस पृथ्वी-तलमें प्रवेश करके उसे सँभाले रहता हूँ, और इसी लिए वह मिट्टीके ढेलेके रूपमे होने पर भी महासागरके जलमें गल नहीं जाती। और पृथ्वी अपनी जिस शक्तिके कारण असंख्य भूतोंका भार सहन करती है, वह शक्ति भी मैं ही उसमें प्रवेश करके उसे प्रदान करता हूँ। हे अर्जुन, आकाशमें चन्द्रमाके रूपमें मैं ही अमृतके चलते-फिरते सरोवरके समान हुआ हूँ। वहाँसे मेरी जो किरणें नीचेकी ओर आती है, उन्हे मैं ही अमृतसे भरकर समस्त वनस्पतियोंका पोषण करता हूँ। इस प्रकार मैं धान्य आदिका सुकाल करके अन्नके द्वारा भूत मात्रके जीवनका निर्वाह करता हूँ। यद्यपि इस प्रकार अन्नकी तो यथेष्ट प्रचुरता हो जाती है, परन्तु उस अन्नको पचाकर जीवोंको सुखी करनेवाली जठराग्निकी जो शक्ति है, वह कहाँ से आती है ?

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

"इसी लिए प्राणी मात्रके शरीरमें नाभि कन्द पर अँगीठी सुलगाकर उनके जठरमे मैं ही अग्नि बनकर रहता हूँ। और प्राण तथा अपान वायुकी भाथियाँ दिन-रात चलाकर प्राणियोके जठरोमें मैं जितने पदार्थ पचाता हूँ, उनकी कोई गिनती ही नही है। कड़े, मुलायम अच्छी तरह पके हुए और भुने हुए इस प्रकार चारों तरहके अन्न मैं पचाता हूँ। तात्पर्य यह कि जितने जीव हैं, वे सब मैं ही हूँ और इन जीवोकी जो जीवन प्राप्त है, वह जीवन भी मै ही हूँ। और उस जीवनको चलानेवाली जठराग्नि भी मैं ही हूँ। ऐसी अवस्थामे मैं अपनी व्यापकताका चमत्कार तुम्हें कहाँ तक बतलाऊँ! बात यह है कि इस विश्वमे मेरे सिवा और कुछ है ही नही। केवल मैं ही सब जगह हूँ। कदाचित् तुम्हारे मनमें यह प्रश्न उत्पन्न होता हो कि यदि यही बात है, तो फिर क्या कारण है कि कुछ जीव तो सदा सुखी रहते हैं और कुछ जीव सदा दुःखोमें ही डूबे रहते हैं ? यदि सारे नगरमें एकही दीपकका प्रकाश है तो फिर कुछ स्थानोमें अन्धकार और कालिमा क्यों दिखाई देती है ? इसलिए अब मैं तुम्हारी इस शंकाका भी समाधान कर देता हूँ। यदि वास्तवमे देखा जाय तो सब जगह केवल मैं ही हूँ और इस संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं जो मुझसे भिन्न हो। परन्तु प्राणियोकी कल्पनामे मैं उन्हें उनकी बुद्धिके अनुसार ही भासता हूँ। आकाश ध्वनि नामक गुण एक-रूप ही है, परन्तु वाद्यों-के भेदोके अनुसार आपसे आप भिन्न भिन्न प्रकारके नाद होते है। लोगोके व्यवहारों-से बिलकुल अलिप्त और अलग रहनेवाला सूर्य उदित होता है और वह सबसे बिल-कुल दूर और अलग रहता है, परन्तु फिर भी वह लोक-व्यवहार चलानेमें उपयोगी होती है। बीजोके धर्मके अनुसार ही जल किसी वृक्षके रूपमें रूपान्तरित होता है। ठीक इसी प्रकार जीवके रूपमें मेरा स्वरूप परिणत होता है। एक पुरुष मूर्ख हैं और दूसरा बुद्धिमान् है। दोनोके सामने नील मणियोका एक दो-लड़ी हार रखा है। मूर्खको तो वह साँप जान पड़ता है और उसको भयभीत करनेका कारण होता

सत्य ज्ञानके साधनसे इसके मूलमे रहने वाला अज्ञान ही नष्ट कर डालेगे तो सारा काम आपसे आप हो जायगा। रस्सीको साँप समझकर उसे मारनेके लिए लकड़ी लेकर इधर-उधर घूमनेकी ही तरह क्या यह सारा परिश्रम व्यर्थ नही है ? जो मृग-जलको नदी समझकर उसे पार करनेके लिए नाव तैयार करके उद्देश्यसे जंगलमे इधर उधर भटकता है, वह सचमुच ही किसी नालेमे गिरकर डूब जाता है। ठीक इसी प्रकार, हे अर्जुन इस मिथ्या संसारका नाश करने के लिए जो अनेक प्रकारकी विवंचनाएँ करता है, जो आत्म-ज्ञानसे रहित होकर रहता है, उसका ससार-सम्बन्धी भ्रम बराबर और भी बढता ही जाता है। इसी लिए, हे अर्जुन जिस प्रकार स्वप्नमे लगनेवाले घावको अच्छा करनेका उपाय केवल जाग्रत होना है इसी प्रकार इस अज्ञान मूलका नाश करनेके लिए केवल ज्ञान ही कुठार है। और यह कुठार ज्यो ज्यो सहजमे चलाया जाता है, त्यो त्यो बुद्धिको वैराग्यकी नई नई शक्ति प्राप्त होती है। ज्यो ही वैराग्यका आविर्भाव होता है, त्योही धर्म, अर्थ और कामके त्रिवर्गसे मनुष्यका उसी प्रकार छुटकारा हो जाता है, जिस प्रकार कुत्ता बहुत गरम अन्न खाकर तुरन्त ही उसे वमन करके उसके तापसे मुक्त हो जाता है। हे अर्जुन, यह वैराग्य इतना प्रबल होना चाहिए कि मनुष्यको प्रत्येक पदार्थसे अत्यन्त घृणा हो जाय। इसके उपरान्त देहाभिमानका वेष्टन एक दमसे फेंक कर यह शस्त्र प्रत्यग्बुद्धि अर्थात् आत्म-भावनाके हाथमे खूब मजबूतीके साथ पकड़ लेना चाहिये। विवेककी सान-पर चढाया हुआ और अहं ब्रह्माऽस्मिके आत्मबोध पर खूब अच्छी तरह चोखा किया हुआ यह शस्त्र पूर्ण बोधके चूर्णके साथ खूब अच्छी तरह रगडना चाहिये। और इसके उपरान्त यह देखनेके लिए कि हमारे निश्चयकी मुट्ठीमे कितनी शक्ति है, एक दो बार इसका प्रयोग भी करके देखना चाहिये। फिर मननके बलसे यह शस्त्र तौलकर धारण करना चाहिये। इसके उपरान्त जब निदिध्यासनके साधनसे यह शस्त्र और हम दोनो बिलकुल एक-रूप हो जायँ, तब फिर इसके प्रहारके सामने कुछ भी नहीं ठहर सकता। अद्वैत तेजके निर्णयसे आत्मज्ञानका यह शस्त्र ससार रूपी वृक्षको कही न रहने देगा। जिस प्रकार शरद् ऋतुके आरम्भकी वायु आकाशमे बादलोका कूडा-कर्कट नही रहने देती अथवा उदित होनेवाला सूर्य जिस प्रकार सारी कालिमा और अन्धकारको निगल जाता है अथवा जिस प्रकार जाग्रत होते ही स्वप्नके समस्त खेलोका अन्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानकी तीक्ष्ण धारभी बहुत जल्दी अपना काम करती है। फिर जिस प्रकार चन्द्रमाके प्रकाशमे मृग-जल नही दिखाई देता, उसी प्रकार इस संसार-रूपी वृक्षकी न तो ऊपरवाली जड़ ही कही दिखाई देती है और न नीचेकी ओर उसकी शाखाओका फैला हुआ जाल ही कही रह जाता है। हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, इस प्रकार आत्म-ज्ञानके शस्त्रसे इस ऊर्ध्वमूल ससार-वृक्षको तोड़ डालना चाहिए।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

"इतना हो जाने पर मनुष्यको उस आत्म-स्वरूपका प्रत्यय होता है, जिसके सम्बन्धमे यह निर्देश नही किया जा सकता कि "यह है" या "वह है" और जो अपने

है। परन्तु बुद्धिमानकी समझमें उसका वास्तविक स्वरूप आ जाता है और उसके लिए वह हार आनन्ददायक होता है। जिस प्रकार स्वाती नक्षत्रका जल सीपीमें पहुँचकर मोती होता है परन्तु साँपके शरीरमें पहुँचकर वही जल विष होता है, ठीक उसी प्रकार मैं ज्ञानियोंके लिए सुख हो जाता हूँ और अज्ञानियोंके लिए दुःख बन जाता हूँ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

"यदि वास्तवमे देखा जाय तो प्राणियोके मनमे दिन रात यह बात आती है कि—"मैं अमुक हूँ, वह अमुक वस्तु मैं ही हूँ।" परन्तु सन्तोंकी सगति करने-से, योग-ज्ञानका अभ्यास करनेसे और वैराग्यसे सम्पन्न होकर गुरुके चरणोकी सेवा करनेसे और इस प्रकार के दूसरे सत्कर्मोका आचरण करनेसे जिन लोगोका अशेष अज्ञान नष्ट हो जाता है और जिनका अहं-भाव मुझमे आकर रमण करने लगता है, वे लोग आपसे आप मुझे पहचान लेते है और मुझे अर्थात् आत्म-तत्वको पहचानकर सुखी होते हैं। उन्हें इस प्रकारकी सुख-सम्पन्न स्थितिमे पहुँचानेके लिए भला मेरे सिवा दूसरा और कौन कारण हो सकता है? सूर्यका उदय होने पर जिस प्रकार हम लोग उस सूर्यके प्रकाशसे ही उसे देखते है, उसी प्रकार मेरे ही साधन से मेरा ज्ञान होता है। इसके विपरीत देहाभिमानसे जकड़े रहने के कारण और सदा संसारकी ही बड़ाई सुनते रहने के कारण जिनकी अहं-भावना शरीरमे ही डूबी रहती है, वे लोग ऐहिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त करनेके लिए कर्म-काडकी अनेक क्रियाएँ करने लगते हैं; और इसलिए उनके उनके हिस्सेमें दु.खका ही विशिष्ट अंश पड़ता है। परन्तु जिस प्रकार जाग्रत अवस्थामे देखी हुई बातें ही स्वप्नका कारण होती हैं, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, उनके इस अज्ञान-जन्य भ्रमका भी मैं ही कारण और आधार हूँ। मेघोके कारण दिनमें अन्धकार छा जाता है, परन्तु वे मेघ भी दिनके कारण ही दिखाई पडते हैं। ठीक इसी प्रकार मेरा स्वरूप जो परदेसे ढक जाता है और प्राणियोको केवल सांसारिक विषय ही दिखाई देते है, वह भी मेरी ही सत्ताके आधारसे दिखाई देते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार निद्राका भी और जाग्रतिका भी हेतु जाग्रत अवस्था ही है, ठीक उसी प्रकार इन जीवोके ज्ञानका भी और अज्ञानका भी मैं ही मूल कारण हूँ। जिस प्रकार सर्पके आभासका भी और डोरीसे ज्ञानका भी मूल कारण डोरी ही होती है, ठीक उसी प्रकार यह बात भी सिद्ध है कि ज्ञानका भी और अज्ञानका भी तथा अज्ञानके कारण दिखाई देनेवाले समस्त सासारिक प्रसारका भी मैं ही मूल कारण हूँ। इसी लिए हे अर्जुन, वास्तवमे मेरा स्वरूप है, उस स्वरूपकी कल्पना न होने पर जिस समय वेद मुझे जाननेके लिए आगे बढे, उस समय उनमें भिन्न-भिन्न शाखाएँ निकलने लगी, तो भी यही समझना चाहिए कि वे भिन्न-भिन्न शाखाएँ भी मेरा ही ज्ञान कराती हैं, क्योकि चाहे पूर्व-गामिनी नदी हो और चाहे पश्चिम-गामिनी नदी हो, दोनो ही अन्तमे समुद्रमे जाकर मिलती है। जिस प्रकार सुगन्धि के सहित हवाके झोके आकाशमे लीन होते है, ठीक उसी प्रकार शब्दोके सहित श्रुतियाँ भी अहंब्रह्माऽस्मिवाले महा सिद्धान्तमे लीन होती है। और फिर इस

बिना ही स्वयं-सिद्ध होता है। परन्तु दर्पणका आधार लेकर मूर्ख लोग यह समझते है कि एक मुखकी जगह दो मुख है। ठीक यही बात द्वैत की भी होती है। इसलिए तुम द्वैतका कभी अंगीकार मत करो। इस आत्म-स्वरूपको ठीक तरहसे देखनेका ढंग यही है। कूआँ खोदनेसे पहले भी जमीनके अन्दर पानीका सोता अपनी जगह पर मौजूद रहता है। अथवा जब पानी हट जाता है या नही रह जाता, तब पानीमे पड़नेवाला प्रतिबिम्ब भी फिर लौटकर अपने मूल बिम्बमे आकर लीन हो जाता है, अथवा घटके फूट जाने पर जिस प्रकार घटाकाश फिर आकाशमे मिल जाता है अथवा जलना समाप्त होने पर जिस प्रकार अग्नि फिर अपने मूल स्वरूपमे जाकर लीन हो जातो है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, यह आत्मस्वरूप भी देखना चाहिए। यह बात भी ठीक उसी प्रकारकी है, जिस प्रकार जीभ स्वयं अपना ही स्वाद चखे अथवा नेत्र स्वयं अपनी ही पुतली देखे। अथवा जिस प्रकार तेजमें तेज मिल जाता है, आकाशमे आकाश समा जाता है अथवा जलाशयमे जल जा मिलता है, उसी प्रकार अद्वैतकी दृष्टिसे अपना आत्म-स्वरूप भी देखा जाता है। जिसे बिना देखे और बिना द्रष्टा बने देखना चाहिए और जिसे न जानते हुए भी जानना चाहिए और जिस वस्तुको आद्य पुरुष कहते है, उसके सम्बन्धमे उपाधिका आश्रय लेकर श्रुति ग्रन्थ व्यर्थ ही तरह तरहकी बाते बनाते है; और फिर व्यर्थ ही उसके नामो और रूपोका वर्णन करने लगते है। जो मुमुक्षु लौकिक सुखोसे भी और स्वर्गके सुखोसे भी बिलकुल ऊब जाते है, वे इस बातकी प्रतिज्ञा करके योग ज्ञानकी ओर प्रवृत्त होते है कि हम इस स्वरूपमे प्रवेश करके फिर कभी लौटकर इधर नही आवेगे। ऐसे लोग वैराग्यकी बाजी जीतकर संसारके बखेड़ोसे बहुत दूर निकल जाते है और ब्रह्मलोकका पर्वत पार करके उससे भी बहुत आगे पहुँच जाते है। फिर वे लोग अहंकार आदि भावनाओसे बिलकुल रहित होकर जिस स्थान पर जानेका आज्ञापत्र प्राप्त करते है, जिस मूल वस्तुसे आगे मनुष्यकी सूखी आशाके समान इतनी बडी विश्व-मलिकाका विस्तार बाहर निकलता है, जिस वस्तुका ज्ञान न होनेके कारण ही इस संसारकी, जो वास्तवमे बिलकुल मिथ्या है, इतनी अपरम्पार व्याप्ति दिखाई देती है, और "मैं" तथा "तुम" का द्वैत अपना प्रभाव दिखलाता है, हे अर्जुन, उस आद्य वस्तुको, उस अपने आत्म-स्वरूप को स्वयं इस प्रकार देखना चाहिये, जिस प्रकार बरफसे ही बराबर जमाते है। हे अर्जुन, इस स्वरूपको पहचान लेनेका एक और लक्षण है, और वह यह कि जब एक बार इस स्वरूपके दर्शन हो जाते हैं, तब फिर मनुष्य उस स्वरूपसे लौटकर कभी आ ही नही सकता। परन्तु अब प्रश्न यह है कि इस स्वरूपके दर्शन होते किसे है? सो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार प्रलय-कालका जल सभी जगह ओत-प्रोत भरा रहता है, उसी प्रकार जिस मनुष्यके अङ्ग अङ्गमे ज्ञान बिलकुल पूरी तरहसे भरा रहता हैं, उसीको इस आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥५॥

प्रकार समस्त श्रुतियाँ जो लज्जित होकर स्तब्ध हो जाती हैं, सो यह कार्य भी मेरे ही प्रकाशसे होता है। इसके उपरान्त जो निर्मल ज्ञान होने पर श्रुतियोके सहित सारा जगत लीन हो जाता है, उस ज्ञानको जानने वाला भी मैं ही हूँ। जिस प्रकार सोकर उठने पर स्वप्नकी कोई बात मनुष्यमें नही रह जाती और वह समझ लेता है कि केवल मैं ही हूँ, ठीक उसी प्रकार बिना किसी तरहके द्वैतका भास हुए मैं स्वयं अपनी अद्वैतता जानता हूँ। और आत्म-बोधका कारण भी मै ही हूँ। इतना होने पर जिस प्रकार कपूरमें अग्नि लगने पर, हे अर्जुन, न तो काजल ही बाकी रह जाता है और न अग्नि ही बच रहती है, उसी प्रकार जो ज्ञान समस्त अविद्याको भस्म कर डालता है, स्वयं यह ज्ञान ही जिस समय लुप्त हो जाता है, उस समय होना और न होना या जन्म और मरण कुछ भी बाकी नही रह जाता। जो चोर अपने साथ सारे विश्वको ही चुरा ले गया हो, भला उसका पता कैसे लगाया जा सकता है? ठीक इसी प्रकारकी जो एक अवर्णनीय शुद्ध अवस्था है, वह अवस्था भी मै ही हूँ। इस प्रकार जब केवल स्वरूपी ब्रह्म जड़ और अ-जड़ सबको व्याप्त कर लेता है, तब उस अनुपाधिक निरंजन आत्म-स्वरूप तक पहुँच हो जाती है।" श्रीकृष्णने जो ये सब बाते बतलाई थी, उनकी छाप अर्जुनके अन्त.करण पर उसी प्रकार पड़ी, जिस प्रकार दुग्धके समुद्रमें आकाशके चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ता है अथवा जिस प्रकार किसी चमकती हुई दीवार पर उसके सामनेके चित्रका प्रतिबिम्ब पड़ता है। बस ठीक इसी प्रकार भगवानके उपदेशका अर्जुनके अन्तःकरण पर प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। परन्तु ब्रह्मज्ञानमें एक ऐसा विलक्षण गुण है कि ज्यो ज्यों वह ज्ञान होता जाता है, त्यो-त्यो उसका चसका भी बराबर बढ़ता जाता है। इसलिए अनुभव-सिद्धोमें श्रेष्ठ अर्जुनने भगवानसे कहा—"हे महाराज, अपनी व्यापकताका विवेचन करते समय बातोके आवेशमे आप अपने जिस उपाधि-रहित स्वरूपका उल्लेख कर गये, उस स्वरूपका आप मेरे लिए एक बार बिलकुल निर्दोष तथा स्पष्ट रूपसे वर्णन करें।" इस पर द्वारकाधीश श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है। यदि सच पूछो तो, हे अर्जुन, मुझमे भी प्रेमपूर्वक निरन्तर बोलते रहनेकी बहुत चाह रहती है। परन्तु क्या करूँ, तुम्हारे समान प्रश्न करनेवाला मुझे कोई मिलता ही नही। आज तुम्हारे रूपमें मुझे अपने मनोरथका फल प्राप्त हुआ है; क्योकि तुम बिना संकोच किये मुझसे जी भरकर प्रश्न करते हो। अद्वैत तक पहुँचने पर भी जिस निर्मल अनुपाधिक स्वरूपका अनुभव हो सकता है, उसी स्वरूपके सम्बन्धमे आज तुमने प्रश्न करके मुझे परम सुखी किया है। जिस दर्पणके सामने आने पर स्वयं ही अपने नेत्र दिखाई देते हैं, ठीक उसी दर्पणके समान तुम्हारे समान प्रश्न-कुशल और निर्मल श्रेष्ठ साथी साथ मुझे बात-चीत करनेके लिए मिला है। हे सखे अर्जुन, यह बात नही है कि तुम तो अज्ञान बनकर सब बातें पूछो और मैं शिक्षक बनकर तुम्हे सब बाते सिखलाऊँ।" यह कहकर भगवानने अर्जुनको आलिंगन किया और तब उन्होने उसकी ओर कृपापूर्वक देखकर जो कुछ कहा, वह सुनो। श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, चाहे बोलनेवाले होठ दो हो, परन्तु फिर भी उन दोनोंसे बात एक ही निकलती है; और चलने वाले पाँव चाहे दो हों परन्तु फिर भी उनसे

"जिस प्रकार वर्षा-ऋतुके अन्तमे आकाशमे बादल बिलकुल नही रह जाते, उसी प्रकार जिन पुरुषोके मनमे मान और मोह आदि विकार बिलकुल नही रह जाते, जो लोग विकारोके फेरमे उसी प्रकार नही पडते, जिस प्रकार किसी दरिद्र और निष्ठुर मनुष्यके फेरमे उसके नाते-रिश्तेके लोग भी नही पड़ते, आत्म-प्राप्तिके कारण जिनकी समस्त क्रियाएँ धीरे-धीरे उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार फल लगते ही केलेके वृक्षके जीवनका अन्त हो जाता है जिन्हे सब प्रकारके संकल्प विकल्प उसी प्रकार छोड देते है, जिस प्रकार कटे हुए वृक्षको पक्षी लोग छोड देते है, जिनमे उस भेद-बुद्धिका नाम भी नही होता, जिस भेद-बुद्धिकी भूमि पर दोषोकी वनस्पति बहुत जोरोसे उत्पन्न होती है, जिनकी देहाभिमानबुद्धि अविद्याके सहित उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार सूर्यका उदय होते ही रात्रि नष्ट हो जाती है, जो लोग अज्ञान-मय द्वैतको उसी प्रकार छोड देते है, जिस प्रकार शरीर उस जीवको अकस्मात् छोड़ जाता है, जिसकी आयुष्य समाप्त हो जाती है, जिनके लिए द्वैत भावका सदा उसी प्रकार अकाल रहता है, जिस प्रकार पारसके लिए लोहेका अथवा सूर्यके लिए अन्ध-कारका अकाल होता है, जिनके सामने देहको जान पडनेवाले सुखो और दुःखोका द्वन्द्व क्षण मात्र भी नही ठहरता, जिन पर हर्ष और शोकका उसी प्रकार कोई प्रभाव नही पडता, जिस प्रकार जाग्रत होने पर मनुष्य पर स्वप्नमे होनेवाले, राज्य-लाभ अथवा मरणके प्रसगका कोई प्रभाव नही पडता, जिन पर सुखो और दुखोके द्वन्द्व उसी प्रकार कोई प्रहार नही कर सकते, जिस प्रकार गरुड पर सर्प कभी प्रहार नही कर सकता, जो अनात्म पदार्थ रूपी जलको अलग करके और आत्मानन्द रूपी दूध पीकर सुविचारके राजहंस बन जाते है, जो अज्ञानके कारण चारो ओर फैली हुई आत्म-वस्तुको ज्ञानकी दृष्टिसे अखंड स्वरूपमे उसी प्रकार एकत्र करते है, जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी तल पर जलकी वर्षा करके उसे फिर अपनी किरणोके द्वारा अपने ही बिम्ब मे ले आता है, आत्म-निर्णयमे जिनका विवेक उसी प्रकार सम-रस हो जाता है, जिस प्रकार समुद्रमे मिलकर गंगाका जल सम-रस हो जाता है, जिन्हे सब जगह केवल आत्म-स्वरूप ही दिखाई देता है और जिनके लिए आत्म-स्वरूपसे बाहर निकलना उसी प्रकार सम्भव नही है, जिस प्रकार आकाशके लिए यहाँसे और कही जाना सम्भव नही है और इसी लिए जिनके साथ विषय-वासनाओका कभी कोई सम्पर्क ही नही हो सकता, जिनके हृदयमे विकारोका उसी प्रकार कभी उदय नही होता, जिस प्रकार ज्वालामुखी पर्वत पर बीजोमे अंकुर नही उत्पन्न होते, जिनका चित्त काम आदि विकारोसे उसी प्रकार रहित और निश्चल होता है, जिस प्रकार क्षीर सागर उस समय निश्चल हुआ था, जिस समय घरंघरं घूमनेवाला मन्दराचल उसमेसे निकाल लिया गया था, जिनमे काम आदिका कोई दोष उसी प्रकार नही दिखाई देता, जिस प्रकार सोलहो कलाओसे युक्त होने पर चन्द्रमाके किसी अंगमे कोई न्यूनता नही दिखाई देती, परन्तु इस विस्तृत वर्णनका और कहाँ तक विस्तार किया जाय, साराश यह कि जिनके सामने विषयोका उसी प्रकार ठिकाना नही लगता, जिस प्रकार वायुके सामने सूक्ष्म कणका ठिकाना नही लगता और इस प्रकार जो लोग ज्ञानकी अग्निसे

चलना एक ही होता है। ठीक इसी प्रकार तुम्हारा प्रश्न करना और मेरा समाधान करना दोनो एक ही है। तुम और मैं दोनो एक ही अर्थ या अभिप्राय पर दृष्टि रखते हैं, इसलिए इस समय प्रश्न करनेवाला और उत्तर देनेवाला दोनो एक ही है।" इतना कहते कहते भगवान प्रेमसे पूर्ण हो गये और उन्होने अर्जुनको फिर गले लगा लिया। परन्तु फिर वे जरा डर कर अपने मनमे कहने लगे—"प्रेमका यह मोह दूर करना चाहिए। यद्यपि गुडमे मिठास ही मिठास होती है, परन्तु फिर भी उस मिठासको नष्ट होनेसे बचानेके लिए उसमें थोड़ा-सा क्षार* मिलाना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार यदि प्रेमका यह मोह इस समय दूर न किया जायगा तो हाथमे आया हुआ यह संवाद-सुख गँवाना पड़ेगा। पहलेसे ही यह नर है और मैं नारायण हूँ। हम दोनोमे भेद के लिए बिलकुल स्थान नही है। परन्तु फिर भी प्रेमका यह आवेश इस समय मुझे अन्दर ही अन्दर रोकना चाहिए।" यह सोचते भगवानने चट अर्जुनसे पूछा—"भाई अर्जुन, तुम क्या पूछ रहे थे?" यह सुनते ही जो अर्जुन अद्वैत-प्रेमसे भगवान श्रीकृष्णके स्वरूपमें लीन होनेका उपक्रम कर रहा था, उसके होश फिर ठिकाने आ गये और वह फिर प्रश्नावलीकी ओर प्रवृत्त हुआ। उसने गद्गद् होकर कहा—"महाराज, मैंने यही कहा था कि आप मुझे अपना उपाधिहीन स्वरूप बतलावें।" यह सुनकर भगवान शार्ङ्गधरने पहले उपाधि-के दो प्रकारोका वर्णन करना आरम्भ किया। इस पर कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि जब अर्जुनने उपाधि-रहित वस्तुके सम्बन्धमें प्रश्न किया था, तब भगवानने इस प्रकरणमें उपाधियोका झगडा क्यो खड़ा कर दिया? इसका उत्तर यह है कि मठेमेसे साराश निकालना ही मक्खन निकालना कहलाता है और निकृष्ट अंशको जलाना ही सोनेको तपाकर खरा करना है। जब सेवार हाथसे हटाकर एक तरफ कर दी जाती है, तभी पानी मिल सकता है। मेघ जब नही रह जाते; तभी केवल आकाश अवशिष्ट रह जाता है। जब ऊपरकी भूसी हटा दी जाय, तब अनाजका कण प्राप्त होनेमें क्या विलम्ब हो सकता है? ठीक इसी प्रकार जब विचार के द्वारा उपाधि-युक्त वस्तुकी उपाधियोका अन्त होता है, तब किसीको यह बतलाने-की आवश्यकता नही रह जाती की निरुपाधिक क्या है? जब किसी युवती स्त्रीसे भिन्न-भिन्न अनेक नामोका उच्चारण करनेके लिए कहा जाता है, तब उस प्रकरणमें यदि कही उसके पतिका नाम आ जाता है, तो वह उस नामका उच्चारण नही करती, बल्कि चट समझ जाती है कि मुझे लज्जित करने के लिए ही मेरे पति-देवका नाम मेरे सामने लाया गया है। ठीक इसी प्रकार उस निर्गुण, निरुपाधिक और निराकार आत्माका स्वरूप वाणी केवल स्तब्ध होकर प्रकट करती है। इसी लिए जो बात कही नही जा सकती, जब वही बात कहने का प्रसंग आया, तब भगवानने पहले उपाधियोका ही विवेचन आरम्भ किया। प्रतिपदाके चन्द्रमाकी सूक्ष्म रेखा दिखलानेके लिए जिस प्रकार किसी ऊँचे वृक्षकी शाखाका उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार इस अवसर पर उपाधियो की चर्चाका उपयोग होगा।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥

---

* दक्षिण-प्रातमे गुणमे क्षार मिलाया जाता है।

अपने सारे दोषो और मलोको जलाकर पूर्ण रूपसे निर्मल हो जाते है, वे खरे सोनेमें खरे सोनेके ही समान पूरी तरहसे वहाँ जाकर मिल जाते हैं। यदि तुम यह पूछो कि मेरे इस कथनमें "वहाँ" का क्या मतलब है, तो तुम यही समझ लो कि वहाँका अर्थ है—उस अव्यय वस्तुमे। यह वस्तु ऐसी है जो कभी दृष्टिका विषय नही होती (अर्थात् कभी देखनेमें नही आती) और न कभी ज्ञानका ही विपय होती है। उसके सम्बन्धमें कभी यह नही कहा जा सकता कि वह अमुक वस्तु है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

"दीपकके उज्ज्वल प्रकाशमे जो कुछ दिखाई देता है अथवा चन्द्रमा जिसे प्रकाशित करता है अथवा जो वस्तु सूर्यकी प्रखर प्रभासे चमकती है, उन सब वस्तुओकी दृश्यता उस वस्तुके न दिखाई पड़नेके कारण भासमान होती है (अर्थात् ये सब सांसारिक वस्तुएँ तभी तक दिखाई देती है, जब तक वह अव्यय वस्तु नही दिखाई देती)। वह वस्तु स्वयं अदृश्य रहकर सारे विश्वको प्रकाशित करती है। ज्यो ज्यो सीपीके भावका ज्ञान मन्द होता जाता है, त्यो-त्यो उसमे होनेवाला चाँदीका भास ठीक और वास्तविक जान पडने लगता है अथवा ज्यो ज्यो रस्सीके ज्ञानका लोप होता है, त्यो-त्यो उसके सम्बन्धमे होनेवाला साँपका भ्रम दृढ होता जाता है। ठीक इसी प्रकार जिस वस्तुका प्रकाश पडनेके कारण ही चन्द्रमा और सूर्य आदि प्रचड तेजसे प्रकाशित होते है, वह वस्तु केवल तेजकी राशि ही है। वह समस्त भूतोमे व्याप्त है और चन्द्रमा तथा सूर्यको भी प्रकाश देती है। चन्द्रमा और सूर्य अपना जो प्रकाश फैलाते है, वह प्रकाश वे इसी ब्रह्म नामक वस्तुसे प्राप्त करते है; और इसी लिए चन्द्रमा तथा सूर्य आदि तेजस्वी पिंडोंका तेज उस ब्रह्म-वस्तुका ही एक अंश है। सूर्योदय होने पर जिस प्रकार चन्द्रमाके साथ साथ और सब नक्षत्रोंका लोप हो जाता है, उसी प्रकार इस ब्रह्म-वस्तुके प्रकाशके उदित होते ही उस प्रकाशमे सूर्य और चन्द्रमाके साथ सारे जगत्का लोप हो जाता है। अथवा जिस प्रकार जाग्रत होनेकी अवस्थामे स्वप्नकी सारी धूमधामका अन्त हो जाता है अथवा जिस प्रकार सन्ध्या काल होते ही कही मृग-जल बाकी नही रह जाता, उसी प्रकार जिस वस्तुका प्रकाश होते ही और किसी वस्तुके आभासके लिए कोई स्थान नही रह जाता, वही वस्तु मेरा मुख्य स्थान है। जो लोग उस स्थान पर जा पहुँचते हैं, वे सागरमे लीन होनेवाले जल-प्रवाहके समान फिर कभी वहाँसे लौटकर नही आते। अथवा जिस प्रकार नमककी बनाई हुई हाथीकी मूर्त्ति खारे समुद्रमें डालनेपर फिर किसी प्रकार लौटकर बाहर नही आ सकती अथवा अग्निकी ज्वाला आकाशमे चली जाने पर फिर लौटकर नही आती अथवा तपे हुए लोहे पर डाला हुआ पानी, जिस प्रकार फिर हाथ नही आ सकता, ठीक उसी प्रकार जो व्यक्ति शुद्ध ज्ञानसे आकर मुझसे मिलता और एक-रूप हो जाता है, उसका फिर वापस लौटना सदाके लिए बन्द हो जाता है। श्रीकृष्णकी ये बातें सुनकर बुद्धिमान् अर्जुनने कहा—

"हे देव, आपने मुझपर बहुत बड़ी कृपा की है। परन्तु फिर भी आपसे मेरी एक प्रार्थना है। उसकी ओर आप ध्यान दे। जो लोग आपमे मिलकर एक रूप हो

भगवानने कहा—"भाई अर्जुन, इस संसार-रूपी नगरकी बस्ती बहुत ही छोटी अर्थात् केवल दो पुरुषोंकी है। जिस प्रकार सारे आकाशमें केवल दिन और रात यही दोनो रहते है, उसी प्रकार इस संसार-रूपी नगरमें भी केवल दो ही पुरुष रहते हैं। एक आ· तीसरा पुरुष भी है, परन्तु उसे इन दोनोका नाम भी अच्छा नही लगता। जब उस पुरुषका उदय होता है, तब वह इन दोनोको नगर समेत खा जाता है। परन्तु इन सब बातोको जाने दो। इस समय तो इन्ही दोनों पुरुषोंकी कहानी सुनो। ये दोनों पुरुष इसी संसार-रूपी नगरमें निवास करनेके लिए आये है। इनमेसे एक तो अन्धा, मूढ़ और पंगु है और दूसरा सब अंगोसे दुरुस्त और हट्टा-कट्टा है। परन्तु एक ही नगरमे निवास करनेके कारण इन दोनोमें स्नेह हो गया है। इनमेसे पहलेको क्षर और दूसरेको अक्षर कहते हैं। इन्ही दोनोने यह संसार खूब कसकर भर दिया है। अब मैं तुमको स्पष्ट करके यह बतलाता हूँ कि क्षर कौन है और अक्षर कौन है। हे अर्जुन, महत्तत्वसे लेकर तृणके अग्र भाग तक जितनी छोटी बड़ी चराचर वस्तुएँ इस संसारमे है अथवा मन या बुद्धिमें जितने विषय आ सकते है, जो जो वस्तुएँ पंच-महाभूतोसे बनी हैं जिन जिनका नाम और रूप है, जो-जो तीनों गुणोकी व्याप्तिमें आती है, जिस सोनेके भूत-मात्र रूपी सिक्के बनते है, जिन कौड़ियोके सहारे काल-रूपी जुआरीका खेल होता है, विपरीत ज्ञान अर्थात् भ्रम या मोहसे जिन जिन बातोका ज्ञान होता है, जो कुछ प्रत्येक क्षणमे उत्पन्न होता या नष्ट होता रहता है, जिस-भ्रांति-रूपी जंगलको छानकर न होने पर भी सृष्टिका रूप खड़ा किया जाता है, तात्पर्य यह कि जिसे लोग जगत कहते हैं, जो प्रकृति या मायाके कारण आठ प्रकारके भेदोसे युक्त हुआ है, जो देह-क्षेत्रके द्वारा उन छत्तीस भिन्न तत्वोसे बना है जिनका पहले वर्णन हो चुका है—उनका अब और कहाँ तक वर्णन किया जाय—अभी संसारके वृक्षवाले रूपकमें जिन सबका वर्णन हुआ है, उन सबके सम्बन्धमे यह कल्पना कर लेनी चाहिये कि यह हमारे रहनेका नगर है और तब यह समझ लेना चाहिए कि चैतन्यने ही ये सब आकार धारण किये है। जिस प्रकार सिंहका प्रति-बिम्ब किसी कूएँमे पड़ता है और उस प्रतिबिम्बको देखकर वह सिंह यह समझता है कि यह दूसरा सिंह है और यही समझकर वह क्रोधमें आकर गुर्राता है और उस कूएँमे कूद पड़ता है अथवा जिस प्रकार पानीमें रहनेवाला आकाश तत्व पर ही आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकर अद्वैत भी द्वैतको स्वीकार करता है। हे अर्जुन, इस प्रकार साकार नगरकी कल्पना करके आत्मा अपने मूल स्वरूपको भूल जाती है और उसी विस्मृतिमें सो जाती है। फिर जिस प्रकार कोई स्वप्नमे शयनागार देखे और उसीमे सो जाय, उसी प्रकार आत्मा भी इस कल्पित नगरमे सो जाती है। फिर उसी निद्राके आवेशमें वह यह समझने लगती है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ। और तव स्वप्नमें ही अहंताके शब्दोमें वड़बड़ाने लगती है, वह सोचने लगती है कि यह पिता है, यह माता है। मैं गोरा हूँ अथवा बहुत ही दीन और दुर्वल हूँ। यह पुत्र है, यह स्त्री है। क्या ये सब मेरे ही नही है ? इसी स्वप्नमें पड़कर वह इहलोक और परलोकके स्वप्नमें पड़ती है। हे अर्जुन, इसी चैतन्यको "क्षर पुरुष" कहते हैं

हो जाते हैं और फिर लौटकर वापस नही आते, वे आपसे भिन्न रहते है या अभिन्न रहते हैं ? यदि वे अनादि परम्परासे भिन्न रहते हो तो यह बात ठीक नही सिद्ध होती कि वे फिर लौटकर नही आते; क्योकि भ्रमर फूलोंके पास जाते है, वे क्या फूल ही हो जाते है ? बाण जिस पर छोडे जाते है, उससे वे भिन्न होते हैं और जिस पर छोड़े जाते है उससे जाकर स्पर्श करते है और फिर पीछे लौटकर गिर पड़ते हैं। ठीक इसी प्रकार वे जीव भी आपको स्पर्श करके फिर अवश्य ही लौट आवेंगे। अथवा यदि आप और वे जीव स्वभावतः एक ही हो तो फिर कौन किसमें मिलता है ? शस्त्र आप ही अपने आपको कैसे काट सकता है ? इसी लिए जिस प्रकार शरीरके साथ अवयवोके होनेवाले संयोग और वियोगकी बात नही कही जा सकती, ठीक उसी प्रकार जो जीव आपसे भिन्न ही नही है, उनका आपके साथ संयोग और विलोग होनेकी बात समझमे नही आती। और जो सदा आपसे भिन्न ही हैं, वे कभी आपमे मिलकर एकरूप नही हो सकते। और ऐसी अवस्थामे इस बातका विचार करना बिलकुल व्यर्थ ही होता है कि वे आपके पाससे फिर लौटकर आते है या नही। इसी लिए, हे देव, आप यह बात मुझे स्पष्ट रूपसे बतलावे कि जो आपके साथ मिलकर एक हो जाते है और फिर लौटकर नही आते, वे कौन है।"

अर्जुनका यह प्रश्न सुनकर उन सर्वज्ञ-श्रेष्ठ भगवानको बहुत अधिक सन्तोष हुआ, क्योकि अपने शिष्यके इस प्रश्नसे उनको उसकी बुद्धिमत्ता अच्छी तरह दिखाई देने लगी। भगवान् श्रीकृष्णने कहा—"भाई बुद्धिमान् अर्जुन, जो लोग मुझ तक पहुँचकर फिर नही लौटते, वे मुझसे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। यदि विवेकपूर्वक गम्भीर विचार किया जाय तो मै और वे स्वभावतः बिलकुल एक ही है—हम दोनो अभिन्न ही हैं। लेकिन यदि केवल ऊपरी दृष्टिसे विचार किया जाय तो यह भी जान पडता है कि वे मुझसे अलग है। जिस प्रकार जल पर उठनेकी अवस्थामे तरंगे उससे भिन्न जान पडती है, परन्तु यदि वास्तवमे विचार किया जाय तो यही मानना पड़ता है कि वे लहरें भी पानी ही है अथवा जिस प्रकार अलंकार सोनेसे भिन्न दिखाई देते है, परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अलकार भी बिलकुल सोना ही होते है, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, यदि ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो वे मुझसे अभिन्न ही है; और जो भिन्नता दिखाई देती है, वह केवल अज्ञानके कारण है। और यदि ब्रह्म-वस्तुका ठीक ठीक विचार किया जाय तो ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है जो मुझ एकमेवाद्वितीयसे भिन्न मानी जा सके और जो भिन्नताके विचारसे मुझसे अलग की जा सके ? यदि सूर्यका बिम्ब सारे आकाशको व्याप्त करके एक ही गोला बन जाय तो फिर उसका प्रतिबिम्ब कहाँ पड़ेगा ? और उसकी किरणे जायँगी तो कहाँ जायँगी ? प्रलय कालके सर्वव्यापी जलमे भी क्या कभी छोटी छोटी धाराएँ आकर मिलती है ? ठीक इसी प्रकार मुझ विकारहीन तथा एकमेवाद्वितीयके अंश कैसे हो सकते है ? परन्तु सीधा बहनेवाला पानी भी दो धाराओंके

अब जिसे "क्षेत्रज्ञ" कहते हैं, जिसकी अवस्थाको जगतके सब लोग जीव कहते हैं, जो अपने आपको भूलकर भूत-मात्रके अधीन होकर व्यवहार करता है, उसी आत्माको "क्षर पुरुष" कहते हैं। जिस दृष्टिसे वह पूर्ण रूपसे ब्रह्म ही है, उस दृष्टिसे उसे "पुरुष" नाम शोभा देता है। इसके अतिरिक्त वह शरीर भरमे निद्रावस्थामें रहता है और इसलिए भी वह पुरुष कहलानेका पात्र है। परन्तु वह उपाधिसे अंकित होता है और इसी लिए उस पर व्यर्थ ही क्षरता, सव्ययता या नश्वरताकी छाप लगाई गई है। जिस प्रकार लहराते हुए पानीके साथ चन्द्रमाका प्रकाश भी आगे और पीछेकी ओर झोके खाता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार यह भी उपाधिके विकारोके कारण चंचल-सा दिखाई देता है। परन्तु जब वह लहराने वाला पानी सूख जाता है, तब उसमे प्रतिबिम्बित होनेवाला चन्द्रमाका प्रकाश भी लुप्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जब उपाधिका नाश हो जाता है, तब उसके उपाधि-जन्य विकार भी लुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार उपाधिकी सामर्थ्यसे ही इसे क्षण-भंगुरता प्राप्त होती है और इसी दुर्बलताके कारण लोग इसे "क्षर" कहते हैं। इसी लिए जीव या चैतन्य या जीवात्माको क्षर पुरुष समझना चाहिएँ। अब मैं तुमको स्पष्ट करके यह बतलाता हूँ कि अक्षर पुरुष किसे कहते हैं। हे वीर अर्जुन, अक्षर नामका जो यह दूसरा पुरुष है, वह केवल उसी प्रकार मध्यस्थ और साक्षी रूपसे देखनेवाला है, जिस प्रकार पर्वतोमे मेरु है। जिस प्रकार पृथ्वी, पाताल और स्वर्गके स्थलभेदोके अनुसार मेरु कभी तीन प्रकारका नही होता, उसी प्रकार यह अक्षर पुरुष भी ज्ञान और अज्ञानके अंगोमें लिप्त नही होता। न तो वह शुद्ध ज्ञानसे एकता ही प्राप्त करता है और न ज्ञानके कारण उसमें द्वैत भाव ही आता है। उस प्रकार केवल ज्ञातृत्व युक्त तटस्थता ही इसका स्वरूप है। जब मिट्टीका मिट्टीपन नष्ट हो जाता है, तब उससे घड़े या पुरवे आदि बरतन कभी बन नही सकते। ठीक उसी मिट्टी-पनसे रहित पिंडकी तरह यह मध्यस्थ पुरुष है। जब सागर या जलाशय सूख जाता है, तब न तो उसमें लहरें ही रह जाती हैं और न पानी ही रह जाता है। उसी सूखे हुए सरोवरके समान इस मध्यस्थकी निराकार स्थिति है। हे अर्जुन इसे निद्राकी उसी झपकीके समान समझना चाहिए, जिसमे जाग्रति तो चली जाती है, परन्तु स्वप्नवाली अवस्था पूरी तरहसे नही आती। जो केवल उस अज्ञानवाली अवस्थामे रहता है, जिसमे विश्वाभास मिट जाता है, परन्तु आत्मज्ञानका तब तक उदय नही होता, उसीको "अक्षर" कहना चाहिए। सोलहो कलाओमे विरहित अमावस्याके चन्द्रमाका जो रूप होता है, उसीके समान इस अक्षरके लक्षण भी समझने चाहिएँ। समस्त उपाधियोका नाश हो जाने पर जीव-दशा जिसमे लीन होती है, उपाधियाँ नष्ट हो जाने पर जिसमें उसी प्रकार लीन होकर रहती हैं, जिस प्रकार फल लगने पर वृक्ष बीज रूपसे उसमे समाविष्ट रहता है, उसीको अव्यक्त कहते हैं। गाढ़ अज्ञानको सुषुप्ति कहते हैं और स्वप्न तथा जाग्रतिको उसके फलोके रूपमे समझना चाहिए। वेदान्तमे जिसे बीज-स्थिति कहते हैं, वह इस अक्षर पुरुषका ही स्थान है। जहाँसे विपरीत ज्ञान उत्पन्न होकर जाग्रति और स्वप्नके द्वारा अनेक तर्क-वितर्कोंके वनमे संचार करता है, और हे अर्जुन, जहाँसे विश्वासका उत्थान होता है

एक जगह मिलने पर कुछ टेढ़ा हो जाता है अथवा जलकी उपाधिके कारण सूर्य भी प्रतिबिम्ब रूपसे एककी जगह दो दिखाई देने लगता है। भला यह कैसे कहा जा सकता है कि आकाश चौकोर है या गोल है ? परन्तु जब वही आकाश किसी घट या मठमें व्याप्त रहता है, तब हम उसे गोल या चौकोर भी कह सकते है। जब कोई मनुष्य स्वप्नमें यह देखता है कि मैं राजा हो गया हूँ, तब निद्राके बल पर क्या वह अकेला ही सब व्यक्ति और सब वस्तुएँ नही बन जाता और सारे संसारको अपने ही आपसे नही भर देता ? घटिया सोना या और कोई मेल मिलाने पर जिस प्रकार चोखा सोना भी कुछ और ही प्रकारका कस दिखलाने लगता है, ठीक उसी प्रकार मेरा शुद्ध स्वरूप भी जब मायासे वेष्टित हो जाता है, तब अज्ञानकी उत्पत्ति होती है। वह अज्ञान है—"कोऽहं" (अर्थात् मैं कौन हूँ)। इसी अज्ञानसे मनमें यह विकल्प उत्पन्न होता है कि मै कौन हूँ, और तब इसी बात पर विचार करके जीव यह निश्चय करता है कि—"मैं देह हूँ"।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

"इस प्रकार आत्म-ज्ञान जब शरीरसे मर्यादित होता है, तब अल्पताके कारण उस शरीरमे मेरा अंश भाससान होता है। हवा चलनेके कारण समुद्र तरंगमय दिखाई देता है; और इसी लिए सकुचित विचारवालो जीवोंको ऐसा जान पड़ता है कि वे तरंगे भी समुद्रका अंश ही हैं। इसी प्रकार जडको चैतन्य प्रदान करनेवाला और देहका अभिमान उत्पन्न करनेवाला मैं भी इस जीव-लोकमें जीवके रूपमे ही भासमान होता हूँ। जीवकी मर्यादित बुद्धिको अपने आस पास जो अनेक प्रकारके व्यापार होते हुए दिखाई देते है, उन्हींके लिए "जीव-लोक" शब्दका व्यवहार होता है। जन्म लेने और मरनेको वास्तविक और सच्चा माननेको ही मैं जीव-लोक अथवा संसार कहता हूँ। अब यह सुनो कि इस जीव-लोकमें तुम मुझें कैसे देख सकते हो। पानीमे प्रतिबिम्बित होनेवाला चन्द्रमा वास्तवमे पानीके बाहरका ही होता है, अथवा यदि स्फटिक मणिको कुंकुम पर रख दे तो सामान्य मनुष्यको वह लाल रंगका जान पडता है, परन्तु वास्तवमे वह लाल रंगका नही होता। ठीक इसी प्रकार बिना अपनी अनादिता और क्रियाहीनतामें कोई बाधा पहुँचाये ही मैं जो कर्त्ता और भोक्ताके रूपमे भासमान होता हूँ, उसे केवल भ्रम ही समझना चाहिए। इन सब बातोका तात्पर्य यही है कि शुद्ध आत्म-ब्रह्म ही प्रकृतिके साथ मिलकर स्वयं ही इस मायिक संसारका प्रवाह आरम्भ करता है। फिर वह आत्मा यही समझकर अपने सब व्यवहार करने लगता है कि मन आदि छओ इन्द्रियाँ और कान आदि माया-जनित अवयव सब मेरे ही है। जिस प्रकार कोई संन्यासी स्वप्नमें स्वयं ही इधर-उधर दौड़ने लगता तथा अनेक प्रकारके सांसारिक व्यवहार करने लगता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी स्वयं अपने आपको भूल जाता है और तब अपने आपको प्रकृति अथवा

और जहाँ व्यक्त तथा अव्यक्तका मेल होता है, वही अवस्था अक्षर पुरुष है। दूसरा जो क्षर पुरुष है वही इस विश्वके जाग्रति और स्वप्नके खेल खेलता है। जाग्रति और स्वप्नकी दोनो अवस्थाएँ जहाँसे उत्पन्न होती है और ब्रह्म-प्राप्तिकी अपेक्षा कुछ निम्न कोटिकी जो अवस्था है और जो अज्ञानकी गाढ़ निद्राके नामसे प्रसिद्ध है और, हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन यदि इसके उपरान्त स्वप्न और जाग्रतिवाली अवस्थाओंकी उत्पत्ति न हुई होती तो यथार्थतः जिस अवस्थाका नाम ब्राह्मी स्थिति रखा जाता, परन्तु जिसके आकाशमें प्रकृति और पुरुष ये दोनो मेघ उत्पन्न होते है, और जिसमें क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका स्वप्नाभास होता है, तात्पर्य यह कि अपनी शाखाओका प्रसार करनेवाले इस संसार-रूपी वृक्षका जो मूल है, उसीको इस अक्षर पुरुषका स्वरूप समझना चाहिए। परन्तु जब यह पूर्ण रूपसे आत्म-स्वरूपमें रहता है, तब इसे पुरुष क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि यह मायाके नगरमें सोया रहता है और इसी लिए पुरुष कहलाता है। इसी प्रकार विकारोंकी जो हलचल होती है, वह भी अज्ञानका ही एक प्रकार है। जिस अवस्थामें उस अज्ञानकी अनुभूति नही होती, वही इसकी सुषुप्तिवाली अवस्था है। इसी लिए यह स्वयं कभी नष्ट नही होता और ज्ञानके अतिरिक्त और किसी बातसे इसका नाश नही किया जा सकता। इसी लिए वेदान्तने महा-सिद्धान्तके प्रान्तमें इसकी "अक्षर" के नामसे प्रसिद्धि की है। सारांश यह कि जीव-रूपी कार्यका जो कारण है और मायाकी संगति जिसका लक्षण है, उसीको अक्षर पुरुष अर्थात् स्वयं चैतन्य ही समझना चाहिए।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

"अब इस विपरीत ज्ञानसे लोगोमें जाग्रति और स्वप्नकी जो दो अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, वह मूल गाढ़ अज्ञानमे लीन हो जाती हैं। और जब उस मूल अज्ञानका ज्ञानमें लोप हो जाता है और ज्ञान सामने आकर उपस्थित होता है, तब ज्ञान भी उसी प्रकार अज्ञानका नाश कर डालता है, जिस प्रकार अग्नि लकड़ीको जला देती है; और तब वह ज्ञान आत्म-वस्तुकी प्राप्ति कराके स्वयं भी उसी प्रकार अपने आपको नष्ट कर डालता है, जिस प्रकार लकड़ीको जलाकर अग्नि अन्तमे स्वयं भी नष्ट हो जाती है। और उस अवस्थामें ज्ञानके अतिरिक्त और जो कुछ बाकी रह जाता है, उसीको, हे अर्जुन, उत्तम पुरुष समझना चाहिए। पहले जो क्षर और अक्षर नामके दो पुरुष बतलाये गये हैं, अन्तमें यही सिद्धान्त आकर स्थिर होता है कि यह उन दोनोसे भिन्न एक तीसरा ही पुरुष है। हे अर्जुन, सुषुप्ति और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओसे भिन्न जाग्रत अवस्था होती है—जाग्रति इन दोनोसे अलग एक तीसरी ही अवस्थाको कहते हे। किरण और मृगजल दोनोसे भिन्न ही सूर्य-मंडलका विस्तार होता है। ठीक यही बात उत्तम पुरुषके सम्बन्धमे भी समझनी चाहिए—वह भी

क्षर और अक्षर दोनोसे भिन्न होता है। केवल इतना ही नही, बल्कि जिस प्रकार काठमे रहनेवाली अग्नि काठसे भिन्न होती है, उसी प्रकार यह उत्तम पुरुष भी क्षर और अक्षर दोनोसे भिन्न है। जिस प्रकार प्रलय-कालमे प्रलयका जल एक अनन्त रूप धारण कर लेता है और समस्त सीमाओको पार करके समस्त नदो और नदियो-को एक-रूप कर देता है, उसी प्रकार जिसके सामने स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रति तीनो अवस्थाओकी कही गन्ध भी बाकी नही रह जाती, जो समस्त अवस्थाओका उसी प्रकार लय कर देता है, जिस प्रकार प्रलय-काल अपने संहारक तेजसे दिन और रात दोनोको निगल जाता है और इसीलिए जिसमे कही द्वैत और अद्वैतका भान भी नही होता, उसीको उत्तम पुरुष समझना चाहिए। परन्तु परमात्माको भी केवल उसी अवस्थामे उत्तम पुरुष कहा जा सकता है, जब कि बिना उसमे मिले जीव-दशाका आश्रय लिया जाय। हे अर्जुन, पानीमे डूबनेकी बात तभी कही जा सकती है, जब मनुष्य स्वयं पानीमे न डूबे और किनारे पर खडा रहकर किसीको डूबते हुए देखे। ठीक इसी प्रकार वेद भी विवेकके किनारे पर खडा होकर इस पार और उस पारकी अथवा उत्तम और कनिष्ठकी बात कह सकते है। इसलिए वे क्षर और अक्षर दोनो पुरुषोको निम्न कोटिके मानकर और इन दोनोमे ऊपर रहनेवाले इस पुरुषको परमात्म-रूप कहते हैं। हे अर्जुन, इस प्रकार तुम यह बात ध्यानमे रखो कि "पर-मात्मा" शब्दसे पुरुषोत्तमका ही बोध कराया जाता है। यदि वास्तवमे कहा जाय तो जो ऐसी वस्तु है, जिसमे न बोलना ही बोलनेके समान होता है, कुछ न जानना ही जिसमे ज्ञान होता है और कुछ न होना ही जिसमें होना होता है, जिसमे सोऽहं-वाली भावना भी नही रह जाती, जिसमे कथन करनेवाला कथितके साथ और ज्ञाता ज्ञेयके साथ मिलकर एक रूप हो जाता है, जिसमे द्रष्टा और दृश्य दोनोका ही लय हो जाता है, वही वह उत्तम पुरुष है। बिम्ब और प्रतिबिम्बके बीचकी प्रभा यदि हमारे देखते देखते नष्ट हो जाय तो भी हमे यह नही कहना चाहिए कि वह प्रभा है ही नही अथवा नष्ट हो गई है। अथवा यदि घ्राणेन्द्रिय और फूलमे रहनेवाली सुगन्ध हमे दिखाई न देती हो तो हमारे लिए यह उचित नही है कि सुगन्ध बिलकुल है ही नही। ठीक इसी प्रकार यह कहना भी प्रमाण-सिद्ध नही है कि द्रष्टा और दृश्यका लोप हो जाने पर फिर कुछ भी बाकी नही रह जाता। और इसी लिए ऐसी अवस्थामे जो कुछ अनुभवमे आता है, उसीको उस उत्तम पुरुषका स्वरूप समझना चाहिए। जो प्रकाशित होनेके योग्य नही है, बल्कि प्रकाश है, जो नियमित नही किया जा सकता, बल्कि नियन्ता है, जो स्वत ही अवकाश बनकर फिर भी उसी अवकाशको व्याप्त करता है, जो नादका भी नाद, स्वादका भी स्वाद और आनन्दका भी आनन्द होता है, जो पुरुषोत्तम पूर्णताकी भी पूर्णता और विश्रान्तिकी भी विश्रान्ति है, जो सुखका भी सुख, तेजका भी तेज, और शून्यका भी शून्य है, जो विकासको भी पूर्ण करके बाकी बच रहता है, जो ग्रासको भी ग्रस लेता है, जो

लयको प्राप्त हो जाता है अथवा जिस प्रकार मिलावटका नाश होने पर सोना तौलमें कम हो जाता है अथवा चन्द्रमा जिस प्रकार पितरोको अमृतका आहार देता देता स्वयं क्षीण हो जाता है, ठीक उसी प्रकार आत्म-रूपका अनुभव करनेके लिए अपने प्राण, इन्द्रियो और शरीरको सुखा डालना ही, हे अर्जुन "तप" कहलाता है। अब तपके और भी अनेक प्रकार बतलाये जाते है। परन्तु जिस प्रकार हंस पानीको अलग करके अपनी चोचका दूध निकाल लेनेके काममें लगाता है, ठीक उसी प्रकार शरीर और जीवका संयोग होने पर उनमेंसे देह-भावको दूर हटाकर और जीव-भावको चुनकर अलग कर लेनेका काम जिस विवेकके द्वारा होता है, उस विवेकको सदा अपने अन्त करण मे जाग्रत रखना चाहिए। आत्म-विचार करते समय बुद्धि चक्करमें पड़ जाती है। उस समय जिस प्रकार जाग्रति होने पर निद्राका भी और साथ ही साथ स्वप्नका भी लोप हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जो पुरुष आत्म-दर्शनके लिए विवेकपूर्वक आचरण या व्यवहार करता है, हे अर्जुन, उसीसे इस "तप" का साधन है। अब जिस प्रकार शिशुके हितके लिए ही माताके स्तनमे दूध होता है अथवा भूत मात्रके नाना प्रकारके होने पर भी जिस प्रकार चैतन्यका सबमे समान रूपसे निवास होता है। उसी प्रकार प्राणी मात्रके साथ मधुर और सौजन्यपूर्ण व्यवहार करना ही "आर्जव" है।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

"ठीक इसी प्रकार जगतको सुखी करनेके उद्देश्यसे ही शारीरिक, वाचिक और मानसिक व्यवहार करना "अहिंसा" कहलाता है। मोगरेकी कली जैसे बहुत ही छोटी होने पर भी कोमल होती है अथवा चन्द्रमाका प्रकाश जैसे तेजस्वी होने पर भी शीतल होता है, ठीक उसी प्रकार जो भाषण सूक्ष्म और तेजस्वी होने पर भी कोमल तथा शीतल होता है, वही सत्य है। जब ऐसी औषधि कही न मिलती हो जिसके देखनेसे ही रोग नष्ट हो जाता है और जो खानेमे कड़ुवी भी न लगे, तो फिर ऐसी वस्तु भला जहाँसे मिल सकती है जिसके साथ सत्यकी ठीक ठीक और उपयुक्त उपमा दी जा सके? परन्तु यदि पानीका छीटा आँख पर डाला जाय, तो वह कोमलताके कारण आँखको तनिक भी कष्ट या हानि नही पहुँचाता, परन्तु वह पानी कठिन से कठिन पत्थरोको भी तोडकर अपना मार्ग निकाल ही लेता है। ठीक इसी प्रकार भ्रम और मोहको तोड़नेके लिए जो लोहेकी तरह कडा होता है, परन्तु कानोंको माधुर्यसे भी मधुर लगता है, जिसे सुननेके समय ऐसा जान पडता है कि कान मानो घटाघट उसका प्राशन करते चले जा रहे है, परन्तु जो अपनी सत्यताकी सामर्थ्यसे ब्रह्म तत्वका भी स्पष्टीकरण करता है, तात्पर्य यह कि जो प्रिय और मधुर होने पर भी किसीको धोखेमे नही डालता और सत्य होने पर भी किसीको बुरा नही लगता—और नहीं तो पारधीका गाना कानोको तो मधुर लगता है, पर हरिणीके लिए वह प्राण-घातक होता है अथवा अग्नि अपना शुद्धिकरणका काम तो बहुत अच्छी तरह करती है, परन्तु ऐसा करते समय वह जलाकर राख भी कर देती है—ठीक इसी प्रकार जो वाणी कानोको तो मधुर लगती है, परंतु अपने

बहुतसे भी वहुत अधिक है और जो विना अपना स्वरूप छोड़े और बिना विश्वमें मिले ही उसी प्रकार विश्वाभासका आधार होता है, जिस प्रकार सीपी चाँदी न होने पर भी अज्ञानियोको चाँदीका प्रत्यय करा देती है, अथवा सोना विना अपना सोनापन छिपाये ही अलंकारोंका रूप धारण करता है अथवा जो इस भासमान होनेवाले जगतका उसी प्रकार स्वयं ही आधार बना है, जिस प्रकार पानी और उसमे उत्पन्न होनेवाली लहरें एक होती है और उनमे कोई भेद नही होता वह वही उत्तम पुरुप है। पानीमें पड़नेवाले अपने प्रतिविम्बके संकोच और विकासका मुख्य कारण जिस प्रकार स्वयं चन्द्रमाका विम्ब ही होता है, उसी प्रकार यह भी विश्वके रूपमें कुछ कुछ प्रकट होता है। परन्तु हाँ, जव विश्वका लोप हो जाता है, तव स्वयं इसका लोप नही होता। जिस प्रकार रात और दिनके कारण सूर्यमें कभी कही दो प्रकारका भाव नहीं उत्पन्न होता, जिसका किसी स्थान पर दूसरे किसीके साथ व्यय नहीं हो सकता, जिसके साथ तुलना करनेके लिए स्वयं उसके सिवा और कोई नही है, हे अर्जुन, जो स्वयं ही अपने आपको प्रकाशित करता है, और अधिक कहाँ तक कहा जाय, जिसमें दूसरी कोई बात या और कुछ है ही नहीं, वही मैं उपाधिहीन क्षर तथा अक्षरसे श्रेष्ठ और एकमेवाद्वितीय हूँ। और इसी लिए वेद तथा लोग मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१९॥

परन्तु इन बातोका यथेष्ट विस्तार हो चुका। हे अर्जुन, जिन लोगोके लिए ज्ञान रूपी सूर्यका उदय हो चुका है और इसीलिए जिन्होने यह समझ लिया है कि मैं पुरुषोत्तम हूँ, ज्ञानकी जाग्रति होने पर जिन्हे यह दृश्य जगत् स्वप्नके समान मिथ्या ज्ञान पड़ने लगा है अथवा जो मेरा सत्य ज्ञान हो जानेके कारण मिथ्या प्रपंचोके फेरमें उसी प्रकार दूर रहते है, जिस प्रकार माला हाथमें ले लेने पर उसके कारण होने-वाला सर्पका आभास तत्काल दूर हो जाता है, जिन्होने मेरा सच्चा स्वरूप जानकर भेद-भावका उसी प्रकार परित्याग कर दिया है, जिस प्रकार वह पुरुष अलंकारत्वको मिथ्या कहता है जो यह जानता है कि अलंकार सोनेका है, जो यह कहता है कि मैं ही सर्वव्यापक, अद्वितीय और स्वयंसिद्ध सच्चिदानन्द हूँ, जो स्वयं अपने आपको मुझसे भिन्न नही समझता और जो मेरा आत्म-स्वरूप पहचानता है, उसीके सम्वन्ध-में यह समझना चाहिए कि उसने सब कुछ जान लिया है, परन्तु यह कहना भी यथेष्ट नही है; क्योकि शब्दोका विषय होनेवाला जो द्वैत है, वह उसमें विलकुल वाकी नही रह जाता। इसलिए हे अर्जुन, ऐसा ही पुरुष मेरी भक्ति करनेके योग्य होता है। देखो, आकाशमें अच्छी तरह से मिल जानेके लिए केवल आकाश ही उपयुक्त होता है। जिस प्रकार क्षीरसागरका आतिथ्य केवल क्षीरसागर ही कर सकता है अथवा अमृत ही अमृतमें मिलकर एक-रस हो सकता है अथवा चोखा सोना

अर्थसे कलेजेको दो टुकड़े कर देती है, उसे कभी सुन्दर नहीं कहा जा सकता। उसे तो दुष्टा राक्षसी ही कहना ठीक है। परन्तु बालकके कोई अनिष्ट और लज्जाजनक आचरण करने पर जो ऊपरसे तो कठोर क्रोध दिखलाती है, परन्तु उसका लालन पालन करनेमें जो फूलोसे भी बढ़कर कोमल होती है, उस माताके स्वरूपकी तरह जो वचन कानोके लिए अत्यन्त सुखद न होने पर भी अन्तमें ठीक और अच्छा सिद्ध होता है और जो दुष्ट विकारोसे अलिप्त होता है, उस वचनको ही इस प्रकरण में "सत्य" समझना चाहिए। पत्थरमें चाहे कितना ही पानी क्यो न सीचा जाय, परन्तु उसमें कभी अंकुर नही निकलता अथवा मक्खनको चाहे कितना ही क्यों न मथा जाय, पर उसमेंसे कभी माँड़ नही निकलती अथवा यदि साँपकी केचुली पर लात मारी जाय तो भी वह केंचुली जिस प्रकार कभी काटनेके लिए फन नहीं उठाती अथवा वसन्त-ऋतुकी पूरी बहार होने पर भी आकाशमे जिस प्रकार कभी फल नहीं फलते अथवा रम्भाके स्वरूप और लावण्यसे शुकदेवजीके अन्त.करणमें जिस प्रकार कभी काम-विकारका संचार नही हुआ था अथवा जो अग्नि बिलकुल बुझ जाती है, वह जिस प्रकार घी डालनेसे फिर नही जलती, ठीक उसी प्रकार यदि कितनी ही ऐसी बातें क्यों न कहें, जिन्हें सुनते ही अनजान बालकको भी क्रोध चढ़ आवे, तो भी, हे अर्जुन, जिस प्रकार स्वयं ब्रह्माके पैरों पर पड़नेसे भी मरा हुआ जीव उठकर खड़ा नही हो सकता, ठीक उसी प्रकारकी मनकी जो अवस्था होती है और जिसमें रोग कभी उत्पन्न ही नही होता, उसीको "अक्रोध" कहते है।'; यही सब बाते भगवान लक्ष्मीपतिने उस समय कही थी। इसके उपरान्त यज्ञ-भोक्ता भगवान श्रीकृष्ण कहते है—"अब यदि मिट्टीका त्याग किया जाय तो घटका, तन्तुओका त्याग किया जाय तो वस्त्रका, बीजका त्याग किया जाय तो वट वृक्षका, भीतका त्याग किया जाय तो सारे चित्रका, निद्राका त्याग किया जाय तो उसमें दिखाई देनेवाली सभी बातोका, जलका त्याग किया जाय तो तरंगोका, वर्षा-ऋतुका त्याग किया जाय तो मेघोका और धनका त्याग किया जाय तो विषयोका उपभोगका आपसे आप त्याग हो जाता है। ठीक इसी प्रकार बुद्धिमान लोग देहाभिमानको छोडकर प्रपंचके समस्त विषयोके दूर हटा देनेको ही त्याग कहते हैं।" यह बात समझकर भाग्यवान अर्जुनने पूछा—हे "महाराज, अब आप मुझे शान्तिके लक्षण स्पष्ट रूपसे बतलावें।" इस पर देवने कहा—"बहुत उत्तम बात है। अब तुम अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो। ज्ञेयको नष्ट करके जब ज्ञाता और ज्ञान भी लयको प्राप्त हो जाते हैं, तब जो स्थिति उत्पन्न होती है, उसीको "शान्ति" कहना चाहिए। जिस प्रकार प्रलय कालके जलकी बाढ़ सारे विश्वका नाम-निशान भी मिटा देती हैं और चारो ओर केवल वही जल पूरी तरहसे भरा रहता है और इस प्रकारका भेद-दर्शक भाषा-व्यवहार हो ही नहीं सकता कि यह नदीका उद्गम है, यह प्रवाह है और यह समुद्र है और जिधर देखो, उधर एक-सा पानी ही फैला हुआ दिखाई देता है, परन्तु उस समय भी क्या उसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उससे भिन्न कोई रहता है? कोई नही रहता। ठीक इसी प्रकार जब ज्ञेयके साथ आलिंगन होने पर तन्मयता हो जाती है, तब ज्ञातृत्वका भी नाश हो जाता है, फिर उस समय, हे

जब चोखे सोनेमें मिलाया जाता है, तब उन दोनोंका मिश्रण भी चोखा सोना ही होता है, ठीक उसी प्रकार जो मद्रूप होता है, वही मेरी भक्ति कर सकता है। देखो, यदि नदी सागरमें मिलकर एक रूप न हो सकती तो वह भला उसमे कैसे मिल सकती ? इसी प्रकार जो मेरे स्वरूपमे मिलकर ऐक्य नही प्राप्त कर सकता, वह मेरे साथ भक्तिका सम्बन्ध कैसे स्थापित कर सकता है ? तरंग जिस प्रकार सागरमें सभी तरहसे तन्मय हो जाती है, उसी प्रकार हे अर्जुन, जो अनन्य होकर मेरा भजन करता है, उसकी भक्तिका मेरे साथ जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्धकी उपमा प्रभा और सूर्यसे ही अच्छी तरह दी जा सकती है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

"इस प्रकार इस अध्यायके आरम्भसे यहाँ तक समस्त शास्त्रोसे सम्मत महातत्व प्रतिपादित किया गया है, जो कमलो की सुगन्धके समान, उपनिषदोको सुगन्धित करता है और जो शब्द-ब्रह्मके आलोडनसे प्राप्त होनेवाला अर्थ-सर्वस्व है, वह श्रीमान् व्यास ऋषीकी बुद्धिकी सहायतासे निकाला हुआ सार मैंने आप लोगोकी सेवामे उपस्थित किया है। यह ज्ञान रूपी अमृत की गंगा है अथवा आनन्द-रूपी चन्द्रमाकी सत्रहवी कला है अथवा विचार-रूपी क्षीर-सागरसे निकली हुई नई लक्ष्मी ही है। इसी लिए वह अपने पद (शब्द-समूह) वर्ण (अक्षर) और अर्थ-रूपी जीवनसे मेरे सिवा और कुछ जानती ही नही। इस लक्ष्मीके सामने क्षर और अक्षर दोनो ही खडे रहते हैं, परन्तु यह भूलकर भी उनकी ओर नही देखती और उसने अपना सर्वस्व मुझ पुरुपोत्तमको ही अर्पित कर दिया है। इसी लिए इस संसारमे यह गीता मेरी (अर्थात् आत्माकी) एक-निष्ट पतिव्रता है। और उसीका श्रवण आज तुमने किया है। यह गीता-शास्त्र-मुखसे कहने के योग्य नही है, परन्तु ससारको जीतनेवाला यही एक शस्त्र है। जिन मन्त्राक्षरोसे आत्माका स्फुरण होता है, वे इसी गीताके है। परन्तु हे अर्जुन, आज जो मैंने तुमको यह शास्त्र बतलाया है, सो यह कृत्य कैसा हुआ है ? आज मैं मानो गुप्त धनका सग्रह तुम्हारे सामने खोल बैठा हूँ। चैतन्य रूपी शंकरके मस्तक पर जो गीता रूपी गगा मैंने छिपा रखी थी, हे अर्जुन, उसे आस्था पूर्वक बाहर निकालनेवाले तुम आज दूसरे गौतम हुए हो। ठीक तरहसे मेरा शुद्ध स्वरूप दिखलानेके लिए, हे अर्जुन, आज तुम मेरे सामने रखे हुए दर्पणके समान ही हो रहे हो। अथवा जिस प्रकार चन्द्रमा और नक्षत्रोसे भरा हुआ आकाश, सागर अपने जलमें प्रतिबिम्ब रूपसे ले आता है, ठीक उसी प्रकार आज तुमने गीताके सहित मुझे भी अपने अन्त करणमे प्रतिबिम्ब कर लिया है। हे अर्जुन, तुममे तीनों गुणोका जो मल था, वह दूर हो गया और तुम गीताके सहित मेरे निवास-स्थान बन गये हो। परन्तु इस गीताका मैं क्या वर्णन करूँ। जो मेरी इस ज्ञान-रूपी लताको जानता है, वह समस्त मोहोसे मुक्त हो जाता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार अमृतरूपी नदीका सेवन करनेसे वह समस्त रोगोका परिहार करके अमरता प्रदान करती है और मनुष्यको सब प्रकारसे सुखी करती है, ठीक उसी प्रकार इस गीताका

अर्जुन, जो कुछ बाकी बच जाता है, वही शान्तिका लक्षण है। अब यह सुनो कि अपैशुन्य किसे कहते हैं। जिस समय रोगी किसी रोगसे बहुत अधिक कष्ट पाता है, उस समय उसे अच्छा करनेकी चिन्तामे सुविज्ञ वैद्य यह नही देखता कि यह रोगी मेरा शत्रु है। अथवा जब कीचड में फँसी हुई गाय दिखाई देती है, तब देखनेवाला इस बातका विचार नही करता कि वह दूध देती है या नही, और वह उस गायका क्लेश देखकर ही विकल हो जाता है। अथवा जब कभी कोई मनुष्य जलमे डूबने लगता है, तब विज्ञ मनुष्य इस बातका विचार करने नही बैठता कि यह ब्राह्मण है या अन्त्यज है और यही समझता है कि इसके प्राण बचाना ही मेरा कर्तव्य है। अथवा जब कभी कोई चांडाल दैव योगसे जंगलमे मिलनेवाली स्त्रीको वस्त्र-हीन करके और उसके कपड़े छीनकर उसे छोड़ देता है, तब सभ्य मनुष्य तब तक उस स्त्री पर दृष्टि नही डालता, जब तक वह उसे फिरसे वस्त्र नही पहना लेता। ठीक इसी प्रकार जो लोग अज्ञान और भ्रम आदिके कारण अथवा पूर्व जन्मोके कठोर संचित कर्मोके कारण सब प्रकारके निन्दनीय मार्गोमे लगे रहते है, उन्हे ये अपना शारीरिक बल देकर उन्हे सालनेवाले दु खोको विस्मृत करा देते है, हे अर्जुन, दूसरेके दोषोको पहले अपनी दृष्टि या कटाक्षसे दूर करके तब ये उन्हे अच्छी तरह देखने लगते हैं। जिस प्रकार पहले देवताकी पूजा करके तब उनका ध्यान किया जाता है अथवा पहले खेत जोतकर और उसमे बीज बोकर तब उनकी रखवाली करने जाते हैं, अथवा अतिथि-को पहले आदर-सत्कारसे सन्तुष्ट करके तब उसका आशीर्वाद लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार पहले अपने गुणोसे दूसरोकी त्रुटियाँ पूरी करनी चाहिएँ और तब उसकी ओर सूक्ष्म दृष्टिसे देखना चाहिए। केवल इतना ही नही, वे कभी किसीके मर्म पर आघात नही करते, कभी किसीको कुकर्मोमे प्रवृत्त नही करते और कभी किसीको दोष नही लगाते। बस उनका आचरण या व्यवहार इसी प्रकारका होता है। इसके अतिरिक्त उनका व्यवहार ऐसा होता है कि यदि कोई गिर गड़ा हो या यदि किसीका पतन हो गया हो, तो वे किसी न किसी उपायसे उसे सँभाल लेते और उठाकर खडा कर देते हैं; परन्तु किसीका मर्म-भेद करनेका विचार कभी उनके मनमे आता ही नही। तात्पर्य यह कि, हे अर्जुन, बडों के लिए वे कभी दूसरोको तुच्छ मानने या बनानेके लिए तैयार नही होते और न उनकी दृष्टि कभी दूसरोके दोष ही ढूँढने बैठती है। हे अर्जुन, बस इसी प्रकारके व्यवहारको "अपैशुन्य" कहते है। और इसमे कुछ भी सन्देह नही कि मोक्षके मार्ग पर यह एक विश्रान्तिका मुख्य स्थल है। अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि 'दया" किसे कहते हैं। जिस प्रकार पूर्णिमा-के चन्द्रमाकी प्रभा सारे विश्वको समान रूपसे शीतलता प्रदान करती है और इस प्रकारका पक्ति-भेद कभी नही करती कि यह बडा है वह छोटा है, उसी प्रकार जिनमे दया होती है, वे दु खितोके कष्टोका दयालुतापूर्वक परिहार करते समय कभी इस बातका विचार अपने मनमे नही आने देते कि यह उत्तम है और वह अधम है। देखो, संसारमे पानी सरीखा पदार्थ भी स्वयं नष्ट हो जाता है। परन्तु मरती हुई वनस्पतियोको वह हरा-भरा कर देता है। ठीक इसी प्रकार दयालु पुरुषके मनमे दूसरोके दुःखको देखकर करुणाका प्रबल प्रभाव आविर्भाव होता है कि उनके

ज्ञान हो जाने पर यदि मोह नष्ट हो जाता हो तो आश्चर्यकी कौन-सी बात है ? इसमें कुछ भी सन्देह नही कि यह गीता जो आत्म-ज्ञान करा देती है, उससे मनुष्यको आत्म स्थिति भी प्राप्त होती है। और जब मनुष्यको वह आत्म-ज्ञान हो जाता है, तब उसके कर्म भी यह समझकर बड़े आनन्दसे लयको प्राप्त हो जाते हैं कि अब इस ज्ञानके कारण हमारी आयु भी पूरी हो गई। जिस प्रकार खोई हुई वस्तु मिल जाने पर उसे ढूँढनेका कार्य भी समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार जब कर्म-रूपी मन्दिर पर ज्ञानका कलस चढ़ता है, तब कर्म भी आपसे आप बन्द हो जाते हैं। इसी लिए ज्ञानी मनुष्यके करनेका और कोई कर्म बाकी नही रह जाता।" बस यही सब बातें अनाथोंके पृष्ठ-पोषक भगवान श्रीकृष्णने कही। श्रीकृष्णके इस वचनामृतसे अर्जुनका अन्तःकरण पूरी तरहसे भर गया और वह अमृत उस अन्त.करणसे बाहर निकलकर प्रवाहित होने लगा; और वही अमृत व्यासदेवके प्रसादसे संजयको प्राप्त हुआ था। संजयने वही अमृत राजा धृतराष्ट्रके सामने प्राशनके लिए उपस्थित किया था और इसी अमृतकी कृपासे मरण समयमे धृतराष्ट्रका परिणाम अच्छा हुआ था। यदि साधारणतः गीताके श्रवणके समय कभी कभी यह जान पड़े कि कोई श्रोता अनधिकारी या अपात्र है, तो भी अन्तमें उसके लिए भी यह गीता उपयोगी ही होती है। यदि द्राक्षाकी बेलोंकी जड़में दूध डाला जाय तो साधारणत' यही जान पड़ता है कि वह दूध व्यर्थ गया। परन्तु जब उन बेलोमें द्राक्षा-फल लगते हैं, तब उनकी जड़ोमें डाले हुए दूधसे दूनी प्राप्ति या लाभ होता है। बस इसी न्यायसे भगवानके मुखसे निकले हुए वचन संजयने बहुत उत्साहसे धृतराष्ट्रको सुनाये थे; और आगे चलकर उसी वचनामृतकी कृपासे वह अन्धा मरनेके समय सुखी हुआ था। श्रीकृष्णका वही वचनामृत मैंने देशी भाषामें उल्टी सीधी रीतिसे और अपनी बुद्धि तथा सामर्थ्यके अनुसार यहाँ सब लोगोंके सामने रखा है। यदि सेवतीके फूलका रूप देखा जाय तो उसमे कोई ऐसी बात नही दिखाई देती जो अ-रसिकोंके लिए विशेष रूपसे मोहक हो। परन्तु जो लोग भ्रमरोके समान रसज्ञ होते है, वे उन फूलोके रसोंका आस्वादन करना जानते है और मनमानी तरहसे उन्हे लूटते है। इसीलिए जो सिद्धान्त प्रमाणकी कसौटी पर ठीक उतरते हो, उन्हे तो आप लोग स्वीकृत कर लें और जिनमें किसी प्रकारकी त्रुटि या न्यूनता हो, उन्हे मेरे ही पास रहने दे, क्योंकि ठीक ठीक समझ न होना मुझ सरीखे बालकोंका स्वभाव ही है बालक चाहे अज्ञान ही क्यो न हो, परन्तु उसे देखते ही माता-पिताको इतना अधिक आनन्द होता है, जो उनके अन्त.करणमे नही समा सकता और वे उस बालकका लाड करके बहुत ही सुखी होते हैं। ठीक इसी प्रकार आप सब सन्तजन मेरे मायाके समान हैं। आप लोगोसे भेंट होने पर मैं बहुत लाड़की बातें करता हूँ और इस गीता ग्रन्थका व्याख्यान भी उन्ही लाड़ोका एक उदाहरण है। अब इस ज्ञानदेवकी यही प्रार्थना है कि हे विश्व-स्वरूप मेरे गुरुराज श्रीनिवृत्तिनाथ जी, आप मेरी यह वाणी-रूपी सेवा स्वीकृत करें।

दु.खोंका शमन करनेके लिए यदि वे अपना सर्वस्व भी त्याग दें तो वह उन्हें थोड़ा ही जान पडता है । तब बहते हुए जलको मार्गमे कोई गड्ढा आदि मिलता है, तब वह उसे बिना भरे एक कदम भी आगे नही बढता । ठीक इसी प्रकार दयालु पुरुष भी अपने सामने आनेवाले दीन पुरुषको सन्तुष्ट करके ही आगे पैर बढ़ाता है। जिस प्रकार पैरमे काँटा चुभने पर उसकी पीड़ाके चिह्न चेहरे पर प्रकट होते हे; उसी प्रकार दूसरोके दुःख देखकर वह भी अपने शरीरमे कष्ट बोध करता है । जिस प्रकार पैरोंमें ठंढक पहुँचने पर उसकी तरावट आँखो तकमें जान पड़ती है, उसी प्रकार वह भी दूसरोको सुखी देखकर स्वयं सुखी होता है । तात्पर्य यह कि जिस प्रकार प्यासेको सुखी करनेके लिए संसारमे जलकी सृष्टि हुई है, उसी प्रकार दु.खितो-के कल्याणके लिए ही जिसका जीवन होता है, हे अर्जुन, वह पुरुष मूर्त्तिमान दया ही होता है । मैं जन्मसे ही उसका ऋणी होता हूँ । अब भूतेष्वलोलुप्त्वंके गुणकी व्याख्या सुनो । कमल चाहे कितना ही हृदयसे सूर्यकी ओर अनुरक्त क्यो न हो, परन्तु फिर भी सूर्य कभी उसकी सुगन्धको स्पर्श नही करता । अथवा वसन्तके मार्गमे चाहे कितनी ही अधिक वन-श्री क्यो न हो, तो भी वह उस वन-श्रीको स्वीकार नही करता और बराबर आगे बढ़ता जाता है । और फिर इतनी सब बाते किस लिए कही जायँ ? यदि समस्त महासिद्धियोके साथ स्वयं लक्ष्मी ही क्यों न पास आ जाय, परन्तु फिर भी महा-विष्णुके लिए वह किसी गिनती में नही होती । ठीक इसी प्रकार लौकिक अथवा स्वर्गीय विषय-सुख चाहे उसकी इच्छाके दास ही क्यों न बन जायँ, परन्तु फिर भी जो अलोलुप होता है, वह कभी उन सुखोको भोगनेका विचार भी अपने मनमें नही करता । और अधिक क्या कहा जाय जिस अवस्थामे जीवको किस प्रकार विषयोकी अभिलाषा नही रह जाती, उसी अवस्थाको "अलो-लुप्त्व" नामक गुणका लक्षण समझना चाहिये । अब मैं "मार्दव" का वर्णन करता हूँ, सुनो । मधुमक्खियोके लिए जैसे शहदका छत्ता अथवा जलचरोके लिए जल अथवा पक्षियोके लिए यह खुला आकाश अथवा बालकके लिए माताका प्रेम अथवा वसन्तके स्पर्शसे कोमल होनेवाली मलय वायु अथवा आँखोके लिए प्रियजनोके दर्शन अथवा अपने बच्चोके लिए जिस प्रकार कछुई की दृष्टि होती है, उसी प्रकार मार्दव गुणवाले पुरुषका भूत मात्रके साथ बहुत ही मृदु तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार होता है । जो कपूर स्पर्शमे अत्यन्त कोमल, चखनेमे अत्यन्त स्वादिष्ट, नाकके लिए अत्यन्त सुगन्धित और देखनेमें अत्यन्त निर्मल होता है, वह जितना चाहो, उतना मिल जाता है । वह यदि विषाक्त न होता और उसकी विषाक्तता बीचमे बाधक न होती, तो वह अपनी मधुरता और निर्मलताके कारण मार्दव गुणसे युक्त पुरुषकी कोमलताकी बराबर कर सकता । आकाश जिस प्रकार महाभूतोको भी अपने उदरमे रखता है और अणु-परमाणुओमें भी समाया रहता है, और विश्वके अनुरूप ही अपना आकार भी बना लेता है, हे अर्जुन, मैं और अधिक क्या कहूँ, ठीक उसी आकाशकी भाँति सारे विश्वके जीवनके सारी सृष्टिके प्राणोसे जीवित रहनेको ही मैं मार्दव कहता हूँ । अब मैं गुण की व्याख्या करता हूँ । जिस प्रकार पराजय होने पर कोई राजा मारे लज्जाके

सोलहवाँ अध्याय

जगत् रूपी भासको नष्ट करके अद्वैत-रूपी कमलको विकसित करनेवाला यह श्री सद्गुरु-रूपी अद्भुत सूर्य उदित हुआ है और अब मैं इसकी वन्दना करता हूँ। जो सूर्य अज्ञान-रूपी रात्रिका अन्त करके और ज्ञान तथा अज्ञान रूपी प्रकाशको नष्ट करके ज्ञानी पुरुषोको आत्म-बोधका शुभ दिवस दिखलाता है, जिस सूर्यके प्रभावसे प्रभात होते ही जीव-रूपी पक्षियोको आत्म-ज्ञानकी दृष्टि प्राप्त होती है और वे शरीर-रूपी घोसला छोड़कर बाहर निकल जाते है, जिस सूर्यका उदय होनेके कारण वासनात्मक शरीररूपी कमलके कोषमें बन्द पडा हुआ चैतन्य-रूपी भ्रमर एक दमसे बन्धन-मुक्त हो जाता है, भेद-भावनाकी नदीके दोनो तटो पर शब्दोके बखेडेमें फँसकर और पारस्परिक वियोगके कारण पागल होकर आक्रोश करनेवाले बुद्धि-रूपी चक्रवाक पक्षियोके जोडेको पूर्ण एकताका लाभ करा देता है, जो सूर्य चैतन्य-रूपी आकाशको उसी प्रकार प्रकाशित करता है, जिस प्रकार दीपक घरको प्रकाशित करता है, जिस सूर्यके उदित होते ही भेद-बुद्धिका अन्धकारपूर्ण चोरीका समय समाप्त हो जाता है और योग-मार्गके यात्री आत्म-प्रत्ययके मार्ग पर चलने लगते है, जिस सूर्यकी विवेक-रूपी किरणोका स्पर्श होते ही ज्ञान-रूपी सूर्यकान्त मणिसे तेजकी चिनगारियाँ बाहर निकलकर संसार-रूपी वनको भस्म कर देती है, जिस सूर्यके किरण-जालके कठोर होकर आत्म-स्वरूपकी भूमि पर स्थिर होते ही महासिद्धिके मृगजलकी बाढ आ जाती है, परन्तु इसके उपरान्त जो सूर्य आत्म बोधके मस्तक पर पहुँचकर ब्रह्म-भावके मध्याह्नमे तपने लगता है और जिसके इस प्रकार तपनेसे आत्माकी भ्रान्ति-रूपी छाया उसीके नीचे दबकर छिप जाती है और उस समय वहाँ मायाकी रात्रि ही न होनेके कारण विश्वके भास और विपरीत ज्ञानकी निद्राका कोई ठिकाना या आश्रय ही नही मिलता और इसलिए अद्वैत ज्ञान-रूपी नगरमे चारो ओर आनन्द ही आनन्द भर जाता है और सुखानुभवके लेन-देनकी मन्दी हो जाती है, तात्पर्य यह कि जिस सूर्यके प्रकाशसे इस प्रकारके कैवल्य-मुक्तिके शुभ दिवसका निरन्तर लाभ होता है जो सूर्य आत्म-भाव रूपी आकाशका स्वामी है और जो सूर्य उदित होते ही पूर्व आदि दसो दिशाओके सहित उदय और अस्तका भी नाम-निशान मिटा देता है, जो ज्ञान और अज्ञान दोनोको नष्ट करके उनमे छिपा हुआ आत्म-तत्व अत्यन्त स्पष्ट रूपसे प्रकट कर देता है, और अधिक क्या कहा जाय, इस प्रकार जो सूर्य एक विलक्षण और नया प्रात काल ला उपस्थित करता है, दिन और रातके प्रान्तोके उस पार रहनेवाले उस ज्ञान-सूर्यकी ओर देखनेमे भला कौन समर्थ हो सकता है? जो प्रकाशित होनेके योग्य वस्तुओके विना ही प्रकाशका गोला है, उन ज्ञान-मार्त्तंड श्री निवृत्तिनाथकी मैं वार-वार वन्दना करता हूँ, क्योकि यदि

मुँह नही दिखला सकता अथवा अपमानके कारण जिस प्रकार मानी पुरुष निस्तेज हो जाता है अथवा जिस प्रकार भूलसे किसी चांडालके घरमें जा पहुँचने पर किसी श्रेष्ठ संन्यासी को बहुत अधिक लज्जा जान पडती है अथवा रण-भूमिसे क्षत्रियका भाग निकलना जिस प्रकार लज्जाजनक होता है और उसे कोई सहन नही कर सकता अथवा महापतिव्रताके लिए जिस प्रकार वैधव्यका आमन्त्रण परम दुःख-कारक और असह्य होता है अथवा जिस प्रकार किसी सुन्दर पुरुषके शरीरमे कोढ़ होने पर अथवा किसी प्रतिष्ठित पुरुष पर व्यर्थ ही कोई लांछन लगने पर मारे लज्जाके उसके प्राणो पर संकट आ बनता है, उसी प्रकार इस साढे तीन हाथके शरीरमे बन्दी होकर बार बार जन्म लेना और मरना और गर्भाशयके विवरके साँचेमे रक्त, मूत्र और रसका पुतला बनकर रहना उसके लिए अत्यन्त लज्जाजनक होता है। सारांश यह कि देहके बन्धनमे पडकर नाम-रूपात्मक होनेसे बढकर लज्जाजनक और कोई बात उसके लिए हो ही नही सकती। इस प्रकार इस घृणित शरीरके प्रति जो घृणा उत्पन्न होती है, उसीको "लज्जा" समझना चाहिए। परन्तु यह लज्जा केवल निर्मल पुरुषोको ही जान पडती है, दूसरे निर्लज्ज लोगोको तो यह शरीर बहुत ही अच्छा लगता है। अब 'अचापल्य" गुण के लक्षण सुनों। जिस प्रकार कठपुतलियोको नचानेवाली डोरीके टूट जानेसे उन कठपुतलियोका चलना-फिरना आदि बन्द हो जाता है, उसी प्रकार योगका साधन करनेसे कर्मेन्द्रियोकी गति कुण्ठित हो जाती है। अथवा जिस प्रकार सूर्य अस्त होने पर उसकी किरणोका जाल भी छिप जाता है, उसी प्रकार मनका निग्रह करनेसे इन्द्रियाँ भी पूरी तरह दब जाती है। इस प्रकार मनका नियमन करने और योगका साधन करनेसे दसो इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं, और इसी अवस्थाको "अचापल्य" कहते हैं।

तेज. क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

"यदि ईश्वर-प्राप्तिके लिए ज्ञानके मार्गमे पैर रखते समय मनमे दृढ निश्चय हो गया हो तो फिर बलकी कमी नही होती। एक तो मरना यों ही भयंकर होता है, तिस पर अग्निमे जलकर मरना तो और भी अधिक भयंकर होता है। लेकिन इतना होने पर भी पतिव्रता उस जलकर मरनेकी भी परवाह नही करती। ठीक इसी प्रकार आत्म-प्राप्तिकी अग्निसे विषय-रूपी विपको जीव जलाकर निकाल डालता है और तब शून्यकी ओर जाने वाले योग-साधनके विकट मार्ग पर जल्दी आगे बढने लगता है। फिर किसी प्रकारका निषेध उसके मार्गमे बाधक नही होता। न तो वह विधिको ही मानता है और न महासिद्धियोके मोहमे ही पड़ता है। इस प्रकार स्वयं ही अपनी आन्तरिक प्रेरणासे ईश्वरकी ओर बढनेको "आध्यात्मिक तेज' कहते है। यदि मनुष्य मे इस प्रकारका गर्व न हो कि समस्त सहनशीलोमे एक मैं ही श्रेष्ठ हूँ, तो इसीको "क्षमा" समझना चाहिए। शरीर पर हजारो रोम होते है, पर उनका भार सहन करने पर भी शरीरको कभी उनका भान भी नही होता। यदि इन्द्रियाँ वशमे न रहकर कुमार्गमे लग जायँ अथवा शरीरमे छिपा हुआ कोई पुराना रोग एक दमसे

मैं शब्दोंके द्वारा उनकी स्तुति करने लगूँ तो मुझे अपनी वाणीकी दुर्बलताका ही पता चलता है। देवकी स्तुति तो तभी अच्छी तरहसे की जा सकती है, जब देवकी महिमा अन्तःकरणमें भली-भाँति अंकित हो और जिस वस्तुकी स्तुति की जाय, वह वस्तु और बुद्धि दोनो मिलकर एक-जीव हो जाय। जिसका ज्ञान उसी समय होता है, जब कि नाम-रूपात्मक वस्तुओंका ज्ञान समूल नष्ट हो जाय, जिसका वर्णन मौनके आलिंगनमें ही हो सकता है और जिसका पता स्वयं लयको प्राप्त होनेवाले जीवको ही अनुभवसे चलता है, जिन गुरुराजके लक्षण कहते कहते परा वाणीके सहित वैखरी वाणी भी पश्यन्ती और मध्यमा वाणियोंके गर्भमें घुसकर वही लयको प्राप्त हो जाती है, उन आप गुरुराजको मैं अपने मनमें अपने लिए सेवक भावकी कल्पना करके शाब्दिक स्तोत्रके साजसे सज्जित कर रहा हूँ। यदि मैं यह कहूँ कि आप इस सज्जाको सदय होकर ग्रहण करे तो इस प्रकारका कथन भी अद्वैत-आनन्दमे न्यूनता लानेके समान ही होगा। परन्तु जिस प्रकार अमृत-सागरके दर्शन होने पर कोई दरिद्र भिखारी भौचक्का हो जाता है और अपनी योग्यता तथा अयोग्यताका विचार भूलकर उस अमृत-सागरका स्वागत करनेके लिए शाक-भाजीका आतिथ्य करनेका उपक्रम करने लग जाता है और ऐसे अवसर पर जिस प्रकार उस शाक-भाजीका ही स्वागत करके उस अमृत-सागरके लिए उस दरिद्रके आनन्द और उल्लासका ही ध्यान रखना उचित होता है, ठीक उसी प्रकार यदि आप भी अपना दिव्य तेज छिपाकर मेरी भक्तिकी इस सामान्य आरतीकी ही ओर ध्यान दें, तो मेरा सारा काम हो जायगा। यदि छोटा बालक ही यह समझ ले कि उचित क्या है और अनुचित क्या है, तो फिर उसका लडकपन ही कहाँ रह जाय? परन्तु फिर भी उसकी माता उसकी अटपटी बातोसे सन्तुष्ट होती है या नही? जब किसी नालेका आकर गंगाके पीछे लग जाता है, तब क्या गंगा कभी यह कहकर उसे पीछे लौटा देती है कि चल, दूर हट? हे महाराज, भृगु ऋषिने भगवानको लात मारकर कितना बड़ा अत्याचार किया था? परन्तु उसी पद-चिन्हको भूषण मानकर उसकी महत्तासे शार्ङ्गधर नारायण सन्तोष ही मानते हैं न? अथवा जब कालिमा या अन्धकारसे भरा हुआ आकाश सूर्यके सामने आता है, तब क्या सूर्य कभी यह कहकर उसका तिरस्कार करता है कि चल, दूर हट? ठीक उसी प्रकार यदि किसी अवसर पर भेद-बुद्धिके फेरमें पड़कर और सूर्यके रूपकका तराजू खड़ा करके मैंने सूर्यके साथ आपकी तुलना की हो, तो हे गुरुराज, आप कृपाकर एक वार उस तुलनाको भी सहन कर ले। जिन्होने ध्यान और समाधिके द्वारा आपके दर्शन किये हैं और जिस वेद-वाणीने आपका वर्णन किया है, उनके ये सब कृत्य आपने जिस प्रकार सहन किये हैं, यदि उसी प्रकार इसे भी आप सहन कर लें और उसी न्यायका मेरे लिए भी प्रयोग करे तो काम हो जायगा। हे महाराज, आज मैं आपके गुणोका वर्णन करने लग गया हूँ, परन्तु आप कृपाकर इसे मेरा अपराध न मानें। आप जो चाहे सो करे, परन्तु फिर भी जब तक इस कामसे मेरा जी न भर जायगा और मेरा हौसला पूरा न हो जायगा, तब तक मैं किसी तरह यह भाटपनका काम बन्द न करूँगा। ज्योही मैं गीता नामके आपके इस प्रसादामृतका

उभड़ पड़े अथवा प्रियजनों का अचानक वियोग हो जाय और अप्रियके साथ काम पड़े अथवा इसी प्रकारके और किसी अनिष्ट प्रसंगकी कोई बहुत बड़ी लहर अपने ऊपर आ पड़े तो भी अगस्त ऋषिके समान छाती ठोंककर उसके सामने निश्चल भावसे खड़े रहना और हे अर्जुन, यदि अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्म तीनों प्रकार के ताप आकर उपस्थित हों तो उन सबको उसी प्रकार तुच्छ समझकर अपने सामनेसे हटा देना, जिस प्रकार आकाशमें उठनेवाली धूम्रकी बहुत बड़ी रेखाको हवा एक ही झोकेमे उड़ा देती है और चित्तको विचलित कर देनेवाले ऐसे विकट प्रसंगके आ पड़ने पर भी धैर्य न छोडकर अच्छी तरह उसके मुकाबलेमें डटे रहना ही 'धृति' कहलाता है। हे अर्जुन, यह बात तुम अच्छी तरह अपने ध्यानमें रखो। अब "शौच" सोनेका मुलम्मा चढा चढ़ाकर स्वच्छ किये हुए और गंगामृतसे भरे हुए कलशके समान है, क्योंकि शरीरके द्वारा निष्काम कर्मोंका होना और जीवका विवेकके अनुसार आचरण करना सब शुचित्वके ही ऊपरसे दिखाई देनेवाले लक्षण है। अथवा जिस प्रकार गंगाका जल प्राणी मात्रके पाप और तापका शमन करता है और अपने तट परके वृक्षोंका पोपण करता हुआ समुद्र की ओर जाता है अथवा जिस प्रकार सूर्य संसारका अन्धकार दूर करता हुआ और सम्पत्तिके मन्दिरोके द्वार खोलता और उन्हे प्रकट करता हुआ आकाशकी प्रदक्षिणाके लिये निकलता है, उसी प्रकार वह भी बन्धनमें पडे हुए लोगोको मुक्त करता है, डूबते हुए लोगोंको बाहर निकालता है और दु:खितों के संकटका निवारण करता है। वल्कि यह कहना चाहिये कि वह दिन-रात दूसरोका सुख अधिकाधिक वढाता हुआ प्रकारान्तरसे अपने ही स्वार्थका साधन करता है। केवल यही नही, अपना कार्य सिद्ध करनेके लिए किसी प्राणीकी बुराई करनेकी कल्पना भी कभी उसके मनमे उत्पन्न होकर उसके मार्गमे बाधक नही होती। हे अर्जुन, अभी जो यह सब तुमने सुना है, वह सब "अद्रोह" के लक्षण हैं; और जिस प्रकार मैंने ये लक्षण तुम्हे वतलाये हैं, उसी प्रकार ये तुम्हे उस मनुष्यमे दिखाई देंगे जिसमें अद्रोह होगा। हे अर्जुन, जिस समय शंकरने गंगाको अपने जटा-जूटमे धारण कर लिया था, उस समय वह जिस प्रकार लज्जित हुई थी, उसी प्रकार मानकी प्राप्ति होने पर जो लज्जित होता है उसीके सम्वन्धमे यह समझना चाहिए कि उसमे "अमानित्व" नामक गुण है। हे अर्जुन; यह वात तुम बरावर अपने ध्यानमे रखो। ये सव वाते पहलेभी एक बार वतलाई जा चुकी है, इसलिए अव वही बातें फिर दोबारा क्यो कही जायँ ? इस प्रकार दैवी सम्पत्तिके ये छव्वीस गुण हैं ये मानो मोक्ष-साम्राज्यके चक्रवर्त्ती राजाके ताम्रपटके अनुसार दी हुई जागीरें ही हैं अथवा यह समझना चाहिए कि यह दैवी सम्पत्ति मानों गुण रूपी जलसे सदा भरपूर रहनेवाली गंगा ही वैराग्य रूपी सगर-पुत्रोके शरीरो पर पड़ी हुई है। अथवा यह दैवी सम्पत्ति मानो सद्गुण रूपी फूलोंकी माला है और ऐसा जान पडता है कि मुक्ति रूपी वधू वही माला विरक्तोके गले मे डाल रही है। अथवा इन छव्वीस गुणोकी वत्ती जलाकर यह गीता नामक पत्नी अपने आत्माराम नामक पतिकी आरती कर रही हैं। ये गुण मानो गीता रूपी सागरसे निकाली हुई दैवी सम्पत्ति रूपी सीपियोमेके निर्मल और सच्चे मोतियोके दाने ही हैं। ऐसी अवस्थामें भला इनका यथा-

बडे उत्साहसे वर्णन करने लगा हूँ, त्योहीं मेरे परम सौभाग्यसे मुझे दूना बल प्राप्त हो गया है। मेरी वाणीने अनेक कल्पों तक सत्य बोलनेके तपका आचरण किया था; और हे गुरु महाराज, उसी तपस्याका अनन्त फल आज वह प्राप्त कर रही है। आज तक मैंने कोई बहुत ही अलौकिक पुण्य सम्पादित किया था और उसी पुण्यने आज आपका गुण-गान करनेकी बुद्धि देकर मुझे इस कार्यमे उत्तीर्ण किया है ? मैं इस जीवावस्थाके वनमे प्रविष्ट होकर मृत्युके गाँवमे फँस गया था, परन्तु वह दुर्दशाका फेर आज बिलकुल दूर हो गया है। कारण यह है कि आपकी जो कीर्त्ति गीताके नामसे प्रसिद्ध है और जो इस उद्दंड विश्वके भासके पूर्ण रूपसे नष्ट कर देती है, आपकी उसी कीर्त्तिका वर्णन मेरे हिस्सेमे आया है। जिसके घरमे महालक्ष्मी स्वयं ही आकर आनन्दपूर्वक बैठ जाय, क्या उसे कभी दरिद्र कहा जा सकता है ? अथवा यदि अन्धकारके घरमें सौभाग्यसे सूर्य अतिथिके रूपमे आ पहुँचे तो क्या वह अन्धकार ही इस संसारमे प्रकाश नही बन जायगा ? जिस देवके पासंगमे यह अनन्त विश्व परमाणुके बराबर भी नही ठहरता, वही देव यदि भक्तिकी लहरोमे आ पडे तो फिर वे भक्तके लिए भला कौन-सा रूप नही धारण करते ? ठीक इसी प्रकार गीता पर मेरा व्याख्यान देना भी आकाश कुसुमकी सुगन्ध लेनेके समान ही असम्भव है; परन्तु आप समर्थ हैं और इसलिए आपने अपनी सामर्थ्यसे मेरी वह वासना भी पूरी कर दी है। इसी लिए आपका यह शिष्य ज्ञानदेव भी कहता है कि हे महाराज, आपकी कृपासे मैं गीताके गम्भीर श्लोकोका अर्थ भी बहुत ही स्पष्ट और सुगम करके निवेदन करूँगा। पिछले अर्थात् पन्द्रहवे अध्यायमे श्रीकृष्णने अर्जुनको समस्त शास्त्रीय सिद्धान्त स्पष्ट करके समझाये थे। जिस प्रकार कोई चतुर वैद्य किसी रोगीके अंगोमे घुसे हुए रोगोका निदान करता है, उसी प्रकार वृक्षके रूपकके द्वारा श्रीकृष्णने आलंकारिक भाषा में उपाधि रूपी सम्पूर्ण विश्वका विवेचन किया था। और विश्वका जीवात्मा जो अक्षर पुरुष है, उसके भी लक्षण बतलाये थे। उसीकी उपाधिसे चैतन्य साकार हुआ है। अन्तमे उत्तम पुरुषका विवेचन करते समय निर्मल आत्म-तत्व भी दिखलाया गया है। इसके उपरान्त श्रीकृष्णने यह कहा था कि आत्म-प्राप्तिका अन्तस्थ और प्रबल साधन ज्ञान ही है। इसलिए अब इस सोलहवें अध्यायमे प्रतिपादन करनेके योग्य कोई विशेष बात बाकी नही रह गई। अब केवल गुरु और शिष्यका स्नेह-सम्बन्ध रह गया है। इस प्रकरणमें ज्ञानियोका तो पूर्ण रूपसे सन्तोष हो चुका है और वे सब बातें अच्छी तरह समझ चुके है, परन्तु उनके अतिरिक्त आत्म-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले जो और मुमुक्ष जन हैं, वहीं संशयमे पडे हुए है। विश्वाधिपति श्रीकृष्णने कहा है कि जो भाग्यवान् पुरुष ज्ञानके द्वारा मुझे अर्थात् पुरुषोत्तमको प्राप्त करता है, वही सर्वज्ञ है और वही भक्तिके शिखर तक पहुँचा है। और उक्त अध्यायके अन्तिम श्लोकमे इसी ज्ञानके महत्वका अनेक प्रकारसे वर्णन किया गया है। शुद्ध ज्ञानके अधिपति भगवान श्रीकृष्णने स्वयं ही कहा है कि ज्ञानके सिवा कोई और ऐसा प्रभावशाली साधन नही है जो प्रपंचोको निगलकर देखनेवालेको दृष्ट वस्तुके साथ मिलाकर एक-रूप कर दे, उसी दृष्ट वस्तुमें उसे लीन कर दे, जीवको आनन्द साम्राज्यका धनी या मालिक बना दे और

तथ्य वर्णन कैसे किया जा सकता है ? इनका तो आप ही आप अनुभव होता रहता है। इस प्रकार गुणोके भाडार इस दैवी सम्पत्तिका वर्णन हुआ। अब आसुरी सम्पत्ति यद्यपि दु खोके दोष रूपी काँटोसे भरी हुई बेलके ही समान हैं, तो भी कथा के प्रसंगमे उसका भी वर्णन कर दिया जाता है। यदि निन्दनीय वस्तुका त्याग करना हो तो यह जानना भी आवश्यक होता है कि वह निन्दनीय वस्तु कौन-सी है। इसलिए यद्यपि यह आसुरी सम्पत्ति अनिष्ट है, तो भी इसका स्वरूप ध्यान देकर सुनना बहुत ही उचित है। हे अर्जुन, भयंकर अधोगतिके दु ख अपने पल्लेमे बाँधनेके लिए घोर पातकोने मिलकर जो संग्रह किया है, वही यह आसुरी सम्पत्ति है। अथवा जिस प्रकार समस्त विषयोको एक साथ मिलाने पर उस मिश्रणको कालकूट कहते है, उसी प्रकार समस्त पापोके एकत्र किये हुए समूहोको "आसुरी सम्पत्ति" कहते हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥ ४॥

"अब हे अर्जुन, इन आसुरी दोषोमे शक्तिका ढिंढोरा खूब जोरोसे पीटा जाता है, उस दम्भका स्वरूप मैं तुमको बतलाता हूँ। हे अर्जुन, यह ठीक है कि अपनी माता केवल तीर्थ स्वरूपिणी ही होती है, परन्तु यदि हम उसे नग्न अवस्थामे सब लोगोके सामने लावें तो वह हमारे अधःपतनका ही कारण होती है। अथवा जिन विधाओका गुरु उपदेश देता है, वे सब विद्याएँ यद्यपि इष्ट फल देनेवाली ही होती है, परन्तु यदि किसी चौराहे पर खडे होकर उनका घोष किया जाय तो ये भी अनिष्टकारक ही होती हैं। अथवा यह देखो कि जिस समय हम डूबने लगते है, उस समय जो नाव हमे बचाकर किनारे तक पहुँचानेका साधन होती है, उसी नावको यदि हम अपने सिर से बाँध लें तो वह हमे डुबानेका ही कारण होती है। यह बात प्रसिद्ध है कि जीवनका आधार अन्न ही है। परन्तु यदि हम उसे उत्तम समझकर उचित से अधिक खा जायँ तो वही अन्न हमारे लिये विष हो जाता है। इसी प्रकार जो धर्म इस लोकमे भी और परलोकमे भी हमारा स्नेहपूर्ण साथी होता है, यदि उसी धर्मका आचरण करके हम अभिमानपूर्वक इस बातकी घोषणा करने लग जायँ कि हम धर्मका आचरण करते है, तो वह तारक धर्म भी हमारे लिए दोषका साधन बन जाता है। इसलिए हे अर्जुन, यदि हम अपने किये हुए धार्मिक कृत्योका शाब्दिक आडम्बर चारो दिशाओमे फैलाने लगे तो वह धर्म भी अधर्म हो जाता है। और इसी प्रकारकी करनीको "दम्भ" कहते हैं। अब दर्पके लक्षण सुनो। जिस प्रकार मूर्खकी जिह्वा पर अक्षरोका थोडा बहुत सस्कार होते ही (अर्थात् उसके कुछ पढ लेने पर) वह ब्राह्मणोकी सभाकी भी निन्दा करने लगता है अथवा जिस घोडे पर चाबुक-सवार चढ चुका होता है, वह घोडा जिस प्रकार ऐरावतको भी तुच्छ समझने लगता है अथवा जैसे किसी कँटीली झाडीके शिखर पर चढ़ा हुआ गिरगिट स्वर्गको भी तुच्छ समझने लगता है अथवा यदि ईंधनके साथ घास-फूस भी आ जाय तो अग्निकी लपटें जिस प्रकार आकाशकी ओर उठने लगती हैं अथवा किसी छोटेसे

इस प्रकारके दूसरे चमत्कार दिखला सके। इसलिए जो लोग आत्म ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उत्सुक थे, उनके चित्तको तो सन्तोष हो गया और इसी लिए उन लोगोने बहुत ही आदरपूर्वक उस ज्ञान परसे अपना जीवन निछावर कर दिया। जिस विषयके प्रति मनमें अनुराग होता है, उस विषयका अन्त.करणमें बराबर अधिकाधिक संचार होने लगता है और इसीको प्रेम कहते है। इसीलिए जिज्ञासुओं-मेसे जिन लोगोके ज्ञानके सम्बन्धका यह प्रेमानुभव नही हुआ है, उन लोगोके मनमें इस बातकी चिन्ता उत्पन्न होना ही स्वाभाविक है कि हमे यह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होगा और प्राप्त हो जाने पर वह हममे किस प्रकार स्थायी हो सकेगा। इस-लिए पहले इस प्रकारके प्रश्नो पर विचार करना चाहिए कि वह शुद्ध ज्ञान किस तरह प्राप्त होगा? प्राप्त होने पर वह ज्ञान किस प्रकार बढ़ेगा? अथवा वह ज्ञान हमें क्यो नही प्राप्त हो रहा है? अथवा ज्ञानके मार्गमे अवरोध करनेवाली ऐसी कौन-सी प्रबल बात है जो ज्ञान उत्पन्न नही होने देती अथवा प्राप्त ज्ञानको टेढे-तिरछे मार्गमें लगाती है? फिर जो बाते ज्ञानके लिए विरोधक हो, उन्हे तो अलग कर दिया जाय और जिन बातोसे ज्ञानकी वृद्धि हो, उनका मन लगाकर विचार किया जाय। ज्ञानके जिज्ञासु जिन श्रोताओके मनमें इस प्रकारकी इच्छा हो, उनकी यह इच्छा पूरी करनेके लिए अब भगवान श्रीकृष्ण भाषण करेंगे। उस दैवी सम्पत्तिके वैभवका गुण-गान होगा जो ज्ञानको जन्म देती है और साथ ही शान्तिकी भी वृद्धि करती है। साथ ही उस आसुरी सम्पत्तिके भयंकर स्वरूपका भी वर्णन किया जायगा जो विषय-वासना और राग-द्वेष आदि दुष्ट विकारोको आश्रय देती है। यही दोनो सम्पत्तियाँ इष्ट और अनिष्ट कार्य करती है और इस विषयकी प्रस्तावना पहले नवे अध्यायमें की जा चुकी है। उसी अवसर पर इस विषयका प्रत्यक्ष और उचित विकार होनेको था; परन्तु बीचमे एक दूसरा ही विषय सामने आ गया और यह प्रकरण वही रह गया। इसलिए अब भगवान वही प्रकरण इस अध्यायमे स्पष्ट करेंगे। इसलिए इस सोलहवे अध्यायको पिछले भागका पूरक समझना चाहिए। परन्तु यह प्रस्तावना अब बहुत हो चुकी। प्रस्तुत विषय यह है कि इन्ही दोनो सम्पत्तियोकी सामर्थ्यके कारण ज्ञानको इष्ट अथवा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। अब पहले उस दैवी सम्पत्तिके लक्षण सुनिए जो मुमुक्षुओके लिए मार्ग दर्शक होती है और दीपककी ज्योतिकी भाँति मोह-रात्रिका अन्धकार दूर करके उसे प्रकाशित करती है। जो अनेक पदार्थ एक दूसरेके लिए पोषक होते है, उन सबको एकत्र करनेको ही लोकमे "सम्पत्ति" कहते हैं। दैवी सम्पत्ति सुख उत्पन्न करनेवाली होती है। वह दैव-योगसे ही किसी किसीको प्राप्त होती है और इसी लिए उसे "दैवी" कहा जाता है।

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

"अब इस दैवी सम्पत्तिके गुणोमे, जिसे सबसे पहला स्थान मिलता है, वह "अभय"

ताल या गड्ढेको आश्रय पाकर मछली समुद्रको भी तुच्छ समझने लगती है, उसी प्रकार स्त्री, धन, विद्या, स्तुति और मान प्राप्त करके मनुष्य भी मदसे अन्धा हो जाता है। मानों एक दिनके लिए पराया अन्न पाकर ही वह दरिद्र भिखारी अपने आपको धन्य समझने लगता है। अथवा जिस प्रकार बादलोकी छाया प्राप्त होने पर कोई अभागा मनुष्य अपना घर गिरा देता है, अथवा मृग-जलकी बाढ़ देखकर कोई मूर्ख अपना पानीका घडा फोड़ डालता है, उसी प्रकार प्राप्त होनेवाली सम्पत्तिके कारण मत्त हो जाना ही "दर्प" कहलाता है। हे अर्जुन, इस सिद्धान्तमे कही नामको भी अपवाद नही है। अब यह सुनो कि अभिमान किसे कहते हैं। वेदो पर जगतकी श्रद्धा है और इस श्रद्धामे ईश्वर परम पूज्य माना गया है। और सारे विश्वको प्रकाशित करनेवाला सूर्य ईश्वर ही है। सारे जगतको सार्वभौम वैभवकी अभिलाषा रहती है और जगतको इस बातका बहुत ध्यान रहता है कि हमारी मृत्यु न आवे। और यदि इन्ही बातोके लिए सारा जगत ईश्वरकी भक्ति और स्तुति करने लगे तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? परन्तु ईश्वरकी यह स्तुति सुनते ही आसुरी मनुष्योके मनमें मत्सर उत्पन्न होता है और उस मत्सरकी बेल बढ़ने लगती है। आसुरी मनुष्य कहता है—"मैं तुम्हारे ईश्वरको निगल जाऊँगा, तुम्हारे वेदोको विष दे दूँगा और अपने महत्वसे उनकी सत्ताका ही नाश कर डालूँगा।" दीपककी ज्योति देखते ही जिस प्रकार पतंगा व्याकुल हो जाता है, जुगनूंको जिस प्रकार सूर्य अच्छा नही लगता और टिटिहरीने जिस प्रकार महासागरके साथ बैर ठाना था, उसी प्रकार आसुरी मनुष्य अपने गर्वके फेरमे पडकर ईश्वरका नाम भी सहन नही कर सकता। वह स्वयं अपने पिताके साथ भी सौतेलेपनका ही भाव रखता है, क्योंकि उसे इस बातका डर रहता है कि यह मेरी सम्पत्तिमें हिस्सेदार होगा। इस प्रकार जो मनुष्य अहंमन्यतासे फूला हुआ, उन्मत्त और अभिमानी होता है, उसे अधोगति या नरकका चलता हुआ मार्ग ही समझना चाहिये। अब मैं क्रोधके लक्षणोकी व्याख्या करता हूँ। दूसरे लोगोका सुख आसुरी मनुष्योके मनको विषके समान कडुआ लगता है और दूसरोंका सुख देखकर वह क्रुद्ध होता है। जिस प्रकार खौलते हुए तेलमे पानीकी बूँद पडते ही वह तेल भभक कर जल उठता है अथवा जिस प्रकार चन्द्रमाके दर्शनसे शृगाल व्याकुल होकर मनसे जलने लगता है अथवा विश्वके जीवन-स्वरूप और उसे उज्ज्वल करनेवाले सूर्यके प्रातःकाल उदय होते ही पापी उल्लूकी आँखे फूट जाती हैं अथवा जगतको आनन्द देनेवाला प्रातःकाल जिस प्रकार चोरोके लिए मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायक होता है अथवा जिस प्रकार साँपके पेटमें पहुँचकर दूध भी कालकूट विष बन जाता है अथवा जिस प्रकार समुद्रके अपरम्पार जलसे बडवाग्नि और भी अधिक प्रज्वलित होती है और चाहे कितने ही उपाय क्यों न किये जायँ, परन्तु फिर भी वह किसी प्रकार शान्त नहीं होती, ठीक उसी प्रकार दूसरेकी विद्या और सुख आदि ऐश्वर्य देखकर यदि किसीका क्रोध भडक उठे तो इसी मनोवृत्तिको क्रोध कहते हैं। अब मै यह बतलाता हूँ कि पारुष्य किसे कहते हैं। जिसका मन मानों साँपका बिल हो, आँखें मानों बाणोंकी सनसनाहटके समान हों और बातें बिच्छुओंकी वर्षाके समान हो और बाकी जो क्रियाएँ हैं, वे

है। जो बहुत बड़ी बाढ़में नही कूदता, उसे डूबनेका भय छू भी नहीं जाता। अथवा जो पथ्यसे रहता है, उसके सामने रोगका ज्यादा जोर नही चलता। ठीक इसी प्रकार कर्म और अकर्मके मार्गोमे अहंकारको नही घुसने देना चाहिए और संसारका भय छोड देना चाहिए। अथवा यदि अद्वैतकी भावना बढ जाय तो उसे छोड़कर सब विषयोमे आत्म-भाव रखना चाहिए और भयकी बात मनसे दूर हटा देनी चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि अद्वैत-बुद्धि आ जाने के कारण सब कुछ उसी प्रकार आत्म-मय जान पडने लगता है, जिस प्रकार जल यदि नमकको डुबानेके लिए आवे तो नमक स्वयं ही जल बन जाता है; और इससे भयका नाश होता है। हे अर्जुन जिसे "अभय" कहते है, वह यही है। अर्थात् सच्चे ज्ञानके मार्गकी यह बात है। अब जिसे "सत्व-शुद्धि" कहते है, उसे आगे बतलाये हुए लक्षणोसे पहचानना चाहिए। जिस प्रकार राख का ढेर न तो जलता ही है और न बुझता ही है अथवा जिस प्रकार मध्यम अवस्थाका चन्द्रमा सूक्ष्म रूपसे अविकृत रहता है और उसमे न तो प्रतिपदाकी बढनेवाली कला ही होती है और न अमावस्याका क्षय ही होता है, अथवा जिस प्रकार वह नदी मध्यम अवस्थामे शान्त होकर बहुत रहती है जिसमें न तो वर्षा-ऋतुकी बाढ ही होती है और न ग्रीष्म-ऋतुवाला जलका अभाव ही होता है, ठीक उसी प्रकार रजोगुण तथा तमोगुणसे भरे हुए अनेक प्रकारके मनोरथोका ध्यान छोडकर बुद्धि केवल स्वधर्मके विषयोमे ही अनुराग रखती है और इन्द्रियोको अच्छे चाहे बुरे किसी प्रकारके विषय दिखाये जायँ, परन्तु मन तनिक भी विचलित नही होता। प्रिय पतिके विदेश जाने पर जिस प्रकार पतिव्रता पत्नीका विरहसे व्याकुल मन किसी प्रकारकी हानि या लाभकी ओर नही रहता, बल्कि केवल उदासीन रहता है, उसी प्रकार केवल आत्म-स्वरूपकी लगन लगनेके कारण बुद्धि जो इस प्रकार तन्मय हो जाती है, उसीको केशिमर्द्दन श्रीकृष्ण "सत्व-शुद्धि" कहते हैं। अब आत्मप्राप्तिके लिए ज्ञान-योगमे अपना सामर्थ्यसे स्थिर रहने और उस स्थितिमे चित्त-वृत्तिको पूर्ण रूपसे त्याग देनेको ही ज्ञान-योगकी व्यवस्थिति कहते है। जिस प्रकार यज्ञकी अग्निमे विना किसी प्रकारकी कामना मनमे रखे ही पूर्णाहुति डाली जानी चाहिए अथवा जिस प्रकार कुलीनके लिये यह उचित है कि वह कुलीन-को ही अपनी कन्या दे अथवा जिस प्रकार लक्ष्मी केवल मुकुन्दमे ही निश्चय भावसे रमण करती है, ठीक उसी प्रकार समस्त संकल्प-विकल्प छोड़कर निश्चित रूपसे योग और ज्ञानमे ही जीवन-वृत्ति लगानेको श्रीकृष्णजी तीसरा गुण अर्थात् ज्ञान-योग-व्यवस्थिति कहते है। यदि अपना परम शत्रु भी दुःखमे पडा हो तो उसे देखकर शरीर, वाणी, मन और धनसे सहायता किये बिना न रहना और हे अर्जुन, यदि कोई दुःखी या पीड़ित हमारे पास आवे तो उसकी सहायतामे अपना धन-धान्य आदि सब कुछ उसी प्रकार अन्तःकरणपूर्वक लगा देना, जिस प्रकार मार्गमे लगा हुआ वृक्ष यात्रियोकी अपने पत्ते, फूल, छाया, फल और मूल आदि देनेमें तनिक भी सकोच नही करता, "दान" कहलाता है। इस प्रकारके दानको मोक्षका गुप्त धन दिखलानेवाला दिव्य अंजन ही समझना चाहिए। अच्छा अब "दम" के लक्षण सुनो। जिस प्रकार कोई तलवार चलानेवाला वीर अपने शत्रुका सिर तुरन्त काट डालता है,

मानो फौलादके आरेके समान हों तात्पर्य यह कि जिसका अन्दर और बाहरका स्वरूप इस प्रकार प्रखर होता है, उस मनुष्यको मानव-जातिमे अधम समझना चाहिए। यह तो पारुष्यका विचार हुआ। अब अज्ञानके लक्षण सुनो। पत्थरको जिस प्रकार ठंढे स्पर्श और गरम स्पर्शका भेद नही जान पडता अथवा जिस प्रकार जन्माधको दिन और रातके अन्तरका पता नही चलता अथवा आग जब एक बार भड़ककर खाने लगती है, तब वह खाद्य और अखाद्यका और विधि या निषेधका कुछ भी विचार नही करती अथवा पारस पत्थर जिस प्रकार लोहे और सोनेमें कोई भेद-भाव नही करता और भिन्न भिन्न प्रकारके खाद्य पदार्थोमें संचार करने पर भी कलछी जिस प्रकार उनमेसे किसी का रसास्वादन नही कर सकती अथवा वायु जिस प्रकार सीधे और टेढे तिरछे मार्गोंका अन्तर नही जानती, ठीक उसी प्रकार जिस अवस्थामें पुरुष कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमे अन्धा रहता है, स्वच्छ और घृणितका भेद नही जानता, पाप और पुण्य सबको मिलाकर उसी प्रकार खा जाता हैं, जिस प्रकार बालक हाथमे आई हुई अच्छी और बुरी सभी तरहकी चीजें मुँहमे डाल लेता है, और जो-जो घृणाहीन अवस्था होती है कि उसमें बुद्धिको इस बातका पता ही नही चलता कि मधुर क्या है और कटु कैसा होता है, उसी अवस्थाको अज्ञान कहते हैं। इस विषयमे शंकाके लिए कुछ भी स्थान नही है। इस प्रकार छओ दोषोका यह विवरण किया गया है। जिस प्रकार साँपका शरीर चाहे छोटा ही क्यो न हो, परन्तु फिर भी उसमे भयकर विष रहता है अथवा यदि अग्नियोकी श्रेणी देखी जाय तो प्रलयाग्नि, विद्युदग्नि और बड़वाग्नि इन तीनकी सख्या बहुत ही थोडी जान पडती है, परन्तु ये अग्नियाँ यदि भडक उठे तो इनकी आहुतिके लिए सारा विश्व भी पूरा नही होता, उसी प्रकार ये दोष भी गिनतीमे तो केवल छः ही है, परन्तु इनके योगसे आसुरी सम्पत्तिको बहुत अधिक बल प्राप्त होता है। यदि मनुष्यके शरीरमे तीनो दोष एकत्र हो जायँ तो फिर चाहे स्वयं ब्रह्माके ही पैर क्यों न जाकर पकडे जायँ, परन्तु फिर भी मृत्युसे किसी प्रकार रक्षा नही हो सकती। परन्तु ये दोष तो छ अर्थात् उस तीनसे दूने है। इन्ही छ. दोषोकी नीव पर आसुरी सम्पत्तिकी इमारत खडी हुई है, इसी लिए वह कमजोर होती ही नही। इसके विपरीत, जिस प्रकार कभी कभी सब पाप-ग्रह एक ही राशि पर आकर एकत्र होते है अथवा निन्दा करनेवालेके सग्रहमे सभी पाप आकर पहुँच जाते है अथवा जिसका मरणकाल समीप होता है, उस पर जिस प्रकार सभी रोग एक दमसे आकर आक्रमण कर बैठते है अथवा जिस प्रकार अशुभ दिनमें सभी दुष्ट योग आकर एकत्र हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार विश्वास रखनेवाले और निश्चित रहनेवाले मनुष्यको चोरके हाथमे दे दिया जाता है अथवा जिस प्रकार कोई थका हुआ आदमी बहुत बडी बाढमे ढकेल दिया जाता है, ठीक उसी प्रकारके अघोर कृत्य ये छओ दोष करते हैं। अथवा जिस प्रकार बकरीकी आयु समाप्त होने पर उसे सात डकोवाले बिच्छू काटता है, उसी प्रकार ये छओ दोष भी मनुष्यको डसते है। मोक्ष-मार्गकी ओर थोडी-सी प्रवृत्ति होने पर भी जो यह कहकर प्रसारके झगडोंमे डूब जाता है कि "मैं इस मार्ग पर नही चलूंगा।" जो हीन योनियोकी सीढ़िया उतरता उतरता

उसी प्रकार विषयों और इन्द्रियोके संयोगको बिलकुल जड़से काट-डालना "दम" कहलाता है। इन्द्रियोको विषयोंके मेघोके अन्धकारसे रोकनेके लिए अच्छी तरह बाँधकर प्रत्याहारके अधीन कर दिया जाता है। उस समय चित्तकी शक्तिसे घबराकर "प्रवृत्ति" अन्दरसे बाहर निकलती है और तब उन्ही इन्द्रियोके दसों दरवाजो से वैराग्य शरीरके अन्दर प्रवेश करता है। जो पुरुष इस प्रकारके कठोर व्रतोंका श्वास और उच्छ्वासकी अपेक्षा भी अखंड चलनेवाला आचरण करता है और बिना कुछ भी विश्राम किये रात-दिन उन व्रतोका पालन करता है, उसके इस प्रकारके आचरणको ही "दम" कहते हैं। इसके लक्षण अच्छी तरह समझ लो। अब मैं तुम्हें संक्षेपमे यज्ञ या यागका अर्थ बतलाता हूँ। एक ओर तो सबसे पहले गिने जानेवाले ब्राह्मण होते हैं और दूसरी ओर सबके अन्तमें गिनी जानेवाली स्त्रियाँ आदि होती हैं। और इन दोनोके मध्यमें जो अनेक अधिकारी आदि होते हैं, उनमेंसे प्रत्येक अपने लिए अत्यन्त उचित तथा देवधर्मके मार्गका अनुसरण करता है। इनमेसे वेदों और शास्त्रोमे कही हुई प्रणालीसे षट्कर्म करनेवाला ब्राह्मण और उन ब्राह्मणोको नमस्कार करनेवाले शूद्र दोनो ही समान रूपसे अपने-अपने आचारोका पालन करते हैं और इस प्रकार वे लोग यागका सम्पादन करते हैं और उन यागोंका उन्हें समान रूपसे फल प्राप्त होता है। इस प्रकार अपने अधिकारोंके अनुरूप यज्ञ करना सभी का कर्त्तव्य है परन्तु हाँ, यज्ञ करते समय उन यज्ञोंको फलकी आशाके विषसे विषाक्त नही करना चाहिए; और देहाभिमानसे अपने मनमें इस प्रकारकी अहं-भावना नही उत्पन्न होने देनी चाहिए कि "हम कर्त्ता है"। साथ ही सब लोगोको वेदोकी आज्ञाका पालन करना चाहिए। हे अर्जुन, इस प्रकार "यज्ञ" शब्दका सब जगह यही आशय रहता है। इस प्रकारका यज्ञ मोक्षके मार्ग मे एक जानकार साथी ही होता है। गेंद जो जमीन पर फेंका जाता है, वह जमीनको मारनेके लिए नहीं फेंका जाता बल्कि इसलिए फेंका जाता है कि वह फिर लौटकर हाथमे आ जाय। खेतमें जो बीज बोये जाते है, वह इसी लिए कि उनसे फसल तैयार हो। जिस प्रकार गुप्त और अन्धकारपूर्ण स्थानमे गाडे हुए धनको देखनेके लिए दीपकको आदरपूर्वक स्वीकार किया जाता है अथवा जिस प्रकार वृक्षकी शाखाओं पर बल लानेके लिए उसकी जड़मे सिंचाई की जाती है अथवा यदि संक्षेपमें कहा जाय तो जिस प्रकार स्वयं ही अपना मुख देखनेके लिए दर्पणको अच्छी तरह रगड और पोछकर स्वच्छ किया जाता है, ठीक उसी प्रकार वेदोके प्रतिपाद्य विषय ईश्वरके स्वरूपका ठीक तरहसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिए श्रुति ग्रन्थोका निरन्तर अभ्यास या अध्ययन करना आवश्यक होता है। ब्राह्मणोके लिये वेदोमेके ब्रह्म-सूत्र और दूसरे वर्णोके लोगोके लिए अपने-अपने अधिकार के अनुसार स्तोत्र आदि पढना या नाम-रूपी मन्त्रका उच्चारण करना ही शुद्ध चैतन्यकी प्राप्तिके लिए यथेष्ट है। हे अर्जुन, जिसे "स्वाध्याय" कहते हैं, वह यही है। अब मैं तुमको "तप" शब्दका मर्म बतलाता हूँ, सुनो। दान धर्ममे अपना सर्वस्य दे डालना ही अपने सर्वस्वको सार्थक करना है जिस प्रकार बीज आने पर वनस्पति आपसे आप सूख जाता है अथवा धूप (गन्ध-द्रव्य) जिस प्रकार अग्निमे

अन्तमें स्थावरोसे भी नीचेवाले स्थान पर जा बैठता है, उसीमें ये छओ दोष एकत्र होकर आसुरी सम्पत्तिको बलवान बनाते है। इस प्रकार मैंने इन दोनो ही सम्पत्तियो-के सब लक्षण अलग अलग और स्पष्ट करके बतला दिये है।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरो मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

"इन दोनोमेसे जो पहली दैवी सम्पत्ति है, उसे मोक्ष रूपी सूर्यका उदय किया हुआ प्रभात काल ही समझना चाहिए। और दूसरी जो आसुरी सम्पत्ति है, वह जीवोंको जकड़नेवाली मोह रूपी लोहेकी शृंखला ही है। कदाचित् तुम यह सुनकर अपने मनमें डर जाओ। परन्तु हे अर्जुन, भला दिनको रातसे डरनेकी क्या आवश्य-कता है ? जो लोग ऊपर बतलाये हुए छओ दोषोको अपने आपमे आश्रय देते है, केवल उन्हीको यह आसुरी सम्पत्ति बाँध सकती है। परन्तु हे अर्जुन, तुम तो उस दैवी सम्पत्तिसे गुणोके साक्षात् पुतले ही हो, जिसका मैंने अभी वर्णन किया है। इसलिए हे पार्थ, तुम इस दैवी सम्पत्तिके धनी होकर कैवल्यवाली अवस्थाका सुख प्राप्त कर लो।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
देवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु ॥ ६ ॥

"दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्यके व्यवहारका प्रवाह अनादि कालसे चला आ रहा है। जिस प्रकार रातके निशाचर लोग विचरण करते है और दिनके समय मनुष्य व्यवहार करते है, ठीक उसी प्रकार ये दैवी और आसुरी सृष्टियाँ भी अपनी अपनी रीतिके अनुसार व्यवहार करती रहती है। उनमेंसे इस ग्रन्थमें पहले ज्ञान-कथाका और तब दूसरे प्रकरणोमे दैवी सम्पत्तिका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अब मैं आसुरी सृष्टिके सम्बन्धमे तुम्हे सब बाते बतलाता हूँ। तुम अच्छी तरह इन बातोंकी ओर ध्यान दो। जिस प्रकार वाद्यके बिना कभी किसीको नाद नही सुनाई देता, अथवा बिना फूलके शहद नही मिलता, ठीक उसी प्रकार जब तक कोई मनुष्य इस आसुरी प्रकृतिके वशमे नही होता, तब तक यह सृष्टि अकेली कभी दिखाई नही देती। परन्तु जब कभी कोई मनुष्य इसके चंगुलमे फँस जाता है, तब वह भी उसके शरीर पर उसी तरह मनमाना राज्य करती हुई दिखाई देती है, जिस प्रकार अग्नि लकड़ीको व्याप्त कर लेती है। ऐसी अवस्थामे जिस प्रकार ऊखके बढनेसे उसके अन्दरका रस भी बढता है, उसी प्रकार यह भी समझ लेना चाहिए कि उस प्राणीके शरीरके बढनेसे इस आसुरी सृष्टिकी भी वृद्धि होती है। अब हे अर्जुन, मैं तुमको उस प्राणीके लक्षण बतलाता हूँ जिस पर इस आसुरी दोष-मण्डलीका आक्रमण होता है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

"इस प्रकारके विचारके सम्बन्धमें कि "पुण्य कृत्योकी ओर प्रवृत्ति होनी चाहिए और पाप कृत्योंकी ओर निवृत्ति होनी चाहिए", उसके मनमें घोर अन्धकार भरा रहता है। जिस प्रकार कोएके अन्दर पडा हुआ रेशमका कीड़ा न तो उसके बाहर निकलनेका

ही विचार करता है और न कही अन्दर जानेका ही, बल्कि जहाँका तहाँ बन्द पडा रहना चाहता है, अथवा जिस प्रकार कोई मूर्ख अपनी सारी पूँजी किसी चोरको सौप देता है और इस बातका कुछ भी विचार नही करता कि अगर इसके हाथमे मैं अपनी सारी सम्पत्ति दे दूँगा तो वह सम्पत्ति मुझे वापस मिलेगी या नही, उसी प्रकार आसुरी लोग प्रवृत्ति और निवृत्तिका कुछ भी विचार नही करते, और शौच अर्थात् शुद्धता तो उनमे नामको या स्वप्नमे भी नही होती। सम्भव है कि कोयला कभी अपना कालापन छोड दे, कौआ भी कदाचित् सफेद हो जाय और राक्षसका मन भी मांस की ओर से कभी हट जाय, परन्तु ये आसुरी प्राणी कभी शौच या शुद्धताको स्वीकार नही करते। शराब रखने का बरतन जैसे कभी पवित्र नही हो सकता; उसी प्रकार हे अर्जुन, ऐसे लोग भी कभी पवित्र-नही हो सकते। शास्त्रोक्त विधि-विधानोके प्रति अनुराग अथवा बडोका अनुकरण करनेकी इच्छा अथवा शुद्ध आचारकी बात कभी उनके यहाँ हो ही नही सकती। जिस प्रकार बकरी चारो ओर मनमाना चरती रहती है अथवा वायु स्वेच्छापूर्वक इधर-उधर बहती रहती है। अथवा अग्नि जो कुछ पाती है, वह सब जला डालती है, उसी प्रकार ये आसुरी प्रकृतिके लोग भी कुमार्गमे बराबर आगे ही बढते जाते है और बराबर नगे होकर नाचते हैं और सत्यके साथ सदा बैर ठानते रहते हैं। यदि बिच्छू कभी अपने डंकसे केवल गुदगुदा सकता हो, तभी ये आसुरी लोग भी सत्य बात कह सकते है। अथवा यदि अपान वायुमेंसे कभी सुगन्ध निकल सकती हो, तभी इन आसुरी लोगोमें सत्य भी दिखाई दे सकता है। और फिर वे आसुरी लोग चाहे इस प्रकारका कोई काम न भी करें, तो भी वे स्वभावतः बहुत ही नष्ट होते है। उनकी बातोकी कुछ विलक्षणता मै तुमको बतलाता हूँ। यदि सच पूछो तो ऊँटका ऐसा कौन सा अवयव है जो अच्छा कहा जा सके ? ठीक वही बात इन आसुरी पुरुषोके सम्बन्धमे भी है। परन्तु फिर भी प्रसंगके अनुसार मैं तुम्हे इनकी कुछ बाते बतला देता हूँ। ध्यानपूर्वक सुनो। जिस प्रकार धूआँ निकालनेवाली चिमनी के मुँहसे बराबर धूएँके भभके ही निकलते है, उसी प्रकार इन लोगो के मुँहसे जिस प्रकार की बाते निकलती हैं, वह मैं तुम्हे बतलाता हूँ।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

"यह विश्व अनादि है और ईश्वर इनका नियमन करनेवाला सत्ताधीश है और इस सिद्धान्तका निर्णय वेदोने खुले आम कर दिया है। वेद जिन्हे दोषी बतलाते है, उन्हे नरक-भोगका दंड मिलता है, और वे जिन्हे न्यायी ठहराते है, वे स्वर्गमे जाकर सुखपूर्वक रहते हैं। हे अर्जुन, इस प्रकारकी इस विश्वकी जो अनादि-सिद्ध व्यवस्था है, उसे ये आसुरी लोग बिलकुल नही मानते। वे कहते है कि ये सब बातें बिलकुल झूठ हैं। साथ ही वे लोग यह भी कहते है कि मूर्ख याज्ञिक लोग यज्ञोके फेरमे पडे रहते है, देवताओके फेरमे पडे हुए लोग प्रतिमाओका पूजन आदि करते रहते हैं और भगवे वस्त्र पहननेवाले जोगडे समाधि कल्पनाओमे गोते खाते रहते है। परन्तु इस संसारमे जो कुछ मनुष्यके हाथमे आ जाय, उसका उसे स्वयं अपने साहसके

२६

आदि दोषोमे स्वयं ही अपना सिर डालता है, जो उन महाभाग वेदोका तिरस्कार करता है, जो सब पर समान रूपसे कृपा-दृष्टि रखनेवाले है और सबका हित तथा अहित स्पष्ट रूपसे दिखलानेवाले दीपकके ही समान है, जो विधि और निपेधका ध्यान नही रखता, जिसे आत्म-प्राप्तिका अनुराग नही होता. जो केवल इन्द्रियोका ही लालन-पालन करता रहता है, जो सदा काम आदिके ही फेरमे पडा रहता है और उनका कहना कभी नही टालता और जो स्वेच्छापूर्ण आचरणके वनमे अन्धा होकर प्रवेश करता है, उसे मुक्ति रूपी नदीका जल कभी चखनेको नही मिलता। सारा श्रम दूर करनेवाली यह मुक्तिरूपी नदी उसे कभी स्वप्नमे भी दिखाई नही देती। ऐसे मनुष्यके पारलौकिक कल्याणकी तो बात ही मुँहसे नही निकालनी चाहिए, परन्तु उसे केवल लौकिक भोग भी भोगनेके लिए नही मिलते। जैसे कोई ब्राह्मण मछलीके लोभमें पडकर उसे पकडनेकी आशासे पानीमे गोता लगाता है, पर वहाँ भी उसके हाथ कुछ नही लगता और स्वयं उसके प्राण जानेकी नौबत आ जाती है, वैसे ही जो मनुष्य केवल विषयभोगके लोभसे पर-लोक साधनका प्रयत्न करता है, उस पर उस प्रयत्नके होते रहनेकी ही अवस्थामे मृत्यु अचानक आकर छापा मारती है और उसे खीचकर दूसरी ओर ले जाती है। उसे न तो परलोकके स्वर्ग-भोगकी ही प्राप्ति होती है और न इस लोकका विषय-भोग ही प्राप्त होता है। फिर भला उसे मोक्ष प्राप्त होनेकी बात कहाँ रह जाती है ! इसलिए जो पुरुष विषय-भोगकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है, वह ऐहिक विपयोसे भी और स्वर्ग सुखसे भी वचित हो जाता है और उसका उद्धार कभी नही होता।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

"इसलिए भाई अर्जुन, जिन लोगोके मनमे स्वय अपने ऊपर दया उत्पन्न हो और जिन लोगोके अन्त करणमे यह बात लग गई हो कि हमे आत्म-हितका साधन करना चाहिए, उन्हे वेदोके वचनोका कभी अनादर नही करना चाहिए। जिस प्रकार अपने पतिकी इच्छाके अनुसार आचरण करनेवाली पतिव्रता स्त्री आपसे आप अपने कल्याणका साधन करती है अथवा जिस प्रकार कोई शिष्य अपने गुरुके वचनोका अच्छी तरह ध्यान रखकर आत्म स्वरूपमे स्थान प्राप्त करता है अथवा जिस प्रकार अँधेरे स्थानमे छिपाकर रखा हुआ अपना धन फिरसे प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाला पुरुष प्रकाश करनेके लिए बहुत तत्परतापूर्वक दीपक लाकर सामने रखता है, उसी प्रकार जो लोग चारो पुरुषार्थोके धनी होना चाहते हो, उन्हे श्रुतियो और स्मृतियोको शिरसा वन्द्य मानना चाहिए। शास्त्रोने जिसे निषिद्ध बतलाया है, फिर वह चाहे बहुत बडे राज्यके समान ही क्यो न हो, परन्तु फिर भी उसे तृणके समान तुच्छ समझकर दूर फेक देना चाहिए, और शास्त्र जिसे ग्राह्य बतलाते हो, वह चाहे विषके समान ही क्यो न हो, परन्तु फिर भी उसे विरुद्ध या घातक नही समझना

आधार पर भोग करना चाहिए। इसके सिवा दूसरा कौन-सा पुण्य कृत्य हो सकता है? अथवा यदि अपनी अशक्तताके कारण हम भिन्न-भिन्न विपयोका अपने सुख-भोगके लिए संग्रह न कर सके और इसी कारण यदि हम विषय-सुखोके लिए विकल रहते हो तो यही वास्तविक पाप है। यह ठीक है कि धनवानो की हत्या करना पाप है; परन्तु उनकी सारी सम्पत्ति, जो हमारे हाथ लगती है, वह क्या पुण्यका फल नही है? यदि यह कहा जाय कि वलवानोका दुर्बलोको खाना निपिद्धहै, तो देखो कि सभी बडी-वड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको निगल जाती हैं। परन्तु फिर भी वे बड़ी मछलियाँ निस्सन्तान क्यो नही होती? इसी प्रकार लोग कुल और गोत्रकी खूब अच्छी तरह छान-बीन करके शुभ मुहुर्त्तमें छोटे छोटे लडको और लड़कियोका विवाह करते है। परन्तु यदि विवाहका का उद्देश्य केवल प्रजाकी उत्पत्ति करना ही हो तो पशु-पक्षी आदि जो प्राणी-वर्ग है और जिनकी सन्तानकी गणना ही नही हो सकती, वे किस शास्त्रोक्त विधिसे विवाह करते है? चाहे बिलकुल चोरीका ही द्रव्य क्यो न हो, परन्तु फिर भी क्या वह किसीके लिए विप सिद्ध होता है? कुछ यह बात तो है ही नही कि यदि प्रीतिपूर्वक पराई स्त्रीके साथ सम्भोग किया जाय तो मनुष्यको कुष्ट रोग हो जाता हो। लोग प्राय कहा करते हैं कि ईश्वर सवका नियन्ता है, वही जीवोको धर्म और अधर्म के फलोका भोग करता है और इस लोकमें जिस प्रकारका आचार किया जाता है, उसी प्रकारका भोग परलोकमें प्राप्त होता है। परन्तु यदि ये सव सिद्धान्त ठीक मान लिये जायँ तो परलोक तो कही दिखाई ही नही देता। और न कही देवता ही दिखाई देते है। इसलिए ये सभी बाते मिथ्या है। और फिर जव शुभ और अशुभ कर्म करनेवाले कर्त्ताका ही कही अस्तित्व नही रह जाता, तो फिर कर्मोके फलका भोग कहाँ रह जाता है? स्वर्ग लोकमे जिस प्रकार इन्द्र उर्वशीके सहवासमे अपने आपको धन्य मानता है, उसी प्रकार मोरीमे पड़ा हुआ कीडा भी अपने आपको धन्य समझता है। इसलिए यह कहना युक्ति-संगत नही है कि स्वर्ग और नरक पुण्य तथा पापसे प्राप्त होते है, क्योकि दोनो ही स्थानोमे काम वासना समान रूप से सन्तुष्ट होती है। काम-वासनासे जव स्त्री और पुरुष अथवा नर और मादाकी संगति होती है, तव सब जीवोंका जन्म होता है। और पारस्परिक लोभके कारण स्वार्थ बुद्धिसे काम-वासना जिन जिनका पोपण करती है, उन्हीका अन्तमे, पारस्परिक द्वेपके कारण, स्वार्थी काम-वासना ही नाश भी करती है। और इस प्रकार काम-वासनाके सिवा इस संसार का और कोई मूल आधार ही नही है। बस इसी प्रकारकी वकवाद ये आसुरी लोग किया करते हैं। परन्तु ये बाते यथेष्ट हो चुकी। इस प्रकारकी निन्दनीय और घृणित बाते उलटी सीधी रीतिसे उच्चारण करनेके कारण वाणीको अकारण कष्ट ही होता है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

"इस प्रकार ईश्वरके साथ द्वेप होनेके कारण ये आसुरी लोग व्यर्थ ही जबानी वक-वाद करते हैं; परन्तु फिर भी यह पता नही चलता कि उनके मनमे कोई एक वात

चाहिए। हे वीर अर्जुन, यदि वेदो और शास्त्रों पर इस प्रकारकी अचल निष्ठा हो तो क्या कभी अनिष्ट की प्राप्ति हो सकती है? इन श्रुतियोंको छोड़कर आज तक ससारको कभी कोई ऐसी माता मिली ही नही जो अ-कल्याणसे उसका छुटकारा कराती हो और उसके कल्याणका साधन करके उसकी वृद्धि करती हो। इसलिए जीवको ब्रह्म-स्वरूपमें पहुँचानेवाली इस श्रुति-रूपी माताको कभी किसीको छोड़ना नही चाहिए; और हे भाई अर्जुन, तुम विशेष रूपसे सदा इसीकी सेवा किया करो। क्योंकि, हे अर्जुन, तुमने इस संसारमे धर्म-निष्ठाके बलसे और सद्-शास्त्रोकी सहायतासे अपना जीवन सार्थक या धन्य करनेके लिए ही जन्म धारण किया है। और तुम्हें वह "धर्मानुज" नाम भी आपसे आप प्राप्त हुआ है, जिसका अर्थ होता है—धर्मका छोटा भाई। तुम्हें इसके विपरीत आचरण नही करना चाहिए। कार्य और अकार्यका विचार करते समय शास्त्रोके आधारसे ही निर्णय करना चाहिए। जो बातें शास्त्रोमें बुरी और अकृत्य कही गई हों, उन्हे बिलकुल छोड़ देना चाहिए। और तब जो वास्तविक कर्त्तव्य निश्चित हो, उसका अपनी सारी शक्तिसे और शुद्ध हृदयसे अच्छी तरह पालन करके उसकी सिद्धि करनी चाहिए। सारे विश्वको आधार देनेवाली मुद्रा अर्थात् प्रामाणिकताकी मोहर आज तुम्हारे हाथमें ही है; और भाई चतुर, अर्जुन, लोक संग्रह करनेकी शक्ति भी तुममें निस्सन्देह रूपसे वर्त्तमान है।"

इस प्रकार आसुरी सम्पत्तिके लक्षण बतलाकर उनसे सूचित होनेवाला निर्णय भी भगवानने अर्जनको निरूपण करके बतला दिया। इसके उपरान्त वह पांडु-सुत-अर्जुन भगवानसे अन्त करणके सद्भावके सम्बन्धमे जो प्रश्न करेगा, वह भी आप लोग चैतन्यके कानोसे सुने। संजयने व्यास ऋषिकी कृपासे धृतराष्ट्रको वह प्रसंग सुनाया था। उसी प्रकार मैं भी श्री निवृत्तिनाथकी कृपासे वह प्रसंग आप लोगोसे निवेदन करूँगा। यदि आप सन्त-जन मुझ पर अपने कृपा-कटाक्षकी वर्षा करेंगे, तो महाराज, मै भी आप ही लोगोके समान बड़ा बन जाऊँगा। इसलिए मुझे आप लोगोंका केवल इतना ही प्रसाद मिलना चाहिए, आप लोगोको मुझ पर इतनी ही कृपा होनी चाहिए कि आप लोगोका ध्यान मेरी ओर रहे। फिर मैं ज्ञानदेव सचमुच धन्य तथा समर्थ हो जाऊँगा।

निश्चित रूपसे बैठी है या उनका कोई एक सिद्धान्त है। ये लोग खुल्लम-खुल्ला पाखंड खड़ा करके जीवोंके शरीरमें नास्तिकताकी हड्डी चुभाकर एक निन्दनीय वस्ती खडी कर देते है। ऐसी अवस्थामें स्वर्गके प्रति आदर-भाव और नरकके भयवाली मनोवृत्तिका अंकुर ही जलकर भस्म हो गया है। और फिर हे सखे अर्जुन, वे आसुरी लोग इस गन्दे पानीके गडढेके समान शरीरमे फँसकर विषयोके कीचडमे फँसे हुए दिखाई देते है। जिस प्रकार किसी जलाशयके जलके सूख जाने पर उसके रहनेवाली मछलियोकी मृत्यु समीप देखकर धीवर आदि उस जलाशयके पास आकर एकत्र हो जाते है अथवा शरीर-पातका समय आने पर अनेक प्रकारके रोग सिर उठाकर खडे हो जाते है अथवा जिस प्रकार विनाश करनेके लिए धूमकेतुका उदय होता है, उसी प्रकार सहार करनेके लिए ये आसुरी लोग जन्म ग्रहण करते है। अव अमंगलका बीज वोया जाता है, तव उसमेसे ये आसुरी मनुष्य रूपी अंकुर उत्पन्न होते है, वलिक इन्हे पापके चलते-फिरते स्तम्भ ही समझना चाहिए। जिस प्रकार आग एक वार अपना जलानेका काम आरम्भ कर देती है, तव आगे-पीछे कुछ भी नही देखती, उसी प्रकार ये लोग भी मनमाना और नीति-विरुद्ध आचरणके समय किसी बातका कुछ भी विचार नही करते। पर अव यह भी सुन लो कि अपने उसी निन्दनीय आचरणका वे लोग कितने अभिमानके साथ अभिनन्दन और उसकी प्रशंसा करते हैं।" वस यही बातें भगवान लक्ष्मी-पतिने अर्जुनसे कही थी।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहादगृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

इससे आगे श्रीकृष्ण कहते है—"हे अर्जुन, चाहे कितना ही पानी क्यो न हो, पर उससे जाल कभी भरा नही जा सकता; और आग मे चाहे कितना ही अधिक ईंधन क्यो न डाला जाय, परन्तु उसके जलानेके लिए कुछ भी यथेष्ट नही होता। इस प्रकार जिनका कभी पेट नही भरता, उनमें जो सबसे वढकर माना जा सकता है, उस काम को, हे अर्जुन, ऐसे लोग अपने कलेजेसे लगाये रखते है और अपने चारों ढोग तथा अहंमन्यताकी राशि एकत्र करते चलते हैं। फिर मस्त हाथीको शराव पिलानेसे उसकी जो अवस्था हो जाती है, ठीक वही अवस्था ऐसे लोगोकी भी होती है, और ज्यो-ज्यो उनकी अवस्था वढती जाती है, और वे वृद्ध होते जाते हे, त्यों-त्यों उनका अभिमान भी बढता जाता है। ऐसे लोगोमे एक तो पहलेमे ही दुराग्रह रहता है, तिस पर उस दुराग्रहकी सहायताके लिए मूर्खता भी आ पहुँचती है। फिर भला उनकी हठवादिताकी लीलाका कहाँ तक वर्णन हो सकता है! जिन कामोसे दूसरोको पीडा होती है और जिनसे दूसरे जीवोकी धज्जियाँ उड जाती है, उन कामोमे ऐसे लोग जन्मसे ही वहुत अधिक पटु होते है। फिर ऐसे पराक्रमका वे लोग स्वयं ही अपने मुँहसे चारो ओर ढिंढोरा फेरते रहते हैं और सारे ससारको तुच्छ समझते है। वे दसो दिशाओमे अपनी वासनाओके खूव लम्वे-चौड़े जाल फैलाते हैं। जिस प्रकार कोई खुली हुई गौ चारो ओर घूम-घूमकर जो कुछ सामने आता है, वही खाती फिरती है, उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी अपने स्वेच्छाचार और अभिमानके कारण चारो ओर पापोकी समान रूपसे वृद्धि करते रहते है।

सत्रहवाँ अध्याय

जिनकी योग-समाधिके द्वारा इस नाम-रूपात्मक विश्वका वन्धन टूट जाता है और इससे छुटकारा मिलता है, उन आप श्री गुरुराज-रूपी गणेशको मै नमस्कार करता हूँ। जिस समय त्रिपुरोने शम्भुको दुर्गके अन्दर घेरकर वन्द कर रखा था, उस समय राम-नाम के स्मरणसे ही शम्भु उस बन्धनसे मुक्त हुए थे। इसी प्रकार त्रिगुणोके जालमे फँसी हुई आत्मा भी इस जीव दशाके बन्धनमे पडी हुई है और वह आपके ही स्मरणसे युक्त होती है। इसलिए यदि शंकरके साथ आपकी तुलना की जाय तो आपका ही महत्व अधिक सिद्ध होता है, परन्तु साथ ही मुमुक्षुओको इस माया-सागरसे पार करनेके लिए नौकाके समान जिस हल्केपनकी आवश्यकता होती है, वह हल्कापन भी आपमे है। जिन्हे आपके विषयमे कुछ भी ज्ञान नही है, उन्हीको आप वक्रतुड जान पड़ते है, परन्तु जो ज्ञान-सम्पन्न हैं, उन्हे आप सदा सरल ही दिखाई देते हैं। यदि आपकी दिव्य दृष्टि देखी जाय तो वह बहुत ही कोमल सूक्ष्म जान पडती है; परन्तु उसी दृष्टिको खोल और बन्द करके आप सहजमे ही उत्पत्ति और प्रलय उपस्थित कर देते है। जब आप अपना प्रवृत्ति-रूपी कान फड़काते हैं, तब मद और रससे भरी हुई जो सुगन्धित वायु निकलती है, उस कारण जीव-रूपी काले भ्रमण आपके गंड स्थल पर आकर वैठते है। उस समय यही जान पडता है कि नीले कमलोसे आपकी पूजा की गई है। परन्तु जब इसके उपरान्त आप निवृत्ति-रूपी दूसरा कान हिलाते है, तव मानो उस पूजाका अन्त हो जाता है और आप अपने खुले हुए सुन्दर आत्म-रूपमे भासमान होते है। लावण्यवती ललित नृत्यके कारण यह जो नाम-रूपात्मक जगत-रूपी मोहक भास उत्पन्न होता है, वह भी आपके ताडव-कौशलका ही प्रदर्शन है। केवल यही नही, बल्कि बहुत अधिक आश्चर्यकी बात यह है कि हे गुरुराज गणेश, आपके साथ जिसका सगेपनका सम्वन्ध हो जाता है, वह तुरन्त ही सगेपनके लिए परकीय हो जाता है—उस सगेपन या आपसदारीके व्यवहारसे वचित हो जाता है। ज्योही आप समस्त वन्धनोका नाश करते है, त्योही मनुष्यके मनमे यह भाव उत्पन्न होता है कि आप जगतके वन्धु हैं और भक्तकी आनंदवृत्ति आपमे लीन होने लगती है। फिर हे महाराज, दुजायगीके भावका पूर्ण रूपसे लोप हो जाता है उसे अपने शरीरका भी भान नही रह जाता। परन्तु जो लोग अपनेसे अलग समझते हैं, और जो आपको अपनी दृष्टिके सामने रखकर आपको प्राप्त करनेके लिए नाना प्रकारके योग आदि मार्गो पर दौड लगाते हैं, उनके आप बहुत पीछे ही रहते हैं। जो लोग वैठकर मनमे आपका ध्यान करते हैं, उनके ग्राम या नगरमे भी आप नही रहते। परन्तु जो लोग आत्मैक्यके भावसे ध्यानको भी भूल जाते हैं, उन पर अवश्य ही आपका परम प्रेम होता है। जो लोग

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।

"ऐसे लोगोके समस्त व्यवहार बस एक इसी नीतिके अनुसार होते हैं। पर साथ ही उन्हें इस बातकी चिन्ता भी लगी रहती है कि मरनेके उपरांत क्या होगा। ये आसुरी प्रकृतिवाले लोग उस अघोर चिन्ताको निरन्तर बढ़ाते रहते है जो पाताल-से भी बढ़कर गहरी और आकाशसे भी बढकर ऊँची होती है, जिसके साथ तुलना करते समय विश्व भी परमाणुके समान जान पड़ता है, जो भोग-रूपी वस्त्रके तारोको नापकर जीव को अपरिमित कष्ट देती है और जो अपने जोव रूपी प्रेमीको मरण-काल तक भी छोडनेका विचार अपने मनमे नही आने देती। और वे आसुरी लोग निस्सार विषयोपभोगका शौक अपने मनमे लगा लेते हैं। वे लोग स्त्रियोके गीत सुनना चाहते हैं, उनका सौन्दर्य अपने नेत्रोसे देखना चाहते है, उन्हें गाढ़ आलिंगन करना चाहते है और अमृतको भी उनके ऊपरसे निछावर कर देना चाहते है। तात्पर्य यह कि वे अपने मनमे यह सिद्धांत स्थिर कर लेते हैं कि स्त्रियोसे बढकर और किसी पदार्थमे वास्तविक सुख नही है, और तव उस स्त्री-भोगके लिए वे संसार भरके उलटे-सीधे व्यापार करते हैं और दिगन्त, पाताल तथा स्वर्ग सभीकी सीमाओके बाहर दौड़ते फिरते हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्।।१२।।

"जिस प्रकार मछली केवल लालचके कारण बिना आगा-पीछा विचारे काँटेमे लगा हुआ मांस निगल जाती है, ठीक उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी बिना विचारे सदा विषय-वासनाओके फेरमे पड़े रहते हैं। जब इन्हे वाछित विषय नहीं मिलता, तब ये लोग कोयेके अन्दर वन्द रहनेवाले रेशमके कीडेकी तरह बैठे हुए कोरी आशाओंके ही ताने तनते रहते हैं—मनमें तरह तरहके बाँधनू बाँधते रहते हैं। और जब वासनाकी तृप्ति नही होती, तव वही वासना द्वेषका रूप धारण कर लेती है। सारांश यह कि ऐसे लोगोंके लिए काम और क्रोध आदिके अतिरिक्त जीवनका और कोई कर्त्तव्य ही बाकी नही रह जाता। हे अर्जुन, जिस प्रकार थाने या चौकीका पहरेदार दिन भर तो फेरे लगाता रहता है और रातके समय जागकर रखवाली करता है और दिन या रातमे किसी समय वह यह जानता ही नही कि आरामसे और निश्चिन्त होकर बैठना कैसा होता है, उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी जब काम वासनाके कारण एक बार ऊँचाई परसे नीचे गिरा दिये जाते है, तब ये क्रोधकी पहाडी पर आ पडते हैं; और तब उनमें राग-द्वेष आदि विषयोके सम्बन्धमे जो प्रेम होता है, वह इतना बढ जाता है कि सारे विश्वमे भी नहीं समा सकता। और फिर मनकी हाहीके कारण यदि अनेक प्रकारकी विषय-वासनाओके मन्सूवे बाँधे जायँ तो भी विषयोका प्रत्यक्ष उपभोग करनेके लिए द्रव्य चाहिए या नहीं? इसीलिए विषयोका उपभोग करनेके लिए जिस धनकी आवश्यकता होती है, वह धन प्राप्त करनेके लिए आसुरी लोग संसारमे अनेक प्रकारके उपद्रव और उत्पात करने लगते हैं। वे लोग किसीको धोखा देकर उसकी जान ले लेते हैं, किसीका सर्वस्व लूट लेते

यह नही जानते कि आप स्वय-सिद्ध है और केवल अपनी सर्वज्ञताका ही अभिमान करते है, उनकी बाते भला आप कहाँसे सुन सकते है ? क्योकि जो वेद इतना अधिक वक्तृत्व करते हैं, उनकी ओर आपका कान ही नही होता। आरम्भसे ही और आपकी जन्म-राशिके कारण ही आपका नाम "मौन" पडा है। तो फिर आपकी स्तुति करनेका क्यो साहस किया जाय ? दृष्टिको जो कुछ दिखलायी देता है, वह सब यदि माया-जनित ही है, तो फिर आपकी भक्तिके लिए साधन ही कहाँ बच रहता है ? देवताके रूपमें आपकी कल्पना करके आपकी सेवा करनेका विचार मनमें उत्पन्न होता है, परन्तु यदि आपमे और अपनेमे भेद-भाव माना जाय, तो मानो आत्म-द्रोह ही होता है। इसलिए अब आपके विषयमे कुछ न कहना ही उचित है। जब सारा भेद-भाव पूर्ण रूपसे छोड दिया जाता है, तभी आपके अद्वितीय स्वरूपकी प्राप्ति होती है। हे आराध्य-मूर्ति गुरुराज महाराज, आपका यह रहस्य अब अच्छी तरह मेरी समझमे आ गया है। इसलिए जिस प्रकार बिना-कोई भेद-भाव रखे अन्न-रसके द्वारा नमक स्वीकृत किया जाता है, उसी प्रकार आप भी मेरा नमस्कार स्वीकृत करे। इससे अधिक अब मै और क्या कहूँ ! जिस प्रकार यदि खाली लोटा समुद्रमें डाला जाय और तब फिर ऊपर निकाला जाय, तब वह जिस प्रकार भरा हुआ निकलता है अथवा दीपकके संसर्गसे जिस प्रकार रूई की बत्ती भी दीपकका रूप प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार, हे श्रीनिवृत्तिनाथ जी महाराज, मैं भी आपको नमस्कार करके परिपूर्ण हो गया हूँ। इसलिए अब मैं गीताका अर्थ स्पष्ट करनेके काममे प्रवृत्त होता हूँ। सोलहवे अध्यायकी समाप्ति पर अन्तिम श्लोकके भगवान्ने निस्सन्देह रूपसे यह निर्णय किया है कि—हे अर्जुन, जिस समय वह निश्चय करनेकी आवश्यकता हो कि करने योग्य काम कौन-सा है और न करनेके योग्य काम कौन-सा है, अब तुम एक मात्र शास्त्रोको ही प्रमाण मानो। यह सुनकर अर्जुनके मनमें यह विचार आया कि यह बात क्यो है कि बिना शास्त्रोकी सहायताके कर्मके प्रश्नका निर्णय ही न हो ? तक्षकके फन पर पैर रखकर उसके मस्तककी मणि किस प्रकार प्राप्त की जाय ? और सिंहकी नाकके बाल किस प्रकार उखाडे जायँ ? और तब यह कहा जाता है कि तक्षककी वही मणि सिंहकी नाकके बालमें पिरोकर और उसकी कंठी बनाकर गलेमे पहनी जाय। परन्तु यदि यह असम्भव कार्य मनुष्य न कर सके तो क्या वह आप अपना गला यो ही नगा रखे ? ठीक उसी प्रकार मत और अ-मतकी गडबडी मचानेवाले भिन्न-भिन्न शास्त्रोकी गठरी भला कैसे और कौन बाँधे ? और फिर उनकी एक वाक्यतावाला फल ही किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? और फिर यदि यह भी मान लिया जाय कि किसी प्रकार भिन्न भिन्न शास्त्रोका मेल बैठाकर किसी कार्यके सम्बन्धमे कोई निर्णय कर भी लिया, तो भी उसके आचरणके लिए यथेष्ट समय भी किसीके पास है ? इस जीवको इतना अधिक प्रसार भला कैसे अच्छा लगेगा ? और फिर सब लोग ऐसा उपाय कैसे कर सकते है, जिसमे शास्त्र, अर्थ, देश और काल सबका एक ही कार्यमें उचित योग हो सके ?

है और किसीका अपकार करनेके लिए अनेक प्रकार के यन्त्र-तन्त्रोकी रचना करते है। जिस प्रकार वनमे शिकार करनेके लिए जानेके समय पारधी लोग अपने साथ जाल, फन्दे, कुत्ते, वाज, बाँसकी कमचियाँ और खोचे आदि सव सामान ले जाते है; उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी दूसरोको फँसानेके लिए अपने साथ इसी तरहका साज-सामान लेकर निकलते है। जिस तरह पारधी लोग अपना पेट भरनेके लिए अनेक प्रकारके अघोर पाप-कर्म करते है, उसी तरह ये लोग दूसरोके प्राणोका घात करके धन कमाते है, और इस प्रकार मिले हुए धनसे इन्हे कितना अधिक आनन्द होता है!

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

"आसुरी पुरुष कहता है—"मैंने बहुतो की सम्पत्ति अपने हाथमें कर ली है, इसलिए मैं धन्य हूँ या नही?' इस प्रकार वह ज्यों ज्यो आत्म-श्लाघाके क्षेत्रमें प्रवेश करता है, त्यो त्यो उसका मन उस आत्म-श्लाघाके मार्गमे और भी अधिक वढने लगता है और तव वह कहने लगता है—'अब देखना है कि और कौन मेरे फन्देमे फँसता है और किसका माल मुझे मिलता है! अव तक जो कुछ मिला है, वह सव तो मेरा हो ही चुका है। अव ऐसा उपाय करना चाहिए कि इस पूँजीके सहारे सारे चराचरका मुझे लाभ हो। इस नीतिके द्वारा मैं सारे विश्वकी सम्पत्तिका स्वामी वन जाऊँगा। और तव जो कुछ मेरी दृष्टिमे आवेगा, उसे विना अपने पंजेमे लाये मैं न मानूँगा।"

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

"मैंने अभी तक जितने वैरियोकी हत्या की है, वह तो कुछ भी नही है। मैं अभी इनसे भी वहुत अधिक वैरियोको मारूँगा। और तब इस सारे संसारमे केवल मेरी ही कीर्त्तिका राज्य रहेगा। फिर जो लोग मेरी आज्ञामे रहकर मेरा काम करेंगे, उन्हे छोडकर वाकी और सब लोगोकी मैं हत्या कर डालूँगा। जिसे लोग चराचर ईश्वर कहते है, वह मैं ही हूँ। इस सुख-भोग रूपी पृथ्वीका चक्रवर्ती राजा मै ही हूँ और सव सुखोका आगर भी मैं ही हूँ। मेरे सामने इन्द्र भी कोई चीज नही है। मैं मन, वाणी अथवा शरीरसे जो काम करनेके लिए उद्यत हो जाऊँगा, फिर भला यह कभी हो सकता है कि वह काम पूरा न उतरे? भला मेरे सिवा और ऐसा कौन है जिसमे आज्ञा करने की शक्ति हो? जव तक मुझसे काम नहीं पडता, तव तक काल भी भले ही अपने वलका अभिमान किया करे। यदि कोई सुखकी राशि है तो वह मैं ही हूँ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

'यह ठीक है कि कुबेर सम्पन्न है, परन्तु फिर भी वह कभी मेरी वरावरी नहीं कर सकता। जितनी सम्पत्ति मेरे पास है, उतनी स्वयं लक्ष्मी-पतिके पास भी नहीं है। यदि मेरे कुलके महत्व और मेरे नाते-रिश्तेके विस्तारका विचार किया जाय तो

इसीलिए इस शास्त्रोक्त प्रकरणका का साधन प्रायः कठिन ही है। फिर जो लोग अज्ञानी हो, पर साथ ही मोक्ष प्राप्त करनेकी भी इच्छा रखते हो, उनके लिए कौन-सा मार्ग खुला रहता है ? बस इसी सम्बन्धमे प्रश्न करनेका विचार अर्जुन अपने मनमे कर रहा है और इसी विषयका इस सत्रहवे अध्यायमे विवेचन किया गया है। जो समस्त विषयोसे विरक्त है, जो समस्त कलाओमे पारंगत है, जो स्वयं कृष्णके लिए भी अर्जुनके रूपमें दूसरा कृष्ण (अर्थात् आकर्षण करनेवाला) ही है, शौर्यका आश्रय है, चन्द्रवशका अलंकार है, सुखोपभोग जिसके लिए केवल खेलवाड है, जो बुद्धिका वल्लभ और आत्म-विद्याका मायका है, जो कृष्णके पास सदा रहनेवाला मानो मनोधर्म ही है, वह अर्जुन कहने लगा—

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १ ॥

"हे तमाल-पत्र-श्याम भगवन्, यद्यपि आप इन्द्रिय-गोचर होनेवाला प्रत्यक्ष ब्रह्म ही हैं, तो भी आपका भाषण मुझे सशयात्मक ही जान पडता है। आपने यह बात क्यो कही है कि जीवके लिए मोक्षका साधन करनेवाला शास्त्रोके सिवा और कोई नही है ? शास्त्रोका अभ्यास करनेके लिए उपयुक्त स्थल, काल और अध्यापककी आवश्यकता होती है, परन्तु जिसे इन सबकी प्राप्ति न हो और शास्त्रोका अभ्यास या अध्ययन करनेके लिए जो अनेक प्रकारकी सामग्री आवश्यक होती है, उसकी भी जिसके पास कमी हो, साथ ही जिसे पूर्व कालकी पुण्याईका वल भी प्राप्त न हो और इसी लिए जिसमे बुद्धिका भी वल न हो, उसके किये शास्त्रोका अध्ययन हो चुका। और इस प्रकार जो शास्त्रोका अध्ययन न कर सकते हो और यहाँ तक कि शास्त्रोके साथ जिनका कुछ भी सम्पर्क न हो और इसी लिए जिन्होने शास्त्रीय ऊहा-पोह करनेका सारा झगडा ही छोड दिया हो, परन्तु फिर भी जिन लोगोके मनमे इस बात की बहुत बडी अभिलाषा होती हो कि हम भी उन्ही लोगोके समान हो जो शास्त्रोक्त कर्मोका अनुष्ठान करके वास्तवमे पारलौकिक सुख सम्पादित करते हैं और इसी विचारसे जो शास्त्रोक्त कर्मोका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोका अनुकरण करनेका प्रयत्न करते हो और हे उदार भगवन्, किसी अच्छे लेखकके लिखे हुए अक्षरोके नीचे जिस प्रकार कोई छोटा बालक उन अक्षरोको देख देखकर उन्हीके अनुरूप स्वयं भी वही अक्षर लिखता है अथवा किसी आधार या मार्ग-दर्शकको अपने सामने रखकर जिस प्रकार कोई अन्धा या पंगुल उसके पीछे-पीछे चलता है, उसी प्रकार जो उन्ही लोगोके समान आचरण करते हो, जो समस्त शास्त्रोसे निष्णात हो और जो बहुत ही श्रद्धापूर्वक ऐसे ही लोगोके मार्ग पर उनका अनुकरण करते हुए चलते हो और फिर जो बहुत ही भावुकता और श्रद्धापूर्वक शिव आदि देवताओकी पूजा, भूमि आदिके बडे बडे दान, अग्निहोत्र आदि यज्ञ-विधियाँ तथा इसी प्रकारके और और कर्मोका आचरण करते हो, हे भगवन्, आप मुझे यह बतलावें कि उन पुरुषोको सत्व, रज और तममेसे कौन-सी गति प्राप्त होती है।" इस पर जो वैकुण्ठपीठके स्वामी है, जो देह-रूपी कमलकी सुगन्धित रेणु है, जिनकी छायासे इस सारे विश्वका

प्रजापति ब्रह्मा भी मेरे सामने तुच्छ ही सिद्ध होगे। इसी लिए ईश्वर आदि नामोके महत्वका बखान करनेवाले सब लोग वाहियात है। उनमेसे किसीमें भी मेरे समान योग्यता नही है। आज-कल जारण मारण आदि घातक मन्त्र-तन्त्रोका लोप हो गया है, इसलिए उनका उद्धार करके मैं जीवोको पीड़ा देनेवाले यज्ञ-याग आदि करूँगा। जो लोग मेरी प्रशंसाके गीत गावेगे और नाचकर मेरा मनोरंजन करेंगे, वे जो कुछ मागेंगे वही मै उन्हे दूँगा। मैं अनेक प्रकारके मादक खाद्य तथा पेय पदार्थोका सेवन करूँगा।' हे अर्जुन, ऐसे लोगोकी इस प्रकारकी बाते कहाँ तक बतलाई जायँ!' आसुरी वृत्तियोके फेरमें पडे हुए ये पिशाच अपने मनमे बड़ी बड़ी आशाएँ रखकर काल्पनिक आकाश-पुष्पोकी सुगन्ध लेना चाहते है।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृत्ताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

"जिस प्रकार ज्वरके वेगके कारण रोगी यों ही बहुत-सी बाते बड़बडाया करता है, उसी प्रकार ये लोग भी संकल्प-विकल्पकी लहरोमे पड़े हुए कुछ न कुछ बकते रहते है। ऐसे लोगो पर अज्ञानकी बहुत अधिक धूल पडी रहती है और ये आशाकी आँधीमें पड़कर वासनाके आकाशमें खूब चक्कर लगाते रहते हैं। परन्तु जिस प्रकार आषाढ मासके मेघोकी कोई गिनती नही होती अथवा जिस प्रकार समुद्रकी लहरें कभी खंडित नही होती, उसी प्रकार ये आसुरी पुरुष भी अपने मनमे असंख्य कामनाओके किले बनाते रहते है। फिर ऐसे जीवोमे कामनाओकी बेलोके बहुत-से समूह बन जाते हैं, और जिस प्रकार कॉंटो पर पड़कर कमलके दल क्षत-विक्षत हो जाते हैं अथवा हे अर्जुन, जिस प्रकार पत्थर पर पटककर कोई घडा तोडा जाता है, उसी प्रकार ये जीव कामनाओके फेरमे पडकर छिन्न-भिन्न हो जाते है। ऐसी अवस्थामे जिस प्रकार चढ़ती हुई रातमे अन्धकार बराबर बढ़ता ही जाता है, उसी प्रकार इन असुरोके अन्त करणमे मोह भी बराबर बढ़ता जाता है। और ज्यो-ज्यो उनमें मोह बढता है, त्यो त्यो विषयोके प्रति उनका अनुराग भी बढता जाता है; और जहाँ विषयोके प्रति अनुराग हुआ, वहाँ पातक आपसे आप आकर एकत्र हो जाते हैं। और जब पातक बलवान हो जाते है और उनकी बहुत अधिकता हो जाती है, तब मनुष्यको इसी जीवनमे नरक-वासका अनुभव होने लगता है। इसलिए हे अर्जुन, जो दुष्ट वासनाओका लालन-पालन करके उनकी वृद्धि करते है वे आसुरी पुरुष अन्तमे कहाँ रहनेके लिए जाते हैं? वे लोग अन्तमे ऐसे स्थानमे जाकर निवास करते हैं, जहाँ ऐसे वृक्ष होते हैं जिनके पत्ते तलवारकी तरह तेज धारोवाले होते है, जहाँ खैरके अंगारोके पर्वत दिखाई देते है और जहाँ खौलते हुए तेलके समुद्र लहराते रहते है। ऐसे आसुरी लोग उस भयंकर नरकलोकमे जाकर निवास करते हैं, जहाँ सदा यातनाओकी परम्परा लगी रहती है, जहाँ यमराज लोगोंको नित्य नये-नये दंड देते रहते हैं। परन्तु ऐसे नरकके बिलकुल मुख्य भागमे जो लोग जन्म लेते हैं, हे अर्जुन, वे लोग भी अपनी भ्रान्तिपूर्ण अवस्थामे यज्ञ-याग आदि करते हुए दिखाई देते है। यदि वास्तवमे देखा जाय तो, हे अर्जुन, यज्ञ-याग आदि समस्त विधि-विधान जिस

जीवन चलता है और जो काल स्वभावतः बलवान्, अलौकिक तथा भव्य है और जो मेघ अगम्य तथा आनन्दमय है, उस काल और मेघको भी जिस सामर्थ्यसे महत्व प्राप्त होता है, वह सामर्थ्य जिसमे ओत-प्रोत भरी हुई है, स्वयं वे भगवान अब कहने लगे।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

भगवानने कहा—"हे पार्थ, तुम्हारे मनकी प्रवृत्ति हम जानते है। तुम्हे शास्त्रोंके अध्ययनका बन्धन बहुत ही कष्टदायक जान पडता है। क्यो, यही बात है न? तुम अपने मनमे यह बात सोचते हो कि केवल श्रद्धाके द्वारा ही परम पद हस्तगत कर लिया जाय। परन्तु अरे पागल, यह काम इतना सहज नही है। हे अर्जुन, केवल यह कहना कि—"हमारी अपनी श्रद्धा है" और उसी पर आश्रित रहना ठीक नहीं है। यदि ब्राह्मण किसी अन्त्यजके साथ सम्बन्ध और मेल-जोल रखे तो क्या वह भी अन्त्यज ही नही हो जाता? मद्यके घडेमें भरकर चाहे गंगा-जल ही क्यों न लाया जाय, पर फिर भी उसको कभी स्वीकार नही करना चाहिए। तुम स्वयं ही इस बातका विचार करो कि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह ठीक है या गलत। यह ठीक है कि चन्दन वास्तवमे ठंढा होता है। परन्तु फिर भी यदि अग्निके साथ उसका संयोग हो जाय तो उस अवस्थामे यदि उसे हाथमे उठाया जाय तो क्या वह कभी विना जलाए रह सकता है? हे अर्जुन, यदि घटिया सोनेमें थोड़ा-सा खरा सोना मिला दिया जाय और तब यदि उसे खरा सोना मानकर ग्रहण किया जाय, तो क्या उसमें हानि न होगी? ठीक इसी प्रकार श्रद्धाका सत्व भी वास्तवमे खरा ही है। परन्तु वह सत्व जिन प्राणियोके हिस्सेमे आता है, वे प्राणी तो स्वभावतः अनादि मायासे उत्पन्न होनेवाले तीनो गुणोके ही बने हुए होते है। इन तीनों गुणोमेसे दो गुण तो दवे रहते हैं और एक गुण बलवान होता है। और तब प्राणियोकी वृत्ति उसी गुणके अनुरोधसे चलने लगती है। फिर वृत्तिके अनुसार ही मन होता है, मनके अनुसार ही कर्मोका आचरण होता है और तब मरनेके उपरान्त प्राणी अपने उन्ही कर्मोके अनुसार नवीन शरीर धारण करता है। जब बीज नष्ट हो जाता है, तब उससे वृक्ष बनता है; और फिर जब वृक्ष नष्ट होता है, तव वह बीजमें समाया रहता है। यह क्रम करोड़ो कल्पो तक चलता रहता है, परन्तु फिर भी जातिका कभी नाश नही होता। ठीक इसी प्रकार असंख्य जन्म होते रहते हैं, परन्तु प्राणियोके साथ जो त्रिगुणत्व लगा रहता है, वह कभी नही छूटता। इसी लिए तुम यह बात ध्यानमे रखो कि प्राणियोके हिस्सेमें जो श्रद्धा आती है, वह भी उनके गुणोके अनुसार होती है। यदि कभी किसी प्रकार शुद्ध सत्व गुणकी वृद्धि हो जाय तो उस श्रद्धासे कुछ ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। परन्तु उस एक सत्वके मारक दो और गुण भी तो वहाँ उपस्थित रहते हैं। सत्वकी सहायतासे श्रद्धा मोक्ष रूपी फलकी ओर प्रवृत्त होती है, परन्तु ऐसे अवसर पर रजोगुण और तमोगुण चुप-चाप क्यो बैठे रहें? अतः जब सत्वका बल तोडकर रजोगुण स्वतन्त्र रूपसे बढने लगता है, तब वही श्रद्धाकर्मोका वेगार करनेवाली खरीदी हुई दासी बन जाती

प्रकार होने चाहिएँ, उसी प्रकार होते है, परन्तु ये आसुरी लोग नाटकोंकी तरह ढोग रचकर उन विधि-विधानोको भी नष्ट कर देते है।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

"जिस प्रकार कोई वेश्या किसी यारके आश्रयमे रहकर व्यर्थ ही अपने आपको सौभाग्यवती समझकर सन्तोष करती है, उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी स्वयं ही अपने महत्वकी स्थापना करके मारे अभिमानके विलक्षण रूपसे फूल उठते है। फिर ढाले हुए लोहेके खम्भे या आकाशमे उठे हुए पर्वतके समान वे कभी नीचेकी ओर झुकना जानते ही नही। अपना सज्जनता उन्हे ऐसी अच्छी जान पडती है कि वे सारे ससारको तृणसे भी बढकर तुच्छ समझते है। इनके सिवा, हे अर्जुन, उन्हे धनका इतना अधिक लोभ ग्रस लेता है कि वे कभी भूलकर भी इस बातका विचार नहीं करते कि उचित क्या है और अनुचित क्या है। और जिसमे इस प्रकारकी वृत्ति बलवती हो, वह भला यज्ञ क्यो करने लगा! परन्तु इस बातका कोई नियम ही नही होता कि ये आसुरी पिशाच क्या करेगे और क्या नही करेगे। इसी लिए कभी-कभी मूर्खताके फेरमें पडकर ये लोग यज्ञोका स्वाँग रचनेका भी विचार करते है। परन्तु इनके यज्ञके लिए न तो कुड की ही, न मंडपकी ही और न वेदीकी ही आवश्यकता होती है। उन्हे यज्ञके लिए उपयुक्त साधनो की भी आवश्यकता नही होती और शास्त्रोक्त विधि-विधानोसे तो मानो उनका सदाका ही वैर रहता है। यदि कही इनके कानोमे देवताओ या ब्राह्मणोके नामकी भनक भी पड जाय तो उसे भी ये लोग सहन नही कर सकते। फिर भला ऐसी अवस्थामे इनके यज्ञोके फेरमे कोई देवता या ब्राह्मण कहाँसे आ सकता है? लेकिन तो भी जिस प्रकार मरे हुए बछडेकी खालमे भूसा भरकर और उसे गौके सामने खडा करके चतुर लोग उसका दूध दुहते है, उसी प्रकार ये आसुरी पुरुष भी लोगोको निमन्त्रण देकर बलपूर्वक अपने यज्ञोमे ले आते है और उनसे भेट या उपहार लेकर उन्हे व्यर्थ ही खर्चमे डालते है। इस प्रकार ऐसे आसुरी लोग कभी-कभी अपने लोभीपनके कारण होम करते है और उसमे अनेक जीवोका सत्तानाश करनेकी वासना करते है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

"फिर ये आसुरी लोग अपने आगे बाजे गाजे लेकर चलते है और व्यर्थ ही चारो तरफ यह पुकार मचाते फिरते है कि "हम दीक्षित हुए है।" उस समय इन दुष्टोका अपने महत्वका अभिमान शिखर पर जा पहुँचता है। जिस प्रकार अन्धकार-को कालिमाके पुट दिये जाने पर वह कालिमा और भी अधिक उग्र हो जाती है, उसी प्रकार उनकी मूर्खता और भी अधिक घनीभूत हो जाती है, उनकी उद्धतता शिखर पर जा पहुँचती है, अहंकार दूना हो जाता है और अविवेककी भी इसी प्रकार वृद्धि होती है। फिर मानो दूसरे किसीका नाम भी बाकी न रहने देनेके लिए उनकी बलिष्ठताको एक नवीन बल प्राप्त होता है। जब इस प्रकार अहंकार और बलका संयोग हो जाता है, तब उनके अभिमानका समुद्र मर्यादाको पार करके उसके बाहर

है। और फिर जब तमकी प्रबलता होनी है, तब उसी श्रद्धाकी ऐसी अवस्था हो जाती हैं कि वही आपसे आप विषयोके उपभोगमे फँस जाती है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

"हे सुविज्ञ अर्जुन, सारांग यही है कि इस जीव-संघको ऐसी निर्दोष श्रद्धा कभी प्राप्त हो नही सकती जो सत्व, रज और तमसे अलिप्त हो। श्रद्धा स्वभावतः तत्व ही है, परन्तु वह तीनो गुणोसे घिरी हुई रहती है और इसी लिए उसके राजस, तामस और सात्विक ये तीन भेद होते है। यो तो जीवन तत्व जल ही है, पर वही जल विषमे मारक होता है, मिर्चमे तीक्ष्ण होता है और ऊखमे मीठा होता है। इसी प्रकार जो सदा घनघोर तमसे युक्त होकर बार बार जन्म लेता और मरता है, उसकी श्रद्धा भी तमोरूप ही होती है। फिर जिस तरह काजल और स्याहीमे किसी प्रकारका भेद नही किया जा सकता, उसी तरह यह श्रद्धा भी तामसी ही होती है और उसमे तमसे भिन्न और कुछ भी नही होता। ठीक इसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि रजोगुणसे युक्त जीवको श्रद्धा राजसी और सात्विक जीवकी श्रद्धा सदा पूर्ण रूपसे सात्विक ही होती है। इस प्रकार यह सारा जगत केवल श्रद्धासे ही भरा हुआ है। परन्तु इन तीनो गुणोकी सामर्थ्यसे श्रद्धा पर जो तीन प्रकारकी छाप बैठती है, उसका तुम ध्यान रखो। जिस प्रकार फूलको देखकर उसकी सहायतासे वृक्ष पहचाना जाता है अथवा बातोसे मनुष्यके मनका विचार समझा जाता है अथवा जैसे इस जन्मके भोगको देखकर पूर्व जन्मोके कर्म जाने जाते हैं, उसी प्रकार जिन चिन्होके द्वारा श्रद्धाके ये तीनो रूप पहचाने जा सकते हैं, वे चिन्ह अब मैं तुम्हे बतलाता हूँ, सुनो।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

"जिसकी शारीरिक गठन सात्विक श्रद्धाकी होती है, उसका प्राय स्वर्ग-सुखकी ओर अनुराग रहता है। वह सब विद्याएँ सीखता है, यज्ञ आदि विधान करता है और केवल यही नही, बल्कि देव-लोकमे उसका प्रवेश भी हो जाता है। और हे अर्जुन, जो लोग राजस श्रद्धाकी मूर्ति होते हैं, वे राक्षसो और पिशाचोकी भक्ति करते हैं। और जो लोग तामसी श्रद्धावाले होते हैं, अब मैं उनके भी लक्षण बतलाता हूँ। जो जीव केवल पापकी राशि ही होते हैं, जो अत्यन्त कठोर और निष्ठुर होते हैं, जो हत्याएँ करके सन्ध्याके समय घृणित श्मशानमे भूत-प्रेतके मंडलोकी पूजा करते हैं, उन जीवोके सम्बन्धमे यही समझना चाहिए कि वे तमोगुणके अगका रस निकालकर ही बनाये गये हैं। ऐसे लोग तामसी श्रद्धाका मानो जन्म स्थान ही होते हैं। इस प्रकार इन तीन चिन्होसे युक्त ये तीनो प्रकार की श्रद्धाएँ संसारमे दिखाई देती हैं। परन्तु ये सब बातें कहनेका मेरा अभिप्राय यही है कि, हे सुविज्ञ अर्जुन, तुम भी अपने मनमें सात्विक श्रद्धा ही रक्षापूर्वक रखो और बाकी जो दोनो घातक श्रद्धाएँ है, उन्हे अपनेसे बिलकुल अलग कर दो। हे अर्जुन, यह सात्विक श्रद्धा जिसकी संरक्षक हो जाती है, उसे कैवल्यका बिलकुल डर नही जान पड़ता,

निकल जाता है। जब इस प्रकार गर्वकी बहुत अधिक वृद्धि होने लगती है, तब कामका पित्त भी खूब प्रबल होता है और उसके कारण क्रोधाग्नि एक दमसे भड़क उठती है। फिर जिस प्रकार बहुत कडी गरमीके दिनोमें घी और तेलके भांडारमें भीषण आग लगे और उसी समय खूब जोरोकी हवा भी चलने लगे, ठीक उसी प्रकार जब इन आसुरी लोगोंका बल बहुत बढ़ जाता है और उनका अहंकार काम तथा क्रोधसे युक्त हो जाता हैं और इस प्रकार इन सबका संयोग हो जाता है, तब भला वे लोग मनमानी हिसा करनेमे आगा-पीछा क्यो करने लगे? हे अर्जुन, फिर ऐसे यज्ञकर्त्ता आसुरी लोग सबसे पहले जारण, मारण आदि प्रयोग सिद्ध करनेके लिए स्वयं अपने ही रक्त और मांसका व्यय करने लगते है। फिर वे जीवित शरीर जलाते है और इस कृत्यसे इस शरीरमे रहनेवाला जो मैं हूँ, उस मुझ आत्म-तत्वको विलक्षण ताप पहुँचाते है। और ये जारण, मारण करनेवाले अभिचारक जिनको पीड़ा पहुँचाते है, उन सबमे मै ही चैतन्य रूपमें रहता हूँ, इसलिए उन सब उपद्रवों-का कष्ट मुझको ही होता है। और जो लोग दैवयोगसे उनके अभिचारोके जालसे बच जाते है, वे लोग उनकी दुष्ट निन्दाके पत्थरोको वर्षासे विकल होते है (अर्थात् वे लोग उनकी निन्दा करके उन्हे कष्ट पहुँचाते है)। सती, पतिव्रता, साधु, सन्त, दाता, याज्ञिक, लोकोत्तर, तपस्वी, संन्यासी, महात्मा, भक्त आदि मेरे परम प्रिय विषय है; और इन्ही लोगोके आचरण करनेसे समस्त श्रौत, स्मार्त्त आदि क्रियानुष्ठान पवित्र होते है। परन्तु ये आसुरी लोग उन सज्जनो पर भी द्वेषके भयंकर विषसे बुझे और तीक्ष्ण किये दु.शब्द रूपी तीव्र वाणोका प्रहार करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

"अच्छा, अब यह सुनो कि इस प्रकार सभी तरहसे जो लोग मेरे साथ वैर करते है, उसकी मैं किसी प्रकार व्यवस्था करता हूँ। ये लोग मानव शरीरके धागेका आश्रय लेकर सारे संसारके साथ लापरवाहीके साथ व्यवहार करते है, इसलिए मैं उनकी ऐसी गति करता हूँ कि क्लेश रूपी गाँवका सारा कूड़ा-करकट जहाँ इकठ्ठा होता है, और संसार रूपी नगरका सारा गन्दा जल जहाँ वहकर जाता है, उसी स्थानकी तामस योनियोमे मैं इन मूढोको रखता हूँ। फिर जिस स्थान पर आहारके लिए तृण तक नही उगता, उस उजाड वनमे मैं उन्हे वाघ अथवा विच्छूकी योनिमें उत्पन्न करता हूँ। उस समय भूखसे व्याकुल होकर वे लोग स्वयं अपने ही शरीरका मांस नोच नोचकर खाते रहते है और बार-बार मरकर वही जन्म फिरसे धारण करते रहते हैं। अथवा मैं उन्हे उस सापका जन्म देता हूँ जो स्वयं अपने ही विषकी आँचसे स्वयं अपने ही शरीरकी त्वचा जलाता है, और उन्हें बिलोमे बन्द कर रखता हूँ। अन्दर खींचा हुआ श्वास बाहर निकालनेमे जितना समय लगता है, उतना समय भी मैं कभी इन दुष्टोको विश्राम करनेके लिए नही देता। और उतने अनन्त काल तक मैं इन क्लेशोंसे उन्हे छुटकारा नही देता, जिसकी तुलनामें करोडो कल्पोकी सख्या भी कम ही होती है। फिर इन आसुरी लोगोको अन्तमें जिस स्थितिमे जाना पड़ता

फिर चाहे वह ब्रह्मसूत्र न पढ़ा हो अथवा शास्त्रोंमें पारंगत न हुआ हो अथवा उसे महासिद्धान्तोकी प्राप्ति न हुई हो। जो बड़े लोग केवल श्रुतियों और स्मृतियोंके अर्थोंके मूर्तिमान अवतार होकर संसारको सदाचरणका उदाहरण दिखलाते है, उनके आचरणका ढंग देखकर और उसीके अनुरोधसे वे लोग भी सात्विक श्रद्धासे आचरण करते है और इसी लिए शास्त्रो आदिके अध्ययनसे प्राप्त होनेवाला फल उन्हें अनायास ही मिल जाता है। एक आदमी तो बहुत अधिक प्रयत्न करके दीपक जलाता है और दूसरा आदमी सहजमे ही उस दीपककी सहायतासे अपना दीपक भी जला लेता है। परन्तु क्या उस दूसरे दीपक जलानेवालेको प्रकाश नही मिलता? या कुछ कम मिलता है? एक मनुष्य बहुत अधिक द्रव्य व्यय करके बहुत बड़ा और पक्का मकान तैयार करता है। परन्तु जो और लोग उस मकानमे रहते हैं, क्या उन्हे उस मकानका वह सुख भोगनेको नही मिलता? क्या तालाब केवल उसीकी प्यास बुझाता है जो उसे बनवाता है और दूसरोकी प्यास नही बुझाता? अथवा क्या ऐसा भी होता हैं कि घरमें भोजन केवल उसीको मिले जो उसे पकाता हो और बाकी दूसरे लोगोको न मिले? हे अर्जुन, मैं इस विषयकी बहुत बाते नही कहता। केवल यही कहता हूँ कि गौतम ऋषि बहुत अधिक प्रयत्न करके गंगा (गोदावरी) नदीको इस पृथ्वी पर लाये थे। परन्तु क्या कभी किसीको इस बातका भी अनुभव हुआ है कि वह केवल गौतमके लिए ही पवित्र गंगाके रूपमें सिद्ध हुई थी और दूसरोके लिए वह कवल साधारण नालेके समान सिद्ध हुई हो? इसलिए जो मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार शास्त्रोका मार्ग जानता है, उसका अनुकरण जो कोई श्रद्धापूर्वक करता है, वह यदि मूर्ख भी हो तो भी तर जाता है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

"अब जो लोग शास्त्रोका नाम उच्चारण करनेके लिए अपना गला साफ करनेका भी विचार नही करते, केवल यही नही, जिन्हे शास्त्रज्ञोका सम्पर्क भी सहन नहीं होता, जो बडे लोगोका आचरण और व्यवहार देखकर बन्दरोंकी तरह उनकी नकल उतारते और चुटकियाँ बजा बजाकर उनकी हँसी उडाते है और अपने ही बड़प्पनके अभिमानमे तथा सम्पत्तिके मदसे धर्म भ्रष्ट क्रियाओका आचरण करते है, जो लोग अपने तथा दूसरोके अंगोमे लकड़ी काटनेके औजारसे घाव करके रक्त और माससे यज्ञ-पात्र भरपूर भरते है और फिर उन्हे जलते हुए यज्ञकुंडमे डालते है और कुछ विशिष्ट देवताओके मुँहमे लगाते हैं, जो अपनी मन्नत पूरी करनेके लिए बालकोका बलिदान करते हैं, जो क्षुद्र देवताओका वर प्राप्त करनेके लिए आग्रहपूर्वक सात सात दिन तक उपवास करते है, भाई सुविज्ञ अर्जुन, वे लोग तमोगुणके क्षेत्रमे आत्मक्लेश और पर-पीडाके बीज बोते है, और फिर वही बीज अंकुरित होकर अपनी जातिकी फसल तैयार करते हैं। फिर ऐसे मनुष्योकी वैसी ही अवस्था होती है जैसी उस मनुष्यकी होती है। जिसके न तो हाथ ही होते है और न जो नावका ही आश्रय ग्रहण करता है, परन्तु फिर भी जो समुद्रमे पड जाता है; अथवा जिस प्रकार वह रोगी स्वयं ही पीड़ासे व्याकुल होता है जो वैद्योसे भी विरोध करता है और औषध-

है, उसका यह पहला ही पड़ाव होता है। फिर भला इस पड़ावसे आगे बढ़ने पर भला उन्हे इनसे भी बढकर भयंकर दुःख क्यो न भोगने पड़ेंगे।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

"इन आसुरी सम्पत्तिके कारण ऐसे लोग इतनी भीषण दु खमय स्थिति तक पहुँचते है। परन्तु इसके उपरान्त व्याघ्र आदिकी तामस योनियोमे भी विश्राम करनेके लिए शरीरका जो थोडा-सा आधार रहता है, उनका वह आधार भी मैं उनसे छीन लेता हूँ और तब वे लोग शुद्ध तमका ही रूप बन जाते है और ऐसे घोर तम हो जाते है कि यदि वे कालिखके साथ भी लग जायँ तो वह भी और अधिक काली हो जाय। फिर वे ऐसे घृणित हो जाते हैं कि पापको भी उनसे घृणा होने लगती है, नरक भी उनसे डरता है, स्वयं कष्ट भी उनके कष्ट देखकर मूर्छित हो जाता है, मल भी उनके सम्बन्धसे मलीन हो जाता है, ताप भी उनसे तप्त हो जाता है, महा-भय भी उनसे थरथर काँपने लगता है, पाप भी उनसे घृणा करता है, अमंगल भी उन्हे अमंगलका रूप समझता है और छुआछूत भी उनके संसर्ग-दोषसे डरती है। इस प्रकार ये सारे ससारके अधर्मोंसे भी बढकर अधम आसुरी लोग भिन्न-भिन्न योनियोमे जाकर अन्तमें, हे अर्जुन, प्रत्यक्ष तम ही बन जाते है। इन मूर्खोंने भी कैसे नरकोका साधन किया है! इसका वर्णन करनेमे वाणी भी विकल हो जाती है और मन डरकर पीछे हट जाता है। जिसके कारण ऐसी भयंकर अधोगति होती है, समझमे नही आता कि वही दुष्ट आसुरी सम्पत्ति ये लोग क्यो अपने पास एकत्र करते हैं! इसी लिए, हे अर्जुन, तुम कभी आसुरी सम्पत्तिके रास्ते भी न लगो। जहाँ आसुरी सम्पत्तिके स्वामी रहते हो और जहाँ ऊपर बतलाये हुए दम्भ आदि छओ दोष दिखाई देते हो, वहाँ अपने पैर भी न रखना ही उचित है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

"जहाँ काम, क्रोध और लोभके त्रिकूटकी प्रबलता हो, वहाँ यह समझना चाहिए कि अमगलकी ही उपज होती है। हे अर्जुन, समस्त दु खोने इन तीनोका एक ऐसा मार्ग बना रखा है, जिससे चलकर जो चाहे, वही उन दु खोके दर्शन कर सकता है—वह दुःख प्राप्त कर सकता है। अथवा पापियोको नरक-भोगमे ढकेलनेके लिए ही पातकोकी यह एक बहुत बडी सभा स्थापित हुई है। जब तक अन्त करणमे इन तीनोका संचार नही होता, तब तक रौरव नरककी ख्याति पुराणोमे ही जहाँकी तहाँ पड़ी रहती है। परन्तु ज्योही इन तीनो दोषो का सँचार होता है, त्योही समस्त उपाय या बुराइयाँ आकर मनुष्य मे लग जाती है; और कष्ट तो मानो एक दमसे सस्ते हो जाते है और बहुत सहजमे प्राप्त होते हैं। ससारमे लोग जिसे हानि कहते हैं, वास्तवमे वह हानि नही है। वास्तविक हानिके रूपमे यही तीनो हैं। हे वीर अर्जुन,

को भी लात मारकर दूर करता है। अथवा आश्रय देनेवाले मनुष्यके साथ झगड़ा करके स्वयं ही अपनी आँखें फोड लेनेवाले अन्धेकी अपनी ही घरमे जो दुर्दशा होती है, बस ठीक उसी तरहकी दुर्दशा उन लोगोकी भी होती है, जो शास्त्रोका आश्रय तिरस्कारपूर्वक छोड देते हैं और मोहके कारण भीषण वनोमें इधर-उधर भटकते हैं। ऐसे लोग वही काम करते हैं जो काम करनेके लिए विषय-वासनाएँ उनसे कहती हैं। क्रोध जिसे मारनेको कहता है, उसीको वे मारते है, और केवल इतना ही नही, बल्कि सबके हृदयमे रहनेवाला जो "मै" हूँ, उस "मुझ" को भी वे दु ख रूपी पत्थरोके नीचे दबा देते है।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

"ऐसे लोग अपने तथा दूसरोके शरीरोको जो-जो दु ख देने है, उन सबकी सारी पीडा मुझ आत्माको ही होती है। यदि वास्तवमे देखा जाय तो वाणीसे भी ऐसे पापियोका सम्पर्क नही होने देना चाहिए। परन्तु ये सब बाते इसलिए कहना आवश्यक हुआ है कि सबको इस बातका बोध हो जाय कि ऐसे पापियोसे सदा दूर रहना चाहिए, और इसलिए इस अवसर पर उनका उल्लेख किये बिना काम ही नही चल सकता। देखो, मृत शरीरको हाथोसे उठाकर घरसे बाहर निकालना पड़ता है, अन्त्यज रास्ता बतलानेके लिए उसके साथ एक-दो बातें करनी पडती हैं और केवल यही नही, बल्कि मल हाथोसे धोना पडता है। परन्तु यह आशा रहती है कि ये सब कृत्य करके हम शुद्ध हो जायँगे, और इसीलिए जिस प्रकार हम इस तरहकी बातोमें कोई अमंगल नही मानते, उसी प्रकार आसुरी वृत्तिको दूर करनेके लिए ही यहाँ उसका वर्णन किया गया है। इस लिए हे अर्जुन, यदि कभी ऐसे असुरोका तुम्हे दर्शन हो जाय तो उस समय तुम हमारा स्मरण करो, क्योकि यह पाप और किसी प्रायश्चित्तसे दूर नही हो सकता। और इसी लिए जिस सात्विक श्रद्धाका मैं अभी वर्णन करना चाहता हूँ, उसका सब प्रकारसे अच्छी तरह संग्रह और रक्षा करनी चाहिए। इसके लिए ऐसे ही लोगोका सग करना चाहिए जिनसे सत्वगुणके सम्बन्धको बल प्राप्त हो और ऐसे ही आहारका सेवन करना चाहिए जिसमे सत्वगुणकी वृद्धि हो। साधारणत स्वभावकी वृद्धिको बल देनेवाला अन्नके सिवा और कोई साधन नही है। हे वीर अर्जुन, जिसका होश-हवास ठिकाने हो, वह जब मद्य पी लेता है, तब तुरन्त ही वह आपेसे बाहर हो जाता है। यह बात हम लोग प्रत्यक्ष देखा ही करते है। जो सदा अन्न-रसका सेवन करता है, उसे सहज ही वात और कफ आदिके विकार होते है। यदि किसी मनुष्यको ज्वर आवे तो क्या वह ज्वर कभी दूध आदि पीनेसे कम होना है? जिस प्रकार अमृतका सेवन करनेसे मनुष्य मृत्यु के मुँहमे जानेसे बचता है अथवा विष जिस प्रकार सब अंगोमे पहुँच कर उन्हें विषाक्त कर देता है, ठीक उसी प्रकार जिस तरहके आहारका सेवन किया जाय, उसी तरहका देह-गत धातु-रस बनता है और धातु-रसके अनुसार ही मनुष्यके मनमें भावनाओका पोषण होता है। जिस प्रकार बरतनके गरम होने पर उसमे रखा हुआ

अब मैं तुमसे और अधिक क्या कहूँ। समस्त नारकोमे जो सबसे अधिक भयंकर नरक है, उसका प्रवेश द्वार इन्ही तीनोका त्रिशूल है। इस त्रिशंकु अर्थात् तीनो मुखवाले प्रवेश द्वार पर जो जीव खड़ा रहे, वही नरक-रूपी नगरीके मुख्य सभा गृहमे प्रवेश करता है, इसलिए हे अर्जुन, मैं बार-बार तुमसे खूब अच्छी तरह कहता हूँ कि काम क्रोध और लोभके दुष्ट त्रिकूटका सभी अवसरों पर पूर्ण रूपसे परित्याग ही करना चाहिए और उन्हे सदा दूर भगाना चाहिए।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

"जीवको केवल उसी अवस्थामे धर्म आदि चारो पुरुषार्थोकी बाते मुँहसे निकालनी चाहिएँ, जब कि वह इन सब दोषोकी मंडलीको अपनेसे बिलकुल दूर कर दे। जब तक ये तीनो दोष जीवमे जाग्रत रहते है, तब तक हमारे कान यह बात नही सुन सकते है कि उसे सच्चे कल्याणकी प्राप्ति होगी।" बस यही सब बाते श्रीकृष्णदेवने उस समय कही थी। इसके उपरान्त वे फिर कहते है—"जिसके मनमे आत्मके प्रति प्रेम हो और जिसे आत्म-नाशका भय हो, उसे इस मार्गमे कभी नही जाना चाहिए। उसे निरन्तर जाग्रत ही रहना चाहिए। जिस प्रकार कोई अपने पेटके साथ पत्थर बाँधकर केवल अपनी भुजाओके बलसे ही समुद्रको तैर कर पार करना चाहता हो अथवा जीवित रहनेके उद्देश्यसे कालकूट विष पीता हो, उसी प्रकारका वह मनुष्य भी होता है, जो काम, क्रोध और लोभको अपने साथ रखकर अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है। इसलिए इन सबका नाम निशान तक मिटा डालना चाहिए। जब यह तीन कड़ियोवाली श्रृंखला टूटती है, तभी जीव आत्म-हितके मार्ग पर सुखपूर्वक जा सकता है। जिस प्रकार कफ, पित्त और वातके तीनो दोषोसे मुक्त शरीर अथवा चुगली, चोरी और छिनालेके त्रिकूटसे अलिप्त रहनेवाला नगर अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनो तापोसे मुक्त अन्तःकरण सुखी होता है, उसी प्रकार इन तीनो कामादिकोसे मुक्त जीव भी संसारमें सुखी होता है। और वह मोक्षके मार्ग पर लगकर साधुसन्तोको संगति प्राप्त करता है। फिर सत्संगके प्रभावसे और शुद्ध शास्त्रोकी सहायतासे वह जन्म और मृत्युके पथरीले और उजाड जगलसे बाहर निकल जाता है। फिर उस समय गुरुकी कृपासे उसे वह नगर प्राप्त होता है, जिसमे निरन्तर आत्मानन्दका ही राज्य रहता है। वहाँ उस आत्म-स्थिति-रूपी माताके गले लगता है, जो समस्त प्रिय जनोकी पराकाष्ठा है और उस माताके साथ भेट होते ही संसारका बना हुआ नगाड़ा बन्द हो जाता है। इस प्रकार जो पुरुष काम, क्रोध और लोभको अपनेसे बिलकुल दूर और अलग करके और स्वतन्त्र होकर खड़ा होता है, वही इस प्रकारके लाभका स्वामी होता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

"परन्तु जो आत्म-घातकी पुरुष इन सब बातो पर ध्यान नही देता और काम

पानी भी गरम हो जाता है, ठीक उसी प्रकार धातु-रसका चित्तकी वृत्तियो पर संस्कार होता है। इसलिए जब सात्विक अन्न खाया जाय, तभी सत्वगुणकी वृद्धि होती है। अन्य प्रकारके अन्न खानेसे चित्तकी वृत्ति राजस अथवा तामस होती है। इसलिए अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि सात्विक आहार कौन-से है और राजस तथा तामस आहारोके लक्षण क्या है। तुम अच्छी तरह इस ओर ध्यान दो।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

"आहार तो सब एक ही है, परन्तु हे वीर अर्जुन अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि वे तीन प्रकारके किस तरह होते है। खानेवालेकी रुचिके अनुसार अन्न बनता है और खानेवाला गुणोका दास बना रहता है। जो जीव कर्त्ता और भोक्ता होता है, वह तीनो गुणोके कारण स्वभावत· तीन प्रकारका होता है और इसी लिए वह तीन प्रकारसे आचरण करता है। इसीलिए आहार भी तीन प्रकारका होता है। ठीक इसी प्रकार यज्ञ, तप और दानके व्यवहार भी तीन प्रकारके होते हैं। अब सबसे पहले आहारके लक्षण बतलाता हूँ, सुनो। ये लक्षण बहुत ही सुगम करके बतलाये जायँगे।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥

"यदि दैव-योगसे खानेवालेकी प्रवृत्ति सत्वगुणकी ओर हो तो उसकी रुचि मधुर पदार्थोके सम्बन्ध मे बढती है। जो खाद्य-पदार्थ मूलतः सुरस, मधुर, रसपूर्ण और पके हुए होते है, जो आकारमे टेढे तिरछे और बेढगे नही होते, जो स्पर्श करने पर हाथोको बहुत ही कोमल जान पडते है और जिह्वाको उत्तम तथा स्वादिष्ट जान पड़ते है, जो रससे भरे हुए रहते है और छूनेमे नरम लगते है और जिनमेंका द्रव-भाग अपने स्थान पर ही अग्निके तापसे सूख जाता है, जो पदार्थ आकार और मानके विचारसे देखनेमे छोटे ही होते हैं, परन्तु जो अन्तमे हितकारक होते है, जो गुरुके मुखसे निकले हुए शब्दोकी भाँति अल्प होने पर भी अपरम्पार समाधान करते है और जो अन्दर जाकर पेटके लिए भी उतने ही सुखकर होते है, जितने वे खानेमे मुखको मधुर लगते है, उन सब खाद्य-पदार्थोके प्रति सात्विक मनुष्योकी बहुत अधिक रुचि रहती है। जो अन्न ऐसे लक्षणोसे युक्त हो, उसीको सात्विक समझना चाहिए। ऐसा अन्न निरन्तर आयुष्यका सरक्षण करता है। इस प्रकारके सात्विक रसका मेघ जब शरीरमे अपनी वर्षा करता है, तब आयुष्य रूपी नदी दिन पर दिन बढती जाती है। हे सुविज्ञ, अर्जुन, जिस प्रकार दिनके बढनेका कारण सूर्य होता है, उसी प्रकार इस तरहका आहार सत्वको पोषण करनेवाला होता है। शरीर और मनके बलका यही आहार आधार होता है। जब इस प्रकारका आहार हो, तब भला रोगको शरीरमें कहाँ ठिकाना मिल सकता है? जब इस प्रकारका सात्विक आहार मनुष्य-को प्राप्त होता है, तब यह समझ लेना चाहिए कि उसके शरीरका आरोग्य भोगनेका भाग्य उदय हो आया है। इस प्रकारके आहारके कारण मनुष्य स्वयं भी सुख भोगता है और दूसरोको भी सुखी करता है। जब इस प्रकारका सात्विक आहार

मनुष्यके अन्दर पहुँचता है, तब वह शरीरके लिए भी और अन्दरकी इन्द्रियोके लिए भी अत्यन्त उपकारक होता है। प्रसंग आ गया है, इसलिए अब मैं यह भी बतला देता हूँ कि रजोगुणी मनुष्योको किस प्रकारका अन्न अच्छा लगता है।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

"जो पदार्थ इतना कडुआ होता है कि कालकूट विषका कडुआपन भी उसके सामने कोई चीज नही, जो चूनेसे भी वढकर दाहक होता है और इसी प्रकार जो विकट अम्ल होता है, जिस प्रकार आटेका पेड़ा बनानेके लिए उसमें पानी डाला जाता है, उसी प्रकारके अन्नके रसके योगसे जो पदार्थ नमकके गोलेकी तरह बना होता है और साथ ही जिसमे और भी अनेक क्षार रस उतनी ही अधिक मात्रामें मिले हुए होते हैं, वही सव अपरम्पार खारे पदार्थ रजोगुणी पुरुषोको अच्छे लगते हैं। ऐसे लोग कहा करते हैं कि गरमागरम भोजन अच्छा होता है और इसी लिए वे आगकी तरह जलानेवाले गरम अन्न खाते हैं। रजोगुणी पुरुष वहुत आग्रहसे इतना अधिक गरम अन्न माँगते हैं जिसकी भापके अग्रभागमे यदि दीपककी वत्ती लगा दी जाय तो वह भी जल उठे। पत्थरको तोडने और छेदनेवाली टाँकीकी प्रखरता प्रसिद्ध है। वस उसी टाँकीके समान तीव्र अन्न वे लोग भक्षण करते है। ऐसे अन्न ऊपरसे देखनेमे तो कोई घाव या जख्म नही करते, परन्तु अन्दर जाकर वे वहुत चुभते हैं। इसी प्रकार जो अन्न अन्दर और बाहर राखके समान सूखा होता है, उसके खानेसे जीभमे जो चटकारा आता है, वह उन्हे बहुत अच्छा लगता है। जो अन्न खानेसे दाँत एक दूसरे पर पडकर कड़ाकड़ वोलते हैं, वह अन्न मुँहमे रखनेसे उन्हे परम सन्तोष होता है। जो पदार्थ एक तो पहले ही चरपरे होते है और तीस पर जिनमे राई पडी होती है और जिन्हे खानेसे नाक और मुँहसे वरावर पानी वहने लगता है, केवल इतना ही नही, वल्कि अपनी तेजीके कारण आगको भी पीछे हटा देनेवाले चरपरे पदार्थ और अचार आदि ऐसे पुरुषोको प्राणोसे भी अधिक प्रिय जान पडते है। इस प्रकार जीभका चटोरापन जिसे पागल वना देता है, वह अन्नके रूपमे अपने पेटमे जलती हुई आग ही भरता रहता है। इस प्रकारके पदार्थ खानेसे शरीरमे ऐसी जलन पैदा होती है कि उस आदमीको न तो जमीन पर ही और न विछौने पर ही शान्ति मिलती है। और जल पीनेका पात्र कभी उसके मुँहसे अलग नही होता। इस प्रकारके ये सव पदार्थ आहार नही होते, वल्कि शरीरमे जो रोग रूपी काल-सर्प रहता है, उसे जगाने ओर उत्तेजित करनेके साधन ही होते है जो पेटमे भरे जाते हैं। इस प्रकारके अन्न प्राप्त होते ही सव रोग एक दूसरेके साथ स्पर्धा करते हुए एक दमसे उठ खडे होते हैं। इस प्रकार ये राजस आहार केवल दु.ख रूपी फल ही उत्पन्न करते है। हे अर्जुन, इस प्रकार मैंने तुम्हे राजस आहारके लक्षण वतला दिये हैं और साथ ही उनके परिणामोका भी स्पष्टीकरण कर दिया है। अव मैं तुम्हे यह भी वतलाता हूँ कि तामस पुरुषोको किस प्रकारका आहार अच्छा लगता है। परन्तु सम्भव है कि उस आहारका वर्णन सुनकर तुम्हे कुछ घृणा हो।

हार होता है। यदि उसने उस याचकका बहुत सत्कार किया तो उसी प्रकार उसके हाथ पर बहुत ही थोडा-सा द्रव्य रख देता है, जिस प्रकार कोई कर्जदार तगादा करनेवालेके हाथ पर कुछ रखकर अपना पीछा छुडाता है। और इस प्रकार दान देते समय भी उसके मुँहमे अबे-तबे आदिकी तरहकी अपमानकारक बाते बराबर निकलती रहती है। और हे अर्जुन, इस प्रकार जो दान वह किसीको देता है, उसका वह तामसी दानकर्त्ता उस ग्रहीतामे वार-वार उल्लेख भी करता जाता है और भली बुरी बाते कहकर उसका अपमान भी करता चलता है। परन्तु इस विषयका यथेष्ट विस्तार हो चुका। हे अर्जुन, इस प्रकार जो द्रव्य दान किया जाता है, उसे सर्वज्ञ तामस दान ही कहते है। इस प्रकार मैंने तुम्हे राजस, तामस आदि तीनो प्रकारके दान ऐसे लक्षणो सहित बतला दिये हैं जिनसे वे सहजमे पहचाने जा सकते है। परन्तु हे सुविज्ञ अर्जुन, मुझे ऐसा जान पडता है कि कदाचित् तुम्हारे मनमे इस प्रकारकी कल्पना हो सकती है कि यदि संसारसे मोक्ष दिलानेवाला एक मात्र सात्विक कर्म ही है, तो फिर दूसरे बन्धनकारक दुष्ट कर्मोका वर्णन क्यो होता है ? तो इसका उत्तर यही है कि जब तक भूत नही भगाया जाता, तब तक जमीनमे गडा हुआ धन नही मिलता और न धूएँका कष्ट सहे बिना दीपककी वत्ती ही जलती है। इसी लिए शुद्ध सत्वको छिपानेवाले जो जो रज और तमके आवरण है, उन आवरणोको फाडकर दूर करनेका कृत्य भला कैसे बुरा कहा जा सकता है ? मैंने जो अभी (अर्थात् दूसरे श्लोकसे लेकर बाइसवे श्लोक तक) यह बतलाया है कि श्रद्धासे लेकर दान तक समस्त कर्म समूह तीनो गुणोसे व्याप्त रहते है उनमेसे मैं केवल तीन ही प्रकारोका वर्णन करना चाहता था, परन्तु सत्वका ठीक ठीक स्वरूप स्पष्ट करनेके लिए ही मैंने और प्रकारोका भी वर्णन किया है। जो वस्तु दूसरी दो वस्तुओके ठीक मध्यमे दबी हुई रहती है, उसका ठीक-ठीक स्वरूप तभी स्पष्ट होता है, जब उस वस्तुको दबाने या छिपानेवाली बाकी दोनो वस्तुओका स्वरूप स्पष्ट कर दिया जाय। जब दिन और रात दोनोका त्याग कर दिया जाय, तब सन्ध्या-कालका ठीक-ठीक प्रत्यय हो जाता है। ठीक इसी न्यायसे जब रज और तमका नाश हो जाता है, तब जो सत्व बाकी रह जाता है, वह आपसे आप मूर्तिमान होकर सामने आ जाता है। इसी विचारसे और सत्वका पूरा पूरा ज्ञान तुम्हे करानेके लिए ही मैंने इस समय रज और तमका भी निरूपण किया है। तुम रज और तमको छोडकर सत्व गुणकी सहायतासे अपने कर्त्तव्यका पालन करो। तुम निर्मल सत्व-गुणसे युक्त होकर ही यज्ञ आदि कर्मोका आचरण करो, बस फिर तुम्हे अपना आत्म-स्वरूप हो जायगा। जब स्वयं सूर्य ही दिखानेवाला बन जाय तो फिर भला ऐसी कौन-सी चीज हो सकती है जो दिखाई न दे ? ठीक इसी प्रकार यदि सत्वकी सहायतासे कार्य किया जाय को ऐसा कौन-सा फल है जो प्राप्त न हो सकता हो ? तात्पर्य यह कि इस बातमे कुछ भी सन्देह नहीं कि जितने प्रकारकी शक्तियोकी आवश्यकता होती है, वे सब सत्व गुणमे पायी जाती हैं। परन्तु मोक्ष प्राप्त करके आत्म-स्वरूपमे सम-रस हो जाना कुछ और ही बात है। जिस समय उसकी सहायता प्राप्त होती हैं, उस समय मोक्षके-प्रान्तमे भी आपसे

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

"बासी, सड़ा हुआ और जूठा-मीठा अन्न खाते समय तमोगुणी आत्म-घातकी पुरुषके मनमे कुछ भी घृणा नही उत्पन्न होती। जिस प्रकार भैंस जूठा और बासी अन्न आदि बहुत प्रेमसे खाती है, उसी प्रकार तामस पुरुष भी दोपहरका बना हुआ भोजन अथवा एक दिन पहलेका पका हुआ और बचा हुआ बासी भोजन बहुत आनन्दसे खाता है। अथवा जो अन्न आधा पका हुआ होता है अथवा जलकर राख हो जाता है अथवा जिसमेके रसका अच्छी तरह परिपाक नही हुआ होता, वही अन्न वह खाता है। जो अन्न पूरी तरहसे पका हुआ होता है और जिसके रसका स्वाद खूब अच्छा होता है, वही अन्न वास्तवमे खानेके योग्य होता है। परन्तु तामस पुरुषोको ऐसे अन्नका कुछ भी अनुभव नही होता—ऐसे अन्नका वे कुछ भी स्वाद नही जानते। यदि कभी दैव-योगसे इस तरहका ताजा और स्वादिष्ट अन्न उन्हे मिल भी जाय तो भी वे वह अन्न नही खाते और बाघकी तरह उसे तब तक रख छोड़ते है, जब तक वह अच्छी तरह सड़ नही जाता और उसमेसे दुर्गन्ध नही निकलने लगती। क्योकि जो अन्न बहुत दिनों तक पड़ा रहनेके कारण बिल्कुल सड़ जाता है, जो स्वाद-हीन हो जाता है, सूख जाता और नीरस हो जाता है अथवा सड़ जाता है, बल्कि यहाँ तक कि जिसमें कीड़े भी बिलबिलाने लगते हैं, वही पदार्थ वह छोटे-छोटे बालकोकी तरह एकमें मिलाकर कीचड़की तरह बना लेता है और वही अन्न वह खाता है, और तभी वह यह समझता है कि आज बहुत सुन्दर भोजन हुआ। परन्तु इस प्रकारके अन्नसे भी उन पापियोकी तृप्ति नही होती। इसके उपरान्त वह जो विलक्षण काम करता है, वह भी सुन लो। जो वस्तुएँ शास्त्रोमे निषिद्ध मानी गई है और दुष्ट होती हैं, उन न खाने पीनेके योग्य वस्तुओको खाने-पीनेकी भयङ्कर वासना वह तामस पुरुष बढाता है। तामस आहार करनेवालोको ऐसी ही प्रवृत्ति होती है और हे वीर अर्जुन, इस प्रकारके आहारका फल प्राप्त करनेके लिए उसे दूसरे क्षण तक भी नही ठहरना पडता—उसका फल उसे तत्काल ही मिल जाता है। क्योकि उसका मुख जिस समय ऐसे अपवित्र पेय अथवा खाद्य पदार्थका स्पर्श करता है, उसी समय वह पापका भागी हो जाता है। इसके उपरान्त वह जो खाता है, उसे खानेका कोई प्रकार नही समझना चाहिए, बल्कि पेट भरनेवाली एक यातना ही समझना चाहिए। उसे इस प्रकारका कुछ अनुभव तो होता है कि शिरच्छेद होनेके समय क्या वेदना होती है और आगमे प्रवेश करने पर कैसा जान पडता है, पर वह ये सारी यातनाएँ भी सहता ही चलता है। इसी लिए यह नही कहा जा सकता कि तामस अन्न का परिणाम तामस वृत्तिसे भिन्न होता है। बस यही बाते उस समय भगवानने कही थी। इसके उपरान्त वे फिर कहने लगे—'आहारकी भाँति यज्ञ भी तीन प्रकारके होते है। अब तुम इस विषयकी ओर ध्यान दो। हे लोक-विख्यात अर्जुन, त्रिविध यज्ञोमे जो पहला सात्विक यज्ञ है, उसके लक्षण सुनो।

आप प्रवेश हो जाता है। सोना चाहे पन्द्रह रुपये तोलेका* और बिलकुल चोखा ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी वह व्यवहारके लिए तभी उपयुक्त होता है, जब उस पर राजाके नामका ठप्पा होता है। यह ठीक है कि निर्मल, ठंढा और सुगन्धित जल बहुत सुखकर होता है, परन्तु फिर भी उसे पवित्रता तभी प्राप्त होती है, जब उसका सम्बन्ध किसी तीर्थसे होता है। यो साधारण नदी चाहे कितनी ही बड़ी क्यो न हो, परन्तु जब किसी महानदीके साथ उसका संगम होता है, तभी समुद्रमे भी उसका प्रवेश हो सकता है। ठीक इसी प्रकार हे अर्जुन, जो लोग सात्विक कर्म करनेवाले होते है, उनके लिए मोक्ष-प्राप्तिके मार्गमें किसी प्रकारकी अडचन नही रह जाती। परन्तु यह प्रश्न कुछ अलग ही है।" यह सुनकर अर्जुनकी उत्सुकता इतनी अधिक बढ़ी कि वह उसके अन्तरंगमें समा न सकी। उसने श्रीकृष्णसे कहा—"हे देव, आप कृपाकर उस प्रश्नके सम्बन्धकी भी कुछ बाते मुझे बतलावे।" उस समय दयालु-श्रेष्ठ श्रीकृष्णने उससे कहा—"अच्छा, अब मैं तुम्हे स्पष्ट करके यह बतलाता हूँ कि सात्विक पुरुष किस प्रकार मोक्ष रूपी रत्नके दर्शन प्राप्त करता है। सुनो।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

"सारे विश्वका मूल कारण और विश्रान्तिका स्थल जो अनादि पर-ब्रह्म है, उसका नाम तो एक ही है, परन्तु यह तेहरा या तीन प्रकारका है। यदि वास्तवमे देखा जाय तो परब्रह्मका न तो कोई नाम ही है और न कोई जाति ही है। परन्तु इस माया जनित मोहके अन्धकारमें परब्रह्मकी कुछ कल्पना करानेके लिए उसका यह नाम केवल पहचानके लिए रख दिया है। जब कोई बालक जन्म लेता है, तब वह अपने साथ अपना नाम लेकर नही आता। परन्तु आगे चलकर उसका जो नाम रखा जाता है, उस नामसे पुकारते ही वह तुरन्त बोल उठता है। जब संसारके दुःखोसे जीव अपने कष्टोकी बात कहने लगते है, तब उनके जिस नामके पुकारने पर ब्रह्म-तत्व बोल उठता और उसका उत्तर देता है, वही यह सांकेतिक अर्थात् पहचानका नाम है। वेदोने जगतपर कृपा करके अपनी दिव्य दृष्टिसे एक ऐसा मंत्र ढूंढ निकाला है जिसकी सहायतासे ब्रह्म-तत्व वाचाके प्रान्तमे आ सकता है और उसके अद्वैत स्वरूपका व्यक्त रूपसे अनुभव किया जा सकता है। जब उस एक मंत्रका उच्चारण करके ब्रह्मको पुकारा जाता है, तब वह पीछे होने पर भी सामने आ जाता है, परन्तु इस मन्त्रका ज्ञान उन्ही लोगोको जो वेद-रूपी पर्वत के ऊपर उपनिषद्-रूपी नगरमे ब्रह्मकी पंक्तिमें बैठे रहते हैं। केवल यही नही, बल्कि स्वयं ब्रह्मामे विश्वको उत्पन्न करनेकी जो शक्ति है, वह जिस नामकी एक ही आवृत्तिसे उसे प्राप्त हुई है, वह भी यही नाम है। हे वीर श्रेष्ठ अर्जुन, सृष्टि उत्पन्न करनेसे पहले ब्रह्मा इतने घबड़ा गये थे कि वे मुझे (अर्थात् ईश्वरको) ही भूल गये थे; और इसी लिए सृष्टि भी उत्पन्न नही कर सकते थे। परन्तु जिस नामकी सहायतासे उनमे सृष्टि उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य आई, जिस नामके अर्थका मनन करनेके कारण और जिन तीन अक्षरोका जप करनेके कारण ब्रह्माको सृष्टि उत्पन्न करनेकी शक्ति प्राप्त हुई थी, वह यही मन्त्र है। फिर उन्होने

* यह ज्ञानेश्वर महाराजके समयका भाव है।—अनुवादक

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

"जिस प्रकार पतिव्रता स्त्रीका यह मनोधर्म रहता है कि अपने एक प्रिय पतिको छोड़कर एक दूसरे पुरुषोके सम्बन्ध मे उसके अन्त.करणमे कभी कोई वासना उत्पन्न ही नही होती, अथवा जिस प्रकार समुद्रमें मिल जाने पर नदी फिर आगेकी ओर नही बहती अथवा जिस प्रकार आत्म-दर्शन हो जाने पर वेद और आगे कुछ भी नही कहते, उसी प्रकार जो पुरुष अपनी मनोवृत्ति आत्म हितमे लगा देता है और कर्मके फलोके सम्बन्धमे अपने मनमे तनिक भी अहंभाव नही रखता और जो तन-मनसे यज्ञ-कर्मोमे उसी प्रकार दृढ भावना रखकर उसमे तल्लीन हो जाता है, जिस प्रकार वृक्षकी जडमे आनेवाला पानी फिर कभी पीछे नही हटता और केवल उस वृक्षके अंगोमे ही समा जाता है और जो पुरुष किसी प्रकार की वासना अपने मनमे नही रखता, वह फल की इच्छा छोडकर और एक स्वधर्म-साधनके सिवा दूसरी वस्तुओ तथा विषयोसे विरक्त रहकर जो यज्ञ करता है, वही यज्ञ वास्तवमे सब प्रकार से उत्तम और यथा-साग होता है। परन्तु जिस प्रकार दर्पणके द्वारा आँखे स्वयं अपना ही रूप देखती है अथवा जिस प्रकार दीपकके प्रकाशमे हम अपनी हथेली पर रखा हुआ रत्न देखते है अथवा सूर्यके उदय होने पर जिस प्रकार हमे अपना उदिष्ट मार्ग दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार जब एक निष्ठाके भावमे वेदो और शास्त्रोको देखकर यज्ञके लिए कुंड, मंडप और वेदियाँ आदि प्रस्तुत की जाती है और यज्ञ-कर्मके समस्त साधन तथा सामग्री एकत्र करके सारी सारी व्यवस्था ऐसे अच्छे ढंगसे की जाती है कि देखनेमे जान पडे कि मानो वह सारी व्यवस्था स्वयं वेद-वक्ता ब्रह्माने ही की है और जिस प्रकार शरीरके भिन्न-भिन्न अंगो मे उन्हीके अनुरूप अलंकार आदि पहने जाते है, उसी प्रकार जब सारे पदार्थ उपयुक्त रूपसे यथा-स्थान रखे जाते है और तब जो यज्ञ किया जाता है, उसके विधानके महत्वका भला मैं कहाँ तक वर्णन करूँ! उस समय वह यज्ञ देखने पर ऐसा जान पडता है कि यजमान के रूपमें मानो स्वयं-विद्या ही सब तरहसे अलंकृत होकर अवतरित हुई है। इस प्रकार जो यज्ञ समस्त अंगोसे परिपूर्ण होता है और जो फलके महत्वकी इच्छा मनमे नामको भी अंकुरित नही करता और जो यज्ञ उसी प्रकार नि:स्वार्थभावसे किया जाता है, जिस प्रकार तुलसीके वृक्षमे जल सीचकर उसका पालन किया जाता है और उससे फल, फूल अथवा छाया आदिकी कुछ भी अपेक्षा नही की जाती, हे अर्जुन, वास्तव मे उसी यज्ञको सात्विक समझना चाहिए।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

"अब हे वीर श्रेष्ठ अर्जुन, जो यज्ञ इसी प्रकार यथा-साग किया जाता है, परन्तु जिस प्रकार श्राद्धमे राजाको इस हेतुसे निमन्त्रण दिया जाता है कि यदि राजाके चरण हमारे घरमे आ गये तो उनका बहुत कुछ उपयोग होगा, लोकमे हमारी कीर्त्ति भी हो जायगी और श्राद्धकी क्रियामे भी कोई न्यूनता नही आवेगी और इसी प्रकारका

ब्राह्मण उत्पन्न किये, उन्हे वेदोका अनुसरण करनेका आदेश दिया और यज्ञ-कर्मको उनके निर्वाहका साधन बना दिया। उसके उपरान्त उन्होने इतने अपरम्पार मनुष्य उत्पन्न किये कि उनकी गिनती ही नही हो सकती। उन सबके निर्वाहके लिए ब्रह्माने तीनो भुवनोका मानो दानपत्र लिख दिया। जिस नाम-मन्त्रके प्रभावसे प्रजापति ब्रह्मा ऐसा अद्भुत कार्य कर सके थे, अब तुम उसका स्वरूप सुनो।" बस यही बात अर्जुनसे भगवानने कही थी। इसके उपरान्त उन्होने फिर कहा—"समस्त मन्त्रोका अधिपति जो प्रणव (अर्थात् ओंकार) है, उसे इस नामका पहला वर्ण समझना चाहिए। उसका दूसरा वर्ण तत् है और तीसरा वर्ण सत् है। इस प्रकार यही ओंतत्सत् उस ब्रह्माका तेहरा नाम है। उपनिषदोके अर्थ या सार रूपी इस सुन्दर पुष्पकी सुगन्धिका तुम उपभोग करो। जब इस नामके साथ एक-रूप होकर सात्विक कर्मोका आचरण किया जाता है, तभी मनुष्य कैवल्यको अपने घरका दास बना लेता है। हे अर्जुन, यदि दैव अनुकूल हो तो सम्भव है कि हमे कपूरके अलंकार भी प्राप्त हो जायँ। परन्तु यह समझना बहुत ही कठिन है कि वे अलकार शरीर पर धारण किस प्रकार किये जायँगे। ठीक इसी प्रकार यदि सत्कर्मोका आचरण भी किया जाय और ब्रह्मके नामका उच्चारण भी किया जाय तो भी यदि विनियोग (अर्थात् व्यवस्था या शास्त्रोक्त विधियो) का ज्ञान न हो तो जिस प्रकार असख्य साधु-जनोके घर आने पर भी उनका उपयुक्त आदर-सत्कार न हो सकनेके कारण अपने पासकी पुण्याई भी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार अथवा जिस प्रकार गहने पहननेकी कामनासे कुछ नग और सोनेके डले आदि कहीसे इकट्ठा करके यो ही बाँधकर गलेमे लटका लिये जाते हैं, यदि मुख ब्रह्मके नामका उच्चारण करता हो और हाथोसे सात्विक कर्म भी होते हो, परन्तु यदि उनके विनियोगका ज्ञान न हो तो ये सब कृत्य व्यर्थ ही जाते है। अन्न और भूख दोनो पास ही रहते है। परन्तु यदि बालकको भोजन करना न आता हो तो फिर उसे उपवास ही करना पड़ेगा। अथवा हे वीर अर्जुन, यदि तेल, बत्ती और अग्नि तीनो ही पास हो, परन्तु यह ज्ञात न हो कि उन सबकी योजना किस प्रकार की जाती है, तो प्रकाश किसी प्रकार प्राप्त नही हो सकता। ठीक इसी प्रकार यदि उपयुक्त समय पर कर्म भी होता हो और उसका मन्त्र भी स्मरण हो, परन्तु उसके विनियोगका ज्ञान न हो तो सभी बाते निष्फल हो जाती है। इसी लिए इन तीनों वर्णोंके योगसे बना हुआ पर-ब्रह्मका जो एक नाम है, उसका विनियोग तुम सुनो।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥२४॥

"इस नामके तीनो अक्षरोकी कर्मके आरम्भ, मध्ये और अन्य तीनो स्थानोमें योजना करनी चाहिए। हे अर्जुन, इसी व्यवस्थासे ब्रह्मवेत्ताओने ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त किया है। जो लोग शास्त्रोके ज्ञानके कारण कर्म-निष्ठ हो जाते हैं, वे ब्रह्मके साथ एकता प्राप्त करनेके लिए बिना यज्ञ आदि कर्म किये नही रहते। परन्तु आरम्भमे वे लोग ओंकारको अपने ध्यानमे रखते हैं और तब वाचासे भी उसका उच्चारण करते हैं। ओंकारके ध्यान और उसके स्पष्ट उच्चारणके साथ वे लोग कर्म-मार्गमे प्रवृत्त होते

उद्देश्य रखकर इसी तरहकी नीतिसे जब यज्ञ करनेवाला अपने मनमें यह कहता है कि यज्ञसे मुझे स्वर्गकी प्राप्ति होगी, यज्ञमें दीक्षित हो जानेके कारण जनतामें मेरा बोलबाला होगा और मेरे हाथों यज्ञ भी हो जायगा, तात्पर्य यह कि हे अर्जुन, जो यज्ञ केवल इस अभिप्रायसे, फलकी वासनासे और संसारमें अपना महत्व स्थापित करनेके उद्देश्यसे किया जाता है, उस यज्ञको राजस समझना चाहिए।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

"और हे अर्जुन, जिस प्रकार पशु-पक्षियोके विवाहके लिए काम-वासनाके अतिरिक्त और किसीके पौरोहित्यकी कोई आवश्यकता नही होती, उसी प्रकार तामस यज्ञका मूल कारण भी एक मात्र आग्रह ही होता है। हे अर्जुन, यदि कभी ऐसी अवस्था आ जाय कि वायुको ढूंढने पर भी मार्ग न मिले अथवा मृत्युको मुहूर्त्त देखनेकी आवश्यकता आ पडे अथवा निषिद्ध पदार्थ को देखकर भड़की हुई आग भयसे पीछे हट जाय, तभी तामस पुरुषके व्यवहारमें भी किसी प्रकारकी बाधा हो सकती है (अर्थात् तामस पुरुष अपने व्यवहारमें किसी प्रकार की बाधा देखना पसन्द नही करता)। हे अर्जुन, तामस पुरुष सदा पूरा स्वेच्छाचारी ही होता है। उसे न तो विधि और निषेधकी ही कोई परवाह होती है और न मन्त्र आदिकी ही उसके लिए कोई बाधा होती है। अन्न देखते ही मक्खी कितनी जल्दी आकर उस पर बैठ जाती और उसे खाने लगती है। तामस पुरुषको भी विधि और निषेध का उतना ही विचार होता है, जितना मक्खीको होता है। (अर्थात् बिलकुल विचार नही होता)। ब्राह्मण तो विरक्त होते है। फिर लोलुपतापूर्वक दक्षिणाके लिए उनके यज्ञमे भला कौन ब्राह्मण घुस सकता है? जिस प्रकार आग तेज हवामे पड़कर खूब भड़क उठती है, उसी प्रकार वह भी अपने अभिमानके कारण अपना सर्वस्व व्यर्थ ही उडाने लगता है। जिस प्रकार किसी निस्सन्तानका ला-वारिस घर आने-जानेवाले सभी लोग लूटने लगते है, उसी प्रकार ऐसे लोभी लोग, जिनमे कुछ भी श्रद्धा नही होती, आ आकर उसका द्रव्य लूटने लगते है। इस प्रकारकी बाते जिस यज्ञमे होती हैं वह मिथ्या और भ्रामक यज्ञ होता है और उसीको तामस यज्ञ समझना चाहिए।" यही लक्ष्मीपति श्रीकृष्णने उस समय कहा था। इसके उपरान्त वे कहने लगे—"हे अर्जुन, नदीका पानी सदा एकरूप ही रहता है, परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानोमें बहनेके कारण कही तो वह अपने साथ गन्दगी बहाले जाता है और इसलिए बिलकुल गँदला हो जाता है और कही बिलकुल स्वच्छ रहता है। ठीक इसी प्रकार तप भी तीन गुणोके योगसे तीन प्रकारका होता है। एक प्रकारका तप पापका कारण होता है, तो दूसरे प्रकारका तप उद्धार करता है। हे सुविज्ञ अर्जुन; यदि तुम्हारे मनमे यह जाननेकी उत्कंठा हो कि तप के ये तीनो भेद किस प्रकार उत्पन्न होते है, तो तुम पहले तपका ही स्वरूप समझ लो। पहले मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि "तप" किसे कहते है, और तब यह बतलाऊँगा कि गुणोके योग से उसके भिन्न भिन्न स्वरूप किस प्रकार होते है। जिसे "तप" कहते हैं, वह मूलत तीन प्रकार का होता है—एक शारीर, दूसरा मानसिक और तीसरा शाब्द।

हैं। जिस प्रकार अँधेरेमें जानेके समय जलता हुआ दीपक अथवा जंगलमें जाते समय बलवान् मनुष्य अपने साथ रखना चाहिए, उसी प्रकार कर्मका आरम्भ करते समय प्रणवका आधार लेना चाहिए। ब्रह्म वेत्ता लोग अपने इष्ट देवताके उद्देश्यसे धर्म द्वारा अर्जित अनेक प्रकारके द्रव्य ब्राह्मणके हाथों अग्निमें आहुतिके रूपमे डलवाते हैं। वे लोग शास्त्रोक्त विधियोके अनुसार दक्षतापूर्वक आहवनीय आदि तीनो अग्नियोंमें तीनों समय आहुति देकर यज्ञ-कर्मका आचरण करते है। वे अनेक प्रकारके यज्ञों और यागो आदिका अंगीकार करके इस माया-जनित संसारके मोहका त्याग करते हैं। अथवा न्यायसे प्राप्त भूमि आदि द्रव्योका दान उपयुक्त स्थान और कालमें सत्पात्र पुरुषको देते हैं। अथवा एकान्तराट भोजनका व्रत करते हैं (अर्थात् सदा एक दिन भोजन करते है और एक दिन नही करते), चान्द्रायण आदि व्रत करते है और महीने महीने भर तक उपवास करके अपने शरीरकी धातुओंको सुखाते हुए तपस्या करते हैं। इस प्रकार जो यज्ञ, दान और तप आदि कर्म संसारमे बन्धनकारक कहे जाते हैं, उन्ही कर्मोका आचरण करने और उन्हीके द्वारा ब्रह्मवेत्ता लोग सहजमे ही मोक्ष पद प्राप्त कर लेते हैं। स्थलमे जो लकड़ियाँ आदि जड़ जान पड़ती है, उन्हीकी सहायतासे हम लोग जिस प्रकार पानीमें तैरते हैं, उसी प्रकार इस नामकी सहायतासे लोग बन्धनकारक कर्मोसे छुटकारा पाते हैं। परन्तु यह विस्तार बहुत हो चुका। इस प्रकार ये यज्ञ और दान आदि क्रियाएँ ओंकारकी सहायतासे हित-कारक होती हैं। हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यानमें रखो कि जिस समय यह जान पडता है कि ये क्रियाएँ फलके कुछ भी समीप पहुँच गई हैं, उस समय तत् शब्दका प्रयोग किया जाता है।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥२५॥

"जो पर-ब्रह्म नामक वस्तु समस्त माया-जन्य संसारसे परेकी है, जो सब कुछ देखनेवाली है और जो "तत्" शब्दसे दरसाई जाती है, वह ऐसी है कि सबका कारण है; और इसी रूपमें मनमे उसका ध्यान करके, हे अर्जुन, विज्ञ पुरुष वाणीसे भी उसका उच्चारण करते हैं। वे कहते कि "तत्" रूपी जो ब्रह्म है, उसीको हमारी ये सब क्रियाएँ अपने फलों सहित अर्पित हो, और हमारे भोगनेके लिए इनमेसे कुछ भी बाकी न रहे। इस प्रकार तत् रूपी ब्रह्मको अपने समस्त कर्म समर्पित करके वे "न मम" कहकर अपने आपको समस्त कर्म-फलोसे अलग कर लेते है। फिर ओंकारसे आरम्भ किया हुआ और तत्कारमें-ब्रह्मार्पण किया हुआ जो कर्म इस प्रकार ब्रह्म-रूप होता है, वह केवल ऊपरसे दिखाई देनेवाला कर्म होता है, परन्तु कर्त्तामे कर्तृत्वके अभिमानके कारण जो द्वैत भाव रहता है, वह इस बाह्य कर्मको ब्रह्मार्पण करनेसे भी ब्रह्म-रूप नही होता। नमक स्वयं तो पानीमें घुल जाता है, परन्तु उसका नमकपन फिर भी बाकी रह जाता है। ठीक इसी प्रकार कर्त्तामें इस तरहकी भावनाका द्वैत भाव बना रहता है कि हमने अपना कर्म ब्रह्मार्पण किया है। और जब तक यह द्वैत भाव बना रहता है, तब तक संसार का भय नहीं छूटता। यह बात वे वेद, जो परमेश्वरके मुख हैं, चिल्ला चिल्लाकर कह रहे हैं। इसलिए कर्तृत्वके अभिमानके कारण जो ब्रह्म अपनेसे अलग या पराया जान

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

"इन तीनों तपोंसे जो पहला शारीर-तप है, अब उसका स्वरूप सुनो। श्री शंकर या श्री हरि दोनोंमेंसे जिन देवताके प्रति भक्ति और अनुराग हो, उस देवताके मन्दिर की ओर वहाँकी यात्रा करने और वहाँ आने-जानेवालोंको पंखा आदि झलनेके लिए पैर आठो पहर चलते रहते है। उस देवताके प्रागणके शृङ्गार करने, देवताके लिए पूजाके गन्ध-पुष्प आदि उपचार एकत्र करने और देवताका जो काम कोई कह दे, वही काम करनेमे हाथ सदा सिद्ध रहते हैं। देवताके लिङ्ग अथवा मूर्ति पर दृष्टि पडते ही शरीर पृथ्वी पर लोटकर दडवत करता है। और ऐसे ब्राह्मणोंकी मन भरके सेवा की जाती है जो अपने सदाचार आदि गुणोके कारण लोकमे यथेष्ट महत्व प्राप्त कर चुके होते हैं। अथवा जो लोग प्रवासके कारण या रोग आदि पीड़ाओंके कारण या संकटो आदिके कारण दुःखी और पीडित होते हैं, उन जीवोंको सुखी किया जाता है। सब तीर्थोंसे श्रेष्ठ जो माता-पिता हैं, उनकी सेवाके लिए अपना शरीर निछावर कर दिया जाता है। ज्ञानदान करनेमे अत्यन्त सदय उन गुरुदेवका भजन करना चाहिए जिनके इस संसार सरीखी अवस्थामें भी मिलते ही सब मल बिल्कुल दूर हो जाते है। और हे वीर पार्थ, स्वधर्म रूपी अँगीठीमें अभ्यास-योगके पुट देकर देहाभिमानके सब दोष जलाकर भस्म कर दिये जाते हैं। ऐसा तप करनेवालेको यह मानकर कि भूत मात्रमे आत्म-वस्तु है, उन्हे नमस्कार करना चाहिए, सदा परोपकार करते रहना चाहिए और विषय-भोगोका दृढ़ निश्चय-पूर्वक संयम करना चाहिए। जन्म धारण करनेके लिए स्त्रीके शरीरका स्पर्श करना ही पड़ता है, परन्तु उस प्रसंगके उपरान्त फिर जन्म भर उस स्पर्शसे अपने आपको दूर और मुक्त रहना चाहिए। यह समझकर कि भूत मात्रमे प्राण हैं, एक तृण भी नही तोडना चाहिए और यहाँ तक कि उसका छेदन या भेदन भी नही करना चाहिए। जब इस प्रकार शरीरकी रहन-सहन शुद्ध और सरल हो जाय, तब यह समझना चाहिए कि शारीर तप अपनी पूर्णताको पहुँच गया है। हे अर्जुन, इन सब व्यवहारोमे शरीर ही मुख्य साधन होता है, इसीलिए मैं इसे शारीर तप कहता हूँ। इस प्रकार यह शारीर तापका विवेचन हुआ। अब तुम निष्पाप वाङ्मय तपका वर्णन सुनो।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

"पारस पत्थर जिस प्रकार लोहेको बिना तोडे-फोडे और बिना उसका स्वरूप बिगाडे उसे सोना बना देता है, उसी प्रकार जिसकी वाणीमे ऐसा सौजन्य होता है कि वह स्वाभाविक रूपसे बिना किसीको कष्ट पहुँचाये आस-पासके सभी लोगोंके लिए मधुर और सुखकर होती है, जिसका भाषण होता तो किसी एक व्यक्तिके उद्देश्यसे है, परन्तु फिर भी सबके लिए उसी प्रकार हितकारक होता है, जिस प्रकार जल जाता तो वृक्षका पोषण करनेके लिए है, पर वह जाते जाते सहजमे तृणोंको भी जीवन प्रदान करता है, जो भाषण अमृतकी उस दिव्य गंगाके समान होता है जो प्राप्त

पड़ता है, उस पर आत्मत्व (अर्थात् अपने ही स्वरूप) का प्रत्यय होनेके लिए ही "सत्" शब्द रखा गया है। ओंकार और तत्कारके द्वारा जो कर्म ब्रह्म-स्वरूप कर दिये जाते हैं, वे "प्रशस्त" आदि शब्दोसे वर्णित किये गये हैं—वे प्रशस्त कहे गये हैं। उन्ही प्रशस्त कर्मो में "सत्' शब्द लगाया जाता है। अब मैं उसी सत् शब्दके विषय-मे कुछ ऐसी बातें बतलाता हूँ जिनसे उसका आशय स्पष्ट हो जाय। सुनो।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

"इस सत् शब्दके द्वारा असत् अर्थात् अज्ञान-जन्य नाम-रूपात्मक विश्वकी छाप मिट जाती है और सत् तत्व रूपी सुवर्णका सच्चा और निर्दोष रूप व्यक्त होता है। यह सत् कभी काल या स्थलके प्रभावके कारण नही बदलता और सदा अपने आत्म-स्वरूपमे ही विलास ही करता रहता है। यह सारा नाम-रूपात्मक दृश्य जगत अनित्य है और इसी लिए वह "सत्" मे नही आ सकता; और केवल आत्म-रूपकी प्राप्तिसे ही जिस सत् तत्वका ज्ञान होता है, उस सत् तत्वके द्वारा वे सब कर्म ऐक्य-ज्ञानके कारण सम-रूप हो जाते हैं, जो पहले प्रशस्त हो चुके रहते हैं और तब आत्म-स्वरूप ब्रह्म दिखाई देने लगता है। इसलिए ओंकार और तत्कारसे जो कर्म ब्रह्माकार हो जाते हैं, वे सब पचकर एक दमसे बिल्कुल सद्-रूप हो जाते हैं। इस प्रकार इस सत् शब्दका अन्तःस्थ उपयोग तुम ध्यानमें रखो।" यही भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं। ये सब बाते मैं अपनी ओरसे नही कह रहा हूँ। परन्तु यदि इस प्रकार यह बात कही जाय तो भगवानके सम्बन्धमें द्वैत भावका दोष उत्पन्न होता है। अतः यही निश्चय करना चाहिए कि यह सब कथन भी भगवानका ही है। (अर्थात् भगवानकी कही हुई ये बाते मैं नही कह रहा हूँ, बल्कि स्वयं भगवान ही मेरे अन्दरसे कह रहे हैं।) भगवान कहते है—"अब इस सत् शब्दका सात्विक कर्मोके लिए एक और भी उप-कारक प्रयोग होता है। वह भी सुन लो। सब लोग अपने अपने अधिकारके अनुसार अच्छी तरह सत्कर्म करते रहते हैं। परन्तु जब कुछ कारणोसे वे कर्म किसी अंगसे हीन होते हैं, तब जिस प्रकार कोई अवयव खंडित या पीडित होनेके कारण शरीर ठीक तरहसे नही चलता अथवा जिस प्रकार वह गाड़ी नही चल सकती जिसमें पहिया नही होता, उसी प्रकार किसी वैगुण्य या न्यूनताके कारण "सत्" कर्म भी "असत्" हो जाते हैं। फिर ओंकार तथा तत्कारकी सहायताके लिए यह सत्-कार आ पहुँचता है और इससे उन हीन कर्मोकी हीनता भी दूर हो जाती है—वे कर्म भी ऊँचे होकर सर्वाङ्गपूर्ण हो जाते हैं। यह सत् उन कर्मोका असत्-पन दूर करके और उन्हे अच्छी तरह रूढ करके अपने सत्वकी सामर्थ्यसे उसी प्रकार हीन कर्मोको सर्वाङ्गपूर्ण कर देते हैं, जिस प्रकार कोई दिव्य औषधि रोग-ग्रस्त पुरुषको रोगोसे मुक्त कर देती है अथवा पीड़ित मनुष्यको पीडा-रहित कर देती है। कभी-कभी किसी भूलके कारण कुछ कर्म विधि-नियमो उल्लघन करके निषिद्ध मार्गमे जा लगते हैं, क्योकि चलनेवाले ही मार्ग भूलते हैं और पारखीको ही भ्रम होता है। भला यह बात निश्चयपूर्वक कौन कह सकता है कि व्यवहारमे क्या क्या नही हो जाता? इसी लिए जब इस

होने पर प्राणियोको अमर तो करती ही है, पर साथ ही स्नान करनेवालोके पाप और ताप भी दूर करती है और जिह्वाको भी मधुर स्वाद प्रदान करती हैं और इसी लिए जिस भाषणसे अविचार दूर हो जाता है; अपना अनादि तथा शाश्वत आत्म-स्वरूप प्रकट होता है, जो सुननेमें अमृत-रसके समान प्रिय जान पड़ता है और जिसके सुननेसे जी नही उकताता और जिसका यह नियम होता है कि जब कोई कुछ पूछे, तभी वह बोलता है और नही तो चुपचाप वेदो और संहिताओ आदिका ही आवर्त्तन करता है; जो ऋग्वेद आदि तीनो वेदोका अपने-वाग्-भवनमे प्रतिष्ठापन करके अपनी वाणीको मानो वेद-शाला ही बना लेता है और जिसमे शिवका, विष्णुका अथवा इसी प्रकारके किसी और देवताका नाम दिन-रात समान रूपसे उच्चारण किया जाता है, उसीको वाचिक तप कहना चाहिए । अब मैं मानसिक तपका वर्णन करता हूँ, सुनो ।" बस यही लोकपालोके स्वामी भगवान श्रीकृष्णने उस समय कहा था ।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

श्रीकृष्ण कहते है—जिस प्रकार तरंगोके न रह जाने पर सरोवर, मेघोके न रह जाने पर आकाश, साँपोके न रह जानेपर चन्दनका वन, कलाओकी चल-विचलता न रह जाने पर चन्द्रमा, चिन्ताओके न रह जाने पर राजा अथवा मथनेवाले मन्दर पर्वतके न रह जाने पर क्षीर सागरकी अवस्था होती है, उसी प्रकार तरह-तरहके संकल्प-विकल्पोके झगडोके न रह जाने पर जो मन केवल आत्म-रूपमे स्थिर हो जाता है, सन्ताप-रहित प्रकाश, जड़तासे रहित रस अथवा पोलेपनसे रहित अवकाशकी भाँति होकर जब मन अपने कल्याणका साधन करके आनन्द-मय स्वरूप देखता है और अपने स्वभावका उसी प्रकार परित्याग कर देता है, जिस प्रकार सरदीसे सुन्न हो जानेवाला अवयव स्पर्श ज्ञानसे रहित हो जाता है और फिरसरदीकी बाधाका अनुभव नही करता; उस समय मनको निश्चल कलंकहीन तथा परिपूर्ण चन्द्र-मडलके समान जो उत्तम सौन्दर्य प्राप्त होता है, मनकी उस अवस्थामें वैराग्यसे कष्ट नहीके समान हो जाते है; मनकी चंचलताका अंत हो जाता है और केवल आत्म-बोधकी पूर्णता ही वच रहती है । इसीलिए शास्त्रोंका उपदेश करते समय जो मुँह हिलाना पडता है, वह वन्द हो जाता है और वह प्रयत्न ही वाणीका सूत्र हाथमे न लेकर केवल मौन स्वीकृत करता हैं । आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति हो जाने पर मनका मनत्व भी नष्ट हो जाता है, और नमक जिस प्रकार पानीमे अच्छी तरह घुलकर लीन हो जाता है, उसी प्रकार मन भी आत्म-तत्वमे लीन हो जाता है । फिर ऐसी अवस्थामे मनके वे भाव भला उत्पन्न ही कहाँसे हो सकते हैं जो इन्द्रियोके मार्गसे दौडकर विपयोके ग्राममे पहुँचते है ? फिर जिस प्रकार हाथकी हथेलीमें वाल नही होते, उसी प्रकार मनमे विषय भावनाओका भी कही नाम नही होता । हे अर्जुन मैं और अधिक क्या कहूँ, जिस समय मनकी यह अवस्था होती है, उस समय यह समझना चाहिए कि वह मन मानसिक तपका पात्र होता है । परन्तु यह विवरण वहुत हो चुका । मैने इस प्रकार तुम्हे मानस तपके सम्पूर्ण लक्षण वतला दिये हैं ।" वस यही भगवान् श्रीकृष्णने कहा था । इसके उपरान्त

प्रकार अविचारके कारण कर्मकी मर्यादा नष्ट हो जाती है, और जब वे कर्म दुष्कर्म होनेके मार्गमें लग जाते है, तब हे भाई अर्जुन यदि इस "सत्" शब्दका प्रयोग ओंकार और तत्कारके प्रयोगसे भी अधिक सावधानतापूर्वक किया जाय तो यह उस कर्मको निर्मल कर देता है। जिस प्रकार लोहेके लिए पारस पत्थरकी रगड या किसी नालेके लिये गंगाका संगम या मृतके लिए अमृतकी वर्षा होती है, उसी प्रकार हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, स-दोष कर्मके लिए सत् शब्दका प्रयोग भी कल्याणकारक होता है। इस शब्द-का इतना अधिक महत्व है। इस स्पष्टीकरणके रहस्यका ध्यान रखकर तुम जब इस नामका विचार करोगे, तब यह बात तुम्हारे अनुभवमे आ जायगी कि यह केवल परब्रह्म ही है। जिस स्थानसे इस नाम-रूपात्मक वस्तु मात्रकी उत्पत्ति होती है, उसी स्थान पर जीव इस ओ-तत्सत्‌का उच्चारण करनेसे पहुँच जाता है। वह स्थान केवल अखंड शुद्ध परब्रह्म ही है और यह नाम उसमे रहनेवाली सामर्थ्यका दर्शक है। परन्तु आकाशके लिए जिस प्रकार स्वयं आकाशका ही आधार रहता है, उसी प्रकार इस नामके लिए भी इस नामका ही अखड आधार है। आकाशमें उदित होनेवाला सूर्य जिस प्रकार स्वयं ही अपने आपको प्रकट करता है, उसी प्रकार यह नाम भी अपने ब्रह्म स्वरूपको स्वयं ही प्रकट करता है।

यज्ञ तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

"इसलिए तुम यह न समझ लो कि यह नाम केवल तीन वर्णोका समूह ही है; बल्कि इसे तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म ही समझो। इसी लिये जो जो कर्म किये जायँ, फिर चाहे वे यजन हो, चाहे दान हो और चाहे तप आदि हो, वे चाहे यथा-विधि पूरे उतर जायँ अथवा न्यून होकर अधूरे ही रह जायँ, परन्तु जिस प्रकार पारसकी कसौटी पर रगडे जानेके कारण खरे और खोटे सोनेका भेद कभी नही रह सकता (क्योंकि पारस-का स्पर्श ही सबको शुद्ध सोना बना देगा), उसी प्रकार समस्त कर्म ब्रह्मार्पण होने पर ब्रह्म रूप ही हो जाते हैं। जिस प्रकार समुद्रमे मिल जाने पर नदियाँ अलग अलग नही की जा सकती, उसी प्रकार ब्रह्मार्पण किये हुए कर्मोंके न्यून और पूर्णका कोई भेद रह ही नही जाता। इस प्रकार, हे सुविज्ञ अर्जुन, मैंने तुम्हे ब्रह्मकी नामकी सामर्थ्य बतला दी है। और हे वीर पार्थ, इस नामके भिन्न भिन्न वर्णोका प्रयोग भी मैंने तुम्हे सुन्दर भाषामें बतला दिया है। इस प्रकार इस नामका बहुत अधिक महत्व है और इसी लिये यह ब्रह्म नाम है। अब तुम इसका रहस्य समझ गये न? इसलिए अब मैं यही चाहता हूँ कि आजसे तुममे इस नामकी श्रद्धा बराबर बढती रहे, क्योंकि इस नामका जब उदय होता है, तब यह जन्म बन्धनका कही ठौर-ठिकाना भी नही रहने देता। जिस कर्ममे इस सत् शब्दकी व्यवस्थाका प्रयोग किया जायगा, वह कर्म मानो साग वेदके अनुष्ठानके ही समान हो जायगा।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृत च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

"परन्तु यदि इस व्यवस्थाको दूर करके, श्रद्धाको छोड़कर और दुराग्रहपूर्वक करोड़ों

वे फिर कहने लगे—"इस प्रकार शरीर, वाणी और मनके सम्बन्धसे तपके जो तीन प्रकार होते है, वे मैंने तुम्हे बतला दिये है। अब तीनो गुणोके कारण इन तीनो प्रकार के सामान्य तपोके जो तीन भेद होते है, वह भी खूब अच्छी तरह और सचेत होकर सुनो।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

"हे सुविज्ञ अर्जुन, ये जो तीनो प्रकारके तप तुम्हे बतलाये है, जब उनका आचरण फल-प्राप्तिकी सारी आशाका परित्याग करके किया जाता है और जब ये तप शुद्ध सात्विक वृत्तिसे और आस्तिक्य भावसे किये जाते है, तब बुद्धिमान लोग उसे सात्विक तप कहते है।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

"और नही तो तपके निमित्तसे भेद-भाव उत्पन्न करके, बडपनके शिखर पर बैठनेके लिए यह सोचकर कि त्रिभुवनमे मेरे सिवा और किसी को मान प्राप्त न हो, सभा और भोजन आदिके अवसर पर स्वयं ही सबसे अधिक और पहले सम्मान प्राप्त करनेके लिये, स्वयं ही सारे विश्व की स्तुतिका पात्र बननेके लिए और इस उद्देश्य से कि सब लोग दौड़-दौडकर मेरे घर आया करे और लोगोसे अनेक प्रकारके जो सम्मान प्राप्त होते है, वे और किसीको न प्राप्त हो, बड़प्पनकी सब बातोका स्वयं ही अनुभव प्राप्त करनेके लिए जिस प्रकार कोई भद्दा और कुरूप व्यक्ति अपना महत्व बढानेके लिए बढ़िया कपड़े पहनता और अपने आपको सजाता है, उसी प्रकार शरीर और वाणी पर तप का मुलम्मा चढानेके लिए और इस प्रकार अपना महत्व बढाने के लिये, साराश यह कि धन और मानकी वासनाओको पराकाष्ठा तक पहुँचाकर जिस तपका कष्ट किया जाता है; वही "तप" राजस गिना जाता है। जो गौ ठाँठ हो जाती है और जिसे ऐसा रोग हो जाता है कि वह बच्चा होने पर भी दूध नही देती, उस गौकी तरह अथवा उस खेतकी तरह जो तैयार तो हो जाता है, परन्तु फिर भी जिसे जानवर चर जाते है और फिर जिससे अन्नकी प्राप्ति नही होती, वह तप भी केवल निष्फल होता और व्यर्थ जाता है, जो खूब शोर मचाकर और बहुत आडम्बरपूर्वक किया जाता है। इससे अतिरिक्त हे अर्जुन, ऐसा तप करनेवाले को जब यह दिखाई देता है कि मेरा तप निष्फल होता जा रहा है तब वह उसे बीचमे ही और अधूरा छोड़ देता है और इसी लिए इस प्रकारके तपमे स्थिरता या स्थायित्व भी नही हो सकता। साधारणतः जो मेघ असमयमे ही आकाशमे आ जाता है और खूब जोरसे गरजकर सारे ब्रह्माडको गुँजा देता है, वह क्या कभी घडी भर भी ठहरता है? इसी प्रकार जो तप राजस होता है, वह केवल निष्फल होकर बाँझके समान ही सिद्ध होता है और साथ ही आचरणमे भी वह पूरा नही उतरता। अब वही तप यदि तामस प्रकार का हो तो उसका आचरण करने पर मनुष्य स्वर्ग-लाभसे भी और इस लोकमे होने-वाली कीर्तिसे भी वंचित हो जाता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

अश्वमेध यज्ञ भी किये जायँ, रत्नोसे भरकर सारी पृथ्वी दान कर दी जाय, एक अँगूठे पर खडे रहकर सहस्रो तप किये जायँ, इतने बडे बड़े तालाब और कुएँ आदि बनवाये जायँ कि मानो दूसरे समुद्र ही हो, परन्तु ये सब बाते बिलकुल निष्फल होती है। जिस प्रकार पत्थर पर बरसा हुआ जल, राखमें दी हुई आहुति, छायाके साथ किया हुआ आलिंगन अथवा आकाशको मारा हुआ थप्पड व्यर्थ होता है, उसी प्रकार हे अर्जुन, ये समस्त कर्म-समारम्भ भी बिलकुल व्यर्थ ही हो जाते है। अगर कोल्हूकी घानीमे पत्थरके टुकड़े डाले जायँ तो न उनमेसे तेल ही निकलता है और न खली ही निकलती है। ठीक इसी प्रकार इस कर्म-समारम्भसे भी किसी तरहका लाभ नही होता, हाँ उल्टे दारिद्रय आकर साथ लग जाता है। अपने पास केवल भीख माँगने-का खप्पड रखकर चाहे कोई अपने देशमे घूमे और चाहे किसी दूसरे देशमे चला जाय, परन्तु उसका कही कुछ भी मूल्य नही मिलता और उसे ले जानेवालेके लिए भूखो मरनेकी ही नौबत ही आती है। ठीक इसी प्रकार इस तरहके कर्मोके आचरणसे पारलौकिक लाभकी बात तो दूर रही, कोई ऐहिक लाभ भी नही होता। तात्पर्य यह कि यदि ब्रह्मके नामके प्रति श्रद्धा न हो तो जो काम किया जाता है, वह इस लोकमे भी और परलोकमे भी निरर्थक ही सिद्ध होता है।" पाप रूपी हाथीका संहार करनेवाले सिंह और त्रिताप रूपी अन्धकारको दूर करनेवाले सूर्य जो लक्ष्मी-कान्त वीर नर-श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उन्होने यही सब बाते कही थी। जिस प्रकार चाँदनीमे स्वयं चन्द्रमा भी छिप जाता है, उसी प्रकार उस समत अर्जुन भी अपरम्पार आत्मानन्द मे पूर्ण रूपसे निमग्न हो गया था। संग्राम भी एक प्रकारका व्यापार ही है। उसमें बाणोके अग्र भागको मापनेका साधन बनाकर उसके द्वारा मास काट काटकर जीवित मनुष्य ही नापे जाते हैं। ऐसे भयंकर प्रसंगमे अर्जुनको स्वानन्द-साम्राज्यका सुख भोगना भला कैसे शोभा देता था? परन्तु वास्तवमे अर्जुन-के समान भाग्य इम ससारमें और किसीका नही है। संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे कौरव-राज, अपने शत्रु (अर्थात् अर्जुन) का यह गुण देखकर सचमुच उसके सम्बन्धमे प्रेम-पूर्ण आदरका भाव ही उत्पन्न होता है। और हम लोगोको सुखके मन्त्रका उपदेश करनेके लिए यह हमारा गुरु हुआ है। यदि इस अर्जुनने प्रश्न ही न किया होता तो भगवानने अपने हृदयका रहस्य क्यो खोला होता? और तब हम लोगोको भी परमार्थके दर्शन किस प्रकार होते? हम लोग अज्ञानके अन्धकारमे जैसे तैसे जन्म बिता रहे थे, परन्तु उसने हम लोगोको आत्मज्ञानके प्रकाश-मन्दिरमे ला पहुँचाया है। हम लोगो पर उसने यह कितना बडा उपकार किया है! वास्तवमें गुरुके नातेसे उसे श्री व्यासदेवका सगा भाई ही समझना चाहिए।" ऊपरसे यह बात कहकर संजय अपने मनमें सोचने लगा—"मैं जो अर्जुनकी बहुत अधिक स्तुति कर रहा हूँ, यह धृतराष्ट्रके अन्त करण मे खटकेगी, इसलिए अब इस सम्बन्धमे और कुछ न कहना ही अच्छा है।" यही विचार करके वह उस समय चुप रहा। फिर उसने वह प्रसग छेड दिया जो अर्जुनने उस समय श्रीकृष्णसे स्पष्ट करनेके लिए कहा था। जो कुछ संजयने किया था, वही अब मैं भी करूँगा। श्री निवृत्तिनाथके शिष्य ज्ञान-देवकी प्रार्थना है कि श्रोता लोग इधर ध्यान दें।

"हे अर्जुन, जिस तपमे कोरी मूर्खताका आश्रय लेकर अपना शरीर शत्रु समझा जाता है, शरीर को पंचाग्निका ताप पहुँचाया जाता है अथवा अन्दर से ऐसी आग जलाई जाती है जिसमें शरीर साँपकी तरह जले, जिसमें सिर पर गुग्गुल जलाते है, पीठमे काँटे गड़ाये जाते है अथवा आस-पास जलनेवाली आगमें शरीर अंगारोकी तरह जलाया जाता है अथवा श्वास और उच्छ्वास बन्द करके व्यर्थ ही उपवास किया जाता है अथवा अपने शरीर को उलटा टाँगकर और धूनी पर मुँह लटकाकर धूम्र-पान किया जाता है, नदीमें बरफकी तरह ठंडे पानी मे गले तक खड़े होकर साधना की जाती है अथवा अपने शरीरके जीवित मासके टुकडे काटे जाते हैं और, हे अर्जुन, जब इस तरह अपने शरीर को अनेक प्रकार की यातनाएँ पहुँचायी जाती है, तब जो तप होता है और जिसका हेतु केवल दूसरोंका नाश करना होता है; उस तपका आचरण करके जो अपने शरीरको कष्ट पहुँचाता है, उसकी अवस्था उसी पत्थरके समान होती है जो स्वयं अपने ही भारके कारण नीचेकी ओर बराबर लुढ़कता जाता है और इस प्रकार स्वयं अपने आपको भी चूर चूर कर डालता है और जो कुछ उसके मार्गमे पडता है, उसे भी चूर चूर कर डालता है। ऐसा मनुष्य सुखसे रहनेवाले अपने जीवको क्लेश देकर विजय-प्राप्तिकी दुष्ट वासनासे तपका आचरण करता है। सारांश यह कि इस प्रकार शारीरिक यातनामें भयङ्कर कृत्योसे जो तप निष्पन्न होता है, उसी को तामस समझना चाहिए। इस प्रकार सत्व आदि गुणोके योग से तपके जो तीन प्रकार होते है, वे मैंने तुम्हे स्पष्ट करके बतला दिये हैं। अब प्रसंग आ गया है, इस लिए दानके तीनों प्रकारके लक्षण भी तुम्हे बतला देता हूँ इस प्रकरणमें गुणोंके योगसे दानके भी तीन वर्ग होते हैं। उनमेसे पहले सात्विक दानके लक्षण सुनो।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

"अपने धर्मके अनुसार आचरण करनेमे जो द्रव्य आदि प्राप्त हो, वे बहुत आदर-पूर्वक दूसरोको देने चाहिएँ। कभी कभी ऐसा होता है कि उत्तम बीज तो मिल जाते हैं, परन्तु बोनेके लिए अच्छा और दमदार खेत नही मिलता। प्रायः दानके सम्बन्धमें भी ठीक इसी तरह बात दिखाई देती है। कभी कभी ऐसा होता है कि अनमोल हीरा तो हाथ आ जाता है, परन्तु ऐसा सोना नही मिलता जिसमे वह जडा जा सके। अथवा यदि हीरा और सोना दोनो मिल जायँ तो फिर उन दोनोके योगसे बना हुआ आभूपण पहननेके लिए अंग ही नही होता। बस इसी तरहकी बात दानके सम्बन्धमें भी दिखाई देती है। परन्तु जब मनुष्यका भाग्य सचमुच उदय होता है, तब जिस प्रकार शुभ समय त्यौहार, जीवन-सखा और धन-सम्पत्ति तीनोका योग हो जाता है, उसी प्रकार दानकी सहायताके लिए जब सत्व गुण आता है, तब दानके योग्य स्थल, पात्र, काल और द्रव्यके चारो साधन भी आकर एकत्र हो जाते है। अतः उचित दान करनेके लिए पहले कुरुक्षेत्र, काशीक्षेत्र अथवा इन्ही के समान किसी और पवित्र भूप्रदेश तक प्रयत्न-पूर्वक पहुँचना चाहिए। फिर उस स्थान पर पहुँचकर पूर्णिमा अथवा अमावस्या का पुण्य पर्व-काल अथवा इसी प्रकारका और कोई शुद्ध काल देखना

अठारहवाँ अध्याय

हे निर्दोष परमेश्वर, मै आपका जय-जयकार करता हूँ। आप अपने भक्तोका सब प्रकारसे कल्याण करते हैं और आप ही जन्म तथा जराजरा रूपी मेघ मंडलका नाश करनेवाले प्रभंजन प्रचंड वायु हैं। हे बलाढ्य देव, आप समस्त अमंगलोंका नाश करते है और वेद-शास्त्र-रूपी वृक्षके जो फल है, वे फल भी आप ही देते हैं। हे स्वयं-पूर्ण देव; विरक्तो पर आपका प्रेम रहता है, आप कालकी सामर्थ्यको भी रोकते हैं और इतना होने पर भी समस्त कलाओसे परे है। हे अटल देव, आप चंचल चित्तोका प्राशन करके तोन्दल हुए हैं—चंचल चित्तोंको खानेके कारण आपका पेट फूला हुआ है। जगतको विकसित करके उसमें क्रीडा करना आपको बहुत अच्छा लगता है। हे अज्ञेय देव, आप उत्कट अति आनन्दको स्फूर्ति देनेवाले है। आप सब प्रकारके दोषों-का निरन्तर नाश करते रहते हैं। आप विश्वके मूल आधार हैं। हे स्वयं-प्रकाश देव, इस जगत-रूपी मेघको आश्रय देनेवाले आकाश आप ही है। जिस मूल स्तम्भ पर इस सारे विश्वकी रचना हुई है, वह स्तम्भ भी आप ही हैं। आप जन्म और मरण रूपी संसारका विध्वंस करते हैं। हे अत्यन्त शुद्ध देव, केवल अज्ञानके ही नही, बल्कि ज्ञानरूपी बगीचेका भी नाश करनेवाले हाथी, शम और दमके द्वारा मदनका अभिमान तोड़नेवाले और दयाके सागर भी आप ही है। हे एक-स्वरूप, देव आप काम-रूपी सर्पका गर्व दूर करनेवाले, भक्तोके भक्ति रूपी मन्दिरको प्रकाशित करने-वाले दीपक और ताप शान्त करनेवाले है। हे अद्वितीय परमेश्वर, जिन लोगोकी शान्ति और विरक्ति पूर्णताको पहुँची हुई होती है, उन्हें आप अत्यन्त प्रिय होते हैं। अपने भक्तोके आप अंकित होते है। आप केवल भक्तिके द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं, परन्तु मायाके लिए आपका स्वरूप अगम्य है। हे श्री सद्गुरु रूपी पर-मेश्वर, आप ऐसे अद्भुत फल देनेवाले कल्प-वृक्ष है जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती। आप ऐसे उपजाऊ स्थल हैं जिसमें आत्म-ज्ञानके वृक्षका बीज उगता है और उसमेसे अंकुर निकलते हैं। हे महाराज, मैं आपका जय-जयकार करता हूँ। परन्तु आप ऐसे हैं कि आपके विशिष्ट लक्षण मनके द्वारा नही जाने जा सकते और न वाचासे उनका उच्चारण ही हो सकता है। इसलिए आपके उद्देश्यसे अनेक प्रकारके शब्दोकी योजना करके मैं आपके स्तोत्रोकी कहाँ तक रचना करूँ! आपके विशेष लक्षण बतलानेके लिए जिन जिन विशेषणोका प्रयोग किया जाय, उनके सम्बन्धमे यही बात मनमें आती है कि वे सब विशेषण आपके वास्तविक स्वरूपके बोधक नही हो सकते और इसी लिए मैं केवल लज्जित हो रहा हूँ। सागर सदा अपनी मर्यादाके अन्दर ही रहता है। परन्तु यह नियम तभी तक देखनेमे आता है, जब तक चन्द्रमाका उदय नही होता। सोमकान्त मणि

चाहिए। फिर ऐसे स्थल और ऐसे कालमे दानके योग्य कोई उपयुक्त पुरुष ढूँढना चाहिए। वह पुरुष मूर्तिमान शुद्धता ही होना चाहिए। वह ऐसा अत्यन्त पवित्र ब्राह्मण-श्रेष्ठ होना चाहिए जो सदाचारका जन्म-स्थान या मायका और वेद-ज्ञानका संग्रहालय हो। जब ऐसा उत्तम पात्र मिल जाय, तब अपने वित्त या सम्पत्ति परसे अपना स्वत्व हटाकर वह वित्त उसे अर्पण करना चाहिए। परन्तु यह काम करना किस प्रकार चाहिए? ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार पत्नी अपने पतिके सामने मर्यादापूर्वक जाती है, जिस प्रकार कोई सज्जन अपने पास रखी हुई किसी की धरोहर उसे वापस करके भारसे मुक्त होता है अथवा कोई सेवक बहुत ही नम्रतापूर्वक किसी राजाको ताम्बूल देता है। वस ठीक इसी प्रकार निष्काम मनसे उस ब्राह्मण-श्रेष्ठको भूमि आदि दान देनी चाहिए। तात्पर्य यही है कि दान देते समय किसी प्रकारके फलकी आकाक्षा अपने मनमे नही उत्पन्न होने देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त दान देनेके लिए जो मनुष्य ढूँढा जाय, वह ऐसा ही होना चाहिए जो लिए हुए दान-का बदला कभी किसी प्रकारसे न चुका सकता हो। जिस प्रकार आकाशको पुकारने पर उससे कोई प्रत्युत्तर नही मिलता अथवा दर्पणको छोडकर किसी दूसरी ओर देखनेसे उस दर्पणमे अपना प्रतिबिम्ब नही दिखाई देता अथवा जलपूर्ण स्थान पर फेंका हुआ गेंद जिस प्रकार फिर लौटकर हमारे हाथ नही आता अथवा जिस प्रकार उत्सर्ग किये हुए साँडको दिया हुआ चारा अथवा कृतघ्नके साथ किया हुआ उपकार कभी किसी रूपमे फलप्रद नही होता, ठीक उसी प्रकार दाताको भी उचित है कि ऐसे ही पुरुषको दान दे जिससे फिर उस दानका कोई अश या उसके बदलेमे और कोई उपकार आदि प्राप्त न हो सकता हो। और दान देते समय कभी इस प्रकारका भेद-भाव भी अपने मनमे नही आने देना चाहिए कि मैं दाता हूँ और वह गृहीता है। हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, जब इन सब बातोका योग होने पर दान किया जाता हो, तब उसी दानको सर्वोत्तम और सात्विक समझना चाहिए। और देश, काल तथा सत्पात्र ब्राह्मणका ध्यान रखकर जो दान किया जाता है, वही दान निर्दोष तथा शास्त्रोक्त होता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

"परन्तु जिस प्रकार दूध पर दृष्टि रखकर गौको चारा दिया जाता है अथवा अनाजसे अपनी खत्ती भरनेके उद्देश्यसे खेतमे बीज बोये जाते है अथवा व्यवहार या न्योतेमे मिलनेवाली रकम पर ध्यान् रखकर अपने सम्बन्धियो आदिको मगल-कार्यका निमन्त्रण दिया जाता है अथवा जिस प्रकार कभी ऐसे व्रतस्थ मनुष्यके यहाँ कुछ खाने-पीनेका सामान या पत्तल आदि भेजी जाती है जिसके सम्बन्धमे यह निश्चय रहता है कि वह किसी न किसी रूपमे अवश्य ही लौटा देगा अथवा जिस प्रकार पुरस्कार-रूपमे मिला हुआ धन पहले अपनी गाँठमे बाँध लिया जाता है और तब पुरस्कार देनेवालेका कार्य किया जाता है अथवा जिस प्रकार वेतन या धन लेकर रोगीकी चिकित्सा की जाती है, उसी प्रकार जो दान इस उद्देश्यसे दिया जाता है कि उस दानके द्वारा आगे चलकर हमारा कुछ उपकार वा निर्वाह होगा अथवा

स्वयं अपने अंगकी आर्द्रतासे चन्द्रमाको कभी अर्घ्य प्रदान नही करती, परन्तु स्वयं चन्द्रमा ही उससे यह कृत्य कराता है। वसन्तका आगमन होने पर समस्त वृक्षोमें नये नये पत्ते और नये नये अंकुर निकल आते है; परन्तु स्वयं उन वृक्षोंको यह पता नही चलता कि हममे ये नये पत्ते और नये अंकुर कैसे निकल आये। सूर्यकी किरणों-का स्पर्श होते ही कमलिनीका संकोच नामको भी बाकी नही रह जाता और जलका संयोग होते ही नमक अपने शरीरकी सुध-बुध भूल जाता है। ठीक इसी प्रकार, हे गुरु महाराज, ज्योंही मुझे आपका स्मरण होता है, त्योंही मैं स्वयं अपने आपको भूल जाता हूँ। भर पेट भोजन करके तृप्त होनेवाला पुरुष खूब डकार लेने लगता है। ठीक उसी पुरुषकी सी अवस्था, हे गुरु महाराज, आपने मेरी भी कर दी है। मेरे अहंभावको आपने मानो देश-निकाला दे दिया है और मेरी वाणी पर ऐसा पागलपन सवार करा दिया है कि वह आपकी स्तुति करने लगी है। परन्तु यदि अपने शरीरका भान रखकर भी आपको स्तुति की जाय तो भी गुण और गुणीमे भेद-भाव करना ही पडता है। परन्तु आप तो एक-जात और एक ही ब्रह्मानन्द-स्वरूपकी मूर्ति हैं। फिर जिस प्रकारका भेद गुण और गुणीमे होता है, उस प्रकारका भेद-भला आपमे कहाँसे हो सकता है! और फिर क्या इस प्रकारका भेद-भाव करना इष्ट भी है? मोतीको तोडकर उसे फिरसे जोडना अच्छा है या उसे अखंड ही रखना अच्छा है? ठीक इसी प्रकार माता और पिताके रूपमे आपकी कल्पना करके आपकी स्तुति करना ही उचित नही है, क्योकि उस स्तुतिमे वालक या सन्तानवाली उपाधिका दोष आ जाता है। हे महाराज, यदि मैं यह कल्पना करूँ कि मैं आपका सेवक हूँ, तो फिर आपमें स्वामी या गुरुके भावका आपसे आप आरोप हो जाता है फिर इस प्रकारकी उपा-धियोसे दूषित वर्णन करनेका अर्थ ही क्या हो सकता है? और ऐसी स्तुतिसे लाभ ही क्या हो सकता है? यदि मैं यह कहूँ कि आप आत्मा हैं तो मानो आप सरीखे ज्ञान-दाताको मैं अपने हृदयसे निकलकर बाहर कर देता हूँ। इसलिए हे गुरुदेव, मुझे तो इस संसारमें ऐसा कोई सुभीता नही दिखाई देता जिससे मैं आपकी स्तुति कर सकूँ। आप मौनके अतिरिक्त और किसी प्रकारके अलंकारसे अपने आपको अलंकृत नही होने देते। आपकी स्तुति करनेका अर्थ है मौन रहना, आपकी पूजा और अर्चा करनेका अर्थ है कर्मोका अभाव होना और आपका सान्निध्य प्राप्त करनेका अर्थ है आपमे ही लीन होकर शून्यत्वको प्राप्त होना। इसलिए प्रेम-मोहका पागलपन, बकवाद करानेके बहानेसे मेरे द्वारा आपकी स्तुति कराता है और इसी लिए मैं बड बड़ करके आपके गुणोका यह वर्णन करता हूँ। परन्तु हे देव, आप करुणामयी माताके समान है, इसलिए यदि आप जैसे तैसे मेरी ये सब वातें सहन कर लें तो मेरा काम हो जाय। अब आप मेरी वाणीके विस्तार पर गीता-रहस्यकी दृढ़ मुद्रा इस प्रकार अंकित करें कि उससे इन सज्जन श्रोताओका चित्त प्रसन्न हो जाय। यह सुनकर श्री निवृत्तिनाथजीने कहा—"तुम बार बार इस प्रकारकी वातें क्यो कहते हो? क्या पारस पर लोहेको बार बार रगड़ना पडता है? (अर्थात् पारसके एक बारके स्पर्शसे ही लोहा तुरन्त सोना हो जाता है।") इस पर मैं

रास्तेमें चलते समय किसी ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणके मिल जाने पर जिसे दिया हुआ दान कभी किसी रूपमे वापस नही मिल सकता, उसे दानमें एक कौड़ी दे दी जाती है और अपने समस्त गोत्रजोके प्रायश्चितके संकल्पका जल उसके हाथ पर रख दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार तरह-तरहके परलोक सम्बन्धी सुखपूर्ण फलोका ध्यान रखकर इतना अल्प दान दिया जाता है जो किसीकी एक बारकी क्षुधाकी निवृत्तिके लिये यथेष्ट न हो; और वह अल्प दान भी जिस समय ब्राह्मण लेकर चलने लगता है, उस समय यजमानको मानो ऐसा जान पड़ता हे कि हमारे घर डाका पडा है और हमारा सर्वस्व ही लुट गया है, और इसी लिए वह अपने मनमें बहुत विकल होने लगता है। हे सुविज्ञ अर्जुन, अब मैं अधिक विस्तार न करके केवल इतना ही कहता हूँ कि मनमें इस प्रकारके भाव रखकर जो दान दिया जाता है, उसे पूर्ण रूपसे राजस दान समझना चाहिए ।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

"और हे अर्जुन, यवनोकी बस्तीमे, जंगलमे, अपवित्र देश-विभागमे, छावनीमें अथवा नगरके चौरास्ते पर ठीक सन्ध्या समय अथवा रातको चोरीका धन दान करना; और वह दान भी किसे करना ? भाट, वाजीगर, वेश्या या जुआरी सरीखे ऐसे लोगोको जो नितान्त भ्रममे पड़े हों और दूसरेको ठगते हो, तिसपर सामने रूपवती और लावण्यवती स्त्रियोका नाच होता हो, आँखोमे चरबी छाई हो और खुशामदी लोगोकी की हुई स्तुतियाँ बराबर कानमे सुनाई पड़ती हो, तिस पर ऐसे समयमें जब कि फूलो और दूसरे सुगन्धित द्रव्योकी कोमल सुगन्धोके कारण अंगोमे मानो विषय-लोभके वेतालका ही ससार हो रहा हो, सारे संसारको लूटकर इकट्ठा की हुई सम्पत्ति इस प्रकार दान करना कि मानो नीचो और दुष्टोके लिए अन्न-सत्र ही खोल दिया गया हो, उस दानको तथा इस प्रकारके और भी दानोंको मै तामस कहता हूँ। इसके अतिरिक्त कभी-कभी दैवयोगसे एक और प्रकार भी हो जाता है। वह भी सुन लो। जिस प्रकार कीडोंकी खाई हुई लकडी पर रेखाओके योगसे कभी कभी कुछ अक्षर बन जाते है अथवा दोनो हाथोसे ताली बजाते समय आपसे आप कोई कौआ दोनो हथेलियोके बीचमे आ जाता है, ठीक उसी प्रकार कभी कभी तामस पुरुषके लिए भी शुभ-काल तथा पवित्र स्थलका योग प्राप्त हो जाय और ऐसे योग पर कोई ऐसा पुरुष भी उसके पास दान माँगनेके लिए जाय जो दान लेनेका उपयुक्त पात्र हो और द्रव्यकी आवश्यकताके कारण वह याचना कर बैठे, तो उस तामस पुरुषके मनमें श्रद्धाका कही नाम भी नही होता, इसलिए वह उस अतिथिको नमस्कार भी नही करता और न स्वयं ही अर्घ्य, पाद्य आदि उसे अर्पित करके उसका आदर-सत्कार करता है और न किसी दूसरेसे ही इस प्रकार उसका आदर सत्कार कराता है, यहाँ तक कि अभ्यागतके बैठनेके लिए उसे आसन तक नही देता। ऐसी अवस्थामें गन्ध और अक्षत आदिके द्वारा उसकी पूजा करनेका तो कोई जिक्र ही नही हो सकता हे अर्जुन, तामसी पुरुषोके हाथो इसी प्रकारका अशास्त्रीय तथा अपमानकारक व्यव-

ज्ञानदेव कहता हूँ—"महाराज, बस यही आपका प्रसाद हो गया। अच्छा अब महाराज इस ग्रन्थकी ओर ध्यान दें। जो गीता रूपी रत्न-जटित मन्दिरके अर्थ-रूपी चिन्तामणि शिलाका बना हुआ कलस है, जो समस्त गीता-रहस्यका बोधक है, वह यही अठारहवाँ अध्याय है। व्यवहारमें यह देखनेमें आता है कि जब किसी मन्दिरका कलस दूरसे दिखाई देता है, तो यही समझा जाता है कि मानो स्वयं देवताके ही दर्शन हो गये। ठीक वही बात इसके सम्बन्धमे भी है; क्योकि इस एक अध्यायके द्वारा ही गीताका सारा रहस्य ध्यानमें आ जाता है। इसी लिए मैं कहता हूँ कि बादरायण व्यासने इस गीता-रूपी मन्दिर पर यह अठारहवाँ अध्याय मानो कलसके रूपमे चढ़ाया है। और इस अध्यायमें गीताको जो समाप्ति होती है, उससे यह बात भी स्पष्ट रूपसे सिद्ध हो जाती है कि कलस चढ़ जानेके बाद मन्दिरके निर्माणका और कोई काम बाकी नही रह जाता। व्यासदेव स्वभावतः बहुत ही चतुर सूत्रकार थे। उन्होने वेद-रूपी रत्नगिरि पर उसके मध्य भागमे उपनिषदर्थ रूपी जमीनमें खुदाई करके उसे साफ किया था। उस खुदाईमे धर्म, अर्थ और काम रूपी बहुत-सी मिट्टी और पत्थर आदि निकले थे; उन्हीसे उन्होने उस जमीनके चारो ओर महाभारत रूपी बहुत बडा कोट तैयार किया था। उसी कोटमे कृष्णार्जुन संवादके कौशलसे आत्म-ज्ञानका मैदान खूब अच्छी तरहसे साफ करके सुन्दर और स्वच्छ किया। फिर समाधान रूपी डोरियाँ तानकर और सब शास्त्रोके अर्थोका मसाला डालकर मोक्ष-रेखाकी कुरसी या तल-सीमा निश्चित् की गई। इस प्रकार इमारतका काम चलते-चलते पन्द्रह अध्यायो तक मकानकी पन्द्रह मंजिले या खंड पूरे हो गये और अध्यात्म मन्दिरकी रचना सम्पूर्ण हो गई। इसके उपरान्त सोलहवें अध्यायमे उस मन्दिरके शिखरका भाग बना और सत्रहवे अध्यायमे कलसका आधार बैठाया गया। उसी बैठक पर यह अठारहवाँ अध्याय मानो कलसके रूपमे बैठाया गया है। इसी कलस पर व्यासदेवकी गीता नामक ध्वजा फहराती रहती है। इसी लिए पहलेके सब अध्याय एक पर एक चढ़नेवाली मजिलोके आकार है और उन सबकी पूर्णता प्रस्तुत अध्यायमें दिखाई देती है। भवनका जो काम हुआ रहता है, उसे गुप्त न रखकर कलस उसे सदा प्रकट करता रहता है। ठीक इसी प्रकार यह अठारहवाँ अध्याय भी गीताको आरम्भसे अन्त तक प्रज्वलित और प्रकट करता है। इस प्रकार श्री व्यासदेवने इस गीता-मन्दिरको पूर्णता तक पहुँचाकर जीवोका अनेक प्रकारसे संरक्षण किया है। कुछ लोग जपके बहाने बाहरसे ही इस मन्दिरकी प्रदक्षिणा करते हैं। कुछ लोग इसके श्रवण पर श्रद्धा रखकर इसकी छायामे विश्राम पाते हैं। कुछ लोग एकाग्र वृत्तिसे दक्षिणा और ताम्बूल लेकर अर्थ-ज्ञानके गर्भ-गृहमे सहज ही प्रवेश करते हैं। इस तीसरे प्रकारके जीव तत्काल ही आत्मस्वरूप श्री हरिके साथ मिल जाते है। तो भी इस मोक्ष-मन्दिरमें सभी लोग प्रवेश कर सकते है। जिस प्रकार बडे आदमियोके घरोमें भोजन करनेके लिए ऊपर बैठनेवालोंको भी और नीचे बैठनेवालोको भी समान रूपसे सब खाद्य पदार्थ परोसे जाते हैं, उसी प्रकार इस गीताका पाठ करनेवाले, श्रवण करनेवाले और अर्थ ग्रहण करनेवाले सभी लोग समान रूपसे

मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यह गीता वैष्णव भक्तोंके लिए मन्दिरके रूपमें है; और सब बातोका ध्यान रखकर ही मैंने यह कहा है कि यह अठारहवाँ अध्याय मन्दिरका उज्ज्वल कलस है। अब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार यह स्पष्ट करके बतलाता हूँ कि सत्रहवे अध्यायके उपरान्त इस अठारहवे अध्यायका प्रसंग किस प्रकार उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार गंगा और यमुना दोनोका जल जलत्वके विचारसे एक-रूप ही होता है, परन्तु धाराके विचारसे दोनो ही नदियाँ अलग अलग दिखाई देती हैं, अथवा स्त्री-रूप और पुरुष-रूप दोनोके वर्त्तमान रहते हुए भी अर्द्ध-नारी-नटेश्वरकी मूर्तिमें उन दोनो रूपोका एक शरीर बना रहता है, अथवा दिन पर दिन चन्द्र-बिम्बकी बढती हुई कलाओका प्रसार होने पर भी जिस प्रकार चन्द्रमाके बिम्ब पर उनका कोई अलग अलग लेप नही दिखाई देता, ठीक उसी प्रकार भिन्न भिन्न चारो चरणोके कारण श्लोक तो अलग अलग रहते है और अध्यायोके अनुक्रम अकोके कारण अध्याय भी अलग अलग दिखाई देते है, परन्तु फिर भी ग्रन्थके विषयके प्रतिपादनका कही कोई अलग स्वरूप नही है—विषयका प्रतिपादन सभी अध्यायोमे समान रूपसे हुआ है। रत्न तो भिन्न भिन्न होते हैं, परन्तु जिस प्रकार उन्हे जोड़नेवाली डोरी एक ही होती है अथवा बहुतसे मोतियोको एकमे पिरोकर जिस प्रकार एक लडवाली माला बनती है और उसका एक ही आकार दिखाई देता है अथवा फूलो और उनसे बनी हुई मालाकी अलग अलग गिनती नही की जा सकती, परन्तु यदि उनकी सुगन्धकी गिनती की जाय तो उसके लिए एक उँगली उठानेके बाद दूसरी उँगली उठानेकी नौबत ही नही आती (अर्थात् उन सबकी एक ही सुगन्ध होती है), ठीक वही बात इन श्लोको और अध्यायोके सम्बन्धमे भी समझनी चाहिए। गीताके श्लोक सात सौ और अध्याय अठारह होते है। परन्तु भगवान श्रीकृष्णका कथन एक ही है, उसमें किसी प्रकारका भेद या अलगाव नही है। और मैंने भी बिना वह मार्ग छोड़े ग्रन्थका अर्थ स्पष्ट किया है। और इसी प्रकार मैं प्रस्तुत प्रश्नका भी स्पष्टीकरण करता हूँ। आप लोग सुनें। सत्रहवें अध्यायकी समाप्ति पर अन्तिम श्लोकमे भगवानने कहा है—"हे अर्जुन, बिना ओं-तत्सत्‌वाले ब्रह्म-नाम पर श्रद्धा रखे हुए जिन कर्मोका आचरण किया जाता है, वे सब कर्म असत् अर्थात् दुष्ट और असत्य होते है।" श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर अर्जुनने अपने मनमें यह समझा कि ऐसा जान पडता है कि श्रीकृष्णके इस वचनने कर्म-निष्ठो पर दोष लगाया है। परन्तु कर्म करनेवाला बेचारा जीव अज्ञानके कारण अन्धा होता है। उन्हे ईश्वरके स्वरूपका ही पता नही चलता, फिर उन्हे ओं-तत्सत्‌वाले ब्रह्म नामका भला कैसे ज्ञान हो सकता है? इसके अतिरिक्त जब तक रज और तम दोनोंका क्षय नही होता, तब तक मनुष्यकी श्रद्धा भी बहुत ही निम्न कोटिकी रहती है। फिर वह श्रद्धा ब्रह्म नाम पर कैसे हो सकती है? ऐसी अवस्थामे जिस प्रकार हथियारोको आलिंगन करना, डोरी पर दौड़ना या नागिनको खेलाना, प्राण घातक होता है, वैसे ही सब कर्म भी बहुत ही विकट हैं और अनन्त जन्म-मरणके समान दुर्धर संकट इन कर्मोमें ही है। यदि दैव-योगसे मनुष्यके हाथों अच्छे कर्म हो जायँ तो उनमे ज्ञान प्राप्त करनेकी पात्रता आ जाती है। और नही तो

जाते हैं। इसके सिवा, हे अर्जुन, ऐसे पुरुषकी दृष्टिके सामने वर्त्तमान कर्म भी निर्मल होते हैं और इसी लिए वह सुख और दुःखके झगडोमे नही फँस सकता। उसके किये यह बात कभी हो ही नहीं सकती कि वह कर्मोंको शुभ समझकर आनन्दपूर्वक उनका आचरण करे अथवा यह समझकर कि कर्मोंका परिणाम दु.खकारक होता है, उनके साथ द्वेष करे। जिस प्रकार स्वप्नमे अनुभव किये जानेवाले सुख और दुःखका हर्ष अथवा शोक कोई पुरुष जाग्रत होने पर कभी नही करता, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी इस माया-जनित विश्व-मोहमें होनेवाले कर्मोंके इष्ट तथा अनिष्ट परिणामोंके विषयमें उदासीन रहता है। इसी लिए, हे अर्जुन, जिस त्यागमे कर्म और कर्त्ता-वाली द्वैत-भावनाकी गन्ध भी नही होती, उसी त्यागको सात्विक समझना चाहिए। हे पार्थ, यदि इस प्रकार कर्मोंका त्याग किया जाय; तभी वास्तवमे उनका त्याग हो सकता है। और नही तो यदि किसी दूसरे प्रकारसे कर्मोंका त्याग किया जाय तो वे और भी अधिक बन्धक हुए विना नही रहते।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

"और हे भाई अर्जुन, जो लोग शरीरधारी होनेपर भी कर्मोंका तिरस्कार करते हैं, उन्हे अज्ञानी और मूर्ख ही समझना चाहिए! यदि मटका मिट्टीसे घृणा करे तो क्या कभी उसका काम चल सकता है? जो वस्त्र धागोंका तिरस्कार करना चाहे, क्या स्वयं वह बाकी बचा रह सकता है? इसी प्रकार जिस वस्तुके अंगमें ही अग्नि हों, वह क्या उष्णतासे दु खी हो सकती है? क्या दीपक कभी अपने प्रकाशके साथ द्वेष करता है? हींग यदि अपने उद्दाम दर्पसे दु खी हो, तो क्या उसे कभी सुगन्धि प्राप्त हो सकती है? यदि जल अपना पतलापन छोड़ दे तो फिर भला वह कहाँ रह सकता है? ठीक इसी प्रकार जब तक शरीर-भ्रम बना हुआ है, तव तक पूर्ण रूपसे कर्मोंके त्यागवाले पागलपनका भला क्या अर्थ हो सकता है? हम लोग अपने मस्तक पर गन्धका तिलक लगाते हैं और इसीलिए हम जब चाहते है, तब वह तिलक पोंछ सकते हैं। परन्तु क्या यह भी कभी सम्भव है कि हम जब चाहे तव अपना मस्तक ही छीलकर फेंक दे और जब चाहे तब उसे फिर लगा लें? ठीक इसी प्रकार जो शास्त्रोक्त कर्म हम स्वयं अपनी इच्छासे करते है, वे तो कदाचित् हम छोड़ भी सकते हैं, परन्तु शरीरके जो स्वाभाविक कर्म है, वे भला कैसे छूट सकते हैं? और इसका कारण यही है कि श्वास और उच्छ्वास आदिकी जो क्रियाएँ है, वे निद्रित अवस्थामे भी होती रहती है। इस शरीरके निमित्तसे सभी कर्म मनुष्यके साथ लगे हुए है। वे न तो जीते जी ही छूटते हैं और न मरने पर ही छूटते हैं। इन कर्मोंके जालसे छूटनेवाले केवल एक ही प्रकारके पुरुष हैं और वे कौन-से हैं? वही जो कर्मोंका आचरण करने पर भी उनके फलोंकी आशाके जालमे नही फँसते। यदि कर्मके फल ईश्वरको अर्पित कर दिये जायँ तो वही ईश्वरके प्रसादसे ज्ञानका बोध उज्ज्वल करते हैं। और जब इस प्रकार ज्ञान-बोध उज्ज्वल हो जाता है, तब आत्म ज्ञानके कारण अज्ञानके साथ साथ कर्मोंका भी

उन्ही कर्मोके द्वारा मनुष्य की अधोगति प्राप्त होती है। कर्मके यथासांग पूर्ण होनेके मार्गमें न जाने कितनी ही बड़ी बडी झंझटे हैं। ऐसी अवस्थामें कर्म-निष्ठोंको भला कब मोक्ष प्राप्त हो सकता है? इसलिए यह कर्माचरणका बन्धन तोड़ डालना चाहिए; समस्त कर्मोका त्याग करना चाहिए, और एक मात्र वही संन्यास ग्रहण करना चाहिए जो सब प्रकारसे दोष-रहित है। कर्मबाधाके भयकी वार्त्ता भी जिनमें कही सुनाई नही देती; जिनमें केवल योगसे ही आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति होती है, जो ज्ञानको आवाहन करनेके मानो मन्त्र ही हैं, जो ज्ञानकी फसल पैदा करनेके लिए मानो उत्तम खेत ही हैं अथवा जो ज्ञानको खीच लानेवाली डोरीके मानो तन्तु ही है, वे दोनो सन्यास और त्याग है। इन्ही दोनो का आश्रय ग्रहण करने पर संसारका सम्बन्ध टूट जाता है। अतः अब भगवानसे संन्यास और त्यागका स्वरूप स्पष्ट करनेके लिए प्रार्थना करना ठीक है।" अपने मनमें यही बात सोचकर अब अर्जुनने भगवानसे त्याग और संन्यासकी व्यवस्थाका ज्ञान करानेकी प्रार्थना की और इस सम्बन्धमे उनसे प्रश्न किया, तब श्रीकृष्णने उसे जो उत्तर दिया, वही इस अठारहवे अध्यायमें दिया गया है। इस प्रकार जन्य और जनक भावसे एक अध्याय दूसरे अध्यायको जन्म देता है। अब अर्जुनने जो कुछ पूछा, वह भी सुनिये। उस पाडु कुमार अर्जुनने भगवानके अन्तिम वचन ज्ञातृत्व भावसे सुने। यदि वास्तवमें देखा जाय तो अब तक उसे तत्व-सिद्धान्तका निश्चित ज्ञान हो चुका था। परन्तु भगवान की बाते अब समाप्त हो गई थी और उसका प्रेमपूर्ण मन इसे सहन नही कर सकता था। जब बछड़ेका पेट माँके दूधसे भर जाता है, तब भी उसकी यही इच्छा रहती है कि मेरी माता गौ मुझसे दूर न जाय। एक-निष्ठ प्रेमकी यही रीति है। वह प्रेम कोई कारण या अवसर न होने पर भी बराबर बोलता ही रहता है और ऐसा प्रेम करनेवालेकी यह इच्छा होती है कि जो कुछ मैं एक बार देख चुका हूँ, वही बार बार देखता रहूँ। और अपनी प्रिय वस्तुका उपभोग करते समय इस प्रकार एक-निष्ठ प्रेम करनेवालेका उस प्रिय वस्तुके प्रति और भी अधिक अनुराग होता जाता है। यही इस प्रेमका लक्षण है। और अर्जुन तो उस प्रेमकी मानो मूर्त्ति ही था। इसी लिए भगवानके मौन धारण करने पर उसे बहुत अधिक कष्ट होने लगा। जिस प्रकार दर्पणमे स्वयं अपना ही रूप देखा जाता है, उसी प्रकार अर्जुन बात-चीतके बहानेसे उस वस्तुके दर्शन का अनुभव कर रहा था जो व्यवहारमे उसे प्राप्त नही हो रही थी। वह सोचता था कि जब यह सम्भाषण बन्द हो जायगा, तब यह अद्भुत सुखानुभव भी बन्द हो जायगा। परन्तु उस परम सुखका अर्जुनको चस्का लग चुका था। फिर भला भगवानका इस प्रकार चुप हो जाना वह कैसे सहन कर सकता था? इसी लिए उसने त्याग और संन्यासके विषयको निमित्त बनाकर गीता-रूपी वस्त्रकी तह फिरसे खुलवाई। यह गीताका अठारहवाँ अध्याय नही है बल्कि मानो एक अध्यायवाली गीता ही है। जब स्वयं बछडा ही गौका दूध दूहने लगे, तब भला उसमे दूधकी धारा निकलनेमे देर कैसे हो सकती हैं? ठीक इसी प्रकार ज्योही गीता समाप्ति पर आई, त्योही अर्जुन फिर पीछे लौट पड़ा और उसमे मानो फिरसे गीताकी पुनरावृत्ति करा डाली। जो अच्छे और सच्चे स्वामी होते हैं, वे सेवककी बात मानकर

उसी प्रकार नाश हो जाता है, जिस प्रकार रस्सीका वास्तविक ज्ञान हो जाने पर उसमें होनेवाली सर्पवाली भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। हे अर्जुन, इस प्रकार जो त्याग होता है, वही सच्चा कर्म-त्याग है। और इसीलिये जो लोग इस प्रकार त्याग करते है, उन्हीको मै सच्चा त्यागी समझता हूँ। और नही तो जिस प्रकार किसी रोग की मूर्छा आने पर यह कहा जाय कि उसे खूब अच्छी तरह नीद आई है, ठीक उसी प्रकार चाहे कोई एक कर्मसे उकताकर दूसरे कर्ममें फँसनेको भले ही विश्राम कह ले, परन्तु वास्तवमें ऐसा करना भी डंडोकी मारसे बचनेके लिए घूँसोकी मार सहनेके लिए तैयार होनेके समान ही है। परन्तु इस विषयका बहुत विस्तार हो चुका। मैं एक बार फिर तुम्हे यह बतला देता हूँ कि इस त्रिभुवनमें केवल उसको सच्चा त्यागी समझना चाहिये जो कर्मके फलोंका त्याग करके स्वयं उन कर्मोको नाशवाली दशा तक पहुँचा देता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥१२॥

"हे अर्जुन, वास्तविक स्थिति यह है कि कर्म फलके तीन प्रकार है; और जो कर्म-फलकी आशा नही छोड़ता, उसीको कर्मके फल भोगने पड़ते है। पिता कन्याको जन्म देता है और यह कहकर वह कन्या दूसरेको अर्पित कर देता है कि—"यह मेरी नही है" और इस प्रकार पिता अपने उत्तरदायित्वसे मुक्त होता है और उस कन्याको ग्रहण करनेवाला उसका जामाता जंजालमे फँस जाता है। विषाक्त वनस्पतियाँ बोने और पैदा करनेवाले लोग वे वनस्पतियाँ दूसरोके हाथ बेच देते है और स्वयं उनसे धन उपार्जन करके सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु जो लोग मूल्य देकर उन वनस्पतियोंको खरीदते है और उनका सेवन करते हैं, वही अपने जीवनसे हाथ धोते हैं। ठीक इसी प्रकार कर्त्ता भले ही सब प्रकारके कर्म करे, परन्तु यदि वह अपने मनमें उन कर्मोके फलोकी आशा न रखे तो वह अकर्त्ता ही रहता है, और इन दोनो बातोको कर्म बदल नही सकते। रास्तेमे लगे हुए वृक्षोके फल उन्ही लोगोको प्राप्त होते है जो उन्हे पानेकी इच्छा करते हैं। ठीक इसी प्रकार कर्मोके फल भी उन्ही लोगोंको प्राप्त होते है जो उन्हे प्राप्त करना चाहते है। परन्तु कर्मोका आचरण करके भी जो उनके फल ग्रहण नही करता, वही इस ससारके चक्रमे नही फँसता; क्योकि यह सारा त्रिविध संसार कर्मोका ही फल है। देव, मनुष्य और स्थावरका ही नाम संसार है और ये तीनो ही कर्म-फलके प्रकार है। ये कर्म फल तीन प्रकारके होते है—इष्ट, अनिष्ट और इष्टानिष्ट। जब बुद्धि विषयोमे अकित हो जाती है और जीव अधर्ममे प्रवृत्त होकर दुष्ट कर्म करने लगते है, तब वे कीडे मकोडो और मिट्टी-पत्थर आदिके नीचे शरीर प्राप्त करते है। इन्हीको अनिष्ट कर्मोका फल समझना चाहिए। परन्तु जब स्वधर्मका आदर करते हुए और अपने अधिकार पर दृष्टि रखते हुए वे वेद-शास्त्रोके नियमानुसार पुण्य कर्मोका आचरण करते हैं, तब हे अर्जुन, वे इन्द्र आदि देवताओंके उत्तम शरीर प्राप्त करते हैं। यही कर्मोका इष्ट फल है। मीठे और खट्टे रसोके मेलसे उन दोनोसे बढकर एक तीसरा निराला और स्वादिष्ट रस उत्पन्न होता है; और योगकी साधनामे रेचककी सहायतासे ही कुम्भक

उसीके अनुसार आचरण करते है या नही ? परन्तु ये सब बातें बहुत हो चुकी। अब अर्जुन प्रश्न करता है। वह कहता है—"हे विश्वेश प्रभो, आप मेरी एक प्रार्थना सुनें।

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

"हे देव, संन्यास और त्याग दोनो शब्दोसे एक ही अर्थ निकलता है। जिस प्रकार संघात और संघ दोनो शब्दोसे केवल संघात ही सूचित होता है, उसी प्रकार मेरी बुद्धिके अनुसार ऐसा जान पडता है कि त्याग और संन्यास दोनो शब्दोसे केवल त्याग ही सूचित होता है। हे देव, यदि इन दोनो शब्दोमे अर्थका कोई भेद हो तो वह आप कृपाकर स्पष्ट रूपसे बतला दे।" इस पर श्रीकृष्णने उत्तर दिया—"हाँ, इन दोनों शब्दोके अर्थोमे भेद है। तो भी हे अर्जुन, मुझे इस बातमे कुछ भी सन्देह नही है कि तुम्हें त्याग और संन्यास इन दोनो ही शब्द एकार्थी जान पड़ते हैं। यह बात बिलकुल ठीक है कि इन दोनो शब्दोसे केवल त्याग ही सूचित होता है। परन्तु इनके अर्थोमे भेद होनेका कारण यही है कि जब कर्म सब प्रकारसे अपनेसे अलग या दूर कर दिये जाते हैं, तो उसे संन्यास कहते है; और कर्मके फलोकी कोई कामना न रखनेको त्याग कहते हैं। अब मैं इस बातका स्पष्ट रूपसे विवेचन करता हूँ कि किन किन कर्मोके फलका त्याग करना चाहिए और कौन-से कर्म ही बिलकुल छोड दिये जाने चाहिएँ। तुम अच्छी तरह इन बातोकी ओर ध्यान दो। वनोमे और पर्वतो पर असंख्य वृक्ष आपसे आप उगते और बढ़ते हैं, लेकिन धानके पौधे या बागोमेके वृक्ष उस प्रकार आपसे आप नही होते। बिना जोताई और बोआईके अनेक प्रकारकी घासें और जंगली वनस्पतियाँ उगती हैं, परन्तु बिना बीज बोये और रोपाई किए खेतोमे धान इस प्रकार आपसे आप नही हो सकता। अथवा शरीर यद्यपि आपसे आप उत्पन्न होता है तो भी भी आभूषण गढ़वानेके लिए परिश्रम ही करना पड़ता है, अथवा नदी तो आपसे आप मिल जाती है, परन्तु कूआँ खोदनेके लिए परिश्रम करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार नित्य तथा नैमित्तिक कर्म तो स्वाभाविक रूपसे होते रहते हैं, परन्तु यदि मनमे उनके फलकी आशा न रखी जाय तो वे कर्म कामिक नही होते (अर्थात् ये कामना-रहित होते है) और इसी लिए बन्धन-कारक नही होते।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

"केवल कामनाके विस्तारके कारण ही जिन कर्मोका अनुष्ठान होता है, जिनमें अश्वमेध आदि बड़े बड़े यज्ञ-याग आदि किये जाते है, तालाब और कूएँ आदि खोदवाये जाते है, बाग लगवाये जाते हैं, भूमि-दान और ग्राम-दान किये जाते हैं तथा और अनेक प्रकारके व्रत आदि किये जाते हैं, तात्पर्य यह कि इस प्रकारके जितने स-काम और इष्टापूर्त्त कर्म किये जाते हैं, वे सब कर्त्ताके लिए बन्धक होते हैं और उन

भी होता है (अर्थात् जब मनुष्य श्वासको बाहर निकालनेकी क्रिया करता है, तभी वह श्वासको अपने अन्दर बन्द रखनेमे भी समर्थ होता है)। इसी प्रकार जब सत्य और असत्य दोनो मिलकर बिलकुल एक हो जाते है, तब सत्य और असत्य दोनोसे भिन्न एक और विचित्र पदार्थकी उत्पत्ति होती है। इसी लिए शुभ तथा अशुभ फलोके मिश्रणसे जिस कर्म फलकी सृष्टि होती है, उसीके योगसे मनुष्य-देहकी प्राप्ति होती है। इसीको कर्मोका इष्टानिष्ट अर्थात् मिश्र फल समझना चाहिए। यही तीन प्रकारके कर्म,फल सारे संसारमें फैले हुए हैं; और जो जीव आशाके फेरमे पडते है, उनके लिए उन फलोको भोगनेके सिवा और कोई उपाय ही नही रह जाता। जब जीभका पानी गिरने लगता है (अर्थात् जीभकी लोलुपता बहुत बढ जाती है), तब दुष्ट पदार्थोका सेवन बहुत अच्छा लगता है, परन्तु अन्तमे उन्ही पदार्थोके सेवनके कारण मनुष्यको मृत्युके मुखमें जाना पड़ता है। जब तक आदमी जंगलमे नही पहुँचता, तभी तक उसे ठगोकी मित्रता अच्छी जान पड़ती है; और जब-तक वेश्याके साथ अग स्पर्श नहीं होता, तभी तक वह देखनेमें लावण्यवती जान पडती है। ठीक इसी प्रकार कर्मोका आचरण करनेमे अंगोमे प्रौढताका संचार होता रहता है। परन्तु अन्तमे उन कर्मोका फल एक दमसे आक्रमण कर बैठते हैं। जिस प्रकार कोई सत्ताधारी साहूकार किसी कर्जदारके पास उसके वादे पर अपना कर्ज वसूल करनेके लिए आता है और उस समय कर्जदार बिना उसे रुपये चुकाये किसी तरह अपना बचाव नही कर सकता, उसी प्रकार मनुष्य इन कर्म-फलोके भोगसे भी किसी प्रकार नही बच सकता। जिस प्रकार ज्वारकी बालमेसे निकलकर जमीन पर गिरे हुए दाने फिर भी ज्वार ही उत्पन्न करते हैं और फिर उस ज्वारके दाने भूमि पर गिरते है, वे भी फिर वही ज्वार उत्पन्न करते है, ठीक उसी प्रकार जीव जिस समय एक समय एक फल भोगता है, तब वह साथ ही दूसरे अनेक कर्म-फल भी उत्पन्न करता रहता है। जिस प्रकार चलनेके समय प्रत्येक पग पिछले पगसे आगे ही पड़ता है अथवा नदीको पार करनेके लिए हम उसके जिस किनारे पर पहुँचते हैं, वह "इस पार" होता है और सामने-वाला दूसरा किनारा "उस पार" होता है और हमें उस पार जाना ही पडता है और बराबर इस पारसे उस पार करना पडता है, ठीक उसी प्रकार कर्म-फलके भोगका भी कही अन्त नही होता। साध्य और साधनके निमित्तसे फल-भोगका निरन्तर विस्तार ही होता जाता है और इस प्रकार फलकी आशा न छोडनेवाले जीव ससारके जालमें और भी अधिक फँसते जाते हैं। चमेलीकी कलियाँ खिलती तो है, परन्तु खिलनेके साथ ही साथ उनका सूखना भी आरम्भ हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जो लोग कर्मके निमित्त बनते हैं, परन्तु अपने आपमे कर्तृत्वका आरोप नहीं करते और जो लोग कर्म-फलका त्याग करके कर्मोका उसी प्रकार अन्त कर देते हैं, जिस प्रकार बीजके लिए रखा हुआ धान्य खाने-पीनेके काममे लानेसे खेतीका काम बन्द हो जाता है, वे लोग सत्व-शुद्धिके बलसे गुरु-कृपाके अमृत-तुषारसे भरे हुए आत्म-बोधसे पूर्ण हो जाते हैं और उनकी द्वैत भाव रूपी दरिद्रता नष्ट हो जाती है। फिर जगत्-भ्रमके निमित्तसे भासित होनेवाले त्रिविध फल नष्ट हो जाते हैं और उस

कर्त्ताओंको अपने फल भोगवाते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार शरीररूपी ग्राममें आकर निवास करने पर जन्म और मृत्युके झगडोका अंत नहीं किया जा सकता अथवा जिस प्रकार ललाटका लिखा हुआ लेख मिटाया नही जा सकता अथवा शरीरकी त्वचाका जन्म-सिद्ध कालापन और गोरापन धोकर दूर नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार कामिक कर्मोका फल भोगनेसे भी मनुष्य किसी प्रकार बच नही सकता। जिस प्रकार ऋणसे मनुष्यका तब तक छुटकारा नही हो सकता, जब तक वह चुका न दिया जाय, उसी प्रकार इस तरहके कर्मोके फल भी भोगके लिए मानो धरना देकर बैठ जाते है और उन्हे बिना भोगे किसी तरह छुटकारा नही हो सकता। अथवा हे अर्जुन, यदि प्रत्यक्ष रूपसे कामना न की जाय और यों ही सहज भावसे इस प्रकारके कामिक कर्म किसीके हाथसे हो जायँ, तो भी जिस प्रकार भुथरे बाणोके साथ यों ही विनोदमे लडने पर भी मनुष्य घायल हो जाता है अथवा जिस प्रकार अनजानमें मुँहमे डाला हुआ गुड भी मीठा लगता है अथवा जिस प्रकार राख समझकर मुँहमें डाला हुआ अगारा भी मुँहको जला देता है, उसी प्रकार बन्धकत्व भी काम्य कर्मोंकी एक स्वाभाविक सामर्थ्य है; और इसी लिए जो लोग मोक्ष प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें कभी यो ही विनोदमें भी उन कर्मोका आचरण नही करना चाहिए। केवल इतना ही नही, हे अर्जुन, काम्य कर्मोको विषके समान उगलकर फेक देना चाहिए। और इसी प्रकारके त्यागको "संन्यास" कहा जाना है।" यहि उस समय सर्वान्तिर्यामी भगवान श्रीकृष्णने कहा था। इसके उपरान्त भगवानने फिर कहा—"यदि यात्री अपने साथ द्रव्य रखना छोड दे तो मानो वह लुटेरोसे होनेवाले भयका नाश कर डालता है। ठीक इसी प्रकार काम्य कर्मोको छोड़ देना भी मानो कामनाका समूल नाश कर डालना है। चन्द्रमा अथवा सूर्यको ग्रहण लगनेके समय जो कर्म करने पड़ते हैं अथवा पितरोंकी श्राद्धतिथि पर जो कर्म किये जाते हैं अथवा किसी अतिथिके घर आने पर उसके सादर-सत्कारके लिए जो कर्म करने पड़ते है, उन सब कर्मोको नैमित्तिक समझना चाहिए। जिस प्रकार वर्षा-ऋतुमे आकाश मेघोसे आच्छन्न और मलिन हो जाता है अथवा वसन्त-ऋतुका आगमन होने पर वृक्षोमे बहुतसे नये नये पत्ते निकलने हैं और वनकी शोभा दूनी हो जाती अथवा जिस प्रकार यौवनावस्थामें शरीरमे एक विशेष प्रकारकी मोहकता आ जाती है अथवा चन्द्रमाकी किरणोंके कारण जिस प्रकार चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है अथवा सूर्यका उदय होने पर जिस प्रकार कमल विकसित होते हैं और इन सब उदाहरणोमें जिस प्रकार कारण विशेपसे उसी बातकी वृद्धि होती है जो मूल मे होती है और मूल बातसे भिन्न कोई नई या निराली बात नही उत्पन्न होती, उसी प्रकार नित्य कर्ममें जब कोई निमित्त आ लगता है, तब उसी कर्मको "नैमित्तिक" कहने लगते है। और जो कर्म प्रतिदिन प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल करने पड़ते है, परन्तु जिस प्रकार आँखोमें दृष्टि कहीं बाहरसे लाकर लगाई हुई नही होती अथवा बिना सम्पादन किये ही पैरोमें चलने-फिरनेकी स्वाभाविक सामर्थ्य होती है अथवा दीपकके स्वरूपमे जिस प्रकार तेज स्वाभाविक रूपसे रहता है अथवा बाहरकी सुगन्ध बिना लगाये ही जिस प्रकार चन्दनमें अपनी आन्तरिक सुगन्ध रहती है, ठीक उसी प्रकार जिन कर्मोंमें स्वभावतः

अवस्थामें भोक्ता तथा भोगका भी लोप हो जाता है। हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, इस प्रकार जो लोग ज्ञान-प्रधान संन्यास ग्रहण करते हैं, वे ही वास्तवमें फल-भोगकी वासनाओं-का अन्त करते हैं। और इस प्रकारके संन्यासके कारण जिस समय आत्म-स्वरूपमें दृष्टि विस्तृत होती है, उस समय भला यह भास हो ही कैसे सकता है कि कर्म कोई स्वतन्त्र या भिन्न वस्तु है ? जब दीवार ही गिर पड़ती है, तब अन्धकारका कही नाम भी रह जाता है ? जब मूल वस्तु-स्वरूप ही नष्ट हो गया, तब फिर भला उसकी छाया पड सकती है ? यदि दर्पण ही न हो तो मुखका प्रतिबिम्ब कैसे और किसमें पड़ सकता है ? जब नीद खुल गई, तब स्वप्नकी उत्पत्ति कहाँसे हो सकती है ? और जहाँ स्वप्न ही नही है, वहाँ भला सत्य और मिथ्याका प्रश्न कैसे उत्पन्न हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार ऐसे ज्ञान-प्रधान संन्याससे जब मूल अविद्याके ही जीवनका अंत हो जाता है, तो फिर उसका कार्य जो कर्म-फल है, उसका लेन-देन कैसे हो सकता है ? इसी लिए संन्यासी पर कर्मकी मात्रा कभी प्रयुक्त हो ही नही सकती। परन्तु जब तक मनुष्यके शरीरमें अविद्या रहती है, तब तक आत्मा कर्तृत्वके अभिमानसे शुभ और अशुभ सभी प्रकारके कर्मोंके पीछे लगी रहती है। और जब तक दृष्टि पर भेद-भावकी छाप लगी रहती है, तब तक, हे सुविज्ञ अर्जुन, आत्मा और कर्ममे भेद-भाव बना ही रहेगा। पूर्व दिशा और पश्चिम दिशामें जिस प्रकारका भेद-भाव होता है अथवा आकाश और मेघ, सूर्य और मृग-जल अथवा पृथ्वी तल और वायुमे जिस प्रकारकी भिन्नता दिखाई देती है अथवा नदीके जलमे पत्थरों और चट्टानोके डूबे रहने पर भी जिस प्रकार उन दोनोमे आकाश और पातालका अन्तर रहता है अथवा पानीको छिपाये और दबाये रखनेवाली सेवार जिस प्रकार पानीसे बिलकुल भिन्न होती है अथवा दीपकसे सदा उत्पन्न होनेवाले काजलको जिस प्रकार कभी दीपक नही कहा जा सकता अथवा चन्द्रमा पर दिखाई पड़नेवाला दाग या कलंक जिस प्रकार चन्द्रमाके साथ मिलकर एक-रूप नही हो सकता अथवा दृष्टि और नेत्रोमे जिस प्रकार अपार अन्तर होता है अथवा मार्ग और यात्री या प्रवाह और उसमे बहनेवाले पुरुष या दर्पण और उसमे अपने मुखका प्रतिबिम्ब देखनेवाले मनुष्यमें जितनी अधिक भिन्नता या अन्तर होता है, हे अर्जुन, ठीक उतनी ही भिन्नता या अन्तर आत्मा और कर्म मे है। परन्तु यह अन्तर कब दिखाई देता है ? जब यह भिन्नता जाननेके लिए अज्ञान अवसर देता है, तब। सरोवरमेके कमल खिलकर यह सूचित करते है कि सूर्य उदय हो गया और वे कमल भ्रमरोसे अपने कमल-मधुकी लूट कराते है। ठीक इसी प्रकार आत्माके द्वारा होने वाली क्रियाएँ कुछ और ही कारणो से बार-बार उत्पन्न होती हैं। ये कारण पांच है। अब मैं इन कारणोका विवेचन करता हूँ।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

अधिकारका रूप होता है और इसी लिए जिन्हे किये विना मनुष्यका किसी तरह छुटकारा नही हो सकता, हे अर्जुन, उन्ही कर्मोको नित्य कर्म कहते है। इस प्रकार मैंने तुम्हे "नित्य" और "नैमित्तिक" कर्मोके लक्षण स्पष्ट करके बतला दिये हैं। ये सब नित्य और नैमित्तिक कर्म आवश्यक रूपसे करने पड़ते है और इसी लिए कुछ लोग इन्हे वाँझ अर्थात् निष्फल कहने लगते है। परन्तु जिस प्रकार भोजन करनेसे समाधान होता है और क्षुधाकी निवृत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोसे सभी ओरसे फलोकी प्राप्ति होती है। जब मिलावटवाला सोना सुनारकी अँगीठीमे पडता है, तव उसमेका मेल जल जाता है और सोना शुद्ध हो जाता है। ठीक इसी प्रकार कर्मोमे फल भी होते है। वात यह है कि कर्मोका आचरण करनेसे सब दोष दूर हो जाते है, मनुष्यका अधिकार वढ जाता है और उसे बातकी बातमे सद्गति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोका आचरण करनेमे इतने वडे फलकी प्राप्ति होती है, तो भी जिस प्रकार मूल नक्षत्रमे जन्म लेनेवाले वालकका परित्याग करना पडता है, ठीक उसी प्रकार इन फलोका भी परित्याग करना चाहिए। जब वसन्त-ऋतुका आगमन होता है, तब आममे तव तक नये नये पत्ते निकलते रहते है, जब तक उसकी एक शाखा फलोसे भर नही जाती। परन्तु ज्योही उन शाखाओमे फल लगने लगते है, त्योही वह उन फलोको विना स्पर्श किये ही अपना सारा वैभव नीचे फेंकने लगता है। ठीक इसी प्रकार कर्मकी मर्यादा न छोडते हुए नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोकी ओर ध्यान देना चाहिए और तब उन सबसे उत्पन्न होनेवाले फलोका पूर्ण रूपसे वमनके समान त्याज्य मानना चाहिए। कर्म फलके इसी त्याज्यको ज्ञाता लोग "त्याग" कहते है। इस प्रकार त्याग और सन्यासका स्वरूप मैंने तुम्हे वतला दिया है। जब इस प्रकारका संन्यास होता है, तब काम्य कर्म वन्धक नही होते। निषिद्ध कर्म तो स्वभावतः ही त्याज्य होते हैं। जिस प्रकार सिरके कट जाने पर वाकी शरीर आपसे आप जमीन पर गिर पड़ता है, उसी प्रकार इन फलोके त्यागसे नित्य कर्म भी आपसे आप नष्ट हो जाते हैं। फिर जिस प्रकार फसलके तैयार होने पर पौधोकी पत्तियाँ आदि मर जाती है, और पत्तियोके नष्ट होते ही फसल हाथ आती है, उसी प्रकार सब कर्मोके नष्ट होते ही आत्म-ज्ञान आप ही ढूढता हुआ जीवके पास आ पहुँचता है। इस युक्तिसे जो लोग त्याग और सन्यास दोनों करते हैं, वे आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेका साधन सम्पादित करते हैं। परन्तु जिनसे इस युक्तिका साधन नही होता और जो लोग केवल अनुमान या विचारमे ही त्यागका आचरण करते है, उनके हाथो नामको भी त्याग नही होता और वे दिन पर दिन बराबर और भी जालमे फँसते जाते है। यदि रोगकी चिकित्सा के लिए नही वल्कि यो ही किसी औषधकी योजना कर दी जाय, तो वह खाने पर विषके समान होती है। और इसके विपरीत यदि अन्न ग्रहण न किया जाय तो क्या भूखो मरनेकी नौवत नही आ जाती? इसलिए जो वस्तु त्याज्य न हो, उसका कभी त्याग नही करना चाहिए और जो त्याज्य हो, उसका कभी लोभ नही करना चाहिए। त्यागके इस गुण या विशेषता पर ध्यान न रखकर जो त्याग किया जाता है, वह सब

"कदाचित वे पाँचो कारण तुम्हे मालूम भी होगे, क्योकि शास्त्रोंने ऊपर हाथ उठाकर और खूब चिल्ला चिल्लाकर उनका वर्णन किया है। वेद राजाकी राजधानीमे, सांख्य वेदके प्रसादमें तत्व-विवेचन रूपी डंकेके घोषमे उसकी गर्जना हो रही है। जिस प्रकार संसारके समस्त कर्मोंके होनेके मूल हेतु यही कारण होते हैं, उस प्रकार-का आत्माके साथ उनका सम्बन्ध नही लगाना चाहिए। हे अर्जुन, इस प्रकार इन पाँच कारणोंका ढिढोरा पीटा गया है जिससे ये कारण बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं; इसीलिए मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यदि ये कारण तुम भी सुन लो तुम्हारे लिए बहुत अच्छा है। और जब मैं ज्ञान-चिन्तामणि प्रत्यक्ष तुम्हारे हाथोमे हूँ, तो फिर भला इस बातकी क्या आवश्यकता है कि उन कारणोका तुम्हे और किसीके द्वारा ज्ञान हो? यदि सामने दर्पण रखा हुआ हो तो फिर दूसरोसे यह पूछनेकी क्या आवश्यकता है कि मैं देखनेमे कैसा हूँ, और इस प्रकार दूसरेके नेत्रोको इतना अधिक महत्व क्यो दिया जाय? मेरा भक्त जिस हेतुसे जिस ओर देखता है, मैं भी उसी ओर उसके हेतुका रूप धारण करके पहुँच जाता हूँ। मैं ऐसा भक्त-वत्सल प्रभु अब तुम्हारे हाथका खिलौना बन रहा हूँ।" प्रेमके आवेशमे इस प्रकार बातें करते करते श्रीकृष्णदेव अपने आपमे नही रह गये। और उधर अर्जुन तो मानो आनन्द सागरमें डूब ही गया। जैसे चाँदनीकी वर्षा हो रही हो और उसके कारण सोमकान्त मणिका पर्वत पसीजकर सरोवर बन जाय, ठीक उसी प्रकार सुख और आत्म-प्रत्ययके मनोभावोके बीचका परदा नष्ट हो जानेके कारण अर्जुन केवल सुखकी मूर्ति ही बन गया था। श्रीकृष्णदेव तो सभी बातोमें समर्थ थे, इसलिए ऐसे अवसर पर वे फिर पहलेकी तरह प्रकृतिस्थ हो गये और सुख-सागरमे डूबते हुए अर्जुनको बाहर निकालनेके लिए जल्दीसे आगे बढे। उस समय सुखकी इतनी बडी लहर आई थी कि उसमें अर्जुन सरीखे बडे बडे धीर वीर भी अपनी बुद्धि सहित डूब सकते थे। परन्तु भगवानने सुखकी उस बाढको भी रोक लिया और इस प्रकार कहना आरम्भ किया—"भाई अर्जुन, तुम अपना आत्म-स्वरूप मत भूल जाओ।" यह सुनकर अर्जुनने एक ठंढी साँस ली और अपना सिर नीचे झुका लिया। इसके उपरान्त उसने कहा—"हे देव, आप उदार दाता हैं। और यह बात आप समझ ही गये हैं कि यद्यपि मैं आपके पास ही रहता हूँ, तो भी आपसे अलग रहनेके कारण मैं बहुत उकता गया हूँ, और इसी लिए अब मैं आपके साथ पूरा-पूरा एकत्व या समरसता प्राप्त करनेके लिए उत्सुक हो रहा हूँ। मेरी ऐसी कुवस्था होने पर यदि आप प्रेम-पूर्वक कुछ विनोद कर रहे हो, तो फिर आप बार-बार मेरी जीव-दशाका स्मरण क्यो करा देते है?" इस पर श्रीकृष्णने उत्तर दिया—"अरे पागल अर्जुन, अभी तक यह विषय तुम्हारी समझमे अच्छी तरह नही आया। क्या चन्द्रमा और उसकी चाँदनीमे कभी कोई पार्थक्य होता है! इसके अतिरिक्त मैं तुम्हें अपने मनकी एक और बात बतलाता हूँ। वह यह कि तुम्हे वह सम-रसता दिखानेमे और तुम्हे उसका अनुभव करनेमे मुझे सचमुच बहुत भय हो रहा है। और तूम्हारे रूठ जाने पर मुझमे तुम्हारा रूठना सहन करनेकी जो सामर्थ्य आती है, उसका भी कारण यही है

बैठेकी बेगार होती है। जो लोग सच्चे विरक्त होते हैं, उन्हें निषिद्ध (अर्थात् त्याज्य) कर्मोंके साथ सभी जगह झगड़ना पड़ता है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

"बहुत-से लोग ऐसे होते है जिनके मनसे फलका लोभ कभी दूर ही नही होता और इसी लिए वे लोग सभी कर्मोंको बन्धनकारक कहते है। जिस प्रकार कोई मनुष्य स्वयं तो नंगा होकर नाचता है और संसार भरको लड़ाका कहता है अथवा, हे अर्जुन, जिस प्रकार वह रोगी सभी अन्नोंकी निन्दा करता है, जिसकी जीभकी चाट कभी तृप्त ही नही होती अथवा जिस प्रकार कुष्ठका रोगी स्वयं अपने दोष-युक्त शरीरसे न चिढ़कर उस पर भनभनानेवाली मक्खियों पर चिढ़ता है, ठीक उसी प्रकार जो दुर्बल लोग फलके लोभमें फँसे रहते हैं, वे फलोंका त्याग करनेमें समर्थ न होनेके कारण समस्त कर्मोंको ही दुष्ट बतलाते है और यह निर्णय कर लेते हैं कि कर्मोंका ही पूरा पूरा त्याग करना चाहिए। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो यह कहते हैं कि यज्ञ-याग आदि कर्म अवश्य करने चाहिए, क्योंकि इनके सिवा मनकी शुद्धिका और कोई साधन ही नही है। यदि मनकी शुद्धिवाला मार्ग जल्दी जल्दी अतिक्रमण करनेकी इच्छा हो, तो कर्म रूपी शस्त्रको चलानेमें आलस्य नही करना चाहिए। यदि सोनेको चोखा करना हो तो जिस प्रकार अग्निका कष्ट सहनेके लिए तैयार होना चाहिए और जिस प्रकार दर्पणको स्वच्छ करनेके लिए उसमें बहुत-सी राख लगानी चाहिए अथवा यदि कपड़ोको निर्मल करना हो तो धोबीकी नाँदको गन्दा और घृणित नही समझना चाहिए, ठीक उसी प्रकार कर्मो की इसीलिए अवज्ञा नही करनी चाहिए कि वे क्लेशका कारण होते हैं। क्या बिना रसोई बनाये कभी बढिया और स्वादिष्ट भोजन मिल सकता है? हे अर्जुन, कुछ लोग इसी प्रकारकी बातें कहकर कर्मोंके आचरणकी ओर ध्यान देते है; और इसी प्रकारके मतभेदके कारण त्यागका विषय संशयित हो गया है। इसीलिए अब मैं ऐसा स्पष्ट विवेचन करता हूँ जिससे वह संशय दूर हो जाय और त्यागके सम्बन्धमे निश्चित निर्णय किया जा सके। तुम इस विवेचनकी ओर अच्छी तरह ध्यान दो।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥ ४॥

"हे अर्जुन, त्याग तीन प्रकारका होता है। अब मैं इन तीनो प्रकारके त्यागोंके अलग अलग लक्षण बतलाता हूँ। यद्यपि मैंने तुम्हे यह बतलाया है कि त्याग तीन प्रकारका होता है, तो भी उन सबका साराश वही है जो मैंने अभी कहा है। मैं सर्वज्ञ हूँ और मेरी बुद्धिको जो तत्व निश्चित और अटल जान पड़ता है, पहले वही सुनो। मोक्षकी इच्छा रखनेवाला जो पुरुष अपने मोक्षके सम्बन्धमे जाग्रत और सचेत रहना चाहता हो, उसे त्यागका यह रहस्य समझकर उसीके अनुसार अपना आचरण रखना चाहिए। बस इतनेसे ही उसे मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी।

कि तुम्हारे लिए मेरे मनमें बहुत अधिक प्रेम है, और जब तक आपसमें एक दूसरेके लिए प्रेमके लक्षण बने हुए हैं, तब तक हम दोनोंका व्यक्ति-भेद भी अवश्य बना रहेगा। इसी लिए अब इस विषयकी अधिक चर्चाकी आवश्यकता नही है। हे अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि आत्मासे कर्म किस प्रकार भिन्न होते है।" इतनेमें अर्जुनने कहा—"हे महाराज, मेरे मनमे इस समय जो प्रश्न उत्पन्न हो रहा था, उसकी प्रस्तावना करके आपने बहुत अच्छा किया। समस्त कर्मोके मूल बीज जो कारण-पचक हैं, उनका स्पष्टीकरण करनेका वचन क्या आप मुझे नही दे चुके है? और आपने जो यह कहा है कि आत्माका इन कर्मोके साथ कोई सम्बन्ध नही है, सो आपके द्वारा उसका स्पष्टीकरण होना भी अभी बाकी है।" यह सुनकर विश्वाधिपति श्रीकृष्णने बहुत सन्तोषसे कहा—"भला ऐसा श्रोता मिलता ही कहाँ है जो इस प्रकारके प्रश्नोके उत्तर सुननेके लिए तुम्हारी तरह धरना देकर बैठ जाय? इसी लिए हे अर्जुन, जो जो बाते मैंने तुम्हे बतलानेके लिए कही है, वे सब अब मैं तुमको बतलाता हूँ। परन्तु इन सब बातोके कारण तुम्हारे उपर पड़ा हुआ प्रेमका भार पहलेसे और भी बढ़ जायगा।" इस पर अर्जुनने कहा—"हे देव, जान पडता है कि आप अपनी पहली बात भूल गये। इस प्रेमके लिए ही तो आप "मैं" और "तुम" वाला व्यक्ति-भाव रखते हैं।" इस पर श्रीकृष्णने कहा—"क्या सचमुच ऐसी बात है? तो फिर मैंने जो वचन तुम्हे दिया है, वह अब मैं पूरा करता हूँ। तुम अच्छी तरह सावधान होकर और खूब ध्यान देकर मेरी बाते सुनो। हे अर्जुन, यह बात बिलकुल ठीक है कि समस्त कर्म उन्ही पाँच कारणोसे होते हैं और आत्माको किसी कर्मके होनेका पता भी नही चलता। और इन पाँच कारणोके योगसे कर्मोको जो आकार प्राप्त होता है, उसके हेतु भी स्पष्ट रूपसे पाँच ही है। इन सबसे भिन्न जो आत्म-तत्व है, वह केवल तटस्थ रहता है। न तो वह हेतु ही है, न निमित्त कारण ही है और न वह कर्मोकी सिद्धिके लिए स्वयं कोई प्रयत्न ही करता है। जिस प्रकार आकाशमे रात और दिन होते है, ठीक उसी प्रकार आत्मामे भी शुभ और अशुभ कर्म होते रहते हैं। जब जल, तेज और धूएँका वायुके साथ मेल होता है, तब आकाशमे मेघ उत्पन्न होते हैं, परन्तु आकाशको उनका पता भी नही चलता। लकड़ीसे नाव बनती है, उसे जलमे नाविक खेता है और हवा उस नावको चलाती है, परन्तु जल केवल साक्षी रूपसे तटस्थ रहता है। मिट्टी कहीसे उठाकर ले आते है और उस मिट्टीके गोलेमे बरतन बनते हैं। डंडेके योगसे चाक पर वे बरतन घुमाये जाते हैं और उनके साथ साथ चाक भी घूमता है। परन्तु इन सबका कर्तृत्व कुम्हारमे होता है। इन सबको पृथ्वीका आधार तो अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु उस आधारके अतिरिक्त क्या कभी पृथ्वीका और भी कुछ व्यय होता है? अब इन सब बातोका तुम्हीं विचार करो। अब मै एक और उदाहरण देता हूँ। लोग सूर्यके प्रकाशमे अनेक प्रकारके काम-धन्धे करते हैं। परन्तु क्या उन काम-धन्धोका सूर्यके साथ भी कभी कोई सम्पर्क होता है? ठीक इसी प्रकार जब पाँच हेतुओंका योग होता है, तब उन पाँच कारणों-से कर्मरूपी बेल लगती है। परन्तु आत्मा उन सबसे सदा भिन्न ही रहती है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

"प्रवासमें जिस प्रकार आगे पैर बढाना बन्द नही करना चाहिए, उसी प्रकार मनुष्यको यज्ञ, दान और तप आदि आवश्यक कर्म भी कभी नहीं छोड़ने चाहिएँ। जिस प्रकार खोई हुई वस्तुको बराबर तब तक ढूँढ़ते रहना चाहिए, जब तक वह मिल न जाय, अन्नकी थाली तब तक अपने सामनेसे हटाकर दूर नही करनी चाहिए, जब तक क्षुधा पूरी तरहसे शान्त न हो जाय अथवा किनारे पर पहुँचनेसे पहले कभी नाव नही छोडनी चाहिए, अथवा फल लगनेसे पहले केलेका वृक्ष नही काटना चाहिए अथवा जब तक रखी हुई वस्तु न मिल जाय, तक तक दीपक नही बुझाना चाहिए, उसी प्रकार जब आत्म-ज्ञानके सम्बन्धमे बुद्धिको पूर्ण रूपसे निश्चय न हो जाय, तब तक यज्ञ और दान आदि आवश्यक कर्मोंकी ओरसे उदासीन होना कभी उचित नहीं है। सब लोगोको अपने अपने अधिकारके अनुसार यज्ञ, दान और तप आदि बहुत तत्परतापूर्वक करने चाहिएँ। यदि रास्ता चलते समय यात्री जल्दी जल्दी पैर उठाता है तो इसीसे वह जल्दी उद्दीष्ट स्थान तक पहुँचकर विश्राम कर सकता है। ठीक इसी प्रकार कर्मोंका पूरी तरहसे आचरण करनेसे मनुष्य सहजमे निष्काम हो सकता है। ज्यो ज्यो औषध खानेमे अधिक गम्भीरता दिखाई जाती है, त्यो त्यो रोग भी नष्ट होता जाता है। ठीक इसी प्रकार ज्यो ज्यो ये सब कर्म शीघ्रता और तत्परता-पूर्वक किये जाते हैं, त्यो त्यो रज और तमका भी समूल नाश होता जाता है। है। सोनेमे जब एक पर एक इस प्रकार क्षारोके अनेक पुट दिये जाते हैं, तब उसमे मिला हुआ खोट बराबर जलता जाता है और सोना बिलकुल चोखा हो जाता है। इसी प्रकार जिन कर्मोंका निष्ठापूर्वक आचरण किया जाता है, वे रज और तमको बिलकुल दूर कर देते हैं और शुद्ध सत्वके मन्दिरको दृष्टिके क्षेत्रमें ले आते हैं। इसी लिए, हे अर्जुन कर्म भी उसी योग्यता और पद पर पहुँच गये है, जिस योग्यता और पद पर सत्व-शुद्धि करनेवाले पावन तीर्थ है। तीर्थोंसे तो ऊपरी या बाहरी मलका नाश होता है और कर्म अन्दरका मल धो डालते हैं। इसी लिए यह कहा जाता है कि सत्कर्मोंके कारण ही तीर्थोंको पावनता प्राप्त होती है। जिस प्रकार किसी प्यासेके लिए निर्जल प्रदेशमे ग्रीष्म ऋतुमे चलनेवाला लू ही अमृतकी वर्षा करके उसे अमृत पान करा दे अथवा जिस प्रकार किसी अन्धेके नेत्रोमे सूर्यका तेज आ जाय अथवा नदीमे डूबते हुए मनुष्यको उबारनेके लिए स्वयं नदी ही उठ दौडे अथवा किसी मरने-वाले व्यक्तिको स्वयं मृत्यु की बडी आयु प्रदान करे, उसी प्रकार, हे अर्जुन, ये कर्म ही मुमुक्षुओको कर्म-बन्धनसे छुडाते है। जिस प्रकार रसायनका सेवन मरनेवालेको विषसे बचाता है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, इन कर्मोंका भी यह एक विलक्षण हथकंडा है कि अपना बन्धकत्व नष्ट करनेके लिए स्वयं ही मुख्य साधन होते हैं। हे अर्जुन, अब मैं तुम्हे वह हथकंडा या युक्ति स्पष्ट करके बतलाता हूँ। जिससे कर्मोंके द्वारा ही स्वयं नाश होता है।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्व फलानि च।
कर्तव्यानिति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

"अब मैं इन पाँचो कारणोके अलग अलग और स्पष्ट लक्षण बतलाता हूँ । जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मोती अलग अलग परख कर लिये जाते है, उसी प्रकार कर्मोंके पाँच कारण भी उनके अलग अलग लक्षणो सहित सुनो । इन पाँचोमे "देह" पहला कारण है । इसे "अधिष्ठान कारण" कहते है, क्योकि इस देहमे भोक्ता अपने भोग्य विपयोके साथ निवास करता है । इन्द्रियाँ रात-दिन कष्ट करती रहती है और उसके द्वारा प्रकृतिके बलसे जो सुख दु.ख उत्पन्न होतें है, उन्हे भोगनेके लिए पुरुपके पास इस देहके अतिरिक्त और कोई स्थान ही नही होता; और इसी लिए इस देहको "अधिष्ठान" कहते है । यह देह चौवीस तत्त्वोके एक साथ मिलकर रहनेका साझेका घर है । बन्ध और मोक्षके झगडोका निपटारा भी इसीमे होता है । जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्तिवाली तीनो अवस्थाओका भी यही आधार-स्थल है, इसलिए हे अर्जुन, इस देहको "अधिष्ठान" कहते हैं । कर्मका दूसरा कारण "कर्त्ता" है । इसी कर्ताको चैतन्यका प्रतिबिम्ब कहते है । आकाश ही जलकी वर्पा करता है और उस जलसे पृथ्वी पर ताल आदि बनते है; और फिर उसी तालमे आकाश प्रतिबिम्वित होता है । अथवा कभी कभी निद्रामे राजा स्वयं अपने आपको भूल जाता है और तब उसे स्वप्नमे यह अनुभव होता है कि मै रंक हो गया हूँ । ठीक इसी प्रकार चैतन्यको भी आत्मस्वरूप विस्मृत हो जाता है और तब उसमे देहका आभास उत्पन्न होता है । फिर जो चैतन्य देहके अभिमानसे अनेक प्रकारके अभिनय करता है और जिसे आत्म-स्वरूपकी विस्मृति हो जानेके कारण जीवका नाम प्राप्त होता है । और जो सभी बातोमे देहके साथ रहनेकी प्रतिज्ञा कर चुका होता है, और जो भ्रममे पडकर यह कहता है कि प्रकृतिके द्वारा होनेवाले सब कर्म मैंने ही किये है, उस जीवात्माको ही इस प्रकरणमे "कर्त्ता" कहा गया है । फिर जिस प्रकार एक स्वरूप रहनेवाली दृष्टि बरौनीके बालोके कारण चौरीके समान सब जगहसे फटी हुई दिखाई देती है अथवा घरमे जलनेवाले एक ही दीपकका प्रकाश बाहरसे भिन्न भिन्न खिड़कियोसे देखने पर अलग अलग जान पडता है अथवा एक ही मनुष्य शृंगार आदि नौ रसोसे क्रम क्रमसे उल्लसित होने पर जिस प्रकार वृत्ति-भेदसे नौ प्रकारका भासित होने लगता है, ठीक उसी प्रकार बुद्धिकी जाननेकी शक्ति यद्यपि एक-स्वरूप ही है, परन्तु फिर भी वह कान आँख आदि बाह्य इन्द्रियोके द्वारा भिन्न भिन्न रूपोसे प्रकट होती है । इसीको "पृथग्विधकरण" कहते है । हे अर्जुन, कर्मोका यह तीसरा कारण है । अब पूर्व दिशा और पश्चिम दिशासे बहनेवाले प्रवाहोका सम्मेलन होने पर जिस प्रकार एक ही पानी भिन्न भिन्न नदो और नदियोके रूपमे भासमान होता है, उसी प्रकार वायुमे जो अखण्ड एक-स्वरूप क्रिया शक्ति रहती है, वही भिन्न भिन्न स्थानोमे प्राप्त होनेके कारण अलग अलग स्वरूपोवाली जान पड़ती है । जब वह शक्ति वाचामे आती है, तब मनुष्य बोलने लगता है; जब वह हाथमे आती है, तब उससे लेन-देन होने लगता है; जब वह पैरोमें आती है, तब उससे चलना-फिरना

यदि महायज्ञ आदि कर्म बिलकुल ठीक तरहसे पूरे उतर जायँ, तो भी मनुष्यको अपने मनमें कर्तृत्वका अहंकार उत्पन्न नही होने देना चाहिए। जो मनुष्य किसी दूसरेसे धन लेकर और उसका साथी बनकर तीर्थ-यात्रा करनेके लिए जाता हो, उसके मनमे इस प्रकारका अपने महत्वका समाधान नही होता कि मैं तीर्थ-यात्रा कर रहा हूँ। इसी प्रकार जो पुरुष किसी समर्थ राजाकी आज्ञासे अकेला ही पहुँचकर किसी राजाको पकड़ लेता हो, वह आज्ञाकारी सेवक अपने मनमें इस बातका अभिमान नही कर सकता कि मैं जेता हूँ और मैंने इस राजाको जीतकर पकड़ लिया है। जो किसी दूसरेके आधार पर तैरता है, उसमें इस प्रकारका अभिमान नही रह जाता कि मै तैरता हूँ। ठीक इसी प्रकार कर्म करनेवालेको भी अपने मनमे कर्तृत्वका अहंकार नही उत्पन्न होने देना चाहिए और समस्त कर्मोकी मोहरें आगे खिसकाते चलना चाहिए। और हे अर्जुन, जिन कर्मोका आचरण किया जाता है, उनका जो फल होता है, उस फलकी ओर कभी अपने मनोरथको प्रवृत्त नही होने देना चाहिए। आरम्भमे ही सब फलोकी आशा छोड़कर कर्मका आरम्भ करना चाहिए। जिस प्रकार कोई दाई दूसरेके बच्चेको निर्विकार मनसे पालती है अथवा जिस प्रकार पीपलको सीचनेवाले उससे फलकी कोई आशा नही रखते, ठीक उसी प्रकार फलकी बिना कोई आशा रखे सब कर्म करते रहना चाहिए। जिस प्रकार चरवाहा गाँव भरकी सब गौओको एकत्र करके चरानेके लिए ले जाता है और उन गौओका दूध पानेकी कोई आशा नही करता, ठीक उसी प्रकारका भाव मनुष्यको कर्म करते समय अपने मनमे रखना चाहिए और कर्म फलकी बिलकुल आशा नही करनी चाहिए। जब इस युक्तिसे पुरुषके हाथो कर्म होता है, तब अवश्य ही उसे आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति होती है। इसी लिए फलका लोभ रखनेवाला यह देहाभिमान छोड़कर यथा-स्थित सब कर्मोका आचरण करना चाहिए; बस सबके लिए यह मेरा सर्वोत्तम सन्देश है। जिसे जीवनके बन्धनसे घृणा जान पड़ती हो और जो मोक्ष प्राप्त करनेके लिए विकल रहता हो, उसके लिए मैं बार बार यही कहता हूँ कि वह मेरे इस वचनका कभी उल्लंघन न करे।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

"और नही तो जिस प्रकार कोई व्यक्ति अन्धकार पर क्रोध करके स्वयं अपने ही नाखून अपनी आँखोमें चुभा लेता है, उसी प्रकार जो पुरुष कर्मोको बन्धक समझकर और इसी लिए उनसे चिढकर उनका आचरण छोड़ देता है, उसके इस कर्म-त्यागको मैं तामस कहता हूँ। ऐसा काम भी उसी तरहका है, जिस तरह सिरके दर्दके कारण क्रोध करके अपना सिर फोड डालना होता है। जिस समय रास्ता कठिन हो, उस समय ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिसमे पैर किसी तरह आगे बढते चले, या रास्तेके दोपके कारण स्वयं अपने पैर ही तोड डालने चाहिएँ ? मान लो कि कोई आदमी भूखा है और उसके सामने खानेके लिए कुछ ऐसा वैसा अन्न रख दिया जाता है। अब यदि वह इसीलिए उस अन्नको पैरोसे ठुकरा दे कि वह रुचिकर नही है तो उसे अन्तमें उपवास

होने लगता है; और जब वह गुद-द्वारमें आती है, तब उससे मल निकलने लगता है। फिर वही वायु जब नाभिसे हृदय तक ओंकारको प्रकट करने लगती है, तब उसे "प्राणवायु" कहते हैं। फिर वही शक्ति जब ऊपरवाले भागमे प्रवेश करने लगती है; तब उसे "उदान वायु" कहते हैं। जब वही शक्ति अधो द्वारसे बहने लगती है, तब वह अपान वायु" बन जाती है; और जब वह सारे शरीरमें व्याप्त रहती है, तब उसे 'व्यान वायु" कहते हैं। जो अन्न सेवन किया जाता है, उसका रस यही शक्ति शरीरके भिन्न भागो मे पहुँचाती है और शरीरके अन्दर कोने-कोनेमें निरन्तर व्याप्त रहती है। इस प्रकार चारो ओर घूमकर वह क्रिया शक्ति अन्तमें नाभि-कमलमे स्थिर होती है और उस उस समय उसे "समान वायु" कहते है। जँभाई, छीक, डकार आदि रूपोमें होनेवाली वायुकी क्रियाओके नाम नाग, कूर्म और कृकर आदि है। इस प्रकार हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, यद्यपि वायुकी सब क्रियायें एक-रूप ही हैं, परन्तु उसके रीति-भेदके अनुसार उसे भिन्न भिन्न नाम प्राप्त होते है। और यही भिन्न भिन्न रीतियोसे भिन्न रूप होनेवाली वायु-शक्ति कर्मोका चौथा कारण है। छओ ऋतुओमें शरद्-ऋतु सबसे उत्तम होती है और उस शरद्-ऋतुका चन्द्रमा तो और भी अधिक मनोहर होता है। और उसमे भी पूर्णिमाके चन्द्रमाकी बहारका हाल तो कुछ पूछो ही मत। इसी प्रकार वसन्त-ऋतुमें बागकी बहुत अधिक शोभा होती है। फिर यदि ऐसे बागमे प्रिय जनोकी संगति प्राप्त हो तो उसकी मधुरता और भी बढ जाती है। और यदि ऐसी संगतिमे उत्तम तथा प्रेमपूर्ण उपचार भी मिलें तो फिर उस सुखका पारावार ही नही रह जाता। अथवा हे अर्जुन, एक तो कमल हो, दूसरे उसका पूर्ण विकास हो और तिसपर भी सुगन्धित पराग रेणुकी विपुलता हो और इस प्रकार मानो त्रिवेणीका संगम हो गया हो, तो फिर शोभाकी भला कौन-सी कमी रह सकती है? एक तो पहले ही मधुर वाणी हो, तिस पर उसमें कवित्वका योग हो और उस कवित्वको रसिकताकी संगति प्राप्त हो और उस रसिकतामे भी परमार्थ तत्वकी लालसा हो और इस प्रकारका अप्रतिम योग उपस्थित हो तो वह कितना उत्तम होता है! ठीक इसी प्रकार अन्तःकरणकी समस्त वृत्तियोमे एक बुद्धि ही सबसे श्रेष्ठ है और इन्द्रियोको आवेशसे वह और भी अधिक तेजस्वी हो जाती है। और उन इन्द्रियोके आवेशमें उनके अधिदेवताओका मंडल और भी अधिक शोभादायक होता है। नेत्र आदि दसो इन्द्रियोके पीछे उन्हे अपनी कृपासे वल देनेवाले सूर्य आदि देवताओंका मण्डल होता है। हे अर्जुन, इसी देवता-मंडलको कर्मोका पाँचवाँ कारण समझना चाहिए।" बस, यही श्रीकृष्णदेवने अर्जुनसे कहा था। इसके उपरान्त वे फिर कहने लगे—"इस प्रकार मैंने समस्त कर्मोके मूल कारणोका तुम्हारे सामने ऐसे ढंगसे निरूपण किया है कि तुम्हारी समझमे सब बाते अच्छी तरह आ जायँ। और यह निरूपण तुमने सुन ही लिया है। अब इन्ही मूल कारणोका विस्तार होता है और कर्मोके अपार विस्तारका अस्तित्व होता है। जिन पाँच हेतुओके कारण यह बात होती है, अब मैं उनका स्पष्ट रूपसे वर्णन करता हूँ।

ही करना पडेगा। इसी प्रकार भ्रममें पड़े हुए तामस पुरुषकी समझमे यह बात नहीं आती कि कर्मोका बन्धकत्व स्वयं कर्मोसे ही नष्ट करना चाहिए। स्वभावत. जो कर्म उसके हिस्सेमे आते हैं, वह उन्हीको छोड बैठता है। इसलिए हे अर्जुन, तुम इस प्रकारके तामस त्यागका कभी स्पर्श भी न करो।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

"कभी कभी ऐसी अवस्था भी होती है कि मनुष्य समझता है कि अमुक कार्य करनेका मैं अधिकारी हूँ और उसका आचरण करना मेरा कर्त्तव्य है; परन्तु फिर भी उसकी कठिनता देखकर वह डर जाता है। इसका कारण यही है कि कर्मका आरंभिक अंश कुछ समय तक बहुत ही कठिन जान पडता है। जिस प्रकार रास्तेके लिए अपने साथ भोजन बाँधकर ले चलना बहुत भारी जान पडता है अथवा नीम जिस प्रकार खानेमे जीभको कडुवी लगती है और हर्रे जैसे खानेमें कसैली जान पडती है, ठीक उसी प्रकार कर्मका आरम्भ भी बहुत कठिन जान पड़ता है। अथवा जिस प्रकार गौके सिरमे घातक सींग होते है अथवा कँटीली सेवंतीमे उसके कँटीले अंग होते हैं अथवा भोजनका सुख अनुभव करनेसे पहले जिस प्रकार भोजन बनानेका बखेड़ा करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार बार बार कर्त्तव्य कर्मोका आचरण करना आरम्भमें बहुत ही कठिन जान पडता है, और इसी लिए उन कर्मोका आचरण कर्त्ताके लिए बहुत कष्ट-कारक होता है। परन्तु फिर भी वह यह समझकर वह कर्म करने लगता है कि यह हमारा विहित कर्म है। परन्तु ज्योही उसमे जरा-सा भी कष्ट होता है, त्योही वह तुरन्त घबरा जाता है और आरम्भ किया हुआ कार्य बीचमे ही अधूरा छोड देता है। वह कहता है—मुझे बडे भाग्यसे यह शरीर सरीखी अमूल्य वस्तु प्राप्त हुई है। फिर मैं किसी कर्म दरिद्री पापीकी तरह अपनी यह काया कर्म आदिके कष्टोसे क्यो सुखाऊँ? भला यह कौन कहता है कि पहले कर्म करो और तब उसके भोगकी प्रतीक्षा करो? सुखका जो उपभोग आज मुझे प्रत्यक्ष प्राप्त हो रहा है, बस उसीको भोगकर सुखी होना चाहिए। इस प्रकार शारीरिक कष्टोसे डरकर जो पुरुष कर्मोको छोड देता है, हे अर्जुन, उस पुरुषके किये हुए त्यागको राजस समझना चाहिए। यदि वास्तवमे देखा जाय तो इसमे भी त्याग ही है, परन्तु इसमे त्यागके फलकी प्राप्ति नही होती। जो घी उबलकर पृथ्वी पर गिर पडता है, वह हवनके काममे नही आ सकता; और जो मनुष्य जलमे डूबकर मर जाता है, उसके सम्बन्धमे यह नही कहा जा सकता कि उसने जल-समाधि ले ली; बल्कि उसके सम्बन्धमे यही समझना चाहिए उसका अपघातके कारण ही मरण हुआ है। ठीक इसी प्रकार जो पुरुष शरीरके लोभके कारण अपने विहित कर्मोको तिलाजलि देता है, उसको सच्चे कर्म-त्यागका फल कभी मिल ही नही सकता। तात्पर्य यह कि, हे अर्जुन, जिस प्रकार प्रभात-काल सब नक्षत्रोको निगलकर उनका लोप कर देता है, उसी प्रकार जिस समय आत्म-ज्ञान उदित होकर अज्ञानके सहित सब क्रियाओका लोप कर देता है, उस समय मानो

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

"जब पूर्ण रूपसे वसन्तका आगमन होता है, तब वह नये पल्लवोकी उत्पत्तिका हेतु होता है। फिर वही पल्लव पुष्पोके गुच्छे उत्पन्न करते हैं और उन्ही फूलोसे आगे फल होते हैं। अथवा जब पावस-ऋतुका आगमन होता है, तब वह अपने साथ बहुत-से मेघ लाती है। उन मेघोके कारण वृष्टि होती है और उस वृष्टिके कारण यथेष्ट धान्य उत्पन्न होता है। पूर्व दिशा अरुणका प्रसव करती है; वह अरुण सूर्यका उदय कराता है और सूर्यके कारण दिन निकलता है। ठीक इसी प्रकार, हे अर्जुन, मन भी कर्मोके संकल्पका हेतु होता है। इन्ही संकल्पोसे वाणीका दीपक प्रज्वलित होता है और जब वह दीपक समस्त कर्म समुदायके मार्ग उज्वल करता है, तभी कर्त्ता कर्म करनेके उद्योगमें लगता है। इन्ही उद्योगोमे शरीर आदि समुदाय शरीर आदिके हेतु होते है। जिस प्रकार लोहेकी चीजें बनानेके सब काम लोहेके ही घनसे होते है और जिस प्रकार तन्तुओके तानेमे तन्तुओके ही बाने पडनेसे वे तन्तु समुदाय ही वस्त्र बन जाते है, ठीक उसी प्रकार मन, वाचा और शरीरके द्वारा जिन कर्मोका आचरण होता है, वे कर्म ही मन, वाचा और शरीरके हेतु होते हैं। रत्नोमे ही रत्न-जटित आभूषण बनते है। ठीक वही बात इस सम्बन्धमें भी है। अब यदि कोई यह प्रश्न करे कि यदि शरीर आदि ही कारण है तो फिर वही हेतु किस प्रकार बन जाते हैं, तो वे अपने इस आक्षेपका समाधान भी कर ले। जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशका हेतु भी सूर्य ही है और कारण भी सूर्य ही है अथवा ऊखके कांड जिस प्रकार ऊखकी वृद्धिका हेतु भी होते हैं और कारण भी होते है अथवा यदि वाग्देवताकी स्तुति करनी हो तो उसके लिए वाणीको ही उस कामगे लगाना पड़ता है अथवा वेदोके महत्वका गान जिस प्रकार स्वयं वेदोसे ही हो सकता है, ठीक उसी प्रकार यद्यपि हम यह बात मिथ्या नही है कि वही उन कर्मोके हेतु भी होते हैं। और जब शरीर आदि कारणोका शरीर आदि हेतुओके साथ मेल होता है, तब जिस कर्म-समुदायकी सृष्टि होती है, वह कर्म-समुदाय यदि शास्त्रोक्त मार्गसे चलता रहे तो वे सब कर्म न्याय-सगत होते है; और फिर वही कर्म न्यायके हेतु भी होते है। वर्षा-ऋतुका जल बहकर स्वभावतः धानके खेतोकी ओर ही जाता है और उन खेतोमे पूरी तरहसे समा जाता है। परन्तु उसका कितना अधिक उपयोग होता है! अथवा जिस प्रकार कोई झक्की आदमी मारे क्रोधके अविचारके कारण घरसे बाहर निकल पडे और अनजानमे ही द्वारकाके मार्ग पर चल पड़े तो यद्यपि उसे कष्ट तो होता है, परन्तु उसके चलनेवाले पैरोका आगे बढ़ना निष्फल नही होता, उसी प्रकार हेतु और कारणके योगसे जिन कर्मोकी उत्पत्ति होती है, वे बिलकुल अन्धे होते हैं। परन्तु यदि उन कर्मोको शास्त्रके नेत्र प्राप्त हो जायँ, तो उन्हे न्याय-संगत कर्म कहना चाहिए। और नही तो यदि दूध परोसते समय वह पात्रमे न पड़े तो बाहर गिर पडता है। दूधका इस प्रकार बाहर गिरना भी है तो उसका व्यय ही, परन्तु उसे उचित व्यय नही कहा जा सकता। इसी प्रकार शास्त्रोकी सम्मतिके

सच्चा कर्म-त्याग होता है। इसी प्रकारके कर्म-त्यागमें मोक्ष रूपी फल लगता है। हे अर्जुन, जो पुरुष अज्ञानके कारण कर्मोका त्याग करता है, उसे इस मोक्ष-फलकी प्राप्ति नहीं होती। इसी लिए जो त्याग राजस हो, उसे कभी सच्चा कर्म-त्याग समझना ही नही चाहिए। अव प्रसंग आ पड़ा है, इसलिए मैं तुम्हे स्पष्ट रूपसे यह भी बतला देता हूँ कि किस प्रकारके त्यागसे मोक्षफलकी प्राप्ति होती है। तुम मेरी बातोकी ओर ध्यान दो।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

"अपने अधिकारके स्वरूपके अनुसार स्वभावतः जो कर्म अपने हिस्सेमें आते हैं, सात्विक पुरुप उन्हींका सांग और स-शास्त्र-सम्पादन करते हैं। परन्तु ऐसे पुरुषके मनको इस प्रकारके अहंकारकी भावना कभी स्पर्श तक नही करती कि मैं इन कर्मोंका कर्त्ता हूँ। और साथ ही वह फलकी आशाको भी तिलांजलि दे बैठता है। हे अर्जुन, अपनी माताका तिरस्कार करना और उसके सम्वन्धमें अपने मनमें काम वासना लाना ये दोनों ही वातें अध.पातका कारण होती हैं। इसलिए इन दोनों बातोसे वचना चाहिए और तव माताकी शुद्ध मनसे सेवा करनी चाहिए। गौका मुख अपवित्र होता है, परन्तु क्या इसीलिए समूची गौको त्याज्य समझना चाहिए? जो फल हमें बहुत अधिक प्रिय होते हैं, उनके भी छिलके और गुठलियाँ खानेके योग्य नही होती। परन्तु क्या उन्ही छिलकों और गुठलियोके कारण कभी कोई उन फलोको ही फेक देता है? ठीक इसी प्रकार एक तो इस वातका अभिमान कि मैं कर्त्ता हूँ और दूसरे कर्म-फलका लोभ ये दोनो कर्ममें वन्धक तत्व हैं। अब जिस प्रकार पिता अपनी कन्याके सम्वन्धमे कभी अपने मनमे विषय-वासना नही उत्पन्न होने देता, उसी प्रकार यदि ये दोनो वाते भी कभी अपने मनमें उत्पन्न न होने दी जायँ तो फिर योग्य तथा स्वाभाविक कर्म भी कभी मनुष्यके लिए दुःखका कारण नही हो सकते। इस प्रकारके त्यागको मोक्ष-फल प्रसव करनेवाला सर्व-श्रेष्ठ वृक्षराज ही समझना चाहिए। यही त्याग संसारमे "सात्विक" के नामसे प्रसिद्ध है। अव जिस प्रकार बीजको जला डालनेसे वृक्ष निर्वंश हो जाता है, ठीक उसी प्रकार फलकी आशा छोड देनेके कारण जिसका कर्म वन्धकत्व नष्ट हो जाता है, जिसके रज और तम दोनो उसी प्रकार नष्ट हो चुके होते हैं, जिस प्रकार पारसका स्पर्श होते ही लोहेकी अमंगलजनक कालिमा नष्ट हो जाती है और तव निर्मल सत्व गुणके कारण जिसके आत्म-ज्ञानके नेत्र खुल जाते हैं, उस पुरुपकी वुद्धि आदिके सामनेका यह प्रचड विश्व-भ्रम सन्ध्या समयके मृग-जलकी भाँति आपसे आप नष्ट हो जाता है। ऐसे पुरुपके लिए यह भ्रम आकाश (अर्थात् खोखले अवकाश) की भाँति विलकुल अदृश्य हो जाता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

"इसी लिए प्रारब्धके कारण मनुष्यको जो भले और वुरे कर्म प्राप्त होते हैं, वे ज्ञानी पुरुषोंके लिए उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार आकाशमे मेघ लुप्त हो

विना जो कर्म किये जाते हैं, वे यदि निष्फल सिद्ध न होते हों तो फिर डाकू हमारा जो धन लूट ले जाते हैं, उसे हम धर्म या दानके खातेमें खर्चके तौर पर क्यो न लिखें? चाहे कोई मन्त्र लिया जाय, पर वह वर्णमालाके बावन अक्षरोके बाहरका नही होता। और क्यो ऐसा एक ही मनुष्य है जो उन बावन अक्षरोंका कभी न कभी उच्चारण न न करता हो? परन्तु हे अर्जुन, जब तक मन्त्रका रहस्य न समझा जाय, तब तक जिस प्रकार केवल बावन अक्षरोंके उच्चारणसे ही वाणीको मन्त्रोच्चारका फल नही मिलता, उसी प्रकार कारण और हेतुका योग होने पर यो ही जो कर्म उत्पन्न होता है, वह जब तक शास्त्रोके अनुकूल और उनके द्वारा अनुमोदित नही होता, तब तक वह कर्म होता ही रहता है, परन्तु उसे भी वास्तविक कर्म करना नही कह सकते। ऐसे कर्म अन्यायपूर्ण कर्म होते है और वे अन्यायके ही हेतु होते है।

तत्रैवं स कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१६॥

"इस प्रकार, हे कीर्तिमान् अर्जुन, पाँच कारणोसे उत्पन्न होनेवाले कर्मोके पाँच हेतु भी होते है और इन्ही कर्मोके झमेलेमें आत्मा पड़ गई है। जिस प्रकार सूर्य बिना किसी तरहका रूप धारण किये नेत्रोको भी और वस्तुओके रूपोंको भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तो कर्म नही होती, परन्तु फिर भी कर्मोको प्रकट करती रहती है। हे वीर श्रेष्ठ अर्जुन, जिस प्रकार दर्पणमें अपना रूप देखनेवाला स्वयं न तो अपना प्रतिबिम्ब ही होता है और न दर्पण ही होता है, परन्तु फिर भी वह उन दोनोको प्रकाशित करता है अथवा सूर्य जिस प्रकार स्वयं दिन और रातका अनुभव न करने पर भी उन्हें उत्पन्न करता है, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, आत्मा कर्मोका कर्त्ता न होने पर भी उन्हे प्रकट करती है। परन्तु देहाभिमानके भ्रममे पड़े होनेके कारण जिस मनुष्यकी बुद्धि सदा देहमे ही फँसी रहती है, उसके लिए आत्म-ज्ञानके सम्बन्धमें केवल मध्य रात्रिका घोर अन्धकार ही रहता है। जो लोग चैतन्य ईश्वर या ब्रह्मको देहकी मर्यादा या सीमामे ही बन्द कर रखते है, उन्हे यह सिद्धांत बिलकुल अटल जान पडता है कि आत्मा ही कर्त्ता है। परन्तु यह बात भी नही होती। उन्हे इस बात का भी दृढ निश्चय नहीं होता कि आत्मा ही कर्म कर्त्ता है। बल्कि वे वास्तवमें यही मानते हैं कि कर्म करनेवाला मैं शरीर हूँ। और इसका कारण यही है कि वह कभी इस प्रकारकी बातें अपने कानो तक पहुँचने भी नही देता कि मैं "आत्मा" हूँ और मैं केवल समस्त कर्मोका साक्षीभूत तटस्थ हूँ। और इसीलिए वह असीम आत्म-तत्वको इस जरा-से देहसे नापता है। परन्तु इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? उल्लू क्या दिनको ही अँधेरी रात नही बना लेता? जिसने आकाशके वास्तविक सूर्यको कभी न देखा हो, वह गड्ढे मे पड़नेवाले सूर्यके प्रतिबिम्बको ही वास्तविक सूर्य क्यों न मान लें? उसके लिए तो जब तक पानीका गड्ढा रहता है, तब तक सूर्य भी रहता है। यदि वह गड्ढा नष्ट हो गया तो सूर्य भी नष्ट हो गया। यदि उस गड्ढेका पानी हिलने लगा तो वह समझ लेता है कि सूर्य भी हिल-डुल रहा है। सोया हुआ मनुष्य जब तक नहीं जागता, तब तक

उसे स्वप्न ही सच्चा जान पड़ता है। जब तक इस बातका ज्ञान न हो जाय कि यह वास्तवमे डोरी है, तब तक यदि उसमें सर्पका आभास होता रहे और मनुष्यको उससे डर लगता रहे तो इसमे आश्चर्यकी ही कौन-सी बात है ? जब तक आँखोमे कमल रोग रहेगा, तब तक चन्द्रमा अवश्य ही पीला दिखाई देगा। मृग यदि मृग-जलके धोखेमे आ जाय तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? इसी प्रकार जो मनुष्य शास्त्रो और गुरुके नामकी हवा तक अपने अंगमे नही लगने देता, जो केवल मूर्खतासे ही अपना जीवन व्यतीत करता है, वह अपनी आत्मा पर शरीरका जाल उसी प्रकार लादता है, जिस प्रकार गीदड़ मेघोकी गतिका आरोप चन्द्रमा पर करते है। फिर अपनी इसी पक्की समझके कारण, हे अर्जुन, वह कर्मकी मजबूत गाँठसे इस शरीर-रूपी बन्दीगृहमे अच्छी तरह जकडकर बन्द हो जाता है। देखो, बेचारा तोता जब नलिका यन्त्र पर बैठता है, तब यद्यपि उसके पैर मुक्त ही रहते हैं, परन्तु फिर भी उसके मनमे इस बातका दृढ विश्वास हो जाता है कि कि मैं इसकी नलीके साथ बँध गया हूँ, और इसी लिए वह नली पर जमकर बैठा रहता है या नही ? इस प्रकार जो मनुष्य अपने निर्मल आत्म-स्वरूप पर मायामे किये हुए कर्मोका आरोप करता है, वह असख्य कोटि मापोसे सदा कर्मोको नापता ही रह जाता है। वड़वाग्नि रहती तो समुद्रमे ही है, परन्तु समुद्रका जल उसे स्पर्श नही करता। इसी प्रकार जो कर्मोसे व्याप्त तो रहता है, परन्तु फिर भी जिसके साथ कर्मोका सम्पर्क नही होता और इस प्रकार अलिप्त रूपसे रहकर जो सब कर्म करता है, उसे पहचाननेके लक्षण अब मैं तुमको बतलाता हूँ। बात यह है कि मुक्तोके लक्षणोका विचार करते करते ही मनुष्यको मोक्ष प्राप्त हो जाता है। दीपकके प्रकाशसे ढूढने पर जिस प्रकार हमारी खोई हुई वस्तु हमे मिल जाती है अथवा दर्पण ज्यो ज्यो रगड़कर स्वच्छ किया जाय, त्यो त्यो जिस प्रकार उसमे हमारा रूप और भी अधिक स्पष्ट दिखाई देता है अथवा जलका संयोग होते ही जिस प्रकार नमक भी जलका ही रूप धारण कर लेता है अथवा प्रतिबिम्ब यदि पीछे लौटकर फिर अपने बिम्बको देखनेके लिए आवे तो वह जिस प्रकार आपसे आप बिम्ब ही हो जाता है, ठीक उसी प्रकार सन्तोकी बातोका विचार करते करते हमे अपना खोया हुआ आत्म-स्वरूप फिरसे प्राप्त हो जाता है। इसी लिए सदा सन्तोकी बातोका वर्णन करना और सुनना चाहिए। जिस प्रकार चर्मचक्षुओमे रहनेवाली दृष्टि चक्षुओके चमडेसे नही बँधती, उसी प्रकार जो कर्मोका आचरण करने पर भी कर्मोकी समता और विषमता या सुखो और दुःखोसे जकडा नही जाता और इस प्रकार जो बन्धमुक्त हो जाता है, अब मै उसीके लक्षण स्पष्ट करके बतलाता हूँ।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

"भाई सुविज्ञ अर्जुन, जो जीव अज्ञानकी निद्रामे पड़ा पड़ा अनन्त काल तक नाना प्रकारके स्वप्नोके जालमे फँसा रहता है वह "तत्वमसि" के महासिद्धान्तका श्रवण करते ही और मस्तक पर गुरु कृपाका हाथ ही पड़ते ही, बल्कि यो कहना चाहिए कि मस्तक पर थपकी लगने ही, तुरन्त विश्वके स्वप्नाभास समेत मायाकी

वही ज्ञान तामस है। मृत्यु सबको खा जाती है और अग्नि सब कुछ जला डालती है। इसी प्रकार तामस ज्ञानवालेको भी सदा यही जान पड़ता है कि सारा संसार केवल मेरे ही उपभोगके लिए हैं। इस प्रकार जो मनुष्य यह मान लेता है कि सारा विश्व केवल मेरे ही उपभोगका विषय है, उसके हिस्सेमें केवल एक ही फल आता है। और वह फल कौन-सा है? यही अपने शरीरका पोषण करना। जिस प्रकार आकाशसे वर्षाके रूपमें गिरनेवाले जलका अन्तिम आश्रय-स्थल एक मात्र समुद्र ही होता है, उसी प्रकार तामसी ज्ञानके सब कृत्य भी केवल अपने पेटके लिए अपने पिंडका पोषण करनेके लिए ही होते हैं। केवल इतना ही नही, जिस ज्ञानमे इस बातका विचार ही नही होता कि स्वर्ग और नरक भी कोई चीज है और हमे स्वर्ग प्राप्त करनेका तथा नरकसे बचनेका प्रयत्न करना चाहिए और इन सब विषयोंकी जानकारीके लिए जिस ज्ञानमे केवल अन्धकार ही अन्धकार होता है, जिस ज्ञानकी पहुँच केवल इसी बात तक होती है कि शरीरका पिंड ही आत्मा है और देवता केवल पत्थरकी मूर्त्ति है, जो ज्ञान यह बतलाता है कि शरीर-पात होते ही समस्त कृत्योंके साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है और तब कर्मोंका भोग करनेके लिए कोई बच ही नहीं जाता अथवा यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर है और वही सबको भोग भोगनेमें प्रवृत्त करता है, तो जो ज्ञान मनुष्यके मनमे यह विचार उत्पन्न करता है कि चलो, उस ईश्वरको ही बेंच खाओ जिससे सारे झगडे ही मिट जाँय अथवा यदि यह मान लिया जाय कि हमारे निवास-स्थानके देवालयमे पत्थरका जो ईश्वर रखा हुआ है, वही वास्तवमे सारे संसारका नियमन करनेवाला है, तो जो ज्ञान मनुष्यसे यह कहलाता है कि तो फिर ये देश भरके पहाड क्यो चुपचाप पड़े रहते हैं और यही सारे ससारका नियमन क्यो नही करते? तात्पर्य यह कि जिस ज्ञानके कारण मनुष्यमे यह विचार उत्पन्न होता है कि यदि क्षण भरके लिए यह मान भी लिया जाय कि ईश्वर कोई चीज हैं, तो वह केवल पत्थर ही सिद्ध होता है और आत्मा केवल शरीर ही है, पाप-पुण्य आदि जो दूसरी बहुत-सी बातें कही जाती हैं, उन्हे बिलकुल मिथ्या समझकर जो ज्ञान यह निश्चित कराता है कि सदा विषयोमें ही लिप्त रहना और जंगलकी आगकी तरह सब कुछ स्वाहा करते चलना ही ठीक है, वही ज्ञान तामस है। जिस ज्ञानके कारण मनुष्यके मनमे यह विश्वास उत्पन्न होता है कि चर्म-चक्षुओंको जो कुछ दिखाई देता है और इन्द्रियाँ जिनके माधुर्यमे भूल जाती हैं, वही चीजें सच्ची और ठीक हैं, वही ज्ञान तामस होता है। और यदि सक्षेपमे कहा जाय तो, हे अर्जुन, यही विचार-धारा बढती बढ़ती ऐसा रूप धारण कर लेती है कि जिस प्रकार धूएँके बादल आकाशमें व्यर्थ ही इधर-उधर चक्कर लगाया करते हैं अथवा जिस प्रकार कुछ जंगली वनस्पतियाँ न तो हरी रहने पर ही किसी काम आती हैं और न सूखने पर ही कुछ काम देती है और आपसे आप बढ़ती बढती अन्तमे नष्ट हो जाती हैं अथवा जिस प्रकार ऊखका ऊपरी भाग, नपुंसक मनुष्य अथवा करीलके पेड़ चाहे कितने ही क्यो न बढ़े, परन्तु फिर भी निरुपयोगी ही होते हैं अथवा छोटे बच्चेका लक्ष, चोरके घरका द्रव्य और बकरीके गलेमें निकला

निद्रा छोड़कर एकाएक अभेद-भावके आनन्दसे जाग उठता है। जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणें निकलने पर मृग-जलकी अलग और स्पष्ट जान पड़नेवाली लहरें लुप्त हो जाती हैं, अथवा जिस प्रकार बाल्यावस्था समाप्त हो जाने पर मनमे हौवेके लिए कोई स्थान नहीं रह जाता (अर्थात् उसका भय मनमें पूरी तरहसे निकल जाता है) अथवा जिस प्रकार ईंधन जल जाने पर फिर किसी प्रकार ईंधन नही बन सकता अथवा जाग उठने पर जिस प्रकार स्वप्न आँखोके सामने नही ठहरते, ठीक उसी प्रकार ऐसे जीवमें अहं-भावना कही नामको भी नही रह जाती। सूर्य अँधेरेमें रहनेके लिए किसी सुरंग तहखानेमें ही क्यों न घुस जाय, परन्तु फिर भी उसे कही अन्धकार नहीं मिल सकता (क्योकि वह जहाँ जाता है, वही पूर्ण प्रकाश हो जाता है)। ठीक इसी प्रकार जो जीव आत्म-भावसे आवृत्त हो जाता है, वह जिस दृश्य पदार्थकी ओर देखता है, वही पदार्थ स्वयं उस देखनेवालेका ही रूप धारण करने लगता है और इस प्रकार उसके साथ मिलकर एक-रूप हो जाता है। अग्नि जिस वस्तुमें लगती है, वही वस्तु अग्निका रूप धारण कर लेती है और दोनोंमें बाह्य तथा दाहकका भाव आपसे आप नष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जब कर्मका आकार आत्मासे भिन्न मान लिया जाता है और उस कर्मको आकार प्रदान करनेके कर्तृत्वका आत्मा पर होनेवाला मिथ्या आरोप नही रह जाता, तो फिर जो कुछ बाकी रह जाता है, वही आत्म-स्थिति है। इस आत्म-स्थितिका स्वामित्व जिसे प्राप्त होता है, वह क्या कभी इस शरीरमें बद्ध होकर रह सकता है। प्रलय कालका अपार जल क्या कभी किसी दूसरे प्रवाहमे सम्मिलित हो सकता है या उसका स्वतन्त्र अस्तित्व मान सकता है? हे अर्जुन ठीक इसी प्रकार अभिन्न भावके कारण स्फुरण प्राप्त करनेवाली अहंता (अर्थात् सर्वात्म-भावना) जब पूर्णताको प्राप्त हो जाती है, तब क्या वह इस तुच्छ देह-भावमे समा सकती है? क्या सूर्यका बिम्ब कभी सूर्यको ही दबा सकता है? यदि दहीको मथकर निकाला हुआ मक्खन फिर मठेमे डाला जाय तो अपने अलिप्ततावाले गुणके कारण क्या वह मक्खन फिर कभी उसे मठेमे मिल सकता है? अथवा हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, यदि काठमें रहनेवाली गुप्त अग्नि एक बार काठमेसे निकाल ली जाय तो क्या फिर वह कभी काठमे छिपाकर रखी जा सकती है? अथवा रातके गर्भसे जो तेजो-राशि सूर्य बाहर निकलता है, उसके सम्बन्धमें क्या कभी यह बात सुननेमे आती है कि वह रात ही के रूपमे रहता है? ठीक इसी प्रकार जो जीव वेद्य और वेदक अर्थात् ज्ञान-विषय और ज्ञाताका भेद ही दूर कर देता है, उसमे भला इस प्रकारकी हीन अहंताका किस प्रकार स्फुरण हो सकता है कि "मैं देह हूँ"? आकाश जिस एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाता है, उस स्थान पर वह पूरी तरहसे भरा हुआ रहता है? ठीक इसी लिए वह निरन्तर आपसे आप अपनी सर्वव्यापकतासे भरा रहता है। ठीक इसी प्रकार ऐसा जीव जो कुछ करता है, वह सब स्वयं उसीका आत्म-रूप होता है। फिर भला वह किस कर्ममे अपने कर्तृत्वके अभिमानमे लिप्त हो सकता है? जिस प्रकार आकाशका कोई स्वतन्त्र निवास-स्थान नहीं होता अथवा समुद्रका कोई स्वतन्त्र प्रवाह नही होता अथवा ध्रुव

हुआ स्तन चाहे देखनेमें कितना ही अच्छा क्यों न हो, परन्तु फिर भी जो बिलकुल निष्फल होता है, ठीक उसी प्रकार जो ज्ञान व्यर्थ और निस्तेज दिखाई देता है, उसीको मैं तामस ज्ञान कहता हूँ। वास्तवमें तो उसे ज्ञान कहना ही नही चाहिए; परन्तु फिर भी जो मैं उसे "ज्ञान" कहता हूँ, उसका कारण केवल यही है कि जिस प्रकार जन्मजात अन्धेकी आँखे देखनेमे अच्छी जान पड़ती हैं अथवा बहरेके कान देखनेमें ठीक-जान पड़ते हैं, अथवा मद्यको जिस प्रकार लोग "पान" कहते हैं; उसी प्रकार उस तामस ज्ञानका भी यह "ज्ञान" केवल संकेत-सूचक नाम है। तात्पर्य यह कि तामसी वृत्तिका जो ज्ञान होता है, वह वास्तवमे ज्ञान ही नही है। वह तो केवल खुली हुई आँखोका अन्धकार है। हे श्रोतृश्रेष्ठ अर्जुन, इस प्रकार तीनों गुणोके कारण होनेवाले ज्ञानके तीनो प्रकार मैंने तुम्हें सब लक्षणो सहित बतला दिये हैं। अब हे अर्जुन, इसी त्रिविध ज्ञानके प्रकाशसे कर्त्ताओंकी सब क्रियाएँ चलती हुई दिखाई देती हैं। इसी लिए जिस प्रकार चलते हुए प्रवाहके सामने जो जल आता है, वह उसीमें मिलकर उसके साथ बहने लगता है, उसी प्रकार कर्म भी त्रिविध ज्ञानके तीनों मार्गों पर चलते रहते हैं। और एक ही कर्म ज्ञानके तीन भेदोंके कारण तीन प्रकारका हो जाता है। अब मैं उनमेसे पहले सात्विक कर्मके लक्षण बतलाता हूँ; सुनो।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।२३।।

"जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री स्वयं ही अपने पतिको आलिंगन करती है, उसी प्रकार अपने अधिकारके आधार पर जो कर्त्तव्य स्वभावतः आकर हमारे गले पड़ते है, जो कर्त्तव्य हमारे अधिकारके कारण हमारे लिए उसी प्रकार भूषण होते हैं, जिस प्रकार साँवले शरीरमे चन्दनका लेप अथवा तरुण स्त्रीके नेत्रोमें काजल शोभा देता है, वही नित्य कर्म है और वे अच्छे ही होते हैं। और यदि उनके साथ नैमित्तिक कर्म भी आकर मिल जायँ, तब तो मानों सोनेमें सुगन्ध ही आ जाती है। अपनी आत्मा और शरीरको अनेक प्रकारके कष्ट देकर भी माता अपने बच्चेका लालन-पोषण करती है; परन्तु फिर भी उसका मन कभी इन बातोसे दुःखी नही होता। ठीक इसी प्रकार हृदयसे सब कर्मोका आचरण करना चाहिए, परन्तु उनके फलकी ओर बिलकुल दृष्टि न रखनी चाहिए और सब कर्म ब्रह्मार्पण कर देने चाहिएँ। जब कोई स्त्री अपने पति, बालकों और प्रियजनोके आगे भोजन परोसने लगती है, तब उसके मनमे इस बातका कभी विचार ही नही उत्पन्न होता कि यह सारा भोजन समाप्त हो जायगा और मेरे लिए इसमेसे कुछ बचेगा भी या नही। सत्कर्म करनेके समय भी मनुष्यको सदा ठीक इसी प्रकारकी मनोवृत्ति रखनी चाहिए। ऐसी अवस्थामे यदि काम न पूरा उतरे तो विषाद कभी मनुष्यको दुःखी नही करता; अथवा यदि वह पूरा हो जाय तो वह कभी आनन्दसे फूलता भी नही। हे अर्जुन, इस प्रकारकी युक्तियोंसे जिन कर्मोका आचरण किया जाता है, वे कर्म अपने इसी गुणके कारण सात्विक कहे जाते हैं। अब मैं तुम्हें राजस कर्मके लक्षण बतलाता हूँ। तुम इन बातोकी ओर अपना अवधान कम मत होने दो।

तारेमें जिस प्रकार कोई गति नही होती, ठीक उसी प्रकार ऐसे जीवका कोई कर्म भी नही होता। इस प्रकार आत्म-बोधके कारण जिसका अहं-भाव पूरी तरहसे जलकर भस्म हो जाता है, उसके कर्म तब तक होते रहते है, जब तक उसका यह शरीर रहता है। जब हवा खूब तेजीके साथ चलनेके बाद बन्द हो जाती है, तब भी उसके कारण हिलनेवाले वृक्ष बादमे कुछ देर तक हिलते ही रहते है। और जब कपूर खतम हो जाता है, तब भी कुछ देर तक डिबियामे कपूरकी गन्ध रहती ही है, जिसमें वह कपूर रखा रहता है। यदि गान समाप्त भी हो जाय तो भी उसके कारण लोगोको जो तन्द्रा आती है, वह तुरन्त ही दूर नही हो जाती। अथवा यदि किसी जमीनके ऊपरसे पानी बह जाय तो भी उसकी कुछ सीड या नमी कुछ समय तक बनी ही रहती है। और जब सूर्य अस्त हो जाता है, तब भी सन्ध्याके चबूतरे पर सूर्य-ज्योति-की प्रभा कुछ समय तक खेलती ही रहती है। जिस वस्तुको लक्ष्य बनाकर बाण चलाया जाता है, उस वस्तुको भेद चुकने पर भी वह बाण उतना और आगे निकल जाता है, जितना उसमे जोर रहता है। जब चाक पर बरतन तैयार हो जाता है और कुम्हार उसे चाक परसे उतार लेता है, तब भी चाक उस गतिके कारण, बरतन न रहने पर भी, कुछ देर तक घूमता ही रहता है, जो गति उसे पहले बरतन बननेके समय प्राप्त होती है। ठीक इसी प्रकार देहाभिमानके नष्ट हो जाने पर भी, हे अर्जुन, देह जिस स्वभावसे उत्पन्न हुआ रहता है, वह स्वभाव देहसे आपसे आप कर्म कराता ही रहता है। मनमे किसी प्रकारका उद्देश्य न होने पर भी स्वप्न दिखाई देता है और बिना रोपे या लगाये भी जंगलोमे आपसे आप वृक्ष उत्पन्न होते ही हैं। और बिना किसीके बनाये ही आकाशमे मेघोकी इमारतें बनती ही रहती है। ठीक इसी प्रकार आत्माके कोई व्यापार न करने पर भी देहके पाँच कारणोसे समस्त कर्म आपसे आप ही होते रहते हैं। पूर्व कर्मोके संस्कारोके अनुसार पाँच हेतुओ और पाँच कारणोका मेल अनेक प्रकारके कर्म करता ही रहता है। फिर चाहे उन कर्मोंसे सारे जगतका संहार हो और चाहे नवीन जगतकी सृष्टि हो, परन्तु जिस प्रकार सूर्य कभी इस बात का विचार नही करता कि कुमुद क्यो सूखता है और कमल क्यो विकसित होता है अथवा आकाशसे विद्युतकी वर्षा होनेके कारण चाहे पृथ्वी-तलके टुकडे टुकड़े हो जायँ और चाहे शान्त तथा मन्द पर्जन्य वृष्टिके कारण तृण आदिसे पृथ्वी-तल हरा-भरा हो जाय, परन्तु जिस प्रकार आकाशको इन दोनो बातोमेसे एकका भी ज्ञान नही होता, ठीक उसी प्रकार जो देहमे ही विदेही होकर रहता है, वह भी उसी प्रकार यह नही देखता कि देह आदिसे होनेवाली क्रियाओसे सृष्टि बनती है अथवा नष्ट होती है, जिस प्रकार जागा हुआ मनुष्य स्वप्न नही देखता। परन्तु जो लोग केवल चर्म-चक्षुओसे देखते हैं और जिनकी सृष्टि देहसे आगे जाती ही नही, उन्हे यही जान पडता है कि ऐसा मुक्त पुरुष भी कर्मोमे फँसा हुआ है। पशु-पक्षियोको डराने और भगानेके लिए खेत की मेढ पर घास-फूसका जो पुतला बनाकर खड़ा कर दिया जाता है, उसके सम्बन्धमें गीदड क्या यह नही समझता कि यह सचमुच खेतका रखवाला ही है? किसी पागलके सम्बन्धमे देखनेवाले भले ही इस बातका विचार किया करें कि वह

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।२४।।

"जिस प्रकार कोई मूर्ख मनुष्य अपने घरमें माता-पिताके साथ तो कभी एक भी मीठी बात नही करता, परन्तु बाहर सारे संसारके साथ बहुत आदरपूर्व व्यवहार करता है अथवा तुलसीके पेडमे तो कभी दूरसे एक छीटा भी जल नही डालता, परन्तु दाखकी बेलकी जड दूधसे सीचता है, ठीक उसी प्रकार जो नित्य नैमित्तिक कर्मोंके लिए तो अपने बैठनेकी जगहसे कभी मनमें उठनेका विचार भी नही करता और कोई अपने मतलबका काम आने पर अपने शरीरको कष्ट देनेमे भी कोई विशेष हानि नही समझता और जिस प्रकार कोई अच्छी फसल पैदा करनेके लिए बीज बोते समय कभी यह नही कहता कि बीजोकी बोआई बहुत हो चुकी, ठीक उसी प्रकार जिसे उस स्थान पर धन व्यय करनेमे कुछ भी चिन्ता या संकोच नही होता जिस स्थानसे उमे यथेष्ट लाभकी आशा होती है अथवा जिस प्रकार पारस पत्थर मिल जाने पर कीमियागर लोहा खरीदनेके लिए अपनी सारी सम्पत्ति भी बहुत प्रसन्नतासे बेंच डालता है, ठीक उसी प्रकार राजस कर्त्ता भी आगे प्राप्त होनेवाले फल पर दृष्टि रखकर बडे बड़े कष्ट-साध्य काम्य कर्म करता है; और इस प्रकारके चाहे कितने ही अधिक कर्म वह क्यों न कर डाले, परन्तु फिर भी वह उन सबको थोडा ही समझता है। वह फलकी आशामे उलझा रहता है और इसी लिए जितने काम्य कर्म हैं, वे सब ठीक तरहसे बहुतसे ठाठ करता है। और साथ ही जो जो काम वह करता है, उन सबकी लोकमे डुग्गी भी पीटता चलता है। और सारे संसारमे यह कहकर अपने नामके महत्वका प्रकाश करता है कि इन सब कामोको करनेवाला मैं हूँ। फिर उसमें कर्तृत्वका अहंकार इतना अधिक भर जाता है कि वह अपने पिता अथवा गुरुका भी कोई महत्व नही बचने देता। जिस प्रकार प्राणान्त करनेवाला ज्वर किसी औषधको नही मानता; उसी प्रकार वह भी किसीको नही मानता। इस प्रकार अहंकारके द्वारा पछाड़े हुए और फलके फेरमे पडे हुए मनुष्यके हाथो जो जो कर्म बहुत अनुरागसे होते हैं और वह भी अनेक प्रकारके कष्ट सहकर और इस प्रकार होते हैं, जैसे बाजीगर अपना पेट भरनेके लिए तरह तरहके कठिन और कष्ट-साध्य खेल करते हैं, वे सब कर्म "राजस" होते हैं। जिस प्रकार धान्यके एक कणके लिए भी चूहा पहाड़ खोद डालता है अथवा सेवारके लिए मेढक सारा समुद्र गन्दा कर डालता है अथवा केवल भिक्षा पानेके लिए मदारी जिस प्रकार साँप लेकर घर-घर घूमता है, उसी प्रकार अनेक कष्ट उठाकर अपने लाभके लिए जो कार्य किए जाते है, वे सब राजस होते हैं। परन्तु क्या कहा जाय; कुछ लोगोको इस प्रकारके कष्ट ही बहुत अच्छे लगते हैं। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार धान्यका बहुत ही छोटा सा कण प्राप्त करनेके लिए भी दीमक पाताल तक छेद करता हुआ चला जाता है, ठीक उसी प्रकार, स्वर्ग-सुखकी प्राप्तिकी आशामे जो अनेक कष्टपूर्ण परिश्रम किये जाते है, उन्ही क्लेशकारक कामिक कर्मोको राजस कर्म समझना चाहिए। हे अर्जुन, अब तुम तामस कर्मोंके लक्षण सुनो।

नंगा है या कपड़ा पहने हुए है, परन्तु स्वयं उस पागलको अपनी इन सब बातोंसे कुछ भी मतलब नही होता। जो आदमी युद्धमें घायल होकर मर जाता है, उसके शरीरके घाव और लोग भले ही गिना करें, परन्तु स्वयं उस मरनेवालेको इन सब बातोका कुछ भी पता नही होता। जब कोई महापतिव्रता स्त्री सती होने लगती है, तब सारा संसार भले ही इस बातका विचार किया करे कि वह किस प्रकार अपना अन्तिम शृंगार करती है, परन्तु स्वयं उस सती स्त्रीको आगकी लपट, अपना कोमल शरीर या अपने चारों ओरका संसार बिलकुल दिखाई नही देता। ठीक इसी प्रकार जिसे आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है, जिसका द्रष्टव्य दृश्य वस्तुके साथ मिलकर एक-रूप हो जाता है और उसीमें लीन हो जाता है, उसे इस बातका पता भी नही चलता कि इन्द्रियाँ किन किन कर्मोका आचरण कर रही है। यदि जलके किसी बहुत बडे प्रवाहमें कुछ छोटे छोटे प्रवाह आकर मिल जायँ और उस बडे प्रवाहके तट पर खड़ा होकर कोई मनुष्य यह समझ ले कि अमुक प्रवाहने अमुक प्रवाहको निगल लिया, तो भी इस क्रियामे जिस प्रकार जलके एक प्रवाहको वास्तवमें कोई दूसरा प्रवाह नही निगलता, ठीक उसी प्रकार जो पुरुष पूर्णावस्थाको प्राप्त हो जाता है, उसे मारनेके लिए स्वयं अपनेसे भिन्न कोई और वस्तु बच ही नही जाती। सोनेके चंडिका सोनेकी महिषासुरका सोनेके शूलसे वध करती है और देखनेवाले पुजारीको ये सब बातें बिलकुल सत्य जान पडती है। परन्तु वास्तवमे चंडिका, महिषासुर और शूल तीनों ही सोनेके होते है। चित्रोमे अग्नि और जल दोनो ही बिलकुल ज्योंके त्यो दिखलाये जाते हैं, परन्तु यह सारा दृष्टिका ही खेल होता है। स्वयं चित्रपत्रमे न तो आग ही होती है और न पानीका ही अंश होता है। ठीक इसी प्रकार मुक्त या विदेही पुरुषोके शरीर केवल प्राचीन संस्कारोके कारण ही चलते-फिरते हैं। परन्तु अज्ञानियों की समझमे यह रहस्य तो आता ही नही और इसलिए वे मुक्त पुरुषोको ही उन क्रियाओका कर्त्ता समझते है। परन्तु यदि स्वाभाविक क्रियाओके द्वारा तीनो भुवनोका भी घात हो जाय तो भी कभी यह नही समझना चाहिए कि यह घात उन मुक्त या विदेही पुरुषोने किया है। भला यह कहना कहाँकी बुद्धिमत्ता है कि हम पहले प्रकाश की सहायतासे अन्धकारको देखेंगे और तब उस अन्धकारका नाश कर डालेंगे? क्योकि प्रकाशके आते ही अन्धकार तो आपसे आप नष्ट हो जायगा। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषमें ज्ञानके अतिरिक्त और कोई भाव ही नही रहता और उसे मारनेके लिए स्वयं अपनेसे भिन्न और कोई वस्तु ही बाकी नही रह जाती। इसीलिए उसकी बुद्धिमे पाप और पुण्यकी गन्ध भी नही होती। अगर कोई नदी आकर गंगामें मिल जाय तो भी गंगा उससे कभी गन्दी नही होती। ठीक वही बात यहाँ भी है। हे अर्जुन, यदि अग्निके साथ अग्निका झगडा हो जाय तो भला उनमेसे कौन किसे जलावेगी? यदि शस्त्र स्वयं अपने आप पर ही प्रहार करे, तो उसमे क्या होगा? इसी प्रकार जो यह जानता ही नही कि कर्म मुझसे अलग है, वह अपनी बुद्धि पर उन कर्मोंका लेप ही कैसे लगा सकता है? कार्य, कर्त्ता और क्रियाकी त्रिपुटी जिस पुरुषके सम्बन्धमे आत्म-रूप ही हो जाती है, उसके लिए शरीर आदिसे होनेवाले कर्म कभी बन्धक नहीं

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

जो कर्म मानों निन्दाका घर ही होते हैं और जिनके कारण मानों निषेधका जन्म सार्थक होता है, वे सब तामस कर्म हैं। पानी पर खीची हुई रेखाकी तरह जिन कर्मोका आचरण करने पर पीछे कुछ भी बाकी नहीं रह जाता अथवा जिस प्रकार काँजीको मथना, खाली राखमें फूँक मारना अथवा तेल निकालनेके लिए कोल्हूमें वालू डालकर पेरना अथवा भूसा फटकना, आकाशमें कोई चीज भोकना अथवा वायुको पकड़नेके लिए जाल विछाना आदि सब काम बिलकुल निष्फल होते है और व्यर्थ जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जो कर्म करने पर बिलकुल ही व्यर्थ जाते हैं और जिनका कुछ भी फल नही होता अथवा यदि वे कर्म व्यर्थ न भी जायँ तो भी नर-देह सरीखी वहुमूल्य वस्तुको व्यय करके जिन कर्मोका आचरण करनेके कारण संसारके सुखका नाश होता है, वे सब कर्म तामस होते हैं। अथवा जिस प्रकार कमलो पर कँटीला जाल फेकनेसे उस जालके काँटे भी टूटते हैं और कमलोके दल भी छिद और फट जाते हैं अथवा जिस प्रकार दीपकके साथ द्वेष रखनेके कारण पतंगे उस पर टूट पड़ते हैं और स्वयं अपना भी अंग जला लेते है और दीपकको बुझाकर लोगोंके लिए अँधेरा कर देते है, ठीक उसी प्रकार चाहे अपना सर्वस्व व्यर्थ ही नष्ट क्यों न हो जाय, यहाँ तक अपने शरीरका भी घात क्यों न हो जाय, परन्तु फिर भी जिन कर्मोके द्वारा जान-बूझकर दूसरोका अहित किया जाता है, जिन कर्मोके आचरणसे उस मक्खीकी दुष्टताका स्मरण हो आता हैं जो अपने खाने-पीनेकी सब सामग्री तो मनुष्योसे ही प्राप्त करती है, परन्तु फिर भी अपने आचरणसे जो मनुष्यको वमनका कष्ट पहुँचाती हैं, वे सब तामस कर्म होते है। और ये सब कर्म बिना इस बातका विचार किये हुए ही किए जाते है कि इन्हें करनेकी सामर्थ्य हममें है भी या नही। यह नहीं सोचा जाता कि हमारी शक्ति कितनी है, यह कार्य करनेमें कितने वखेड़े करने पड़ेगें और अन्तमे इससे हमारी फल-सिद्धि ही क्या होगी। इस प्रकारकी सभी वातोका विचार अविवेकपूर्वक पैरों तले रौंद डाला जाता है और तब ऐसे कर्म करनेका आयोजन किया जाता हैं। पहले स्वयं अपना ही घर जलाकर आग वाहर निकलती है और स्वयं अपनी ही मर्यादा डुवाकर समुद्र ऊपर और वाहरकी ओर उछलता है। फिर वह आग अथवा वह समुद्र छोटे और वड़ेका कुछ भी विचार नही करता; आगे पीछे कुछ भी नही देखता और टेढ़े-सीधे मार्गोको एकाकार करता जाता है; और उसका यह क्रम वरावर चला चलता है। ठीक इसी प्रकार अच्छे और बुरे, दुष्ट और सुष्ट आदिका विना कोई विचार किये और अपने तथा पराए सभी लोगोके धुर्रे उड़ाते हुए जिन कर्मोका आचरण किया जाता है, उनके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे यह समझ रखना चाहिये कि वे तामस कर्म हैं। हे अर्जुन, इस प्रकार मैंने स्पष्ट रूपसे तुम्हें यह बतला दिया है कि तीनों गुणोके कारण कर्म किस प्रकार त्रिविध होते हैं। अब ये सब कर्म करनेवाला और इनके कर्तृत्वका अहंकार करनेवाला जो जीव होता है, वह भी

हो सकते। इसका कारण यही है कि जो जीव स्वयं अपने आपको कर्त्ता मानता है, वह दस इन्द्रियोके औजारोसे पाँच प्रकारके हेतुओको बड़े कौशलसे प्रस्तुत करता है। फिर न्याय और अन्याय दोनो प्रकारकी कुरसियाँ तैयार करके एक ही क्षणमे वहाँ कर्मके मन्दिर खडे कर देता है। इस बहुत बड़े काममे आत्मा कुछ भी सहायता नही करती; और यदि तुम यह पूछो कि—"यह आत्मा कर्मोकी पूर्व योजनामे भी कुछ सहायता करती है या नही ?" तो इसका उत्तर यह है कि वह उसमे भी कोई सहायता नही करती। जो आत्मा केवल साक्षी-भूत और आत्म-स्वरूप है, वह क्या कभी स्वयं ही यह कह सकती है कि कर्म-प्रवृत्तिके संकल्प उत्पन्न हो। परन्तु जिस कर्म-प्रवृत्तिके फेरमे सब लोग पड़े हुए है, उस प्रवृत्तिके क्लेश भी कभी आत्माको स्पर्श नही करते। इसलिए जो पुरुष पूर्ण रूपसे आत्म-स्वरूप हो जाता है, वह कभी कर्मोके बन्दीगृहमे रह ही नही सकता। परन्तु जब अज्ञानके पटपर ज्ञानका उलटा चित्र अंकित होता है, तभी कार्य, कर्त्ता और क्रियाकी लोक-प्रसिद्ध त्रिपुटी चित्रित होती है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

"ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयकी त्रिपुटी जगतका बीज है, और इसमे कुछ भी सन्देह नही कि कर्मोकी प्रवृत्ति इसीसे होती है। हे अर्जुन, अब मैं इन तीनोका अलग अलग स्पष्टीकरण करता हूँ; सुनो। जीव-रूपी सूर्य-मडलकी पचेन्द्रिय रूपी किरणें वेगपूर्वक आकर विषयरूपी कमलकी कलियाँ खिलाती है। अथवा जीव-रूपी राजाके इन्द्रिय रूपी घोडे दौडकर विषयोके प्रदेशमे पहुँच जाते हैं और वहाँसे सुख और दु.ख लूट लाते है। परन्तु ये रूपक बहुत हो चुके। इन इन्द्रियोके द्वारा होनेवाले व्यापारोसे जो ज्ञान सुखो और दु.खोको अपने साथ लेकर जीवको प्राप्त होता है, वह सुषुप्तिवाली अवस्थामे जिसमे लीन होता है, उसी जीवको "ज्ञाता" कहना चाहिए। और अब तक जिसका विवेचन किया गया है, हे अर्जुन, इस अवसर पर उसीको "ज्ञान" समझना चाहिए। हे पार्थ, अविद्याके पेटमे जन्म धारण करते ही जो ज्ञान तीन स्थानोमे अपना विधान करता है और जो ज्ञान अपनी दौडके रास्तेमे सामने ज्ञेय अर्थात् ज्ञान विषयका गोला फेंककर अपने पीछेकी ओर ज्ञातृत्वके अभिमानकी सृष्टि करता है और इस प्रकार ज्ञाता तथा ज्ञेयके बीचमे सम्बन्ध स्थापित करनेका मार्ग प्रस्तुत होने पर जिस ज्ञानकी सहायतासे इस मार्ग पर आना-जाना बराबर बना रहता है, जिस ज्ञानकी दौड ज्ञेयकी सीमा तक ही होती है और जो समस्त पदार्थोको भिन्न-भिन्न नाम देता है, इसमे कुछ भी सन्देह नही कि वह ज्ञान "सामान्य ज्ञान" है। अब ज्ञेयके भी लक्षण सुनो। शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध और रस ये सब ज्ञेयके प्रकट होनेके मार्ग है। जिस प्रकार एक ही आम अपने रस, रंग और गन्ध आदिके द्वारा भिन्न-भिन्न इन्द्रियोको स्पर्श करके अपना भास करता है, उसी प्रकार ज्ञेय भी होता तो एक ही है, परन्तु ज्ञान इस रसका ग्रहण इन्द्रियोके मार्गसे करता है और इसी लिए वह ज्ञेय पाँच प्रकारका होता है। और जिस प्रकार जलका प्रवाह अन्तमे समुद्रमे प्रवेश करते

त्रिविधता प्राप्त करता है। जिस प्रकार एक ही पुरुष ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमोंमें रहकर अलग अलग चार प्रकारका दिखाई देता है, उसी प्रकार कर्मोंकी त्रिविधताके कारण कर्त्तामें भी त्रिविधता आ जाती है। इसलिए इन तीनों प्रकारके कर्त्ताओंमे जो पहला सात्विक कर्त्ता है, उसका मैं विवेचन करता हूँ। तुम अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

"फलकी इच्छा न होनेके कारण जिस प्रकार मलयागिरी चन्दन वृक्षकी शाखाएँ बिलकुल सीधी और बराबर बढ़ती तथा फैलती रहती हैं अथवा जिस प्रकार फल धारण न करनेके कारण ही नाग वल्लीका जन्म सार्थक होता है, ठीक उसी प्रकार सात्विक कर्त्ता भी सदा अपने नित्य और नैमित्तिक कर्म करता है। परन्तु इस फल शून्यताके कारण उसके उन कर्मोको विफलता नहीं प्राप्त होती, क्योकि हे अर्जुन, क्या कभी फलमें भी फल लगते हैं? जो मनुष्य सब काम तो बहुत आदर और अनुराग पूर्वक करता है, परन्तु फिर भी जिसे इस प्रकारका अहंकार कभी छू भी नही जाता कि मैं कर्त्ता हूँ, जो वर्षा कालके मेघोंकी तरह परमात्मा पर निरन्तर वर्षा करनेके योग्य विपुल कर्मोका आचरण करता रहता है, जो उचित समय साधता है, शुद्ध स्थल देखता है, कर्मोकी विधियोंका निर्णय शास्त्रोके वचनोके आधार पर करता है, अपना मन एकाग्र करता है, चित्तको फलकी आशाकी ओर नही प्रवृत्त होने देता, नियमोंका उचित रूपसे पालन करता है और इस निर्बन्धको सहन करनेके लिए अपने आप पूरा पूरा धैर्य लानेकी निरन्तर चिन्ता और प्रयत्न करता है और केवल आत्म स्वरूपके प्रेमके कारण क्रियाएँ करते रहने पर भी जो शारीरिक सुखोके जालमे नही फँसता, जिसमे आलस्य और निद्रा कही नामको भी नही रह जाती, जो कभी क्षुधासे पीड़ित नही होता और शरीरका सुख जिसे अच्छा नही लगता और इतना सब कुछ होने पर भी कर्मोके प्रति जिसका उत्साह उसी प्रकार बराबर बढ़ता हुआ दिखाई देता है, जिस प्रकार खोट या मिलावटके जल जानेके कारण, वजन कम हो जाने पर भी, सोना चोखा और खरा होता जाता है, वही सात्विक कर्त्ता होता है। यदि सचमुच मनमें किसी बातका अनुराग हो तो प्राण केवल तुच्छ जान पड़ते हैं। जब कोई सच्ची पतिव्रता स्त्री अपने पतिके प्रेमके कारण सती होनेके लिए उद्यत होती है, तब क्या अग्निमे प्रवेश करते समय कभी भयसे उसे रोमांच होता है? ऐसी अवस्थामें, हे अर्जुन, जो पुरुष आत्म-स्वरूप सरीखे प्रिय पदार्थको प्राप्त करनेके लिए उद्यत होता है, वह क्या कभी इस बातका खेद कर सकता है कि मेरा शरीर क्षीण हो गया? इसीलिए जिसकी विषय-सम्बन्धी इच्छा नष्ट हो जाती है और ज्यो ज्यो देहका अभिमान दूर होता है, त्यों त्यो कर्मोका आचरण करनेमें जिसे दूना आनन्द मिलता है और इस प्रकार जो बराबर दूने आनन्दसे कर्मोका आचरण करता चलता है और यदि कभी कोई आरम्भ किया हुआ कार्य किसी कारणसे आधा होकर ही रुक जाय, तो भी उस कार्यके बिगड़नेके कारण जिसे उसी प्रकार कोई दुःख या कष्ट नहीं होता,

ही समाप्त हो जाता है, अथवा अनाजके पौधोंकी बाढ़ उनमें बालें लगते ही समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियोंके प्रवाहके साथ साथ दौड़ लगानेवाले ज्ञानका जिसमें अन्त होता है, हे अर्जुन, वही ज्ञेय अर्थात् ज्ञानका विषय है। हे पार्थ, इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका त्रिकूट मैंने तुम्हे स्पष्ट रूपसे बतला दिया है। इसी त्रिकूटसे समस्त क्रियाओंकी उत्पत्ति होती है। जो शब्द आदि विषय हैं, वे तो इन्हीं पाँच प्रकारोके हैं, परन्तु जो ज्ञेय है, वह या तो प्रिय होता है और या अप्रिय। ज्ञेय ज्योंही थोड़ा-सा भी ज्ञान सामने लाकर उपस्थित करता है, त्योंही ज्ञाता उस विषयको या तो स्वीकार और या त्याग करना आरम्भ कर देता है। जिस प्रकार किसी मछलीको देखते ही बगला अथवा द्रव्यका भांडार देखकर दरिद्र अथवा किसी स्त्रीको देखते ही कामुक पुरुष विचलित हो जाता है और उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करता है अथवा जिस प्रकार ढाल या उतारकी तरफ पानी या पुष्पकी सुगन्धकी ओर भ्रमर अथवा सन्ध्याको दूध दूहनेके समय बछड़ा गौकी ओर दौड़ पड़ता है अथवा स्वर्गकी उर्वशी आदि अप्सराओके सुख-भोगकी मनोहर बातें सुनकर जिस प्रकार लोग स्वर्गका सुख प्राप्त करनेके लिए आकाशमें यज्ञ-यागकी सीढ़ियाँ लगाने लगते हैं, अथवा, हे अर्जुन, आकाशमे उड़नेवाला कबूतर जिस प्रकार कबूतरोंको देखते ही लोट-पोट होकर नीचेकी तरफ गिरने लगता है अथवा मेघोंकी गड़गड़ाहट का शब्द कानोमे पड़ते ही जिस प्रकार मोर आकाशकी ओर देखने लगता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञेयके दर्शन होते ही ज्ञाता भी उसकी ओर तुरन्त दौड़ पड़ता है। इसलिए हे पांडु-सुत अर्जुन, समस्त कर्मोका आरम्भ ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताके त्रिकूटसे ही होता है। अब वही ज्ञेय यदि ज्ञाताको प्रिय जान पड़े तो फिर उसका उपभोग करनेमे उससे एक क्षणका भी विलम्ब नही सहा जाता। इसके विपरीत यदि वह ज्ञेय उसे अप्रिय जान पड़ता है तो उसका तिरस्कार करके उसे दूर करनेमें भी जो थोड़ा-सा समय लगता है, वह भी उसे युगके समान दीर्घ जान पड़ता है। सर्प और रत्नोंके हारके घेरेमे जो मनुष्य एक दमसे पहुँच जाता है, उसे जिस प्रकार भय और आनन्द दोनों ही एक साथ जान पडने हैं, उसी प्रकारकी अवस्था उस समय ज्ञाताकी भी होती है, जिस समय कुछ प्रिय और कुछ अप्रिय वस्तु दिखाई देती है। और तब वह प्रिय वस्तुका स्वीकार और अप्रिय वस्तुका त्याग करनेका प्रयत्न करने लगता है। शत्रु-पक्षके मल्लोमे अपने जोड़का मल्ल देखकर जिस प्रकार किसी सेनापतिका उसके साथ लड़नेको जी चाहता है और वह स्वयं ही अपने रथ परसे उतर कर उससे दो हाथ लडनेके लिए पैदल ही उसकी ओर चल पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जो अब तक अपने ज्ञातृत्वके कारण केवल ज्ञाता ही था, वह अब कार्य आरम्भ करके कर्त्ताकी अवस्था या पदको प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई भोजन करनेवाला ही रसोई पकानेके लिए बैठ जाय अथवा भ्रमर ही बाग लगाने लग जाय अथवा सोना परखनेवाला सर्राफ स्वयं ही कसौटीका पत्थर बन जाय अथवा स्वयं देवता ही अपने लिए मन्दिर बनाने लगे, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, ज्ञेय-विषयके त्याग अथवा स्वीकारके लिए ज्ञाता अपनी

जिस प्रकार पहाड़ परसे नीचे गिर पड़नेवाली गाड़ी कभी अपने लिए कोई दुःख नहीं करती अथवा कोई आरम्भ किया हुआ कार्य सिद्ध हो जाने पर जो चारो ओर उसकी जय-घोषणा नहीं करता फिरता, तात्पर्य यह कि जो इन्ही सब लक्षणोसे युक्त होकर कार्य करता हुआ दिखाई देता है, हे अर्जुन, वास्तवमें उसीको सात्विक कर्त्ता कहना चाहिए । और हे पार्थ, राजस कर्त्ताकी पहचान यह है कि वह लौकिक वासनाओमें ही सदा डूबा हुआ रहता है ।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

"जिस प्रकार गाँवके कूड़ेखानेमें सारा कूड़ा-करकट आकर इकट्ठा होता है अथवा श्मशानमे ही समस्त अमंगल जनक वस्तुएँ आकर एकत्र होती हैं, उसी प्रकार जो पुरुष सारे संसारकी वासनाओंके दोषोंका पावदान होता हैं और इसी लिए जो पुरुष केवल ऐसे ही कर्मोंका आयोजन करता है, जिनमे फलोकी अखंड प्राप्ति होती हुई दिखाई देती है और उन कर्मोंसे होनेवाले लाभमेकी एक कौड़ी भी बिना छोड़े जो उनके लिए अपने प्राण तक निछावर करनेके लिए सदा उद्यत रहता है, जो स्वयं अपनी वस्तुओंकी तो पूर्णरूपसे रक्षा करता ही है, पर साथ ही दूसरोंकी वस्तु हरण करनेके लिए भी सदा उसी प्रकार ध्यान लगाये रहता है, जिस प्रकार मछलीको पकड़नेके लिए बगला बराबर ध्यान लगाये रहता है, जिसकी अवस्था बेरके उस वृक्षके समान होती है जो अपने पास आनेवालोंको तो अपने काँटोसे पकड़ता है और स्पर्श करनेवालोका शरीर छेदता है और इतना होने पर भी जिसके फल अपने खट्टेपनके कारण जीभको परम दुःखी कर देते है, जो बराबर दूसरोको दुःख देता रहता हैं और अपना मतलब निकालनेके लिए दूसरोके हितकी कुछ भी परवाह नही करता स्वयं अपना काम करनेके लिए दूसरोको कभी कुछ भी मोहलत या सुभीता नही देता और जो भावना अपने आपको पसन्द न हो—वह चाहे कितनी ही उदात्त क्यों हो, तो भी—उस भावनामें जो कभी अपना मन नही लगाता, जिसकी अवस्था धतूरेके उस फलकी तरह होती है जिसके अन्दर जहर होता है और बाहर कँटीला कवच होता है और इस प्रकार अन्दर और बाहर शुद्धतासे बिलकुल खाली रहता है और हे अर्जुन, अपने किये हुए कर्मका फल प्राप्त होने पर जो मारे आनन्दके मारे सारे संसारको मुँह चिढ़ाने लगता है अथवा यदि आरम्भ किया हुआ कार्य बिगडकर निष्फल हो जाय तो पुरुष शोकसे अंकित होकर सारे संसारको गालियाँ और शाप देने लगता है और, हे अर्जुन, जो इस प्रकार कर्मोंमे फँसा रहता है, उसके सम्बन्धमें अच्छी तरहसे यह समझ रखना चाहिए कि वह राजस कर्त्ता है । अब मैं उस तामस कर्त्ताका वर्णन करता हूँ जिसे समस्त दुष्कर्मोका केवल फलने-फूलनेका मुख्य स्थान ही समझना चाहिए ।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

"जिस प्रकार अग्निको इस बातका कुछ भी ज्ञान नही होता कि मेरे स्पर्शके कारण दूसरी वस्तुएँ किस प्रकार जलती है अथवा जिस प्रकार शस्त्रकी समझमें यह

इन्द्रियोंको काममें लगाता है और उस समय ज्ञाता ही कर्ता बन जाता है। जब इस प्रकार ज्ञाता स्वयं ही कर्त्ता हो जाता है, तब वह ज्ञानको साधन बनाता है और उससे "ज्ञेय" आपसे आप "कार्य" हो जाता है। इस प्रकार, हे सुविज्ञ अर्जुन, ज्ञानकी करनीसे यह परिवर्तन हो जाता है। रात जिस प्रकार नेत्रोंकी शोभा बदल देती है अथवा जिस प्रकार भाग्य बिगड़ जाने पर धन-सम्पन्न पुरुषका वैभव भी नष्ट हो जाता है अथवा पूर्णिमाके उपरान्त जिस प्रकार चन्द्र-बिम्बमें भी परिवर्त्तन होने लगता है और वह घटने लगता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंकी गतिके योगसे ज्ञाताके चारों ओर कर्तृत्वका पेच बैठने लगता है। अब उस अवस्थामें उसमे जो जो लक्षण दिखाई देते हैं, वह भी सुन लो। बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार ये सब अन्तरिन्द्रियाँ हैं। और बाहरके अंगोंकी पाँच इन्द्रियाँ त्वचा, कान, आँख, जीभ और नाक हैं। इनमेसे अन्तरिन्द्रियोंके द्वारा तो कर्त्ता अपने कर्त्तव्यका अनुमान करता है; और तब यदि उसे यह निश्चय होता है कि उस कर्त्तव्यका पालन सुखका कारण होगा तो वह नेत्र आदि बाहरी दसो इन्द्रियोंको उस काममें लगा देता है। फिर जब तक उस कर्त्तव्यकी सिद्धि नहीं होती, तब तक वह उन सब इन्द्रियोंको उनमे लगाये रहता है। इसके विपरीत यदि उसे इस बातका अनुभव होता है कि वह कर्त्तव्य दुःखका कारण होगा, तो वह तुरन्त ही अपनी दसो इन्द्रियोंसे उसका त्याग करनेमे लग जाता है। और वह तब तक अपनी सब इन्द्रियोंको उसके त्यागके काममें लगाये रहता है, जब तक दुःखका नाम-निशान भी मिट नही जाता। जिस प्रकार कोई राजा अपना कर वसूल करनेके लिए अपने सब नौकर-चाकरोंको दिन-रात लगाये रहता है, उसी प्रकार जब सब इन्द्रियाँ भी किसी काममें लगाई जाती हैं, तब हे अर्जुन, यह बात तुम अपने ध्यानमें रखो कि उस ज्ञाताको कर्त्ता कहते हैं। और कर्त्ता अपने सभी कामोंमें इन्द्रियोंको औजारोंकी तरह लगाये रहता है, और इसी लिए मैं इन इन्द्रियोंको करण अर्थात् साधन या औजार कहता हूँ। और इन कारणोंका उपयोग करके कर्त्ता जो क्रियाएँ करता है, उन क्रियाओंकी व्याप्ति ही इन प्रकरणमें "कर्म" है। सुनार की बुद्धि जिस प्रकार अलंकारोंमे व्याप्त रहती है अथवा चन्द्रमाकी किरणे जिस प्रकार चाँदनीमे व्याप्त रहती हैं अथवा सुंदरतासे जिस प्रकार बेलें व्याप्त रहती है अथवा प्रभा जिस प्रकार प्रकाशमे व्याप्त रहती है अथवा मधुरता जिस प्रकार ऊखके रसमे व्याप्त रहती है अथवा अवकाश जिस प्रकार आकाशमें ओत-प्रोत भरा रहता है, ठीक उसी प्रकार हे अर्जुन, जो कुछ कर्त्ताकी क्रियाओंसे व्याप्त रहता है, वही कर्म है। इसके सिवा कर्म और कोई चीज नही है। इस प्रकार, हे ज्ञानियोंमे श्रेष्ठ अर्जुन, कर्त्ता, कर्म और करणकी त्रिपुटीके लक्षण मैंने तुमको बतला दिए हैं। यहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तो कर्म-प्रवृत्तिके त्रिकूट हैं और कर्त्ता, करण तथा कार्य ये कर्मके त्रिकूट हैं। जिस प्रकार अग्निमे धूआँ अथवा बीजमे वृक्ष अथवा मनमे वासना भरी रहती है, ठीक उसी प्रकार कर्त्ता, क्रिया और करणमे कर्मका जीवन भरा रहता है। जिस प्रकार सोनेकी खानमें सोना भरा रहता है, उसी प्रकार कर्त्ता, क्रिया और करणमे कर्म भी भरा रहता है।

बात नहीं आती कि मेरी धारकी तीक्ष्णताके कारण दूसरोको किस प्रकारका भीषण कष्ट होता है अथवा जिस प्रकार काल-कूट विषको अपने घातक कृत्यका ज्ञान नही होता, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन; जो अपने सामने आनेवाले जीवोका घात करके अपने दुष्कर्म जारी रखता है और उन दुष्कर्मोंका आचरण करते समय मन-माने तौर पर खूब तेजीके साथ दौडनेवाले बादलोकी तरह इस बातका कुछ भी ध्यान नही रखता कि मेरे हाथो क्या हो रहा है और हे अर्जुन, जिसके कार्य और कारणमे मेल न होनेके कारण पागल मनुष्य भी जिसके सामने पासंग तक नही ठहरता और बैलके पेटमें लगी हुई किलनीकी तरह जो इन्द्रियोके बढे हुए विषय-भोगके आधार पर अपना निर्वाह करता है, जिसकी रहन-सहन उस अज्ञान छोटे बालकके समान होती है; जो कभी आपसे आप हँस पड़ता है और कभी रोने लग जाता है; प्रकृति या मायासे अंकित होनेके कारण जिसे इस बातका कुछ भी भान नही होता कि कृत्य क्या है और अ-कृत्य क्या है और केवल कूडेके कारण बढनेवाले कूडेखानेकी तरह जो केवल मिथ्या समाधानसे ही फूला रहता है और इसी लिए जो अपनी अहंमन्यताके कारण स्वयं ईश्वरके सामने भी नही झुकता और अपनी अकडके आगे पर्वतको भी तुच्छ समझता है और जिसकी मनोवृत्ति मानो पैरोसे कुचली हुई चोरोकी काली रावटीके समान काली और दृष्टि मानो बाजारमे बैठनेवाली वेश्याओसे उधार ली हुई होती है, सारांश यह कि जिसका सारा शरीर ही कपटका बना हुआ होता है और जिसका जीवन मानों जुआरियोका अड्डा होता है और जिसके दर्शनको मानो दर्शन नही बल्कि स्वार्थ लोलुप भीलोका गाँव ही समझना चाहिए और इसी लिए जिसके रास्ते कभी किसीको जाना ही नही चाहिए, दूसरोके सत्कृत्य जिसके मनमे काँटेकी तरह खटकते हैं और दूसरोके अच्छे कृत्य भी जिसके फेरमे पडकर उसी प्रकार विद्रूप हो जाते हैं, जिस प्रकार नमकके योगसे दूध पीनेके योग्य नही रह जाता, अथवा आगमें पडकर ठण्डा पदार्थ भी गलकर आग हो जाता है अथवा अच्छे अच्छे अन्न भी शरीरमे प्रविष्ट होकर मल बन जाते हैं, जो गुणोको भी दोषोका स्वरूप देता है और साँपकी तरह अमृतको भी विष कर देता है और संयोगवश कोई ऐसा शुभ कर्म उपस्थित होने पर जिससे ऐहिक जीवन भी सार्थक हो सकता हो और परलोक भी सध सकता हो, जिसे इतनी जल्दी नीद आ जाती है कि मानो उसके पास रखी हुई हो और दुष्ट व्यवहार आरम्भ करते ही जिसके पाससे नीद इस प्रकार भाग जाती है कि मानो उससे परम घृणा करती हो, जो वास्तविक कल्याणके साधनकी सन्धि आने पर आलस्यसे उसी प्रकार भरा रहता है, जिस प्रकार दाख या आमका रस खानेके दिनोमे कौवोके मुँहमें रोग हो जाता है अथवा दिनके प्रकाशमें जिस प्रकार उल्लूकी आँखें अन्धी हो जाती है और यदि कोई निन्दनीय कृत्य करनेके लिए कहा जाय तो मानो आलस्य जिसके हुक्ममे रहता है और तुरन्त दूर भाग जाता है, जिसके मनके साथ मत्सर सदा उसी तरह ठीक बँधा रहता है, जिस तरह समुद्रके उदरमे सदा बड़वाग्नि धधकती रहती है और जो जन्म भर उसी प्रकार नाक तक मत्सरसे भरा रहता है, जिस प्रकार कण्डोकी आगमे धूआँ भरा रहता है, अथवा गुद-द्वारमे सदा दुर्गन्धि ही भरी रहती है

इसी लिए, हे अर्जुन, जहाँ इस प्रकारकी भावना रहती है कि यह कार्य है और मैं कर्त्ता हूँ, वहाँ उन समस्त क्रियाओंसे आत्मा सदा बिलकुल दूर और अलिप्त रहती है। इसलिए, हे सुविज्ञ अर्जुन, मैं बार-बार यही कहता हूँ कि आत्मा इस कर्म-प्रवृत्तिसे बिलकुल अलग है। परन्तु तुम ये सब बातें जानते ही हो, इसलिए अब मैं यह प्रकरण यहीं समाप्त करता हूँ।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

"परन्तु अभी मैने जो ज्ञान, कर्म और कर्त्ताका जिक्र किया है, वे तीनों गुणोके कारण तीन प्रकारके होते है। इसलिए हे अर्जुन, ज्ञान, कर्म और कर्त्ता पर भी भरोसा नही रखना चाहिए; क्योकि तीनों गुणोमेंसे दो गुण तो बन्धक होते हैं और केवल तीसरा सत्व गुण ही मोक्ष देनेमें समर्थ होता है। मै अब इन तीनों गुणोके लक्षण इस प्रकार अलग अलग बतलाता हूँ जिसमे तुम सत्व गुणको अच्छी तरह पहचान लो। यह गुण-भेद साख्यशास्त्रमे अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। जो साख्य-शास्त्र विचारका सागर है, जो आत्म-बोध रूपी कुमुदिनीको खिलानेवाला चन्द्र-बिम्ब ही है, जो ज्ञानकी दृष्टि देनेवाले शास्त्रोंका सम्राट् है अथवा जो दिन और रात्रिकी तरह एकमे मिले हुए प्रकृति और पुरुषको स्पष्ट रूपसे अलग अलग दिखलानेवाला प्रचण्ड सूर्य ही है, जिस शास्त्रकी सहायतासे असीम अज्ञान-राशि चौवीस तत्वोकी नाप-जोख करके परम तत्व ब्रह्मका अखंड आनन्द भोगा जा सकता है, हे अर्जुन, उस सांख्य-शास्त्रने जो कुछ कहा है, वह गुण-भेदका आख्यान मैं तुम्हे सुनाता हूँ; सुनो। जिस दृष्टिसे अपने अंगकी सामर्थ्यसे इन तीनो गुणोने त्रिविधताके रंगसे समस्त दृश्य विश्वको रँगा है, उस दृष्टिसे सत्व, रज और तमका महत्व केवल इतना ही है कि ब्रह्मासे लेकर कोड़े-मकोड़ो तक सभी इन गुणोके कारण त्रिविध हो गये है। परन्तु मैं सवसे पहले तुमको वह ज्ञान बतलाता हूँ जिसने इस समस्त विश्वका भेदन किया है और इसी लिए जो स्वयं भी गुण-भेदके फेरमे पड गया है। बात यह है कि जब नजर साफ होती है, तब हर एक चीज साफ दिखाई देती है। इसी प्रकार जब शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है, तब सब कुछ शुद्ध हो जाता है। इसी लिए जिसे सात्विक ज्ञान कहते हैं, अब मैं उसका वर्णन करता हूँ। तुम ध्यानपूर्वक सुनो।" बस यही बात कैवल्य-स्वरूप श्रीकृष्णने अर्जुनसे कही थी।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

उन्होने कहा—"हे भाई अर्जुन, सात्विक ज्ञान ही वास्तवमे निर्मल होता है। इस ज्ञानका उदय होते ही ज्ञाता और ज्ञेय ब्रह्मैक्यमे विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार अन्धकारको सूर्यके दर्शन नही होते अथवा समुद्रको नदीके स्वरूपका ज्ञान नही होता अथवा प्रयत्न करने पर भी जिस प्रकार अपनी छाया पकड़ी नही जाती, उसी प्रकार जिस ज्ञानको शंकरसे लेकर तिनके तक कोई नाम रूपात्मक व्यक्ति कभी स्पर्श ही नहीं कर सकता अथवा जिस प्रकार हाथसे चित्रको दबाकर उसे देखने पर अथवा पानीसे

और, हे वीर अर्जुन, जो ऐसे ऐसे कामिक व्यापारोंका आरम्भ करता है, जिनका सूत्र प्रत्यक्ष कल्पान्तसे भी और आगे तक पहुँच जाता है, परन्तु यदि कोई कल्याणकारक काम करना हो तो उससे एक तिनकेकी प्राप्ति नही होती, हे अर्जुन, इस लोकमें इस प्रकार केवल पापके मूर्त्तिमान् समूहके रूपमें ही जो पुरुष दिखाई दे, उसके सम्बन्धमें पूरी तरह यह समझ लेना चाहिए कि वह तामस कर्त्ता है। हे सज्जन-शिरोमणि अर्जुन, इस प्रकार मैंने तुम्हे कर्म, कर्त्ता और अज्ञानके तीन प्रकारके लक्षण बतला दिये हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।।२९।।

"अब अविद्याके गाँवमें मोहके वस्त्र पहनकर और अपने शरीर पर संशय-वृत्तिके अलंकार धारण करके अंगो और उपागों सहित आत्म-निश्चयकी शोभा जिस दर्पणमें देखी जाती है, वह दर्पण बुद्धि है; और इस बुद्धिका प्रवाह भी तीन प्रकारका होता है। इस संसारमें ऐसा कौन-सा पदार्थ है जो सत्व आदि तीनों गुणोंके योगसे तीन प्रकारका न हुआ हो ? क्या इस दृश्य सृष्टिमें कही कोई ऐसा काठ भी है जिसके गर्भ-में अग्नि न हो ? इसी प्रकार इस दृश्य सृष्टिमे कही कोई ऐसा काठ भी है जिसके गर्भ में अग्नि न हो ? इसी प्रकार इस दृश्य सृष्टिमें भला ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है जो इन तीनों गुणोंके कारण तिरंगी न हुई हो ? इसी लिए इन तीनों गुणोके योगसे बुद्धि भी तीन प्रकारकी हो गयी है और धृतिकी भी वही दशा हुई है। अब इसी बुद्धि और धृतिकी त्रिविधता उनके भिन्न-भिन्न लक्षणो सहित बतलाई जायगी। परंतु हे अर्जुन, बुद्धि और धृतिमेंसे पहले मैं बुद्धिके तीनों प्रकारोका स्पष्टीकरण करता हूँ। हे वीर अर्जुन, इस संसार-क्षेत्रमें जितने जीव आते है, उन सबके लिए उत्तम, मध्यम और निकृष्ट ये तीनों मार्ग खुले रहते है। और ये तीनों मार्ग नित्य नैमित्तिक विहित कर्म, कामिक कर्म और निषिद्ध कर्म है और ये तीनो ही मार्ग संसार-भयके कारण जीवोके लिए कष्टप्रद होते हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३०।।

"इसी लिए इन सब कर्मोमें वह नित्य कर्म ही सबसे अच्छा है, जो मनुष्यके अधिकारको शोभा देता है और केवल स्वाभाविक क्रमसे प्राप्त होता है। उन्ही नित्य कर्मोका केवल आत्म-प्राप्तिके फल पर दृष्टि रखकर ठीक उसी प्रकार आचरण करना चाहिए, जिस प्रकार प्यासा आदमी पानी पीता है। बस इतनेसे वे कर्म जन्म-भयका संकट दूर करके मोक्षकी प्राप्ति सुलभ कराते है। जो इस प्रकार अपने नित्य कर्मोंका आचरण करता है, उसका संसार सम्बन्धी भय छूट जाता है और कर्म करके वह मुमुक्षुओका अंश (अर्थात् मोक्ष) प्राप्त करता है। और जिस बुद्धिको इस बातका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि इस प्रकारके कर्मोके आचरणमें ही मोक्ष रखा हुआ है और इसीलिए जो बुद्धि यह कहती है कि निवृत्तिके आधार पर प्रवृत्तिकी रचना करके इन नित्य कर्मोंमें गोता क्यों न लगाया जाय, वही बुद्धि सात्त्विक होती है। प्यासेको जलसे जीवन प्राप्त होता है और बाढ़मे पड़नेवालेको तैरना पड़ता है। घोर अन्धकारपूर्ण

नमकको धोनेका प्रयत्न करने पर अथवा जाग्रत होनेके उपरान्त स्वप्नका अनुभव करनेका प्रयत्न करने पर कुछ भी बाकी नही रह जाता, उसी प्रकार जिस ज्ञानसे ज्ञेयको देखने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनोमेंसे कुछ भी बाकी नही रह जाता अथवा जिस प्रकार सोनेको गलाकर उसमेसे कोई अपनी इच्छाके अनुसार गहने नही निकाल सकता अथवा पानीको छानकर उसमेसे कोई तरंगोको अलग नही कर सकता, उसी प्रकार यह भी समझ लेना चाहिए कि जिस ज्ञानसे किसी दृश्य स्थितिकी प्राप्ति नहीं होती (अर्थात् कोई दृश्य वस्तु भिन्न नही दिखाई देती), वही ज्ञान पूर्ण रूपसे सात्विक है। जब कोई मनुष्य बड़े कूतूहलसे शीशेको देखनेके लिए जाता है, तब उसे सामने स्वयं अपना ही स्वरूप दिखाई देता है। मैं फिर यही बात कहता हूँ कि इसी प्रकार ज्ञेयका नाम-निशान तक मिटाकर जो ज्ञान स्वयं ज्ञाता ही बन जाता है और जो ज्ञान मोक्ष-लक्ष्मीका मन्दिर है, वही सात्विक ज्ञान है। परन्तु इस विषयका बहुत विस्तार हो चुका। अब तुम राजस ज्ञानके लक्षण सुनो।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

हे अर्जुन सुनो, जो ज्ञान भेदके आधार पर पैर आगे बढाता है, उसे राजस समझना चाहिए। स्वयं भेद-भावसे भूत मात्रके असंख्य भेद करके और ज्ञाताको ही धोखेमें डालकर जो ज्ञान विचित्रता उत्पन्न करता है, जो ज्ञान वास्तविक आत्म-ज्ञानके क्षेत्रके बाहर मिथ्या मोहकी खन्दकमें जीवको उसी प्रकार जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्तिके खेल दिखलाता है, जिस प्रकार प्रत्यक्ष दिखाई पडनेवाली वस्तु पर विस्मृतिका परदा डालकर निद्रा मनुष्यको स्वप्नकी व्यर्थकी चिन्ताओका अनुभव कराती है, जिस ज्ञानके कारण नाम और रूपकी आडमें छिपा हुआ अद्वैत तत्व उसी प्रकार दिखाई नही देता, जिस प्रकार गहनेके रूपकी आडमे छिपा हुआ सोना किसी छोटे बालकको नही दिखाई देता, जिस ज्ञानके कारण शुद्ध अद्वैत तत्वका उसी प्रकार पता नही लगने पाता, जिस प्रकार मटकों और घड़ोके रूपमे दिखाई पड़नेवाली मिट्टी अज्ञानियोको दिखाई नही देती अथवा दीपककी भावना होनेके कारण उसमें रहनेवाली अग्निका ज्ञान नही होता अथवा किसी वस्तुका नाम "वस्त्र" पड जानेके कारण मूढों-को उसके तन्तुओका ज्ञान नही होता, जिस ज्ञानके कारण भूत मात्र भिन्न भिन्न दिखाई देने लगते हैं और एकतावाली बुद्धि नष्ट हो जाती है और तब जिस प्रकार ईंधनके कारण अग्नि पर, फूलोंके कारण सुगन्ध पर अथवा तरंगोके कारण पूर्ण चन्द्रमा पर भेद-भावका आरोप किया जाता है, ठीक उसी प्रकार जो ज्ञान तरह तरहके पदार्थोका भेद करके उनके रूपों और आकारोके अनुसार उनके छोटे-बड़े अनेक वर्गीकरण करता है, वह ज्ञान राजस होता है। चाडालके घरसे बचनेके लिए ही इस बातका पता लगाना पडता है कि वह कहाँ और कैसा है। ठीक इसी प्रकार तामस ज्ञानके लक्षणोंका जानना भी आवश्यक होता है। इसलिए अब मैं तुमको वे लक्षण भी बतलाता हूँ। तुम उन्हे अच्छी तरह समझ लो।

गड्ढेमें सूर्यकी किरणोंकी सहायतासे ही मार्ग दिखाई देता है। यदि ठीक तरहसे पथ्य और औषध प्राप्त हो तो रोगसे अधमरा होनेवाला रोगी भी अच्छा हो जाता है अथवा जब मछलीको जलका आधार मिल जाता है, तब उसके प्राणोके लिए कोई भय नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार इन नित्य कर्मोंका आचरण करनेसे मोक्ष ही प्राप्त होता है। जो बुद्धि इस सम्बन्धमे बिलकुल निर्दोष होती है कि इस प्रकारके कर्त्तव्य कर्म कौन-से हैं और जो बुद्धि यह बात भी बिलकुल ठीक तरहसे जानती है कि न करने के योग्य कर्म कौनसे है, वही बुद्धि सात्विक है। संसारका भय उत्पन्न करनेवाले जो काम्य आदि कर्म हैं और जिस पर निषिद्धताकी मोहरें लगी हुई हैं, उन निषिद्ध, अकरणीय और जन्ममरणके भयसे भरे हुए कर्मोंसे जो बुद्धि प्रवृत्तिको पिछले पैरों दूर हटाती है, वही सात्विक बुद्धि है। आगमे प्रवेश नही किया जाता, अथाह दहमें कूदा नही जाता और जो लोहा तपकर लाल हो जाता है, वह हाथसे पकड़ा नही जाता; अथवा फुफकारने वाले काल-सर्पको देखकर उसे हाथ नही लगाया जाता और बाघकी माँदमे पैर नही रखा जाता। ठीक इसी प्रकार अकरणीय कर्मोको अपने सामने देखकर जो बुद्धि निस्सन्देह रूपसे बहुत अधिक भयभीत होती है, जो बुद्धि यह जानती है कि जिस प्रकार विष मिलाकर पकाये हुए अन्नमे मृत्यु रखी ही रहती है, उसी प्रकार निषिद्ध कर्म करनेसे मनुष्यको बन्धनमे अवश्य पड़ना पडता है और फिर बन्धनके भयसे भरे हुए उन निषिद्ध कर्मोंके सम्बन्धमे जो बुद्धि कर्म-निवृत्तिका प्रयोग करती है और जिस प्रकार खरे और खोटेकी परख की जाती है, उसी प्रकार कार्य और अकार्यके विचारसे जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिकी ठीक तरहसे परख करती है और साथ ही जिस बुद्धिके द्वारा कृत्य और अकृत्यका निर्णय भी उत्तम प्रकार से होता है, यह बात तुम अपने ध्यानमे रखो कि वही बुद्धि सात्विक है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥

"बगलोके गाँवमे जिस प्रकार दूध और पानीका मिश्रण ही किया जाता है (अर्थात् दोनो अलग अलग नही किये जाते) अथवा जिस प्रकार अन्धेको रात और दिनकी पहचान नही होती अथवा जो भ्रमर फूलोका मकरन्द निकाल सकता है, वह यदि लकडीको काटनेमे प्रवृत्त हो तो भी उसकी भ्रमरता नष्ट नही होती, ठीक उसी प्रकार जो बुद्धि धर्म-रूप उचित कर्मों और अधर्म रूप निषिद्ध कर्मोका विचार न करके व्यवहार करती है, वह बुद्धि राजसी होती है। जो बिना आँखोसे देखे मोती लेता है उसे खरा माल कदाचित् ही कभी मिलता है और उसके हिस्सेमे चोखे माल का न मिलना ही आता है। ठीक इसी प्रकार यदि दैवयोगसे निषिद्धकर्म न प्राप्त हों, तभी जो बुद्धि उन निषिद्ध कर्मोसे बचती है और नही तो सामान्यतः जो बुद्धि करने योग्य और न करने योग्य सभी प्रकारके कर्मोको एक-सा समझती और समान रूपसे करती चलती है, वह बुद्धि राजसी होती है। जिस प्रकार पात्र और अपात्र विचार न करके एक सिरेसे सारे जन-समाजको निमन्त्रण दे दिया जाता है, उसी प्रकार ऐसी बुद्धि भी शुद्ध और अशुद्धका विचार नही करती और सभी प्रकारके कर्मोको स्वीकार करती है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

"हे अर्जुन, जो ज्ञान शास्त्र-विधियोंका वस्त्र नहीं पहनता (अर्थात् जो ज्ञान शास्त्र-विधियोंको कोई चीज नही समझता) और इसी लिए जिसके नंगे होनेके कारण जिसकी ओर सदाचारकी माता श्रुति कभी भूलकर भी नहीं देखती और शास्त्रके बहिष्कारके कारण जिस ज्ञानको निन्दाकी भी चिन्ता नही होती और इसी लिए जिसे दूसरोने भी (अर्थात् स्मृति आदिने भी) म्लेच्छ धर्मके पर्वतकी ओर हाँक दिया है और हे अर्जुन, जो ज्ञान इस प्रकार तमोगुण-रूपी पिशाचसे आविष्ट होनेके कारण पागलोंकी तरह इधर-उधर भटकता रहता है, जो ज्ञान शरीर सम्बन्धी किसी प्रकारकी बाधा नही मानता, जो किसी पदार्थको निषिद्ध नही समझता, जो ज्ञान उजड़े हुए गाँवमे छोड़े हुए उस कुत्तेके समान होता है, जो केवल उसी पदार्थको छोड़ता है जो उसके मुँहमें नही समा सकता अथवा जिसके खाते ही मुँह जलने लगता है और जो बाकी सभी कुछ खा जाता है, जो ज्ञान उस चूहेकी तरह होता है जो सोनेकी चीज खीचकर अपने बिलमे ले जाते समय यह नही देखता कि उसका सोना खरा है या खोटा अथवा जो ज्ञान उस मांसाहारी मनुष्यकी तरह होता है जो मांस खानेके समय उसके काले और गोरे होनेका विचार नही करता अथवा जो ज्ञान जंगलमें लगनेवाली आगकी तरह यह नही देखता कि यह कौन है और वह कौन है अथवा जो ज्ञान उस मक्खीकी तरह होता है, जो किसी शरीर पर बैठते समय यह नही देखती कि यह मृत है अथवा जीवित है अथवा जो ज्ञान उस कौवेके ज्ञानकी तरह होता है जो इस बातका कुछ भी विचार नही करता कि यह अन्न किसीका वमन किया हुआ है अथवा परोसा हुआ है, ताजा है या सड़ा हुआ है, तात्पर्य यह कि जो ज्ञान इस बातका कुछ भी विचार नही करता कि अमुक वस्तु या बात निषिद्ध है और उसे छोड़ देना चाहिए तथा अमुक वस्तु या बात उचित और विहित है और उसका स्वीकार या पालन करना चाहिए, जो उन सभी पदार्थोको अपने उपभोगका विषय बना लेता है जो उसके सामने आते हैं और जो ज्ञान प्राप्त होनेवाली प्रत्येक स्त्रीको शिश्नके सुपुर्द कर देता है और प्रत्येक द्रव्यको उदरके सुपुर्द कर देता है, जो ज्ञान पानी देखने पर इस बातका कुछ भी विचार नही करता कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध है और जो केवल यही समझकर उसे तुरन्त पी जाता है कि इससे मेरी तृषा तो शान्त होगी और जो खाने-पीनेके सम्बन्धमे भी अपना यही सिद्धान्त रखता है और खाद्य-अखाद्य तथा निन्द्य-अनिन्द्य आदिका कुछ भी विचार नही करता और यही समझता है कि जो कुछ खानेमें मीठा लगता है, वही पवित्र है, स्त्री जातिके सम्बन्धमें भी जो केवल अपनी स्पर्शेन्द्रियको ही प्रधान निर्णायक समझता है और उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करना ही अपना मुख्य सिद्धान्त रखता है और केवल उसीको अपना सगा-सम्बन्धी समझता है जिससे उसका कोई स्वार्थ सिद्ध होता है और रिश्ते नातेके लिए शारीरिक सम्बन्धको कुछ भी महत्व नहीं देता, तात्पर्य यह कि इस प्रकारका विचार जिस ज्ञानके कारण होता है;

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥

"और जिस प्रकार राजमार्ग चोरोके लिए हितकर नही होता और वे जब चलते हैं, तब प्रायः राजमार्गसे बचकर चलते हैं अथवा लोगोके लिए जो दिन होता है, वही राक्षसोंके लिए रात होती है अथवा जिस प्रकार किसी अभागेको गड़ा हुआ खजाना कोयलोंका ढेर ही जान पड़ता है अथवा सच्चा आत्म-स्वरूप जिस प्रकार जीवको नहीके समान जान पड़ता है, उसी प्रकार समस्त धर्म-कृत्य जिस बुद्धिको पातक ही जान पड़ते है, जो बुद्धि खरेको खोटा समझती है, समस्त अर्थोको अनर्थोका रूप देती है और अच्छे गुणोको दोष मानती है, यहाँ तक कि जो जो बातें वेदोमे उचित और ठीक बतलाई गई हैं, उन्हीं सबको जो बुद्धि बुरा (अर्थात् निषिद्ध और न करनेके योग्य) समझती है, उस बुद्धि को, हे अर्जुन, बिना किसीसे पूछे ही और निस्सन्देह रूपसे तामसी कहना चाहिए। भला काली रातके समान ऐसी बुद्धि धर्म-कार्यके लिए कैसे योग्य कही जा सकती है ? आत्म-बोध रूपी कुमुदको विकसित करनेवाले चन्द्रमा भाई अर्जुन, इस प्रकार बुद्धिके तीनो भेद मैंने तुम्हे स्पष्ट करके बतला दिये हैं। अब इसी बुद्धिके आधार पर निश्चय करके जो धृति सब कर्मोमें सहायक होती है, उस धृतिके भी तीन प्रकार उनके लक्षणो सहित अब मैं तुमको बतलाता हूँ। तुम अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३३॥

"जब सूर्य निकलता है, तब चोरोंके साथ ही साथ अन्धकार भी चला जाता है, अथवा जिस प्रकार राजाकी आज्ञासे सब प्रकार के अनुचित-व्यवहार बन्द हो जाते है अथवा जब हवाके झोके जोरोसे चलने लगते हैं, तब आकाशमे बादल नही रह जाते और उनकी गड़गड़ाहट भी बन्द हो जाती है अथवा अगस्त ऋषिके दर्शन होते ही जिस प्रकार समुद्र भयभीत होकर चुप हो जाता है अथवा चन्द्रमाके निकलते ही जिस प्रकार कमल बन्द हो जाते हैं अथवा जब कोई मदोन्मत्त हाथी आगे बढ़ानेके लिए एक पैर उठाता है और उस समय यदि स्वयं सिंह भी गरजता हुआ उसके सामने आ जाय तो जिस प्रकार वह हाथी अपना पैर उसी तरह ऊपर उठाये रहता है और नीचे जमीन पर नही रखता, उसी प्रकार जब मनुष्यमे धैर्य (धृति) का संचार होता है, तब मन आदिके समस्त व्यवहार जिस अवस्थामें होते है, उसी अवस्थामे बिलकुल बन्द हो जाते हैं। हे अर्जुन, उस समय इन्द्रियो और उसके विषयोका सम्बन्ध आपसे आप टूट जाता है और दसो इन्द्रियाँ मन-रूपी माताके पेटमें घुस जाती है। वायुका ऊपरका भी और नीचेका भी दोनो ही मार्ग रोककर और नौ वायुओकी एकमे गठरी बाँधकर प्राणवायु मध्यमा (अर्थात् सुषुम्ना) में चली जाती है। बुद्धि उस समय मन परसे संकल्प-विकल्पके वस्त्र हटाकर और इस प्रकार उसे नंगा करके पीछेकी ओर बिलकुल चुप होकर बैठ जाती है। इस प्रकार जिस श्रेष्ठ धैर्यके आगे मन, प्राण और इन्द्रियोको अपने सब व्यापार छोड़ देने पड़ते हैं, और तब वे सब निर्लेप स्थितिमें उसी प्रकार योगकी

युक्तिसे ध्यानके मठ (अर्थात् हृदय-कोश) में बन्द हो जाते हैं। और फिर जब तक उनका सम्राट् परमात्मा उन्हे बन्धनसे मुक्त नही करता, तब तक जो धैर्य बिना किसी प्रकारके लोभके फेरमें पडे उन सबको वही रोके रहता है, निश्चित रूपसे समझ रखना चाहिए कि वही धैर्य, वही धृति सात्विक है।" यही बात लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण ने उस समय अर्जुनसे कही थी।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण फिर कहने लगे— 'जो जीव शरीर धारण करके स्वर्गमें भी और इस ससारमे भी धर्म, अर्थ और कामके त्रिवर्ग यथा-स्थित प्राप्त करके वैभव-पूर्वक रहता है, वह जीव जिस धैर्यके बल पर संकल्पो और विकल्पोके सागरमे धर्म, अर्थ और कामके जहाज भरकर कर्मोका व्यापार करता है और कर्मको ही पूँजी मान कर वह जीव जिस धैर्यकी सहायतासे उस पूँजीको चौगुना बढानेके लिए कठोर परि-श्रम करता है हे अर्जुन, वह धैर्य, वह धृति राजस होती है। अब जो तीसरी तामस धृति है, उसके भी लक्षण सुनो।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

"कोयला जिस प्रकार घोर कालिखका बना हुआ होता है, उसी प्रकार निम्न कोटिके समस्त गुणोसे जिसका स्वरूप बना हुआ होता है, यदि उस निकृष्ट और नीच तमको भी यदि गुण कहा जाय तो फिर राक्षसको भी साधु पुरुष क्यो न कहा जाय? परन्तु ग्रहोमे जो केवल जलता हुआ अंगारा है, उसे भी जिस प्रकार लोग मंगल कहते है, उसी प्रकार तमको भी गुणका ठाठदार नाम मिल जाता है। जिस तममे समस्त दोष भरे हुए हैं, उस तमकी कमाईसे जिस पुरुषकी मूर्त्ति बनी हुई होती है, वह पुरुष आलस्यको सदा अपने बगलमे ही दबाये फिरता है, और जिस प्रकार पापोका पोषण करनेसे दु ख मनुष्यको कभी छोड़कर नही जाते, उसी प्रकार उस आलसीको निद्रा भी कभी नही छोडती। जिस प्रकार पत्थरकी शिलाकी कठोरता कभी नहीं छूटती, उसी प्रकार शरीर रूपी धन पर प्रेम होनेके कारण भय भी उसे कभी नहीं छोडता। और जिस प्रकार कृतघ्नताके पल्लेमे पाप सदा बँधे ही रहते हैं, उसी प्रकार पदार्थ मात्र पर अनुराग होनेके कारण शोकका भी उसमे निरन्तर निवास रहता है। वह असन्तोषको रात-दिन अपने हृदयसे लगाये रखता है और इसीलिए वह विषादके साथ भी मित्रता सम्पादित कर लेता है। जिस प्रकार लहसुनको दुर्गन्ध अथवा अपथ्य करनेवालेको व्याधि कभी छोडकर नही जाती, उसी प्रकार विषाद भी उसे अन्त समय तक कभी नही छोड़ता। वह तारुण्य, द्रव्य और वासनाके प्रति उत्साह और मोह सदा बढाता ही रहता है और इसलिए मद उसे अपने रहनेका घर ही बना लेता है। जिस प्रकार उष्णता कभी अग्निका परित्याग नही करती, अथवा अच्छी जातिका साँप बिना अपना बदला चुकाये नहीं मानता, अथवा जिस प्रकारका संसारका वैरी भय कभी नष्ट नही होता अथवा जिस

गुणोकी बटी हुई अहंकार रूपी डोरीसे उसे नचाता है, जिसने यह सारा विश्व अपने प्रकाशसे दीपककी ज्योतिकी भाँति अन्दर और बाहर व्याप्त कर रखा है, यदि उस सर्वान्तर्यामी ईश्वरकी विहित कर्माचरणके फूलोसे पूजा की जाय तो उसे अपरम्पार सन्तोष होता है। जब इस प्रकारकी पूजासे वह परमात्मा सन्तुष्ट हो जाता है, तब वह उस विहित आचरण करनेवाले भक्तको वैराग्य लाभका प्रसाद देता है। फिर जब उस वैराग्यकी अवस्थामें मनमें केवल उस एक ईश्वरका ध्यान लग जाता है, तब जीवको यह सारा विश्व वमन किए हुए पदार्थकी भाँति घृणित जान पडता है। पतिसे वियुक्त होनेवाली स्त्रीके लिए जिस प्रकार पतिकी चिन्ताके कारण जीवन ही निरर्थक हो जाता है, उसी प्रकार उस भक्तको भी सुखके सब विषय दुःख ही दुःख जान पड़ते हैं। इस परोक्ष ज्ञानका इतना अधिक महत्व है कि ईश्वरका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेके पहले ही केवल उसके ध्यानसे जीवमे तन्मयता आ जाती है। इसी लिए जो मनुष्य मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा और प्रयत्न करता हो, उसके लिए उचित है कि वह स्वधर्मका आचरण खूब अच्छी तरह करे।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥४७॥

"हे अर्जुन, यदि अपना धर्म आचरण करनेमे कठिन भी हो, तो भी इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि उसके परिणाम-स्वरूप हमे कैसा अच्छा फल प्राप्त होगा। हे पार्थ, यदि अपने शरीरको नीरोग करनेके लिए केवल कडुई नीम ही औषध हो तो उसके कडुएपनसे घबरानेसे कैसे काम चलेगा? यदि केलेके वृक्षको फलनेसे पहले देखा जाय और उस समय फल न दिखाई दें, तब यदि निराश होकर वह वृक्ष ही काट डाला जाय तो इस कृत्यसे भला कौन-सा अच्छा फल प्राप्त हो सकता है? ठीक इसी प्रकार यदि हम स्वधर्मका केवल इसलिए त्याग और तिरस्कार कर दें कि उसका आचरण करना बहुत ही कठिन होता है, तो फिर क्या हम सभी मोक्षका सुख प्राप्त कर सकेंगे? यदि हमारी माता कुछ कुबडी हो तो भी उसके जिस प्रेमसे हम जीवित रहते हैं, वह प्रेम कभी कुबडा नही होता। दूसरी स्त्रियाँ चाहे रम्भासे भी बढकर लावण्यवती क्यो न हो, तो भी—मातृ-प्रेमके अभावमे—बालकके लिए वे किस काम-की? जलकी अपेक्षा घीमें बहुत अधिक गुण अवश्य होते है। लेकिन फिर भी क्या मछलियाँ कभी घीमे रह सकती हैं? जो पदार्थ सारे संसारके लिए विष होता है, वही पदार्थ उन कीडोके लिए अमृत होता है जो उस पदार्थमे उत्पन्न होकर बढ़ते हैं। और सारे संसारको मीठा लगनेवाला गुड विषके उन कीडोके लिए प्राण-घातक होता है। इसीलिए जिसके जो विहित कर्म हैं और जिनका आचरण करनेसे संसारका बन्धन छूटता है, वे कर्म यद्यपि करनेमे कठिन भी हो तो भी उन कर्मोका अवश्य आचरण करना चाहिये। यदि दूसरोके आचरण अच्छे जान पडें और इसी लिए हम भी वही आचरण करने लगे तो ऐसा करना उसी प्रकार अनिष्टकारक है, जिस प्रकार पैरोके बदले कोई सिरसे चलनेका प्रयत्न करने लगे। इसी लिए हमारे जन्म और स्वभावके अनुसार जो कर्म अपने हिस्सेमे पड़े हो, उन्ही कर्मोका जो मनुष्य आचरण

प्रकार काल किसी समय शरीरको नही छोड़ता, उसी प्रकार तामस जीवमें मद भी अपने लिए अटल पद प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार ये निद्रा आदि पाँच दोष जिसे धैर्यसे तामस जीवमे अपना अड्डा जमाकर रहते हैं, उसी धैर्य, उसी धृतिको तामस समझना चाहिए।" यही बात जगदीश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुनसे कही थी। इसके उपरान्त उन्होने फिर कहना आरम्भ किया- "सूर्यकी सहायतासे ही मार्ग दिखाई देता है और पैर उस मार्गमे चलते हैं। परन्तु फिर भी चलनेका काम चलनेवाले के धैर्यसे ही होता है। इसी प्रकार बुद्धिकी सहायतासे कर्म दिखाई देते है और इन्द्रियाँ आदि साधन-समूह वे कर्म करते है, परन्तु फिर भी उन कर्मोके होनेके लिए जिस धैर्य और जिस धृतिकी आवश्यकता होती है, उसके तीन प्रकार मैंने तुमको बतला दिये है, जब इस प्रकार त्रिविध कर्मोकी उत्पत्ति होती है, तब उन कर्मोमे जो सुख नामका फल लगता है, वह भी तीन प्रकारका होता है; और इसका कारण यही है कि वे सब फल केवल कर्मोके अनुसार ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए मैं अब तुम्हें निर्दोष शब्दोमें यह बतलाता हूँ कि ये सुख-रूपी फल किस तरह तीन भिन्न-भिन्न प्रकारके होते है। परन्तु शब्दोके चोखेपनकी ही योजना क्यों की जाय? क्योकि यदि यह बात शब्दोके द्वारा समझी और समझाई जाय तो शब्दोके कानोके हाथोकी मैल लग ही जाती है। इसलिए खूब ध्यानपूर्वक उस अन्तरंग की सहायतासे ये बाते सुनो, जिस अन्तरंगका निरोध करनेसे सुननेवाले कान भी बहरे हो जाते हैं।" यह कहकर भगवान श्रीकृष्णने त्रिविध सुखोका विषय आरम्भ किया। अब मैं उसी विवेचनका यहाँ निरूपण करता हूँ!

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

श्रीकृष्ण कहते है—मैंने तुम्हे वचन दिया है कि मैं तुम्हें त्रिविध सुखके लक्षण बतलाऊँगा। सो अब मैं वही वचन पूरा करता हूँ। भाई सुविज्ञ अर्जुन, तुम सुनो। आत्माकी भेट होने पर जीवको जो सुख होता है, हे अर्जुन, अब मैं उसी सुखका स्वरूप तुम्हारे सामने रखता हूँ। परन्तु जिस प्रकार दिव्य औषध भी केवल मात्राके अनुसार ली जाती है अथवा जिस प्रकार रसायनकी क्रियासे राँगेसे चाँदी बन जाती हैं अथवा जिस प्रकार नमकको पानी बनानेके लिए उस पर दो चार बार पानी छिड़कना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार इस प्रकरणमे उसीको आत्म-सुख समझना चाहिए, जिसमे जीवोका दुःख उस अवस्थामे नष्ट हो जाता है, जिस अवस्थामें वह सुखकी होनेवाली थोडी-थोडी अनुभूतिके साथ-साथ अपना तत्सम्बन्धी अभ्यास भी बढ़ाता चलता है। परन्तु वह भी तीनो गुणोसे सिद्ध हुआ है। अब मैं उसके भी अलग अलग प्रकारके लक्षण बतलाता हूँ, सुनो।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

"जिस प्रकार सर्पोके लिपटे रहनेके कारण चन्दनके वृक्षका तना अथवा पिशाचोंके पहरेके कारण गुप्त भाडारका मुख भयंकर हो जाता है, उसी प्रकार स्वर्ग-सुख यद्यपि

करता है, उसके सम्बन्धमें यह समझ लेना चाहिए कि उसने कर्मोंका बन्धकत्व नष्ट कर डाला। और हे अर्जुन, क्या इसी लिए यह आवश्यक नही है कि हमें अपने धर्मका पालन करना चाहिए और दूसरोके धर्मका त्याग करना चाहिए? तुम्ही सोचो कि जब तक आत्म-दर्शन न हो, तब तक कर्मोंका आचरण क्या कभी बन्द हो सकता है? और चाहे कोई कर्म क्यो न किया जाय, परन्तु उसे करनेका कष्ट सबसे पहले रखा ही रहता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

"यदि सभी कर्मोंके आचरणमे परिश्रम करना ही पड़ता है, तो फिर यदि स्वधर्मके आचरणमें भी परिश्रम और कष्ट होता हो तो इसके लिए स्वधर्मको दोष क्यों दिया जाय? यदि सरल मार्गसे आदमी चले तो भी पैरोंको कष्ट होता है; और यदि बीहड़ जंगलोमेसे होकर चले, तो भी कष्ट होता है। चाहे कंकड़-पत्थरोकी गठरी बाँधकर उठाओ और चाहे खाने-पीनेके सामानकी गठरी उठाओ, बोझ तो दोनोंका ही होता है। परन्तु जो बोझ ढोनेसे प्रवासमे श्रम और शिथिलता दूर करनेमे सहायक मिले, वही बोझ अपने साथ ढोकर ले चलना ठीक होता है। और नही तो चाहे अनाज हो और चाहे भूसा हो, दोनोको ही कूटनेमे समान परिश्रम करना पडता है। चाहे कुत्तेका मास पकाया जाय और चाहे यज्ञ के लिए हविष्य अन्न पकाया जाय, दोनोमें पकानेकी क्रिया एक ही होती है। भाई सुविज्ञ अर्जुन, पानी मथना और दही मथना दोनो एक ही क्रिया हैं। ठीक इसी प्रकार घानीमें चाहे बालू डालकर पेरा जाय और चाहे तिल डालकर पेरा जाय, ये दोनों क्रियाएँ समान ही है। हे पार्थ चाहे वैश्यदेवके लिए अग्नि प्रज्वलित की जाय और चाहे घरमे आग लगानेके लिए, परन्तु धूएँका कष्ट दोनो ही क्रियाओंमे समान रूपसे होता है। यदि धर्मपत्नीका प्रतिपालन करनेमें भी और किसी दुराचारिणी वेश्याका प्रतिपालन करनेमे भी धनका समान ही व्यय होना हो तो फिर वेश्याको अपने पास रखकर बलपूर्वक अपने ऊपर कलंक क्यो लिया जाय? यदि शत्रुके सामने डटकर खडे रहने और घाव खानेमे और कौन-सी विशेष हानि हो सकती है? यदि कोई अच्छे कुलकी स्त्री दूसरेके घरमें जाकर आश्रय ले और वहाँ भी उसे डंडोंकी ही मार सहनी पड़े, तो फिर यदि घरमें स्वयं उसका पति मारता हो, तो केवल इस कारणसे पतिको छोडकर घरसे बाहर जानेमें उसे कौन-सा लाभ हो सकता है? ठीक इसी प्रकार यदि अपना परम प्रिय कार्य भी बिना कष्ट किये सिद्ध नही होता, तो फिर हम किस मुँहसे यह रोना रो सकते है कि विहित कर्म करना बहुत कठिन है? हे अर्जुन, जिस समय अमृतके द्वारा हमारा जीवन अक्षय होता है, यदि उसका थोडा-सा अंश प्राप्त करनेके लिए भी हमे अपना सर्वस्व बेच डालना पडे, तो भी उसमे क्या बुराई है? जो विष पीकर हम अपनी हत्या कर सकते हैं और व्यर्थ ही अपने प्राण गँवा सकते हैं, वही विष हम स्वयं दाम देकर क्यो खरीदे और क्यों पीएँ? ठीक इसी प्रकार इन्द्रियोको कष्ट देकर और आयुष्यके दिन व्यर्थ गँवाकर हम पापोका जो संग्रह करते है, उसमे दु:खके सिवा और

बहुत मधुर होता है, तो भी मध्यमे जिस प्रकार यज्ञ-याग आदि विधानोंका उपक्रम करना पडता है अथवा तरह तरहके कष्ट पहुँचानेके कारण बालकोंकी बाल्यावस्था पीडक होती है अथवा जिस प्रकार दीपक जलानेवालेको पहले धूएँका कष्ट* सहना पडता है अथवा खानेके समय जिस प्रकार पहले-पहल औषध कडवी जान पड़ती है; उसी प्रकार, हे अर्जुन, उस सुखके प्रवेश-द्वार पर ही यम-दम आदिके संकट सहने पडते है। समस्त दृश्य वस्तुओके प्रति मनुष्यमें जो प्रेम होता है, उस प्रेमका नाश करनेवाली ऐसी विरक्ति उत्पन्न होती है, जो स्वर्ग और संसारके समस्त बन्धनोको जडसे उखाडकर फेक देती है। तीक्ष्ण विवेकके श्रवण और कठोर व्रतोके आचरणसे बुद्धि आदिसे धुएँ उड़ जाते है। प्राण और अपान वायुकी लहरोको सुषम्ना नाडीका मुख निगल जाता है। परन्तु ये सब कष्ट केवल आरम्भमे ही होते है। यदि चक्रवाक पक्षियोके जोड़ेको एक दूसरेसे अलग कर दिया जाय अथवा बछडेको गौके सामनेसे हटा लिया जाय अथवा किसी भिखारीको अन्नकी थालीके सामनेसे उठा दिया जाय अथवा यदि माताका एकलौता बच्चा कालके द्वारा उससे छुडा लिया जाय अथवा मछलीको जलसे बाहर निकाल दिया जाय तो उस समय उनको जो चरम सीमाका दु ख होता है, हे अर्जुन, ठीक उसी प्रकारका दु ख इन्द्रियोंको विषयोका घर छोड़ते समय होता है। परन्तु वह दु ख भी पूर्ण विरक्तिसे सहन करना पडता है। इस प्रकार जिस सुखके आरम्भमें तो बहुत बडे-बडे संकट सहने पडते हैं, परन्तु अन्तमे जिसके द्वारा उसी प्रकार मोक्ष-रूपी अमृतकी प्राप्ति होती है, जिस प्रकार क्षीर सागरको मथनेके समय उसमेसे अमृतकी प्राप्ति हुई थी। पहले ही हल्लेमें उत्पन्न होनेवाले इस वैराग्य रूपी हलाहलको यदि धैर्य-रूपी शंकर निगल जाय, तो फिर जिस सुखमे ज्ञान रूपी अमृतकी प्राप्तिका उत्सव मनानेकी सन्धि मिलती है, वही सात्विक सुख होता है। दाख जिस समय कच्ची और हरी रहती है, उस समय उसकी खटास जीभको कैसी बुरी मालूम होती है! परन्तु वही दाख जब अच्छी तरह पक जाती है, तब उसमे कितना अधिक माधुर्य आ जाता है! इसी प्रकार जब ये वैराग्य आदि भाव आत्म-ज्ञानके प्रकाशसे पूर्णताको प्राप्त होते है, तब इन्ही वैराग्य आदिके साथ समस्त माया-जनित नाम-रूपात्मक द्वैत भी नष्ट हो जाता है। उस समय बुद्धि भी उसी प्रकार आत्माके साथ मिलकर एक-रस हो जाती है, जिस प्रकार समुद्रके साथ मिलने पर गंगा हो जाती है और तब अद्वैतके आनन्दकी खान आपसे आपसे आप खुल जाती है। इस प्रकारके जिस सुखका मूल वैराग्यमे है, परन्तु जिसका अन्त आत्मानुभवके आनंदमे होता है, उसी सुखको सात्विक कहते है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥३८॥

"और हे अर्जुन, विषयो तथा इन्द्रियोका संयोग होते ही जिस सुखकी धारा अपने

---

* पहले जब दिया-सलाइयाँ नही थी, तब आग सुलगाकर दीपक जलाया जाता था; और आग सुलगाते समय धूआँ आँखोंको लगता ही है।

क्या रखा है ? इसी लिए स्वधर्मका आचरण करना चाहिए । वह हमारा सारा श्रम दूर कर देता है और सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ जो मोक्ष है, उसकी हमे प्राप्ति करा देता है । इसी लिए हे अर्जुन, जिस प्रकार सकटके समय सिद्ध मन्त्र नही भूलना चाहिए, उसी प्रकार स्वधर्मके आचरणसे भी हमे कभी घबराना नही चाहिए । जिस प्रकार समुद्रके नौकाका परित्याग नहीं करना चाहिए अथवा जिस प्रकार कोई महारोग होने पर दिव्य औषध नही छोडनी चाहिए । उसी प्रकार इस लोकमे वुद्धिसे स्वकर्मका कभी परित्याग नही करना चाहिए । हे अर्जुन, इस स्वधर्माचरण रूपी आराधनासे जब परमेश्वर सन्तुष्ट हो जाता है, तब वह उस भक्तमेसे रजोगुण और तमोगुण निकालकर विलकुल अलग कर देता है और उसे सत्व गुणके मार्ग पर लगाता है और उसके मनमे ऐसा वैराग्य उत्पन्न करता है, जिसमे आत्म-साधनकी उत्कठाके कारण उसे ऐहिक और पारलौकिक सुख विपयके समान जान पडते हैं । जिस वैराग्यके स्पष्ट लक्षण ऊपर (स्वे स्वे कर्मण्यभिरत. संसिद्धि लभते नर:; श्लोक ४५) स्पष्ट शब्दोमे वतलाये गये है, उसी वैराग्यका पद उस पुरुषको प्राप्त होता है । अव मैं तुमको यह वतलाता हूँ कि इस स्थान पर आरूढ होने पर वह पुरुष सव अवसरो पर किस प्रकार आचरण करता है और इस प्रकारके आचरणसे उसे क्या लाभ होता है ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धि परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

"जिस प्रकार जालमे हवा नही वँध सकती, उसी प्रकार वह पुरुप भी इस देह आदिमे किसी तरह नही वँध सकता है । जव फलोके पकनेका समय आता है, तव न तो फल ही डालमे लगा रह सकता है और न डाल ही उस फलको पकडे रह सकती है । ठीक इसी प्रकार इस परिपूर्ण अवस्थामे उस पुरुषका ससार विषयक प्रेम विलकुल ढीला पड़ जाता और निर्वल हो जाता है । जिस प्रकार कोई यह नही कहता कि यह विषका पात्र मेरा ही है और मैं ही इसे पीऊँगा, उसी प्रकार पुत्र, धन सम्पत्ति और स्त्री आदि उसके मनसे उतर जाते हैं और वह कभी इस प्रकारका आग्रह नही करता कि ये सव मेरे है । तात्पर्य यह कि उसके मनमे विषय-मात्रके प्रति घृणा हो जाती है और उसकी वुद्धि सभी विषयोसे पीछे हटने और दूर रहने लगती है और हृदयके एकान्त स्थलमे प्रवेश करती है । अव यदि ऐसे पुरुषका मन वाहर भी घूमता है, तो भी उसकी वैराग्ययुक्त बुद्धि एक-निष्ठ दासीकी तरह उससे विलकुल डरकर सब काम करती है और उसकी आज्ञाका कभी उल्लंघन नही करती । इसके सिवा, हे अर्जुन, वह मनको ऐक्य-भावनाकी मुट्ठीमे वन्द करके उसे आत्माके अनुसन्धानमें प्रवृत्त करता है । उस समय ऐहिक और पारलौकिक विषयोसे सम्बन्ध रखनेवाली उसकी वासना उसी प्रकार दबकर मर जाती है, जिस प्रकार धूल या मिट्टीसे दबी हुई आग मर जाती है । उस समय मनका नियमन करनेके कारण इस प्रकार उसकी सारी वासनाएँ आपसे आप नष्ट हो जाती है । वह पुरुष इस प्रकारके लक्षणोवाली अवस्थाको प्राप्त हो जाता है । हे अर्जुन, वह पुरुष मायाजन्य ज्ञानाभासको छोड़कर और उसका अन्त करके सच्चे ज्ञानके क्षेत्रमे आकर स्थित हो जाता है । जिस प्रकार

दोनों तटोंको डुबाकर चारों ओर बहने लगती है, वह राजसी होता है। किसी बडे अधिकारीके अपने नगरमें आने पर लोग जिस प्रकारका उत्सव और समारम्भ करते हैं अथवा ऋण लेकर जिस प्रकार बहुत आनन्दपूर्वक और ठाठ-वाटसे विवाह किया जाता है अथवा रोगी मनुष्यको जिस प्रकार चीनी और केला वर्जित होने पर भी बहुत अच्छा लगता है अथवा बछनाग जिस प्रकार विष होने पर भी पहले पहल खानेमें मीठा जान पडता है अथवा जिस प्रकार आरम्भमें ठगोंकी मित्रता या बाजारमें बैठनेवाली वेश्याका व्यवहार अथवा वहुरूपियेका विनोद अच्छा लगता है, परन्तु अन्तमें जिस प्रकार ये सभी बातें घातक सिद्ध होती है, ठीक उसी प्रकार विषयो और इन्द्रियोके संयोगके द्वारा जो सुख पहले तो जीवको पुष्ट तथा प्रसन्न करता है, परन्तु बादमे जो जीवके सुखकी सारी सम्पत्ति उसी प्रकार हरण कर लेता हैं, जिस प्रकार पाला हुआ हंस चट्टान पर पटका जाने पर अपने प्राण गँवा वैठता है और जिस सुखके कारण अन्तमें मनुष्यके प्राणोका भी नाश होता है और उसके पासकी पुण्यकी पूँजी भी समाप्त हो जाती है और तब वे सब सुख स्वप्नके समान नष्ट हो जाते है, जिन्हे वह पहलेसे भोगता आता था और तब उसे अपना सर्वस्व गँवाकर केवल कष्ट ही भोगने पडते हैं, तात्पर्य यह कि इस प्रकारका जो सुख अन्तमे इस लोकमे भी मनुष्य पर विपत्ति लाता है और परलोकमे भी जो विषके समान सिद्ध होता है, वह सुख राजसी होता है। और इसका कारण यह है कि जहाँ केवल इन्द्रियोका लालन-पालन करके और धर्मके क्षेत्रका विध्वंस करके केवल विषयोका सुख भोगा जाता है, वहाँ पातक बहुत बलवान् हो जाते है। और फिर वही पातक जीवकी दुर्गति कराते है। इस प्रकार जिस सुखसे परलोकमे इतनी हानि होती है और जो उसी विषके समान होता है, जो माहुर (मधुर) कहलाने पर भी अन्तमे प्राणोका घात करके विष ही सिद्ध होता है और इस प्रकार जो सुख आरम्भमे तो मधुर जान पडता है, परन्तु अन्तमे बहुत ही कटु सिद्ध होता है, हे अर्जुन, उस सुखके सम्बन्धमे निश्चित रूपसे यह समझ लेना चाहिए कि वह रजोगुणका ही बना हुआ है; और इसी लिए उस सुखका कभी अपने साथ स्पर्श भी नही होने देना चाहिए।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

"निषिद्ध पेय वस्तुओका पान करनेसे, निषिद्ध खाद्य पदार्थ, खानेसे और स्वेच्छाचारिणी स्त्रियोकी संगति करनेसे जो सुख प्राप्त होता है अथवा दूसरोकी हत्या करके, दूसरोका धन हरण करके और ओछे आदमियोकी की हुई स्तुति सुनकर जो कुछ प्राप्त होता है, जिस सुखका आलस्यसे पोषण होता है, जो सुख ऊँघने या सोनेमे जान पड़ता है और जिस सुखके आरम्भ तथा अन्तमे जीवको अपने सच्चे मार्गके सम्बन्धमे भ्रम हो जाता है और वह अनुचित मार्गमे लग जाता है, हे भाई अर्जुन, उस सुखको पूर्ण रूपसे तामस समझना चाहिए। परन्तु मै इस विषयका अधिक विस्तार नही करता, क्योंकि इसकी कहानी बिलकुल असभ्य और निन्दनीय है। इस प्रकार मलका

इकट्ठा किया हुआ जल काममें लानेसे समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार उसके प्राचीन कर्म भी देह-भोगके द्वारा नष्ट हो जाते है और नवीन कर्म करनेमें उसका मन किसी प्रकारकी सहायता नही करता। हे वीर श्रेष्ठ अर्जुन, ऐसी अवस्थाको कर्म-साम्य दशा कहते है। फिर इस अवस्थामें उस पुरुषको सद्गुरुके दर्शन बहुत सहजमे हो जाते है। जिस प्रकार रात्रिके चार पहर बीतने पर अन्धकारके शत्रु सूर्यके दर्शन नेत्रोको आपसे आप हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार फलोके घौदके आते ही केलेके वृक्षकी बाढ आपसे आप बन्द हो जाती है, उसी प्रकार इस स्थितिमे मुमुक्षुको सद्गुरुके दर्शन आपसे आप हो जाते हैं। फिर हे वीर श्रेष्ठ, जिस प्रकार पूर्णिमाके आने पर चन्द्रमाकी सारी त्रुटि दूर हो जाती है और वह परिपूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार सद्गुरुकी कृपासे वह पुरुष भी परिपूर्ण हो जाता है। फिर उसमे अज्ञानका जो थोड़ा-बहुत अंश बाकी रह जाता है, वह सद्गुरुकी कृपासे नष्ट हो जाता है। फिर जिस प्रकार सूर्योदय होते ही अन्धकार और उसके साथ ही साथ रात्रि भी पूरी तरहसे निर्मूल हो जाती है अथवा जिस प्रकार किसी गर्भिणी स्त्री-पशुका वध करनेसे उसके गर्भमेका बच्चा भी तत्काल ही मर जाता है, उसी प्रकार अज्ञानके गर्भमें रहनेवाली कर्म, कर्त्ता और कार्यकी त्रिपुटीका भी नाश हो जाता है। इसके उपरान्त अज्ञानका नाश होते ही उसके साथ ही साथ समस्त कर्म-समूह भी नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह संन्यास बिलकुल मूल तक जा पहुँचता है। इस मूलवाले अज्ञानका नाश होनेसे इस नाम-रूपात्मक मायाकी कृतियोंकी आधार ही नष्ट हो जाता है और वह पुरुष स्वयं ही ज्ञेय स्वरूप हो जाता है। जो मनुष्य स्वप्नमें यह देखता है कि मैं किसी दहमें डूब रहा हूँ, क्या वह कभी जाननेके बाद भी अपने आपको डूबनेसे बचाने और उस दहमेसे बाहर निकलनेके लिए कोई प्रयत्न करता है? अब उसके उस दु:स्वप्नका अन्त हो जाता है; जिसमे वह यह सोचता था कि मेरी समझमें कुछ भी नही आता और अब मैं ज्ञान सम्पादन करूँगा। और वह ज्ञाता तथा ज्ञेय वाली भावनाओसे छूटकर केवल ज्ञान-स्वरूप हो जाता है। हे वीर-श्रेष्ठ पार्थ, जब दर्पण आड़में चला जाता है और उसके साथ उसमे दिखाई पड़नेवाला ही बाकी रह जाता है, उसी प्रकार जो अज्ञान नष्ट हो जाता है, उसके साथ ही साथ ज्ञातृत्व भी लुप्त हो जाता है और तब केवल क्रिया-हीन चैतन्य ही अवशिष्ट रह जाता है। हे अर्जुन, इस चैतन्यमे स्वभावत: ही किसी प्रकारकी क्रिया नही हो सकती और इसी लिए इसे "नैष्कर्म्य" कहते है। हमारा जो मूल स्वरूप है, वही उस समय हमे प्राप्त हो जाता है और हमारा अज्ञान-जन्य भेद-भाव या भिन्नता नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार हवाके बन्द हो जाने पर तरंग जलमें लीन होकर समुद्र बन जाती है, उसी प्रकार "न होना" या "भिन्नता नष्ट होना" उत्पन्न होता है, और इसीको नैष्कर्म्यकी सिद्धि समझना चाहिए। समस्त सिद्धियोंमे यही सिद्धि सबसे अधिक महत्वकी और श्रेष्ठ है। मन्दिरके निर्माणमे जिस प्रकार कलेश होता है अथवा नदी जिस प्रकार समुद्रमें प्रवेश करती है अथवा सोनेका चोखापन जिस प्रकार सोलहवाँ कस है, ठीक उसी प्रकार अज्ञान और ज्ञान दोनोके

एक स्वरूप कर्म-फल जो सुख है, वह भी कर्म-भेदके अनुसार त्रिविध हो गया है। और उसका विवेचन मैंने तुम्हारे सामने शास्त्रीय रीतिसे कर दिया है। अब इस विश्वमे छोटी और बड़ी वस्तुओंमे कर्त्ता, कर्म और कर्म-फलकी त्रिपुटीके सिवा और कुछ भी नही है। और हे अर्जुन, जिस प्रकार वस्त्रमे तन्तु बुने होते है, उसी प्रकार इस त्रिपुटीमें तीनो गुण ओत-प्रोत रहते हैं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

"इसी लिए इस मृत्यु लोकमे भी और स्वर्ग-लोकमे भी ऐसी कोई वस्तु नही हैं जो मायाके क्षेत्रमे होने पर भी इन सत्व आदि गुणोसे युक्त न हो। क्या कभी उसके बिना कम्बल, मिट्टीके बिना ढेला और पानीके बिना लहर भी उत्पन्न हो सकती है? ठीक इसी प्रकार प्राणियोंका ऐसा स्वरूप ही नहीं है कि बिना गुणोका कोई अंश हुए सृष्टिकी रचना हो सके। इसलिए तुम यह बात निश्चित रूपसे समझ रखो कि यह सारा विश्व इन तीनो गुणोसे ही बना है। इन्ही गुणोने देवताओमे ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीन वर्ग किये है। इन्होने स्वर्ग, मर्त्य और नरक इन तीनो लोकोका निर्माण किया है और इन्हीने चारो वर्णोंके पीछे भिन्न-भिन्न कर्मोंका बखेड़ा लगा दिया है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

"अब यदि तुम यह पूछो कि ये चारो वर्ण कौन-से हैं, तो मैं तुम्हे बतलाता हूँ, सुनो। इनमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं। इनके उपरान्त जो क्षत्रिय और वैश्य है, उन्हे भी महत्वके विचारसे ब्राह्मणोके समान ही समझना चाहिए, क्योकि उन्हे भी वैदिक धर्म-कृत्योका अधिकार है। हे अर्जुन, चौथा वर्ण शूद्र है। शूद्रोको वेदोका अधिकार नहीं है और इसी लिए इनका जीवन उक्त तीनो वर्णो पर अवलम्बित है, परन्तु इन शूद्रो-की जीवन-वृत्तिका ब्राह्मण आदि त्रैवर्णिकोके साथ बहुत ही निकट सम्बन्ध रहता है और इसी लिए इनका भी वर्ण-विभागमे समावेश हुआ है, जिससे यह चौथा वर्ण हुआ है। जिस प्रकार फूलोके साथ साथ श्रीमान् लोग उस धागेको भी अपने गलेमे धारण करते है, जिसमें वे फूल गूँथे हुए होते है, ठीक उसी प्रकार त्रैवर्णिक द्विजोके साथ शूद्रोका भी व्यवहार-सम्बन्ध होनेके कारण श्रुतियोके लिए वर्ण-संस्थामे शूद्रोका भी समावेश करना आवश्यक हुआ है। हे अर्जुन, चातुर्वर्ण्यकी संस्थाका यही स्वरूप है। अब मै इन सबके विहित कर्मोंका स्पष्टीकरण करता हूँ। इन्ही कर्मोंके गुणोसे ये चारो वर्ण जन्म और मरणके झगडोसे छूटकर आत्म-स्वरूप प्राप्त करते है। प्रकृतिके तीनो गुणोने ये कर्म चारो वर्णोंको चार प्रकारसे बाँट दिये है। जिस प्रकार पिताका एकत्र किया हुआ धन उसके पुत्रोमे बँट जाता है अथवा सूर्यके प्रकाशमें दिखाई पड़नेवाले मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओमे जानेवाले यात्रियोमे बँट जाते हैं अथवा जिस प्रकार कोई धनवान् पुरुष अपने सब काम अपने नौकरोमे बाँट देता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृतिके इन गुणोने भी इन कर्मोंके अलग-अलग विभाग करके चारो वर्णोंमें बाँट दिये हैं।

नष्ट हो जाने पर इस दशाको पहुँचना है। इस दशामें पहुँचनेके उपरान्त फिर कुछ भी निष्पन्न करनेके लिए बाकी नही रह जाता और इसीलिये इसका नाम "परम सिद्धि" है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

"गुरुकी कृपाका उदय होने पर भाग्यवानको इस आत्म-सिद्धिकी प्राप्ति होती है। जिस प्रकार सूर्यके निकलते ही अन्धकार नहीं रह जाता अथवा दीपकके स्पर्शसे कपूर भी दीपक-स्वरूप हो जाता है अथवा जलका स्पर्श होते ही नमकका डला भी जलस्वरूप हो जाता है अथवा सोये हुए मनुष्यको जाग उठने पर निद्रा और स्वप्न दोनोका ही नाश हो जाता है और वह तत्काल होशमें आ जाता है; उसी प्रकार गुरुके वचन सुनते ही सौभाग्यवश जिसकी द्वैत बुद्धिका नाश हो जाता है और जिसे ऐक्य रूप आत्म-प्रतीतिमे विश्राम प्राप्त होता है, उसके संबन्धमे क्या कभी कोई यह कह सकता हैं कि उस पुरुषके लिये अभी और भी कुछ कर्त्तव्य बाकी रह गया है? क्या आकाश भी कभी उत्पन्न हो सकता है अथवा नष्ट हो सकता है? इसी लिए यह बात भी निस्सन्देह ही है कि ऐसे पुरुषके लिए कुछ भी कर्त्तव्य बाकी नही रह जाता। परन्तु यह बात प्रत्येक पुरुषके संबन्धमें तत्काल ही नही हो जाती। अपने कान और गुरुके बचपनका संयोग होते ही हर कोई वस्तु-स्वरूप (अर्थात् आत्म स्वरूप) की एक दमसे सिद्धि नही कर सकता। क्योंकि सामान्यतः विहित कर्माचरणकी अग्निसे यदि काम्य और निषिद्ध कर्मोका ईंधन जलाकर उसमे रजोगुण और तमोगुण दोनों ही जलाकर राख कर दिये जाये, पुत्र, द्रव्य और स्वर्ग-सुख आदिके सम्बन्धका लोभ यदि उसी प्रकार पूरी तरहसे अपने वशमे कर लिया जाय, जिस प्रकार कोई दास वशमे किया जाता है, चारो ओर मन-मानी दौड लगानेवाली और विषयोके मलसे मलिन इन्द्रियाँ यदि निग्रहके तीर्थमे धोकर अच्छी तरह निर्मल कर ली गई हो और स्वधर्मके आचरणका फल यदि ईश्वरको अर्पित करके अटल वैराग्य प्राप्त कर लिया गया हो और इस प्रकार यदि वह सारी सामग्री एकत्र कर ली गई हो जिसकी आत्म-साक्षात्कारके समय ज्ञानके उत्कर्षके लिए आवश्यकता होती है और ऐसे ही अवसर पर यदि सद्गुरुसे भेट हो जाय और वे भी बिना किसी प्रकारका संकोच किये स्पष्ट रूपसे आत्म-बोधका उपदेश करे, तो भी हमे यह सोचना चाहिए कि क्या औषध खाते ही हमारे शरीरके रोग सम्बन्धी विकार तुरन्त ही दूर हो जाते हैं और हमारा शरीर एक-दमसे स्वस्थ हो जाता है? अथवा क्या दिन निकलते ही कभी मध्याह्न हो सकता है? यदि उपजाऊ और तर जमीनमे अच्छे बीज बोये जायँ तो अवश्य ही बहुत अच्छी फसल पैदा होती है, परन्तु वह भी कब? जब उसका उपयुक्त समय आता है और जब फसल पैदा होनेके दिन आते है, तब। यदि मार्ग बिलकुल सुगम, सरल और स्वच्छ हो और संग साथ-भी अच्छा मिल जाय, तो हम सहजमे ही अपने इष्ट स्थान तक पहुँच जाते हैं। परन्तु फिर भी इष्ट स्थान तक पहुँचनेके लिए उक्त दोनो बातोके सिवा समयकी भी आवश्यकता होती ही है। ठीक इसी प्रकार ज ब

इनमेंसे सत्व गुणने अपने आधे भागसे ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको अंकित किया है। सत्व मिश्रित रजोगुण वैश्योमें रहता है और तमसे भरा हुआ रजोगुण शूद्रोंके हिस्सेमें पड़ा है। हे ज्ञानी अर्जुन, इस प्रकार आरम्भमे जो मानव संघ बिलकुल एक ही स्वरूपवाला था, उसमे इन गुणोने यह चातुर्वर्णात्मक भेद उत्पन्न किया है। सब यह बात तुम अपने ध्यानमे रखो। फिर जिस प्रकार अँधेरेमें पड़ी हुई वस्तुको हमे दीपक दिखलाता है, उसी प्रकार अपने गुणोसे ढँके हुए कर्म हमें शास्त्र दिखलाता है। भाई भाग्यवान् अर्जुन; अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि भिन्न-भिन्न वर्णोंके लिए स्वाभाविक और उपयुक्त कर्म कौन-से है; सुनो।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।४२।।

"बुद्धिकी जो इस प्रकार की शान्त स्थिति होती है कि वह समस्त इन्द्रियोके व्यवहारोको अपने हाथमें रखकर एकान्त भावसे और धर्म-पत्नीकी भाँति आत्मतत्वके साथ मिली रहती है, उसको "शम" कहना चाहिए। जितने अच्छे और ठीक कर्म होते है, उन सबका आरम्भ इसी शमसे होता है। ऐसे कर्मोंमे "दम" नामका एक दूसरा गुण उस शमका सहायक होता है जिसके कारण स्वधर्मके आचरणपूर्वक समस्त व्यवहार होते हैं। ऐसे कर्मोंमे "तप" नामका वह तीसरा गुण भी दिखाई देता है जिसके द्वारा चित्तमे ईश्वरके विषयमे एकनिष्ठ श्रद्धा उसी प्रकार निरन्तर जाग्रत रहती है, जिस प्रकार छठीवाली रातको इस बातका पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है कि प्रसविणीके कमरेका दीपक न बुझने पावे। इसी प्रकार ऐसे कर्मोंमें दोनों तरहका "शौच" अर्थात् निर्मलता भी रहती है। और हे अर्जुन, यह शौच उस गुणका नाम है जिसके कारण मन शुद्ध भक्तिसे भरा रहता है और शरीर निर्मल आचरणसे शृङ्गारित रहता है और इस प्रकार सारा जीवन-क्रम अन्दर और बाहर सुन्दर बना रहता है। यह चौथा गुण भी उन कर्मोंमे रहता है। पृथ्वीकी भाँति पूर्ण रूपसे सब कुछ सहन करनेका जो गुण है, हे पार्थ, उसीको "क्षमा" कहते है। यह क्षमावाला पाँचवाँ गुण उन कर्मोंमें उसी प्रकार रहता है, जिस प्रकार संगीतमे पचम स्वर रहता है। यदि प्रवाह टेढ़ा-तिरछा भी हो तो भी नदी सीधी समुद्रकी ओर बहती रहती है और ऊख चाहे अपनी बाढ़के कारण टेढ़ा-तिरछा भी हो तो भी उसमे सब जगह समान रूपसे मिठास भरी रहती है। ठीक इसी प्रकार जीवकी वृत्ति टेढ़ी-तिरछी होने पर भी उसमे पूरी-पूरी सरलता रखनेके गुणको "आर्जव" कहते है; और यह आर्जव नामका छठा गुण भी उन कर्मोंमे होता है। माली बहुत अधिक परिश्रम करके वृक्षोंकी जड़में पानी सींचता है; परन्तु फिर भी जिस प्रकार वह यह बात बहुत अच्छी तरह जानता है कि मुझे इन वृक्षोसे फलकी प्राप्ति होगी और मेरा सारा परिश्रम सार्थक होगा, उसी प्रकार इस प्रकरणमे यह तथ्य अच्छी तरह समझ लेना ही "ज्ञान" कहलाता है कि शास्त्रोके अनुसार कर्मो का आचरण करके ईश्वरकी प्राप्ति करना आवश्यक है और ईश्वरकी वह प्राप्ति इस प्रकार हमें अवश्य हो जायगी। और यही ज्ञान उन कर्मोंका सातवाँ गुण होता है। आठवे गुण "विज्ञान" का स्वरूप यह है कि मनुष्य शुद्ध सत्व होकर शास्त्रके ज्ञानकी

मनमें पूरी तरहसे वैराग्य समा जाता है, तिस पर सद्गुरुके भी दर्शन होते हैं और अन्तःकरणमें आत्म और अनात्मके विवेकका अंकुर भी जोरोसे फूटता है और इस विवेकके कारण जब इस प्रकारका निश्चित अनुभव हो जाता है कि "एक मात्र ब्रह्म ही सत्य वस्तु है और वाकी जो कुछ है, वह सब मायाजनित मोह-जाल है", तभी वह पुरुष काल-क्रमसे उन ब्रह्म तत्वमे रम-रस होकर ब्रह्मत्व-वाली स्थितिको पहुँचता है जो ब्रह्म-तत्व या परब्रह्म सर्वव्यापी और सर्वश्रेष्ठ है, जिसमे मोक्षका कार्य समाप्त होता है, जो ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानवाली त्रिपुटीको निगल जाता है, जो अन्तमें ज्ञानकी सारी क्रियायें भी बन्द कर देता है, जिसमे ऐक्यकी एकताकी परिपूर्णता होती है जिसमें आनन्दका अणु-रेणु भी विलीन हो जाता है और जो अन्तमे केवल ऐसा शून्य स्वरूप बच रहता है, जो कुछ भी नही होता। जिस प्रकार भूखे मनुष्यके सामने षट्रस भोजन परोसने पर प्रत्येक ग्रासमे उसका समाधान होता है, उसी प्रकार ज्योंही वैराग्यकी सहायतासे विवेकका दीपक प्रज्वलित होता है, त्योंही आत्म-स्वरूपका गुप्त भाडार उसके लिये खुल जाता है। तथापि जो मनुष्य इतनी अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है कि आत्म-स्वरूपके वैभवका प्रत्यक्ष भोग कर सके, वह उस ब्रह्म प्राप्तिकी योग्यता तक जिस क्रमसे पहुँचता है, उसके लक्षण अब मैं तुमको बतलाता हूँ, सुनो।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

"गुरुके दिखलाये हुए मार्गसे चलकर वह विवेक रूपी तीर्थ पर जा पहुँचता है और वहाँ अपनी बुद्धिका सारा मल बहुत अच्छी तरह धो डालता है। फिर जिस प्रकार राहुके मुखमे छूटी हुई कान्ति आकर चन्द्रमाका आलिंगन करती है, उसी प्रकार उस पुरुषकी निर्मल हो जानेवाली बुद्धि आत्म-स्वरूपके साथ जाकर मिल जाती है। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपनी ससुराल और मायका दोनों ही छोड़कर केवल अपने पतिका ही अनुसरण करती है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि भी सुख-दुःख आदिके द्वन्दोंको छोडकर केवल आत्म-स्वरूपके-चिन्तनमे लीन हो जाती है। और इन्द्रियाँ जिन शब्द और स्पर्श आदि पाँचों विषयोंका महत्व बढ़ा रखती है, वे पाँचों विषय ज्ञानका मूल तत्व प्राप्त करनेकी आशासे किये जानेवाले इन्द्रिय निरोधके कारण उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्यकी किरणोके न रह जाने पर मृग-जलका भी लोप हो जाता है। जिस प्रकार अनजानेमे किसी नीचका खाया हुआ अन्न वमन करके अपने पेटसे निकाल देना चाहिए, उसी प्रकार वह पुरुष विषय और विषय-वासनाको भी इन्द्रियोसे वमन करा देता है। फिर उन इन्द्रियोको अन्तर्मुख वृत्तिसे पवित्र तट पर लाकर और उनसे उपयुक्त प्रायश्चित्त कराके वह उन्हे निर्मल कर देता है। इसके उपरान्त सत्वसम्पन्न धैर्यसे वह उन इन्द्रियोंको शुद्ध करता है और योग-साधनके द्वारा उन्हे मनके साथ मिलाकर बिलकुल एक कर देता है। 'अपने प्राचीन कर्मोके अनुसार उसे इस जन्मसे जो इष्ट और अनिष्ट भोग भोगने पड़ते हैं, उनमे यदि कुछ खराबी या कष्ट दिखाई

सहायतासे अथवा अपने ध्यानके बलसे ईश्वर तत्वके साथ निस्सन्देह बुद्धिसे सम-रस हो जाय। और यह विज्ञान नामका आठवाँ सुन्दर गुण भी उन कर्मोमे रहता है। नवे गुण "आस्तिक्य" का लक्षण यह है कि शास्त्रोने जितने मार्गोको योग्य और ठीक बतलाया है, उनमेंसे प्रत्येक मार्गको उसी प्रकार ठीक समझा जाय और आदरपूर्वक मान्य किया जाय, जिस प्रकार प्रजा उस प्रत्येक पदार्थको, जिस पर राजाका नाम अंकित होता है, चलनसार सिक्के के रूपमे सन्तोषपूर्वक स्वीकृत कर लेती है! और यह नवाँ गुण आस्तिक्य भी उन कर्मोमे होता है। तात्पर्य यह कि ये नौ गुण जिन कर्मोमे होते है, वही कर्म अच्छे और ठीक होते है। इस प्रकार शम आदि नौ गुणोके रहनेके कारण जो कर्म स्वभावतः निर्दोप होते है। उन्हीको ब्राह्मणोके स्वाभाविक कर्म समझना चाहिए। जिसे इन नौ, रत्नोंका हार मिल जाता है, वह नौ गुणोके रत्नाकर ही हो जाता है। जिस प्रकार अपने शरीरमेसे बिना कुछ भी निकाले या अलग किये हुए सूर्य प्रकाश धारण करता है अथवा चम्पाका वृक्ष जिस प्रकार स्वयं अपनी कलियोसे ही सुशोभित रहता है अथवा चन्द्रमा जिस प्रकार अपनी चाँदनीसे ही प्रकाशमान तथा उज्ज्वल रहता है अथवा चन्दन जिस प्रकार स्वयं अपनी सुगन्धसे ही सुवासित रहता है, उसी प्रकार नौ रत्नोसे जड़ा हुआ यह नग ब्राह्मणोका निर्मल भूषण है, और यह आभूषण उतारकर नग्न होनेका कृत्य ब्राह्मणोका शरीर कभी नही करता। हे अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि क्षत्रियोके उचित कर्म कौन से हैं। तुम अपनी सारी बुद्धि और ध्यान लगाकर सुनो।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं बुद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥४३॥

'जिस प्रकार अपना तेज प्रकट करनेके समय सूर्य किसीकी सहायताकी अपेक्षा नही करता अथवा सिंहको शिकार करनेमे किसी सहायककी आवश्यकता नही होती, उसी प्रकार स्वयं अपने ही साहससे और बिना किसीकी सहायतासे पराक्रम कर दिखलानेका "शौर्य" नामका जो गुण है, वह गुण जिस कर्म-वृत्तिका सबसे पहला और सर्वश्रेष्ठ गुण है, वही स्वाभाविक क्षात्र-वृत्ति होती है। जिस प्रकार सूर्यके उज्ज्वल प्रकाशके सामने करोडो नक्षत्र छिप जाते है। परन्तु यदि चन्द्रमाके सहित समस्त नक्षत्र एकत्र हो तो भी उसके द्वारा सूर्यका कभी लोप नही होता, ठीक उसी प्रकार जिस अलौकिक सामर्थ्यके कारण मनुष्य अपने तेजस्वी गुणोके सारे संसारको आश्चर्य चकित कर देता है, परन्तु स्वयं कभी किसी भ्रान्त नही होता, उसी सामर्थ्यको "तेज" कहते है। यही दूसरा तेजोगुण उस वृत्तिमे दिखाई देता है। इसी प्रकार उसमे तीसरा गुण "धैर्य" होता है। चाहे आकाश ही क्यो न टूट पड़े, परन्तु फिर भी जिस धैर्य-गुणके कारण बुद्धिकी आँखे भयसे कभी नही झपकती और मन कभी विचलित नही होता, वह धैर्य गुण उस वृत्तिमे दिखाई देता है। और चाहे कितना ही अधिक असीम और विस्तृत जल क्यो न हो, परन्तु फिर भी जिस प्रकार उसे दबाकर कमलके पत्ते फैलते हैं और चाहे कितनी ही ऊँचाई पर क्यो न जा पहुँचे, तो भी

देता है, तो भी उसके लिए वह अपने मनमें विषाद या राग नहीं करता। अथवा यदि कभी उन भोगोमे कोई अच्छी या सुखकर बात भी दिखाई देती है, तो भी वह उनके आनन्दके लोभमें नही फँसता। इस प्रकार, हे अर्जुन, वह पुरुष अच्छी बुरी बातोंके सम्बन्धमे लोभ और क्षोभ दोनो ही छोड़कर पर्वतो आदिकी शीतल गुफाओमे जाकर निवास करने लगता है।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥

"वह मनुष्यका भीड-भाड़वाला स्थान छोडकर केवल अपने शरीरके अवयवोकी संगतिमे ही जंगलमे निवास करता है। उसके सारे खेल शम, दम आदिके ही साथ होते है। मौन ही उसका भाषण होता है और सदा गुरुके वचनोके चिन्तनमें लगे रहनेके कारण उसे समयका भी ध्यान नही रह जाता। भोजन करनेके समय उसके मनमे न तो इसी बातका विचार रहता है कि इससे मेरे अंग पुष्ट होकर बलवान हो, न वह यही सोचता है कि इससे मेरी भूख शान्त हो और न यही चाहता है कि मेरी जीभको ही कुछ स्वाद मिले। नपे-तुले और नियमित आहारसे उसे जो सन्तोष होता है, उसकी नाप-जोख ही नही की जा सकती। वह केवल यही सोचकर बहुत थोडा-सा अन्न सेवन करता है कि खाये हुए अन्नकी उष्णतासे मेरे क्षीण प्राण बचे रहे। जिस प्रकार पतिके अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषके इच्छा दिखलाने पर कुलीन स्त्री उसकी ओर टेढे मनसे भी प्रवृत्त नही होती, उसी प्रकार वह भी निद्रा और आलस्यके आसनोको मान नही देता (अर्थात् निद्रा और आलस्यके वशीभूत नहीं होता)। दड-वत् या साष्टांग नमस्कार करनेके समय तो उसके अंग अवश्य भूमिके साथ लगते हैं, परन्तु उस प्रसगके अतिरिक्त और कभी वह भूमि पर लेटनेका अविचार नही करता। वह केवल उतना ही हाथ-पैर चलाता है, जितना शरीरके व्यवहारके लिए परम आवश्यक होता है। तात्पर्य यह कि वह अपने शरीरका अन्दर और बाहर सब कुछ अपने ही अधिकारमें रखता है। और हे भाई वीर अर्जुन, वह अपने अन्त करणकी वृत्तिको मनकी देहलीज भी नही देखने देता (अर्थात् अन्त.करणको मनसे बहुत दूर रखता हैं), तो फिर उस देहलीजको लाँघकर उसके मन तक पहुँचनेका तो कोई जिक्र ही नही है। फिर भला ऐसी अवस्थामे मनके विचार शब्दोमे उच्चारण करनेका अव-काश ही कहाँ रह जाता है ? इस प्रकार वह शरीर. वाणी और मन आदि आस-पासके इन सब पदार्थों पर विजय प्राप्त करके ध्यान-रूपी आकाश पर ही हाथ डालता है। सद्गुरुके वाक्योके कारण उसका जो आत्म-बोध जाग्रत हो जाता है, उसके सम्बन्धका अपना निश्चय वह निरन्तर दर्पणके समान अपने सामने रखकर उसे देखा करता है। यह ठीक है कि वह स्वयं ध्यान करता है और ध्याता होता है, परन्तु उसके अन्त करणकी वृत्तिमे ध्यान भी ध्येयमे मिलकर उसके साथ एक-रूप हो जाता है। हे अर्जुन, उसके ध्यान करनेकी यह पद्धति तुम ध्यानमे रखो। फिर जब तक ध्येय, ध्यान और ध्याताकी त्रिपुटी मिलकर एक नही हो जाती, तब तक उसको

जिस प्रकार आकाश सदा उसके ऊपर ही रहता है, ठीक उसी प्रकार चाहे कैसा ही प्रसंग क्यो न आ पड़े, तो भी, हे अर्जुन, इष्ट-फल देनेवाले कार्य बहुत दक्षतापूर्वक और अचूक प्रवेश करनेको "दक्षत्व" कहते हैं। और यह चौथा गुण दक्षत्व भी उस वृत्तिमें पूर्ण-रूपसे दिखाई देता है। खूब डटकर युद्ध करना उस वृत्तिका पाँचवाँ गुण है। जिस प्रकार सूरजमुखीका वृक्ष सदा सूर्यकी ओर ही रहता है, ठीक उसी प्रकार शत्रुके सामने साहसपूर्वक छाती ठोककर खड़े रहना और जिस प्रकार गर्भवती स्त्री सब तरहके प्रयत्न करके अपने पतिकी शय्या पर पीठ नही लगने देती और उस शय्यासे अपनी पीठका लगना बचाती है, ठीक उसी प्रकार समर-भूमिमें शत्रुका सामना होने पर उसे पीठ न दिखलाना उस क्षात्र वृत्तिका पाँचवाँ गुण है; और यह बात, हे भाई गुण-श्रेष्ठ अर्जुन, तुम अच्छी तरह अपने ध्यानमे रखो। जिस प्रकार भक्ति चारो पुरुषार्थोंसे बहुत बढ-चढ़कर और श्रेष्ठ है, ठीक उसी प्रकार यह गुण भी बतलाये हुए चारो गुणोसे बढ़-चढकर और श्रेष्ठ है। जिस प्रकार अधिक फल-फूल आदि आने पर वृक्ष नीचेकी ओर झुक जाता है अथवा जिस प्रकार पद्म-वन अपनी सुगन्ध चारो तरफ खूब अच्छी तरह फैला देता है अथवा जिस प्रकार चन्द्रमाकी चाँदनी जो चाहे वह जितनी चाहे, उतनी ले सकता है, ठीक उसी प्रकार लेनेवालेको उसकी इच्छाके अनुसार दान देना 'दान" कहलाता है; और इस छठे गुण रत्नसे भी वह वृत्ति भूषित रहती है। इसी प्रकार अपनी ही आज्ञा सारे संसारमे मान्य कराने और जिस प्रकार अपने अवयवोका पोषण करके उन्हे अपने कामके योग्य बनाया जाता है, उसी प्रकार प्रजाका पालन करके और उनके सन्तोषके द्वारा संसार-का उपभोग करनेको "ईश्वरभाव" कहते हैं। यह समस्त सामर्थ्योका समूह और गुणोका सम्राट् उस वृत्तिका सातवाँ गुण है। इन शौर्य आदि सातो गुणोसे जो वृत्ति उसी प्रकार पवित्र होती है, जिस प्रकार सप्तर्षियोसे आकाश श्रृंगारित होता है, वही स्वाभाविक क्षात्र-वृत्ति होती है। यही क्षत्रियोके वास्तविक सहज गुण है। इन सब गुणोसे युक्त जो क्षत्रिय होता है, वह मनुष्य नही होता, बल्कि सत्व रूपी सोनेका मेरु पर्वत ही होता है और इसी लिए वह सातो गुणोके स्वर्गको सँभाल रखता है। अथवा यह समझना चाहिए कि इन सातो गुणोसे घिरी हुई यह क्रिया-वृत्ति नही है, बल्कि सातो समुद्रोसे घिरी हुई पृथ्वी ही है और वह वीर उसका उपभोग करता है। अथवा इन सातो गुणोके प्रवाहोसे यह क्रिया-रूपी गंगा इस क्षत्रिय रूपी महासागरके अंगो पर मानों विलास करती है। परन्तु इस विषयका बहुत अधिक विस्तार हो चुका। तात्पर्य केवल यही है कि जो कर्म इन शौर्य आदि गुणोसे अंकित होते है वही क्षत्रिय जातिके स्वाभाविक कर्म हैं, अब हे बुद्धिमान् अर्जुन, मै तुम्हे स्पष्ट रूपसे यह बतलाता हूँ कि वैश्य जातिके उचित कर्म कौन-से है।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

"भूमि, बीज, हल और पूँजीके आधार पर यथेष्ट लाभ या प्राप्ति करना, सारांश यह कि खेती वारी पर निर्वाह करना, गौएँ और भैसे पालना अथवा सस्ती खरीदी हुई

ध्यान बराबर चलता रहता है। इसी लिए ऐसा मुमुक्षु जीव आत्म-ज्ञानमें पटु हो जाता है; परन्तु उसके द्वारा ये सब बातें इसी लिए होती हैं कि वह योगाभ्यासको अपनी और सब बातोंसे आगे रखता और महत्व देता है। गुद-द्वार और मूत्र-द्वारके बीचवाली सीवनको पैरोंसे अच्छी तरह दबाकर वह मूलबन्ध बाँधता है। वह नीचे-वाले भागको संकुचित करके और गुद-स्थानके मूलबन्ध, नाभिचक्रके उड्डीयान बन्ध और कंठ-स्थानके जालन्धर बन्ध तीनोंकी साधना करके भिन्न भिन्न वायुओंको बिल-कुल एक समान कर लेता है। फिर कुंडलिनीको जगाकर और मध्यमा अर्थात सुषुम्नाका मार्ग खुला और विस्तृत करके और आधार चक्रके अग्नि चक्र तकके समस्त चक्रोंको भेदकर अन्तवाले सातवें चक्रको भेदता है जिससे ब्रह्मरन्ध्रमेंके सहस्र-दल कमलमेंसे अमृतकी वृष्टि होने लगती है और उस अमृतका प्रवाह गुद स्थानके मूलबन्ध तक पहुँचा देता है। फिर ब्रह्मरन्ध्रके कैलास पर ताडव करनेवाले चैतन्य-रूपी भैरवके खप्परमें मन और प्राण-वायुकी खिचड़ी भर देता है और इस प्रकार सिद्ध किये हुए योगकी अच्छी और बड़ी सेना अपने आगेकी ओर रखकर पीछेकी ओर वह अपने ध्यानका किला खूब अच्छी तरह मजबूत करता है। ध्यान और योग दोनोंको आत्म-तत्वके ज्ञानमे निर्विघ्नतापूर्वक स्थिर रखनेके लिए वह पहलेसे ही वैराग्य सरीखे मित्रके साथ मित्रता कर रखता है। ऊपर जो सब स्थान बतलाये गये हैं, उन स्थानोंको पार करनेमें यह वैराग्य-रूपी मित्र उसकी बहुत सहायता करता है और सदा उसके साथ ही रहता है। दृष्टिकी जहाँ तक पहुँच है, वहाँ तक यदि दृष्टि और दीपकका वियोग न हो (अर्थात् वहाँ तक दृष्टिके साथ ही साथ प्रकाश भी पहुँचता हो) तो फिर अभीष्ट वस्तुके दिखाई देनेमें भला किस बातका विलम्ब हो सकता है? ठीक इसी प्रकार जब जीवको मुमुक्षता प्राप्त हो जाती हैं, तब उसकी अन्त करण वृत्ति ब्रह्म-तत्वमें लीन हो जाती है; और यदि उस अवस्था तक उसका वैराग्य बना रहे, तो फिर ब्रह्मके साथ होनेवाली उसकी एकता कहाँसे भंग हो सकती है? तात्पर्य यह कि जिस भाग्यवान्‌से वैराग्य युक्त योगाभ्यास सध जाता है, वही आत्म-प्राप्तिका पात्र सिद्ध होता है। वैराग्यका ऐसा अभेद्य कवच अपने अंग पर डालकर वह राज-योगके घोड़े पर सवारी करता है और रास्तेमें जो छोटे-बड़े विघ्न उसे दिखाई देते हैं, उनके धड़ाधड़ टुकडे उड़ानेवाले ध्यानकी खूब तेज धारवाली तलवार वह अपने विवेककी मुट्ठीमे खूब कसकर पकड़ लेता है। इस प्रकार ठाठसे वह संसारके रण-क्षेत्रमें उसी प्रकार आगे बढ़ता जाता है, जिस प्रकार अँधेरेमें सूर्य बढ़ता जाता है; और अन्तमे मोक्षकी विजय-लक्ष्मी उसके गलेमें जयमाल डालती है।

अहंकार बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

"इस विजय-यात्रामें जो दुष्ट शत्रु बाधक होते हैं और जिन्हे यह वीर योद्धा परास्त करता है, उनमेंसे मुख्य शत्रु देहका "अहंकार" है। यह अहंकार ऐसा दुष्ट शत्रु है, जो न तो मनुष्यको मर जाने पर ही छोडता है और न जन्म लेने पर ही सुखसे जीने देता है और हड्डियोंके इस ढाँचेमे ही जीवको फँसाकर उसे कष्ट देता रहता है। उस

चीज महँगे भावसे बेचना आदि कार्य, हे अर्जुन, वैश्योकी वृत्ति है। तुम यह समझ रखो कि ये सब कर्म वैश्य जातिकी स्वाभाविक कक्षामें आते है। और वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण इन तीनो द्विज वर्णोकी सेवा करना शूद्रोका कर्म है। और यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो द्विजोकी इस सेवाके और आगे शूद्रोके लिए पैर रखना भी ठीक नही है। इस प्रकार चारो वर्णोके विहित कर्म मैंने तुम्हे बतला दिये हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

"अब हे अर्जुन, जिस प्रकार श्रवण आदि भिन्न भिन्न इन्द्रियोके लिए शब्द आदि भिन्न भिन्न गुण उपयुक्त होते है अथवा मेघोमे बरसनेवाले वर्षाके जलके लिए जिस प्रकार नदी उपयुक्त पात्र है अथवा नदीके लिए जिस प्रकार समुद्र उपयुक्त है, उसी प्रकार इन चारो वर्णोके लिए ये सब भिन्न भिन्न कर्म भी उपयुक्त है। इसी लिए वर्ण और आश्रमके धर्मके अनुसार जो जो कर्म प्राप्त होते हैं, वे सब गोरे मनुष्यके गोरेपनकी तरह शोभादायक होते है। इसी लिए हे अर्जुन, उन स्वाभाविक विहित कर्मोको शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार करनेमे प्रवृत्त होनेके लिए अपनी बुद्धि अचल रखनी चाहिए। जिस प्रकार स्वयं अपने ही रत्नकी भी रत्न परखनेवालेसे परख करानी पड़ती है, उसी प्रकार अपने कर्म भी शास्त्रोसे निश्चित कराने पडते है। दृष्टि तो अपने स्थान पर सदा ठीक तरहसे रहती ही है, परन्तु फिर भी बिना दीपकके उसका कोई उपयोग नही होता। अथवा यदि रास्ता ही न मिले तो पैर रहकर भी क्या कर सकते है? इसी लिए जाति-धर्मके अनुसार जो हमारा उचित अधिकार हो, वह हमे शास्त्रोको देखकर निश्चित करना चाहिए। अब हे पार्थ, यदि अपने घरमे अँधेरेमे रखा हुआ खजाना दीपक हमे दिखला दे तो उसे लेनेमे कौन-सी बाधा है? इस प्रकार जो बातें स्वाभाविक रूपसे हमारे हिस्सेमे आई है और शास्त्रोने भी जिनका विधान किया है, अपने उन विहित कर्मोका जो पुरुष आचरण करता है, जो आलस्य छोडकर और फलकी इच्छाको दूर हटाकर तन और मनसे उन कर्मोके आचरणमे लीन हो जाता है, जो अपने कर्माचरणके साथ व्यवस्थित रूपसे ठीक उसी प्रकार चलता है, जिस प्रकार प्रवाहमे मिला हुआ जल बिना और किसी तरफ मुडे उस प्रवाहके साथ ही साथ बहता चलता है, हे अर्जुन, इस प्रकार जो अपने विहित कर्मोका आचरण करता है, वह मोक्षके इस पारवाले तट तक आ पहुँचता है। न करनेके योग्य और निषिद्ध कर्मोके साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नही होता और इसी लिए संसारका अपाय उसकी कभी कोई हानि नही कर सकता (अर्थात् सासारिक झगडे उसके मोक्षके मार्गमे बाधक नही होते)। वह कभी कभी कुतूहलसे भी कामिक कर्मोकी ओर मुडकर नही देखता, और फिर चाहे चन्दनकी ही वेडी क्यो न हो, तो भी वह उसमे अपने पैर नही फँसाता; क्योकि चन्दनकी बेडी होनेसे ही क्या होता है? आखिर है तो वह वेडी ही! वह जो नित्य कर्म करता है, वह भी फलकी सारी इच्छा छोडकर करता है और वे सब कर्म भी वह ईश्वरके अर्पण करता रहता है और इसीलिए वह मोक्षकी सीमा तक पहुँच सकता है। इस प्रकार वह इस ससारके शुभ और

अहंकारका मुख्य आधार और आश्रय-स्थल यही देह-रूपी दुर्ग है। और उसके इसी दुर्ग पर आक्रमण करके वह वीर योद्धा उसे धूलमें मिलाता है। उसका दूसरा शत्रु "बल" होता है और उसके भी वह प्राण ले लेता है। विषयोंका नाम आते ही यह शत्रु चौगुनेसे भी अधिक आवेशसे उठ खड़ा होता है और इसके कारण मानो सारे जगत्को ग्रसनेके लिए मृत्यु दौडकर आ पहुँचती है। इसे विषय-रूपी विषकी बाढ़ ही समझना चाहिये। समस्त दोषो पर इसीका साम्राज्य रहता है। परन्तु ध्यान-रूपी तलवारका वार भला वह कैसे सहन कर सकता है? जो जो विषय मधुर लगते और सुखकर जान पड़ते है, उन्हीका बुरका ओढकर जो मनुष्यके शरीर पर आक्रमण करता है, जो मनुष्यको बहकाकर सन्मार्गसे दूर ले जाता है और प्रवासी जीवोको अधर्मके जंगलमें ले जाकर नरक-रूपी बाघोके मुँहमें डाल देता है, वह विश्वसनीय बनकर मारनेवाला शत्रु "दर्प" है और यह वीर योद्धा उस दर्पका भी नाश करता है। इसी प्रकार बडे बडे तपस्वी भी जिससे भयभीत रहते हैं, क्रोध सरीखा महादोष जिससे उत्पन्न होता है और जिसका यह स्वभाव है कि ज्यो ज्यो उसकी पूर्ति की जाय, त्यो त्यो वह खाली होता जाता है और जितना ही उसका पोषण किया जाय; उतना ही वह उग्र रूप धारण करता जाता है, उस "काम" नामक शत्रुका भी वह वीर सर्वनाश कर डालता है; क्योकि उसका सर्वनाश करते ही "क्रोध" नामक शत्रु का सर्वनाश आपसे आप हो जाता है। जिस प्रकार जड काटना ही शाखाओके काटनेके समान होता है, उसी प्रकार कामका नाश कर डालनेसे क्रोधका भी आपसे आप नाश हो जाता है। इसी लिए जहाँ काम कैद कर दिया जाता है, वहाँ क्रोधका नाच भी अवश्य ही बन्द हो जाता है। जिस प्रकार कोई सत्ताधारी पुरुष अपना भार दूसरेके सिर पर बलपूर्वक लादनेसे नही चूकता, उसी प्रकार जिस परिग्रहका स्वीकार करनेसे उसका अत्याचार बराबर ही बढता जाता है, जो सिर पर चढ़कर बैठता है, मनुष्यमे अनेक प्रकारके दुर्गुण उत्पन्न करता है और जीवको ममताकी लाठी पकड़कर चलनेके लिए विवश करता है, जिस परिग्रहने शिष्यों और शास्त्रो आदिका आडम्बर रचकर और मठ-मुद्रा आदिके ढोंग खड़े करके संन्यासियों तकको अपने जालमे फँसा लिया है, जो घरमे कुटुम्बके रूपमें साथ लग जाता है और जंगलमे जो वन्य रूपमे सदा सामने खडा रहता है, जो नंगे शरीरोका भी पीछा नही छोड़ता, उस परिग्रह नामक अजेय शत्रुका आश्रय-स्थल भी वह वीर नष्ट कर डालता है और संसार पर विजय प्राप्त करनेका आनन्द भोगता है। इसी लिए ज्ञान-गुणके अमानित्व आदि जो समूह हैं, वे मानो कैवल्यके प्रदेशोके राजाओके रूपमे आकर उसके सामने उपस्थित होते है और तब शुद्ध सत्य ज्ञानका स्वामित्व उसे अर्पित करके वे स्वयं उसके परिवारमे एक सामान्य कर्मचारी बनकर रहते है। फिर जब प्रवृत्तिके राज-मार्गसे होकर उस वीरकी सवारी निकलती है, तब जाग्रति, स्वप्न, और सुषुप्ति नवीन तीनो स्त्रियाँ पग पग पर उसके ऊपरसे सुखका राई-नोन उतारती चलती है। उसके आगे आगे ब्रह्म-बोध रूपी चोबदार विवेक समस्त मायिक प्रसारकी भीड़-भाड़ दूर

अशुभ झगड़ोसे छूट जानेके कारण वैराग्यके मार्गसे मोक्षके द्वार पर जा खड़ा होता है। जो समस्त सौभाग्यकी परिपूर्णता है, जिसमें मोक्षकी प्राप्ति निश्चित है, कर्मकांडका जिसमे बिलकुल अन्त हो जाता है, जो मोक्षफल देनेकी जिम्मेदारी लेता है और जो पुण्य-कर्म रूपी वृक्षका फल है, उस वैराग्य पर साधक पुरुष भ्रमरकी भाँति अनायास ही और सहज भावसे पैर रखता है। हे अर्जुन, तुम यह बात अपने ध्यानमें रखो कि यह वैराग्य भाव ऐसा अरुणोदय है जो इस बातकी सूचना देता है कि बहुत जल्दी आत्म-ज्ञानके सूर्यका उदय होनेवाला है; और यही वैराग्य भाव उस साधकको प्राप्त होता है। अथवा यह वैराग्य एक ऐसा अलौकिक अंजन है जिसके लगानेसे आत्म-ज्ञानका गुप्त भंडार अच्छी तरह दिखाई देने लगता और मिल जाता है; और साधक यह अंजन स्वयं ही अपनी आँखोमे लगा देता है। इस प्रकार, हे पार्थ, इन विहित कर्मोका आचरण करनेसे साधकमे मोक्ष प्राप्तिकी पात्रता आती है। हे अर्जुन, ये विहित कर्म ही जीवको आश्रय देनेवाले है और इन कर्मोका आचरण करना ही मेरे परमात्मा-स्वरूपकी सच्ची सेवा है। जिस प्रकार पतिव्रता अपने पतिके साथ सब प्रकारके सुख भोगती है, बल्कि यो कहना चाहिए कि जिस प्रकार उसकी सारी तपश्चर्या ही पतिके लिए होती है अथवा जिस प्रकार बालकके लिए माताके सिवा जीवनका और कोई आधार ही नही होता और इसलिए उसका सबसे बढ़कर कर्त्तव्य यही होता है कि वह माताकी ही सेवा करे अथवा जिस प्रकार मछली यद्यपि केवल जलके ही विचारसे गंगामे रहती है, तो भी वह गंगाके मार्गसे सागर मे पहुँच जाती है और आपसे आप समस्त तीर्थोंके निवास का फल मिल जाता है, उसी प्रकार यदि इस विचारसे विहित कर्मोका आचरण किया जाय कि इन कर्मोंका आचरण करनेके सिवा हमारे लिए और कोई गति ही नही है, तो हमारा सारा भार आपसे आप ईश्वर पर जा पड़ता है। हे अर्जुन, जिसके लिए जो योग्य कर्त्तव्य है, वे ईश्वरको ही इष्ट होते हैं और इसी लिए उन कर्मोका आचरण करनेसे ईश्वर आपसे आप प्राप्त हो जाता है। जो स्त्री किसीके अन्तःकरणकी कसौटी पर ठीक उतरनेके कारण उसकी प्रिय हो जाती है, वह चाहे पहलेकी दासी ही क्यो न रही हो, परन्तु फिर भी वह उसकी स्वामिनी हो जाती है। इसी प्रकार जो पुरुष अपने सिरकी भी परवाह नहीं करता और हर तरहसे अपने स्वामीकी सेवा करता है, उसे स्वामी अपने मस्तक पर उठा लेता है (अर्थात् उसका बहुत अधिक आदर करता है)। जिस सेवामे स्वामीके सब मनोरथ पूरे किये जाते है, उसीको सच्ची और उत्कृष्ट सेवा कहते है। हे अर्जुन इसके सिवा चाहे और जो सेवा हो, वह केवल बाजारका सौदा ही है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

"इसलिए यह केवल विहित कर्मोका आचरण ही नही है, बल्कि इसे परमात्माकी मनोगत इच्छाका पालन ही समझना चाहिए। जिससे इस भूत सृष्टिने आकर प्राप्त किया है, जो माया-रूपी धज्जियाँ जोड़कर यह जीव-रूपी गुड़िया बनाता है और तीनों

हटाता हुआ चलता है और योगावस्था हाथमें पंच-आरती लेकर उसकी आरती उतारनेके लिए आती है। उस अवसर पर ऋद्धि-सिद्धियोंके भी समुदाय आ पहुँचते हैं और उनकी की हुई पुष्प-वृष्टिसे मानों उस वीरका स्नान होता है। इस प्रकार ब्रह्मैक्यका स्वराज्य बिलकुल समीप आ जानेके कारण उसे तीनों लोक आनन्दसे भरे हुए दिखाई देते हैं। फिर हे अर्जुन, एकजात सम-अवस्थाके कारण उस पुरुषके लिए कोई ऐसी बात रह ही नही जाती, जिसके कारण वह यह कह सकता हो कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है अथवा अमुक व्यक्ति मेरा मित्र है। केवल यही नही, यदि किसी निमित्तमे किसी अवसर पर उसके मुँहसे "मेरा" शब्द निकल भी जाय तो भी उसके सामने दुजायगीका भाव रह ही नही जाता; क्योंकि वह केवल एक-स्वरूप हो चुका होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार वह केवल एक भावसे सारे विश्वको भर देता है और इसीलिए संकुचित वृत्तिकी ममता कभी उसे स्पर्श भी नही करती और वह उसका पूर्ण रूपसे परित्याग कर देता है। जब इस प्रकार यह वीर पुरुष अपने समस्त शत्रुओंका नाश कर डालता है और समस्त मायिक प्रसारका भी अन्त कर देता है, तब उसका योग-रूपी घोड़ा आपसे आप स्थिर हो जाता है। पहले उसने अपने शरीर पर वैराग्यका जो भारी और दृढ़ कवच खूब कसकर पहन रखा था, उसे भी अब वह कुछ शिथिल कर देता है। वह अपना ध्यान-रूपी शस्त्र भी रख देता है। उस समय उसके सामने आत्मके अतिरिक्त और कुछ भी नही रह जाता और इसी लिए वह वृत्तिका भी हाथ खीच लेता है। रसायन औषध अपना सब काम तो पूरा पूरा और ठीक तरहसे करती है। लेकिन रोगी उसका सेवन करता है, इसलिए वह स्वयं भी समाप्त हो जाती है। ठीक वही बात इस सम्बन्धमे भी होती है। जिस प्रकार ठहरनेका पड़ाव देखकर तेजीसे चलनेवाले पैर भी एक दमसे रुक जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मका सानिध्य हो जानेके कारण उसके अभ्यासका वेग भी कम हो जाता है। जिस प्रकार महासागरके साथ मिलनेके समय नदीका वेग-कम हो जाता है तथा पतिके साथ भेट होने पर जिस प्रकार कामुक स्त्री शान्त हो जाती है अथवा फल लगने पर केलेके वृक्षकी बाढ़ बन्द हो जाती है अथवा रास्ता जिस प्रकार किसी गाँव या नगरमें पहुँचने पर समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्म-साक्षात्कारका प्रत्यक्ष अनुभव होने पर वह पुरुष साधनके सब हथियार भी धीरे धीरे निकालकर नीचे रख देता है। हे अर्जुन, ब्रह्मके साथ उसकी एकता हो जाती है और इसलिए धीरे धीरे उसके साधनके उपायोका भी अन्त होने लगता है। हे भाई भाग्यशाली अर्जुन, उस समय उस पुरुषके अगमे उस शान्तिका पूर्ण रूपसे संचार हो जाता है जो वैराग्य-संस्कारकी पूर्त्ति करनेवाला गोधूलीका समय अथवा ज्ञानके अभ्यासका अन्त अथवा योग-फलके परिपाककी अवस्था है; और तब वह पुरुष प्रत्यक्ष ब्रह्म होनेका पात्र हो जाता है। पूर्णिमाकी चन्द्र कलासे शुद्ध चतुर्दशीकी चन्द्र-कला जितनी कम होती है अथवा सोनेके सोलहवें कसकी अपेक्षा पन्द्रहवाँ कस जितना हलका और हीन होता है अथवा समुद्रमे नदीका जितना पानी प्रवेश करता है, केवल उतना ही पानी नदी का चंचल रूप दिखलाता है; और बाकीका पानी जिस प्रकार समुद्रका ही

शान्त स्वरूप प्रकट करता है, ठीक उसी प्रकारका कमी और बेशीवाला सम्बन्ध "ब्रह्म" और "ब्रह्म-स्वरूप होनेवाले सिद्ध" मे होता है। और इस शान्तिवाले गुणसे वह थोडे समयमे केवल ब्रह्म ही हो जाता है। परन्तु इस प्रकार प्रत्यक्ष ब्रह्म न होने पर भी ब्रह्मत्वका जो अनुभव पुरुषको होता है, उसी अनुभवको "ब्रह्म-स्वरूप होनेकी पात्रता" कहते हैं।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

"फिर हे अर्जुन, जब पुरुषमे ब्रह्म स्वरूप होनेकी यह पात्रता आ जाती है, तब वह पुरुष चित्तकी उस प्रसन्नताके आसन पर प्रतिष्ठित होता है, जो ब्रह्म-बोधके कारण होती है। जिस उष्णताके कारण अन्न पकता है, वही उष्णता जब पकाये हुए अन्नमेसे निकल जाती है, तब वह अन्न खानेसे समाधान कारक होता है। वर्षा-ऋतुमे जो बाढ़ आती है, उसके सब बखेडे दूर करके शरद-ऋतुमे नदी शान्त हो जाती है; अथवा जब गाना खतम हो जाता है, तब संगीतके पखावज आदि उपाग भी आपसे आप बन्द हो जाते है। ठीक इसी प्रकार आत्म-बोधकी प्राप्ति करनेके लिए जो उद्योग होता रहता है, आत्म-बोध होते ही उस सारे उद्योगका अन्त हो जाता है। इस शान्त और प्रसन्न अवस्थाको "आत्म-बोध-प्रशस्ति" कहते हैं। अब उस पुरुषको यही प्रसन्नतावाली अवस्था प्राप्त होती है। उस समय ब्रह्म-साम्यकी भरती हो चुकी होती है, इसलिए यदि उस समय उसकी कोई वस्तु खो जाय, तो उसे कुछ भी दु ख नहीं होता; और यदि उसे कोई वस्तु प्राप्त होनेको हो, तो उसके लिए वह कोई प्रयत्न भी नही करता। इन दोनोमेंसे एक भी बात उस पुरुष किये हो ही नही सकती। जिस प्रकार सूर्यके उदित होते ही समस्त नक्षत्र अपनी प्रभा गँवा बैठते हैं, उसी प्रकार आत्म-स्वरूपके अनुभवका संचार होते ही, हे अर्जुन, वह पुरुप जिस तरफ देखता है, उस तरफ उसके लिए मानों इस भेद-भावात्मक भूत सृष्टिका अन्त ही हो जाता है। जिस प्रकार धूल पर लिखे हुए अक्षर केवल हाथसे पोछकर मिटाये जा सकते हैं, उसी प्रकार उसकी दृष्टि पडते ही सारा भेद-भाव नष्ट हो जाता है। फिर जाग्रति और स्वप्न दोनो अवस्थाओमे जो विपरीत तथा असत्य ज्ञान उत्पन्न होते है, वे दोनों अव्यक्तमे अर्थात् मूल अज्ञानमे लुप्त हो जाते हैं। और फिर वह मूल अज्ञान भी ब्रह्म-बोधकी वृद्धिके कारण घटता घटता अन्तमे पूर्ण बोधमे समा जाता है। जिस प्रकार भोजन करनेके समय प्रत्येक ग्रासके साथ भूख थोडी थोडी कम होती जाती है और पूर्ण तृप्ति होने पर सारी भूख मिट जाती है अथवा ज्यो ज्यो आदमी रास्ता चलता है, त्यो त्यो रास्तेकी लम्बाई या दूरी कम होती जाती है, और अन्तमे उद्दिष्ट स्थान तक पहुँचने पर रास्ता बिलकुल खतम हो जाता है अथवा ज्यो ज्यो जाग्रति बढ़ती जाती है, त्यो त्यो निद्राका नाश होता जाता है और पूरी तरह जाग जाने पर निद्रा बिलकुल रह ही नही जाती अथवा जिस प्रकार पूर्णिमाके दिन चन्द्रमाकी कलाएँ पूर्ण हो जाने पर उसके बिम्बकी वृद्धिका अन्त हो जाता है और उसी दिनसे शुक्ल पक्षका भी अन्त हो जाता है, उसी प्रकार जब जाननेके समस्त विषयोका अस्तित्व

मेरे रँगमें रँगी जायगी, तव चित्त भी अपनी सारी चंचलता छोडकर मेरा ही भजन करने लगेगा। इसलिए तुम सदा ऐसा ही उपाय करते रहो जिसमे तुम्हारा चित्त सारी चंचलता छोड़कर निश्चल रूपसे मुझमे ही आकर लग जाय।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।५८।।

"फिर इस प्रकार भेद-भावहीन भक्तिसे जव मैं चित्तमें पूर्ण रूपसे भर जाऊँगा, तव तुम समझ लेना कि मेरा पूरा पूरा प्रसाद प्राप्त हो गया। जव ऐसी अवस्था प्राप्त हो जायगी, तव वे अनेक प्रकारके दु:खकारक स्थल भी तुम्हे सुखकारक जान पड़ने लगेंगे, जो जन्म और मृत्युके कारण भोगने पडते हैं। यदि सूर्यकी सहायतासे आखें वनकर तैयार हुई हो, तो फिर उनके सामने अन्धकार क्या चीज है? इसी प्रकार मेरी परम कृपासे जिसका जीव-भाववाला कण पूरी तरहसे पिस जाता है, अर्थात् जिसका जीव-भाव विलकुल नष्ट हो जाता है, उसे इस संसारका हौवा भला कैसे पीड़ा दे सकता है? इसलिए हे अर्जुन, तुम मेरे प्रसादसे इस संसारकी दुष्ट झंझटसे पार हो जाओगे। परन्तु यदि अभिमानके कारण तुम मेरी इन सव वातोंका अपने कान और मनके साथ स्पर्श भी न होने दोगे, तो तुम नित्यमुक्त और अथवा होने पर भी व्यर्थ हो जाओगे और तुम पर देहाभिमानके भयंकर आघात होंगे। इस देह सम्बन्धके प्रदेशमे पग पग पर आत्म-घातका कष्ट सहन करना पडता है और उसमे कभी क्षण भरके लिए भी साँस लेनेका अवकाश नही मिलता। यदि मेरी वातो पर तुम ध्यान न दोगे तो न मरने पर भी तुम इतने वडे संकटके कारण मरे हुएके समान ही हो जाओगे।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

"जिस प्रकार पथ्य न करनेवाला रोगी ज्वरको अथवा दीपकसे द्वेष करनेवाला व्यक्ति अन्धकारको प्रवल करता है, उसी प्रकार यदि तुम विवेकको तिरस्कारपूर्वक दूर हटाकर अहंकारका पोषण करोगे और उस अहंकारके कारण अपने शरीरको "अर्जुन", दूसरोके शरीरोको "स्वजन" और इस युद्धको "दुष्ट पापचरण" कहोगे और यदि अभिमानपूर्वक यह निश्चय करोगे कि "मैं युद्ध नही करूँगा" तो भी तुम्हारा जन्म-जात स्वभाव, तुम्हारा वह निश्चय विलकुल निष्फल कर डालेगा। तुम जो अपने मनमे इस प्रकारकी भावनाएँ करते हो कि "मैं अर्जुन, हूँ; ये मेरे आप्तजन है और इन्हे मारना घोर पातक है", तो तुम्ही सोचो कि इस प्रकारकी भावनाओमें मायाके सिवा क्या और कोई वास्तविक तथ्य भी है? पहले तो तुम युद्ध करनेके लिए उद्यत हुए और तव युद्ध करनेके लिए तुमने हाथमे शस्त्र भी ग्रहण किये; और इतना सव कुछ करके भी अव तुम यह प्रतिज्ञा करना चाहते हो कि मैं युद्ध नही करूँगा। तुम्हारी ये सभी वाते वहुत ही विलक्षण हैं। तुम जो यह कहते हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, सो ये सव विलकुल निस्सार वाते है। यदि केवल लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो भी तुम्हारी इन वातोका कुछ भी अभिप्राय समझमे नही आता। तुम जो अपने मनमे युद्ध न करनेका निश्चय कर रहे हो, सो तुम्हारे इस निश्चयको

मिटाकर जाननेवाला अपने साथ ज्ञानको लेकर मेरे स्वरूपमें मिलकर सम-रस हो जाता है, उसी समय अज्ञानकी पूर्ण रूपसे इतिश्री हो जाती है। फिर जिस प्रकार कल्पान्तके समय नदी और समुद्र आदि सबके आकार नष्ट हो जाते हैं और सारा ब्रह्माड समान रूपसे जल-मय हो जाता है अथवा जिस प्रकार घट और मठ आदि आकारोंके नष्ट हो जाने पर सब जगह समान रूपसे भेद हीन आकाश बचा रह जाता है अथवा जिस प्रकार लकड़ीके जल जाने पर केवल अग्नि बची रहती है अथवा जिस प्रकार सुनारकी घरियामें पड़ने पर और अलंकार आकार नष्ट हो जाने पर सोनेके लिए नामरूप आदिवाला भेद-भाव प्रयुक्त नही हो सकता अथवा यदि और दृष्टान्त देना हो तो जिस प्रकार जाग उठने पर और स्वप्नके न रह जाने पर केवल हम्हीं हम बाकी रह जाते है, ठीक उसी प्रकार वह मेरे सिवा और किसीको नहीं देखता या पह-चानता; यहाँ तक कि स्वयं अपने आपको भी वह नही देखता या पहचानता। इस प्रकार उसके द्वारा मेरी चौथी भक्ति होती है। आर्त्त (अर्थात् दुःखोंसे पीड़ित), जिज्ञासु (अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले) और अर्थार्थी (अर्थात् द्रव्यकी इच्छा रखनेवाले) भक्त जिन मार्गों से मेरी भक्ति करते हैं, वे तीनो मार्ग इससे भिन्न हैं और इसी लिए मैं इस ज्ञान-भक्तिको चौथी भक्ति कहता हूँ। और नही तो यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो न यह भक्ति तीसरी ही है और न चौथी ही है, न पहली ही है और न अन्तिम ही है। यह भक्ति तो वास्तवमे मेरी स्वाभाविक अवस्था है। हे अर्जुन, मेरा जो वह स्वाभाविक प्रकाश है, जो उस अज्ञान-रूपी अन्धकारका नाश करता है, जो लोगोके मनमें मेरे सम्बन्धमे होता है, जिसकी सहायतासे लोगोंको सहजमें मेरा वास्तविक स्वरूप दिखाई देने लगता है, जो सब लोगोको सबके भजनमें प्रवृत्त करके उन्हे पूरा और वास्तविक ज्ञान करा देता है, और जिस प्रकाशका यह चमत्कार होता है कि जो जहाँ बैठकर देखता है, वह वही श्रद्धापूर्वक बैठा हुआ सब कुछ देखता है, जिस प्रकाशकी सहायतासे विश्वका भाव अथवा अभाव उसी प्रकार भासमान होता है, जिस प्रकार स्वप्नका दिखाई देना अथवा न दिखाई देना स्वयं देखनेवालेके अस्तित्व पर अवलम्बित रहता हैं, उसी प्रकाशको भक्ति कहते हैं। इसी लिए जो लोग आर्त्त (अर्थात् पीड़ित) होते है, उनमे यह भक्ति आर्त्त (अर्थात् पीड़ा) के रूपमे निवास करती है और उस पीड़ाके निवारणके लिए जो कुछ अपेक्षित होता है, उसीके अनु-रूप वह भक्त मेरी कल्पना करता है (अर्थात् वह मुझे ऐसी अपेक्षित वस्तु समझता है, जिससे उसकी पीडाका निवारण होता है) हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, जिज्ञासु अर्थात् ज्ञानकी इच्छा रखनेवाले पुरुषमे यही भक्ति जिज्ञासा अर्थात् ज्ञानकी लालसाके रूपमे निवास करती है; और यही भक्ति उसे मेरे दर्शन ऐसे रूपमे कराती है कि वह मुझको ही अपनी जिज्ञासाका विषय समझता है। मैं उसके लिए जिज्ञासाका विषय वन जाता हूँ। अर्थी भक्तमे यही भक्ति अर्थकी इच्छाका रूप धारण कर लेती हैं; और, हे अर्जुन, उसकी वह भक्ति मुझे ही अर्थका रूप देती है जिससे वह मेरा ही नाम "अर्थ" रख लेता है। इसी प्रकार मेरी जो भक्ति अज्ञानका आश्रय लेकर रहती है, वह द्रष्टा अर्थात् देखनेवालेको इस प्रकारकी शक्ति देती है जिससे वह मुझको

तुम्हारा स्वभाव ही विचलित कर देगा—स्वभाव ही तुम्हें अपना यह निश्चय तोड़-कर युद्ध करनेके लिए बाध्य करेगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

"यदि पानीका बहाव पूरबकी ओर हो और पश्चिमकी ओर तैरकर जानेका प्रयत्न किया जाय तो तैरनेवालेके पल्ले कोरा पागलपनवाला आग्रह ही पड़ेगा। ऐसे मनुष्यको पानीका बहाव स्वयं ही अपने कहनेमें कर लेगा—उसे उसकी इच्छाके विरुद्ध और अपनी इच्छाके अनुसार बहा ले चलेगा। अथवा यदि धानका कण यह कहे कि मैं धानकी तरह अंकुरित नही होऊँगा और न मै उसकी तरह बढूगा, तो तुम्ही सोचो कि क्या वह कभी अपने स्वभावका उल्लघन कर सकेगा? ठीक इसी प्रकार, हे बुद्धिमान अर्जुन, तुम्हारा स्वभाव और तुम्हारी प्रकृति ही क्षात्रधर्मके संस्कारसे बनी है। इसी लिए यद्यपि इस समय तुम यह कह रहे हो कि—मैं युद्ध नही करूँगा" तो भी कोई सन्देह नही कि तुम्हारी प्रकृति ही तुम्हे युद्धमे प्रवृत्त कर देगी। हे अर्जुन, शौर्य, तेज और तत्परता आदि गुण तुम्हारी प्रकृतिने ही तुम्हे दिये है। और यदि तुम उन गुणोके अनुरूप कार्य न करोगे तो तुम्हारी वह प्रकृति ही तुम्हे स्वस्थ होकर बैठने नही देगी। इसलिए हे धनुर्धारी अर्जुन, तुम इन गुणोसे जकड़े हुए हो और इसी लिए इस बातसे तिल मात्र भी सन्देह नही है कि तुम क्षात्र-कर्मके मार्गमे लगोगे। परन्तु यदि तुम अपने जीवनका यह रहस्य अपने ध्यानमे न रखकर केवल अविचारपूर्वक यह निश्चय करके हठपूर्वक बैठे रहोगे कि मैं युद्ध नही करूँगा, तो भी मुझे इस बातका पूरा विश्वास है कि तुम भी उसी प्रकार कुछ न कुछ अवश्य करोगे, जिस प्रकार वह पुरुष स्वयं न चलने पर भी अपने स्थानसे बहुत दूर पहुँच जाता है, जिसे हाथ-पैर बाँधकर रथ पर बैठा दिया जाता है। तुम अपने मन मे यह सोचते ही रह जाओगे कि मैं कुछ भी न करूँगा और तुम्हारी प्रकृति बलपूर्वक तुमसे बहुत कुछ करा डालेगी। जब विराट देशका राजकुमार उत्तर रण-क्षेत्रसे भागा जा रहा था, तब तुम्हारे क्षात्र-स्वभावने ही तुम्हें युद्धमे प्रवृत्त किया था या नही? तुम्हारा वही क्षात्र-स्वभाव आज भी तुम्हें युद्धमे प्रवृत्त करेगा। बड़े बड़े वीरोकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओको तुमने उत्तरके गो-ग्रहणके समय अकेले ही रण-क्षेत्रमे लेटा दिया था। जिस क्षात्र-स्वभावका यह प्रताप था, वही स्वभाव, भाई धनुर्धारी अर्जुन, इस समय भी तुम्हे युद्धमें प्रवृत्त करेगा। क्या रोगीको कभी रोग अच्छा लगता है? दरिद्रको क्या दरिद्रता कभी अच्छी जान पडती है? नही। परन्तु जिस बलिष्ठ दैवके कारण रोगीको रोग अथवा दरिद्रको दरिद्रता भोगनी पडती है, वही दैव ईश्वरकी सत्तासे बिना अपना कार्य किये न रहेगा और वह ईश्वरीय सत्ता भी तुम्हारे हृदयमे निवास कर ही रही हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

"समस्त भूतोके अन्तःकरणमे अथवा उनके हृदय-रूपी आकाशमे चिद्वृत्तिकी हजारो किरणोसे जो ईश्वर रूपी सूर्य उदित होता है, वह अवस्था-त्रय-रूपी लोकोत्रयको

ही दृश्य (अर्थात् देखनेका विषय) समझता है। इस बातमे कुछ भी सन्देह नही कि इस प्रकार मुखको मुख ही दिखाई देता है; परन्तु उसमे जो भेद-भाव उत्पन्न होता है, उसका दर्पण होता है। दृष्टिको यदि एक चन्द्रमा दिखाई दे तो वह ठीक ही है। परन्तु एकके जो दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, वह तिमिर नामक नेत्र-रोगके कारण होते हैं और वह दूसरा चन्द्रमा कृत्रिम होता है। ठीक इसी प्रकार सब जगह सब भक्त इस भक्तिके कारण मेरा ही ग्रहण करते है, परन्तु मुझसे वे लोग जो व्यर्थके दृश्यत्वक कल्पना करते है, वह केवल अज्ञानके कारण करते हैं। जब वह अज्ञान दूर हो जाता है, तब द्रष्टाका द्रष्टत्व उसी प्रकार मद्रूप हो जाता है, जिस प्रकार बिम्बमे ही प्रतिबिम्ब समा जाता है। जिस समय सोनेमे खोट या मेल मिला रहता है, उस समय भी सोनेमे सोना-पन मौजूद रहता है। परन्तु जब उसमेका खोट या मेल जल अथवा निकल जाता है, तब जिस प्रकार केवल शुद्ध सोना बाकी बचा रह जाता है, उसी प्रकार द्रष्टाके लिए केवल मैं ही मैं रह जाता हूँ। क्या पूर्णिमासे पहले चन्द्रमा अपने समस्त अगोसे युक्त नही होता ? अवश्य होता है। परन्तु उसमे पूर्णता केवल पूर्णिमाके दिन ही आती है। इसी प्रकार ज्ञान-मार्गोसे भी केवल "मैं" ही दिखाई देता हूँ, परन्तु केवल भिन्न-भिन्न दिशाओसे दिखाई देता हूँ। और इस प्रकार दिखाई पडने पर "मैं" को "मैं" की ही प्राप्ति होती है और इसी लिए द्रष्टा का द्रष्टत्व अर्थात् द्रष्टापन बिलकुल नष्ट हो जाता है। हे अर्जुन, इसी लिए मैंने यह कहा है कि मेरी यह चौथी भक्ति दृश्य मार्गके उस पारकी है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

"इस ज्ञान-भक्तिके द्वारा जो भक्त मेरे साथ मिलकर स्वाभाविक रूपसे समरस हो जाता है, उसके सम्बन्धमे तुम यह बात सुन ही चुके हो कि वह भक्त नही है, बल्कि स्वयं मैं ही हूँ। क्योकि हे अर्जुन, (सातवे अध्यायमे) मैं यह बात हाथ उठाकर गम्भीर वाणीसे तुमको बतला चुका हूँ कि ज्ञानी पुरुष मेरी आत्मा ही होता है। हे अर्जुन, मैंने यही भक्ति कल्पके आरम्भमे भागवतके मिससे ब्रह्माको सिखलाई थी। ज्ञानी लोग इसे "स्व-सविती" कहते है; शैव इसे "शक्ति" के नामसे पुकारते है, और मैं इसे "अपनी परम भक्ति" कहता हूँ। जिस समय कर्मयोगी मेरे साथ मिलकर एक हो जाते हैं, उस समय उन्हे इसका फल प्राप्त होता है और तब फिर सारा विश्व मेरे योगसे ओत-प्रोत हो जाता है। उस अवस्थामे विवेकके साथ साथ वैराग्य, मोक्षके साथ साथ बन्ध और निवृत्तिके साथ वृत्ति भी पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाती है। सब कुछ इसी पार चला आता है और इसी लिए उस पार कुछ भी बाकी नही रह जाता। जिस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु चारो भूतोको निगलकर केवल आकाश ही बाकी बच रहता है, उसी प्रकार साध्य और साधनकी सीमाके उस पार जो निर्मल और निर्दोष तत्व मैं हूँ, उसी तत्वके साथ मिलकर और एक रूप होकर वह पुरुष आत्मानन्दका अनुभव करता है। जिस प्रकार गंगा समुद्रमे प्रवेश करके और उसके

प्रकाशित करके मायाके फेरमें पडे हुए यात्री जीवोको जाग्रत करता है। दृश्य वस्तु रूपी जलके सरोवरमे विश्व-रूपी कमलो पर अपना तेज फैलाकर वह ईश्वर रूपी सूर्य उस जीव रूपी भ्रमरको, जिसकी पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन मिलाकर कुल छ: पैर हैं, बराबर चलता रहता है। परन्तु यह रूपक यथेष्ट हो चुका। वह हृदयस्थ ईश्वर अहंकारका आवरण ओढकर निरन्तर विलास करता रहता है। अपनी ही मायाके परदेकी आड़से वह समस्त सूत्रोका संचालन करता रहता है और बाहरी जगतकी रंगभूमि पर चौरासी लाख चराचर योनियोके चित्र-विचित्र छाया-चित्र नचाता रहता है। वह ब्रह्मासे लेकर क्षुद्र कीडे मकोडो तक समस्त भूतोको उनकी योग्यताके अनुसार देहाकृतिमे सजाकर रखता है। जिसके सामने जो आकार वह सुघडपनसे सँवारकर रखता है, उस देहमे वह जीव इसी भावनासे जकड जाता है कि यह देह ही मैं हूँ। जिस प्रकार एक सूत किसी दूसरे डंठलके साथ लिपटा हुआ रहता है अथवा किसी तृण आदिका डंठल किसी दूसरे डंठलके साथ लिपटा हुआ रहता हैं अथवा छोटे बच्चे पानीमे पडनेवाला अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसे हाथोसे हिलोरते हैं, उसी प्रकार देहाकार रूपमे स्वयं अपनी ही दूसरी छाया देखकर जीव भी उसमें आत्म बुद्धिकी स्थापना कर लेता है—यह समझने लगता है कि यह देह ही मैं हूँ। इस प्रकार भूत मात्राको देह-रूपी यन्त्र पर बैठाकर यह हृदयस्थ ईश्वर प्राचीन कर्मोके सूत्र हिलाता रहता है। उनमेसे जो प्राचीन सूत्र भूतके साथ स्वतन्त्र रीतिसे बँधे होते हैं, वे भूत उस सूत्रसे प्राप्त होनेवाली गति ग्रहण करने लगते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार वायु तृणोके डंठलोको आकाशमे फरफराती रहती है, उसी प्रकार ईश्वर भी भूत मात्रको स्वर्ग और संसारमे सदा समान रूपसे चलाता रहता है। जिस प्रकार चुम्बक पत्थरके आकर्षणसे लोहा चक्कर खाने लगता है, उसी प्रकार ईश्वरको सत्ता भूत मात्र भी चलते फिरते रहते है। हे अर्जुन, जिस प्रकार केवल चन्द्रमाकी निकटता के ही कारण समुद्र आदि अपनी अपनी चेष्टा करते है; अर्थात् समुद्रमे ज्वार-भाटा होता है, सोमकान्त मणि द्रवित होने लगती है, कुमुद और चकोरकी उदासीनता दूर हो जाती है और वे उल्लसित होते है, उसी प्रकार एक मात्र ईश्वर ही मूल प्रकृति-के अनुरोधसे समस्त भूतोको भिन्न भिन्न रीतियोसे जँचाता रहता है, और हे अर्जुन, वही ईश्वर तुम्हारे हृदयमे भी निवास करता है। हे पाडु पुत्र, अर्जुनत्वको अपने अंग-मे लगने न देकर तुम्हारे मनमे जो यह भाव उठता है कि मैं हूँ, वही मैं-पन अर्थात् अहंकार उस ईश्वरका सच्चा स्वरूप है। इसलिए इस बातमे कुछ भी सन्देह नही है वह ईश्वर ही प्रकृतिकी सत्ता चलावेगा। और यदि तुम्हारे मनमे लडनेका विचार न भी होगा, तो भी इस बातमे तिल मात्र भी सन्देह नही कि वह प्रकृति ही तुम्हें युद्धमे प्रवृत्त करेगी। इसी लिए यह भी कहा जाता है कि ईश्वर सर्वाधिकारी है और वह प्रकृतिका नियन्त्रण करता है, और तब वह प्रकृति अपनी इन्द्रियोको चलाती है। इसलिए तुम इस बातका विचार प्रकृति पर ही छोड दो कि तुम्हें युद्ध करना चाहिए या नही।

साथ मिलकर प्रकाशित होती है, ठीक उसी प्रकार तुम यह बात अपने ध्यानमें रखो कि आत्मानन्दके उपभोगका भी स्वरूप होता है। जिस प्रकार दो दर्पण स्वच्छ करके एक दूसरेके सामने रखने पर उनके रूपोकी एक दूसरेमे सुन्दर एकता होती है, उसी प्रकार द्रष्टा भी मुझमे मिलकर और मेरे साथ सम-रस होकर आत्मानन्दका उपभोग करता है। जिस प्रकार सामनेका दर्पण दूर कर देने पर और उसमे दिखाई पड़नेवाला मुखका आभास न रह जाने पर द्रष्टा केवल अपने आपमें सुखसे रहता है अथवा जिस प्रकार जागने पर स्वप्नका नाश होता है और तब उस जाग्रत अवस्थामें स्वयं अपना अकेलापन देखकर कोई पुरुष विना किसी दूसरेकी संगतिके अपने उस अकेलेपनका उपभोग करता है, उसी प्रकार वह भक्त आत्मानन्दका भी उपभोग करता है। कुछ लोग यह कहा करते है कि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तुके साथ एक-रूप हो जाता है, तब उसके किये उस वस्तुका उपभोग हो ही नही सकता। ऐसे लोगोसे मैं यह पूछता हूँ कि शब्दसे ही शब्दका उच्चारण कैसे होता है? क्या ऐसा कहनेवाले लोगोके देशमें सूर्यको दीपक जलाकर देखना पड़ता है अथवा आकाशके नीचे कोई चाँड़ लगानी पड़ती है? अथवा क्या अन्धकार कभी सूर्यको आलिंगन कर सकता है? जो आकाश ही नही है, तो फिर आकाशका ज्ञान कहाँसे होगा? क्या घुँघचियोके गहनेके सम्बन्धमे यह अभिमान किया जा सकता है कि यह जवाहरातका गहना है? इसी प्रकार जो "मैं" हो ही नही सकता, उसकी दृष्टिमे "मैं" का अस्तित्व ही कहाँ है? फिर इस सम्बन्धमें कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नही रह जाती कि वह उसका उपभोग कर सकेगा या नही। इसी लिए मैं कहता हूँ कि वह कर्म-योगी "मैं" होकर ही "मैं" का उपभोग करता है और उसी प्रकार उपभोग करता है, जिस प्रकार तरुण पुरुष अपने तारुण्यका उपभोग करता है। जिस प्रकार तरंगे पूर्ण रूपसे जलका चुम्बन करती है अथवा प्रभा सूर्यके बिम्बमे सब जगह चमकती रहती है अथवा आकाश तत्व जिस प्रकार गगनमे सब जगह ओत-प्रोत भरा रहता है उसी प्रकार वह कर्म-योगी भी मेरा स्वरूप देखकर बिना किसी प्रकारकी क्रियाका आचरण किये मेरा उपभोग करता रहता है। अलंकार जिस प्रकार स्वाभाविक रूपसे सोनेका उपभोग करता है अथवा सुगन्ध जिस प्रकार चन्दनमें बिना कुछ भी किये बनी रहती है अथवा चाँदनी जिस प्रकार बिना कोई क्रिया किये चन्द्र-बिम्बमें विलास करती है, उसी प्रकार अद्वैतमे यद्यपि क्रियाके लिए कोई स्थान नही होता, परन्तु फिर भी भक्तिके लिए उसमें जगह रहती है। परन्तु यह बात प्रत्यक्ष रूपसे अनुभव करनेसे ही समझमे आती है, केवल शब्दोसे इसका वर्णन नही किया जा सकता है। फिर इस प्रकारका केवलस्वरूप पुरुष जब अपने प्राचीन संस्कारोके कारण कुछ भी बोलता है, तब उसका वही बोलना मेरी भक्ति होता है; और तब तुरन्त ही मैं उसका उत्तर देता हूँ। और फिर वह बोलनेवाला भी मैं ही होता हूँ। जब बोलने वालेका केवल अपने आपसे योग होता है, तब उससे कुछ भी बोला ही नही जा सकता। और इसीलिए उस अवस्थामें मेरा उत्तम भोजन केवल मूक रहकर ही किया जाता है। इस लिए जब वह भक्त बोलने लगता है, तब मानो मैं ही उसके द्वारा बोलता हूँ; और इसी लिए मौन फलित होता है और उसी मौनसे

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
यत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

"अहं-भावसे, वाचासे, मनसे और शरीरसे उस ईश्वरकी शरणमें जाओ, जिसकी सत्तामें रहकर वह प्रकृति सब काम करती है। जिस प्रकार गंगा जल महासागरमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार तुम भी ईश्वरमें प्रवेश करो। फिर उस ईश्वरके कृपा-प्रसादसे तुम्हारा पूर्ण शान्ति-रूपी तरुणीके साथ समागम होगा और तुम आत्मानन्दसे स्व-स्वरूपमे रमण करने लगोगे। स्वयं उत्पत्ति भी जिससे उत्पन्न होती है, विश्रामको भी जहाँ विश्राम मिलता है और अनुभवको भी जहाँ अनुभव प्राप्त होता है, उस आत्म-रूपी पीठके तुम अक्षय राजा बनोगे।" उस समय लक्ष्मीपति श्रीकृष्णने अर्जुन-से यही बात कही थी।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

"यह गीता समस्त साहित्यका मन्थन करके निकाला हुआ सुप्रसिद्ध सार है। जिससे आत्मा नामक रत्न हाथ आता है, वेदान्तमें जिसका वर्णन "ज्ञान" के प्रौढ़ नामसे हुआ है और इसी लिए जिसकी ख्याति सारे संसारमे फैली हुई है, जिसके प्रकाशसे बुद्धि आदि शक्तियोमे देखने और समझने आदिकी योग्यता आती है और जिसके द्वारा मैं सर्वद्रष्टा भी दिखाई देता हूँ, वही यह आत्म-ज्ञान है। मै तो अव्यक्त हूँ ही और मुझ अव्यक्तका भी यह नितान्त गुप्त रखा हुआ धन है। लेकिन तुमसे मैं अपना यह धन भला किस प्रकार छिपाकर रख सकता हूँ! इसी लिए, हे अर्जुन, दया और प्रेमसे बिलकुल भर जानेके कारण मैंने अपना यह गुप्त भांडार तुम्हारे सामने खोलकर रख दिया है। प्रेमके आवेशमे भरी हुई माता जिस तरह अपने बच्चेके साथ खुले मनसे बाते करती है, उसी तरह हमारी यह प्रीति भी क्या हमे उसी प्रकारकी बातोंमें प्रवृत्त नही करेगी? जिस प्रकार आकाश भी गला डाला जाय अथवा अमृतकी भी छाल उतार ली जाय अथवा दिव्यको भी और दिव्य बनाया जाय अथवा जिसके अंगके प्रकाशसे पावालके अणु और रेणु भी प्रकाशित होते है, उस सूर्यके भी नेत्रोमे दिव्य अंजन लगाया जाय, उसी प्रकार इस अवसर पर हे अर्जुन, मुझ सर्वज्ञने भी सब दृष्टियोसे विचार करके तुम्हे वही बात बतलाई है जो निश्चय-पूर्वक ठीक है। अब तुम इन सब बातो पर उचित विचार करके वही काम करो, जो तुम्हे बिलकुल ठीक जान पड़े।" भगवान्की ये बातें सुनकर अर्जुन स्तब्ध हो गया। उस समय भगवान्ने कहा—'हे अर्जुन, तुम सचमुच बहुत गम्भीर हो। यदि भूखा मनुष्य परोसनेवाले से कुछ संकोचपूर्वक कहे कि बस भइया, अब मेरा पेट भर गया, तो स्वयं उसे ही भूखे रहना पडेगा। और साथ ही उसे झूठ बोलनेका भी दोप लगता है। ठीक इसी प्रकार सर्वज्ञ सद्गुरुके मिलने पर अपनी लज्जाशीलताके कारण उनसे आत्म-निर्णयके सम्बन्धमे प्रश्न न करना मानो स्वयं अपने आपको ही धोखा देना है। और अपनी इस भूलके कारण उसे आत्म-वंचनाका भी पाप लगता है। परन्तु तुम्हारी इस स्तब्धताके कारण तुम्हारे मनका भाव मुझे यह जान पड़ता है कि एक वार फिर इस ज्ञानकी चर्चा हो।" इस पर अर्जुनने उत्तर

वह वास्तवमें मेरी स्तुति करता है। इसी प्रकार, हे अर्जुन, अपनी बुद्धि अथवा दृष्टिसे वह जो कुछ देखता है, उस देखनेमे दृश्य वस्तु तो एक ओर हट जाती है और वह देखना उसे स्वयं उसीका स्वरूप दिखलाता है। जिस प्रकार दर्पणमें देखने वालेको स्वयं अपना वही स्वरूप दिखाई देता है, जो उस दर्पणमे देखनेमे पहले होता है, उसी प्रकार उस भक्तका देखना भी उसे स्वयं उसीके दर्शन कराता है। इस प्रकार जब दृश्य उड़ जाता है और द्रष्टाको द्रष्टाके रूपमे ही उसका अनुभव होता है, तब उस द्रष्टाके सिवा और कुछ भी बाकी नही रह जाता और इसी लिए उसके द्रष्टत्वका भी लोप हो जाता है। जब स्वप्नमें दिखाई पडनेवाले वल्लभको आलिंगन करनेके लिए कोई स्त्री आगे बढती है, पर तुरन्त ही जाग उठती है, तब उसे पता चलता है कि न तो वह मेरा वल्लभ ही था और न मै उसकी स्त्री हूँ और इसी लिए वह शांत हो जाती है। अथवा दो लकडियोको परस्पर रगडनेसे उनके मध्यमें अग्नि उत्पन्न होती है और तब उन दोनो लकडियोंका अस्तित्व नही रह जाता और दोनो मिलकर एक अग्निके ही रूपमें दिखाई देती हैं। अथवा जलमे सूर्यका जो प्रतिबिम्ब पडता है, उसे पकडनेके लिए यदि स्वयं सूर्य ही आगे बढे तो उसका वह प्रतिबिम्ब वहाँ नहीं रह जाता और ऊपरसे स्वयं उसके बिम्बत्वका भी लोप हो जाता है। इसी प्रकार जब भक्त मद्रूप होकर दृश्यको भी अपने आपमे लीन कर लेता है, तव उसके वास्तविक द्रष्टत्वके साथ ही साथ दृश्यका भी लोप हो जाता है। सूर्य जब अन्धकारको प्रकाशित करता है, तब जिस प्रकार प्रकाशित करनेके लिए अन्धकार बाकी ही नही रह जाता, उसी प्रकार जब एक बार द्रष्टाको मेरा स्वरूप प्राप्त हो जाता है, तब दृश्यमें दृश्यत्व भी बाकी नही रह जाता। फिर ऐसी अवस्थामे उसी स्थितिको वास्तविक दर्शन कह सकते है जिसमे दृश्य दिखाई भी देता है और नही भी दिखाई देता। हे किरीटी, फिर चाहे जिस वस्तुसे उसका सामना हो जाय और चाहे जो वस्तु उसे दिखाई दे, हर समय उसे वही दर्शन होते रहते है और तब वह उस दृष्टिका उपभोग करता है, जो द्रष्टा और दृश्य दोनोसे परे रहती है। और जिस प्रकार आकाश सदा आकाशसे ही ठसाठस भरा रहनेके कारण कभी हिलता-डुलता नही, उसी प्रकार स्वयं आत्म-स्वरूपमे प्रवेश करनेके कारण वह भी कभी अपने स्थानसे विचलित नही होता। कल्पान्तमे सब जगह पानी ही पानी हो जाता है और सारा जल एक जगह जमा हुआ सा रहता है और इसी लिए उसमे प्रवाह हो ही नही सकता। इसी प्रकार जब आत्मामे ही आत्मा भर जाती है, तब उसमें स्तब्धता आ जाती है। पैर स्वयं ही जितनी दूर आगे जाता है, उससे और आगे वह जा ही कैसे सकता है? आग स्वयं अपने आपको कैसे जला सकती है? पानी स्वयं अपने ही स्नानके लिए कैसे उपयोगी हो सकता है? इसीलिए वह भक्त भी जब पूर्ण रूपसे मद्रूप हो जाता है, तब उसका आना-जाना आदि सब व्यवहार बन्द हो जाते है, और व्यापारोका यह बन्द होना ही मानो मेरी अद्वैतताकी यात्रा है। पानी पर तरगे चाहे कितनी ही दूर क्यो न बढ़ जायँ, तो भी यह नही माना जा सकना कि उसने ज़मीन परकी मंजिल पूरी की है। उसमे पुराना स्थान छोड़नेवाला भी जल ही होता है और नया स्थान ग्रहण करने-

दिया—"हे उदार भगवान्, यदि मैं यह कहूँ कि आपने मेरे मनकी बात बिलकुल ठीक समझ ली है, तो यह भी कुछ ठीक नही जँचता। क्योंकि भला ऐसा ज्ञाता भी कही मिल सकता है जिसकी आपके साथ तुलना की जा सके? और स्वभावतः केवल आप ही उसके ज्ञाता हैं। फिर यदि सूर्यका वर्णन यह कहकर किया जाय कि वह सूर्य है, तो इससे कौन-सा विशेष अभिप्राय निकल सकता है?" इस पर श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, तुमने जो मेरा यह स्तुतिपूर्ण वर्णन किया है, उसे क्या तुम कम और सामान्य समझते हो?

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

"अब तुम अच्छी तरह ध्यान देकर मेरे निर्दोष शब्द फिर एक बार सुनो। कोई ऐसी बात नही है जो कहने लायक होनेके कारण ही मैं कह रहा हूँ और जो सुनने लायक होनेके कारण ही तुम्हे सुननी चाहिए। बल्कि इस भाषणके सम्बन्धमे तुम यही समझ लो कि तुम्हारा भाग्य ही उदय हुआ है। हे अर्जुन, कछवीकी केवल दृष्टिसे ही उसके बच्चोको पोषक दूध मिलता है और चातकके घरमे स्वयं आकाश ही पन-भरेका काम करता है। इसलिए जहाँ जो व्यवहार नही हो सकता, वहाँ भी उस व्यवहारका फल भोगनेको मिलता है। यदि दैव पूर्ण रूपसे अनुकूल हो तो कौन-सा लाभ कहाँ नही प्राप्त हो सकता? यदि सामान्यतः देखा जाय तो यह रहस्य-ज्ञान ऐसा है कि द्वैतका झगड़ा छोडकर अद्वैत अर्थात् एक तत्वके घरमे ही यह भोगनेको मिल सकता है और हे सखे अर्जुन, जिस प्रेममे कोई औपचारिक (दिखावटी या ऊपरी) बात नही होती, उस प्रेमका जो विषय होता है, उसके सम्बन्धमे यह बात जान रखनी चाहिये कि वह स्वयं अपने सिवा और कुछ भी नही होता। हे अर्जुन, जिस दर्पणमें हमे अपना मुँह देखना होता है, वह दर्पण हम स्वयं ही स्वच्छ करते हैं; परन्तु यह स्वच्छता हम उस दर्पणके लिए नही करते, बल्कि स्वयं अपने ही लिए करते हैं, इसी प्रकार, हे अर्जुन, तुम्हे निमित्त मात्र बनाकर मैं ये सब बाते स्वयं अपने ही लिए कह रहा हूँ; क्योकि तुम्ही बतलाओ कि क्या मुझमे और तुममे किसी प्रकारका भेद-भाव है? और इसी लिए मैं अपने मनका भीतरी रहस्य तुमको बतला रहा हूँ, क्योकि तुम भी मेरे अन्तरंगमे रहनेवाले हो; और एकनिष्ट भक्तोके लिए मैं पागल रहता हूँ। हे अर्जुन, जलको अपना सर्वस्व अर्पण करनेके समय नमक इतना भूल जाता हैं कि सर्वांगमे जल-रूप होनेमें वह नामको भी संकोच नही करता। ठीक इसी प्रकार जब तुम मुझमे किसी तरहका भेद-भाव रखना नही जानते, तब मैं तुमसे कोई बात कैसे छिपाकर रख सकता हूँ? इसी लिए जिस रहस्यके सामने ससारके बाकी सब रहस्य बिलकुल स्पष्ट और खुले हुए सिद्ध होते हैं, वह अपना परम रहस्य-वचन तुम्हे बतला रहा हूँ। सुनो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

"भाई वीर अर्जुन, तुम मुझ सर्वव्यापकको अपने आन्तरिक और बाह्य सभी

वाला भी जल ही होता है; जो गति देता है, वह भी जल ही होता है और जिसे गति प्राप्त होती है, वह भी जल ही होता है। तात्पर्य यह कि जो कुछ होता है, वह सब जल ही जल होता है। हे अर्जुन, जलकी चाहे कितनी ही अधिक वाढ़ क्यो न आवे, परन्तु फिर भी उसका जलत्व सदा अवाधित ही रहता है और इसी लिए तरंगोकी एकता भी कभी नष्ट नहीं होती। इसी प्रकार मैं-पनका चाहे कितना ही अधिक विस्तार क्यो न हो, परन्तु फिर भी वह सव मुझमे ही समाता चलता है और इसी यातायातके कारण वह मेरा ही यात्री ठहरता है। और यदि शरीरके स्वभाव धर्मके कारण वह कोई कर्म करने लगे, तो उस कर्मके निमित्तसे भी मैं ही उसे प्राप्त करता हूँ। ऐसी स्थितिमें, हे अर्जुन, कर्म और कर्त्ता दोनोके नामोका ही लोप हो जाता है और मुझे आत्म-स्वरूपमे देखकर वह स्वयं ही "मैं" हो जाता है। यदि दर्पण ही दर्पणको देखे तो वह कोई देखना नही कहलाता। सोने पर सोनेका ही मुलम्मा कभी नही चढ़ सकता। अथवा दीपकसे कभी दीपकको प्रकाश नहीं दिखलाता जा सकता। इसी प्रकार "मैं" जो कर्म हूँ वही कर्म यदि "मैं" करे, तो उस अवस्थामे वह किसी प्रकार कर्म हो ही नही सकता। जिस अवस्थामे कर्म तो किये जाते हो, परन्तु यह न कहा जा सकता हो कि वह कर्म करता है, तव उसका कर्म करना न करनेके ही वरावर होता है। समस्त कर्मोके मद्रूप हो जानेके कारण उसका फल "कुछ न करना" ही होता है। और इसीको मेरी सच्ची भक्ति कहते हैं। इसलिए, हे अर्जुन, कर्म करनेके मार्गसे भी कर्म न करना ही घटित होता है और इसी महापूजासे वह मेरी अर्चा करता है। तात्पर्य यह कि वह जो कुछ वोलता हैं, वही मेरा स्त्रोत होता है; वह जो कुछ देखता है, वही मेरा दर्शन होता है और वह जो कुछ चलता है, वह मेरी अद्वैतताका ही गमन होता है। वह जो कुछ करेगा, वह सब मेरी ही पूजा होगी; वह अपने मनमे जिस वातका विचार करेगा; वह मेरा ही जप होगा; और हे अर्जुन, उसका स्वस्थ रहना ही मेरी समाधि है। जिस प्रकार कंकणको निरन्तर सोनेकी ही संगतिमें रहना पडता है, उसी प्रकार वह भक्ति-योगसे निरन्तर अद्वैत रूपमे मेरे साथ और मुझमें रहता है। पानीमे लहरे, कपूरमे सुगन्ध और रत्नोमे तेज विना किसी द्वैत भावके ही रहता है। तन्तुओके साथ पट और मिट्टीके साथ घट सदा एकमे मिला रहता है। ठीक इसी प्रकार वह भक्त भी मेरे साथ सम रस होकर रहता है। मेरी इस अनन्य भक्तिके कारण वह दृश्य पदार्थ मात्रामे आत्मभावसे मुझ द्रष्टाको ही देखता है। जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनो अवस्थाओके कारण उपाधि अर्थात् क्षेत्र और उपाधियुक्त अर्थात् क्षेत्रज्ञके कारण भाव अथवा अभाव रूपसे जो यह विश्व दृश्य होता है, उसके सम्वन्धमें, हे सुविज्ञ अर्जुन, उसे यही दिखाई देता है कि वह सारा विश्व मैं ही द्रष्टा हूँ और इसी प्रकारके वोधके क्षेत्रमे वह आत्मानुभवका पुतला नाचने लगता है। जव यह पता लग जाता है कि यह डोरी है, तव यह निश्चय हो जाता है कि उसके सम्वन्धमे होनेवाला सर्पका आभास भी डोरी ही है। जव अलंकार गलाया जाता है, तव यह निश्चय हो जाता है कि उसमे नामको भी कोई ऐसी अलंकारता नही थी जो सोनेसे अलग हो। मनुष्य जव यह जान लेता है कि तरंग वास्तवमे

प्रकारके व्यवहारोंका विषय करो। जिस प्रकार आकाशके सभी अंगोमें वायु मिली हुई रहती है, उसी प्रकार तुम मुझमें मिलकर रहो। सारांश यह कि तुम अपने मनको एक मात्र मेरा ही मन्दिर बनाओ और मेरे ही श्रवणसे अपने कान अच्छी तरह भरो। ये सन्त-जन जो आत्म-ज्ञानसे निर्मल हो चुके हैं, मेरी ही छोटी छोटी प्रतिमाएँ हैं; इसलिए जिस प्रकार कामुक स्त्री अपने पतिकी ओर प्रेमपूर्वक देखती है, उसी प्रकार तुम्हारी दृष्टि भी इन सन्तोकी ओर प्रेमपूर्वक देखें। मैं वस्तु मात्रका निवास-स्थान हूँ, इसलिए मेरे निर्मल नामकी रट तुम अपनी जिह्वाके साथ लगाकर उसे जीवित रखो। तुम ऐसी व्यवस्था करो जिसमे तुम्हारे हाथोके सब काम और पैरोका चलना-फिरना सब कुछ मेरे ही लिए हो। हे अर्जुन, अपने अथवा पराये लोगोके साथ तुम जो उपकार करोगे, उसी यज्ञसे तुम मेरे सच्चे याजक हो सकोगे। परन्तु इस तरहकी एक एक बात मैं तुमको कहाँ तक बतलाऊँ! भाई, तुम स्वयं अपने आपमें सेवक-भावकी स्थापना करो और बाकी सब लोगोको मद्रूप मानकर उन्हे सेव्य समझो। इससे भूत-मात्रकी ओरसे तुम्हारे मनका द्वेष दूर हो जायगा और तुम इसी ज्ञान-भावनासे नम्रता ग्रहण कर सकोगे कि सब जगह मैं ही मैं हूँ; और इससे तुम्हें मेरा पूरा और पक्का आश्रय प्राप्त होगा। फिर इस भीड-भाडसे भरे हुए संसारमे किसी तीसरेका नाम ही न रह जायगा। और हम-तुम सचमुच एकान्तमे मिल सकेंगे। फिर चाहे कैसी ही अवस्था क्यों न उत्पन्न हो, तो भी तुम्हारा और मेरा पारस्परिक सहवास उपभोग करनेके लिए ही बच जायगा और हम लोगोका सुख आपसे आप बढ़ने लगेगा। और हे अर्जुन, जिस अवस्थामे तीसरेपनका झगडा नही रह जाता, उसी अवस्थामे तुम अन्तमें मद्रूप होकर मिल जाओगे। जब जलका नाश हो जाता है, तब जलमे पडनेवाले प्रतिबिम्बको अपने बिम्बके साथ मिलकर एक होनेसे भला कौन रोक सकता है? यदि वायु आकाशके साथ अथवा तरंग समुद्रके साथ मिलकर एक होने लगे तो उनमें कौन बाधक हो सकता है? तुम और हम जो अलग अलग दिखाई देते हैं, वह इसी देह-धर्मके कारण दिखाई देते हैं। परन्तु जब यह देह ही न रह जायगा. तब यह बात निश्चित है कि तुम भी 'मैं" ही हो जाओगे। मेरे इस वचनके सम्बन्धमे तुम अपने मनमे तनिक भी शंका मत उत्पन्न होने दो। यदि इस विषयमे तुम कुछ भी उपेक्षा करो तो तुम्हें अपनी कसम है। तुम्हे स्वयं तुम्हारी ही शपथ देना मानो आत्म-स्वरूपकी ही शपथ देना है। परन्तु इसमे आश्चर्यकी कोई बात नही है, क्योकि प्रीतिका लक्षण ही यही है कि वह लज्जाका कभी स्मरण ही नहीं होने देती। और नही तो जो ज्ञानका विषय है, जो प्रपंचसे अलिप्त है, जिसके कारण इस विश्वका वास्तवमे भास होता है, जिसकी आज्ञाका प्रताप स्वयं कालको भी हरा देता है, वह मैं देव यदि सत्य संकल्प हूँ और यदि मैं जगतके कल्याणके लिए सदा सचेष्ट रहता हूँ, तो फिर मैं शपथ देनेका निरर्थक प्रयत्न ही क्यों करूँ? परन्तु हे अर्जुन, तुम्हारे प्रेमके कारण मैं इतना पागल हो गया हूँ कि अपने देवत्ववाले भूषण भी मैंने उसी पागलपनमे फेक दिये हैं। हे अर्जुन, इसी लिए मैं तो मानो आधा हो गया हूँ और तुम मद्रूप होनेके कारण पूरे या संपूर्ण बन गये

जलके सिवा और कुछ भी नही है, तब उस तरंगके आकारको कभी वास्तविक नही समझता। जागने पर स्वप्नके विकारोका हिसाब लगानेवाला अपने आपको छोडकर और कुछ भी नही देख सकता। इसी प्रकार वह पुरुष भी भाव-रूपसे अथवा अभाव-रूपसे ज्ञेयके रूपमे जान पडनेवाले समस्त पदार्थोके सम्बन्धमे यही समझता है कि सब कुछ मैं ज्ञाता ही हूँ; और यही अनुभव करके वह उन सबका उपभोग करता है। वह जानता है कि मै अजन्मा, अमर, अक्षय, अक्षर, अपूर्व और अपार आनन्द हूँ। मै अचल और अच्युत, अनन्त और अद्वय, आद्य और निराकार तथा साकार भी हूँ। मै सत्ताके सामने दबनेवाला या ईश्य भी हूँ और सत्ताका संचालन करनेवाला अर्थात् ईश्वर भी हूँ। अनादि, अविनाशी, निर्भय, आधार और आधार पर ठहरनेवाली आधेय वस्तु भी मै ही हूँ। मै सत्ताधारी, नित्य, सिद्ध, स्वयंभू, निरन्तर सर्व रूप, सर्वान्तिर्यामी और सबसे परेका हूँ मै नया भी हूँ और पुराना भी; शून्य भी हूँ और सम्पूर्ण भी। बडा अथवा छोटा, जो कुछ है, वह सब मै ही हूँ। मै कर्म-हीन, द्वैत-हीन संग-हीन और शोक-हीन हूँ। व्याप्त होनेवाला और व्याप्त करनेवाला पुरुषोत्तम भी मै ही हूँ। मुझमे शब्द, कान, रूप अथवा गोत्र आदि कुछ भी नही है। मै सर्वत्र समान और स्वयं-सिद्ध हूँ। मै परब्रह्म हूँ। इस प्रकारके अपनेपनके एकत्वके द्वारा वह मुझे इस अद्वय भक्तिकी सहायतासे सचमुच जानता है; और साथ ही वह यह भी जानता है कि इस आत्मबोधका अनुभव जो ज्ञान है, वह भी मै ही हूँ। जिस प्रकार जागने पर स्वप्नमेका आभास नही रह जाता और केवल वह पुरुष ही, जो स्वप्न देखता है, रह जाता है और इस बातका पता जिस प्रकार स्वयं उसे ही होता है अथवा जिस प्रकार सूर्य जब प्रकट होता है, तब वही प्रकट करनेवाला भी होता है और यह बात भी वही प्रकट करता है कि प्रकट होनेवाला और प्रकट करनेवाला दोनो अभिन्न हैं, उसी प्रकार ज्ञान-विषयका लोप हो जानेके कारण केवल ज्ञाता ही बाकी रह जाता है; और यह बात जिसकी समझमे आती है, वह भी वह स्वयं ही होता है। हे अर्जुन, अपनी उस अद्वैतताको जाननेकी जो ज्ञानशक्ति है, उसके सम्बन्धमे भी उसकी समझमे यह बात आ जाती है कि वह शक्ति भी सर्व-समर्थ मै ही हूँ। इसके उपरान्त वह यह भी समझ लेता है कि द्वैत और अद्वैत दोनोसे परे रहनेवाली जो एकमेवाद्वितीय आत्मा है, वह भी मै ही हूँ और इस विषयमे कुछ भी सन्देह नही है, और जब उसे इस ज्ञानका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तब जिस प्रकार उस अवस्थामे, जब कि जाग उठने पर अपने अकेलेपनका जो भान होता है, उसके भी नष्ट हो जाने पर यह नही कहा जा सकता कि उसका स्वरूप कैसा होगा, अथवा आँखोसे देखते ही जिस प्रकार स्वर्णमे सोनेपनके साथ साथ अलकारका भी लोप हो जाता है अथवा नमकके जल-स्वरूप हो जाने पर उस नमककी नमकीनी उस पानीमे बनी रहती है, परन्तु उस नमकीनीके भी न रह जाने पर जिस प्रकार नमकका अस्तित्व ही बिलकुल मिट जाता है, उसी प्रकार जब यह भान भी कि—"मै वही परब्रह्म हूँ" स्वानन्दके अनुभवके शान्त रसमे विलीन हो जाता है, तब वह मुझमे प्रवेश करता है।

हो। हे अर्जुन, जिस प्रकार अपना कार्य सिद्ध करनेके लिए राजाको स्वयं अपनी ही शपथ करनी पडती है, ठीक उसी प्रकारकी बात यहाँ भी है।" यह सुनकर अर्जुनने कहा—हे भगवन्, आप इस प्रकारकी विलक्षण बातें न कहे; क्योकि मेरे समस्त कार्य केवल आपके नामके स्मरणसे ही चल रहे है। तिस पर आप इस समय मुझे उपदेश देनेके लिए बैठे हैं। अब यदि आप ही शपथपूर्वक वचन देने लगे तो फिर मै यह जानना चाहता हूँ कि क्या आपकी इस विनोदपूर्ण लीला की कोई मर्यादा भी है? सूर्यके प्रकाशका एक अल्प अश भी कमलोको खिला देता है, परन्तु इसी निमित्तसे वह पूरेका पूरा प्रकट होता है। मेघ इतना जल बरसाता है कि उससे पृथ्वीका दाह भी शान्त हो जाय और सारा समुद्र भी भर जाय। ऐसी अवस्थामे जब वह चातककी तृषा शान्त करता है, तब क्या चातक उसका केवल निमित्त नही है? इसलिए हे करुणा-निधि और दाताओमे श्रेष्ठ भगवन्, क्या इस अवसर पर यह नही कहना पडता कि आपकी इस उदारताका मै भी निमित्त मात्र ही हूँ?" इतने मे श्रीकृष्णदेवने कहा—बस बहुत हो चुका। इस विषयका यह प्रसंग ही नही है। मैने अभी तुम्हे जो साधन बतलाये हैं, उन साधनोसे तुम निस्सन्देह मेरा स्वरूप प्राप्त करोगे। नमकका डला जिस समय समुद्रमे पडता है, उसी समय वह गल जाता है। अथवा उसके न गलनेके लिए कोई कारण होता है? इसी प्रकार जब वस्तु मात्रमे रहनेवाले मेरे स्वरूपकी भक्ति उत्पन्न हो जायगी, तब सभी विषयोमे तुम्हारे मनमे आत्म-बुद्धि उत्पन्न हो जायगी, तुम्हारा देहाभिमान बिलकुल नष्ट हो जायगा और तुम भी "मै" ही बन जाओगे। इस प्रकार मैने तुम्हे यह बतला दिया है कि कर्मसे सीधी तरहसे बढते-बढते साधनोकी मंजिल मेरी प्राप्ति तक कैसे आकर पहुँचती है। हे अर्जुन, इस बराबर आगे बढनेवाली गतिका क्रम ऐसा है कि यदि सब कर्म मुझे अर्पित कर दिये जायँ तो मेरी भावनासे चित्त शान्त और प्रसन्न हो जाता है, फिर उस प्रसन्नतामे मेरा ज्ञान प्राप्त होता है और उस ज्ञानके द्वारा मनुष्य मेरे स्वरूपके साथ मिलकर एक-रूप हो सकता है। हे अर्जुन, उस अवस्थामे साध्य अथवा साधन कुछ भी बाकी नही रह जाता। बल्कि यो कहना चाहिए कि उस अवस्थामे कुछ भी काम करनेके लिए बाकी नही रह जाता। तुम अपने समस्त कर्म निरन्तर मुझे अर्पित करते रहे हो और इसी लिए आज तुम्हे मेरी प्रसन्नता प्राप्त हुई है। इसी लिए इस प्रसन्नताकी सामर्थ्यसे युद्ध करनेका प्रतिबन्ध नष्ट हो जायगा। मैं एक बार तुम पर मुग्ध हुआ हूँ और इसलिये अब मै कभी ऐसी अवस्था नही आने दूँगा जिसमे तुम्हे गिडगिडाना पडे। जिसके योगसे इस सारे प्रपचके साथ साथ अज्ञानका भी नाश होता है और सब जगह केवल मै ही मै दिखाई देने लगता हूँ, उसी ज्ञानका दृष्टान्त आदिकी सहायतासे स्पष्ट किया हुआ रूप यह गीता है। मैने तुम्हे अनेक प्रकारसे आत्म-ज्ञानका उपदेश किया है, और धर्मा-धर्मकी भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले जो अज्ञान है, उन सबको तुम इस ज्ञानकी सहायतासे हटाकर दूर फेक दो।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजः।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामी मा शुचः॥६६॥

उस अवस्थामें "वह" का भी कहीं नाम नही रह जाता और "मै" के लिए भी कोई ठिकाना नही रह जाता। इस प्रकार उसकी "मै" और "वह" वाली भावना नष्ट हो जाती है और मेरे स्वरूपमे मिल जाता है। जिस समय कपूर जलने लगता है, उस समय तो उसे अग्नि कहना उपयुक्त होता है; परन्तु जब कपूरका भी लोप हो जाता है और अग्निका भी लोप हो जाता है, तब जिस प्रकार केवल आकाश तत्व ही बाकी रह जाता है अथवा जिस प्रकार एकमेंसे एक घटाने पर केवल शून्य बाकी रह जाता है, उसी प्रकार "है" और "नही है" अथवा भाव और अभाव दोनोंको अलग कर देने पर जो कुछ बचा रहता है, वही मै हूँ। उस अवस्थामें "ब्रह्म", "आत्मा" और "ईश्वर" आदि शब्दोंमे भी उस स्वानन्दमें विघ्न पड़ता है और "न" अर्थात् "कुछ नही कहनेकी भी वहाँ जगह बाकी नही रह जाती। उस समय बिना कुछ भी बोले और बिना मुँहसे कोई शब्द निकाले ही, खूब जी भरकर "न" कहा जाता है और ज्ञान तथा अज्ञानकी कोई जानकारी न होने पर भी वह बिलकुल ठीक तरहसे जाना जाता है। वहाँ बोधसे ही बोधको समझाया जाता है, आनन्दसे ही आनन्दका आलिंगन किया जाता है और केवल सुखसे ही सुखका भोग किया जाता है। उस अवस्थामें लाभको ही लाभ होता है, प्रभामें ही प्रभा लगती है और विस्मय मानो विस्मयमें ही डूब जाता है। उस अवस्थामे शमको भी शान्ति प्राप्त होती है, विश्रामको भी विश्रान्ति मिलती है और अनुभव पर अनुभवका पागलपन सवार हो जाता है। तात्पर्य यह कि कर्म-योगकी सुन्दर बेल लगानेका उस पुरुषको यही आत्म-स्वरुपवाला निर्दोष फल प्राप्त होता है। और हे अर्जुन, इस कर्म योगके सम्राट्के मुकुट पर चैतन्य रूपी रत्न मै ही होता हूँ और इसके बदलेमे वह मेरा मुकुटमणि होता है। अथवा इस कर्मयोग रूपी मन्दिरका मानों मोक्ष ही कलस है और उस कलसके ऊपर रहनेवाला आकाशका विस्तार वह कर्म-योगी होता है। अथवा यह समझना चाहिए कि संसार-रूपी वनमें कर्म-योग ही एक अच्छी सडक है और वह सड़क सीधी मेरे ऐक्य-रूपी ग्राम तक आ पहुँचती है। अथवा यह समझना चाहिए कि ज्ञान-भक्तिके जलके साथ कर्म-योगके प्रवाह-मार्गसे वह बड़े वेगसे चलकर "मैं" नामक आत्मानंद रूपी सागरमें आ मिलता है। हे सुविज्ञ अर्जुन, इस कर्म-योगका माहात्म्य इतना अधिक है और इसी लिए मै तुम्हे बार बार इसका उपदेश करता हूँ। यह "मै" कोई ऐसी वस्तु नही है, जिसे उचित स्थल, काल अथवा पदार्थका साधन करके प्राप्त किया जा सके, वल्कि यह "मै" एक ऐसी वस्तु है जो आपसे आप पूर्ण रूपसे सबमे वर्त्तमान रहती है; और इसी वास्ते मुझे प्राप्त करनेके लिए किसी प्रकारका कष्ट नही सहना पडता। इस कर्म-योगके द्वारा ही मै वास्तवमे हाथमे आ जाता हूँ। यह व्यवहार सभी जगह प्रचलित है कि एक शिष्य होता है और दूसरा गुरु होता है। परन्तु यह व्यवहार केवल मेरी प्राप्तिका मार्ग जानने भरको ही है। हे अर्जुन, पृथ्वीके गर्भमे सम्पत्ति, काष्ठके गर्भमें अग्नि और स्तनमे दूध सदा स्वभावतः रहता ही है। परन्तु जो पुरुष इन पदार्थोंको प्राप्त करनेके उपाय करता है, वही इन्हे प्राप्त कर सकता है। ठीक इसी प्रकार मैं भी वास्तवमें स्वतः-सिद्ध ही हूँ, परन्तु उपायोसे साध्य होता हूँ।" इस अवसर पर कोई प्रश्न कर सकता है कि इतने

"जिस प्रकार आशा दुःखोंको जन्म देती है अथवा निन्दासे पातक उत्पन्न होते हैं अथवा दुर्दैव जिस प्रकार दीनताका कारण होता है, उसी प्रकार अज्ञानने स्वर्ग और नरक प्राप्त करनेवाले धर्म अधर्मकी सृष्टि की है। परन्तु अज्ञान-जन्य उन समस्त कल्पनाओको तुम इस ज्ञानसे बिलकुल दूर कर दो। स्वयं डोरीको हाथमें ले लेने पर जिस प्रकार हम उस डोरीमें होनेवाले सर्पाभासका परित्याग कर देते हैं अथवा जिस प्रकार स्वप्नके साथ साथ हम उसके समस्त व्यवहारोंका भी अन्त कर देते है अथवा जिस प्रकार कमल रोगके नष्ट होते ही चन्द्र-बिम्बमें दिखाई देनेवाला पीलापन भी आपसे आप दूर हो जाता है अथवा जिस प्रकार रोगके दूर होने पर हमारी जबानका कड़ुआपन ही आपसे आप दूर जाता है अथवा जिस प्रकार दिनके डूबने पर मृगजल भी नही दिखाई देता अथवा जिस प्रकार लकड़ीके परित्यागके साथ ही साथ अग्नि-का भी परित्याग हो जाता है, उसी प्रकार जो मूल अज्ञान धर्म और अधर्मकी गडबडी उत्पन्न करता है, उस अज्ञानको दूर कर देने पर साथ ही साथ धर्म और अधर्मके सब झगड़े भी आपसे आप दूर हो जाते है। और जब अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब आपसे आप एक मात्र मैं ही बाकी बच रहता हूँ। जिस प्रकार निद्राके साथ साथ स्वप्नका भी नाश होने पर केवल अपना ही भान बाकी नही रह जाता है उसी प्रकार अज्ञानके दूर हो जाने पर मेरे सिवा और कुछ बाकी नही रह जाता; और मेरे उस केवल स्वरूपमे मिलकर जीव बिलकुल एकाकार हो जाता है। स्वयं अपनी भी भिन्नता न रखकर साथ मिलकर एक हो जानेको ही "मेरी शरणमे आना" कहते हैं। जिस प्रकार घटका नाश होते ही उसमेका गगन-गगनमे मिल जाता है, उसी प्रकार इस शरणगतिसे मेरे साथ एकता सिद्ध होती है। जिस प्रकार सोनेकी मणि सोनेमे अथवा तरंग पानीमें मिल जाती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, तुम भी मेरी शरणमे आकर मेरे साथ मिल जाओ। हे अर्जुन, और नही तो सागरकी शरणमे बडवाग्नि आई और उसने स्वयँ सागरको ही जला डाला; इस प्रकारकी कल्पनाएँ तुम बिलकुल छोड दो। कोई मेरी शरणमें आवे और फिर भी उसमे अपने जीव होनेका भाव बना रहे, यह बात बिलकुल हास्यास्पद है। जिस बुद्धिके कारण इस प्रकारकी बाते मुँहसे निकले, उस बुद्धिको भला लज्जा क्यो न आवे? हे पार्थ, यदि किसी राजाके गले कोई सामान्य दासी भी आ पडे तो वह भी राज-वैभव प्राप्त कर लेती है। फिर यदि कोई यह कहे कि मुझ विश्वके ईश्वरके मिल जाने पर भी जीवत्वकी गाँठ नही टूटती, तो इस प्रकारकी दुष्ट बातोकी ओर तुम बिलकुल ध्यान मत दो। मद्रूप होकर बहुत सहजमे मेरी सेवा की जा सकती है, इसलिए तुम मेरी ऐसी ही सेवा करो, क्योकि इसीके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसके उपरान्त जिस प्रकार मठेमेसे निकला हुआ मक्खन फिर लाख उपाय करने पर भी उस मठेमे नही मिल सकता, उसी प्रकार जब तुम एक वार अद्वैतवाली भावनासे मेरी शरणमे आ जाओगे, तब लाख उपाय करने पर भी धर्म और अधर्मका झगड़ा तुम्हे स्पर्श न कर सकेगा। लोहा यो ही पड़ा पड़ा मिट्टी हो जाता है। परन्तु जब एक बार पारसके साथ स्पर्श होने पर वह सोना बन जाता है,

समय तक फलका विवेचन कर चुकने पर अब कृष्णदेव उपायकी प्रस्तावना क्यो करते हैं। तो इसका उत्तर यह है कि इस प्रस्तावनामे यह बतलाया गया है कि इस गीताका मुख्य रहस्य यही है कि प्रत्यक्ष मोक्ष-साधनके सम्बन्धमें सभी दृष्टियोसे विवेचन किया जाय। दूसरे अनेक शास्त्रोमे भी इसके अनेक उपाय बतलाये गये हैं, परन्तु उनके सम्बन्धमे यह नही कहा जा सकता कि वे सब प्रमाण-सिद्ध ही है। हवा यदि बहुत करे तो बादलोको उडा सकती है, परन्तु वह सूर्यका निर्माण नही कर सकती। हाथसे पानीमेकी सेवार हटाकर एक ओर की जा सकती है, परन्तु उससे जल नही उत्पन्न किया जा सकता। इसी प्रकार आत्म-दर्शनमे बाधा उत्पन्न करनेवाला जो अज्ञानका मल होता है, उसे तो शास्त्र दूर कर सकते है, परन्तु बाकी "मैं" सदा स्वयं प्रकाश और निर्मल ही रहता हूँ। इसी लिए समस्त शास्त्र केवल अज्ञानका मल धोनेके साधन है। इसके अतिरिक्त आत्म-बोध करानेकी उनमे कोई स्वतन्त्र योग्यता नही है। उन अध्यात्म शास्त्रोमे जब सच्चाई सिद्ध करनेका प्रसंग आता है, तब वे जिस स्थानमें जाते हैं, वह स्थान यही गीता है। जब सूर्य पूर्व दिशाको मडित करता है, तब सभी दिशाएँ उज्वल हो जाती हैं। इसी प्रकार शास्त्रोको उचित मार्ग पर चलानेवाली यह गीता है और इसी गीताकी सहायतासे सब शास्त्र समर्थ होते हैं। अस्तु। पहले सर्वज्ञ श्रीकृष्णने आत्म-प्राप्ति करनेके अनेक उपाय बहुत विस्तारपूर्वक बतलाये हैं। परन्तु फिर भी श्री हरिने अपने मनमे बहुत ही चिन्तित होकर यह सोचा कि सम्भव है कि यह विषय एक बार सुनने पर तुरन्त ही अर्जुनकी समझमे न आया हो अथवा अच्छी तरहसे समझमे न आया हो। और इसी लिए अब एक बार बतलाया हुआ सिद्धान्त शिष्यके मनमे अटल रूपसे प्रतिबिम्बित करनेके लिए वही सिद्धान्त फिरसे सक्षिप्त रीतिसे श्रीकृष्ण कह रहे हैं। और साथ ही गीताकी समाप्ति निकट आ पहुँचनेके कारण यहा यह भी दिखलाया गया है कि उसके आरम्भ और अन्तमे एकसूत्रता है। यह दिखलानेका कारण यह है कि ग्रन्थके आरम्भ और अन्तके मध्यमे अनेक प्रकारके प्रश्न उपस्थित होनेके कारण अनेक सिद्धान्तोका स्पष्टीकरण किया गया है। इसमेके आगे और पीछेके सन्दर्भो पर ठीक तरहसे ध्यान न देनेके कारण कोई यह भी कह सकता है कि वे सब सिद्धान्त ही इस शास्त्रके मुख्य और सार-भूत सिद्धान्त हैं। इसी लिए उन सब सिद्धान्तोको एक महा-सिद्धान्तके साँचेमे ढालकर गीताके आरम्भकी उसकी समाप्तिके साथ एक-वाक्यताकी गई है। इस ग्रन्थका मुख्य और प्रस्तुत विपय अविद्याका नाश है और मोक्षका सम्पादन उस अविद्या-नाशका फल है। और इन दोनोका ही साधन ज्ञान हैं। केवल यही विपय इस विशाल ग्रन्थमे अनेक प्रकारसे विस्तार पूर्वक स्पष्ट किया गया है। अब यही विवेचन यहाँ बहुत थोड़ेसे शब्दोमे होनेको है। इसी लिए फल हाथमे आने पर ही उस फलको प्राप्त करनेके उपायोका फिरसे विवेचन करनेके उद्योगमे श्रीकृष्ण प्रवृत्त हुए हैं।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

श्रीकृष्णने कहा—"हे वीर-श्रेष्ठ, अर्जुन, वह कर्म-योगी अपनी स्थिर भक्तिकी

तब फिर उसमें कभी मल नही लगता। अथवा यदि लकड़ीको रगड़कर उसमेकी अग्नि प्रकट कर ली जाय, तो फिर वह अग्नि लकड़ीमे छिपी नही रह सकती। हे अर्जुन, क्या कभी सूर्यको भी अँधेरा दिखाई देता है? अथवा क्या कभी जागते रहनेकी अवस्थामें भी स्वप्नके भ्रमका अनुभव किया जा सकता है? ठीक इसी प्रकार एक बार मेरे साथ एकता हो जाने पर मेरे स्वरूपके सिवा और कोई चीज बाकी रहनेका कोई कारण हो सकता है? इसलिए तुम मेरे सिवा और किसीको अपने मनमे कल्पना भी मत करो। तुम्हारे सब पाप और पुण्य मैं ही होऊँगा। समस्त बन्धनोका लक्षण जो पाप वास्तवमे द्वैत भावके कारण बचा रह जाता है, वह भी मेरे ज्ञानके कारण नष्ट हो जायगा। हे सुविज्ञ अर्जुन, जो नमक पानीमे पडता है, वह पूरी तरहसे पानी ही हो जाता है। इसी प्रकार यदि तुम अनन्य भावसे मेरी शरणमे आओगे तो तुम भी मद्रूप ही हो जाओगे। और हे अर्जुन, जब तुम मद्रूप हो जाओगे, तब आपसे आप मुक्त भी हो जाओगे। तुम मेरा स्वीकार करो और मैं अपने प्रकाशसे तुम्हारी मुक्ति कर दूँगा। इसी लिए, हे अर्जुन, इस समय तुम्हे इस प्रकार चिन्तित होनेकी कोई आवश्यकता नही है। हे बुद्धिमान पार्थ, तुम इस ज्ञानसे युक्त होकर एक मात्र मेरी ही शरणमे आ जाओ।" विश्व-स्वरूप, सर्व-द्रष्टा और सर्व-व्यापी भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनसे यही बाते कही थी। इसके उपरान्त उन्होने अपना कंकड-युक्त साँवला दाहिना हाथ पसारकर अपनी शरणमे आये हुए उस भक्त-श्रेष्ठ अर्जुनको आलिगन किया। जहाँ न पहुँच सकनेके कारण बुद्धिको बगलमे दबाकर शब्द पीछे लौट आते हैं और जिसका शब्द अथवा बुद्धिसे आकलन नही हो सकता, वही स्वरूप अर्जुनको प्रदान करनेके लिए श्रीकृष्णने बहानेसे उसको यह आलिगन किया था। श्रीकृष्णके हृदयके साथ अर्जुनका हृदय लगते ही श्रीकृष्णके हृदयका रहस्य अर्जुनके हृदयमे प्रविष्ट हो गया और उसके द्वैत भावका अन्त होते ही श्रीकृष्णने उसे आत्म-स्वरूप कर लिया। जिस प्रकार एक दीपकसे दूसरा दीपक जलाया जाता है, उसी प्रकारका वह गाढ आलिगन भी हुआ था। और द्वैत बनाये रखकर भी श्रीकृष्णने अर्जुनको आत्म-स्वरूप कर लिया था। फिर उस अर्जुनके हृदयमे महासुखकी जो बाढ आई, उसमे इतने बड़े श्रीकृष्ण भी डूब गये। एक सागर जब दूसरे सागरमे मिलता है, तब पानी दूना हो जाता है और यथेष्ट स्थान प्राप्त करनेके लिए वह पानी ऊपर आकाशमे भी उछलने लगता है। ठीक वही बात श्रीकृष्ण और अर्जुनके मिलनेमे भी हुई थी। दोनो मारे आनन्दके फूले नही समाते थे। कौन कह सकता है कि यह सम्मिलन कैसा हुआ था। उस समय सारा विश्व मानो पूरी तरहसे नारायणसे भर गया था। इस प्रकार वेदोका मूल-सूत्र बनानेवाला यह गीता-शास्त्र समस्त अधिकारोसे युक्त और पूर्ण रूपसे पवित्र श्रीकृष्णने प्रकट किया था। आप लोगो के मनमे कदाचित् यह शका उत्पन्न हो कि यह गीता वेदोका मूल कैसे हुई, तो मैं इसका भी स्पष्टीकरण कर देता हूँ। जिनके श्वाससे वेदोका जन्म हुआ, स्वयं वही सत्यवाणी महाविष्णु अपने मुखसे प्रतिज्ञापूर्वक यह बात कहते है; और इसी लिए हमारा यह कहना भी बिलकुल ठीक है कि वेदोका मूल गीता है। इस बातका स्पष्टीकरण और

सहायतासे "मैं" हो जाता है और अटल रूपसे मुझमे निवास करता है। स्वकर्माचरणके निर्मल पुष्पोसे मेरी अर्चा करता है और उस अर्चासे प्राप्त होनेवाले प्रसादसे उसे ज्ञाननिष्ठाका लाभ होता है। जब यह ज्ञान-निष्ठा प्राप्त हो जाती है, तब मेरी भक्तिका उत्कर्ष होता है और उस भक्तिसे प्राप्त होनेवाली सम अवस्थाकी शान्तिसे वह सुखी होती है। विश्वको प्रकाशित करनेवाला जो "मैं" हूँ उस "मैं" को अर्थात् स्वयं अपनी ही आत्माको जो सब जगह ओत-प्रोत भरा हुआ समझता है और इसीके अनुसार आचरण करता है, जो उसी प्रकार बुद्धि, वाचा और शरीरमें केवल मेरा ही आश्रय ग्रहण करता है, जिस प्रकार नमक अपना निरालापन छोड़कर जलका आश्रय ग्रहण करता है अथवा वायु जिस प्रकार चक्कर लगाना छोड़कर आकाशमें स्तब्ध होकर रहती है, यदि उसके हाथो एकाध बार कोई ऐसा-वैसा काम भी हो जाय, तो भी जिस प्रकार गंगाके साथ सम्बन्ध हो जाने पर रास्तेमेंका गँदले पानीका प्रवाह और महानदीका प्रवाह दोनों मिलकर एक ही हो जाते हैं। चन्दन और साधारण लकड़ीमें तभी तक भेद रहता है, जब तक उनमे आग नही लगती। पांच कसवाले और सोलह कसवाले सोनेका भेद तभी तक रहता है, जब तक पारसके स्पर्शसे वे दोनों एक-रूप नही हो जाते। ठीक इसी प्रकार जब तक मेरे सर्व-व्यापी प्रकाशकी प्राप्ति न हो, तभी तक शुभ और अशुभके भेदका भास होता है। जब तक हम लोग सूर्यके द्वीपमें प्रवेश न करें, तभी तक रात और दिनके द्वन्द्वका भास होता है। इसलिए हे अर्जुन, मेरे साथ मेल होते ही उसके समस्त कर्मोंका लोप हो जाता है और वह सायुज्य मोक्षके आसन पर विराजमान हो जाता है। उसे मेरा वह अक्षय पद प्राप्त होता है, जिसका स्थल, काल या स्वभावसे कभी व्यय अथवा क्षय नही होता। हे अर्जुन, जहाँ मेरे अर्थात् प्रत्यक्ष आत्माके प्रसादकी प्राप्ति होती हो, वहाँ भला और किस लाभकी कमी रह सकती है? (अर्थात् वहाँ और सभी प्रकारके लाभ अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

"इसलिए हे अर्जुन, तुम अपने समस्त कर्मोंका मुझमें ही संन्यास करो। अपने समस्त कर्म मुझको ही अर्पित करो। परन्तु हे वीर अर्जुन, यही नित्य कर्मोंका सन्यास है। तुम अपनी मनोवृत्ति सदा आत्म-विवेकमें लगाओ। बस फिर उसी विवेककी सामर्थ्यसे तुम्हें अपना आत्म-तत्व मेरे उस स्वरूपमें निर्दोष रूपसे दिखाई देने लगेगा जो सब प्रकारके कर्मोंसे अलिप्त रहता है। और उस समय यह बात भी तुम्हारे ध्यानमे आ जायगी कि कर्मोंकी जन्म-भूमि जो प्रकृति या माया है, वह भी आत्मासे बहुत दूर है। फिर हे अर्जुन, जिस प्रकार पदार्थसे उसकी छाया अलग नही हो सकती, उसी प्रकार यह प्रकृति भी आत्म तत्वसे अलग नही रह सकती। जब इस प्रकार प्रकृतिका अन्त हो जायगा, समूल कर्म संन्यास आपसे आप हो जायगा। फिर कर्मोंका अन्त या नाश हो जाने पर केवल "मैं" या आत्म-तत्व ही बाकी रह जायगा और बुद्धि एक पतिव्रता स्त्रीकी भाँति पूर्ण निष्ठासे उसमें रमण करेगी। इस प्रकार जब बुद्धि अनन्य भक्तिसे

रीतिसे भी किया जा सकता है। यदि किसी वस्तुका नाश न हो और उसका समस्त विस्तार किसी पदार्थमें लय रूपमें संगृहीत हो, तो वह पदार्थ उस वस्तुका बीज ही समझा जाना चाहिए। और जिस प्रकार बीजमे वृक्ष रहता है, उसी प्रकार तीन कांडोवाली समस्त वेद-राशि इस गीताके अन्दर भरी हुई है। इसी लिए मुझे तो यही जान पडता है कि यह गीता ही वेदोंका बीज है; और यह बात स्पष्ट रूपसे दिखाई भी पड़ सकती है। जिस प्रकार हीरे मानिक आदिके आभूपणोसे सारा शरीर अलंकृत होता है, उसी प्रकार वेदोके त्रिकांडात्मक भाग इस गीतामें स्पष्ट रूपसे सुशोभित हो रहे है। अब मैं यह बात स्पष्ट करके बतलाता हूँ कि वेदोके कर्म-कांड आदि तीनों कांड गीतामे कहाँ-कहाँ हैं। इसका पहला अध्याय तो केवल शास्त्रीय विचारकी आरम्भिक प्रस्तावना है। दूसरे अध्यायमे सांख्य शास्त्रका सिद्धान्त प्रकट किया गया है। उसमे केवल यह बतलाया गया है कि मोक्षकी प्राप्तिके लिए सांख्य शास्त्र एक मात्र ज्ञानके अतिरिक्त और किसी बातकी अपेक्षा नही करता। फिर तीसरे अध्यायमें इस विषयका आरम्भ किया गया है कि जो लोग अज्ञानसे जकडे हुए हैं, उनके लिए मोक्ष प्राप्त करनेके साधन कौन-से है। वह साधन यह है कि जो काम्य तथा निपिद्ध कर्म मनुष्यको देहाभिमानके बन्धनमे डालते हैं, उन्हे छोडकर मनुष्यको सदा ठीक तरहसे अपने लिए उपयुक्त नित्य और नैमित्तिक कर्मोका आचरण करना चाहिये। तीसरे अध्यायमे भगवानने यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि इस प्रकार निर्मल वृत्तिसे कर्मोका आचरण करना चाहिए। इसीको कर्म-कांड समझना चाहिए। जब बद्ध पुरुषके मनमे यह विचार उत्पन्न होता है कि इन नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोका आचरण अज्ञानका बन्धन किस प्रकार तोड़ता है, तब यह मुमुक्षुओके पद पर आ पहुँचता है। और उस समयके लिए भगवानने यह बतलाया है कि मनुष्यको अपने समस्त कर्मोका आचरण, उन्हे ब्रह्मार्पण करते हुए करना चाहिए कि श्रीकृष्णदेव का कहना यह है कि शरीर, वाणी और मनके द्वारा जिन विहित कर्मोका जिस प्रकार आचरण हो, वे सब उसी रूपमें ईश्वरके अर्पण किये जाने चाहिएँ। कर्म-योगके द्वारा होनेवाली ईश्वर-भक्तिके व्याख्यानका जो यह मधुर खाद्य पदार्थ चौथे अध्यायके अन्तिम भागमे परोसा गया है, वही "ईश्वरका भजन कर्मोके आचरण द्वारा करना चाहिए" वाला तत्व बराबर विश्वरूप-दर्शनवाले ग्यारहवी अध्यायके अन्त तक प्रतिपादित किया गया है। इसलिए चौथे अध्यायसे ग्यारहवें अध्याय तक जो आठ अध्याय हैं, वही देवता काड है। समस्त प्रतिबन्धो को दूर करके गीता शास्त्रने इस विषय मे ऊहापोह किया है। और इस ईश्वर-भक्तिके कारण ईश्वरके प्रसादसे श्री गुरु-सम्प्रदायके अनुरूप जो सत्य और प्रेमपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, उसके सम्बन्धमे मैं यह समझता हूँ कि बारहवाँ अध्याय यह बतलाता है कि उसे अद्वेष्टा और अमानिता आदि गुणोकी सहायतासे बढ़ाना चाहिए। उस बारहवे अध्यायसे पन्द्रहवें अध्याय तक ज्ञानका परिपक्क फल ही निरूपणका विपय है। इसलिए ऊर्ध्वमूल तकके इन चार अध्यायोमें ज्ञान-कांडका ही विवेचन है। इसीलिए यहाँ कांड-त्रयका

निरूपण करनेवाली श्रुति (अर्थात् ब्रह्म विद्या) यही गीता पद्य रूपी रत्न-खचित अलंकार पहनकर सुशोभित और अलंकृत हुई है। अस्तु। कांड-त्रयात्मक श्रुति जिस मोक्ष-फलकी उच्च स्वरसे घोषणा करती है और जिसे अवश्यमेव प्राप्त करनेके लिए वह कहती है उस फलके साधन ज्ञानके साथ दिन-रात वैर करनेवाले जो अज्ञानके समुदाय हैं, उनका प्रतिपादन सोलहवे अध्यायमे किया गया है। सत्रहवे अध्यायमें यह सन्देश है कि शास्त्रोकी सहायतासे इन शत्रुओ पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। इस प्रकार पहले अध्यायसे लेकर सत्रहवे अध्यायकी समाप्ति तक भगवानने वेदोंके ही रहस्यका विवेचन किया है और इन सत्रहो अध्यायोके अर्थका निष्कर्ष जिसमें दिया गया है, वह यह अठारहवाँ कलशाध्याय है। इस प्रकार समस्त अध्यायोकी संख्या देखते हुए यह भगवद्गीता नामक ग्रन्थ अपने ज्ञान-दानकी अलौकिक उदारताके कारण मानो मूर्तिमान वेद ही है। इसमे सन्देह नही कि वेद अपनी जगह पर ज्ञानकी सम्पत्तिसे भरपूर भरा हुआ है, लेकिन उसके समान दूसरा कंजूस भी और कही न मिलेगा। और इसका कारण यह है कि वह केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन जातियोके ही कानो तक पहुँच सकता है। इनके अतिरिक्त स्त्री और शूद्र आदि जो दूसरे मानवी जीव हैं, उन्हे वेद अपने ज्ञान-मन्दिरमें जरा भी स्थान नही देता। इसी लिए मुझे ऐसा जान पडता है कि प्राचीन कालके इस दोषका परिमार्जन करनेके लिए ही वेद इस गीता शास्त्रका वेष धारण करके सब लोगोके लिए साध्य हुआ है। केवल यही नही, बल्कि वह गीताके स्वरूपमे अर्थ-रूपसे मनमें प्रवेश करके श्रवण के द्वारा कानोसे लगाकर अथवा जप और पाठके बहाने मुखमें रहकर अब सभी लोगो-को प्राप्त होता है। जिन्हे इस गीताका पाठ याद होता है, उन्हे तो वेद इस गीताके रूपमे मोक्षका सुख प्रदान करता ही है, परन्तु उनके साथ साथ जो लोग गीताको लिखकर और उसे केवल पुस्तकके रूपमे अपने पास रखते है, उन सामान्य बुद्धिवाले लोगोके लिए भी वेदने इस संसारके चौरास्ते पर मोक्ष-सुखका मानो यह अन्न-सत्र ही खोल रखा है। जिस प्रकार आकाशमे रहने अथवा पृथ्वी पर बैठने अथवा सूर्यके प्रकाशमें घूमनेके लिए केवल गगन या आकाश ही एक ऐसा स्थान है जो सबके लिए समान रूपसे खुला हुआ है, और जिसमें किसीके लिए कोई प्रतिबन्ध नही है; उसी प्रकार यह गीता भी बिना किसी प्रकारके बन्धनके सबके लिए है। जो कोई इसके पास आता है, उसे बिना उत्तम या मध्यम कहे यह अपना लेती है और किसी प्रकार-का भेद-भाव किये सब लोगोको समान रूपसे कैवल्य सुख दान देकर सारे संसारको शान्त करती है। अपनी पुरानी निन्दासे डरकर वेदने गीताके उदरमे प्रवेश किया है और इसी लिए अब उसकी कीर्ति शुद्ध और उज्वल हो गई है। इस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको जिस भगवद्गीताका उपदेश किया था, वह मानो वेदका ऐसा स्वरूप है जिसका सेवन सभी लोग सहजमे कर सकते है। परन्तु जिस प्रकार बछडेके बहाने गौके स्तनमें दूध उतरता है और तब वह दूध घर-घरको पीनेको मिलता है, उसी प्रकार इस गीताने भी पाडवोके बहाने सारे ससारका उद्धार कर दिया है। प्यासे चातक पर दया करके मेघ उसके लिए पानी समेत दौडा आता है। परन्तु उस पानी-

चलता था और वह अपने मनमें उनके सम्बन्धमें यौंही कुछ उलटी-सीधी कल्पनाएँ कर रहा था। उस समय संजयको सुखका जो अनुभव प्राप्त हो रहा था, उसे स्वयं अपने ही आप तक परिमित रखकर संजयने अपनी वह विभोरता शान्त की। उस प्रसंगके योग्य और पूछनेके उपयुक्त बात दूर रखकर धृतराष्ट्रने संजयसे कहा—"भाई संजय, यह तुम्हारा कौन-सा ढंग है! व्यासने तुम्हे मेरे पास किस कामके लिए वैठाया था और तुमने न जाने यह कहाँका पचडा छेड़ दिया।" यदि किसी जंगली आदमीको कोई राज-महलमे ले जाय तो उस जंगलीको ऐसा जान पड़ता है कि मेरी कोई चीज खो गई है और उसे दसो दिशाएँ सूनी-सूनी जान पड़ती हैं। अथवा जव दिन निकलता है, तव निशाचरोंके लिए मानों रात ही हो जाती है। जो जिस विषयकी मधुरता नही समझता, उसे वह विषय नीरस अथवा विकट जान पडता है; और इसी लिए धृतराष्ट्रको संजयकी ये सव बातें अच्छी नही लगती थी और निरर्थक जान पड़ती थी। और यह वात उसके लिए विलकुल स्वाभाविक ही थी। फिर धृतराष्ट्रने संजयसे कहा—"अच्छा संजय; अव तुम मुझे यह वतलाओ कि यह जो युद्ध उपस्थित हुआ है, इसमें अन्तमे विजय किसकी होगी। मेरा तो प्राय यही पक्का विश्वास है दुर्योधनका पराक्रम सदा सफल होता है; और यदि पाडवोकी सेनाके साथ तुलना की जाय तो दुर्योधनकी सेना भी उससे ड्योढी है। इसलिये मैं तो यही समझता हूँ कि अन्तमे उसीकी जीत होगी। क्यो है यह वात ठीक या नही? भाई संजय, मुझे तो ऐसा ही जान पडता है। परन्तु तुम्हारी समझ क्या कहती हैं, यह मैं नही जानता। लेकिन फिर भी तुम चाहे जो कुछ समझते हो, एक वार मुझे वतलाओ तो सही।"

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इस प्रश्नके उत्तरमे संजयने कहा—"हे राजन्, मेरी समझमे तो यह कुछ भी नही आता कि इस युद्धमे दोनों पक्षोमेसे कौन-सा पक्ष विजयी होगा। परन्तु हाँ, यह वात विलकुल ठीक है कि जो आयुष्य हो तो मनुष्य अवश्य जीवित रहता है। जहाँ चन्द्रमा होता है, वहाँ चाँदनी भी अवश्य होती है, जहाँ शम्भु होते हैं, वहाँ पार्वती भी होती हैं; जहाँ सन्त होते हैं, वहाँ विवेक भी होता है। जहाँ राजा होगा, वहाँ सेना भी होगी; जहाँ सौजन्य होगा, वहाँ आपसदारी भी होगी; और जहाँ आग होगी, वहाँ दाहक शक्ति भी अवश्य ही रहेगी। जहाँ दया होगी, वहाँ धर्म भी अवश्य ही होगा, और जहाँ धर्म होगा, वहाँ सुखकी प्राप्ति भी अवश्य ही दिखाई देगी। जहाँ सुख होगा, वहाँ पुरुषोत्तम भी अवश्य ही रहेंगे। जहाँ वसन्त होगा, वहाँ वन भी होगा, और जहाँ वन होगा, वहाँ फूल भी अवश्य ही होगे। और जहाँ फूल होंगे, वहाँ भ्रमरोके झुड भी अवश्य ही आवेंगे। जहाँ गुरु रहते हैं, वहाँ ज्ञान होता है; और जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ आत्मदर्शन भी होता है, और जहाँ आत्म-दर्शन होता है, वहाँ समाधान भी होता ही हैं। भाग्यके पास विलास, सुखके पास उल्लास और सूर्य के पास प्रकाश अवश्य ही देखनेमे आता है। इसी प्रकार जिनके कारण समस्त पुरुषार्थोको सामर्थ्य अथवा शोभा प्राप्त होती है, वे श्रीकृष्ण जिस तरफ होगे, लक्ष्मी

से समस्त स्थावर और जंगमका भला होता है। जिस कमलको और कोई आधार नहीं है, उस कमलके लिए सूर्य प्रति दिन उदय होता है, परन्तु उससे सारे संसारके नेत्रोंको सुख होता है। इसी प्रकार अर्जुनके बहाने भगवानने गीताको प्रकाशित किया है, परन्तु इसीसे सारे जगतके सिर परसे संसार सरीखा बहुत बड़ा बोझ दूर हो गया है। ये भगवान् लक्ष्मी-पति नहीं हैं, बल्कि इन्हें मुख-रूपी आकाशसे उदित होकर शास्त्रीय रहस्यके रत्नोंकी प्रभासे तीनो लोकोको उज्वल करनेवाला सूर्य ही कहना चाहिए। जिस कुलमें जन्म लेनेवाला अर्जुन इस ज्ञानका पात्र हुआ और जिसने सारे जगतके लिए गीता शास्त्रका यह द्वार खोल दिया, वह धन्य कुल सचमुच पवित्र है। अस्तु। इसके उपरान्त सद्गुरु श्रीकृष्ण स्व स्वरूपमे मिल जानेवाले अर्जुनको फिर द्वैतवाले भानमें ले आये। वे कहने लगे—"हे पार्थ, क्या यह शास्त्र तुम्हे अच्छा जान पड़ा?" इस पर अर्जुनने कहा—"जी हाँ महाराज, आपके कृपा-प्रसादसे मुझे यह शास्त्र बहुत ठीक जँचा।" इस पर भगवान फिर कहने लगे—"हे अर्जुन, गुप्त भांडार प्राप्त करनेके लिए भाग्यके अलौकिक बलकी आवश्यकता होती है। परन्तु भाग्यसे एकत्र की हुई सम्पत्तिका उपयुक्त उपभोग करनेके लिए महद् भाग्य किसी विरलेको ही प्राप्त होता है। विना जमाये हुए शुद्ध दूधके क्षीर सागर जैसे प्रचंड मटकेको मथने मे कितना अधिक कष्ट हुआ होगा! परन्तु वह सारा परिश्रम भी अन्तमे सफल ही हुआ, क्योकि उसे मथनेवालोने स्वयं अपनी आँखोसे देख लिया था कि उसमेसे अमृत निकला है। परन्तु अन्तमें उस अमृतका ठीक तरहसे यत्न उन लोगोसे न हो सका। इसी लिए जो पदार्थ अमरता प्राप्त करनेके लिए सम्पादित किया गया था, वही मरणका कारण हुआ। यदि बिना इस बातका ज्ञान प्राप्त किये कि सम्पत्तिका भोग किस प्रकार करना चाहिए, सम्पत्तिका संग्रह किया जाय तो इसी प्रकारका अनर्थ होता है। राजा नहुष स्वर्गके स्वामी तो हो गये थे, परन्तु उनका आचरण ठीक नही हुआ; और इसी लिए तुम यह बात जानते हो न कि उन्हे सर्पकी योनिमे जाना पड़ा था? हे अर्जुन, तुम्हारे संग्रहमें अ-गण्य पुण्य थे, इसी लिए यह सर्वश्रेष्ठ शास्त्र प्राप्त करनेके लिए तुम पात्र हुए हो। परन्तु अब तुम इस शास्त्रके अनुसार पूरा पूरा आचरण करो और अटल निष्ठासे इसका पालन करो। नही तो हे अर्जुन, यदि तुम सम्प्रदायका उचित ध्यान न रखोगे और केवल इसके अनुष्ठानमे लग जाओगे तो उस अनुष्ठानकी भी वही अमृत-मन्थनवाली दशा होगी। मान लो कि खूब अच्छी मोटी ताजी और देखनेमें सुन्दर गौ मिल गई। लेकिन सन्ध्या समय उसका दूध पीनेको हमे उसी दशामें मिल सकेगा, जब हम उसका दूध दूहनेकी कला जानते होंगे। ठीक इसी प्रकार मान लो कि गुरु प्रसन्न हो गये और शिष्य भी विद्यासे सम्पन्न हो गया। परन्तु उस विद्याका ठीक ठीक फल तभी प्राप्त होता है, जब उस विद्याके सम्प्रदायका उचित रूपसे पालन किया जाता है। इसी लिए इस शास्त्रका जो सम्प्रदाय है, वह तुम अत्यन्त निष्ठापूर्वक सुन लो।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥६७॥

भी उसी तरफ रहेगी। और अपने पति सहित वह जन्मदाता लक्ष्मी जिसे प्राप्त होगी, क्या अणिमा आदि आठो सिद्धियाँ उसकी दासी नहीं हो जायेंगी ? श्रीकृष्ण स्वयं ही विजय-स्वरूप हैं, इसलिए वे जिस पक्षमें रहेंगे उसी पक्षकी ओर विजय भी दौड़ी हुई जायगी। फिर अर्जुन तो विजयके नामसे प्रसिद्ध ही है और श्रीकृष्ण स्वयं ही विजय-स्वरूप हैं, और इसलिए इस बातमें कुछ भी सन्देह नही है कि जिस ओर श्रीकृष्ण होगे, उसी ओर लक्ष्मीके सहित विजय भी अवश्य रहेगी। जिन्हें ऐसे प्रतिष्ठित और माननीय माता-पिताका आधार प्राप्त है, उनके देशके साधारण वृक्ष भी क्या होड़में कल्पतरु तकको नही जीत लेंगे ? वहाँके पत्थर भी चिन्तामणि क्यों न हो जायँगे ? और वहाँकी मिट्टीमें भी सोनेके गुण क्यों न विलास करेंगे ? यदि उनके गाँवोंकी नदियोंमें अमृत-रस प्रवाहित होने लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? हे राजन्, भला आप ही अपने मनमें विचार करके देखें। जिनके मुखसे निकले हुए उनके सीधे शब्द भी आनन्दसे वेदोमे गिने जाते हैं, भला स्वयं वे देहधारी सच्चिदानन्द क्यों न होगे ? श्रीकृष्ण और लक्ष्मी जिनके माता-पिता हों, उनके अधिकारमें स्वर्ग और मोक्ष दोनों ही रहते हैं। इसी लिए मैं तो केवल यही जानता हूँ कि जिस ओर लक्ष्मी-पति श्रीकृष्ण हैं, उस ओर सब प्रकारकी सिद्धियाँ मानों आपसे आप रखी हुई हैं। इसके सिवा और कुछ भी मेरी समझमें नही आता। समुद्रसे उत्पन्न होनेवाला मेघ स्वयं समुद्रसे भी बढ़कर अच्छे उपयोगमें आता है। ठीक यही बात अर्जुन और श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी हैं। यह ठीक है कि लोहेको सोनेकी दीक्षा देनेवाला गुरु पारस ही होता है, लेकिन फिर भी संसारके समस्त व्यवहार केवल सोनेसे ही चलते हैं, पारससे नहीं। इन पर कुछ लोग यह कहेंगे कि इन विचारोके कारण गुरुत्वमें कमी होती है। परन्तु यह बात कभी मदमें नहीं लानी चाहिए। जिस प्रकार अग्नि स्वयं अपना ही प्रकाश दीपकके द्वारा प्रकट करती है, उसी प्रकार देवकी ही शक्तिसे अर्जुन उस समय देवसे भी बढ़कर दिखाई देने लगा था। परन्तु वह देवसे जितना अधिक दिखाई देता था, उतना ही अधिक इस बातमें देवका गौरव और प्रशंसा भी होता है। फिर पिताकी सदा यही इच्छा होती है कि हमारे लड़के सभी सद्गुणोंमे हमसे भी खूब बढ़-चढ़कर हों, और शार्ङ्गपाणि श्रीकृष्णकी वही इच्छा सफल हुई थी। "हे राजा, धृतराष्ट्र, श्रीकृष्णकी कृपासे अर्जुन जिस पक्षका सहायक बना है, उसके सम्बन्धमें आपको यह सन्देह क्यों होता है कि उसे विजय न प्राप्त होगी। यदि उस पक्षको विजय न प्राप्त हुई तो फिर स्वयं विजय ही निरर्थक हो जायगी। इसीलिए मैं कहता हूँ कि जहाँ लक्ष्मी है, वही श्रीमान् कृष्णदेव हैं, और जहाँ पांडु-पुत्र अर्जुन है, वही सारी विजय और सारा उत्कर्ष रहेगा। यदि व्यासदेवके खरेपन और सत्यता पर आपका विश्वास हो तो आप यह समझ लें कि मेरा यह वचन अटल है। जहाँ वे लक्ष्मी-पति नारायण हैं, वही भक्त-श्रेष्ठ अर्जुन भी है और वहीं सुख तथा मंगलके लाभका निवास भी है। यदि मेरी यह बात झूठ निकले तो समझ लेना कि मैं व्यासदेवका शिष्य ही नहीं।" अभिमानपूर्वक अपनी इस प्रतिज्ञाका घोष करके संजयने दोनों हाथ

"हे अर्जुन, तुमने जो अत्यन्त भक्ति पूर्वक यह गीता-शास्त्र प्राप्त किया है, इसकी बाते कभी किसी तपोहीनसे नही कहनी चाहिए। अथवा यदि कोई अच्छा तपस्वी भी हो, परन्तु उसके हृदयमे गुरुकी दृढ़ भक्ति न हो, तो उससे भी यह शास्त्र उसी प्रकार बचाना चाहिए, जिस प्रकार अन्त्यजोसे वेद बचाये जाते हैं। कौआ चाहे बहुत अधिक वृद्ध ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी जिस प्रकार उसे यज्ञकी आहुतिका शेष भाग नहीं दिया जाता, उसी प्रकार ऐसे तपोवृद्धको भी यह गीता नही देनी चाहिये, जो गुरु-भक्तिसे हीन हो। अथवा यदि कोई ऐसा मनुष्य मिले, जिसने तप भी किया हो और जिसमें गुरुदेवके प्रति भक्ति भी हो, परन्तु फिर भी जिसमे ज्ञान-श्रवण करने का अनुराग न हो, तो वह अपने पहले दोनो गुणोके कारण लोकमे पूज्य तो अवश्य होगा, परन्तु गीता श्रवण करनेका पात्र वह न हो सकेगा। मोती चाहे कितना ही अधिक आबदार क्यों न हो, परन्तु यदि उसमे मुख या छिद्र न हो तो क्या डोरा कभी उसमें घुस सकेगा? यह बात भला कौन न मानेगा कि सागर बहुत अधिक गम्भीर है? परन्तु उस पर जो पावसकी वृष्टि होती है, क्या वह व्यर्थ ही नही जाती? जिसका पेट अच्छी तरह भरा हुआ हो, उसके सामने आग्रहपूर्वक उत्तम पक्वान्न परोसकर उन्हें व्यर्थ नष्ट करनेकी अपेक्षा वही पक्वान्न उदारतापूर्वक भूखे आदमियोको ही क्यो न दिये जायँ? इसलिए मनुष्य चाहे कितना ही अधिक योग्य क्यो न हो, तो भी यदि उसके हृदयमे ज्ञान श्रवण करनेका अनुराग न हो, तो उसे हँसीमें भी इस शास्त्रकी बाते न बतलानी चाहिए। क्यो, यह बात ठीक है या नही? नेत्र तो रूप-सौन्दर्यके पारखी होते है, वे भला सुवासका मर्म कैसे समझ सकते है? जहाँ जो बाते उपयुक्त हो, वही वह फलवती भी होती है। इसलिए तपस्वी और भक्त पुरुषोका सम्मान तो अवश्य करना चहिए, परन्तु जो शास्त्रके श्रवणके प्रति श्रद्धा न दिखला सकता हो, उसे इस गीताका उपदेश कभी न देना चाहिए। अब मान लो कि किसीमे तप है, भक्ति है, श्रवणका अनुराग भी है और इस प्रकार सारी सामग्री एकत्र है, तो भी इस गीता-शास्त्रका निर्माण करनेवाले और समस्त लोकोके मुक्त प्रभुके सम्बन्धमे जो प्रायः तुच्छतापूर्ण बाते कहा करता हो अथवा जो मेरे भक्तोके सम्बन्ध भी और स्वय मेरे सम्बन्धमे भी बहुत-सी निन्दापूर्ण बाते कहा करता हो, उसे भी तुम गीता-शास्त्र सुननेके लिए उपयुक्त पात्र न समझो। उसमे जो और सब गुणोकी सामग्री है, उसे बिना दीप-ज्योतिवाली रातकी दीयट ही समझना चाहिए। मान लो कि किसीका रग बहुत गोरा है और वह तरुण भी है और अलकारो आदिसे भली भाँति सुसज्जित भी है, परन्तु उसके शरीरमे प्राण नही है। अथवा खरे सोनेका बना हुआ मन्दिर है, परन्तु उसके दरवाजे पर नागिन रास्ता रोककर खड़ी है। अथवा दिव्य अन्न पककर तैयार है, परन्तु उसमे कालकूट विष मिला दिया गया है। अथवा मैत्री तो है, परन्तु उसके अन्दर कपट छिपा हुआ है। हे बुद्धिमान अर्जुन, तुम यह बात अपने ध्यानमे रखो कि उन लोगोकी भी ठीक इसी प्रकारकी दशा होती है, जिनमे तप, भक्ति और बुद्धि तो होती है, परन्तु फिर भी जो मेरे भक्तोकी अथवा मेरी निन्दा करते है। वे लोग भी

ऊपर उठाये। इस प्रकार समस्त महाभारत का सारांश एक ही श्लोकमें रखकर वह श्लोक संजयने धृतराष्ट्रके हाथमें दे दिया। अग्निका विस्तार अपरम्पार है। परन्तु सूर्यका अस्त हो जानेके कारण जो क्षति होती है, उसकी पूर्ति करनेके लिए जिस प्रकार कपासकी बत्तीके सिरे पर लगानेमें उसका उपयोग करते हैं, उसी प्रकार सबसे पहले वह शब्द-ब्रह्म या सवा लाख श्लोकोका भारत बना, जिसका कही अन्त ही नही है। इसके उपरान्त सात सौ श्लोकोंकी वह गीता बनी जिसमे भारत ग्रन्थका समस्त सार भरा हुआ है। और इन सात सौ श्लोकोमेसे यह अन्तिम श्लोक, जिसमें व्यासके शिष्य संजयका पूर्ण उद्‌गार भरा हुआ है, समस्त गीताका एकत्र किया हुआ अर्थ है। इस एक ही श्लोकको जो पुरुष अपने हृदयके साथ लगा रखेगा, वह मानों समस्त अज्ञानको पूर्ण रूपसे जीत लेगा। इस प्रकार ये सात सौ श्लोक मानों इस गीताके चलते हुए पैर ही है। अथवा इन्हें पैर न समझकर गीता रूपी आकाशका परम अमृत ही समझना चाहिए। अथवा मुझे ऐसा जान पडता है कि ये गीता रूपी आत्म-राजसभाके स्तम्भ ही हैं। अथवा सप्तशती अर्थात् सात सौ श्लोकोमें भगवतीके सम्बन्धमें बने हुए ग्रन्थके द्वारा वर्णित यह गीता मानो भगवती देवी ही समझी जानी चाहिए। यह मोह रूपी महिषको मुक्ति देकर (अर्थात् नष्ट करके) आनन्दित हुई है। इसी लिए जो मन, शरीर और वाणीसे इसका भक्त होगा, वह स्वानन्द अथवा आत्मानन्दके साम्राज्यका चक्रवर्ती राजा होगा। अथवा अविद्या रूपी अन्धकार दूर करनेमें प्रतिज्ञापूर्ण सूर्यको भी मात करनेवाले ये विलक्षण तेजस्वी श्लोक प्रभु श्रीकृष्णने रूपमे प्रकट किये हैं। अथवा संसारके थके हुए यात्रियोंको विश्रामका स्थल देनेके लिए यह गीता श्लोकाक्षर रूपी द्राक्षा-वल्लीका मंडप बन गई है। अथवा इस गीताको श्रीकृष्णको मुख-रूपी ऐसी पुष्करणी ही समझना चाहिए जो सात सौ श्लोक रूपी कमलोसे धन्य हुई हैं और सन्त रूपी भ्रमरोंसे भरी हुई है। अथवा ये सात सौ सन्त रूपी भ्रमरोंसे भरी हुई है। अथवा ये सात सौ श्लोक और कोई नही, गीताके महिमा गानेवाले भाट ही जान पड़ते हैं। अथवा इन सात सौ श्लोकोंके चारो ओर घर बनाकर इस गीता रूपी सुन्दर नगरीमें मानों भेद-वृन्द ही निवास करनेके लिए आ गये हैं। अथवा अपने पति परमात्माको प्रेमपूर्वक आलिंगन करनेके लिए गीता प्रियाने अपने जो बाहु पसारे हैं, इन श्लोकोंको वही बाहु समझना चाहिए। अथवा ये श्लोक गीता रूपी कमल परके भृंग हैं, अथवा गीता रूपी समुद्रकी तरंगें हैं अथवा गीता रूपी रथके घोड़े ही हैं। अथवा अर्जुन रूपी सिंहस्थ पर्व उपस्थित होनेके कारण इस गीता रूपी गंगामें स्नान करनेके लिए समस्त तीर्थ ही इन श्लोकोंके रूपमें आ पहुँचे हैं, और उन तीर्थोंका मानो मेला ही लगा हुआ है। अथवा ये श्लोकोंकी पंक्तियाँ नही है, बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि विरक्त चित्तको भी लुभानेवाले चिन्तामणियो अथवा कल्प-वृक्षोकी पंक्तियाँ लगाई गई है। इन सात सौ श्लोकोंमेंसे प्रत्येक श्लोक दूसरे प्रत्येक श्लोक की अपेक्षा कही बढ़-चढ़कर दिखाई देता है। ऐसी अवस्थामें यदि कोई उन सबकी अलग-अलग प्रशंसा करना चाहे तो भला कैसे कर सकता है? कामधेनुके सम्बन्धमें कभी यह कहा ही नही जा सकता कि यह आज-कल

उक्त पदार्थों की ही भाँति दुष्ट होते हैं। इसलिए हे पार्थ, मेरे भक्तोंकी और मेरी निन्दा करनेवाला पुरुष चाहे भक्त, बुद्धिमान और तपस्वी ही क्यो न हो, तो भी उससे कभी इस शास्त्रका स्पर्श भी मत होने दो। हे अर्जुन, अब मै इससे अधिक और क्या कहूँ ! निन्दक चाहे स्वयं ब्रह्माके समान प्रज्ञावान् ही क्यों न हो, तो भी तुम उसके हाथो में यह गीता कभी हँसीमें भी मत दो।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।।६८।।

"इसलिए हे धनुर्धारी पाडव, जो नीवमे तपकी भरपूर भराई भरकर उसके आधार पर गुरु-भक्तिका दृढ़ मन्दिर बन गया है और जिसका ज्ञान-श्रवणकी लालसा-वाला सदर दरवाजा सदा खुला रहता है और निन्दाके अभावके रत्नोसे जिसका सुन्दर कलश बना है, उस निर्दोष भक्त-रूपी मन्दिरमें तुम इस गीता-रत्न रूपी ईश्वर-की स्थापना करो। ऐसा करनेसे तुम इस संसारमें स्वयं मेरी ही योग्यता तक पहुँच जाओगे। अ, उ और म इन तीन मात्राओके गर्भमें "ॐ" एकाक्षर रूपसे बन्द पड़ा हुआ था। वेदोके उस मूल-बीज प्रणवका इस गीताकी शाखाओसे विस्तार हुआ है अथवा यह समझना चाहिये कि श्लोकोके फूलो और फलोके द्वारा वह गायत्री ही अवतरित हुई है। जिस माताके लिए एक बालकके सिवा और कोई न हो, उस माताको जिस प्रकार ऐसा बालक प्राप्त करा दिया जाय, जिसके लिए माताके सिवा और कोई गति ही न हो, उसी प्रकार जो व्यक्ति इस महामन्त्रसे भरी हुई इस गीता-का मेरे भक्तोंके साथ बहुत प्रेमपूर्वक योग करा देता है, वह शरीर-पातके उपरान्त अवश्य ही मेरे साथ मिलकर एक-रूप हो जायगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।।६८।।

"और जब तक ऐसा पुरुष देहाकार-रूपी अलंकार धारण करके देखनेमें मुझसे अलग रहेगा, तक वह मुझे हृदयसे अत्यन्त प्रिय होगा। ज्ञानी, कर्मठ और तपस्वीमेंसे केवल ऐसा पुरुष मुझे जितना अधिक प्रिय होता है, उतना अधिक प्रिय इस भूतल पर मुझे और कोई दिखाई नही देता। जो भक्त-मंडलीके जमावडेमे गीताका कथन करता है, जो मुझ ऐश्वर्य-सम्पन्नके सम्बन्धमे अपने मनमें पूर्ण प्रेम और भक्ति रखकर शान्तिपूर्वक सन्तोकी सभामे गीताका पाठ करता है, जो उन भक्तोको उसी प्रकार रोमाचित करता है, जिस प्रकार नये पत्तोके निकलनेसे वृक्ष हर्षसे रोमाचित होते हैं, जो उन्हें उसी प्रकार हिलाता है, जिस प्रकार मन्द वायुके झोके वृक्षोंको हिलाते हैं, जो उनके नेत्रोको उसी प्रकार रससे आर्द्र करता है, जिस प्रकार उन वृक्षोके फल रससे आर्द्र होते है, जो कोकिलके पंचम स्वरमें पुकारता है; जो भक्त-मंडली-रूपी उपवनमें वसन्त-कालके समान प्रवेश करता है, जो साधु-जनोकी सभामें केवल स्वरूप पर ध्यान रखकर गीताके पद्य रूपी रत्नोंकी उसी प्रकार लगातार और बहुत अधिक वर्षा करता है, जिस प्रकार चन्द्रमाके आकाशमें उदित होते ही चकोरका जन्म सफल होता

दूध नहीं देती अथवा यह दूध देनेवाली नही है। दीपकके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि इसका आगा किधर हैं और पीछा किधर है। सूर्यको छोटा या बड़ा और अमृतके समुद्रको गहरा या छिछला आदि कैसे कहा जा सकता है और इन पदार्थोंके साथ इस प्रकारके विशेषण भला कैसे लगाये जा सकते हैं ? ठीक इसी प्रकारके गीताके किसी श्लोकके सम्बन्धमें यह नही कहना चाहिए कि यह पहला श्लोक है अथवा अन्तिम श्लोक है। पारिजातके फूलो के सम्बन्धमें क्या कभी यह भी कहा जा सकता है कि ये बासी हैं और वे ताजे हैं ? गीताके श्लोकोंके भी योग्यताके विचारसे कोई कमी-बेशी नही है; न उसका कोई श्लोक किसीसे बढ़कर है और न घटकर है। और यह बात निश्चित है कि अब मैं इसका और अधिक समर्थन या पुष्टि क्या करूँ। और इसका कारण यह है कि गीताके श्लोक पढ़ते समय वाच्य और याचकका भी भेद नही रह जाता। यही बात सभी लोग जानते हैं कि इस गीता शास्त्रमें एक मात्र श्रीकृष्ण ही वाच्य भी हैं और वाचक भी हैं। इस गीताका अर्थ जाननेसे जो कुछ प्राप्ति होती है, वही इसका केवल पाठ करनेसे भी होती है; और यह गीता शास्त्र वाक्य और वाचककी एकता इतनी शीघ्रतासे करा देता है। अतः अब मेरे समर्थन करनेके लिए कोई विषय ही बाकी नहीं रह जाता। इस गीताकी प्रभुको सुन्दर वाङ्मय मूर्त्ति ही समझना चाहिए। चाहे कोई शास्त्र लीजिए, वह पहले तो वाचकको अपना उद्दिष्ट अर्थ बतलाता है और तब स्वयं ही लुप्त हो जाता है। परन्तु गीताके सम्बन्धमें यह बात नही है। यह पूर्ण रूपसे अव्यय, अविनाशी और निरन्तर ब्रह्म ही है। देखिये, सारे विश्व पर करुणा करके और अर्जुनको निमित्त बनाकर भगवानने यह परम आत्मानन्द सबके लिए कैसा सुगम कर दिया है ! जिस प्रकार चकोरको सुखी करनेके बहाने चन्द्रमा तीनो भुवनोका दाह शान्त करता है अथवा जिस प्रकार गौतम ऋषिको निमित्त बनाकर कलिकालके कारण उत्पन्न होनेवाला संसारका दाह शान्त करनेके लिए शंकरने गंगाका प्रवाह पृथ्वी पर ला उपस्थित किया था, उसी प्रकार अर्जुनको बनाकर श्रीकृष्ण रूपी गौने पर या गीता रूपी दूध संसार भरके लिए दिया है। यदि आप गीतामें हृदयसे मग्न हो जायँगे तो कैवल्यवाली स्थितिमें पहुँच जायँगे। यही नही, बल्कि यदि केवल पठनके उद्देश्यसे भी जिह्वाके साथ इसका सम्बन्ध कराया जायगा तो जिस प्रकार पारसका एक ही झटका लगनेसे लोहा आपसे आप सोना हो जाता है, उसी प्रकार यदि पाठको कटोरा बनाकर किसी श्लोकका एक चरण भी आप अपने होठोसे लगावेंगे तो आपके शरीर पर ब्रह्मैक्यकी पुष्टता चढेगी। अथवा यदि पठनके कटोरेको मुँह न लगाकर उसे टेढ़ा करके रख देंगे और उसकी ओर पीठ करके बैठेंगे तो यदि गीताके अक्षर भी आपके कानोमे पड़ जायँगे, तो भी वही हिसाब होगा। जिस प्रकार कोई अत्यन्त द्रव्य-सम्पन्न और उदार पुरुष कभी किसीसे किसी चीजके लिए याचना नही करता, उसी प्रकार यदि इस गीताका श्रवण, पठन अथवा अर्थ ग्रहणमेंसे किसी एकका भी अवलम्बन किया जाय तो वह मोक्षसे कम तो कभी किसीको कुछ देती ही नही और सबको एक सिरेसे मोक्ष ही देती है। इसलिए ज्ञाताओंकी संगतिमें रहकर एक मात्र गीताकी ही सेवा करनी चाहिए। दूसरे

है अथवा जिस प्रकार मोरोकी कूकका उत्तर देता हुआ वर्षा-कालका नवीन सजल मेघ आ पहुँचता है, उस पुरुषके समान मुझे और कोई प्रिय नही है; आज तक न तो कोई उसके समान प्रिय हो सका है और आगे न कोई उतना अधिक प्रिय होता हुआ दिखाई देता है। हे अर्जुन, जो गीताके अर्थसे सन्तोका आतिथ्य-सत्कार करता है, उसे अब तक मैं सदा अपने हृदयके अन्दर ही रखता आया हूँ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

"तुम्हारे और मेरे संवादमे मोक्ष-धर्मको जन्म देनेवाली जिस कथाका विस्तार हुआ है, उसके सकल अर्थका ज्ञान करा देनेवाली इस गीताका जो बिना एक अक्षरमे भी परिवर्तन किये पाठ करेगा, वह मानो ज्ञानकी अग्नि सुलगाकर उसमे अज्ञानकी आहुति देगा और शुद्धि-मति होकर मेरा स्वरूप प्राप्त करेगा। गीताके अर्थका भली, भाँति अन्वेषण करके ज्ञानी लोग जो कुछ प्राप्त करते है, भाई सुविज्ञ अर्जुन, वही उन लोगोको भी प्राप्त होगा, जो तोतेकी तरह इस गीताका पाठ करेगे। गीताका अर्थ जाननेवालोको जो फल प्राप्त होता है, वह गीताका केवल पाठ करनेवालेको भी प्राप्त होगा। यह गीता-रूपी माता कभी ज्ञान और अज्ञानी सन्तानमे कोई भेद नही करती।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

"और जो बिना किसी मार्गमे निन्दा किये शुद्ध बुद्धिसे गीताके श्रवणके प्रति श्रद्धा रखता है, उसके कानोमे गीताके शब्द ज्योही प्रवेश करते है, त्योही उसके पाप उसे छोडकर उससे बहुत दूर भाग जाते हैं। जिस प्रकार वनमे अग्नि प्रवेश करते ही उसमे रहनेवाले प्राणी दसो दिशाओमे भाग जाते हैं अथवा जिस प्रकार पूर्व गिरिके शिखर पर सूर्यका उदय होते ही अन्धकार अन्तरालमे जाकर छिप जाता है, उसी प्रकार ज्योही कानोके महाद्वार गीताकी झन्कार पहुँचती है, त्योही सृष्टिकी उत्पत्तिके समय तकके पाप नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह जन्म-रूपी वेल निर्दोष होकर पुण्य-रूपी सुन्दर फूलोसे फूलती है और अन्तमे उससे अपरम्पार फल आते है। कारण यह कि कानोके द्वारा गीताके जितने अक्षर अन्तःकरणमे प्रवेश करते है, उतने अश्वमेध यज्ञ करनेका फल प्राप्त होता है। इसलिए गीताके श्रवणसे पापोका नाश होता है और पासके पुण्य खूब बढते हैं और अन्तमे उन पुण्योके द्वारा इन्द्रका वैभव प्राप्त होता है। मेरे स्वरूपमे आकर मिलनेके लिए वह जो प्रयास करता है, उसका पहला पडाव स्वर्गमे होता है, और वहाँ वह जितना अधिक सुख भोग करना चाहता है, उतना अधिक सुख भोगकर अन्तमे वह आकर मेरे साथ मिल जाता है। हे अर्जुन, गीता सुननेवालोको भी और इस गीताका पाठ करनेवालोको भी इसी प्रकार अत्यन्त आनन्दमयी फल प्राप्त होते हैं। अब मैं इन बातोका कहाँ तक विस्तार करूँ ! जो कुछ कहा जा चुका है, वही यथेष्ट है। परन्तु जिस कार्यके लिए मैंने इस शास्त्रका

और शास्त्रोंको लेनेसे क्या लाभ हो सकता है ? श्रीकृष्ण और अर्जुनने एकान्तमे खुले मनसे जो बात-चीत की थी। उसे श्रीमद्व्यासदेवने इस प्रकार सुगम रूपमे उपस्थित किया है कि जो चाहे, वही उसका आकलन कर सकता है। माता जिस समय अपने पुत्रको प्रेमपूर्वक खिलाने बैठती है, तब वह उसके मुखमे इतने छोटे छोटे कौर देती है जिन्हें वह सहजमे खा और निगल सके। अथवा जिस प्रकार वायुके असीम और अनन्त होने पर भी हिकमती आदमी पंखा तैयार करके उससे केवल उतनी ही हवा करता है, जितनी वह स्वयं सह सकता है, उसी प्रकार व्यासदेवने भी वे सब बातें, जो शब्दोमें बतलाई ही नही जा सकती थी, अनुष्टुप छन्दोमे ऐसे अच्छे रूपमें रख दी हैं कि स्त्रियो और शूद्रो आदिकी बुद्धि भी उन्हे ग्रहण कर सकती है। यदि स्वातीके जलसे मोती न बनते तो वे सुन्दर स्त्रियोके शरीर पर पहुँचकर सुशोभित ही कैसे होते ? वाद्यके यदि नाद ही उत्पन्न न हो तो वह कानको सुनाई कहाँसे पड़े ? यदि वृक्षमें फूल ही न आये हों तो उनकी सुगन्ध कैसे ली जाय ? यदि पक्वान्न में ही मधुरता न हो तो फिर वह जीभको कहाँसे प्राप्त हो सकती है ? यदि दर्पण ही न हो तो नेत्र स्वयं अपने आपको कैसे देख सकते हैं ? यदि द्रष्टाको गुरुकी साकार मूर्ति ही न दिखाई दे तो वह सेवा किसकी करेगा ? ठीक इसी प्रकार यदि उस असंख्यात ब्रह्म-वस्तुके लिए श्लोकोंकी सात सौ-वाली संख्याका प्रयोग न किया गया होता तो उसका आकलन कौन कर सकता ? मेघ सदा सागरका जल सोखा करते है, परन्तु संसारको सागर सदा ज्योका त्यो दिखाई देता है; क्योकि जिसकी कोई नाप-तौल ही नहीं है, उसमें अगर कुछ कमी या ज्यादती हो तो किसीको उसका पता ही कैसे चल सकता है ? जिसका वर्णन वाचाके लिए साध्य नही है, वही यदि इन श्लोकोमे समाया हुआ न होता तो मुख और कानोको उसका अनुभव कैसे होता ? इसी लिए व्यासदेवने श्रीकृष्णकी उक्ति जो इस ग्रन्थमे संकलित की है, सो उन्होने संसार पर बहुत बड़ा उपकार किया है। और महर्षि व्यासके शब्दों पर सदा पूरा पूरा ध्यान रखकर उनके उसी ग्रन्थका मैंने मराठी* भाषामे अनुवाद करके आप लोगोके कानोमे डाला है। जिस विषयमे व्यास आदि महर्षियोका ज्ञान भी भटक जाता और धोखेमे पड़ जाता है, उसी विषयमें इस अल्प मति व्यक्तिने (मैंने) कोरी वाचालता की है। परन्तु ये गीतेश्वर बहुत ही भोले-भाले है। यदि उन्होने व्यासके वचनोकी पुष्पमाला धारण की है, तो मेरे सीधे-सादे दूर्वादलोके लिए भी वे "नही" नही करते। क्षीर-सागरके तट पर अपनी प्यास बुझानेके लिए हाथियोके झुण्ड आते हैं, परन्तु क्या इसीलिए मच्छरोको वहाँ आनेकी मनाही होती है ? पक्षियोके जिन बच्चोके अभी अच्छी तरह पंख भी नही निकले होते, वे थक जानेके कारण आकाशमे अच्छी तरह उड तो नही सकते, परन्तु फिर भी इधर-उधर फुदकते रहते हैं। और उसी आकाशमे गरुड़ भी खूब तेज़ीके साथ उडा करता है। भूतल पर राजहंस बहुत ही सुन्दर गतिसे चला

* मूल पुस्तक मराठी भाषामे ओवी नामक विशेष छन्दमें लिखी है।—अनुवादक।

इतना अधिक विस्तार किया है, उस कार्यके सम्बन्धमें मैं अब तुमसे एक बात पूछता हूँ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजयः ॥७२॥

"हे पार्थ, तुम एक बात बतलाओ। ये समस्त शास्त्रीय सिद्धान्त तुमने एकाग्र चित्तसे सुने है न ? जिस प्रकार मैंने यह ज्ञान तुम्हारे कानों तक पहुँचाया है, उसी प्रकार यह ज्ञान तुम्हारे मनमें भी भरा है न ? या बीचमें कोई ऐसी बात रह गई है जो तुम्हारे ध्यानमे आनेसे छूट गई हो या जो उपेक्षाके कारण यो ही रह गई हो ? मैंने जिस प्रकार इस ज्ञानका तुम्हें उपदेश दिया है, यदि उसी प्रकार यह ज्ञान तुम्हारे अन्त करणमें भर गया हो, तो फिर मैं जो कुछ पूछता हूँ, उसका तुम उत्तर दो। मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि आत्मा-सम्बन्धी अज्ञानके कारण तुम्हारे मनमें जो मोह उत्पन्न हुआ था और जिसने तुम्हे भ्रममे डाल दिया था, तुम्हारा वह मोह अभी तक दूर हुआ या नही ? तुम मुझे केवल यह बतलाओ कि कर्म और अकर्मका भेद तुम्हें दिखाई देता है ही नही।" श्रीकृष्णने अर्जुनके सामने यह प्रश्न रखकर उसको ऐसी अवस्था कर दी थी कि वह आत्मानन्दके अद्वैत रसमें निमग्न होने और उसके सम्बन्धमें कुछ पूछनेके बदले फिर उसी पुराने द्वैत भाव पर खिच आया था। अर्जुन पूर्ण ब्रह्म-रूप हो गया था; परन्तु उस समय जो कार्य सामने आ पड़ा था, उसे सिद्ध करनेके लिए श्रीकृष्ण उसे भेद-भाववाली मर्यादाका उल्लंघन नहीं करने दिया था। और नही तो सर्वज्ञ श्रीकृष्णने अब तक जो कुछ किया और कहा था, उससे क्या वे परिचित नही थे ? परन्तु अर्जुनको फिरसे द्वैतके भान पर लानेके लिए ही उन्होने उससे यह प्रश्न किया था। उस समय देवने अर्जुनसे उक्त प्रश्न करके और उसे फिरसे अर्जुनत्वके भान पर लाकर उसके मुखसे उसका यह अनुभव कहलाया था कि—"अब मैं पूर्ण हो गया हूँ।" फिर जिस प्रकार क्षीर-सागरसे निकलनेवाला और आकाशमे अपनी प्रभा फैलानेवाला पूर्ण चन्द्रमा बिना अलग किये ही, सहजमे और स्पष्ट रूपसे अलग और निराला दिखाई देता है, उसी प्रकार उस समय अर्जुनको एक ओर तो यह बात नही भूलती थी कि मै ब्रह्म हूँ और दूसरी ओर उसे दिखाई पड़ता था कि सारा जगत ही ब्रह्म है। एक ओर तो उससे संसार छूट रहा था और दूसरी ओर ब्रह्मत्व भी क्षीण हो रहा था। इस प्रकार वह ब्रह्मत्वके सम्बन्धमें कुछ उलटा-सीधा विचार करता हुआ बड़े कष्टसे एक बार फिर देहाभिमानकी सीमा पर पहुँचकर रुक गया और वही वह यह सोचकर खड़ा हो गया कि—"मैं अर्जुन हूँ।" फिर अपने काँपते हुए हाथोसे उसने अपनी उठती हुई रोमावली दबाकर, पसीनेकी बूदे पोछकर और तेजीसे चलते हुए श्वासके कारण काँपते हुए अंगोको सँभालकर शरीरकी विचलता बहुत निग्रहपूर्वक रोककर दोनो नेत्रोसे अश्रुओके प्रवाहके रूपमें आनेवाली आनन्दामृतकी बाढ़को जहाँका तहाँ रोककर, नाना प्रकारकी उत्कंठाओके कारण भर आनेवाले गलेको ठीक करके और उन उत्कंठाओको अपने मनमे ही दबाकर लड़खड़ाती हुई जबानको सँभालकर और साँस ठिकाने लाकर अर्जुनने कहना आरंभ किया।

करते हैं, परन्तु क्या इसी लिए और कोई अपनी भद्दी चालसे उस पर चलने ही न पावे ? अपने परिमाणके अनुसार हण्डा बहुत अधिक जल अपने पेटमें भर लेता है; तो क्या इसी लिए चूल्लूमें पानी नहीं लिया जा सकता ? दीयट बहुत बड़ी होती है और इसीलिए उसका प्रकाश भी अधिक होता है; परन्तु छोटी बत्तीमें भी उसके अंगके मानके अनुसार प्रकाश होता है या नहीं ? समुद्रमें उसके विस्तारके अनुसार ही आकाश प्रतिबिम्बित होता है; परन्तु छोटेसे गड्ढेमें भी उसके मानके अनुसार आकाश-का प्रतिबिम्ब पड़ता ही है। ठीक इसी प्रकार इस ग्रन्थके विषयमें व्यास सरीखे दिव्य बुद्धिमान् ऋषि विचरण करते हैं। परन्तु केवल इस दृष्टिसे यह कहना युक्ति-संगत नहीं है कि उसमें मुझ सरीखे अल्प-मतिको पैर नहीं रखना चाहिए। जिस समुद्रमें सुन्दर पर्वतके समान बड़े बड़े जलचर संचार करते हैं क्या छोटी मछलियोको उस समुद्रमें झाँकना भी नही चाहिए ? अरुण सदा सूर्यके रथ पर खूब डटकर बैठा रहता है और इसीलिए वह सदा सूर्यको देखता भी रहता है। परन्तु क्या जमीन पर रेंगने-वाली च्यूँटी सूर्यकी ओर नहीं देखती ? इसीलिए यदि मुझ सरीखे सीधे-सादे आदमी भी देशी भाषामें गीताकी रचना करें तो यह कोई अनुचित बात नही है। यदि पिता आगे चल रहा हो और पुत्र भी उसके पीछे कदम पर कदम रखता हुआ चले, तो क्या वह उस स्थान पर नही पहुँच सकता जिस स्थान पर पिता पहुँचता है ? ठीक इसी प्रकार व्यासदेवके पीछे चलकर और गीताके भाष्यकारोंसे रास्ता पूछ-पूछकर मैं भी आगे बढ़ूँ तो यह काम अयोग्य और अनुचित भले ही हो, परन्तु फिर भी मैं उपयुक्त स्थान पर अवश्य पहुँच जाऊँगा। यदि मैं किसी दूसरी जगह जाऊँ तो कैसे और कहा जाऊँगा ? इसके सिवा जिसमें पृथ्वीके समान क्षमा-गुण और इसीलिए जो किसी स्थावर या जंगमसे दुःखी नही होते, जिनसे अमृत प्राप्त करके चन्द्रमा सारे संसारको शीतल करता है, जिनके शरीरका असल तेज प्राप्त करके सूर्य अन्धकार दूर करता है, जिनसे समुद्रको जल, जलको माधुर्य, माधुर्यको, सौन्दर्य, वायुको बल, आकाशको विस्तार, ज्ञानको उज्वल राज्य-वैभव, वेदोको मधुर वाणी, सुखको उत्साह और यहाँ तक कि समस्त रूप और आकार प्राप्त होते हैं और जो सब पर उपकार करते हैं, वे समर्थ सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ मेरे अन्तःकरणमे प्रवेश करके उसमें विच-रण कर रहे हैं। अब यदि मैं मराठी भाषामें गीताका ठीक ठीक विचरण करूँ तो इसमें आश्चर्यका क्या कारण है ? श्री गुरु द्रोणाचार्यके नामसे पर्वत पर मिट्टीका ढेर लगाकर जिस एकलव्यने उसकी सेवा की थी, उस पहाडी भीड़ एकलव्यने भी अपनी धनुर्विधाकी चातुरीसे तीनों लोकोंको हिला डाला था। चन्दनके आस-पास रहनेवाले वृक्ष भी चन्दनके ही समान सुगन्धित हो जाते हैं। वशिष्ठने अपने कन्धे पर जो दुपट्टा रखा था, वह सूर्यके साथ भी प्रतिस्पर्धा कर सका था। और मैं तो सचेतन मनुष्य हूँ। तिस पर मेरे श्री सद्गुरु इतने अधिक समर्थ हैं कि वे केवल अपने कृपा-कटाक्षसे ही अपने शिष्यको आत्म-पद पर ले जाकर बैठा देते हैं। एक तो पहलेसे ही नजर तेज हो और तिस पर सूर्य समर्थन और सहायता करे, तो फिर भला ऐसी कौन-सी वस्तु है जो दिखाई न दे सकती हो ? इसी लिए मेरे केवल श्वासोच्छ्वास

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुनने कहा—"हे भगवन्, आप यह क्या पूछ रहे हैं कि मोहने अभी तक मुझे छोडा या नही ? वह तो अपने गोत्रके सभी भावोको लेकर अपना डेरा-डंडा मेरे मनसे उठाकर कभीका मुझे छोडकर चला गया। भला यह भी कभी सम्भव है कि सूर्य किसीके पास आकर पूछे कि तुम्हे आँखोमे अंधेरा दिखाई देता है ? इसी प्रकार आप भगवान् श्रीकृष्ण मुझे इस समय आँखोसे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे है; और यही क्या कम है ? फिर जो वात किसी प्रकारका प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नही हो सकती, वही बात आप मातासे भी बढकर प्रेमपूर्वक मुझे जी भरकर बतला रहे हैं। अब जिस दृष्टिसे आपने मुझसे यह प्रश्न किया है कि तुम्हारा मोक्ष अभी तक दूर हुआ या नही, उस दृष्टिसे मैं कहता हूँ कि हे महाराज, आपके प्रसादसे मैं कृतकृत्य हो गया। मैं अभी तक इसी भ्रममे फँसा हुआ था कि मैं अर्जुन हूँ। परन्तु अब आपके प्रसादसे आपके स्वरूपका ज्ञान होने पर मैं मुक्त हो गया हूँ। अब न तो प्रश्न करनेके लिए ही स्थान रह गया है और न उत्तर देनेके लिए ही। हे देव, आपके प्रसादसे मुझे जिस आत्म-बोधकी प्राप्ति हुई है, वह मोहका कही नाम-निशान भी बाकी नही रहने देता। अब जिस द्वैत-भावसे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अमुक काम करना चाहिए या नही करना चाहिए, वह आपको छोड़कर और किसीमे मुझे दिखाई नही देता। इस विषय मे अब मुझे कुछ भी सन्देह नही है। मैं अब उस अवस्थामे पहुँच गया हूँ जिसमे कर्म बिलकुल बच ही नही जाते। आपकी कृपासे आज मैंने "मैं" अर्थात् आत्म-स्वरूप प्राप्त कर लिया है और इसी लिए कर्त्तव्य-कर्मोंका बिलकुल नाश हो गया है। अब मेरे लिए आपकी आज्ञाके सिवा और कुछ भी शेष नही रह गया है; क्योकि जिसके दृष्टिगोचर होने पर यह दृश्य विश्व नही रह जाता, जो स्वयं दूसरा होने पर भी द्वैतका नाश कर डालता है, जो एक होने पर भी सदा सब स्थानोमे निवास करता है, जिसके साथ सम्बन्ध होते ही समस्त बन्धन टूट जाते हैं, जिसकी आशा होते ही और सब आशाओका अन्त हो जाता है, जिसके साथ भेट होने पर स्वयं अपने ही साथ अपनी भेट हो जाती है, वह मेरे आराध्य गुरु देवता आप ही हैं। जो ऐक्यके सदा साथ रहनेवाले है जिनके कारण अद्वैत बोधके प्रान्तमे प्रवेश होता है और स्वयं ब्रह्म-स्वरूप होकर कृत्य और अकृत्य बखेडा दूर करके और एक निष्ठ होकर जिनकी अपरम्पार सेवा करते रहना चाहिए, जो अपने भक्तोको अपने आपमे उसी प्रकार मिला लेते हैं, जिस प्रकार सागरसे भेट करनेवाली नदी आकर स्वयं सागर ही बन जाती है, वे आप मेरे निरुपाधिक सेवा योग्य सद्गुरु है। इसलिए अब आप यही समझ ले कि मेरे ऊपर ब्रह्म-स्वरूपके साक्षात्कारका उपकार हुआ है। मेरे और आपके बीचमे जो भेद-भाववाली बाधा थी, उसे दूर करके आज आपने मुझे अपनी सेवाका मधुर सुख प्राप्त कराया है। इसलिए हे देवाधिदेवेश्वर श्रीकृष्ण, अब आप मुझे जो कुछ आज्ञा देंगे, मैं उसका बिना पालन किये न रहूँगा।" अर्जुनकी यह बात सुनकर

से भी नये नये ग्रन्थ हो सकते हैं। यह ज्ञानदेव स्वयं अपने आपसे पूछता है कि ऐसा कौन-सा काम है जो गुरुकी कृपासे नहीं हो सकता? इसी लिए मैंने मराठी-भाषामें गीताका अर्थ ऐसे ढंगसे कहा है कि उसे सभी लोग सहजमें समझ सकें। मेरे इन मराठी बोलोंको यदि कोई कुशलतापूर्वक गावेगा तो उसके गानकी मोहिनीमें कहीं कोई अपूर्णता न दिखाई देगी। इसी लिए यदि कोई गीताका गान करेगा तो यह गीता उसके गानके लिए भूषण ही होगी। और यदि कोई इन शब्दोंका सीधे-सादे ढंगसे पाठ करेगा तो भी यह गीता उसमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं रहने देगी। यदि गहना पहना न जाय और योंही रख दिया जाय तो भी वह सुन्दर जान पड़ता है। फिर यदि वह शरीर पर धारण कर लिया जाय तो क्या वह उपयुक्त न होगा और अधिक सुन्दर न लगेगा? मोतियोंके सम्बन्धकी यह बात है कि यदि वे सोने पर जड़ दिए जायँ तो वे सोनेकी रंगतको और भी ज्यादा खिला देते हैं। परन्तु यदि ऐसा संयोग न भी हो, तो भी यह बात नहीं है कि वे अलग लड़ीमे पिरोये रहनेकी दशामे कुछ कम सुन्दर जान पड़ते हों। वसन्त-ऋतुमे फूलनेवाले मोगरेकी कलियाँ चाहे मालामें पिरोई हुई हों और चाहे योंही खुली रखी हों; परन्तु उनकी सुगन्धमें किसी दशामें भी कोई कमी नहीं होती। ठीक इसी प्रकार मैंने ऐसे छन्दोबद्ध प्रेमपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है जिसमें गाये जानेका गुण भी स्वाभाविक रूपसे वर्त्तमान है और बिना गाये भी जिसका रंग खूब खिलता है। इन पंक्तियोंकी रचनामें मैंने ब्रह्म-रससे सुगन्धित किये हुए अक्षर इस प्रकार रखे है कि उन्हें छोटे बच्चोंसे लेकर बड़ों तक सभी लोग बहुत सहजमें समझ सकते हैं। जिस प्रकार चन्दनके वृक्षमें सुगन्धिके लिए फूलोंकी तलाश नहीं करनी पड़ती, उसी प्रकार इस ग्रन्थकी पंक्तियाँ (छन्द) भी कानोंमे पड़ते ही सुननेवालोंकी समाधि लगा देती हैं। फिर यदि इसकी व्याख्या करनेवाले व्याख्यान सुने जायँ तो क्या वे मन पर मोहिनी न डालेंगे? इसका सहज रूपसे पाठ करने पर भी पांडित्यका ऐसा आनन्द आता है कि यदि पासमें अमृतका भी प्रवाह बहता हो तो उसकी ओर भी ध्यान न जायगा। इस प्रकार सिद्धतापूर्वक इसका कवित्व इतनी अधिक शान्ति उत्पन्न करता है कि यों कहना चाहिए कि इसके श्रवणने मनन और निदिध्यासन पर भी विजय प्राप्त कर ली है। इसके श्रवणसे प्रत्येक व्यक्तिको आत्मानन्दके अनुभवका सर्वोच्च अंश प्राप्त होगा और उसकी समस्त इन्द्रियाँ पुष्ट होंगी। चकोर अपनी शक्तिसे चन्द्रमाका उपभोग करके (अर्थात् प्रत्यक्ष चन्द्रामृत पान करके) सुखी होते हैं, परन्तु उस चन्द्रमाकी चाँदनी क्या और किसीको प्राप्त नहीं हो सकती? ठीक इसी प्रकार अध्यात्म-शास्त्रके अधिकारी पुरुषोंको इसके अन्दरके गम्भीर रहस्यका ज्ञान होता है। किन्तु केवल वाक्-चातुरीसे भी बहुत-से लोग सुखी होते ही हैं। परन्तु वास्तवमें यह सारा महत्व श्री निवृत्तिनाथजीका ही है। इस प्रबन्धको आप लोग ग्रन्थ न कहें, बल्कि यह गुरु-नाथकी कृपाका ही वैभव है। अत्यन्त प्राचीनकालमें क्षीर-सागरके पास शंकरजीने श्री पार्वतीके कानोंमें जो रहस्य बतलाया था, वह रहस्य क्षीर-सागरकी लहरोंके मगरके पेटमे रहनेवाले मत्स्येन्द्रनाथको प्राप्त हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथको सप्तश्रृंगी पर अवयव-हीन चौरंगीनाथ मिले। मत्स्येन्द्रनाथके दर्शनोंसे चौरंगीनाथके कटे हुए अवयव फिर पहलेकी तरह जुड़कर ठीक हो गये। फिर मत्स्येन्द्रनाथने अटल समाधिका ठीक तरहसे भोग करनेका विचार किया और इसी लिए उस

श्रीकृष्ण आनन्दसे विभोर हो गये। उन्होने अपने मनमे कहा—"समस्त फलोसे बढ़कर फल आज मुझे अर्जुनके रूपमे प्राप्त हुआ है। जिस चन्द्रमाकी क्षीण कलाएँ पूर्ण हो जाती हैं, उस अपने पुत्र पूर्ण चन्द्रमाको देखकर क्या क्षीर-सागरका हृदय उछलने नही लगता और वह अपनी मर्यादा भूलकर उसका उल्लंघन नही करने लगता?" इसी प्रकार सम्भाषणके मंडपमे श्रीकृष्ण और अर्जुनका यह संयोग देखकर संजय भी मारे आनन्दके उछल पडा। अपनी बहुत अधिक बढी हुई आनन्द भावनासे संजयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—"महर्षि व्यासदेवकी यह कितनी अधिक कृपा है कि उन्होने इस युद्ध-कालमे हम दोनोका पूरा पूरा संरक्षण किया है! संसारके सामान्य व्यवहार करनेके लिए भी आपके पास चर्म-चक्षु नही रह गये। परन्तु ऐसी अवस्थामे ज्ञान-दृष्टिसे व्यवहार करनेकी शक्ति व्यासदेवकी कृपासे आज आपको प्राप्त हुई है। मुझे तो केवल घोड़ोकी परीक्षा करनेके लिए रथ पर बैठनेवाली वीर-मंडलीमे प्रवेश करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सो मेरी समझमे भी ज्ञानकी जो ये बातें आने लगी, यह भी महर्षि व्यासदेवका कृपाप्रसाद ही है। युद्ध इतने प्रचंड और घोर रूपसे चल रहा था कि प्रत्येक व्यक्ति यही समझता था कि चाहे जिस पक्षकी हार हो, परन्तु इस युद्धमे मेरे प्राण अवश्य जायँगे। जिस स्थान पर ऐसा भीषण प्रसंग आया था, वहाँ भी मेरे लिए ब्रह्मानन्दका गुप्त भांडार खुल गया और मै उस आनन्दका अनुभव कर सका। व्यासदेवके इस प्रसादकी गहनताका भला मैं कहाँ तक वर्णन करूँ।" संजय यह सब बातें कह तो गया; परन्तु जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणोसे पत्थर कभी नहीं पसीजता, उसी प्रकार धृतराष्ट्रका अन्त.करण भी इन बातोसे नामको भी द्रवित न हुआ। उसकी यह दशा देखकर सजयने उसका ध्यान ही छोड़ दिया। परन्तु फिर भी वह मारे आनन्दके होशमे नही रह गया था और इस लिए वह फिर बोलने लगा। उस समय केवल हर्षके आवेगसे सजय बोल रहा था; और नही तो धृतराष्ट्रमें इस प्रकारके लक्षण कही नामको भी नही दिखाई देते थे कि उसमे इस बातकी उत्कंठा है कि संजय कुछ और कहे।

संजय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

संजयने कहा—"हे कुरु-राज, आपके भतीजे अर्जुनने श्रीकृष्णसे जो कुछ कहा, वह उन्हे बहुत अधिक मधुर जान पड़ा। वास्तवमे पूर्व सागर और पश्चिम सागर आदि नाम ही भिन्न हैं। और नही तो उन दोनो सागरोका जल बिलकुल एक-सा है। और इसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुनका भेद केवल शरीरके कारण ही दिखाई देता है, परन्तु उनके संवादमे यह भेद कही नामको भी बाकी नही रह जाता। जिस समय दर्पणसे भी बढ़कर स्वच्छ दो पदार्थोंके आमने-सामने होने पर उनमेसे प्रत्येक पदार्थ दूसरे पदार्थमे अपना स्वरूप देखता है, उसी प्रकार अर्जुन भी अपने आपको कृष्ण सहित कृष्णकी मूर्त्तिमे देखने लगा; और कृष्णको भी अर्जुनकी मूर्त्तिमे उसके सहित

रहस्यका संकेत उन्होने श्री गोरक्षनाथको बतला दिया। गोरक्षनाथजी योग-रूपी कमलिनीके सरोवर और विषयोंका नाश करनेवाले काल ही थे। मत्स्येन्द्रनाथने उन्हें अपना समस्त अधिकार देकर अपनी पीठ पर अधिष्ठित कर लिया। इसके उपरान्त गोरक्षनाथने उस अद्वैतानन्दका, जो श्री शम्भुके समयसे परम्परासे चला आ रहा था, श्रीगैनीनाथजीको समूल उपदेश दिया। जब उन गैनीनाथजीने यह देखा कि कलि-काल भूत मात्रको ग्रस रहा है, तब उन्होने श्री निवृत्तिनाथको आज्ञा दी कि आदि शंकरसे लेकर शिष्य-परम्परासे रहस्य-बोध करानेका जो यह सम्प्रदाय मुझ तक चला आया है, वह सम्प्रदाय तुम स्वीकृत करो और उन जीवोकी रक्षा करनेके लिए तुम दौड़े हुए जाओ जिन्हे कलि-काल निगल रहा है। निवृत्तिनाथजी स्वभावतः अत्यन्त दयालु थे। तिस पर उन्हे ऐसे गुरुकी आज्ञा हुई थी। अतः जगतको शान्ति प्रदान करनेवाले श्री निवृत्तिनाथ वर्षा-कालके मेघके समान उठे। उस समय दुःखितो पर करुणा करके गीतार्थ पिरोनेके बहानेसे उन्होने शान्त रसकी जो वर्षा की थी, वही यह ग्रन्थ है। उस समय मैं चातककी भाँति बहुत अनुरागपूर्वक उनके सामने खड़ा हो गया और इसी लिए आज मैं यह यश प्राप्त कर सका हूँ। इस प्रकार गुरु-परम्परासे जो आत्म-समाधि रूपी द्रव्य प्राप्त हुआ था, वही इस ग्रन्थके द्वारा उपदेश करके गुरु महाराजने मुझे दिया है। यदि यह बात न होती तो फिर मेरे सरीखे ऐसे आदमीमें, जो न तो पढ़ता-लिखता ही है; न अध्ययन करता है और न गुरुदेवकी अच्छी तरह सेवा करना ही जानता है, इस ग्रन्थकी रचना करनेकी योग्यता कहाँसे आती? वास्तवमें यह बात आप लोग ध्यानमें रखे कि गुरुदेवने मुझे निमित्त मात्र बनाकर इस प्रबन्धके रचनेमें जगतकी रक्षा ही की है। इस प्रकार मैं केवल नामके लिए आगे कर दिया गया हूँ। ऐसी अवस्थामें यदि मेरी बातोमें कही कोई त्रुटि या दोष रह गया हो तो हे श्रोतागण, आप लोग माताके समान प्रेमपूर्ण होकर उन सबको अपने उदरमे रख लें (अर्थात् मन ही मन समझकर उसके लिए मुझे क्षमा कर दे)। शब्दो-की योजना किस प्रकार करनी चाहिए, सिद्धान्त किस प्रकार स्थिर करने चाहिए और अलंकार किसे कहते है, आदि बातोंका मुझे कुछ भी ज्ञान नही है। कठ-पुतली जिस प्रकार अपने सूत्रधारकी इच्छाके अनुसार चलती-फिरती और नाचती-कूदती है, उसी प्रकार मुझे आगे रखकर वास्तवमे मेरे गुरुदेव ही ये सब बातें कह रहे हैं। इसी लिए मैं विशेष आग्रह-पूर्वक यह नही कह रहा हूँ कि इस ग्रन्थके गुण-दोषोके लिए लोग मुझे क्षमा करे, क्योंकि गुरुदेवने केवल ग्रन्थ-वाहकके रूपमें मेरी योजना की है। और यदि हीन-गुण ही आप सन्तोकी सभामे खड़ा हुआ हो और वह पूर्ण गुणोसे युक्त न हुआ हो, तो वह अपने लाड़लेपनके कारण उलटे आपही लोगो पर कोप करेगा। यदि पारसका स्पर्श होने पर भी लोहेकी हीन दशा दूर न हो तो इसमे दोष किसका है? नालियाँ और नाले तो इतना ही कर सकते है कि जाकर गंगामें मिल जायँ। अब इतने पर भी यदि उन्हे गंगाका रूप प्राप्त न हो तो इसमें उनका क्या दोष है? इसलिए यदि मैं बड़े भाग्यसे आप सन्तोके चरणोके पास आ पहुँचा हूँ तो फिर इस संसारमे मेरे लिए किस बातकी कमी हो सकती है? हे गुरुदेव, आपने ही मुझे सन्तोकी संगति प्राप्त करा दी है जिससे मेरे समस्त मनोरथ परिपूर्ण हो गये है। हे सन्त-जन, आप सरीखा मायका

स्वयं अपना स्वरूप दिखाई देने लगा। जिस अंगमें और जिस स्थान पर स्वयं अपने आपको भी और अपने भक्त अर्जुनको भी देखने लगे, उसी अंगमें और उसी स्थान पर भक्त अर्जुनको भी देव श्रीकृष्ण दिखाई देने लगे। और अब जब कि उन दोनोंके सिवा कोई तीसरा रह ही नही गया था, उन लोगोंने क्या किया? बस वे दोनों एक-रूप हो गये। और जब इस प्रकार द्वैत भाव नष्ट हो गया, तब भला प्रश्नोत्तरका प्रसंग कहाँसे आ सकता था? जब कोई भेद ही नही रह गया, तब फिर सम्भाषणका सुख कहाँसे आ सकता था? इस प्रकार द्वैत भावके रहने पर भी सम्भाषणके समय जिनमे द्वैत भाव नही रह गया था, उन दोनोका सम्भाषण मैंने सुना। यदि दो दर्पण एक दूसरेके सामने रख दिये जायँ तो क्या कभी इस बातकी कल्पना की जा सकती है कि उनमेसे कौन, किसे देखता है? अथवा यदि किसी जलते हुए दीपकके सामने कोई दूसरा जलता हुआ दीपक रख दिया जाय तो यह कैसे समझा जा सकता है कि कौन-सा दीपक किससे प्रकाशकी याचना करता है? अथवा यदि सूर्यके सामने कोई दूसरा सूर्य उदित हो तो इस बातका निर्णय भला कैसे किया जा सकता है कि उनमेंसे कौन-सा सूर्य प्रकाश देनेवाला है और कौन-सा प्रकाश प्रकाशित होनेवाला है? यदि कोई इस बातका निर्णय करने लगे तो स्वयं निश्चिय ही स्तब्ध हो जाता है। इस प्रकार उस सम्भाषणमे कृष्ण और अर्जुन बिलकुल एक-से हो गये थे। यदि जलके दो प्रवाह आकर एकमें मिल जायँ और ऊपरसे नमक भी आकर उनमें मिल जाय तो क्या वह नमक उन दोनो प्रवाहोको रोक सकता है? अथवा वह भी क्षण भरमें उन दोनोके साथ मिलकर एक-रूप हो जायगा? ठीक इसी प्रकार जब मैं उस संवादमें इस प्रकार एक-रूप होनेवाले श्रीकृष्ण और अर्जुनका अपने मनमे ध्यान करता हूँ, तो मेरी अवस्था भी उसी नमकके समान हो जाती है।" ये थोड़ी-सी बातें संजय अभी कह रहा था कि इतने सात्विक भावने आकर उसी संजयत्ववाली स्मृति नष्ट कर दी—उसे इस बातका ध्यान भी न रह गया कि मैं संजय हूँ। ज्यो ज्यों उसे रोमांच होता आता था, त्यो त्यो उसका शरीर भी संकुचित होता जाता था। उसी स्तम्भित अवस्थामे उसे जो पसीना हो आया था, उसके कारण उसके शरीरका कम्प भी बहुत अधिक बढ गया था। अद्वैतके आनन्दका अनुभव होनेके कारण उसकी आँखें भर आई। उसकी आँखोमे वे प्रेमाश्रु नही थे, बल्कि मानो केवल जलका प्रवाह ही आरम्भ हो गया था। ऐसा जान पड़ता था कि शब्दार्थ उसके पेटमे नहीं समा रहे थे और गला रुँध गया था; और इसी लिए श्वासके साथ शब्दार्थ मिलकर एक हो गये थे। यहाँ तक कि आठो सात्विक भाव प्रकट हो गये और संजयकी कुछ ऐसी विलक्षण अवस्था हो गई कि उसके मुँहसे शब्द ही नही निकलता था। उस समय संजय मानो श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादका चौराहा बन गया था। परन्तु इस सुख-का स्वभाव ही ऐसा है कि वह आपसे आप शान्त हो जाता है। इसलिए संजय भी बहुत जल्दी शान्त हो गया। और फिर उसके होश ठिकाने हो गये—उसे अपने शरीरका भान हो आया।

मुझे प्राप्त हुआ है और मेरा ग्रन्थ-रचनाका लाडलेपनका हठ बहुत अच्छी तरह पूरा हो गया है सोनेका सारा पृथ्वी-तल ढाला जा सकता है, चिन्तामणियोका मेरुके समान प्रचंड पर्वत बनाया जा सकता है, सातों समुद्र अमृत-रससे लबालब भरना भी सहज है और छोटे-छोटे नक्षत्रोंको चन्द्रमा बनाना भी कठिन नही है और न कल्प-वृक्षके बाग लगाना ही बहुत ज्यादा मुश्किल है; परन्तु गीताका रहस्य सहजमें स्पष्ट नही किया जा सकता। फिर भी मुझ सरीखा गूंगा मनुष्य गीताका अर्थ इतना अधिक स्पष्ट कर सका है कि जो सब लोगोको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इस ग्रन्थ रूपी अपार सागरको पार करके और कीर्त्तिकी पताका हाथमे लेकर जो मैं आनन्दसे खूब फूलकर नाच रहा हूँ, मेरु पर्वतके समान प्रचंड दिखाई देनेवाला और विशाल कलशवाल गीतार्थका मंदिर रचकर और उसमे गुरुदेवकी मूर्त्ति स्थापित करके उनकी जो पूजा-अर्चा कर रहा हूँ, यह सब उन्ही गुरुदेवकी कृपाका फल है। गीता सरीखी निर्मल और शुद्ध हृदयवाली माताको भूलकर जो बालक इधर-उधर बिलबिला रहा था, उसकी जो उस माताके साथ पुनः भेट हो गई है, यह भी उन्ही गुरुदेवकी कृपाका ही फल है। मैं, ज्ञानदेव आप सज्जनोंसे कहता हूँ कि हे महाराज, आचार-व्यवहारका विचार करके ही मैंने यह बात कही है। यह स्वयं इस ज्ञानदेवकी अटपटी बातें नही हैं। अब मैं और क्या कहूँ! आपही लोगोंकी कृपासे आज इस ग्रन्थकी समाप्तिका उत्सव मैं मना सका हूँ और इससे मेरा जन्म सफल हो गया है। मैंने अपने मनमें जो जो आशाएँ रखकर आप लोगोका भरोसा किया था, वे सब आशाएँ आप लोगोने अच्छी तरह पूरी कर दी हैं और इसलिए मैं बहुत ही सुखी हुआ हूँ। हे महाराज, मुझ सरीखे दीनके लिए अपने इस ग्रन्थकी जिस अद्भुत सृष्टिका निर्माण किया है, उसे देखकर मैं दूसरी सृष्टि उत्पन्न करनेवाले विश्वामित्रको भी आज तुच्छ समझ रहा हूँ। क्योंकि त्रिशंकुका पक्ष लेकर केवल ब्रह्माको नीचा दिखलानेके लिए नश्वर सृष्टि उत्पन्न करनेमे कौन-सा बड़ा पुरुषार्थ है! श्री शम्भुने उपमन्यु पर प्रसन्न होकर उसके लिए क्षीर-सागर उत्पन्न किया था। परन्तु उनका यह कार्य भी यहाँ उपमाके लिए ठीक नही जँचता क्योंकि उस क्षीर-सागरके गर्भमे हलाहल विष भरा था और समुद्र-मन्थनके समय वह उसमेसे निकला भी था। यह ठीक है कि अन्धकार रूपी निशाचरके द्वारा समस्त चराचरके निगले जाने पर उनकी रक्षाके लिए सूर्य दौड़ा आया था और उसने उस अन्धकारका नाश भी किया था; परन्तु चराचरके साथ यह उपकार करके सूर्यने उन्हे अपनी प्रखर उष्णताका मजा भी अवश्य चखाया। तपे हुए विश्वको शांत करनेके लिए चन्द्रमाने भी अवश्य ही अपनी भरपूर चाँदनीका प्रकाश किया; परन्तु फिर भी वह कलंकित चन्द्रमा इस ग्रन्थ-राजकी बराबरी भला कैसे कर सकता है? इसी लिए सन्त-जनोने इस ग्रन्थके साथ मेरा जो संयोग करा दिया है, उसके सम्बन्धमे मैं फिर यही कहता हूँ कि उसकी उपमा और कही नही मिलती। संक्षेपमे मैं यही कहता हूँ कि इस ग्रन्थ-रूपी धर्म-कीर्त्तनकी जो सुखपूर्वक समाप्ति हुई है, वह सब आप ही लोगोकी कृपाका फल है और इस सम्बन्धमे मेरे लिए केवल सेवकताका तत्व ही बच रहता है (अर्थात् यही सिद्ध होता है कि मैंने केवल सेवकके रूपमें आप लोगोकी सेवा की है)। अब समस्त विश्वकी आत्मा वह परमेश्वर इस वाङ्मय यज्ञसे संतुष्ट होकर मुझे केवल इतना ही प्रसाद प्रदान करे कि दुष्टोकी टेढी नजर

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।७५।।

आनन्दका आवेग समाप्त हो जाने पर संजयने कहा—"जो ज्ञान स्वयं उपनिषदोंको भी ज्ञात नहीं है, वही ज्ञान आज मैंने श्री व्यासदेवकी कृपासे सुना। उसे सुनते ही मुझमें ब्रह्मत्व आ गया और मेरे लिए "मैं" और "तुम" की अर्थात् द्वैतकी सृष्टिका अन्त हो गया। इन समस्त योग-मार्गोका जिनमें आकर पर्यवसान होता है, उन श्रीकृष्णके वचन व्यासदेवकी कृपासे आज मुझे बहुत सहजमें प्राप्त हो गये। अर्जुनको निमित्त बनाकर और अपने आपमें बलपूर्वक द्वैत भाव या भिन्नताकी स्थापना करके आत्म-विचारके सम्बन्धमें देवने जो कुछ कहा था, जो भाषण किया था, जब उस भाषणके सर्वोत्कृष्ट पात्र बननेकी योग्यता मुझ सरीखे सामान्य पुरुषमें आ गई, तो फिर श्री गुरु व्यासदेवकी सामर्थ्यका भला मैं कहाँ तक वर्णन करूँ!"

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।७६।।

इसके उपरान्त संजयने जब फिर कहना आरम्भ किया और उसके मुँहसे ज्योंही "राजन्" शब्द निकला, त्योंही वह बहुत अधिक विस्मित हो गया; और जिस प्रकार किसी रत्नकी प्रभा स्वयं उसी पर पड़कर फैलती है, उसी प्रकार वह स्वयं भी अपने विस्मयसे पूर्ण रूपसे व्याप्त हो गया। जिस प्रकार चन्द्रमाका उदय होने पर हिमालय परके सरोवर भी स्फटिक शिलाके समान दिखाई देने लगते है, परन्तु सूर्यके उदित होते ही वे फिर द्रव-रूप जान पड़ते है, उसी प्रकार ज्योंही संजयको अपने शरीरका भान होता था, त्योंही उसे श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद याद आ जाता था; और ज्योंही उसे वह संवाद याद आता था, त्योंही वह फिर विस्मित होकर अपने शरीरका भान भूल जाता था। बस यही क्रम उस समय बराबर चल रहा था।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७७।।

फिर संजयने खड़े होकर धृतराष्ट्रसे कहा—'हे राजन्, श्री हरिका प्रत्यक्ष विश्वस्वरूप देखकर आप इस प्रकार निस्तब्ध होकर क्यों बैठे हुए हैं? जो न देखने पर भी दिखाई देता है, न होनेके कारण ही जो अस्तित्वमे है और जो विस्मृत होने पर भी याद आता है, उससे यदि कोई बचना चाहे तो भला कैसे बच सकता है? यहाँ तक तो इतनी भी गुंजाइश नहीं है कि उसे दूरसे देखकर केवल आश्चर्य किया जाय। क्योंकि इस सम्भाषण रूपी ज्ञान-गंगाका प्रवाह इतना अधिक प्रचंड है कि वह अपने साथ साथ मुझे भी बहाये लिये चला जाता है।" श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवाद रूपी इस संगम-तीर्थमे स्नान करके उस संजयने अपने अहं-भावको तिलाजलि दे दी। उस अवस्थामें वह चरम सीमाके आनन्दका अनुभव करता हुआ बीच बीचमें विलक्षण रूपसे कुछ बड़बड़ा उठता था और बार-बार अत्यन्त रुद्ध कंठसे "श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण" कह उठता था। परन्तु कुरुराज धृतराष्ट्रको उसकी इस अवस्थाका कुछ भी पता नहीं

सीधी हो जाय, उनके हृदयमें सत्कर्मोके प्रति प्रेम उत्पन्न हो और भूत मात्रमें परस्पर हार्दिक मैत्री हो। पापोंका अन्धकार नष्ट हो और आत्म-ज्ञानके प्रकाशसे सारा विश्व उज्वल हो; और तब जो प्राणी जिस बातकी इच्छा करें, वह उसे प्राप्त हो। समस्त मंगलोंकी वर्षा करनेवाले सन्त सज्जनोंका जो समुदाय है, उसकी इस भूतलके भूत मात्रके साथ अखण्ड भेंट हो। ये संत सज्जन मानो चलते फिरते कल्प-वृक्षोंके अंकुर हैं अथवा इन्हें चैतन्य रूपी चिंता-रत्नका ग्राम अथवा अमृतका बोलता हुआ सागर ही समझना चाहिये। ये संत-सज्जन मानों कलंक-हीन चंद्रमा अथवा ताप-हीन सूर्य हैं और सभी लोगोंके सदाके सगे सम्बंधी और अपने हैं। सारांश यही कि तीनों भुवन अद्वैत-सुखसे परिपूर्ण होकर अखंड रूपसे उस आदि पुरुषके भजनमें लगे। और विशेषतः इस लोकमे जो ऐसे जीव हैं जिनका जीवन ग्रन्थोंके अध्ययन पर ही अवलम्बित रहता है, उन्हें ऐहिक तथा पारलौकिक सुखोंकी प्राप्ति हो। यह सुनते ही विश्वेश्वर प्रभुने कहा—"यह प्रसाद तुम्हें दिया जाता है।" यह वर-दान प्राप्त करके ज्ञानदेव बहुत अधिक प्रसन्न हुआ है। इस कलियुगमें महाराष्ट्र देशमें गोदावरी नदीके दक्षिण तट पर, जिस स्थान पर संसारके जीवन सूत्र मोहनी-राजका निवास है, उस स्थान पर अत्यंत पवित्र और अत्यंत प्राचीन पंचक्रोश क्षेत्र (जिसका नाम नेवासें है) है। इस क्षेत्रमें सोम वंशके शिरोमणि और समस्त कलाओंके जनक राजा रामचन्द्र न्यायपूर्वक राज्य करते हैं। इसी स्थान पर शांकर परम्पराके श्रीनिवृत्तिनाथके शिष्य ज्ञानदेवने गीता पर मराठी भाषाका साज चढ़ाया है। इस प्रकार महाभारतके भीष्म पर्वमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका जो सुंदर संवाद दिया गया है, जो उपनिषदोंका सारांश और समस्त शास्त्रोंका जन्म-स्थान है और परमहंस योगी जिसका उसी प्रकार आश्रय लेते हैं, जिस प्रकार हंस सरोवरका आश्रय लेते हैं, श्री निवृत्तिनाथका शिष्य मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि उस गीता नामक संवादका यह अठारहवाँ अध्याय पूर्ण कलश है। अब इस ग्रंथकी पवित्र सम्पत्तिसे प्राणी मात्रको उत्तरोत्तर सम्पूर्ण-सुखोंकी प्राप्ति हो। शक संवत् बारह सौ बारहमें ज्ञानेश्वरने गीताकी यह टीका की है और सच्चिदानन्द बाबाने बड़े प्रेम और ध्यानसे इसे लिखा है।

●

श्री एकनाथ महाराजने 'ज्ञानेश्वरी' का संशोधन करके इसके सम्बंधमें जो कुछ लिखा था, उसका आशय इस प्रकार है—

"शालिवाहनके शक संवत् १५०६ में तारण नामक संवत्सरमें जनार्दनके शिष्य एकनाथने अत्यन्त आदरपूर्वक ज्ञानेश्वरी गीताको मूल प्रतिके साथ मिलाकर शुद्ध किया। यह ग्रन्थ आरम्भसे ही बहुत अधिक शुद्ध है; परन्तु इधर उधरके पाठांतरोंके आ जानेके कारण शुद्ध ग्रंथमें भी कुछ असंगत बातें आ गई थी। इस प्रकारके पाठोंको शुद्ध करके मूल प्रतिके अनुसार यह शुद्ध 'ज्ञानेश्वरी' प्रस्तुत की गई है। गीताकी की हुई जिनकी टीका पढ़नेसे अत्यंत भावुक ग्रंथ-प्रिय लोगोंको ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उन निष्कलंक ज्ञानेश्वर महाराजको मैं वन्दना करता हूँ। बहुत दिन बाद आनेवाले इस पर्वके शुभ समयमें भाद्रपदकी कपिला षष्ठीको गोदावरी नदीके तट पर पैठण नामक नगरमें लेखनका यह कार्य समाप्त हुआ है। इस ज्ञानेश्वरीके पाठमें यदि कोई अपना लिखा हुआ मराठी पद्य सम्मिलित करे तो समझ लेना चाहिए कि उसने अमृतके थालमें मानों नरेली (नारियलकी खाली खोपड़ी) ही रखी है।

ज्ञानेश्वरी भावार्थदीपिका टीका समाप्त। श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

●

हमारे धार्मिक-आध्यात्मिक प्रकाशन

अनुभवामृत

[श्रीज्ञानेश्वर दर्शन] रचयिता—सन्त ज्ञानेश्वर

टीकाकार—डॉ० प्रभाकर सदाशिव पंडित

योगीराज सन्त ज्ञानेश्वर द्वारा गीताकी भावार्थ दीपिका टीकाके पश्चात् उनके गुरुके निर्देश और आज्ञासे यह दूसरा ग्रन्थ 'अनुभवामृत" नामक रचा गया। इसमे उन्होने अमृतस्वरूप अनुभवका दिग्दर्शन कराया है। सन्त ज्ञानेश्वरने अपने ब्रह्मानन्द स्वरूप सच्चिदानन्दकी विलक्षण अनिवर्चनीय अनुभूतिको इस ग्रन्थमें शब्दोमें बाँधनेका सफल प्रयास किया है। ज्ञानेश्वरजी द्वारा इसमे शैव दर्शनकी परम्पराका पालन करते हुए नाथ सम्प्रदायके सिद्धान्तका सहज विवेचन स्पष्ट दिखाई देता है। ज्ञानेश्वरका मत है कि यह ग्रन्थ दसो उपनिषदका सार एवं वेदान्तके गूढ़ तत्वोकी सरल व्याख्या है। धर्म-अध्यात्मसे यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। 'ज्ञानेश्वरी' की रचना के समय रचयिता को गीता के श्लोको का बंधन था। 'ज्ञानेश्वरी' ग्रन्थके अध्ययनके पश्चात् इस ग्रन्थका विषय निरूपण सहज एवं पठन आवश्यक हो जाता है।

विद्वान टीकाकारने इसमे ज्ञानेश्वर के गूढ़ दर्शन का भावार्थ विस्तारके अन्तर्गत अपनी विशेष व्याख्यासे सोनेमें सुहागाकी उक्तिको चरितार्थ किया है। टीकाकारने सन्त ज्ञानेश्वरके मतोका स्थान-स्थान पर अन्य सन्तोका उदाहरण देकर इतनी सुन्दर, स्पष्ट और सहज व्याख्या की है, जिस सामान्य लोग भी आसानीसे समझ सकते हैं। संक्षेप यह ग्रन्थ धर्म, सिद्धान्त, दर्शन, अध्यात्मके अन्वेषको, पाठकों, मुमुक्षुओं तथा पुस्तकालयोंके लिए पठनीय और संग्रहणीय है। प्रथम संस्करण। सुन्दर आवरण व पक्की जिल्दमें मू० १६=०० ।

सन्त ज्ञानेश्वर के ६५ छन्द

इस छोटी-सी पुस्तकमें सन्त ज्ञानेश्वरने योगी चागदेवको बोध करानेको ६५ छन्दोमे जो पत्र भेजा था, उसीका यह भावानुवाद है। इसमें वेदान्त जैसे गूढ़ एवं गम्भीर विषयका सरल एवं रुचिकार भाषामें विवेचन किया गया है। इन छन्दोंके ३ विभागमें यथा ईस्वर, जीव तथा ईश्वर और जीव की एकताके विषयमें वर्णन है।

मूल्य·········।

हरिपाठ

इस पुस्तिकामे श्री ज्ञानेश्वर जीके २७ अभंगोंका भावानुवाद है। इन अभंगोंके द्वारा ज्ञानेश्वरजीने भगवान्नम लेनेके सरल उपाय और इस कलिसे प्रत्येक प्राणीके उद्धार पानेके व्यापक उपाय बताये हैं। द्वितीय संस्करण। मूल्य······।

श्रीमद्भगवद्गीता [अनासक्तियोग] टीकाकार—महात्मा गांधी

गीताकी अनेकों टीकाएँ रहते हुए महात्मा गांधीने अपने सत्य-अहिंसाके सिद्धान्तों-को प्रतिपादित करनेके लिए इसमें विशेष रूपसे हाथ डाला। इस पुस्तकमें गीताके मूल श्लोक, अर्थ एवं विशेष टिप्पणियाँ दी है। इन्ही टिप्पणियोके द्वारा गांधीजीने अपने सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन कराया है। नवीन साईज, आकर्षक कवर। मूल्य ३=०० ।

हिंदी दासबोध (रचयिता—समर्थ स्वामी रामदास)

अनुवादक—बाबू रामचन्द्र वर्मा

इस ग्रन्थरत्नमे धार्मिक, सामाजिक, पौराणिक, आध्यात्मिक तथा राजनीतिक इत्यादि जिस विषयको आप चाहेगे वही पूर्ण रूपसे मिलेगा। ये वही विषय है जिनका समर्थ स्वामीजी छत्रपति शिवाजीको उपदेश दिया करते थे। इन उपदेशोंका एक विलक्षण ढंग है जो हृदयमें तीरकी तरह चुभकर वास्तविक काम करते है ? वस्तुतः यह ग्रन्थ संसार की नीति तथा धार्मिक ग्रन्थोका सार है। लोकमान्य 'तिलक' ने इसे संसारके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थोमें माना है। हिन्दी भाषा में पक्की जिल्दके साथ मूं०.......... ।

हिंदी मनोबोध रचयिता—समर्थ स्वामी रामदास

चंचल मनको दिये गये उपदेशोंका नाम समर्थने 'मनोबोध' रखा। मनका तात्पर्य क्या है उसकी कल्पना, चंचलता, सूक्ष्मता, अहंकारमय होना और उसको निग्रह करनेका इस ग्रन्थमें वर्णन है। इस ग्रन्थमे समर्थने अहंकारकी बड़ी भर्त्सना की है और सद्संगति का बड़ा ही मनोहर और आकर्षक चित्र खीचा गया है। मूल्य.......... ।

नवधा भक्ति रचयिता—समर्थ स्वामी रामदास

शास्त्रोमे भगवानकी भक्तिके ९ साधन बताये गये हैं। ये साधन कौन है इनका स्वरूप कैसा है इन सबका सुष्पष्ट विवेचन समर्थ रामदासने बोधगम्य भाषामें किया है वही इस ग्रन्थमे संग्रहीत है। पुस्तकके प्रारम्भमे श्री समर्थ चरित्रके साथ भक्तिका निरूपण तथा महत्व देनेसे पुस्तककी महत्ता और बढ़ गई है। आकर्षक आवरण। मूल्य १=२५ ।

एकनाथी भागवत (शीघ्र प्रकाशित होगी)

योगवाशिष्ठसार

लेखक—डॉ० क्षितिशचन्द्र चक्रवती

वेदान्तशास्त्रमे 'योगवाशिष्ठ' जैसा दूसरा उत्तम ग्रन्थ नहीं है, क्योकि इसमें एक स्वतन्त्रतत्व द्वारा जीवनकी समस्त समस्याओका समाधान मिलता है। इसका महत्व अध्यात्म प्रेमियोको तो विदित ही है। हिन्दुओके लिए यह ग्रन्थ आदरणीय है ही किन्तु अन्य धर्मवाले भी इसका आदर करते हैं, क्योकि इसमे किसी सम्प्रदाय विशेष का उल्लेख नही है।

लेखकको नेपालके 'राजकीय हस्तलिखित पुस्तकालय' में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोकी खोजबीन करते समय 'योगवाशिष्ठ' (योगवाशिष्ठसार) नामक बहुमूल्य ग्रन्थ प्राप्त हुआ, जिसमें योगवाशिष्ठ महारामायण का दार्शनिक रहस्य सार रूपमें उल्लिखित है। फिर लेखकने अपनी प्रखर विद्वता और अनुभवके आधार पर सभी प्रकरणोके साथ इस 'योगवाशिष्ठसार' ग्रन्थ के रूपमे रचना की। जिसे साधारण लोग भी हृदयंगम करें सकते हैं।

व्याख्या करनेमें श्रुति, गीता, त्रिपुरारहस्य, वृहस्पतसंहिता तथा श्रीशंकराचार्यके विभिन्न ग्रन्थोका उद्धरण देकर लेखकने इस ग्रन्थका महत्व और भी वढा दिया है। इसलिए यह ग्रंन्थ मुमुक्षुओंको नित्यके स्वाध्यायके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। हिन्दी भाषाँमे वड़े टाईप, आकर्षक कवर, पुस्तकका मूल्य ७ रु० मात्र।

वेदान्त-विज्ञान (डॉ० क्षितिशचन्द्र चक्रवर्ती)

इसमे शरीर, इन्द्रियँ, मन, वुद्धि और अहंकारसे मनुष्यका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त भिन्न है और मनुष्य वास्तवमे नित्य चैतन्य और सुख स्वरूप है, यह सुस्पष्ट विवेचित किया गया है, वेदान्त शास्त्रके सम्पूर्ण सिद्धान्तको सरल ढंगसे समझनेवाली इस छोटी सी पुस्तकका मूल्य···। (यन्त्रस्थ)

रामगीता (डॉ० क्षितिशचन्द्र चक्रवर्ती)

इसमे मूल श्लोकके साथ सरल व स्वष्ट अर्थके आधार पर साधन मार्ग तथा ब्रह्म-विद्याका विवेचन किया गया है। मूल्य १ २५ रु०

प्राणायाम मीमांसा (लेखक—श्री विजयवहादुर सिंह)

इस पुस्तकमे बहुत सरलतासे योगके प्रमुख अंग प्राणायाम सम्बन्धी विपय एवं अनेक विधियोको स्पष्ट किया है। प्राणायामसे मन और चित्त वशमे आकर मानसिक एकाग्रता उत्पन्न होती है। अनेक शारीरिक असाध्य रोगोका उन्मूलन प्राणायाम द्वारा होता है। चित्रो द्वारा विधियाँ स्पष्ट की गई है। मू० ४)

निवेदन

आशा है आपको संत ज्ञानेश्वरकी श्रीमद्भगवद्गीता की यह टीका पसंद आई होगी। हम आशा करते हैं कि इस ग्रन्थ का अवश्य प्रचार करेंगे और आप यह भी निश्चय ही चाहेंगे कि इसी प्रकारके अन्य उपयोगी ग्रन्थ भी आप व आपके परिवार तथा मित्रोंको पठन हेतु प्राप्त हो। हमारे प्रकाशन माला का उद्देश्य उच्चकोटिकी धार्मिक आध्यात्मिक पुस्तकोंका प्रकाशन कर आप तक पहुँचाना है। निकट भविष्य में कई एक छोटी बड़ी महत्वपूर्ण पुस्तकें धार्मिक-आध्यात्मिक, योग इत्यादि अनेक विषयों पर संतों और प्रसिद्ध लेखकों की प्रकाशित की जा रही है जिसे आप अवश्य पसंद करेंगे।

यदि आप चाहते हैं कि हमारी नई प्रकाशित होने वाली पुस्तकों की सूचना आपको निरन्तर मिलती रहे तो आप अपना नाम और स्थाई पूरा पता हमें लिखकर भेज दें। हम आपको सूचना बराबर भेजते रहेंगे। हमारी प्रकाशित पुस्तकें प्राप्त करने में किसी प्रकार की कठिनाई हो तो सीधे हमें आप लिखें।

हिन्दी साहित्य कुटीर

हाथीगली, वाराणसी—२२१००१

विक्रय केन्द्र—बुलानाला, वाराणसी।